सुबोधिनी

श्रीभागवतद्वितीयस्कन्धीया

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचिता

श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितायां

श्रीमद्भागवत-

सुबोधिन्यां

द्वितीयस्कन्धः

प्रकाश-लेखसमेतः च

श्रीमद्भागवत-द्वितीयस्कन्ध-सुबोधिनी

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता

वि.सं. २०८०, श्रीवल्लभाब्द ५४६

३०० प्रति.

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,
पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र - ४१६००८.

संगणकाटंकन :
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट - मांडवी.

मुद्रक :
पूर्वी प्रेस प्रा.लि., गोंडल, राजकोट.

E-book available on : www.Pushtimarg.net

Also on App : Pushtividya

। श्रीकृष्णाय नमः ।

सम्पादकीय

पूर्वप्रकाशित मूल श्रीसुबोधिनी और टीकाओंको पुनःप्रकाशित करनेकी शृंखलामें दशमस्कन्ध एवं यावत्प्राप्त एकादशस्कन्ध तथा प्रथमस्कन्धके बाद यह द्वितीयस्कन्धका प्रकाशन हो रहा है.

वैसे तो स्वयं हमने ही संवत् २०४३में प्रथम-द्वितीयस्कन्धसुबोधिनीका यथावत् पुनः प्रकाशन किया ही था. किन्तु धांधलीमें उसमें केवल पूर्वप्रकाशित प्रकाशटीका ही छापी थी, सो भी परिशिष्टमें. अन्य टीकाओंकी हस्तप्रति उपलब्ध होनेपर भी उनका समावेश नहीं कर पाये थे. अक्षर भी छोटे हो गये थे. सो तबसे एक असंतोष रह गया था कि दशमस्कन्धवत् प्रथम-द्वितीयस्कन्धका प्रकाशन नहीं हो पाया, जो कि उस वक्त भी हमने अपने सम्पादकीयमें लिखा ही था. अब इसका प्रकाशन होनेसे हमें सन्तोष हुआ है.

इसमें यह वैशिष्ट्य है कि अभ्याससौकर्यार्थ टीकाओंको परिशिष्टमें न छापकर मूल सुबोधिनीसे संलग्न करके उपर-नीचे योजित की गई हैं. इनमेंकी एक 'लेख'टीका तो इदंप्रथमतया प्रकाशित हो रही है. इसके अलावा हमने मुद्रित संस्करणोंकी प्राप्य हस्तप्रतियोंसे तुलना करके यथावसर संशोधन या पाठभेद प्रस्तुत किये हैं. इस हार्दिक सहयोगके लिये हम इन हस्तप्रतियोंको उपलब्ध करानेवालोंके आभारी हैं.

(क) इनमेंसे श्रीसुबोधिनीका प्रकाशन श्रीबलभद्रलालाजीने संवत् १९७६में तीन हस्तप्रतियाँ और एक पूर्वमुद्रित संस्करणके आधारपर किया था. (सुरतसे उन्हें प्राप्त इन तीन हस्तप्रतिओंके पाठ प्रकाशकारके पाठसे प्रभावितसे लगते हैं). उसे ही हमने यहाँ यथोचित संशोधन करके (उदा. बहोत सारे अनावश्यक पूर्णविरामोंको हटाना) लिया है. इस प्रकाशनकी श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाकी आलोचनाको

लक्ष्यमें रखते हुवे उनकी पादटिप्पणीयोंका भी यथायोग्य संपादन करके यहाँ निवेश किया है. माण्डवीसे हमें दो हस्तप्रति मिली तथा संखेड़ासे एक हस्तप्रति मिली. उससे हमने यह प्रकाशित पाठकी तुलना की है और पाठभेदोंको 'मा. १' , 'मा. २' एवं 'सं.' संकेतसे पादटिप्पणीमें समाविष्ट किये हैं.

(ख) श्रीपुरुषोत्तमजीकृत प्रकाशके प्रकाशनका कार्य मुम्बईमें श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने आरम्भ तो किया था पर उनका अकाल देहावसान हो जानेपर वह अधुरा रह गया था. उसे ही आगे बढ़ाते सुरतमें श्रीचीमनलाल शास्त्रीने चार हस्तप्रतिओंके आधारपर संवत् १९८८में उसका प्रकाशन किया था. पाठभेदोंका किन्तु उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है. उसे हमने यहाँ लिया है. हमारे किशनगढ़के संग्रहमेंकी एक हस्तप्रतिसे तथा श्रीशरदबावासे माण्डवीसे मिली संवत् १८५०की एक हस्तप्रतिसे उस प्रकाशित पाठकी तुलना करते हुवे 'कि.' एवं 'मा.' संकेतसे पाठभेदोंको हमने द्योतित किया है. इन दोनोंमें विशेषतः ७वे और ९वे अध्यायमें विद्वद्भोग्य पादटिप्पणियाँ मिली हैं, जो हमने यहाँ संकलित की हैं.

(ग) अन्य एक टीकाकी हस्तप्रति श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाको उपलब्ध होनेपर भी द्रव्य-समय-संकोचवशात् वे उसका प्रकाशन नहीं कर पाये थे. वह टीका हमें मिली, जो पहली बार यहाँ छपने जा रही हैं. श्रीवल्लभजी 'लेख'नामक इस टीकाके कर्ता हैं. वे श्रीपुरुषोत्तमजीके कनिष्ठ समकालीन हैं. संपूर्ण सुबोधिनीकी टीका लिखनेके लक्ष्यको सिद्ध करनेके संयुक्त प्रयासमें श्रीपुरुषोत्तमजीने प्रकाश लिखनेका आरंभ प्रथमस्कन्धसे किया था और श्रीवल्लभजीने लेख लिखनेका दशमस्कन्धसे. सो दशमस्कन्धसुबोधिनीपे संपूर्णतया लेख उपलब्ध है और प्रथम-द्वितीय-तृतीयस्कन्धसुबोधिनीपे संपूर्णतया प्रकाश. प्रथम-द्वितीय-तृतीयस्कन्धसुबोधिनीपे लेख संक्षिप्त है, तो दशमस्कन्धसुबोधिनीपे प्रकाश जहाँ टिप्पणी न हो वहाँ सर्वत्र

प्राप्त नहीं होता है. प्रथमस्कन्धीय लेख हमने इन वर्षोंमें छापा है, द्वितीयस्कन्धीय लेख अब जाके छप रहा है, तृतीयस्कन्धीय लेखको हमारे संयुक्त प्रयासमें सहभागी श्रीशरदबावाने कुछ वर्ष पहले तृतीयस्कन्धसुबोधिनी और प्रकाशके साथ प्रकाशित किया है.

लेखकी एक हस्तप्रतिकी झेरॉक्स बम्बईकी श्रीगट्टूलालाजीकी लाईब्रेरीसे हमें मिली है तथा अन्य एक संवत् १८८८की हस्तप्रतिकी झेरॉक्स नड़ियादके पुष्टिमार्गीय पुस्तकालयसे. इन्हें हमने 'ग'-'न' संकेत दिया है. वे प्रायः एक जैसी ही हैं. इनकी एक प्रतिलिपि श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने करवाई थी वह नोटबुक भी हमें वहींसे मिली. अनेक स्थलपे यह टीका त्रुटित है और दशमाध्यायपे नहीं है. प्रायः प्रकाश टीकासे स्वयंका कुछ अलग अर्थघटन हो या प्रकाशकारने जहाँ टीका न लिखी हो वहीं यह उपलब्ध है. एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि सुबोधिनीस्थित शास्त्रोद्धरणोंके संदर्भ देनेका इसमें यथासंभव प्रयास किया गया है.

प्रथम परिशिष्टमें हमने प्रकाशित और अप्रकाशित, एतत्प्रकरणीय एवं प्रकीर्ण स्वतंत्रलेखोंका संकलन किया है. श्रीयोगीगोपश्वरजीकी सूचनिकामें सुबोधिनीके पादभेद उल्लेखनीय हैं. इन्हें हमें उपलब्ध करानेवालोंके हम आभारी हैं. उनमें भी श्रीगट्टूलालाजी लाईब्रेरीके गोस्वामी श्रीमन्दारकुमारजी और ट्रस्टीगणका सहयोग उल्लेखनीय रहा है. पाठकोंसे निवेदन है कि उनके संग्रहमें उपलब्ध अप्रकाशित लेखोंकी प्रति हमें प्रकाशनार्थ उपलब्ध करायें.

इनके आद्य मुद्रित संस्करणोंके सम्पादकोंकी प्रस्तावनाएँ हमने द्वितीयपरिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं.

अतिरिक्त संबद्ध साहित्य— कारिकार्धसूचि, श्लोकार्धसूचि, उपन्यस्तवाक्यसूचि, योजनासे भूषित भागवतार्थनिबन्ध, श्रीपुरुषोत्तम-सहस्रनाम, प्रकरणविभागसूचिका, अध्यायार्थ आदि— का निवेश इस प्रकाशनको सांगोपांग बनाता है. इनमेंसे भागवतार्थनिबन्ध एवं

श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम आदि शास्त्रार्थ-स्कन्धार्थ-प्रकरणार्थ-अध्यायार्थ तथा लीलार्थ के बोधक होनेके कारण हमने इन्हें वाक्यार्थ-पदार्थनिरूपिका श्रीसुबोधिनीके पूर्व ही दिये हैं. आजकल इन्डॉलोजीमें जुटे देशी-विदेशी तथाकथित संशोधक भागवतार्थनिबन्ध पढ़े बिना ही सुबोधिनीके कुछ गद्यांश पढ़कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको गाम्भीर्यविहीन दार्शनिक घोषित कर देनेकी धांधली करनेकी हास्यास्पद चेष्टा करते दिखाई देते हैं. उन्हें इसे अवश्य पहले पढ़ना चाहिये. इनके आद्यप्रकाशकोंके हम कृतज्ञ हैं.

कारिका-श्लोक-उपन्यस्तवाक्य-सूचियाँ हमने स्वयं गठित करके तृतीय परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं. उपन्यस्तवाक्योंके अन्वेषणार्थ हमने प्रकाशित ग्रन्थों और इन्टरनेटका भी उपयोग किया है. प्रायः पूर्वप्रकाशित उद्धरणका पाठ और जहाँसे उद्धृत किया उन ग्रन्थोंके आधुनिक संस्करणका पाठ भिन्न पाया जाता है. ऐसी स्थितिमें हमने आधुनिक संस्करणका पाठ अपनाया है. इन्टरनेटके पाठ अक्सर विश्वासार्ह नहीं होते हैं, सो हमने इन्टरनेटपर दर्शाये ग्रन्थके प्रकाशित संस्करणमें यथाशक्य जाँचकर ही यहाँ उनका निवेश किया है. महाभारतमें तथा पुराणोंमें अनेक प्रक्षेप और पाठभेद होनेके कारण एक ही उद्धरणके विभिन्न सूचियोंमें विभिन्न स्थल दर्शाये जाते हैं. हमने हमारे पास उपलब्ध प्रकाशनोंमें दर्शाये स्थलोंको लिये हैं. महाप्रयासके बावजूद सभी उद्धरणोंके संदर्भ मिल नहीं पाये हैं, पर खोजनेमें हमने कोई कसर नहीं छोड़ी उतना ही सन्तोष है.

हमारी पहलेकी शैलीको यथावत् निभाते हुए हमने हमारे द्वारा प्रस्तावित पाठ (!) रूपमें दिये हैं; तथा श्रीसुबोधिनीपाठके अनुसार श्रीभागवतके श्लोकोंके संशोधनका भी प्रयास किया है. हमारी पादटिप्पणियाँ '-सम्पा.' संकेतसे पहचानी जा सकती हैं ; अन्य सब पादटिप्पणी आद्यसम्पादकोंकी हैं. हमने शब्दोंके ऊपर लिखे अंक पादटिप्पणीका स्थल सूचित करते हैं, जबकि वे

ही अंक कोष्ठक( )में होनेपर गद्यमेंकी किसी योजनाको उजागर करते हैं. '✻' संकेत शंकादिका आरम्भ और दूसरी बार आये तब अन्त सूचित करते हैं.

इस ग्रन्थके सम्पादनकार्यमें हमारे सहयोगी श्रीपरेशभाई-श्रीमती मनीषा शाह, श्रीअनिलभाई, श्रीधर्मेन्द्रभाई-श्रीमती पद्मिनी झाला, श्रीराजेशभाई, श्रीपीयूषभाई, श्रीप्रवीणभाई, श्रीमती ख्याति आदिके हम कृतज्ञ हैं.

हम सभीकी पाठकगणसे यही अपेक्षा है कि वे इस वाङ्मयके अध्ययनद्वारा हमें चिरकृतज्ञ बनायें. इसकी सोफ्टकॉपी भी हमारे अन्य प्रकाशनोंकी तरह पुष्टिवाङ्मयकी वेबसाईटपे उपलब्ध है.

इस प्रकाशनके साथ सुबोधिनी और महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीके समस्त वाङ्मयके पुनः सम्पादन-प्रकाशनके कार्यकी हम पूर्णाहुति कर रहे हैं. श्रीवल्लभपंचशतीके अवसरपर हमने यह संकल्प किया था, सो अब ४६ वर्षमें जाके संपन्न हो रहा है! इस दीर्घकालीन यात्राके अन्तमें भगवत्कृपा तथा हमारे सहयोगियोंका स्मरण और संतोष हो रहा है येही हमारी उपलब्धि है.

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति।।

श्रीवल्लभाब्द ५४६ — ***गोस्वामी श्याममनोहर***
वसन्तपञ्चमी — ***असित शाह***

॥ श्रीकृष्णाय नमः॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

॥ श्रीमद्भागवतश्रवणविधि॥

(भूमिका)

प्रेम्णो अन्यत् साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत्।
श्रीभागवतमेव अत्र परं तस्य हि साधनम्॥
अधिकारम् अभिप्रायं ज्ञात्वा भक्तमुखेन हि।
सकृच्छ्रवणमात्रेण कृष्णे प्रेम भवेद् ध्रुवम्॥

'प्रेम्णो अन्यद्' ऐसा जो कहा सो उसमें हेतु यह है कि रुचि इत्यादिके कारण प्रकट होता प्रेम उस रुचिरतया लगते विषय या व्यक्ति के कभी अरुचिकर दोष दृष्टिगत हो जायें तो प्रेमभाव खण्डित भी हो जाता है. ऐसे दोष, परन्तु, मूलमें शास्त्रीय सिद्धान्तकी जानकारी न होनेके कारण लौकिकभाववश ही भगवान्में भासित होते हैं. अतः श्रीभागवतद्वारा ही सभी शास्त्रीय सिद्धान्तोंका भलीभांति निर्धारण करना चाहिये. भगवान्के भक्त्युपयोगी सभी तरहके माहात्म्योंका ज्ञान; और अन्ततः भगवत्प्रेम भी भागवतावलम्बित होनेपर प्रायः जीवात्माको भटका नहीं सकता. यह स्वयं भागवतके 'लोकस्य अजानतो विद्वान् चक्रे भागवतसंहितां यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरूषे भक्तिः उत्पद्यते' वचनके आधारपर भी सिद्ध होता है... भागवतश्रवणके तीन अंग प्राथमिक माने गये हैं : [१]भागवतके तात्पर्यका भलीभांति अवबोध [२]वक्ता जिसके मुखसे भागवत

सुननी हो उसका स्वयंका भक्त होना [3]श्रोताका भागवततेतर विषयमें अत्यनुरक्त न होना. इन तीन अंगोंके बिना किया जाता भागवतश्रवण भगवत्प्रेम प्रकट करने समर्थ नहीं बन पाता. वैसे उत्तम अधिकार होनेपर तो श्रीमद्भागवतमें निरूपित किसी एक लीलाके श्रवणमात्रसे भी श्रेष्ठ भक्ति प्रकट हो सकती है... श्रीमद्भागवतके, परन्तु, सर्वथा अज्ञात या अन्यथाज्ञात होनेपर तो भक्ति प्रकट होना दु:शक ही हो जाता है.

(त.दी.नि.प्र. २।३२६-३२९).

(औपक्रमिक पूर्वपक्ष)

प्रस्तुत सन्दर्भमें कुछ विचारणीय मुद्दे इस तरहके उभरते हैं कि (१)श्रीभागवत पुराणके श्रवणके कारण प्रकट होनेवाला भगवत्प्रेम पुष्टिभक्तिरूप होता है या नहीं? यदि पुष्टिभक्तिरूप हो तो उल्लिखित तीन जो अंग श्रीभागवतश्रवणके स्वीकारे गये हैं वे तो जीवकृतिसाध्य ही होते हैं. अत: उनकी अपेक्षा रहनी नहीं चाहिये. अब इनकी अपेक्षा यदि आवश्यक अंगतया स्वीकारनी हो तो प्रभुचरणके भक्तिहेतुनिर्णयके ‘‘**तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिम्**’’ (भ.हे.नि.मंगलाचरण) इस वचनकी संगति कैसे स्वीकारनी? यदि इन आवश्यक अंगोंके साथ किये जाते श्रीभागवतश्रवणके कारण प्रकट होनेवाली भक्तिको पुष्टि-मर्यादा-साधारणी भक्ति मान ली जाये तो दशमस्कन्धमें मिलते उद्धवजीके ‘‘**दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमै: श्रेयोभि: विविधै: च अन्यै: कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते**’’ (भाग.पुरा. १०।४७।-२४) ऐसे इस वचनका उपलक्षण माननेपर तो अन्य भी अनेकानेक आंगिक उपाय भागवतश्रवणके लिये उपादेयतया अकामगलेपतित

होंगे ही. यदि कहा जाता हो कि इन उपायोंकी अपरिहार्यता तो स्वयं भगवान्ने ही स्वमुखसे **"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्मएव च न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमाः यमाः... ते नाधीतश्रुतिगणाः नोपसीतमहत्तमाः अव्रतातप्ततपसः... केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगाः मृगाः ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः माम् ईयुः अञ्जसा"** (भाग.पुरा. ११।१२।१-८) इस उद्घोषणा द्वारा निरस्त ही कर रखी है. तो इसी निरसनके आधारपर तो यहां दरसाये जाते श्रीभागवतके श्रवणके आवश्यक अंग [१]तात्पर्यका भलीभांति अवबोध होना [२]वक्ताका भक्त होना तथा [३]भागवतेतर विषयोंके बारेमें अनुरागहीन होना, इन तीन साधनोंको भी निरस्तप्रायः क्यों नहीं मान लेना चाहिये ?

एक और (२)प्रश्न यह भी है कि प्रथम स्कन्धकी सुबोधिनीके आधारपर वहां प्रतिपाद्य विषयतया (श्रीघनश्याम भट्टके अनुसार) त्रिविध अधिकारिताके अन्तर्गत आदिम श्रोत्रधिकारितामें जिज्ञासुता अमात्सर्य और श्रवणादर माने गये हैं. तथा वक्त्रधिकारितामें श्रुतभागवतत्व कथाकथनचातुर्य और गूढार्थज्ञान स्वीकारे गये हैं. मध्यमकक्षाके श्रोता-वक्ता दोनोंकी अधिकारितामें भगवत्कृपा भगवदीयता भगवदेकतानता गुण स्वीकारे गये हैं. उत्तमकक्षाके श्रोता-वक्तामें भगवदेकतानताका दृढ़वैराग्यरूप होना और विशेषतया प्रतिपादित हुवा है.

इसके विमर्शसे पहले इनमें विशेषतया अवधेय एक बात यह भी जान लेनी चाहिये कि आदिम अधिकारिताके गुणोंके साथ-साथ ही मध्यमाधिकारिताके गुण और मध्यमाधिकारिताके गुणोंके साथ-साथ ही उत्तमाधिकारसमर्पक गुण अपेक्षित होते हैं. जैसे अक्षरज्ञान पदज्ञान वाक्यार्थज्ञान और ग्रन्थार्थज्ञान में पूर्व-पूर्व ज्ञानोंके

अतिक्रमद्वारा नहीं प्रत्युत उत्तरोत्तरज्ञानका पूर्व-पूर्वसाहचर्यवैशिष्ट्य होना अपरिहार्य होता है तद्वत् ही.

इसके बाद यहां (३) उल्लेखनीय प्रश्न यह भी सामने आता है कि भागवतश्रवणाधिकारिताके आदिम-मध्यम-उत्तमकक्षाओंके उपयोगी गुण और भागवतश्रवण-श्रावणके अंगभूत गुणोंमें परस्पर उपकारकता होनेसे एक तरहकी अन्योन्याश्रयता झलक रही है. ऐसी स्थितिमें वक्ताके गुणोंका विचार न भी करें तब भी श्रोतामें जिज्ञासुता अमात्सर्य श्रवणादर भगवत्कृपा भगवदीयता भगदेकतानता (भगवदितरविषयोंमें विरक्तिपर्यन्ता) इन गुणोंमें सभी भक्त्यात्मक गुण हों या न हों फिरभी भक्तिघटक गुण तो अवश्य लगते हैं. तो यह अधिकारसमर्पक गुण तथा श्रवणांगभूत गुण में अपेक्षित भक्ति और भागवतश्रवणवशात् प्रकट होनेवाली भक्तिके बीच अन्तर या तारतम्य क्या-कैसा है?

(पूर्वपक्षसमाधान)

इन जटिल प्रश्नोंका समाधान महाप्रभुके 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' नामक ग्रन्थके भलीभांति अवगाहन बिना मिल नहीं सकता. यद्यपि विभिन्न व्याख्याकारोंके विभिन्न अभिप्रायोंके अनुसार उक्त ग्रन्थकी कारिकाओंमे भावार्थभेद है. इसे तो वाक्पति श्रीवल्लभाचार्यकी वाणीकी अनेकार्थगूढताके रूपमें स्वीकारके चलना ठीक होगा. जो अभिप्राय, किन्तु, मुझे अपनी अल्पमतिके वश भासित होता है, उसे यहां शब्दोंमें प्रकट करना चाहूंगा.

सर्वप्रथम महाप्रभु प्रस्तुत ग्रन्थकी सार्ध प्रथम कारिकामें त्रिविध, नामशः, प्रवाह मर्यादा और पुष्टि, मार्गोंके प्राकट्यानुकूल सृष्ट्यारम्भमें

जीवात्माओंके वरणस्वरूपमें भगवत्कृत त्रैविध्यका प्रतिपादन अभीष्ट है. क्योंकि त्रिविध वरण भगवान्‌की सृष्टिप्रवाहकी लीलामें तत्तद् जीवात्माओंके प्रकट किये जाते त्रिविध रूपोंमें या त्रिविध रूपोंके साथ की जाती लीलाके रूपमें अभिप्रेत है. अत: तत्तद् जीवात्माओंके देहों और तज्जन्य क्रियाओं में भी त्रैविध्य प्रकट होता है. अतएव सृष्टिप्रवाहमें जीवात्माओंका त्रैविध्य लीलाके सातत्यका घटक हो जाता है. अन्ततः सृष्टिप्रवाहलीलाका फलपर्यवसान भी स्वाभाविकतया अनेक रूपोंमें ही भगवदभिप्रेत माना गया है. यों एकमेव अद्वितीय ब्रह्मकी स्वरूपगत स्वाभाविकी एकरसात्मता-सच्चिदानन्दैकरसता ही त्रिविध लीलाकी पुष्टिमर्यादाप्रवाहरूप अनेकरसता बन कर प्रकट होती है. सो त्रिविध जीवात्माओंके देहस्वरूप, उन देहोंमें प्रकट होती क्रियाके स्वरूप, उनके सातत्य और अन्ततः फलपर्यवसायिता में भी अनेकविधता स्वीकारी गयी है.

इस तरह मार्गभेद अर्थात् त्रैविध्यका प्रमाण प्रस्तुत करनेके बाद ग्रन्थकार सर्गभेदका निरूपण करते हैं. अर्थाद् जीवात्माओंके स्वरूप, तदंगभूत देह और तज्जन्य क्रियाओं की भी त्रिविधता दरसाते हैं. तदनुसार प्रवाहसर्ग भगवान्‌की मानसी इच्छामात्रसे प्रकट और नियत होता मानसिक सर्ग है. मर्यादासर्ग उस मानसिक इच्छासे आगे बढ़ कर वेदवाणी द्वारा वाचिकतया प्रकट और नियत है. पुष्टिसर्ग इच्छा-वाणीके उपरांत भगवान्‌के कायास्वरूपसे कायिकतया प्रकट और नियत होता है.

प्रवाहमार्गीय जीव भगवल्लीलामें प्रकट इन्द्रियमनोगम्य विषयोंमें अमर्यादित अभिनिविष्ट हो कर जीवनयापन करते हैं. इससे आगे बढ़ कर मर्यादामार्गीय जीव इन इन्द्रियमनोगम्य विषयोंका उपभोग

शास्त्रमर्यादाके अनुसार करता है. जबकि पुष्टिमार्गीय जीव भगवान्की सृष्टिप्रवाहरूपी लीलामें इन्द्रियमनोगम्य विषयोंका उपभोग भगवत्स्वरूपसे नियन्त्रित भक्तिवश भगवत्प्रसादतया करता है. तदनुसार भगवान्की सृष्टिप्रवाहलीलाकी फलपर्यवसायिता भी उसी भगवदिच्छा भगवद्वाणी या भगवत्स्वरूप द्वारा नियन्त्रित होती है.

महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण और दिया है कि सृष्टिलीलाप्रवाहमें इन जीवात्माओंका जो त्रैविध्य है, वह लीलाकालमें तो किसीके दैहिक जन्म या लौकिक व्यवहार आदिमें कोई उल्लेनीय तारतम्य प्रकट नहीं करता है. फिरभी भगवत्कृत त्रिविध वरणके अनुरोधवशात् जितना तारतम्य अपेक्षित हो उतना तो प्रकट करता ही है.

तदुपरांत इन त्रिविध जीवात्माओंके भूतलपर सांयोगिक इतरेतर-सहभावके वश कुछ जीवात्माओंमें ही भगवत्कृत वरणानुरूप शुद्ध गुणधर्म प्रकट होते हैं. अन्यथा बहुधा पारस्परिक मिश्रणवशात् मिश्रित गुणधर्म भी प्रकट हो जाते हैं.

यहां 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थमें तो नहीं परन्तु अन्यत्र महाप्रभुने यह भी प्रतिपादित किया है कि जगत्में क्रियाशक्ति सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशवशात् प्रकट होती है. ज्ञानशक्ति चिदंशवशात् तथा रति या प्रेम शक्ति आनन्दांशवशात् प्रकट होती है. जीवात्माओंमें साधनानुष्ठानौपयिक आपेक्षिक ज्ञानेच्छायत्नका स्वातन्त्र्य भी ब्राह्मिक कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यकी आंशिक अभिव्यक्तिके रूपमें प्रकट होता है, अर्थापत्तिलब्ध. अतः मूलमें मार्गौपयिक वरणका अनश्वर बीजभाव जब जागतिक विविधताओंके सम्पर्कमें आकर अंशेन अन्यथाभावापन्न होता देखा जाता है. तब भी ''**एकदेशविकृतम्**

अनन्यवद् भवति'' (परिभाषेन्दुशेखर. ३७) न्यायके अनुसार पुष्टिभक्तिका बीजभाव अपने स्वरूपको निभाते हुवे अन्यान्य गुणधर्म भी प्रकट करने लगता है. जैसे कि प्रवाहमार्गीय गुणधर्मोंसे संकीर्ण होनेपर वही बीजभाव भगवत्स्नेहसे तथा माहात्म्यज्ञानसे रहित भगवत्सम्बन्धी केवल क्रियामें रुचिवाला बन जाता है. सो इस तरहका पुष्टिबीजभाव प्रवाहमार्गसे संकीर्ण होनेपर 'प्रवाहपुष्टि' कहलाता है. इसी तरह मर्यादासे संकीर्ण होनेपर 'मर्यादापुष्टि' कहलाता है. भगवत्स्वरूपके अनवतारकाल या अप्राकट्यकाल में पुष्टिका वही बीजभाव साक्षात् स्वरूपासक्तिवश तो अंकुरित हो नहीं पाता. अत: सत्संग या गुरूपदेश के कारण भगवान्के भागवतादिमें प्रतिपादित शास्त्रीय माहात्म्यके भान होनेपर वह बीजभाव पुष्टिपुष्टिभक्तिके रूपमें फलित होता है. इसे महाप्रभु :

''पुष्ट्या विमिश्रा: सर्वज्ञा: प्रवाहेण क्रियारता:
मर्यादया गुणज्ञा: ते शुद्धा प्रेम्णा अतिदुर्लभा:.
भगवानेव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि
गुण-स्वरूप-भेदेन तथा तेषां फलं भवेत्''.
(पु.प्र.म. १६-१७).

इन शब्दोंमें समझाते हैं. अर्थात् पुष्टिजीवात्माओंके पुष्टिमार्गार्थ वरणमूलक आरोपित बीजभावके अंकुरणौपयिक अवलम्बप्रदानार्थ भगवान् अवतारकालमें स्वरूपेण प्रकट हो कर भक्तिको प्रेमासक्तिव्यसनतया पल्लवित पुष्पित तथा फलित करते हैं. ऐसे ही पूर्वोक्त सत्संग या गुरूपदेश रूपी अवान्तरव्यापारद्वारा बीजभावांकुरणार्थ अपने दिव्य गुणोंको प्रकट कर भगवान् अवलम्बन प्रदान करते हैं. इस दूसरे कल्पकी प्रक्रियामें वह बीजभाव यदि भगवत्सम्बन्धी क्रियानुष्ठानकी

सीमित शक्तिमें अंकुरित हो पाता हो तो उसे प्रवाहपुष्टिभक्तिके रूपमें पहचानना चाहिये. इसमें पुष्टिके हेतु वरणजन्य बीजभाव प्रवाहमार्गसे मिश्रित होनेके कारण एकदेशेन विकृत होनेपर भी पुष्टिका ही एक आदिम प्रकार बन जाता है. इसके विपरीत पुष्टिप्रवाहरूपा भक्तिमें प्रवाहार्थ वरण पुष्टिके भावोंसे संकीर्ण होनेपर भी अपने अनश्वर प्रावाहिक गुणधर्मोंके कारण किसी भी रूपमें पुष्टिभक्तितया मान्य नहीं हो पाता. ऐसेही भगवत्स्वरूपसेवनकी निष्ठासे रहित भगवद्‌गुणगानासक्तिके रूपमें पुष्टिबीजभावके अंकुरित होनेपर उसे मर्यादापुष्टिभक्ति समझी जाती है. यहां भी मर्यादासे संकीर्ण होनेपर भी बीजभावके अनुरोधवश पुष्टिभक्तिका ही भगवद्‌गुणासक्तिरूप मध्यम प्रकार बनता है. इसके विपरीत पुष्टिमर्यादा के प्रकारमें पुष्टिभावोंसे संकीर्ण होनेपर भी मर्यादामार्गार्थ भगवत्कृत जीववरण अनश्वर होनेसे मर्यादाभक्तिका ही प्रकार सिद्ध होता है.

पुष्टिमार्गार्थ वरणमूलक बीजभाव जब पुष्टिमार्गीय सत्संग या गुरूपदेश वशात् भगवत्क्रिया भगवन्माहात्म्यज्ञान और भगवत्स्नेह से सम्पन्न हो जाये तो, उसे अनवतारकालमें पुष्टिपुष्टि भक्तिके रूपमें स्वीकारा जाता है. अत: इस प्रकारकी पुष्टिपुष्टिभक्ति खिलनेसे पहले जो भी स्नेहके रूप भक्तिके श्रवणांगतया अथवा श्रवणाधिकारके अंगतया अपेक्षित हों वे पुष्टिपुष्टिभक्तिरूप न हो कर संकीर्ण अनेक सम्भावित प्रकारोंके हो सकते हैं. साक्षात् स्वरूपोद्‌बोधित शुद्धपुष्टिभक्ति हो अथवा पुष्टिपुष्टिभक्ति, फलत: समान होनेपर भी अपनी उद्‌बोधक सामग्रीके प्रभेदकी दृष्टिसे ही भिन्न-भिन्न मानी जाती हैं.

अतएव उल्लिखित ‘‘एकदेशविकृतम् अनन्यवद् भवति’’ न्यायके

अनुसार पुष्टिप्रवाह-प्रवाहपुष्टि पुष्टिमर्यादा-मर्यादापुष्टि अथवा शुद्धपुष्टि-पुष्टिपुष्टि रूपी वरणके विविध प्रकार परस्पर संकीर्ण होनेके कारण हमें सदृश लगते भी हों परन्तु समान नहीं होते.

ज्ञातव्य यहां यह है कि विशेषणोंका स्वरूप तो हम तत्तद् लक्षणोंके आधारपर जान सकते हैं. विशेष्यभूत, किन्तु, पुष्टिवरण हो या मर्यादावरण हो या प्रवाहवरण, वह तो स्वयं वरणकर्ता भगवान्‌को ही ज्ञात होता है. यह अनिश्चिति पुष्टिमर्यादाप्रवाहरूपा सृष्टिलीलामें लीलात्मना ज्ञेय होनेपर भी भगवान्‌द्वारा आरोपित बीजभाव अपरिज्ञेय ही रहता है. अतएव महाप्रभु विधान करते हैं **''ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचित् वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः''** (पत्रावलम्बन: ३). अर्थाद् ब्रह्म स्वरूपात्मना अनिरुक्त होनेपर भी लीलाद्वारा व्यवहार्य बन कर निरुक्त्यर्ह बन जाता है. संक्षेपमें भगवत्कृत-वरणहेतुक शुद्ध बीजभाव भी गूढ़ अज्ञेय अनिरुक्त होनेपर भी प्रकट लीलारूप व्यवहारमें निरुक्त्यर्ह होनेसे सतही तौर पर परिज्ञेय बन जाता है.

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में, अतएव, ब्रह्मके बारेमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है **''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति. स तपो अतप्यत. स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत्. निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च. निलयनञ्च अनिलयनञ्च. विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च. सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्''** (तैत्ति.उप. २।६). इन इतरेतरविरुद्ध धर्मोंका ब्रह्म एक अविरुद्ध आश्रय बनता है. वह एक ओर एकाकी स्वरूप तो दूसरी ओर सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प वशात् अनेकरूप भी अकुण्ठित और अमोघ इच्छाशक्तिके कारण ही धारण करता है.

अत: पूर्वपक्षतया उपस्थापित किया गया प्रश्न कि भागवतश्रवणके कारण प्रकट होता भगवत्प्रेम पुष्टिभक्तिरूप हो तो उसमें जीवकृत उपायोंकी अपेक्षा नहीं होनी चाहिये, इसका समाधान यही है कि स्वकृत वरणद्वारा प्रयुक्त बीजभावको रुचि-प्रेमादिके रूपमें अंकुरित करनेमें स्वयं भगवान्‌को शास्त्रीय ज्ञान या शास्त्रोदित साधनोंकी अवान्तरव्यापारतया अपेक्षा नहीं रहती. अनवतारकालमें, परन्तु, भगवन्नामात्मक भागवतशास्त्रद्वारा प्रतिपादित गुणधर्मों द्वारा उस वरणप्रयुक्त बीजभावको रुचि आदि अग्रिम अवस्थाओंमें विकसित करने जीवात्माको कुछ न कुछ अवान्तरव्यापाररूप साधनोंकी अपेक्षा रहती ही है.

महाप्रभुने मूलत: अपने निबन्धमें ही अतएव "**नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्‌भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यत:**" (त.दी.नि. १।१) वचनमें यह सारी सृष्टिलीला रूप-नाम-कर्मोंके प्रभेदवश, कहीं-कभी रूपलीला तो कहीं-कभी नामलीला तो कहीं-कभी कर्मलीला के रूपमें स्वीकारी है. यह आधारिक अवधारणा "[१]**तद्धा इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत 'असौनामा अयम्-इदंरूप:' इति.**", "[२]**त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति... तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एक: सन् एतत् त्रयम्**" (बृह.उप. [१]१।४।७, [२]१।६।१-३) इन श्रुतिवचनोंके अनुरोधवश स्वीकारी गयी है.

अत: सच्चिदानन्द ब्रह्मकी एकतामें निगूढ़ इस नामरूपकर्मोंके त्रैतके आविष्करणकी सृष्टिलीलामें भगवान् कभी साक्षाद् रूपात्मना तो कभी नामात्मना तो कभी कर्मात्मना लीलाविहार करते हैं. अत: भक्तिभावोंका भी कभी साक्षाद् रूपात्मना तो कभी शास्त्रगुरूपदिष्ट नामात्मना तो कभी कर्मात्मना आलम्बन या उद्दीपन होता है.

यह भगवान्‌की जीवात्मामें भक्ति प्रकट करनेकी रीति है. पञ्चपर्वा विद्यान्तर्गत या अन्य भी साधनोंसे, प्रावाहिकी या मार्यादिकी भक्तिसदृश भक्ति भी प्रकट हो सकती है. एतदर्थ जीवात्माके प्रयत्न उस बीजभावके अवान्तरव्यापारतया ही सहयोगी बनते हैं. जैसे कोई वृक्ष-वनस्पति जब स्वत: कहीं उगती हो तो भूमिकी मिट्टीको जोतने, खाद मिलाने, सींचने आदिकी अपेक्षा नहीं रहती. परन्तु कृत्रिमतया उगाने जानेपर अन्यान्य सहकारी उपायोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती. इस विषयमें महाप्रभुद्वारा दिया एक स्पष्टीकरण नितान्त मननीय लगता है :

> **''यथा शास्त्रद्वयं भक्ति-ज्ञानप्रतिपादकं साधनं तथा भगवत्स्वरूपमपि. भगवान् हि मुक्तिदानार्थमेव अवतीर्ण: सच्चिदानन्दरूपेण प्रकटो अतो य: कश्चन येन-केनापि उपायेन भगवति सम्बन्धं प्राप्नोति सएव मुच्यते. ज्ञान-भक्त्योस्तु आविर्भावार्थम् उपयोग:. आविर्भाव: चेद् अन्यथासिद्ध: तदा न ज्ञान-भक्त्यो: उपयोग:. अत्रतु भगवान् स्वतएव आविर्भूतो मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन ईश्वरेच्छाया: अनियम्यत्वात्. अत: आविर्भाव: स्वेच्छया भक्त्या ज्ञानेन वा. भगवदवतारातिरिक्त-काले द्वयमेव हेतु:. अवतारदशायां न तयो: प्रयोजकत्वम्. वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनाम् उपयोग:''.**
>
> (भाग.सुबो. १०।२६।१३).

अर्थात् इन जीवात्माओं द्वारा अनुष्ठित अवान्तरव्यापारोंकी

अर्थक्रियासामर्थ्य अनवतारकालमें ही है. अतएव महाप्रभुका ही यह विधान भी नितान्त अवधेय है :

> **“‘रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव स’ रूपेति विचित्रो रूपप्रपञ्चो, जीवाश्च अंशाः, अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः तन्निवारणार्थं श्रुतिं चकार. तस्याः स्वरूपम् आह ‘आत्मानम्’ इति... विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं, प्रेम च साधनं, तत्साधनं नवविधा भक्तिः, तत्प्रतिपादिका गीता संक्षेपतः, तस्य वक्ता स्वयम् अभूद् हरिः, तद्विस्तारो भागवतम्”.**
>
> (त.दी.नि.प्र. २।१८,२२०-२२१).

सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा प्रकटित स्वसदंशात्मक रूपप्रपञ्चकी मोहकतासे, अवतारकालमें तो उत्कृष्टतर निज सच्चिदानन्दात्मक दिव्य रूपद्वारा, छुटकारा दिला देते हैं. अनवतारकालमें, परन्तु, वह भौतिक ऐन्द्रियक रूपव्यामोह, भगवन्नामात्मक शास्त्रनिरूपित भगवान्‌के गुणधर्मरूपचरित्रके श्रवणजन्य सम्यग् बोधसे तथा जीवके प्रेमात्मक संकल्प एवं वैसे संकल्पकी पूर्तिके लिये अनुष्ठित प्रयत्न द्वारा ही नियन्त्रित हो पाता है.

(उपस्थापित प्रश्नोंका निष्कृष्ट समाधान)

अतः अवतारकालमें जैसे स्वरूपेण उद्धार करते हैं. वैसे अनवतारकालमें स्वनामात्मक श्रुत्यादि भागवतान्त शास्त्रोंद्वारा बीजभावके अनुरूप मर्यादा-पुष्टिभेदवाले अधिकारके अनुरूप भिन्न-भिन्न

वृतात्माओंका भगवान् उद्धार करते हैं.

दूसरा जो प्रश्न था कि पुष्टि-मर्यादा-साधारणी भक्ति भागवतश्रवणके कारण प्रकट होती है या तत्तन्मार्गीय विशेषभक्ति? तो "**पुराणसंहिताम् एताम् अधीत्य प्रयतो द्विजः, प्रोक्तं भगवता यत्तु तत्पदं परमं व्रजेत्, विप्रो अधीत्य आप्नुयात् प्रज्ञां, राजन्य उदधिमेखलां, वैश्यो निधिपतित्वं, च शूद्रो शुद्ध्येत पातकात्**" (भाग.पुरा. १२।१२।६३-६४) वचनके आधारपर विभिन्न अधिकारियोंको इतने विभिन्न फलोंका प्रदान भागवतपाठ या भागवतश्रवण के कारण माना गया है. तो मर्यादामार्गीय जीवोंको मार्यादिक मोक्षौपयिक भगवत्प्रेम और पुष्टिमार्गीय जीवोंको भजनौपयिक भगवत्प्रेम प्रदान करने भागवतपुराण क्यों सक्षम नहीं हो पायेगा? दोनों ही तरहकी भक्ति ही नहीं प्रत्युत भक्तिविरोधी भाव भी भगवान् अपने स्वरूप द्वारा प्रकट करते ही हैं : "**मल्लानाम् अशनिः नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् गोपानां स्वजनो असतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः मृत्युः भोजपतेः विराड् अविदुषां तत्त्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदेवता इति विदितो रंगं गतः साग्रजः**" (भाग.पुरा. १०।४३।१७) वचनमें भगवान्ने एकस्वरूपेण यहां कितने अनेकविध भाव जीवात्माओंके भीतर एकहेलया प्रकट किये हैं! अतएव अवतारकालिकी भक्तिमुक्तिप्रदान करनेकी लीलाका निरूपण करते श्रीशुकदेवको कहना पड़ा कि "**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिः भगवतो, नृप!, अव्ययस्य अप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः. कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरौ विदधतः यान्ति तन्मयतां हि ते**" (भाग.पुरा. १०।२९।१४-१५). इस ऐसी अकुण्ठित निःश्रेयस्कारिणी भगवत्तन्मयताको वाल्लभ संप्रदाय अनवतारकालमें स्नेहभावात्मिका भक्ति या ऐक्यभावात्मक ज्ञानमार्गीयोपासना में परिसीमित करना चाहता है.

तीसरे प्रश्नके समाधानतया तो प्रेमात्मिका भक्तिकी बीजभावावस्था अंकुरावस्था पल्लवितावस्था पुष्पितावस्था तथा फलावस्था यों अनेक अवस्थाओंके प्रभेद मान्य होनेसे कुछ भी अनुपपन्न नहीं रह जाता.

(प्रथमस्कन्ध और द्वितीयस्कन्ध : पारस्परिक संगति)

श्रीमद्भागवतके आदिम मध्यम और उत्तम यों तीन-तीन तरहके श्रोता और वक्ता के अधिकारके प्रतिपादनार्थ इस संहितामें प्रथम स्कन्ध समायोजित हुवा है.

महाप्रभु कहते हैं :

> "'आनन्दस्य हरेः लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा. अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणम् उतयः मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिः आश्रयो अधिकारी साधनानि द्वादशार्थाः ततो अत्र हि... तृतीयादिदशस्कन्धैः लीला दशविधा उदिता. श्रोतुः वक्तुः च लक्ष्म आद्ये द्वितीयेतु अंगनिर्णयः इति इदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः... एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतो अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति' आनन्दरूपस्य लीलापि आनन्दरूपा. हरेश्च लीला सर्वदुःखहर्त्री. अतो दुःखाभावसुखरूपत्वात् स्वतः पुरुषार्थरूपा लीला इति भागवतार्थः. स्कन्धाद्यर्थनिरूपणार्थं तां विभजते 'दशधा हि सा' इति, तत्र भागवतमेव प्रमाणयति 'अत्र' इति. स्कन्धद्वयम् अधिकमिति तयोः अर्थम् आह 'अधिकारी साधनानि' इति.

अधिकारोऽपि लीला परं लोकोपयोगिनी. तेन प्रधानलीलायां न अधिकसंख्यां जनयति, नापि शास्त्रार्थे अव्याप्तिम्. तथाज्ञानम् अंगम्. साधनानां बहुवचनं सर्वज्ञानप्रकाराणां अंगत्वं बोधयति... अनेन श्रवणादिरूपायाः भक्तेः सर्वाण्येव ज्ञानानि अंगानि इति उक्तं भवति... एवं निरूपणस्य प्रयोजनान्तरमपि इति आह 'एतद्धारणमात्रेण' इति, धारणं पाठतः तस्य भगवद्रूपत्वात् तेन रूपेण भगवानेव धृतः. हृदि स्थितो भगवान् यत् कार्यं करिष्यति तद् अनेनापि (नामात्मकस्वस्वरूपेणापि) करिष्यति. अर्थतश्च परितो ज्ञातः, इदमित्थतया ज्ञानं भक्त्यंगमिति ज्ञातः सन् भक्तिं प्रयच्छति''.
(त.दी.नि.प्र. ३।१।३-१०).

अर्थात् समग्र भागवतपुराणका एक शास्त्रतया अर्थ यही है कि आनन्दरूप भगवान्की लीला भी आनन्दरूपा ही होती है. यह लीला सर्गादिके प्रभेदवश दशविधा है, जिसका निरूपण तृतीयस्कन्धसे बारहवें स्कन्धतक हुवा है. प्रथमस्कन्ध प्रस्तुत लीलाग्रन्थके आदिम-मध्यम-उत्तम कोटिके श्रोता और वक्ता के प्रतिपादनपरक है. इस श्रीमद्भागवतके लीलागानार्थ और लीलाश्रवणार्थ अधिकारियोंका यह त्रिविध भेद भी भगवान्की एक लीला ही है, स्वलीलोपयागिनी. द्वितीयस्कन्ध इस भगवल्लीलाके गानार्थ तथा श्रवणार्थ जो आंगिक आवश्यकतायें हैं उनके प्रतिपादनार्थ है. अतः उसका प्रतिपाद्य ज्ञान भागवतश्रवणका अंग माना गया है. साधनोंके अनेक प्रकार होनेसे सभी प्रकारके ज्ञानोंको लीलागान और लीलाश्रवण का अंग माना गया है. एतावता यह सिद्ध हो जाता है कि श्रवणादिरूपा भक्तिके अंगतया भी सभी प्रकारके ज्ञानोंका उपयोग वांछनीय

है. अत: श्रीमद्भागवत भी भलीभांति कोई समझ पाये तो निश्चयेन उसके हृदयमें भक्ति प्रकट होगी.

महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण भी दिया है कि भगवज्ज्ञानावतार महर्षि वेदव्यासने देवर्षि नारदकी प्रेरणाके अनुसार समाधि लगा कर भविष्यमें होनेवाले सूत-शौनकके संवादमें जो महाराजा परीक्षित् और शुकदेवजी के बीच भगवत्कथासम्बन्धी प्रश्नोत्तर हुवे उन्हें संकलित कर यह सात्वतसंहिता प्रकट की. तदनुसार इस पुराणार्क द्वारा अनेक स्तरोंपर अनेक प्रकारके अज्ञान-संशयोंका निवारण शक्य हो जाता है.

साथ ही साथ इस विपुलीकृत ग्रन्थकायाके मूलमें दो और भी श्रोता-वक्ताओंका उल्लेख स्वयं श्रीभागवतमें उपलब्ध होता है. जिसमें सर्वप्रथम तो सर्वाधार सर्वान्तर्यामी नारायणके मुखारविन्दसे भगवान्‌के सृष्टिकर्तृतया रजोगुणाधिष्ठाता ब्रह्माजीकी निर्मिमित्सित सृष्टि भगवल्लीलौपयिक कैसी किमुपादानक किम्प्रयोजनक कतिविध हो ऐसी तत्त्वजिज्ञासाका समाधान किया गया है. वैसी सृष्टिमें विसृष्ट जडजीवेश्वरोंमें जड पदार्थोंकी क्रिया कैसी हो, जीवात्माओंके पुरुषार्थरूप कर्तव्य कैसे हों तथा उनके नियामक ईश्वररूपोंका लीला-चरित् कैसे हों ऐसे प्रश्नोंके समाधान भी है. जो स्वयं नारायणके मुखारविन्दसे चतु:श्लोकी (द्रष्ट. : भाग.पुरा. २।९।३२-३५) और एकश्लोकी (द्रष्ट. : भाग.पुरा. ३।९।४२) के सूत्ररूप उपदेशमें प्रकट हुवा. तदनुसार ब्रह्माजीने अपने मानसपुत्र देवर्षि नारदको स्वसृष्ट लीलाकी अधिकरणरूपा सृष्टिमें भगवान्‌के अवतारोंकी लीलाकथा रूपी भागवत सुनायी. उसे देवर्षि नारदने महर्षि वेदव्यासको स्वयंकी समाधिदृष्टिसे अवलोकनार्थ प्रोत्साहित किया. इस स्वसमाधिदृष्ट भगवत्कथारूप भागवतको वेदव्यासजीने अपने महादेवावताररूप आत्मज श्रीशुकदेवजीको पढ़ायी.

जो श्रीशुकदेवने महाराजा परीक्षित्को सुनायी. इस कथाको पुनः सूतजीने शौनकादि ऋषिओंको सुनाई. इस तरह अनेक श्रोता-वक्ताओंकी परम्परासे समृद्ध तथा विपुलीकृत भगवत्कथाके श्रोता-वक्ताकी उत्तम-मध्यम-आदिम कक्षायें प्रकट हुयी हैं.

स्वाभाविकतया तत्तत् श्रोता-वक्ताओंकी अपने-अपने अधिकारोंके अनुरूप जिज्ञासा और तदनुरूप समाधानोंके प्रभेदवश ही यह उत्तम-मध्यम-आदिम प्रभेद उभरते हैं. तब श्रीमद्भागवतके श्रवण-कीर्तनके अंगोंका विचार प्रासंगिक हो जाता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं :

> **''स्कन्धेतु प्रथमे प्रोक्ताः त्रिविधाः हि अधिकारिणः तेषां कर्तव्यनिर्धारो द्वितीये विनिरूप्यते. तस्मिन् निर्धारिते पश्चात् क्रियाविषयसंकथा अग्रे च तां प्रवक्ष्यामः तृतीयादिभिः उत्तमैः निर्धारणे अंगत्रितयं : [१]वस्तुनिर्धारणं पुरा [२]श्रद्धा चैव [३]विमर्शश्च. वस्तुनिर्धारणं पुनः प्रमाणेन प्रमेयेण साधनेन फलेन च. एकत्र मानमेये हि फलं साधनम् एकतः. अतो अत्र वस्तुनिर्धारे हि अध्यायद्वितयं मतम्. श्रद्धापि द्विविधा श्रोतृवक्तृविभेदतः. फलोपकारि अंगम् एतद् न अधिकारे ततो विशेत्. विमर्शोऽपि द्विधा पूर्वम् : [१]उत्पत्त्या च [२]उपपत्तितः. त्रिविधे द्वे ततः तत्र षडध्यायाः ततो दश. तत्रतु प्रथमे अध्याये कर्तव्यं विनिरूप्यते. वस्तुनः तत्त्वनिर्धारो मानमेयविभेदतः''.**
>
> (भाग.सुबो.२।१।०।का. १-७).

द्वितीय स्कन्धके इस उपक्रममें सुबोधिनीकार समझा रहे हैं कि प्रथम स्कन्धमें जो त्रिविध अधिकारिओंका निरूपण हुवा उनके कर्तव्यके स्वरूपका निर्धारण अब यहां द्वितीय स्कन्धमें प्रतिपाद्य विषय है. क्योंकि उसके निर्धारित होनेपर ही बादमें अग्रिम तृतीयसे प्रारम्भ कर द्वादश स्कन्धोंमें कर्तव्यरूप श्रवणादिकर्मोंके विषयरूपा भगवल्लीलाकी कथा प्रतिपादित होगी. कर्तव्यके निर्धारणमें तीन अंग : [१]वस्तुतत्त्वनिर्धारण [२]श्रद्धारूप हृत्प्रसाद और [३]उत्पत्तिविचार तथा उपपत्तिविचार रूप मनन या विमर्श आते हैं.

१. वस्तुनिर्धारण भी प्रमाणद्वारा प्रमेयद्वारा साधनद्वारा और फलद्वारा किया जाना है. अत: इस स्कन्धके प्रथम अध्यायमें प्रमाणद्वारा और प्रमेयद्वारा किये जाते तत्त्वनिर्धारकी कथा है. दूसरे अध्यायमें फलद्वारा और साधनद्वारा किये जाते तत्त्वनिर्धारणकी कथा है.

२. श्रीभागवतश्रवणश्रावणका दूसरा अंग जो 'श्रद्धा' कहा गया है वह भी श्रोता और वक्ता के विभेदवश दो अध्यायोंमे अनादररहित निश्चयरूप हृत्प्रसादके रूपमें दो तरहसे अभिप्रेत है. यह अधिकारीके स्वरूपको घड़नेवाली श्रद्धाकी बात नहीं प्रत्युत श्रवणके फलोपकारी अंगतया विवक्षित श्रद्धा है.

३. श्रवण-उपदेशका तृतीय अंग विमर्श भी दो प्रकारोंसे करना अभिलषित है : [१]उत्पत्तिके विचारद्वारा तथा [२]उपपत्तिके विचारद्वारा. एतदर्थ उत्पत्तिविचारार्थ और उपपत्तिविचारार्थ यों छह अध्यायोंमें भागवतकथाके श्रवण-उपदेशके तीसरे अंग विमर्शका निरूपण हुवा है.

यों कुल मिला कर दस अध्यायोंवाला यह द्वितीय स्कन्ध है.

(भागवतकथाके श्रवणांगोंका स्वरूप)

इस द्वितीय स्कन्धके प्रतिपाद्य-विषयका समग्रतासे आकलन करनेको सर्वप्रथम आद्यसम्पादक सुरतके श्रीचीमनलाल शास्त्रीजीद्वारा प्रदत्त विषयतालिकाका विहगावलोकन उपकारक होगा :

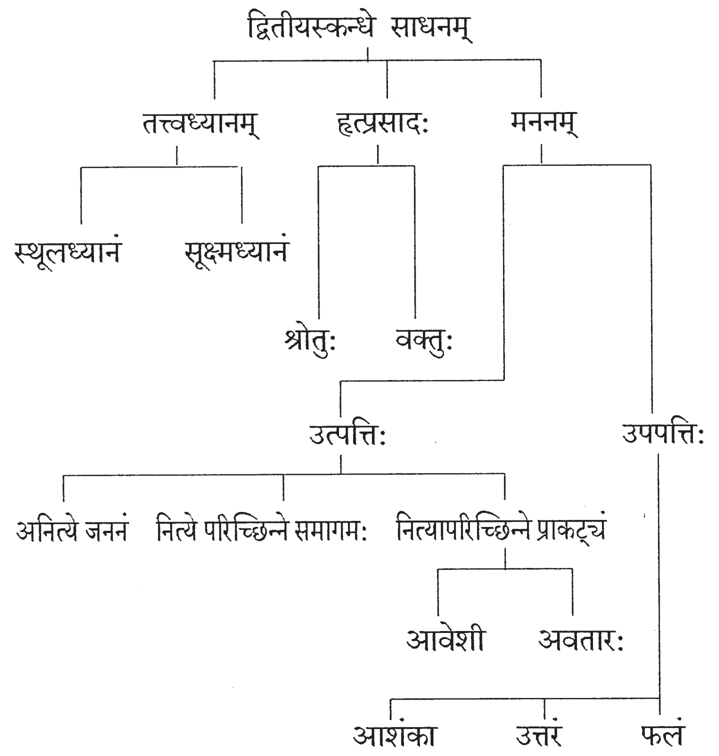

प्रस्तुत प्रतिपाद्यविषयकी तालिकामें, जैसा कि हम बता चुके हैं, कारिकोक्त तत्त्वनिर्धारणको ही 'तत्त्वध्यान'पदद्वारा सूचित किया गया है. क्योंकि या तो तत्त्वतया निर्धारितका ही ध्यान उपादेय होता है अथवा कुछ तथ्य ऐसे भी हो सकते हैं कि ध्यानरहित

अनुभूतिसे उनका तात्त्विक स्वरूप अवगत नहीं हो पाता. श्रद्धाको, ऐसे ही, 'हृत्प्रसाद' कहा गया है. क्योंकि श्रद्धाके अभावमें ध्यान करनेपर हृत्प्रसाद शक्य नहीं और श्रद्धास्पद विषयका ध्यान हृदयको प्रसन्न कर देता है. इसी तरह विमर्शको 'मनन' कहा गया है; क्योंकि मूलत: तो उपनिषद्में द्रष्टव्य आत्माको न केवल सर्वप्रिय सर्वसृष्टा प्रत्युत सर्वनामरूपकर्मात्मक भी दरसाया गया है. ऐसेही नामरूपकर्मोंका भी ब्रह्मात्मक होना स्वीकारा गया है :

[१]"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति. आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:".

"[२]तद्धा इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत 'असौ नामा अयम्-इदं रूप:' इति."

[३]त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति... तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एक: सन् एतत् त्रयम्."

([१]बृह.उप. २।४।५, [२]१।४।७, [३]१।६।१-३).

(तत्त्वध्यान)

तदनुसार सर्वनामरूपकर्मोंमें सच्चिदानन्दतया उपादानत्वेन या अंशित्वेन द्रष्टव्य सर्वविध प्रेमके मूलरूप आत्माके श्रवणकी ज्ञान-भक्तिसाधारण विधि औपनिषदिक है. श्रुति-स्मृति-सूत्रोंमें उठते संदेहोंकी वारिका ऐसी इस भक्तिजनिका सात्वतसंहिता रूप श्रीमद्भागवतमें

जबकि :

“तस्माद् भारत [श्र.वि.]सर्वात्मा भगवान् हरिः
ईश्वरः [श्र.इ.]श्रोतव्यः कीर्तितव्यः च स्मर्तव्यः च
[श्र.अ.]इच्छता [श्र.फ.]अभयम्.”

(भाग.पुरा. २।१।५).

इस वचनके द्वारा औपनिषदिक श्रवणादिकी विधि भक्तिभावानुकूलतया पल्लवित हुयी है. अतः निदिध्यासनका श्रवणमें ही अन्तर्भाव मान लिया गया है.

<u>श्रवणविषय</u> :

ऐसी इस श्रवणविधिद्वारा शुश्रूषित आत्मा जीवात्मा अभिप्रेत है या परमात्मा? इसका खुलासा श्रीभागवतमें मिलता है कि ‘आत्म’पदसे अभिप्रेत [१]सर्वात्मा=सर्व जीवात्माओंका परमात्मा है. अर्थात् केवल एकमात्र अद्वितीय आत्मा नहीं और न तत्तद् जीवरूप आत्मा. ऐसा वह सर्वात्मा [२]स्वाभाविक षड्गुणपूर्ण होनेके कारण भगवान् भी है. सो ऐसे माहात्म्यज्ञानके बाद उसे आत्माराम भजनीय भगवान् मान कर भागवतश्रवणका विषय बनाना चाहिये, नकि भक्तोंकी खुदकी आत्माको. क्योंकि **“शश्वत् स्वरूपम् असहैव निपीतभेदमोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै, विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीलारासाय ते नम इदं चकृम ईश्वराय”**, **“क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपरे ईश कुर्युः”** (भाग.पुरा. ३।९।१४, ८।२२।२०) इन श्लोकोंकी सुबोधिनीमें महाप्रभुने यह समझाया है कि भगवान्का स्वरूप ही ऐसा है कि भगवान्में तो भेद और मोह की सम्भावना स्वतोनिरस्त ही रहती है. इसके विपरीत सच्चिदानन्द ब्रह्मके चिदंशभूत जीवात्माका स्वरूप, जब तक वह मुक्त न हो पाये तब तक तो, पञ्चपर्वा अविद्याके

साथ सम्पर्कके कारण भेद-मोहसे ही परिनिष्पन्न होता है. अत: विश्वके उद्भव-स्थिति-लयको निमित्त बना कर लीला करनेवाले लीलारासरूप भगवान् ही ऐसी जीवात्माके लिये श्रवणीय होने चाहिये. जगत् जो भगवान्ने अपनी आत्मक्रीडार्थ प्रकट किया है, उसमें बहुभवनकी इच्छासे प्रकट हुवे भेद और उस भेदके अधूरे अनुभववश कुबुद्धि या क्षुद्र अहन्ता-ममता रूपी मोह प्रकट हो जाता है. अर्थात् स्वयं स्वामी होनेकी मिथ्या भावनासे छुटकारा पाना हो तो जीवात्माके लिये आवश्यक है कि पहले सर्वात्मा भगवान् हरि ईश्वरके बारेमें शास्त्रानुसार श्रवण करे. आत्मक्रीडारूपा सृष्टिके कर्ता, अर्थात् लीलाविहारी, को ही श्रवणीय माने. तदंशत्वेन अपना स्वरूप तो आनुषंगिकतया स्वत: ही समझमें आ जायेगा. त्रिविध दु:खोंसे ग्रस्त जीवात्माका पुरुषार्थ अपने-आप सिद्ध नहीं हो पाता प्रत्युत [3]दु:खाभावपूर्वक सुखरूप फल प्रदान करनेमें समर्थ हरि=सर्वदु:खहर्ताद्वारा ही सम्भव होता है. यह सिद्धि सर्वविधदु:खग्रस्त जीवात्माको श्रवणविषय बनानेसे सम्भव नहीं हो सकती. अत: [4]धर्म अर्थ काम मोक्ष और भक्ति रूपी सकलपुरुषार्थोंके सम्पादनमें समर्थतया सकलसुखदाता ईश्वर ही श्रवणीय है. यह हुवा प्रमेयके विशेष लक्षणद्वारा तत्त्वनिर्धारोत्तर तत्त्वध्यानका भागवताभिलषित स्वरूप.

श्रवण-इतिकर्तव्यता :

प्रमेयका बोध प्रमाणसे होता है. अत: प्रमाणदृष्ट्या तत्त्वनिर्धारार्थ श्रवण कैसे करना? इसका खुलासा उल्लिखित श्लोकमें श्रवणके बाद कीर्तन और स्मरण के रूपमें दिया गया है. अत: इसका श्रवण-मनन-निदिध्यासनवाली औपनिषदिक आत्मदर्शनार्थ अनुष्ठेय प्रक्रियासे क्या तारतम्य है यह मीमांस्य बनता है.

वैसे तो शांकर वेदान्तमें भी ''**श्रोतव्य: श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्च**

उपपत्तिभिः ज्ञात्वा च सततं ध्येयः एते दर्शनहेतवः'' (वि.प्र.सं. १।१।१-२) इस निरूपणके आधारपर षड्विधलिंगोंके विमर्शद्वारा ''तत् त्वम् असि'' सदृश वचनोंके श्रवणके बाद जीव-ब्रह्मके बीच आत्यन्तिक द्वैताभावके प्रतिपादक वेदान्तवचनोंके तात्पर्यकी निर्धारिका मानसी क्रिया 'मनन'पदसे अभिप्रेत मानी गयी है. अतः 'मनन'पदसे वेदान्तेतर प्रमाणोंद्वारा इस विषयमें उपस्थापित विरोधकी शंकाओंका निरसन अभिप्रेत माना गया है. उसके बाद 'निदिध्यासन'पदसे अभिप्रेत सतत ध्यान अर्थात् ब्रह्मात्म्यैक्यके प्रत्ययकी निरन्तर आवृत्ति करनी चाहिये.

यहां परन्तु श्रीभागवतके प्रस्तुत वचनमें अश्रुत मनन-निदिध्यासनका श्रवणमें ही अन्तर्भाव महाप्रभुने स्वीकारा है **''मनननिदिध्यासनयोः श्रवणमध्यपातात्''** (सुबो. २।१।५). अतः श्रुतिविवक्षित 'सर्वप्रिय'-'आत्मा' पदोंकी शक्तिद्वारा सर्वात्मा भगवान्का बोध शक्यार्थतया होता है. यह श्रीभागवतके ही वचनान्तरके आधारपर निःशंकतया सिद्ध भी होता है **''अहम् आत्मा आत्मनां, धातः!, प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः''** (भाग.पुरा. ३।९।४२). महाप्रभु कहते हैं कि लौकिक पदोंकी शक्तिग्रहणके अन्यान्य उपायोंकी तरह श्रुत्यादिशास्त्रीय पदोंके भी शक्तिग्रहणके शास्त्रीय उपाय व्याकरण-निरुक्त-मीमांसादि होते हैं. सो पहले प्रस्तुत द्वितीय स्कन्धके पदवाक्योंका शक्ति-तात्पर्यनिर्धार सामान्यरीतिसे हो जानेपर अग्रिम तृतीयादि स्कन्धोंमें प्रयुक्त पदावलीका शक्ति-तात्पर्यनिर्धार इस द्वितीयस्कन्धके आधारपर किया जाना चाहिये. किसी भी पदका तात्पर्य तो उस पदके वाक्यघटक अंग बन कर उपस्थित होनेपर सुबोध्य होता है. प्रस्तुत द्वितीय स्कन्धके अवलोकनद्वारा भागवत-प्रतिपाद्य दशविध लीलाके निरूपक पदोंके श्रवणके अन्तर्गत उनका शक्तिज्ञान

और तात्पर्यज्ञान उपलब्ध होता ही है. परन्तु अग्रिम तृतीयादि स्कन्धगत वाक्योंका तात्पर्य तो भगवान्‌को दशविध लीलाओंके कर्ताके रूपमें श्रवणीय विषय बनानेपर ही सम्भव है : "**श्रोतव्य विषयत्वेन लीला दशविधा पुनः उक्तैव वासुदेवस्य तदर्थम् अपरा कृतिः, शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्येन पदादिगः क्रियते स्कन्धएव अत्र... भगवान् दशविधलीलायुक्तः श्रोतव्यः. अन्यथा विषयवाचकपदचतुष्टयेनैव श्रवणसिद्धेः विधेः वैयर्थ्यं स्यात् तृतीयादिस्कन्धकृतिवैयर्थ्यं च. तावता शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्यन्यायेन व्याकरणवद् मीमांसावच्च क्रियते**" (सुबो. २।१।५). अतएव यहां श्रवण-मनन-निदिध्यासनके बजाय श्रवण कीर्तन और स्मरण अतिरिक्त दरसाये गये हैं.

यहां, उदाहरणतया, यह अवधेय है कि शांकर वेदान्तके अनुसार जिज्ञास्य और शास्त्रप्रतिपाद्य ब्रह्ममें प्रभेद माना गया है : "**एवम् अयम् अनादिरनन्तो नैसर्गिको अध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तको सर्वलोकप्रत्यक्षः. अस्य अनर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्व विद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः आरभ्यन्ते. यथाच अयम् अर्थो सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयम् अस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः**" (ब्र.सू.शांक.भा. १।१।१) इस अध्यासभाष्यके अनुसार शुद्ध निर्गुण निराकार निर्धर्मक निर्विशेष ब्रह्म जिज्ञास्य है, जबकि श्रुतिसूत्रादि शब्दप्रमाणोंसे अभिहित ब्रह्म तो मायाशबलित अशुद्ध ब्रह्म ही होता है. अतएव प्रतिपित्सित आत्मैकत्वविद्याके अनुरोधवश भागवतके श्रोतव्य सर्वात्माके साथ जो अन्य विशेषण 'भगवान्' 'हरि' और 'ईश्वर' विधेय बने हैं, उन्हें ब्रह्मके आत्यन्तिक एकत्वमें बाधक होनेके कारण गौणी या लक्षणा वृत्तिद्वारा ही विवक्षितार्थके प्रतिपादक माना गया है. वैसे तो "**अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम च इति अंशपञ्चकं आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्**" (सि.ले.सं. ३।७)

इस अद्वैतसम्प्रदायके किन्हीं वृद्ध विद्वान्की उक्तिके आधारपर केवल नामरूप को ही मायिक-अब्राह्मिक मिथ्या स्वीकारा है. परन्तु संक्षेपशारीरककारके अनुसार :

> **''कार्यवस्तु विरहय्य कारणं न क्वचिद् घटयितुं क्षेममहि, नापि कारणम् अपोह्य केवलं कार्यवस्तु परिकल्पयेमहि**[सद्निरास]**. साक्ष्यवस्तु परिहृत्य साक्षिता साक्षिणं च परिहृत्य साक्ष्यता, नेष्यते न घटते च तेन तत् सव्यपेक्षम् उभयं परस्परम्**[चिद्निरास]**. प्रियशिरस्त्वकथा खलु यादृशी, भवति तादृशमेव तदीरणं, तदनु नेति च नेति वचः श्रुतेः, यदपि मोक्षगतं स्तुतये हि तत्**[प्रियत्वनिरास]**... परमेश्वरतागु-णोऽप्यतः स्तुतये तस्य परस्य वस्तुनः... ईशितव्यम् अनपेक्ष्य नेश्वरो नेशितव्यमपि तद्वद् ईश्वरम्, अन्तरेण घटते ततो मृषा मोहमात्रपरिकल्पितं द्वयम्**[ईश्वरत्वनिरास]**.''**
>
> (संक्षे.शा. ३।१७०-१९०).

एतावता सिद्ध हो जाता है कि केवलाद्वैतमतमें केवल जागतिक नामरूप ही नहीं प्रत्युत सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपके सदंशसे घटित जगत्पूर्ववर्तितारूप सत्-कारण होना, चिदंशघटित सर्वसाक्षी होना तथा आनन्दांशघटित सर्वप्रिय होना भी उपासनार्थ परिकल्पित मिथ्या ही माने गये हैं. अतः उसके आनुषंगिकतया आते षडैश्वर्यादिघटित भगवान् होना, तत्प्रयुक्त सर्वेश्वर होना तथा सर्वदुःखहरणशील हरि होना तथा मोक्षादि फलदाता होना भी श्रवणविषय होनेपर भी मनननिदिध्यासनके स्तरपर निरसनीय बन जाते हैं : **''विश्वोद्भवस्थितिल-यप्रकृतित्वरूपम् एकाकिनो यद् इह लक्षणम् उच्यमानं, तद् ब्रह्मणो**

यदि विशेषणरूपम् इष्टं 'ब्रह्मे'ति लक्ष्यविषयस्य पदस्य भंगः'' (संक्षे.शा. १।५२०) ऐसा स्वीकारनेके कारण जिज्ञास्य ब्रह्म और उपनिषद् द्वारा उपदेश्य ब्रह्म के बारेमें ''आम्रान् पृष्टे कोविदारान् व्याचष्टे'' जैसी कथा कभी-कभी प्रतीत होती है, यदि शाखारुन्धतीन्यायसे उसे बचाया न जाये तो. यहां शाखास्थानीय शास्त्रोपदेश्य ब्रह्म होता है और अरुन्धतीस्थानीय शास्त्रादिके शब्दोंसे अवाच्य अव्यपदेश्य निर्विशेष वस्तु होगी.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार, यदि संक्षेपशारीरककारके शब्दोंमें, कुछ कहना हो तो ''**निष्कारणं श्रुतिशिरोवचनस्य भंगं ये वर्णयन्ति सहसा स्वमनोरथेन, दीप्तस्य दावदहनस्य न ते किमर्थं ज्वालां पिबन्ति कथनीयम् इदं बहुज्ञैः**'' (संक्षे.शा. १।५४२) कहा जा सकता है. अतएव महाप्रभु इस विषयमें अपनायी जानेवाली व्याख्यानीतिको यों स्पष्ट करते हैं :

> ''**प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिबोधिताः परस्परं विरुद्धास्ते नैकशेषं भजन्ति हि, उभयोः वैदिकत्वेन कः स्याद् अत्र नियामको, विचारकाणां बुद्धिस्तु सोपजीव्याः श्रुतेः सदा, क्रियाविद्यापरत्वे तु विकल्पेन एकवाक्यता, दुष्टोऽपि आश्रीयते पक्षः विकल्पाख्यः श्रुतेः बलात्. तथैव भगवद्रूपं यथा हस्तादयः पृथक्, यथा सर्वाविरोधः स्यात्, तथैव अत्र विचारणं, सर्वरूपसमर्थत्वम् अतो ब्रह्मणि गीयते, अन्यथा प्रतिभानं यद् उच्चनीचादिभेदतः तद्भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः. यत्किञ्चिद् दूषणन्त्वत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम्, विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते, 'यो अवशिष्येत**

सो अस्मि अहम्' इति वाक्यात्.''

(भाग.सुबो. २।९।३२).

अर्थात् श्रुत्यादि शास्त्रवचनोंके प्रत्यक्षविरुद्धार्थके प्रतिपादनका समाधान यथाकथञ्चिद् किया जाता हो परन्तु प्रत्यक्षागम्य वस्तुविषयक प्रतिपादनमें प्रत्यक्षोपजीवी तर्कसे कोई बात विरुद्ध लगती हो तो वहां गौणी या लक्षणा वृत्तिका अवलम्बन तो तर्कातीत पदार्थको तर्कगम्य मान लेनेके विरोधाभासमें ही वह पर्यवसित होगा. ऐसी स्थितिमें तर्कातीत ब्रह्मको विरुद्धधर्मोंका आश्रय माननेमें क्यों आपत्ति होनी चाहिये? लोकमें भी प्रत्यक्षानुभूतिगोचरमें क्या कभी-कहीं विरुद्धधर्माश्रयता नहीं दिखलायी देती? स्वयं भूमि ही दृष्टिसीमामें चपटी दीखती होनेपर भी क्या 'भूगोल' नहीं मानी जाती? सूर्यका आतप तापक होनेपर भी जीवनदायक नहीं होता क्या?

अत: देहवान् आत्मचेतनामें अवभासित होती ''तत् त्वम् असि''वाक्यजन्य ब्रह्मात्म्यैक्यमति और औपनिषदिक ज्ञानसे रहित पुरुषको स्वप्न या भ्रान्ति के वश होती स्वयंके बारेमें ब्रह्मबुद्धि के बीच प्रभेद कैसे किया जा सकता है? महाप्रभु, अतएव, कहते हैं **''यत्तु वाक्यात् स्वप्नवद् ब्रह्मात्मभावस्फूर्ति: तेन वा सर्वाविद्यानिवृत्ति: स्वचरितार्थता वा उच्यते इति तद् ज्ञानदुर्बलानां मनोरथमात्रमेव''** (भाग.सुबो. २।१।५).

अभिप्राय यह है कि भागवतप्रतिपाद्य सर्वात्माका भगवान् हरि ईश्वर होना श्रुत्युक्त आत्म्यैक्यके बाध किये बिना भी तादात्म्यघटित स्वीकारनेपर शक्य हो तो उन्हें अकारण ही ऐक्यबाधित क्यों मानना? अत: एकवाक्यान्यथानुपपत्त्या तथा श्रुतार्थापत्तिवशाद् भी तादात्म्यघटित आत्म्यैक्य क्यों नहीं स्वीकार लेना चाहिये?

वाल्लभ वेदान्त और शांकर वेदान्त दोनोंके दृष्टिकोणोके बीच यही मौलिक प्रभेद है. यह विवरणप्रमेयसंग्रहकारकी इस उक्तिसे भी सुस्पष्ट हो जाता है **''नच एकत्वमेव तादात्म्यम् इति वाच्यं भेदाभेदसहम् अन्योन्याभावविरोधि तादात्म्यं भेदविरोधि एकत्वम् इति तयोः विविक्तत्वात्''** (वि.प्र.सं. १।२६). क्योंकि एकमेवाद्वितीय ब्रह्मरूप अधिष्ठानपर सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्चको मिथ्याभ्रमभात स्वीकारनेपर भी निस्तार तो नहीं होता, ब्रह्मका अधिष्ठान होना भी कल्पित माना गया होनेसे : **''अधिष्ठानत्वव्यपदेशस्तु तस्य औपचारिको अधिष्ठानचैतन्या-वच्छेदकोपाधित्वात्''** (वि.प्र.सं. १।६९).

दूसरी एक बात यह और ध्यातव्य है कि जिस श्रुत्युक्त ऐक्यके संरक्षणार्थ एकके अधिष्ठानपर अनेकताको उपासनार्थ आरोपित या प्रतिषेधार्थ प्रसंजित माननेका आग्रह रखा गया है, उस एकत्वका भी तो श्रीशंकराचार्य प्रत्याख्यान करते हैं **''नच एकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्याद्? नवा केवलत्वं नच अकेवलत्वं न शून्यं नच अशून्यम् अद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि''** (दशश्लो. १०) ऐसे निरूपणद्वारा.

अतः अवाच्य तत्त्वको किसी वाक्यमें उद्देश्य बनाना जैसे स्वतोव्याहत है, वैसे ही उसके बारेमें एकत्व या अनेकत्व का विधान भी उद्देश्यनिरस्त होनेके कारण स्वतोव्याहत लगता है. अतः महाप्रभुके अनुसार सृष्टिके प्रकट होनेसे पहले एकमेवाद्वितीय ब्रह्म स्वरूपतो अवाच्य, वाचक जीवव्यक्तिके अभाववश, होनेपर भी वाच्य-वाचकरूपा सृष्टिके प्रकट होनेके बाद अपने बहुभवनके संकल्पवशात् वह सर्वात्मा भगवान् हरि ईश्वर वाच्य बन जाता है. अतः पहले अवाच्य होनेपर भी ब्रह्म कारणकोटिभावापन्न और जडजीवेश्वरात्मक कार्यकोटिभावापन्न रूपोंमें वाच्य भी बनता

है. अतः हमारे लिये श्रुति-स्मृति-सूत्र-भागवतादिके पदोंसे भी वाच्य बन कर श्रोतव्य बन जाता है. यों उसकी दशविधलीला और लीलाकर्ता होनेके आपसी तादात्म्यके विमर्शपूर्वक श्रवणीय है, आत्म्यैक्यविद्या प्राप्त करनेको नहीं. क्योंकि श्रुति भी "**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्. तत् सत्यम्. स आत्मा. तत् त्वम् असि**"(छान्दो.उप. ६।८।७) कहती है. यहां जड़-जीवका ब्रह्मके साथ तादात्म्य ही प्रतिपादन अभिप्रेत है.

उल्लेखनीय है कि 'तत् सत्यं' विधान परमात्मोद्देश्यक तो हो नहीं सकता, क्योंकि पूर्वपरामर्शी होनेसे प्रत्यक्षतो गृह्यमाण 'इदं सर्वं'का ही परामर्शी होना चाहिये. निष्कर्षतया "तत् त्वम् असि" विधानमें भी 'तत्' पद आत्मवाचक न होकर 'ऐतदात्म्य'वाचक मानना ही उपपन्न लगता है. यों श्रुत्यादि प्रमाणोंके अनुसार भागवतके श्रोतव्यका निर्धारण हो जाता है.

अतएव भागवतके "**'यावान् अहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः तथैव तत्त्वविज्ञानम् अस्तु ते मदनुग्रहात्' 'यावान् अहम्' इति प्रमाणतो यावान् अहं परिणामतोऽपि, यथाभावो यादृशो मम कारणभूतो भावः सर्वकार्यकरणाय सर्वशक्तिरूपः. (यद्रूपगुणकर्मकः इति) यावन्ति रूपाणि गुणाः कर्माणि च यस्य... तद् आह तथैव ते मदनुग्रहात् तत्त्वविज्ञानम् अस्तु... सर्वेषां याथार्थ्यं तव स्फुरतु**" (भाग.सुबो. २।९।३१) इस वचनसे ऐसा ही सिद्ध होता है. इस तरहके प्रतिपादनमें चतुर्मुख ब्रह्मा तो चारों वेदोंके ज्ञाता तथा उपदेष्टा हैं. अतः "**'तत् त्वम् असि'- 'प्रज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म'- 'अयम् आत्मा ब्रह्म'- 'अहं ब्रह्म अस्मि'**" रूपी चारों महावाक्योंके मूलतात्पर्यसे अनवगत तो नहीं हो सकते. ऐसी स्थितिमें या तो उनके भगवत्कृपालब्ध ज्ञानको भी अज्ञान

मान कर जगत्सृष्टा मानना पड़ेगा. अथवा ब्रह्मकी स्वरूपकोटि कारणकोटि तथा कार्यकोटि में जो कुछ रूप गुण कर्म के दर्शन ब्रह्माको हुवे वे भ्रमात्मक या उपासनार्थ आरोपित मानने पड़ेंगे. तब भगवान्‌का अनुग्रह भी मिथ्या ही सिद्ध होगा, भगवत्स्वरूपमें साक्षात्कृत रूप-गुण-कर्मोके अनुरूप सृष्टिका निर्माण किया होनेके कारण. अथवा तो चतुर्वेदविद् होनेसे सर्वज्ञ माननेपर जो भी ब्रह्मके रूप गुण कर्म सृष्टिनिर्माणौपयिक जो ब्रह्माजीको दीखे वे परमार्थतः ब्रह्मात्मक ब्रह्मधर्म थे ऐसा अकामगलेपतित होगा ही.

वैसे तो ''**पालने विमलसत्त्ववृत्तये जन्मकर्मणि रजोजुषे लये तामसाय जगतः पराकृतद्वैतजालवपुषे नमः सते**''(पञ्च.पा.वि. १।१।१) श्रीप्रकाशात्मयतिके अनुसार चतुर्मुख ब्रह्माको जगन्निर्माणकर्मार्थ पराकृतद्वैतजालवपु साक्षाद् ब्रह्मरूप ही मानें तो ऐसे ब्रह्ममें जगन्निर्माणरूप कर्म और तदनुकूल राजसवपु तात्त्विक हो नहीं सकते. अतः मायौपाधिक मिथ्या ही मानने पड़ेंगे. तब वह उपाधिरूपा माया स्वयं अधिष्ठानवृत्ति अज्ञानसे तो कल्पित हो नहीं सकती, क्योंकि उसका आभास अधिष्ठानवश होता है. उसे उसी अधिष्ठानके ही तत्त्वज्ञानसे निवर्त्य भी माना गया है. अतः यदि अकल्पित मानें तो पारमार्थिकी सिद्ध होगी. अतः वह सृज्यमान जीवाज्ञानकल्पित हो तो तब तो सिद्ध हो जायेगा कि चतुर्विध महावाक्योंका भलीभांति ज्ञान होनेपर भी, अन्यके अज्ञानसे कल्पित होनेके कारण स्वयं ब्रह्माको भी भ्रान्तिग्रस्त रहना पड़ेगा. तब जीवात्माको इन महावाक्योंके श्रवणादिसे कैसे मुक्ति मिल सकती है? अस्तु.

स्थूलध्यान :

प्रकृतमें अनुसन्धेय यही है कि तत्त्वकी निनिर्धारयिषासे किये

जाते ध्यानकी उपयोगिता ही "**ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढां यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः**", "**स्वदेहम् अरणिं कृत्वा प्रणवं च उत्तरारणिं ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येद् निगूढवत्**" (श्वेता.उप. १।३,१।१४) इस वचनमें दरसायी गयी है. अर्थात् तत्त्वके बाह्य और आभ्यन्तर रूपोंका दर्शन ध्यानसाधनासे जैसे दरसाया गया है, वैसे ही श्रीभागवतके द्वितीय स्कन्धके प्रथमाध्यायमें तत्त्वके ब्राह्मिक पक्षसे जगत्कारणतया अवभात होते अनेकानेक निमित्तकारण या उपादानकारणों का अधिष्ठाता एकमात्र उसे ही माना गया है. एतदर्थ ऋक्संहिता(१०।९०।१-६)में जो पुरुषसूक्तगत ब्रह्मके विराट् रूपका वर्णन मिलता है, उसे ही यहां भागवतमें भी शब्दान्तरसे प्रतिपादित किया गया है :

> "**स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद् धिया,**
> **विशेषः तस्य देहो अयं स्थविष्ठः च स्थवीयसाम्.**
> **यत्र इदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवत् च**
> **सत्... इयान् असौ ईश्वरविग्रहस्य यः सन्निवेशः**
> **कथितो मया ते सन्धार्यते अस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे**
> **मनः स्वबुद्ध्या न यतो अस्ति किञ्चित्.**"
> (भाग.पुरा. २।१।२३-३८).

यहां ब्रह्मरूप आधारमें भूत-भवद्-भव्यमें सत् होनेके उल्लेखके कारण "**स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगिता**" (अद्वै.सि. १) से विपरीत स्वरूप सिद्ध होता है. इसी तरह "न यतो अस्ति किञ्चिद्" शब्दावलीपर ध्यान देनेपर पुनः वही तथ्य प्रकट होता है कि इससे भिन्न दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं. ऐसे विधानद्वारा नाम-रूप-कर्मोंकी तत्त्वान्तरताका निषेध हो रहा है नकि त्रैकालिकी

सत्ताका. अत: जो है सो एतदात्मक ही है. यदि स्वयं भागवतसे भी पूछें तो उत्तरतया **"द्रव्यं कर्म च काल: च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वत:"** (भाग.पुरा. २।५।१४) अर्थात् **"संनियोगशिष्टानाम् एकतरापाये उभयोरपि अभाव:"** (पाणि.परि. ३६) न्यायेन न केवल *"जीवो ब्रह्मैव नापर:"* प्रत्युत *"द्रव्यं ब्रह्मैव नापरं"*, *"कर्म ब्रह्मैव नापरं"* *"स्वभावो ब्रह्मैव नापर:"* और *"कालो ब्रह्मैव नापर:"* यह कण्ठोक्त निर्घोष सुनाई दे रहा है. इसी तरह *'न-अपरता'*का भी तत्त्वतो अपरता नहीं है, यही अभिप्राय है. नकि नामान्तरता या रूपान्तरता अथवा कर्मान्तरता का निषेध किया जा रहा है. क्योंकि एक ब्रह्मकी अनन्तविध नाम-रूप-कर्मवत् होनेकी अपरिच्छिन्नताका तत्तद् नाम तत्तद् रूप और तत्तत् कर्मों में परिच्छिन्न बनना ही सृष्ट्यात्मना आविर्भूत होना है **"तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत"**(बृह.उप. १।४।७). अंशी-उपादान सर्वरूप सर्वनामा सर्वकर्मा होता है. जबकि अंशभूत-उपादेय तत्तन्नाम तत्तद्रूप तथा तत्तत्कर्मों में परिच्छिन्न प्रकट होते हैं. परिच्छिन्न अंश-उपादेयोंकी एतावता अंश्यात्मकता या उपादानात्मकता विलुप्त नहीं हो जाती. प्रकट अनुभूत न होती हो वह कथा अन्य है. उसी अप्रकटताका परोक्ष शाब्दबोध **"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा"** (छान्दो.उप. ६।८।७) श्रुत्यंशद्वारा प्रकट किया जा रहा है, जो प्रस्तुत स्थूलध्यानद्वारा निर्धारणीय बनता है. अत: ब्रह्मके इस स्थविष्ठरूपको केवलाद्वैतवादमें तथाकथित शुद्धब्रह्मके अधिष्ठानपर भासित होनेके बावजूद वहां न भूत न वर्तमान और न भविष्य में ही स्वीकार्य माना गया है. **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त: उपासीत"** (छान्दो.उप. ३।१४।१) वचनमें जो जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-लयके उपादानतया ब्रह्मकी उपासनाका विधान किया

गया है, वह उपादानता यदि मिथ्या होनेके बावजूद सर्वत्र 'बाध्यार्थसामानाधिकरण्य'न्यायेन ब्रह्मात्मकता दरसायी जा सकती हो तो ब्रह्मजिज्ञासु साधकके भी आत्माके बजाय पाञ्चभौतिक देहमें भी क्यों नहीं दरसा सकती? उत्तरतया महाप्रभुका कहना है "**ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यं (ब्रह्म) जगतो व्यतिरिच्यतेऽइति न तत्र आसक्तिः कर्तव्या**" (भाग.सुबो. २।९।३५) अर्थाद् जगत्की ब्रह्मात्मकताका उपदेश परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णमें भगवद्भक्तिको आलम्बनोद्दीपनविभाव प्रदान करनेके लिये है. नकि मूलरूपसे विमुख बनानेको "**रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव सः**" (त.दी.नि. २।१८). अतः उपनिषद् और भागवत दोनोंमें स्थूलरूपकी उपासना उपादानतया-अंशितया है नकि अंशतया.

अन्तमें यह एक प्रश्न और उभरता है कि निर्धारित होनेपर तत्त्वका ध्यान करना कि ध्यान करनेसे तत्त्व निर्धारित हो पाता है?

वास्तविकता यह है कि तत्त्वनिर्धारणार्थ किया जाता ध्यान साधनौपयिक आनुषंगिक होता है. जबकि तत्त्वनिर्धारणोत्तर किया जाता ध्यान साधनारूप होता है. द्वितीय स्कन्धमें प्रथम प्रकारका ध्यान है. इसके आधारपर भगवान्की दशविध लीलाओंके श्रवणकी अधिकारिता प्रकट होगी. सो दशविध लीलाओंके अधिकारीद्वारा सुने जानेपर जो भगवत्प्रेम प्रकट होनेको है उसमें ज्ञानमार्गीय ध्यानको ही कीर्तन-स्मरणात्मना भक्तिमार्गीय साधनाका आनुषंगिक बना देंगे. अतएव महाप्रभुने यह सुस्पष्ट किया है "**ननु अस्य शास्त्रस्य भक्तिफलकत्वात् श्रवणादिकं न धर्मरूपम्... अतो नवविधा भक्तिः कर्तव्यत्वेन वक्तव्या तत् कथं त्रयमेव उच्यते? इति चेत् सत्यं,**

नवविधभक्तेः वक्तव्यत्वेऽपि प्रेमानन्तरभावित्वाद् अन्येषां त्रयमेव उक्तम्'' (भाग.सुबो. २।१।५).

सूक्ष्मध्यान :

यहां इस द्वितीय स्कन्धमें जो सूक्ष्मध्यान है वह उल्लिखित **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं... तत् त्वम् असि''** श्रुतिवाक्यके उत्तरांगके स्थानीय है. क्योंकि निबन्धमें महाप्रभुने यह स्पष्ट कर दिया है कि **''वेदानां भगवन्माहात्म्यप्रतिपादकत्वं... माहात्म्यज्ञानस्य उपयोगम् आह 'भजनस्यैव सिद्ध्यर्थम्' इति भक्तिसिद्ध्यर्थम्. भक्तेः अंशद्वयमिति... द्वितीयांशम् आह 'तत्त्वमस्यादिकम्' इति... तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते''** (त.दी.नि.प्र. १।४१-४२). इसीके अनुरूप यहां भी सुबोधिनीमें यह स्पष्टीकरण मिलता है कि :

> **''मानमेयविनिर्धारः तत्त्वार्थं विनिरूपितः फलसाधननिर्धारः द्वितीये विनिरूप्यते. द्विविधः तत्त्वनिर्देशो बाह्याभ्यन्तरभेदतः. बाह्यो निरूपितः तत्र मानमेयपुरस्सरम् आन्तरं भिन्नमार्गेण फलसाध-नबोधतः. अतः साधननिर्धारः प्रथमे क्रियते स्फुटः पश्चात् फलस्य निर्धारः ततः तत्त्वं फलिष्यति.''**
> (भाग.सुबो. २।२।१).

अर्थात् तत्तद् नाम-रूप-कर्मोंके विभागमें विभक्त 'इदं-सर्वं' के रूप सृष्टिके प्रत्यक्षभानमें वस्तुतः तो उपादान-अंशी ही प्रत्यक्षतया अवभात हो रहा होनेपर भी इन विभागोंमें उस अविभक्त ब्रह्मका बोध तो 'ऐतदात्म्यं'श्रुत्येकगम्य है. देखा जा सकता है कि उद्देश्यभूत 'इदं सर्वं' में भी उपलक्षणविधिसे 'इदं'पदास्पद प्रत्यक्षगोचर होनेपर

भी ‘सर्व’पदास्पदका तो, न्यायशास्त्रीय रीतिसे कहना हो तो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिद्वारा उपनीत भान अथवा Inductive generalisation ही होता है. सो ‘सर्व’पदास्पद बाह्यार्थकी एतदात्मकता या ब्रह्मात्मकता का विधान श्रुति कर रही है. नकि विभागावच्छिन्न तत्तद् नाम्नाभिहित प्रत्यक्षगोचर तत्तद् रूपों या कर्मों की. ब्रह्मदृष्ट्या तो तत्तद् रूप-नाम-कर्म भी निश्चित ही ब्रह्मात्मक होते हैं परन्तु विषयमुग्ध श्रोताको तत्तद् रूप-नाम-कर्मके बारेमें ब्रह्मात्मकताका उपदेश किसी एक विषयके बारेमें मोहनिरसनके बजाय मोहवर्धनमें दुष्परिणत हो सकता है. अत: प्रत्यक्षग्राह्यको साकल्येन उद्देश्य बनाया गया है. अत: ऐसी स्थितिमें इस प्रत्यक्षानुभूतिके द्रष्टाका *सर्व*में अन्तर्भाव माननेपर वह द्रष्टा दृश्यसाधारणतया मूलत: जडका विकार प्रतीत होगा. इसके विपरीत ‘सर्व’पदास्पद निखिल दृश्यप्रपञ्चका द्रष्टामें अन्तर्भाव माननेपर प्रतीयमान बाह्यता प्राय: मिथ्याभास लगने लगेगी. अत: ‘सर्व’पदास्पद निखिल प्रपञ्च भी मिथ्या ही सिद्ध होगा, द्रष्टाकी अपेक्षासे. तब श्रुतिबोधित “ऐतदात्म्यं तत् सत्यम्” भी स्वतोव्याहततया बाधित हो कर श्रौत विधानको अर्थहीन बना देंगे.

अत: एक मौलिक प्रश्न यहां उठता है कि क्या असीम दृश्यविस्तारकी किसी क्षुद्र सीमामें द्रष्टा अवस्थित है अथवा तो व्यष्टिरूप द्रष्टृचेतनामें ‘सर्व’पदास्पद निखिल दृश्य जगत् अवस्थित है?

दोनों ही कल्प अपनी-अपनी उपपत्तियोंके साथ विरोधाभास प्रकट करते हैं. अत: प्रकट होते अनिर्णयका निरसन करनेको ही श्रुति “*तत् (ऐतदात्म्यं) त्वम् असि*” प्रतिपादन करती है.

अतएव "**अथ यद् इदम् अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरो अस्मिन् अन्तराकाश: तस्मिन् तद् अन्वेष्टव्यं तद् वाव विजिज्ञासितव्यम् इति...यावान् वा अयम् आकाश: तावानेव एषो अन्तर्हृदय आकाश: उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभौ अग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसौ उभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्च अस्य इह अस्ति यच्च नास्ति सर्वं तद् अस्मिन् समाहितम्**" (छान्दो.उप. ८।१।१-३) इस श्रुतिमें भी यही कहा गया है. सावधानतया यहां लक्ष्यमें रखने लायक बात यही है कि 'तत्'पदास्पदको उद्देश्य बना कर 'त्वं'पदास्पदका विधान विवक्षित नहीं है परन्तु 'त्वं'पदास्पदको उद्देश्य बना कर 'तत्'पदास्पदका विधान हो रहा है. उदाहरणतया "सिंह: चतुष्पाद्" विधानमें सभी चतुष्पाद् सिंह नहीं होते परन्तु सभी सिंह चतुष्पाद् होते हैं. वैसे ही 'तत्'पदास्पद 'त्वं'पदास्पद नहीं होता परन्तु 'त्वं'पदास्पदको 'तत्'पदास्पद कहा जा रहा है. अर्थात् "*तत् त्वम् अस्ति*" नहीं प्रत्युत "*त्वं तद् असि*" अन्वय ही वास्तविक उद्देश्यविधेयभावका समर्पक है. क्योंकि प्रस्तुत वचनमें ब्रह्मविषयक अज्ञान निरसनीय न हो कर जीवकी ब्रह्मात्मकता है या नहीं? इस विषयमें अज्ञातज्ञापकतया श्रुतिका प्रामाण्य है. एक और अतीव महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी यहां अनुसन्धेय है कि "तदभिन्नस्य तदभिन्नाभिन्नत्वं"न्यायेन 'इदं-सर्वं'का 'तत्-त्वं'से तादात्म्य तो स्वीकारना ही पड़ेगा. वह नाम्ना रूपेण या कर्मणा सम्भव न होनेपरभी तत्त्वैक्येन ही स्वीकार्य हो पायेगा. ऐसी स्थितिमें ध्यातव्य स्थूलरूप और सूक्ष्मरूप में जो तादात्म्य प्रतीत होता है, वह कार्य-कारणभावात्मक तादात्म्य ही है. इसका विवेचन बादमें करेंगे.

अत: महाप्रभु कह रहे हैं कि पूर्वमें बाह्यकी ब्रह्मात्मकताके प्रतिपादनके बाद अब "*ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा*

तत् त्वम् असि'' श्रुतिकी तर्जपर ही प्रस्तुत द्वितीयाध्यायके ''**केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे...**'' (भाग.पुरा. २।२।८) आठवें श्लोकसे लेकर '''**भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः दृश्यैः बुद्ध्यादिभिः द्रष्टा लक्षणैः अनुमापकैः**'भा.का. **प्रतिपुरुषं प्रतिविषयं शास्त्राणि प्रसृतानि तानि न सर्वथा बाधितविषयाणि, परम्परोपयोगात्. भगवान् तैः सर्वैरेव भूतेषु 'लक्षितः'=लक्षणया ज्ञापितः. नैयायिकैः कर्तृत्वेन, मीमांसकैः क्रियात्वेन, वेदान्तैः आत्मत्वेन, सांख्यादिभिः करणत्वेन... सर्वैरेव भगवान् एकदेशे लक्षितः अन्धहस्तिवत्...**''भा.सु. (भाग.सुबो. २।२।३५) इस श्लोक तक आभ्यन्तर तत्त्वका भक्तिप्रद होनेके रूपमें ध्यान बताया जा रहा है. अतएव इस आभ्यन्तर ध्यानके उपक्रम(श्लो.६)में ध्येय तत्त्वकी भजनीयतया सुलभता दरसानेको ही उसे ''**आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः**'' (भाग.पुरा. २।२।६) वचनमें आत्मा प्रिय अर्थ भगवान् और अनन्त के रूपमें प्रतिपादित किया गया है.

जीवात्मा शरीरितया स्वयं स्वयंके लिये प्रिय तो संसृतिमार्गमें भी होती ही है. ऐसे ही कर्ममार्गमें उसे शरीरितया नहीं परन्तु धर्मपुरुषार्थके साधक अर्थतया प्रिय मानना आवश्यक होता है. ज्ञानमार्गमें, जबकि, आत्मतया प्रिय माना गया है. प्रपत्तिमार्गमें ऐश्वर्यादि छह सहज-नित्य गुणोंसे युक्ततया प्रिय मान कर जीवात्मा भगवत्प्रपन्न होने समुत्सुक हो पाती है. भक्तिमार्गीय आवश्यकता, किन्तु, इन सभीके अलावा उसके अपरिच्छिन्न होनेकी है. जीवात्माके लिये उस परमात्माका प्रिय होना अर्थात् अपरिच्छिन्न होनेके कारण अनेकविध जीवात्माओंके भक्तिभावोंके अनुरूप अनेकविध रूप धारण करने समर्थ होना है : ''**त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय**'' (भाग.पुरा. ३।९।११) इस वचनमें मुख्यतया यही प्रतिपादनीय है.

इस ऐसे भगवान्के भावात्मक स्वरूपको भक्तकल्पित मिथ्या या भक्तिभावारोपित कृत्रिम मानना उरुगाय भगवान्के असाधारण दिव्य सामर्थ्यका अस्वीकार है.

इस सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्तके सिद्धान्तका एक मननीय रहस्य यह और है कि परमतत्त्व अपने-आपमें विरुद्धधर्माश्रय होनेके रूपमें साकार पुरुषोत्तमरूप भी है और निराकार अक्षरब्रह्मरूप भी. इसे स्वरूपकोटिगत विरुद्धधर्माश्रयता समझनी चाहिये. उस अक्षरब्रह्ममें सदंशसे अव्यक्त जड़ प्रकृति, चिदंशसे पुरुष और आनन्दांशसे अन्तर्यामी नारायणसे कार्यकोटिरूपेण विराट् सर्वाकार स्थूल पुरुष प्रकट होता है. इन आनन्दाकार निराकार और सर्वाकार रूप त्रिविध पुरुषोंकी तत्त्वरूपताके कारण भक्तिका प्रमुख विषय तो आनन्दाकार पुरुषोत्तमरूप ही होता है. भक्तिभावका पूर्वांग होनेके कारण जो माहात्म्यज्ञान है वह ब्रह्मके साथ भक्तात्माके तादात्म्यका उद्बोधक होनेसे शास्त्रद्वारक होनेपर निराकार अक्षरब्रह्मके विषयक होता है. अन्यथा जैसे अर्जुनको दिव्य दृष्टिके प्रदानद्वारा स्थूल सर्वाकार विराट् अन्तर्यामीके साक्षात्कार द्वारा भक्तिका दान दिया गया वैसे भी शक्य है.

अतएव भक्तिभावमें बाधा उत्पन्न करनेवाली दार्शनिक दृष्टियां महाप्रभु गिनाते हैं **“प्रपञ्चमेव मिथ्या इति उक्त्वा शुद्धं भजनं वारयन्ति. तथा अन्ये जीवं व्यापकम् उक्त्वा”** (त.दी.नि.प्र. १।२३) अर्थाद् दो दृष्टियां, एक जगन्मिथ्यात्ववादकी और दूसरी जीवव्यापकत्ववादकी, भक्तिभावमें प्रतिबन्धक दृष्टियां होती है. एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी बहुभवनेच्छाके कारण आकाश वायु अग्नि आप पृथिवी ओषधि अन्न क्रमसे प्रकट होनेवाले अन्नमय प्राणमय

मनोमय विज्ञानमय और आनन्दमय रूपी पांच कोशवाला पुरुष प्रकट होता है. उसे जब ''तत् त्वम् असि'' ब्रह्मात्मक होनेके उपदेशसे प्रोत्साहित किया जा सकता हो तो व्यर्थ ही ब्रह्मोपादानक आकाशादि पृथिव्यन्त प्रपञ्चको मिथ्या क्यों मानना? उसके बाद ''**तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत, तस्मात् तत् सुकृतम् उच्यते यद् वै तत् सुकृतं, रसो वै सः. रसं ह्येव लब्ध्वा आनन्दी भवति. को ह्येव अन्यात् कः प्राण्याद् यद् एषः आकाशः आनन्दो न स्यात्. एष ह्येव आनन्दयाति**''(तैत्ति.उप. २।७) इस श्रुतिमें प्रपञ्च ब्रह्मकर्तृक तथा ब्रह्मात्मक स्वीकारा गया. उस ब्रह्मको सकलप्राणिसाधारण सुखदायक तथा भक्तिरसावलम्बन प्रदान करनेवाला भी माना गया है. अतः भक्तोंके प्रति आनन्ददायकताका प्रत्याख्यान कैसे शक्य हो सकता है? इसी तरह द्वितीय दार्शनिक दृष्टि जो आत्माके व्यापक होनेकी बात समझाती है, वह भी भगवद्भक्तिभावमें स्वयं भागवतके ''**अपरिमिताः ध्रुवाः तनुभृतो यदि सर्वगताः... समम् अनुजानतां यद् अमतं मतदुष्टतया**'' (भाग.पुरा. १०।८७।३०) वचनमें दुष्ट मततया स्वीकारी गयी है.

उभयथा भी ''*ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं... तत् त्वम् असि*''श्रुत्युक्त तादात्म्यज्ञान भक्तात्माके बाह्याभ्यन्तरमें ब्रह्मकी न तो असंसृष्ट आत्यन्तिक श्रीशंकरमतोक्त अद्वैतरूप अधिष्ठानता है. न शरीरितया संसृष्ट श्रीरामानुजोक्त आधारता है; और, न सर्वथा अतिरिक्ततया सर्वव्यापी श्रीमध्वाचार्योक्त नियामकता ही. इससे आगे बढ़ कर अविकृतपरिणामितया सर्वरूप होनेपर भी सर्वातीत होनेकी वह विरुद्धधर्माश्रयता है.

यों बाह्याभ्यन्तर ध्यानद्वारा तत्त्वके स्वरूपके निर्धारित हो

जानेपर अग्रिम स्कन्धोंमें वर्णनीय दशविध लीलाओंमें प्रयुज्यमान होनेवाले पदोंका शक्तितात्पर्य भी निर्धारित हो पायेगा. तभी भगवान्की लीला भी ब्रह्मात्मिका फलित हो पायेगी.

श्रवणाधिकारी :

भागवतकथाके श्रवणमें श्रोताके अधिकारकी फलमुखयोग्यताके घटक तो प्रथमस्कन्धमें ही, जिज्ञासुता अमात्सर्य श्रवणादर भगवत्कृपा भगवदीयता और भगवदेकतानताप्रयोजक दृढ वैराग्य गिना दिये गये. कथोपदेशककी भी फलमुखयोग्यताके घटक श्रुतभागवतता कथानिरूपणचातुर्य कथागूढार्थज्ञान भगवत्कृपा भगवदीयता और भगवदेकतानताप्रयोजक दृढवैराग्य भी दिखला दिये गये. यहां अब स्वरूपयोग्यताका निरूपण अभिलषित है.

(श्रद्धाहेतुक हृत्प्रसाद)

महाप्रभु कहते हैं कि हृत्प्रसादरूपा श्रद्धा के हेतुभूत अधिकारका निरूपण यहां तीसरे और चौथे अध्यायोंमें करना अभिप्रेत है. क्योंकि भागवतकथाके श्रवण-उपदेशकी स्वरूपयोग्यता तो प्रस्तुत द्वितीय स्कन्धके प्रथम और दूसरे अध्यायोंमें निर्धारणीय तत्त्वके सन्दर्भमें ही उपक्रमतया "**तस्माद् भारत सर्वात्मा... श्रोतव्यः कीर्तितव्यः च स्मर्तव्यश्च इच्छता अभयम्** (भाग.पुरा. २।१।५) समझा दी गयी. इसी तरह उपसंहारतया द्वितीय अध्यायके "**तस्मात् सर्वात्मना राजन्... श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्**" (भाग.पुरा. २।२।३६) वचनमें उसका उपोद्बलन भी कर दिया गया. अतः उपक्रमोपसंहारकी एकवाक्यताके अनुरोधवश कोई भी मर्त्य मनुष्य भागवतकथाके श्रवणका स्वरूपतः योग्य अधिकारी हो सकता है. अतएव महाप्रभु षोडशग्रन्थान्तर्गत निरोधलक्षणमें एक उल्लेखनीय तथ्य यह बताते हैं :

"महतां कृपया यावद् भगवान् दययिष्यति तावद् आनन्दसन्दोह: कीर्त्यमान: सुखाय हि. महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा न तथा लौकिकनान्तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्. गुणगाने सुखावाप्ति: गोविन्दस्य प्रजायते यथा तथा शुकादीनां नैव आत्मनि कुतो अन्यत:. क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहि:. सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्द: सुदुर्लभ: हृद्‌गत: स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्ण: प्लावयते जनान्. तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धै: सर्वदा गुणा: सदानन्दपरै: गेया सच्चिदानन्दता: तत:. अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतो निरुद्धानान्तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते. हरिणा ये विनिर्मुक्ता: ते मग्ना: भवसागरे ये निरुद्धा: तेएव अत्र मोदम् आयान्ति अहर्निशं. संसारावेशदुष्टानाम् इन्द्रियाणां हिताय वै कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न: ईशस्य योजयेत्. गुणेषु आविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिण: संसारविरह-क्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम्. तदा भवेद् दयालुत्वम् अन्यथा क्रूरता मता. बाधशंकापि नास्ति अत्र तदध्यासोऽपि सिद्ध्यति. भगवद्धर्मसा-मर्थ्याद् विरागो विषये स्थिर: गुणै: हरे: सुखस्पर्शाद् न दु:खं भाति कर्हिचिद्. एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद् उत्कर्षो गुणवर्णने. अमत्सरै: अलुब्धै: च वर्णनीया: सदा गुणा:."

(निरो.लक्ष. ४-१६).

श्रवणफल :

परन्तु फलाभिमुखयोग्यता, अर्थात् सब कुछ भूल कर भगवान्में चित्तका निरुद्ध हो जाने, के लिये श्रवण-उपदेशका श्रद्धारूप हृत्प्रसाद भी आवश्यक अंग होता है. अतएव छान्दोग्योपनिषद्में तथा भगवद्गीतामें कहा गया है :

> [१]"तेन उभौ कुरुतो यश्च एतद् एवं वेद यश्च न वेद. नानातु विद्या च अविद्या च. यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति."
>
> [२]"यदा वै श्रद्दधाति अथ मनुते न अश्रद्दधन् मनुते."
>
> [३]"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्पर: संयतेन्द्रिय: ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेण अधिगच्छति".
>
> [४]"ध्यायतो विषयान् पुंस: संग: तेषु उपजायते. संगात् सञ्जायते काम: कामात् क्रोधो अभिजायते. क्रोधाद् भवति संमोह: संमोहात् स्मृतिविभ्रम:. स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति. रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयाणि इन्द्रियै: चरन् आत्मवश्यै: विधेयात्मा प्रसादम् अधिगच्छति. प्रसादे सर्वदु:खानां हानि: अस्य उपजायते. प्रसन्नचेतसो हि आशु बुद्धि: पर्यवतिष्ठते".
>
> ([१]छान्दो.उप. १।१।१०, [२]तत्रैव ७।२३।१९, [३]भग.गीता ४।३९, [४]तत्रैव २।६२-६५).

अर्थात् वैसे तो कोई भी कर्म, ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक

भी, अनुष्ठित तो हो सकता है. समझ कर, किन्तु, श्रद्धा और उसके रहस्यज्ञान के साथ किया जाता कर्म अवश्य ही वीर्यवत्तर बनता है. क्योंकि श्रद्धा होनेपर ही कोई भी काम भलीभांति सम्पन्न हो पाता है अन्यथा नहीं. क्योंकि अभिप्रेत विषय या कर्तव्य में श्रद्धा न होनेपर अन्यान्य विषयोंपर ध्यान बंट जानेपर और उनका संग मिल जानेपर ऐसे संगसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे संमोह और संमोहसे स्मृतिभ्रंश और स्मृतिभ्रंशसे अन्तमें बुद्धिनाश होनेपर व्यक्ति भी नष्ट हो जाता है. रागद्वेषके बिना, किन्तु, इन्द्रियोंसे विषयोपभोग करनेपर प्रसन्नता निभ पाती है. चित्तके प्रसन्न अर्थात् श्रद्धासहित रहनेपर बुद्धि भी बराबर काम कर पाती है. अतएव महाप्रभु तृतीयाध्यायके उपक्रममें समझाते हैं :

> **''श्रोतव्यविषयत्वेन तत्त्वम् एवं निरूपितम् उद्देशेन, अस्य निपुणं साधनं विनिरूप्यते : अदृष्टं साधनं वाच्यं दृष्टञ्चापि अत्र सम्मतम् अन्यथा क्रियमाणस्तु विमर्शो व्यर्थतां व्रजेत्. इन्द्रियाणाम् अदुष्टत्वे अनुकूले तथा ईश्वरे साध्यं सम्पद्यते पूर्णम्. अतो अत्र द्वयम् ईर्यते. श्रद्धापि तदभिप्रायात् श्रोतुः वक्तुः च गम्यते. तस्मात् साधनसंयुक्तः शृणुयाद् नेतरो वृथा. एवम् अध्यायद्वयेन श्रवणं सविषयं निरूप्य महाफले श्रवणे सर्वेषाम् अप्रवृत्तिं दृष्ट्वा किञ्चिद् अस्ति निमित्तं यतः सर्वे न प्रवर्तन्ते इति आकांक्षायां विषयस्य निर्दुष्टत्वात् करणदोषो वा तदधिष्ठातृदोषो वा भवेद् इति आशंक्य तयोरपि अधिष्ठातुः बलिष्ठत्वात् तत्त्प्रतिब-**

न्यादेव श्रवणादिषु अप्रवृत्तिः...''

(भाग.सुबो. २।३।१).

अर्थात् श्रोतव्य विषयके उद्देश(नामनिर्देशन)विधिसे इस तरह निरूपणके बाद, उसे भलीभांति जान पानेके दृष्ट-अदृष्ट साधनोंका निरूपण अवसरप्राप्त होता है. ऐसे साधनोंका निरूपण न किया जाये तो अग्रिम विमर्श व्यर्थ सिद्ध होगा. इन्द्रियोंके दोषरहित होनेपर और भगवान्के अनुकूल होनेपर ही साध्यसिद्धि भलीभांति सम्पन्न हो पाती है. एतदर्थ श्रोता और वक्ता दोनोंमें भगवत्स्वरूपश्रद्धासे प्रयुक्त भागवतकथाके श्रवणोपदेशमें श्रद्धा और तत्प्रयुक्त परस्पर एकदूजेमें श्रद्धा बहुत उपकारक होती है. अतएव ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत**'' (छान्दो.उप. ३।१४।१) श्रुत्युक्त सर्वात्मक ब्रह्मकी जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-लयके आधारतया उपासना करनेकी विधिमें ब्रह्मके मनोमय प्राणशरीरी भारूप सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस होनेसे उसे सभीमें व्याप्त हो कर विद्यमान कहा गया है. ब्रह्मको किसी भी एक विषयकी कामना=प्राप्त करनेकी श्रद्धा या आदर से रहित हमारे भीतर अणुसे अणुतर और महान्से महत्तर रूपमें विद्यमान कहा जा रहा है. ऐसे ब्रह्मको प्राप्त करनेको साधकके भीतर सन्देहरहित निश्चय या श्रद्धा को ही आवश्यक माना गया है. सबके भीतर, परन्तु, ऐसी श्रद्धावाले गुण न होनेके कारण साधनसे सुलभ भी साध्य मिल नहीं पाता, उदाहरणतया देवान्तरमें, साधनान्तरमें अथवा फलान्तरमें श्रद्धा होनेपर अभिलषित साध्य नहीं हो पाता. अतएव निरुक्तकार ''**श्रद्धया अग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः. श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि**''(ऋक्संहि. १०।१५१।१) ऋचाकी व्याख्यामें कहते हैं ''**श्रद्धया अग्निः साधु समिध्यते. श्रद्धया हविः**

साधु हूयते. श्रद्धां भगस्य भागधेयस्य (धर्मस्य) मूर्धनि (प्रधानांगशिरसि) वचसा वचनेनैव (मन्त्रगतेन 'अश्रद्धाम् अनृते दधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापति:) आवेदयाम:'' (निरु.दुर्गा. ९।४।३१). अत: श्रद्धा रूपी अंगके व्यवस्थित होनेपर स्वयं भागवतके उत्तम वक्ताद्वारा की जाती कथाके व्याजसे यह प्रतिपादित हुवा है :

[1]''अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरूषे भक्ति: उत्पद्यते पुंस: शोकमोहभयापहा. स संहितां भागवतीं कृत्वा अनुक्रम्य च आत्मजं शुकम् अध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनि:.

सवै निवृत्तिनिरत: सर्वत्र उपेक्षको मुनि: कस्य वा बृहतीम् एताम् आत्माराम: समभ्यसत्?

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्थाअपि उरुक्रमे कुर्वन्ति अहैतुकीं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरि:.''

[2]''दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तव आत्ततनो: चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणा: न परिलषन्ति केचिद् अपवर्गमपि ईश्वर ते चरणसरोजहंसकुलसं-गविसृष्टगृहा:.''

[3]''अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृद् अवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसु-खेन विस्मारितदृष्टश्रुतविषयसुखलेशाभासा: परम-भागवता: एकान्तिनो भगवति सर्वभूतप्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निरन्तरं निर्वृतमनस:...''

(भाग.पुरा. [1]१।७।६-१०, [2]१०।८७।२१, [3]६।९।३९).

वैसे तो भक्तिके लिये कहा जाता है "अज्ञे ज्ञानाय शास्त्रज्ञे दम्भदर्पनिवृत्तये ब्रह्मज्ञे मुक्तये मुक्ते भक्त्यर्थं भक्तिर् अर्थ्यते". परन्तु इतररागविस्मारिका अनन्या कृष्णभक्ति रूपी फल भागवतकथाके श्रवणसे प्राप्त करना हो तो श्रद्धारूप हृत्प्रसाद आवश्यक अंग माना गया है. यह श्रद्धारूप हृत्प्रसादकी वास्तविक महत्ता इसीमें निहित है कि वह परमात्मतत्त्व देश-काल-स्वरूपत: अपरिच्छिन्न होनेके कारण सर्वव्यापितया हमारे हृदयमें भी प्रसादके मनोभावोंको अवलम्बन प्रदान करने विद्यमान हो. न केवल उपनिषद् अपितु अन्यत्र भी इस प्रकारकी बाह्याभ्यन्तर सर्वव्यापिताका तथ्य सर्वशास्त्रवचनोंकी एकवाक्यतावश निरपवादतया सुनिश्चित है :

[१]"सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस: सर्वम् इदम् अभ्यात्तो अवाकी अनादर: एष मे आत्मा अन्तर्हृदय: एतं ब्रह्म एतम् इत: प्रेत्य अभिसंभवितास्मि इति यस्य अद्धा — न विचिकित्सा अस्ति इति".

[२]"सर्वभूतस्थम् आत्मानम् सर्वभूतानि च आत्मनि... यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति"

[३]" ब्र.सू.'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' ब्र.सू.शां.भा.प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यत:' इति आकाशादे: समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणत्वं ब्रह्म इति उक्तं, तस्य समस्तजगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं नित्यत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं सर्वात्मत्वम् इत्येवञ्जातीयका: धर्मा: उक्ताएव भवन्ति... ननु... नेदं वाक्यं ब्रह्मोपसनाविधिपरं किन्तर्हि? शमविधिपरं

यत्कारणं 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत' इति आह... अतो जीवविषयम् एतद् उपासनम् इति... इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः परमेव ब्रह्म मनोमयत्वादिधर्मैः उपास्यम्. कुतः? 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' यत् सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धं 'ब्रह्म'शब्दस्य आलम्बनं जगत्कारणम् इहच 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इति वाक्योपक्रमे श्रुतं तदेव मनोमयत्वादिधर्मैः विशिष्टम् उपदिश्यते इति युक्तम्. एवञ्च प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये न भविष्यतः''.

[४]**''सर्वभूतेषु च आत्मानं सर्वभूतानि च आत्मनि ईक्षेत अनन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्''.**

([१]छान्दो.उप. ३।१४।४, [२]भग.गीता ६।२९-३०,
[३]ब्र.सू.शांक.भा. १।२।१,
[४]भाग.पुरा. ३।२८।४२).

देखा जा सकता है कि श्रीशंकराचार्यने भी चाहे आत्मैकत्वविद्यया जिज्ञास्य ब्रह्म न सही परन्तु अवाप्तव्य ब्रह्मज्ञानौपयिक उपास्य ब्रह्मके ही ये अन्योन्याधिकरणकतारूप तादात्म्य गुण स्वीकारे हैं. वैसे यह तो विदितप्रायः है कि **''जीव ईशो विशुद्धा चिद् तथा जीवेशयोः भिदा अविद्या तच्चितोः योगः षड् अस्माकम् अनादयः''**(पञ्चद. - ६।१८) के अन्तर्गत विशुद्धा चित्के साथ-साथ जीव और ईश्वर को भी अनादि माना गया होनेसे ईश्वरसृष्ट जीव होता है या जीवकल्पित ईश्वर यह प्रश्न तो अप्रासंगिक बना दिया गया है. फिरभी उपासनाविषयमें तो उपासकद्वारा उपासनार्थ 'अतस्मिन्'(निर्विशेषब्रह्मणि) 'तद्धर्मा(व्यापित्वं नित्यत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं सर्वात्मत्वम् इत्येवञ्जातीयक-धर्मा)रोपण'वशात् इन और ऐसे अनेक दिव्यगुणोंका सद्भाव पूर्वसिद्ध हो नहीं सकता. अतः यदि इन्हें अकल्पित मानते हैं तो ब्रह्मज्ञानोत्तर

होता बाध शक्य नहीं रह पाता. यदि उपासककी कल्पनाद्वारा आरोपित माननेके बजाय निर्विशेषब्रह्मज्ञान प्रदान करनेको उपासकार्थ उपनिषद्द्वारा सुकरोपायतया प्रस्तावित मानते हैं, तब भी क्रियान्वितिसे पूर्व सिद्ध होना अशक्य होनेसे सृष्टिनिर्माण असंभव हो जायेगा. ऐसी स्थितिमें इन अतद्धर्मोंका सर्ववेदान्तप्रसिद्ध होना भी प्रश्नार्ह बन जाता है. अथवा वेदान्तादि शास्त्रोंका यथार्थज्ञापकत्व प्रामाण्य ही भंग हो जायेगा. अत: यथार्थज्ञापकत्वरूप प्रामाण्यको बचाना हो तो ये धर्म उपासनार्थ कल्पित नहीं रह पायेंगे.

प्रस्तुत वचन तथा ब्रह्मसूत्र के भाष्योंमें श्रीशंकराचार्यने यह तो स्वीकारा ही है :

> [१]‘‘पुन: तस्यैव त्रिपादमृतस्य ब्रह्मणो अनन्तगुणवतो अनन्तशक्ते: अनेकभेदोपास्यस्य विशिष्टगुणशक्तिमत्त्वेन उपासनं विधित्सन् आह ‘सर्वं’=समस्तं. ‘खलु’इति वाक्यालंकारार्थो निपात:. ‘इदं’= जगद् नामरूपविकृतं प्रत्यक्षादि-विषयं ब्रह्मकारणं वृद्धतमत्वाद् ‘ब्रह्म’. कथं सर्वस्य ब्रह्मत्वम्? इत्यत: आह ‘तज्जलान्’इति, तस्माद् ब्रह्मणो जातं तेजोऽबन्नादिक्रमेण सर्वम्. अत: तज्जम्. तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया श्लिष्यतइति तल्लम्. तथा तस्मिन्नेव स्थितिकाले अनिति प्राणिति चेष्टते इति. एवं ब्रह्मात्मतया त्रिषु कालेषु अविशिष्टं तद्व्यतिरेकेण अग्रहणात्. अत: तदेव इदं जगत्... यस्मात् च सर्वम् इदं ब्रह्म अत: ‘शान्तो’=रागद्वेषादिदोषरहित: संयत: सन् यत् तत्

सर्वं ब्रह्म वक्ष्यमाणगुणैः उपासीत''.

[2]''इति'परत्वादपि 'ब्रह्म'शब्दस्य एषएव अर्थो न्याय्यः. तथाहि 'ब्रह्मेत्यादेशः', 'ब्रह्मेत्युपासीत', 'ब्रह्मेत्युपास्ते' इति सर्वत्र 'इति'परं 'ब्रह्म'शब्दम् उच्चारयति. शुद्धांस्तु 'आदित्या'दिशब्दान्. ततश्च यथा शुक्तिकां रजतम् इति प्रत्येति इत्यत्र शुक्तिवचनएव 'शुक्तिका'शब्दो 'रजत'शब्दस्तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः. प्रत्येत्येव हि केवलं रजतम् इति नतु तत्र रजतम् अस्ति. एवम् अत्रापि 'आदित्या'दीन् ब्रह्म इति प्रतीयाद् इति गम्यते''.

([1]छान्दो.उप.शांक.भा. ३।१४।२,
[2]ब्र.सू.शांक.भा. ४।१।५).

अतः इतना तो सुनिश्चित हो जाता है कि इन गुणोंवाला वस्तुतः तो ब्रह्म होता नहीं है फिरभी इन गुणोंवाला मान कर ब्रह्मकी उपासना करनी श्रीशंकराचार्याभिप्रेत श्रुत्यर्थ है. छह तत्त्वोंके अनादि होनेकी धारणाके कारण उत्पत्तिमें या ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रयदोष अप्रसक्त होनेपर भी स्थितिमें वह दुर्निवार्य लगता है. तब तो ये सृष्टिके आविष्करणार्थ ये गुण प्राक्सिद्ध न हो कर सृष्टिके प्रादुर्भावके बाद किसी मुमुक्षु उपासकद्वारा उपासनार्थ आरोपित किये जानेपर ही आत्मलाभ प्राप्त करेंगे. अतः अन्योन्याश्रय दोष तो स्पष्ट लगता है कि इन गुणोंसे रहित निर्विशेष ब्रह्म सृष्टिनिर्माणार्थ सक्षम नहीं होता. सो सृष्टिमें जन्म लेनेवाला कोई मुमुक्षु उपासक जब अपनी उपासनाके अन्तर्गत इन गुणोंका आरोप करेगा तभी निर्विशेष ब्रह्म सविशेष बन कर सृष्टिनिर्माणक्षम बनेगा. और सृष्टिनिर्माणके

बिना निर्विशेष ब्रह्मके भीतर उपास्य-उपासकका विभेद प्रसिद्ध न होनेसे सृष्टिनिर्माणपूर्व इन गुणोंका आरोप अकल्पनीय है. छह तत्त्वोंको अनादि माननेके साथ-साथ कल्पित माननेके कारण यह समस्या विकराल रूप ले रही है. क्योंकि अनादि माननेपर किसके अज्ञानवश कल्पित इसका खुलासा नहीं मिलता और अकल्पित माननेपर ब्रह्मज्ञानोत्तर बाधित होनेकी प्रक्रिया बाधित हो जाती है.

दूसरी समस्या प्रस्तुत ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्तः उपासीत**'' (छान्दो.उप. ३।१४।१) श्रुतिवचनमें उद्देश्यविधेयभावके अस्पष्टताकी है :

[१]सर्वरूप ब्रह्मकी सर्वकारणतया उपासनाका यहां विधान अभिप्रेत है, 'इति'पदके प्रयोगवशात् ?

या

[२]ऐसी उपासनाके बारेमें शान्त हो कर करनेके गुणका विधान ?

अथवा

जो [३]व्यक्ति शान्त हो वह ऐसी उपासनाका अधिकारी हो सकता है ऐसे अधिकारपरक विधि है ?

शब्दान्तरमें कहना हो तो यह कि क्या [१]निखिल 'इदमा'स्पद दृश्यमान ब्रह्मको उद्देश्य मान कर यहां उपास्यतया ''*तज्ज तदन् और तल्ल*'' ='तज्जलान्' का विधान हो रहा है? अथवा [२]इस तरहकी उपासना रागद्वेषरहित हो कर करनेके गुणोंका विधान हो रहा है? अथवा [३]रागद्वेषरहित अधिकारीको उद्देश्य बना कर जो इदमास्पद निखिल ब्रह्मरूप है उसके बारेमें ''*तज्ज तदन् और तल्ल*''= 'तज्जलान्'का विधान हो रहा है?

[1]सर्वरूप ब्रह्मकी सर्वकारणतया उपासनाका यहां विधान अभिप्रेत है, 'इति'पदके प्रयोगवशात्? ऐसी स्थितिमें ब्रह्मकी सर्वरूपता शुक्तिवत् वास्तविकी माननी पड़ेगी और सर्वकारणता 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' होनेके कारण उपासनार्थ कल्पित मिथ्या रजतवत्. यह केवलाद्वैतवादकी दृष्टिसे उद्देश्यको व्यावहारिक सत् और विधेय प्रातिभासिक सत् मान कर उपपन्न माना जा सकता है. फिरभी इसे कैसे भुलाया जा सकता है कि सर्वकारणता हेतुभूता प्राथमिकी है और सर्वरूपता तद्धेतुकी द्वैतीयकी है. अर्थात् सर्वकारण होनेके कारण ब्रह्म सर्वरूप होता है या सर्वरूप होनेके कारण सर्वकारण. सर्वतादात्म्यवादी दृष्टिकोणके आधारपर तो यह कहा जा सकता कि निखिल नाम-रूप-कर्म ब्रह्मके भीतर एकीभावापन्न हो कर सृष्टिसे पहले भी जो विद्यमान थे उन्हें अनेकीभावापन्न किया गया. अन्यथा केवलाद्वैतवादमें तो ऐसा उद्देश्य-विधेयभाव दुरुपपाद ही लगता है.

[2]इस तरहकी उपासना रागद्वेषरहित हो कर करनेके गुणोंका विधान हो रहा है, ऐसा मानते हैं तो इस ऐसे विधानमें एक अन्तर्गर्भित दूसरा उपविधान यह स्वीकारनेको बाध्य होना पड़ेगा कि 'तज्जलान्'पद ब्रह्माभिधायक न हो कर ब्रह्मोपादानक नाम-रूप-कर्मात्मक पुरोवस्थित अपरोक्ष सृष्टिका अभिधायक ही है. केवलाद्वैतवादकी दृष्टिसे वह उपादानक न हो कर अधिष्ठानक तो हो सकता है, एतावता उपासना यहां ब्रह्मकी न हो कर सृष्टिकी ही स्वीकारनी पड़ेगी. स्वाभाविक है कि सृष्टिके सारे ही विषय उपासकके लिये रागद्वेषादिके विषय हो सकते हैं, उनपर संयम पानेको ब्रह्मोपादानक या ब्रह्माधिष्ठानकतया रागद्वेषरहित होनेकी प्रेरणा माननी पड़ेगी.

[३]रागद्वेषरहित अधिकारीको उद्देश्य बना कर जो इदमास्पद निखिल ब्रह्मरूप है उसके बारेमें *"तज्ज तदन् और तल्ल"* = 'तज्जलान्'तया उपासनाका विधान हो रहा है, ऐसा माननेपर पुन: उद्देश्यान्तर्गर्भित जो निखिल दृश्यमान जगत्के ब्रह्म होनेका उपविधान है, 'इति'पर पदका प्रयोग किया नहीं गया होनेसे बाधार्थसामानाधिकरण्यन्यायेन नहीं प्रत्युत 'अहं ब्रह्मास्मि'न्यायेन तादात्म्यघटित एकात्मकता मानना आवश्यक हो जायेगा.

तब केवल एक प्रश्न रह जायेगा कि छान्दोग्योपनिषद्के तृतीयाध्यायन्र्तगत प्रस्तुत चौदहवें खण्डमें सगुण-सविशेष ब्रह्म प्रतिपाद्य है या निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म ?

केवलाद्वैतवादी भाष्यके अनुसार —

> **" 'सत्यसंकल्प:' — 'सत्या:'= अवितथा: 'संकल्पा:' यस्य सो अयं सत्यसंकल्प:. न यथा संसारिणइव अनैकान्तिकफल: संकल्प: ईश्वरस्य इति अर्थ:...अनृतेन मिथ्याफलत्वहेतुना प्रत्यूढत्वात् संकल्पस्य मिथ्याफलत्वम्... 'सर्वकर्मा'—'सर्वं'=विश्वं तेन ईश्वरेण क्रियतइति जगत् सर्वं कर्म यस्य स सर्वकर्मा, 'सहि सर्वस्य कर्ता' इति श्रुते:... नच पाप्मसंसर्ग: ईश्वरस्य अविद्यादिदोषस्य अनुपपत्ते:... 'मनोमय' इत्यादिना 'ज्यायान् एभ्यो लोकेभ्य:' इत्यन्तेन यथोक्तगुणलक्षण: ईश्वरो ध्येय: नतु तद्-गुणविशिष्टएव. यथा 'राजपुरुषम् आनय चित्रगुं वा' इत्युक्ते न विशेषणस्यापि आनयने व्याप्रियते तद्वद् इहापि**

प्राप्तम्. अतः तन्निवृत्त्यर्थं 'सर्वकर्मा' इति पुनर्वचनम्. तस्मान् मनोमयत्वादिगुणविशिष्टएव ईश्वरो ध्येयः''.

(छान्दो.उप.शांक.भा. ३।१४।१-४).

इस वचनावलीका सावधानीसे मनन करनेपर इतना तो स्पष्ट ही है कि भाष्यकारके अनुसार यहां निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म विवक्षित नहीं है. फिरभी सगुण-सविशेष ईश्वरको अविद्यादिदोषरहित सत्यसंकल्प स्वीकारा गया है. ऐसी स्थितिमें यदि ऐसे अविद्यादिदोषरहित सत्यसंकल्प ईश्वरने इस सृष्टिका निर्माण किया हो तो सृष्टिको अविद्याकल्पित माननेपर या तो ईश्वरकी सत्यसंकल्पताका प्रत्याख्यान होगा. या फिर सृष्टिको सत्य अनाविद्यक ही माननी पड़ेगी. तब इन गुणोंको उपासनार्थ कल्पित माननेकी कोई संगति उपपन्न नहीं हो पाती.

यों द्वितीय स्कन्धके प्रतिपाद्य विषयमें तत्त्वनिर्धार या मनन के निरूपणांगतया भागवतपुराणके शुश्रुषुके लिये ब्रह्माण्डविग्रह भगवान्के बाह्य स्थूलरूपका स्थूलध्यान निरूपित हुवा. अर्थात् मूलमें अखण्डैकरस सच्चिदानन्द ब्रह्म आत्मविभाजनकी प्रक्रियाद्वारा सदंशसे जड़ अव्यक्त प्रकृति बनता है. उसके बाद महदादि क्रमसे पञ्चमहाभूतोंके कोशोंका निर्माण कर चिदंशरूप पुरुषके अनेक अंशोंके रूपोंमें वहां प्रविष्ट होता है. आनन्दांशसे भी अन्तर्यामितया भीतर बिराज कर सृष्टिलीला करता है : **''पुरः चक्रे द्विपदः पुरः चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुषः आवीशद्''** (बृह.उप. २।५।१८). ऐसा ध्यान स्थिर होनेपर सृष्टिमें प्रकट होनेवाली अग्रिम दशविध लीलाओंके कर्ताके रूपमें भगवान्को पहचान पाना सरल हो जायेगा. यह उपादानोपादेयभावमूलक *''तज्जलान् इति शांत उपासीत''*वचनसे सम्बद्ध कथा हुयी.

इसी तरह सूक्ष्मध्यानके बारेमें उल्लिखित वचनके पूर्वार्ध *''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''*से सम्बद्ध कथा आभ्यन्तर ध्यानकी है. सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण जैसे ब्रह्म है वैसे ही निखिल कार्यरूपा रूप-नाम-कर्मात्मिका सृष्टि भी ब्रह्म ही है. अर्थात् उद्देश्य भी ब्रह्म और विधेय भी ब्रह्म ही है. लोकमें, जैसे, स्वप्नकालमें विज्ञानमय द्रष्टा आत्मा ही होती है और स्वाप्निक दृश्य भी वही विज्ञानमय आत्मा होती है. अतएव स्वाप्निक चेतनाके बारेमें श्रुतिमें **''यो अयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः... न तत्र** [आत्मबाह्याः]**रथाः न रथयोगाः न पन्थानो भवन्ति. अथ** [आभ्यन्तरान्]**रथान् रथयोगान् पथः सृजते... अत्र अयं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिः भवति''** (बृह.उप. ४।३।७-१४) ऐसा विधान किया गया है. जीवात्माका यह स्वयञ्ज्योतिष्ट्व परमात्माके भीतर व्युच्चरित चिदंश होनेके कारण ही प्रतिपादित हुवा है. अर्थात् अंशिधर्म ही अंशानुगत हुवा है. अतएव भागवतपुराणमें पारमात्मिक चेतनाके भी बारेमें ऐसा ही कहा गया है :

> **''यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात् पश्चात् च सर्वस्य हिरणमयस्य तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैः अहम् अस्य तद्वत्... ब्रह्म स्वयञ्ज्योतिः अतो विभाति ब्रह्म इन्द्रियार्थात्मवि-कारचित्रम्, एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः परापवादेन विशारदेन''**.
>
> (भाग.पुरा. ११।२८।१९-२३).

सब कुछ आदिमध्यान्तमें वही ब्रह्म है, इस तथ्यकी लौकिक दृष्टान्तद्वारा उपपत्ति जीवात्माकी आभ्यन्तर स्वप्नावस्थासे अधिक उपयुक्त

दूसरी कौन सी अवस्था हो सकती है? अन्यथा बाह्याग्रहिलतया खोजें तो सुवर्ण-सौवर्णिकाभरणके रूपमें भी उपपत्ति तो दी जा सकती है. इसे ही अविकृतपरिणामवादके रूपमें परिभाषित किया गया है. यह एककी पारमार्थिकी अनेकताका सिद्धान्त है. इसे ही श्रुतिके ''**तद्ध एके आहुः 'असदेव इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तस्माद् असतः सद् अजायत.' कुतस्तु खलु, सौम्य!, एवं स्याद् इति होवाच : कथम् असतः सद् जायेत? सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति**'' (छान्दो.उप. ६।२।१-३) वचनमें निःसन्दिग्ध शब्दोंमें स्वीकारा गया है. सर्वके ब्रह्म होनेका यह सोपपत्तिक प्रतिपादन है.

यह, परन्तु, आभ्यन्तरमें तो सरलतासे अनुभूत हो सकता है बाह्यमें नहीं. क्योंकि ब्रह्मकी तरह सुवर्ण कर्त्रन्तरके बिना स्वयं आभूषण नहीं बन पाता. अतएव इस तथ्यका ''*सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वम् इदम् अभ्यात्तो अवाकी अनादरः, एष मे आत्मा अर्न्तहृदयः*'' उपर्युदाहृत श्रुतिवचनमें भी निरूपण हम देख सकते हैं.

यहां यद्यपि श्रीशंकराचार्यने '''**वचेः' घञन्तस्य करणे वाकः. स यस्य विद्यते स वाकी, न वाक्यवाकी** (अवाकी), **वाक्प्रतिषेधः च अत्र उपलक्षणार्थः, गन्धरसादिश्रवणाद् ईश्वरस्य प्राप्तानि घ्राणादीनि करणानि गन्धादिग्रहणाय, अतो वाक्यप्रतिषेधेन प्रतिषिध्यन्ते तानि, 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यति अचक्षुः स शृणोति अकर्णः' इत्यादिमन्त्रवर्णात्**'' (छान्दो.उप.शांक.भा. ३।१४।२) जो प्रतिपादन किया है, यह वाल्लभ वेदान्तमें भी परमेश्वरके सन्दर्भमें तो सर्वथा स्वीकार्य है ही. क्योंकि स्वप्नावस्थ जीवात्माकी तरह परमात्माको

भी अभीष्ट क्रियासम्पादनार्थ आत्मव्यतिरिक्त करणोंकी अपेक्षा रहती नहीं. एतावता 'सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस' विशेषणोंके साथ प्रयुक्त 'अवाकी' विशेषणके कारण इसे केवल सगुण ईश्वरमें सीमित रखनेकी कोई तुक वाल्लभ वेदान्तको जंचती नहीं. मूलत: विशुद्ध परब्रह्मको सर्वगुणधर्मोसे रहित मानने तक इसे तानना तो कथमपि मान्य नहीं हो पाता है. क्योंकि स्वप्नावस्थ जीवात्मचेतना और सगुण ईश्वर यदि आत्मव्यतिरिक्त करणोंकी अपेक्षा रखे बिना स्वाभाविक ज्ञान बल और क्रिया के वशात् सर्वसृष्टिनिर्माणक्षम हो पाते हो तो, परब्रह्म भी **''न तस्य कार्यं करणं च विद्यते... परा अस्य शक्ति: विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च''** (श्वेता.उप. ६।८) वचनके आधारपर क्यों अपने स्वाभाविक ज्ञान-बल-क्रियाके कारण समर्थ नहीं हो सकता? अर्थात् आत्मव्यतिरिक्त मायाविद्योपाधिरूप करणोंके बिना भी नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टिके आविष्करणार्थ परमेश्वरको समर्थ क्यों नहीं माना जाता? हम देख सकते हैं कि एक ही श्रुतिवचन कि जिसमें ब्रह्मके बारेमें कार्य-करणका प्रतिषेध किया जा रहा है, उसीमें उसके ज्ञान-बल-क्रियाओंके स्वाभाविक होनेका विधान भी उपलब्ध होता है, ये ज्ञान-बल-क्रिया निर्विषयक तो हो नहीं सकते. अत: ऐसे स्वाभाविक स्वात्माऽव्यतिरिक्त ज्ञानका ज्ञेय भी स्वभावोपात्त स्वात्मासे अव्यतिरिक्त ही होगा. स्वात्मासे अव्यतिरिक्त स्वाभाविक बल या सामर्थ्य की क्रियान्वितिमें भी स्वव्यतिरिक्त मायाविद्यादिरूप उपाधिओंकी अपेक्षा क्यों रखनी चाहिये?

जैसा कि भागवतपुराणमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है :

''आसीद् ज्ञानम् अथो हि अर्थ: एकमेव
अविकल्पितं... तद् मायाफलरूपेण केवलं

निर्विकल्पितं वाङ्मनोगोचरातीतं सत्यं द्विधा समभवद् बृहद्. तयो: एकतरो हि अर्थ: प्रकृति: सा उभयात्मिका ज्ञानन्तु अन्यतमो भाव: पुरुष: सो अभिधीयते. तमो रज: सत्त्वम् इति प्रकृते: अभवन् गुणा:, मया प्रक्षोभ्यमाणाया: पुरुषानुमतेन च... मया सञ्चोदिता: भावा: सर्वे संहत्यकारिणो अण्डम् उत्पादयमासु. मम आयतनम् उत्तमम्. तस्मिन् अहं समभवद् अण्डे सलिलसंस्थितौ मम नाभ्याम् अभूत् पद्मं विश्वाख्यं तत्र च आत्मभू:''.

(भाग.पुरा. ११।२४।२-१०).

यहां इस विकल्परहित एकमेवाद्वितीय ज्ञानके उल्लेखवशात् माया यदि स्वरूपान्त:पातिनी स्वरूपात्मिका ही न हो तो एकमेवाद्वितीय ज्ञानको स्वप्रकाश माननेके साथ-साथ मायाप्रकाशरूप भी मानना ही पड़ेगा. तब या तो एकता-अद्वितीयता सविकल्प हो जायेगी. अन्यथा निर्विकल्प उसे रखना हो तो अनेकता-सद्वितीयता गलेपतित होगी. उसे 'सदसद्विलक्षण मिथ्या' कहनेसे अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि जो मिथ्या होता है उसे असत् तो नहीं माना गया. फिरभी 'मायाफलरूपेण' पदके प्रयोगको मायावादी दृष्टिकोणसे निहारनेपर यथा **''तद् 'बृहद्'=ब्रह्म वाङ्मनोगोचरं यथा भवति तथा मायादृश्यं फलं तत्प्रकाश: तद्रूपेण मायाविलासरूपेण वा द्विधा अभूत्''** (भाग.श्रीध. ११।२४।२-३) विधानमें मायाविद्यक करणोंकी अपेक्षा स्वीकारी ही गयी है. श्रीधरस्वामीकी यह व्याख्या उनके मूलाचार्य श्रीशंकराचार्यको अभिमत सिद्धान्तके सर्वथा अनुरूप ही है. जैसे कि कहा गया है : **'' 'इन्द्र:'=परमेश्वरो 'मायाभि:'=प्रज्ञाभि: नामरूपभूतकृतमिथ्याभिमानै: नतु परमार्थत: 'पुरुरूपो'=बहुरूप: 'ईयते'=**

गम्यते, एकरूपएव प्रज्ञानघनः सन् अविद्याप्रज्ञाभिः'' (बृह.उप.शाक.भा. २।५।१९). अतः इस मूलाचार्योक्तिसे सुसंगत है. महती विडम्बना, परन्तु, यहां सर्वज्ञकी प्रज्ञाका अविद्यारूप हो जाना है! वैसे स्वयं श्रीभागवतसे इस 'माया'का अर्थ पूछनेपर समाधानतया ''**अपरिगणितगुणगणे... उपरतसमस्तमायामये आत्ममायाम् अन्तर्धाय को नु अर्थो दुर्घटइव भवति स्वरूपद्वयाभावात्**'' (भाग.पुरा. ६।९।३६) मिलता है. यद्यपि श्रीधरस्वामी यहां कहते हैं कि अपरिमित गुणोंवाले स्वतन्त्र ईश्वरका माहात्म्य अनवगाह्य अतर्क्य होता है. केवल अपनी आत्ममायाको बीचमें रख कर वह सृष्टिके कर्ता आदि क्या नहीं बन सकते? इसमें कौन सी विरोधकी बात है? श्रीधरस्वामी कहते हैं वस्तुतः भगवान् कर्ता होते तो विरोधकी बात होती, अद्वयस्वरूप होनेके कारण जब कर्ता है ही नहीं तो विरोधका प्रसंग नहीं. यहां विचारणीय यही है कि तब भगवानके अपरिमित गुण और स्वतन्त्र होनेका माहात्म्य निःशेष हो कर मायाका ही माहात्म्य सिद्ध होगा. ज्ञानरूप भगवान्की आत्ममाया अज्ञानरूप हो तो भगवान्को अज्ञानी मानना या अज्ञानका विषय मानना? प्रथम कल्प तो सर्वमाहात्म्यनाशक होगा. द्वितीय कल्पमें सृष्टिमें प्रकट होनेवाले जीवके अज्ञानका विषय मानना सृष्टिनिर्माणमें हेतु कैसे बन पायेगा?

बृहदारण्यकोपनिषद्के प्रारम्भमें जो एक विचिकित्सा दरसायी गयी है, उसके अवलोकन करनेपर यह विचारणीय हो जाता है :

> ''**तद् आहुः यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्याः मन्यन्ते 'किमु तद् ब्रह्म अवेद् यस्मात् तत् सर्वम् अभवद्!' इति. ब्रह्म वा इदम्**

अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद् 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति. तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्. तद् यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तद् अभवत्. तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणाम्... तद् इदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि'इति स इदं सर्वं भवति. तस्य ह न देवाः च न अभूत्या ईशते. आत्मा हि एषां स भवति''.

(बृह.उप. १।४।९-१०).

यहां देखा जा सकता है कि असर्वज्ञ जीवात्मा भी यदि ब्रह्मके साथ अपनी तादात्म्यानुभूति कर पाता हो तो फलरूपेण ब्रह्मभावापत्तिमूलक सर्वभावापत्ति जीवात्मामें प्रकट होती है. अर्थात् *'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'*की दृश्यद्रष्टृसाधारण अनुभूति उसे हो पाती है. ऐसा औपनिषदिक सिद्धान्त प्रकट हो रहा है. परन्तु इस सिद्धान्तके अपवादरूपेण सर्वज्ञ सर्ववित् परमेश्वर, जिसे **''‘यः सर्वज्ञः सर्वविद्. यस्य ज्ञानमयं तपः. तस्माद् एतद् ब्रह्म नाम रूपम् अन्नं च जायते', यः उक्तलक्षणो अक्षराख्यः सर्वज्ञः, सामान्येन सर्वं जानातीति सर्वज्ञः विशेषेण सर्वं वेत्तीति सर्वविद्. यस्य ज्ञानमयं=ज्ञानविकारमेव सार्वज्ञ्यलक्षणं तपः''** (मुण्ड.उप.शांक.भा. १।१।९) माना गया है, उसे इस लाभका अनधिकारी मान लिया गया है!

मूलमें यह असमञ्जसता समाहित हो सकती है, 'मयट्'प्रत्ययको विकारार्थक माननेके बजाय प्राचुर्यार्थक माननेपर सृष्टिनिर्माणौपयिक सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वरका 'तप'=आलोचन *'एको अहं(ब्रह्म अनेक-नामरूपकर्मात्मना) बहु स्याम्'* वचनमें ज्ञानप्रचुरता माननेपर. क्योंकि सर्वशक्ति परमेश्वरके सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प वश सृष्टिका

प्रकट होना माननेपर वह असत्य सिद्ध नहीं हो पायेगी. अर्थात् ज्ञानप्रचुर सर्वज्ञ परमेश्वरके द्वारा प्रकट होनेके कारण आविद्यक नहीं सिद्ध हो पायेगी.

भागवतवक्ता या भागवतशास्त्रके वचनों में अश्रद्धा या अल्पश्रद्धा होनेपर शास्त्रीय पदोंके शक्तिग्रहणमें और/अथवा ऐसे पदोंसे घटित वाक्यके तात्पर्यग्रहणके सोपानपर ही स्वयंकी तार्किक मतिपर श्रद्धातिरेकवश वचनोंके अमुख्यार्थके अन्वेषणकी मनोवृत्ति जोर पकड़ जाती है. जबकि उपनिषद्में स्वयंके प्रतिपाद्य अर्थके लिये अतिशय भारपूर्वक कहा गया है :

[१]"श्रवणायापि बहुभि: यो न लभ्य: शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्यु:... अनन्यप्रोक्ते गति: अत्र नास्ति, अणीयान् हि अतर्क्यम् अणुप्रमाणात्. न एषा तर्केण मति: आपनेया... आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत:, क: तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुम् अर्हति?"

[२]"यस्य अमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स: अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्".

[३]"श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्या"

([१]कठ.उप. १।२।७-२१, [२]केनोप. १।११, [३]छान्दो.उप. ७।१९।१).

इन श्रुतिवचनों द्वारा घण्टाघोषित तथ्यके बारेमें अतएव श्रीशंकराचार्यके कुछ उद्गार यहां नितान्त अनुसन्धेय लगते हैं :

[१]"अपिच क्वचिद् गौण: शब्दो दृष्टो नच

एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणीकल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वासप्रसंगात्''.

[2]**''नहि इदम् अतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनम् आगमम् अन्तरेण उत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्''.**

[3]**''न लोकवद् इह भवितव्यं नहि अनुमानगम्यो अर्थः, शब्दगम्यत्वात्तु अस्य अर्थस्य यथाशब्दम् इह भवितव्यम्.''**

(ब्र.सू.शांक.भा. [1]१।१।७, [2,3]२।१।११).

यह, परन्तु, सम्भव बनता है शास्त्रवचनोंके श्रवणकी प्रक्रियामें निरुपाधिक श्रद्धाहेतुक हृत्प्रसाद प्रकट होनेपर ही. तभी उपनिषद्के वचन हों या भगवद्गीताके, ब्रह्मसूत्रके वचन हों या भागवतपुराणके, इन वचनोंके अभिप्रेतार्थका यथाशास्त्र विमर्श तभी शक्य हो पाता है. अत: अब ऐसे विमर्शकी दिशामें अग्रसर हुवा जा सकता है.

(विमर्श)

हमने देखा कि द्वितीय स्कन्धमें प्रमुखतया प्रतिपाद्य विषय साधनोंके निरूपणके अन्तर्गत प्रथम दो अध्यायोंमें जो परमात्मदर्शनके औपनिषदिक साधन श्रवण-निदिध्यासन हैं उनका तत्त्वध्यानमें अन्तर्भाव दरसाया गया. द्वितीय दो अध्याय, अर्थात् तीसरे और चौथे अध्याय हृत्प्रसाद=श्रद्धाकी साधनत्वेन अपेक्षा दरसानेके लिये योजित हुवे. अब पांचवे अध्यायसे दसवें अध्याय तक मननापरपर्याय विमर्शका प्रतिपादन किया जाना है. इस विमर्शकी इतिकर्तव्यता उत्पत्तिविचार और उपपत्तिविचार द्वारा अभिप्रेत है. यह उत्पत्ति भी सच्चिदानन्द

ब्रह्मके :

(१) सदंशभूत रूपवान् देश-कालमें परिच्छिन्न जड पदार्थोंकी
(२) चिदंशभूत, देशमें परिच्छिन्न पर कालमें अपरिच्छिन्न, जीवचेतनाओंकी
(३) आनन्दांशभूत देश-कालमें अपरिच्छिन्न समष्टि-अन्तर्यामी और लीलावतीर्ण रूपों की

इन त्रिविध रूपोंमें दरसायी गयी है. विमर्शका दूसरा प्रकार उपपत्तिके विचारद्वारा जो अभिप्रेत है उसे भी तीन तरह किया गया है :

(१) एकमेव अद्वितीय कार्य-कारणभावातीत ब्रह्ममें कार्य-कारणभाव कैसे स्वीकार्य हो सकता है? ऐसी आशंकाके रूप में
(२) ब्रह्मसे भिन्न कार्य करण कारण या कर्ता न होनेपर - भी सहज सर्वभवनसामर्थ्यके आविष्करणद्वारा शक्य हो सकता है ऐसे समाधानके रूपमें
(३) तीसरे आशंका और उसके समाधान के बाद तत्फलरूपेण भागवतश्रवणके प्रतिपादनके रूपमें.

महाप्रभु यहां द्वितीय स्कन्धकी सुबोधिनीकारिकामें इसका निरूपण करते हुवे कहते हैं :

"विमर्शः षड्भिः अध्यायैः क्रियते स द्विधा मतः : उत्पत्त्या च उपपत्त्या च.

तत्र आद्योऽपि द्विधा मतः : स्थूलान्तर्यामिभेदेन
मूर्तामूर्तविभेदतः.

स्थूलोऽपि द्विविधः : तत्र स्थूलमूर्तविमर्शने
उत्पत्त्या पञ्चमाध्यायः सः उपपत्त्याः निरूपकः.

पुरुषः क्रमतः शक्तित्रयं गृह्णद् भवादिकृद्
इत्युक्त्या नारदाजाभ्यां जन्मभिः न इति गद्यते.

[प्रलये]एकीभूते प्रवेशेन निर्गमादपि [शंका]विह्वलो
अथवा दार्ढ्यतासिद्ध्यै नारदः पृच्छति स्फुटम्.

प्रश्नत्रयं नारदेन क्रियते तत्त्वनिर्णये : [१]आत्मनो
[२]जगतः चापि [३]निर्धारो भजनस्य च. द्वयोः
[आत्म]निर्धारशेषत्वं तेन प्रत्युत्तरं ततम्.

द्वितीयस्य द्विरूपत्वं : बहिरन्तर्व्यवस्थया वि-
राजो अन्तर्मुखत्वाद्धि विपरीतेन वर्ण्यते. स्थूललिंग-
विभेदो वा तेन अध्यायद्वयं मतम्.

प्रथमस्य उत्तरं पश्चाद् तदन्तर्यामिसम्भवे''.
(भाग.सुबो.का. २।५।०।का. १-८).

यहां एक निरतिशय मौलिक प्रश्न सधर्मक ब्रह्मके स्वरूपके प्रत्ययके बारेमें बोधदृष्टि और तत्त्वदृष्टि में रहे धर्मधर्मिभावगत विभेदका रहस्य जान लेनेके बारेमें उभरता है. जीवनिष्ठ बोधप्रणालीको लक्ष्यमें रख कर यद्यपि कठोपनिषद्में **''नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा 'अस्ति'इति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तद् उपलभ्यते?...'अस्ति'इत्येव उपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति''** (कठोप. २।३।१२-१३) वचनका

आपाततः विमर्श करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म सन्मात्र है अर्थात् ब्रह्मका ज्ञानरूप होना या आनन्दरूप होना उस परमतत्त्वके स्वयंप्रकाश और आत्माराम होनेके धर्मके "राहोः शिरः"की तरह भेदोपचारवश मात्र कही जानेवाली बात है. परन्तु तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मवल्ली और भृगुवल्ली का सूक्ष्मेक्षिकासे अवलोकन करनेपर एक महत्त्वपूर्ण तथ्य कुछ और भी सामने आता है :

[१]"तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः. तेन एष पूर्णः. सवा एषः पुरुषविधएव. तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः. तस्य प्रियमेव शिरो, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोदः उत्तरः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा... असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति वेद चेद्. 'अस्ति ब्रह्म' इति चेद् वेद, सन्तम् एनं ततो विदुः इति... स यश्च अयं पुरुषे यश्च असौ आदित्ये. स एकः. स यः एवंविद् अस्माद् लोकात् प्रेत्य... एतम् आनन्दमयम् आत्मानम् उपसंक्रामति. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन इति...".

[२]"अधीहि, भगवो!, ब्रह्म इति. तस्मा एतत् प्रोवाच... यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व. तद् ब्रह्म इति... आनन्दं ब्रह्म इति व्यजानाद् आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं

प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति''.
(तैत्ति.उप. [१]२।५-९, [२]३।१-६).

उपनिषदोंमें परमतत्त्वके अभिधानार्थ प्रयुक्त 'अनन्त' 'आत्मा' 'आनन्द' 'आनन्दमय' 'ब्रह्मन्' 'परम्' 'भूमन्' या 'आभु' जैसे पद सभी पद सर्वथा एकार्थवाची पद हैं या एकार्थके वाचक होनेपर भी उसके विभिन्न धर्म गुण या विशेषों के वाचक अनेकार्थवाची? यह ब्रह्मवादी दार्शनिकोंके लिये एक प्रमुख समस्या रही है.

हम देख सकते हैं कि प्रथम उदाहृत वचनमें पुरुषविध *आनन्दमय*को सर्वान्तर मान कर उसके आत्माको *आनन्द* और *ब्रह्म* में प्रतिष्ठित दरसाया जा रहा होनेसे दोनोंमें कुछ तारतम्य ध्वनित होता है. अस्वीकार, किन्तु, उक्त आनन्दमयका नहीं प्रत्युत ब्रह्मके अस्वीकारको स्वतो-व्याहत माना है. लिहाजा आनन्दमय मूल तत्त्व न हो कर ब्रह्म ही मूल तत्त्व हो, ऐसा भी लगता है. तब तो ब्रह्मको ही सर्वान्तर मानना चाहिये आनन्दमयको नहीं. जबकि आनन्दमयको सर्वान्तर प्रतिपादित किया गया है. इसी तरह द्वितीय वचनमें जिज्ञास्य ब्रह्मकी जिज्ञासाके उपशमार्थ ब्रह्मको ''जड़जीवात्मक जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-आप्ति-लयके कारणतया'' परिभाषित कर *आनन्द*में लक्षणका अनुगम दिखलाते हुवे *'आनन्द'* और *'ब्रह्म'* पदोंके सामानाधिकरण्यद्वारा दोनोंकी एकार्थवाचकता द्योतित की गयी है. ब्रह्मज्ञानीको मिलते फलका निरूपण करते हुवे, जबकि, श्रुतिमें ब्रह्मका लक्षण *''सत्य ज्ञान और अनन्त''*तया प्रतिपादित करके ऐसे ब्रह्मको अपनी ही हृदयगुहामें निहिततया जान पानेवालेको *परम्*की प्राप्ति निरूपित हुयी है. मानों ब्रह्म और परम् दो तत्त्व हों. ऐसे असमञ्जस से लगते

प्रतिपादनके वश समस्या और भी अधिक जटिल बन जाती सी दीखती है.

यहां ऐकान्तिक अद्वैतवादी अथवा ऐकान्तिक द्वैतवादी दृष्टिकोणके बजाय तादात्म्यवादी दृष्टिकोणसे निहारना हो तो समाधान अधोनिर्दिष्ट वचनोंमें खोजा जा सकता है :

> [1]"'वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यद् ज्ञानम् अद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते', यत्तु अद्वितीयं ज्ञानमिति द्वैतनिवर्तकं ज्ञानं तत्त्वम् इति अर्थः... श्रुतिस्मृतिपुराणेषु तस्यैव नामभेदः इति आह क्रमेण ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते इति शब्दमात्रं भिद्यते नतु अर्थभेदो अस्ति इति अर्थः."
>
> [2]"वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिंगं भागवते तथा 'ब्रह्म'इति 'परमात्मा'इति 'भगवान्'इति शब्द्यते-".
>
> ([1]भाग.सुबो. १।२।११, [2]त.दी.नि.१।६).

वैसे यहां प्रयुक्त पदोंकी दृष्टिसे केवल देखें तो परम तत्त्वके लिये इन तीनों ही शास्त्रोंमें किसी एकतम पदका ही ऐकान्तिक प्रयोगनियम तो दिखलायी नहीं देता. यथाश्रुतरूपेण, परन्तु, इन पदोंको इन त्रिविध शास्त्रोंके प्रतिपाद्य अर्थके नियतवाचक पदतया न ले कर 'लिंग' अर्थात् इनके वाच्यार्थोंसे द्योतित होते तात्पर्यार्थोंके रूपमें ग्रहण करनेपर अपेक्षित समाधान मिल सकता है. 'ब्रह्म'पद निरपेक्ष—स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश आत्माराम आत्मानन्द—अर्थका द्योतक

होता है. जबकि 'परमात्मा' —द्रष्ट."य: आत्मनि तिष्ठन् आत्मानम् अन्तरो यमयति... यस्य आत्मा शरीरम्" —सर्वसापेक्ष सर्वात्मा होनेका द्योतक होता है. 'भगवान्' — " 'भज'=सेवायां' भज्यतेइति भग: भजनीया: षड्गुणा: तद्वान् भगवान्, भजतीति भक्त:" —अर्थात् भगवान् भक्तद्वारा किये जाते भजनका सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं.

"ब्रह्म किसका?" ऐसा प्रश्न उठ नहीं सकता परन्तु 'परमात्मा'पदसे अभिधेय होनेके लिये 'जीवात्मा'पदसे वाच्य तत्त्वोंकी अपेक्षा रहती ही है. यही स्थिति 'भगवान्'पदसे अभिधेयार्थको षड्गुण अथवा भक्तजनोंकी अपेक्षा रहती ही है. 'भज्'धातुके कर्मको भगवान् और कर्ताको भक्त कहा जाता होनेसे. इसी तरह आनन्द निरपेक्ष हो सकता है पर आनन्दमय, 'मयट्'प्रत्ययको प्राचुर्यार्थक या विकारार्थक लेनेपर भी किससे प्रचुर? या किसी विकारकी प्रकृतिके रूपमें ऐसी अपेक्षा रहती ही है. यही 'आत्मा'पदके बारेमें किसी अपर तत्त्वमें व्याप्त होनेवाले परतत्त्वको 'आत्मा' "अतति=व्याप्नोति इति आत्मा" व्युत्पत्ति स्वीकारी जाती होनेसे. 'आभु' पदका अर्थ भी *"आसमन्ताद् भवति इति आभु:"* ऐसी कारणावस्थाका द्योतक होता है. ये सारेके सारे गुणधर्मादिके विकल्प उस परम तत्त्वको ऐकान्तिकतया निर्विकल्प माननेपर अर्थहीन हो जाते हैं. अत: ब्रह्मकी तीन कोटियां महाप्रभु प्रतिपादित करते हैं : [१]स्वरूप [२]कारण और [३]कार्य.

महाप्रभुने यह प्रतिपादन निबन्धमें किया है :

"यथा शब्दएव प्रमाणं तत्रापि वेदादिभावापन्नं तथा हरिरेव प्रमेयं सर्वभावापन्नम् इति. सर्वमेव

गणयति सगुणो निर्गुणः च सः गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयः तथा. एवम् उक्ते सम्यज्ज्ञानं न भवतीति विशेषं वक्तुम् आह बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेण उपवर्ण्यते [क]कारणेन च [ख]कार्येण [ग]स्वरूपेण विशेषतः... यथा बुद्धिः सर्वं प्रमेयजातं क्रोडीकरोति तदर्थं त्रिरूपेण उपवर्ण्यते. तदैव तरतमभावो भवति".

(त.दी.नि.प्र. २।८५).

इस विवेचनाके आधारपर वचनोंका अवलोकन करनेपर स्वरूपकोटिके अन्तर्गत पुरुषविध आनन्दमय पुरुषोत्तम और अपुरुषविध आनन्दरूप अक्षरब्रह्म दोनोंके स्वरूप परस्पर-विरुद्ध प्रतिपादित हुवे हैं **"'उभयव्यपदेशात्तु अहिकुण्डलवत्' केवलयुक्त्या लोकदृष्टान्तेन न निर्णयः शक्यते कर्तुम्... 'उभयव्यपदेशाद्' उभयरूपेण निर्गुणत्वेन अनन्तगुणत्वेन सर्वविरुद्धधर्मेण व्यपदेशात्... कल्पनाशास्त्रे हि इदं बाधकम् अनेककल्पनागौरवं च, नतु केवलं श्रुत्येकसमधिगम्ये"** (ब्र.सू.अणुभा. ३।२।२७). भगवद्गीतामें भी अतएव—

[१]"अव्यक्तो 'अक्षरः' इति उक्तः. तम् आहुः परमां गतिं यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमम् मम".

[२]"येतु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवम्... ते प्राप्नुवन्ति मामेव".

[३]"द्वौ इमौ पुरुषौ लोके क्षरश्च अक्षरमेव च क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो अक्षरम् उच्यते...

यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः
अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः"
(भग.गीता [१]८।२१, [२]११।३-४, [३]१५।१६-१८).

यों ज्ञानमार्गमें उपास्य पुरुषोत्तमधामरूप अक्षरब्रह्म, जिसे अनिर्देश्य अव्यक्त सर्वव्यापी अचिन्त्य कूटस्थ अचल ध्रुव रूप माना गया है, और भक्तिमार्गमें भजनीय परंब्रह्म पुरुषोत्तम, जिसे क्षरातीत और अक्षरब्रह्मसे उत्तम माना गया है, के बीच तत्त्वभेद न होनेपर भी धर्मधर्मिभाव और धामधामिभाव रूप तारतम्य अर्थात् भेदसहिष्णु-अभेद मान्य है. "**विकारैः सहितो युक्तैः विशेषादिभिः आवृतः आण्डकोशो बहिः अयं... प्रविष्टः परमाणुवत् लक्ष्यते अन्तर्गतश्च अन्ये कोटिशो हि अण्डराशयः. तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं विष्णोः धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः**" (भाग.पुरा. ३।११।४१) वचनके अनुसार अक्षरब्रह्मके सर्वोपादानकारणतया तथा सर्वांशितया माहात्म्यके ज्ञानवश साधक अपने भीतर तादात्म्य अनुभव करता है. उसे ऐसी तादात्म्यानुभूतिके कारण अपने हृदयरूप धाममें भीतर भी और बाहर भी धामी रूपमें पुरुषोत्तमकी विद्यमानता अनुभूत हो पाती है.

यद्यपि शांकर वेदान्तमें "*सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म*" श्रुतिवचनको ब्रह्मका स्वरूपलक्षण तथा "*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते...*"को कारणलक्षण माना गया है. वाल्लभ वेदान्तके दृष्टिकोणसे अवलोकन करनेपर सत्य ज्ञान अनन्त होना ब्रह्मकी कार्यकोटिका लक्षण मानना अधिक उचित लगता है. क्योंकि अग्रिम "**सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति. स तपो अतप्यत. स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत. यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् तदनुप्रविश्य**

[सत्यं] **सत् च त्यत् च अभवत्... [ज्ञान] विज्ञानं च अविज्ञानं च... सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्**'' (तैत्ति.उप. २।६) इस वचनमें एक कारणभूत तत्त्वकी अनन्त नाम-रूप-कर्मात्मना कार्यभावापत्ति ही एक सर्वरूपताकी उपपत्तिके रूपमें दरसायी गयी है. *''यतो वा इमानि भूतानि...''* वचनमें ब्रह्मकी कारणकोटिका लक्षण होना स्पष्ट ही है. अतएव कार्यकारणभावापन्न अक्षरब्रह्मके ज्ञानसे भजनीय परंब्रह्मकी बाह्याभ्यन्तर अनुभूति अनवतारकालमें सुगम बनती है. अवतारकालमें वह अनुभूति जीवात्माकी किसी भी तरहकी कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय या भक्तिमार्गीय योग्यताके कारण नहीं प्रत्युत केवल भगवदिच्छावश होती है. अन्यथा सृष्टिसे पूर्व ब्रह्मकी स्वरूपकोटिगत पुरुषविधता या अपुरुषविधता दोनों ही अचिन्त्य अपरिभाषार्ह होती हैं, यह ''**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**'' (तैत्ति.उप. २।९) वचनके आधारपर सुगम ही है. सृष्टि-उत्तरकालमें, जैसाकि दिखला चुके, स्वयं अंशीको अपनी अंशरूप जीवात्मा जान पाये एतदर्थ निजनामात्मक वेदादि शास्त्रोंका वाच्य ब्रह्म परमात्मा भगवान् बन जाते हैं.

स्वस्वरूपसे प्रच्युत हुवे बिना कार्य-कारणभावापन्न होनेवाले ब्रह्मके प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त तैत्तिरीयोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् के दो वचन *''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय... सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्''-''सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत''* के बारेमें यह अवलोकनीय तथ्य है. प्रथम वचन भूतार्थप्रतिपादक है जबकि द्वितीय वचन भव्यार्थप्रतिपादक. ब्रह्मसूत्रभाष्यकार श्रीशंकराचार्यके शब्दोंमें कहना हो तो, ''**भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकाले अस्ति पुरुषव्यापारतन्त्रत्वाद्. इहतु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वाद् न पुरुषव्यापारतन्त्रम्**'' (ब्र.सू.शांक.भा. १।१।१) कहा जा सकता है. अर्थात् 'तज्जलान्'पदबोधित सृष्टि-उत्पत्ति-

-स्थितिलयकर्तृत्वरूप धर्म सगुण ईश्वरमें ब्रह्मजिज्ञासु साधकद्वारा की जाती उपासनावश आत्मलाभ करेंगे. ऐसी स्थितिमें अनादिसिद्ध होनेपर भी ईश्वरमें उत्पत्त्यादिकर्तृत्व प्राकृसिद्ध होनेके बजाय सृष्टयुत्तरकालमें शक्य हो पायेंगे. जबकि तैत्तिरीयोपनिषद्वचन भूतार्थप्रतिपादक होनेके कारण सृष्टिमें जन्म लेनेवाले साधकद्वारा उपासनाकालिक आरोपणसे प्राकृसिद्ध ही मानने पड़ेंगे. पुरुषव्यापारके आधीन न होनेके कारण इन्हें नित्य भी मानना ही पड़ेगा. अस्तु.

द्वितीय स्कन्धके अन्तर्गत अन्तिम छह अध्यायोंमें जो उत्पत्तिपक्ष और उपपत्तिपक्ष का प्रतिपादन अभीष्ट है, उसमें यह मौलिक आधारभूत तथ्य विमर्शके निकषका काम करता है.

उत्पत्तिपक्ष :

भारतीय दर्शनके इतिहासमें सुदूर भूतकालसे दो वैचारिक वादोंके बीच जो विवाद चलता रहा है उसे हम [१]कार्य-कारणवाद और [२]अजातिवाद के दो ध्रुवोंमें बांट सकते हैं. इन दो वैचारिक ध्रुवोंके बीच समन्वय खोजनेसे पहले कार्यकारणवादी वैचारिक बीज अंकुरित पल्लवित पुष्पित और फलित होता है कालवाद नियतिवाद यदृच्छावाद संघातवाद आरम्भवाद और परिणामवाद के रूपोंमें. इसी तरह अजातिवादी वैचारिक बीज अंकुरित पल्लवित पुष्पित और फलित होता है स्वभाववाद प्रतीत्यसमुत्पादवाद विवर्तवाद आभास्याविर्भावतिरोभाववाद और नामरूपकर्माविर्भावतिरोभाववाद के रूपोंमें. क्योंकि उपनिषदोंमें ब्रह्मके निरूपणमें दोनों तरहकी परिभाषा स्वीकारी गयी हैं, यथा :

[१/क]"कुतस्तु खलु, सौम्य!, एवं स्याद् इति होवाच कथम् असतः सद् जायेत? इति. सदेव,

सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति".

[१/ख] "तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन: आकाश: सम्भूत:... यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते... तद् ब्रह्म" [१/ग] "काल: स्वभाव: नियति यदृच्छा भूतानि योनि: पुरुष: इति चिन्त्या: संयोग एषां... य: कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एक:... यतो जातानि भुवनानि विश्वा:".

([१/क]छान्दो.उप. ६।२।३, [१/ख]तैत्ति.उप. २।१, ३।१, [१/ग]श्वेता.उप. १।२-३, ४।४).

[२/क]"अनन्तश्च आत्मा विश्वरूपो हि अकर्ता..."

[२/ख]"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते".

([२/क]श्वेता.उप. १।९, [२/ख]६।८).

इन दोनों तरहके परस्परविरुद्ध प्रतिपादनोंमें, रामानुजीय वेदान्तकी परिभाषामें, घटकश्रुति बन पाये ऐसा वचन यह माना जा सकता है : "अजायमानो बहुधा विजायते"(तैत्ति.आर. ३।१३।३). अन्यथा इन इतरेतरविरुद्ध धर्मोके निरूपणमें श्रुतिकी विवक्षा ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रयतया दरसानेकी हो तो विरोधपरिहार करनेका दु:साहस प्रकट किये बिना ही भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य और महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य की तरह स्वीकार ही कर लेना चाहिये कि [१] **"तस्मात् तार्किकचाटभटराजाऽप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैश्च; 'तद् एजति तन्नेजति' इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यश्च",**[२] **"ननु तथापि काचिद् वेदानुसारिणी युक्ति: वक्तव्या शास्त्रसाफल्याय इति चेद्**

विरोधएव न शंकनीयो वस्तुस्वभावाद्'' ([1]बृह.उप.शांक.भा. २।१।२०, [2]ब्र.सू.अणुभा. १।२।३२).

रहस्यकी बात इस विषयमें दो हैं : प्रथम तो यह कि वेदोपनिषदादि आर्ष शास्त्रोंकी मौलिक प्राग्धारणा असद्वाद सदसद्वाद या सदसद्विलक्षणवाद के बजाय सद्वादावलम्बिनी है. जिसे हम अधोनिर्दिष्ट वचनोंमें देख सकते हैं :

> [1]**''कथम् असतः सद् जायेत ? सदेव, सौम्य !, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्... सन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूलाः, सौम्य !, इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः''.**
>
> [2]**''न असतो विद्यते भावो न अभावो विद्यते सतः''.**
>
> [3]**''भावे च उपलब्धेः, सत्त्वाच्च अवरस्य... न असतो अदृष्टत्वात्, न अभावः उपलब्धेः''.**
>
> [4]**''बृहद् उपलब्धम् एतद् अवयन्ति अवशेषतया यतः उदयास्तमयो विकृतेः मृदिव अविकृतात्''**
>
> ([1]छान्दो.उप. ६।२।२, ६।८।४, [2]भग.गीता २।१६, [3]ब्र.सू. २।१।१५-२६, २।२।२६-२८, [4]भाग.पुरा. १०।८७।१६).

देखा जा सकता है कि श्रुति स्मृति सूत्र और पुराण चारोंकी इस सद्वादके बारेमें एकमति है.

दूसरी बात इस सद्वादी प्राग्धारणाके वश 'अभाव'नामक तत्त्व या तत्त्वकी कोई अवस्था ब्रह्मवादमें स्वीकार्य नहीं है.

महाप्रभु कहते हैं :

[1]“‘अभावस्य कारणत्वात् तत्त्वता भविष्यति इति आशंक्य आह : ... प्रागभावो कारणा-वस्थातो न अतिरिच्यते, तस्य भिन्नकारणत्व-कल्पनायां प्रमाणाभावात्. अग्रिमजननज्ञानेनैव तस्य अनुभवो, अन्यथा अत्यन्ताभावएव स्यात्... ध्वंसोऽपि दण्ड(कृतचूर्णीभाव)स्वरूपमेव... ननु कारणातिरिक्तरूपाभावे ‘प्रागभावा’दिशब्दप्रयोगः कथम्? इति चेत् तत्र आह ‘कार्या’दिशब्दवदिति. नहि घटरूपाद् अतिरिक्ता कार्यता तथा दण्डरूपादपि न अतिरिक्ता कारणता’’.

[2]“‘एवं प्रकारत्रयं निरूप्य सर्वेषां निरूपयितुं भगवत्त्वे जन्मादिभावाः न युक्ताइति ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च वैयर्थ्यम् आशंक्य त्रैविध्यसमर्थनार्थं ज्ञानक्रिययोः उत्पत्तिं समर्थयते ‘भगवद्व्यतिरिक्तानां घटादीनां यथा उद्भवः व्यवहारे तथा ज्ञानक्रिययोरपि निश्चयः’. भगवतोऽपि आविर्भावतिरोभावौ प्रायेण वैदिकानां सम्मतौ. तदतिरिक्ते सन्देहो अतः तत्र विचारः कर्तव्यइति घटादिनिर्णयएव ज्ञानक्रिययोरपि निर्णयो भविष्यतीति न इन्द्रियाणां वैयर्थ्यम् इति अर्थः... अनुक्तसमुच्चयार्थम् आह ‘मनोधर्माः च ये च अन्ये भगवत्संगवर्जिताः उत्पद्यन्ते विलीयन्ते घटादिरिव न अन्यथा’ भगवद्धर्माः मनोधर्माः च तुल्याः भवन्ति नतु एकविधाः, नित्याः भगवद्रूपाः भगवद्धर्माः. अनित्याः कार्यरूपाः मनोधर्माः इति,

अनेन ‘सो अकामयत’ इत्यत्र दोषः परिहृतः. एवं सर्वेषां तुल्यताम् उपपाद्य घटादीनामपि ब्रह्मत्वाद् नित्यता इति वक्तुं युक्तिम् आह ‘आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः...’ ‘आविः’=प्रकटं भावयति इति आविर्भावः आविर्भवनं वा धर्मः तथा तिरोभवनम्. ऐते भगवतः शक्ती अनन्तशक्तित्वाद् भगवतः. अन्यथा बीजादिभावानां देहादिभावे को हेतुः स्यात्! तस्माद् भगवच्छक्तिरेव कारणत्वेन वक्तव्या, धर्माद् धर्मिसिद्धौ कारणं भवति... ‘उत्पत्तिः’नाम कश्चन धर्मः स कस्मिन् धर्मिणि भवेद्? इति... अतो यः कश्चिद् निरुच्यतां सो अवश्यं धर्मएव भवतीति धर्मी पूर्वसिद्धो वक्तव्यो (अन्यथा) ‘घटो भवति’ इति कर्तरि प्रयोगः च अनुपपन्नः स्यात्. ‘भू’=सत्तायां धात्वर्थः च असंगतः स्यात्... अतो धर्मी सदातनो वक्तव्यः. स भगवानेव भवति न अन्यइति अद्वैतश्रुतेः च धर्मिणो भगवत्त्वम् अंगीकर्तव्यम्. तदनु धर्माणामपि तेनैव न्यायेन भगवत्त्वं सेत्स्यति, ‘सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामि’ इति या हरेः वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवति अजः. मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतं मूलेच्छातः तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेः तथा. तिरोभावः तथैव स्याद् रूपान्तरविभेदतः ‘तिरोभविष्यामि’ इति या इच्छा यथा येन तथा तत्र तिरोभवति; परं, रूपान्तराविर्भावावश्यकत्वम्. इयानेव भगवतः सकाशात् प्रपञ्चे विशेषः’’.

[3]**“अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता: न भवन्तीति तस्य(तिरोभावस्य)च भगवच्छक्तित्वात्”.**

([1]त.दी.नि.प्र. २।११७, [2]२।१३५-१४२,
[3]भाग.सुबो. २।९।३२).

यह तो कालकृत अभावकी चर्चा हुयी. इसे देशकृत और स्वरूपकृत अभावों, उदा. *“इह भूतले घटो नास्ति”*—*“पटो घटो न भवति”*, पर अर्थात् अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव पर कैसे लागू होता है, यह जान लेना भी आवश्यक है. क्योंकि अभावके अस्वीकृत होनेके कारण प्रत्यक्षतो दृश्यमान पदार्थकी कभी कहीं या किसी रूपमें अनुपस्थितिका खुलासा क्या-कैसे देना? एतदर्थ श्रुत्यादिशास्त्रैकगम्य अखण्डैकरस देशत: कालत: और स्वरूपत: अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें प्रकट होनेवाले देशत: कालत: स्वरूपत: परिच्छिन्न अपरोक्ष अनन्त नाम-रूप-कर्मोंका सम्बन्ध क्या-कैसे सोचना? समाधानतया सत्कार्यवाद सत्कारणवाद कार्यकारणतादात्म्यवाद और अंशांशितादात्म्यवाद का उपपादक आविर्भाव-तिरोभाववाद प्रस्तावित किया गया है, स्वयं इन शास्त्रोंद्वारा :

[1]**“तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते”,“...आत्मत: आविर्भावतिरोभावौ... आत्मतएव इदं सर्वम्”.**

[2]**“अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्ति अहरागमे रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैव अव्यक्तसंज्ञके... भूतग्राम: सएव अयं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते... पर: तस्मात्तु भावो अन्यो अव्यक्तो अव्यक्तात् सनातन: य: सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति.**

अव्यक्तो 'अक्षर:' इति उक्त: तम् आहु: परमां गतिम्''.

[3]**''असद्'व्यपदेशाद् न इति चेद् न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्. पटवच्च. यथाच प्राणादि''.**

[4]**''तद् एतद् अक्षयं नित्यं जगद्, मुनिवर!, अखिलम् आविर्भावतिरोभाव-जन्मनाश-विकल्पवत्... तत्र सर्वम् इदं प्रोतम् ओतञ्चैव अखिलं जगत्. ततो जगद् जगत् तस्मिन् स जगत् च अखिलं, मुने!, क्षराक्षरमयो विष्णु: बिभर्ति अखिलम् ईश्वर:''.**

([1]बृह.उप. १।४।७, छान्दो.उप. २।२६।१,
[2]भग.गीता ८।१८-२१, [3]ब्र.सू. २।१।१७-२०,
[4]विष्णुपुरा. १।२२।६०-६५).

ब्रह्मके अचिन्त्य अवाच्य अदृश्य मौलिक स्वरूपकी तुलनामें ब्रह्मका ऐसा कार्य-कारणभावात्मक रूप ध्यानार्थ या उपासनार्थ सुबोध्य होनेपर भी उसे मिथ्या कल्पित ही मानना ऐसी भी एक दृष्टि है.

दूसरी सैद्धान्तिक दृष्टि, परन्तु, यह भी है कि ब्रह्मके मौलिक स्वरूपकी तरह कार्यकारणभावात्मक स्वरूप यदि पारमार्थिक न हों तो शुकादि जैसे परमहंस मुनियोंको वे प्रिय नहीं लगने चाहिये थे. जबकि अधिकारके निरूपक प्रथम स्कन्धमें ही कार्य-कारणभावात्मक भगवान्की सर्गादि दशविध लीला, विशेषत: भूमिपर प्रकट की गयी अवतारलीलाओंके श्रवण कीर्तन स्मरण के बारेमें कहा गया है कि ''**तथा परमहंसानां मुनीनाम् अमलात्मनां भक्तियोगवितानार्थं... शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति अभीक्ष्णश: स्मरन्ति नन्दन्ति**

तव ईहितं जनाः. तएव पश्यन्ति अचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्'' (भाग.पुरा. १।८।२०-३६). ऐसे अनेक वचनोंके अनुसार भवप्रवाहका उपरम करनेवाले भगवान्के पदाम्बुजोंकी प्राप्तिके लिये अवतारलीलाके श्रवण कीर्तन स्मरण अभीष्ट होते हैं. अतः उन आत्माराम मुनियोंके लिये श्रोतव्य गेय स्मर्तव्य नन्दनीय कथाओंके विषयको मायिक कैसे माना जा सकता है? और यदि मायिक होनेपर भी वे भवप्रवाहोपरमक्षम हों तो द्वैतवर्जितब्रह्मके ज्ञानकी ही मोक्षदायकताका सिद्धान्त व्यर्थप्राय हो जायेगा. अतएव उद्धृत विष्णुपुराणके वचनमें आविर्भाव-तिरोभाववाले तथा जन्म-नाशवाले जगत्को इन विकल्पोंके साथ नित्य अक्षरात्मक स्वीकारा गया है. अन्यथा जगत्के जन्मनाशके विकल्पोंसे रहित नित्य अक्षरात्मक होनेका निरूपण पर्याप्त होता.

इसके अलावा एक और बातपर ध्यान देना आवश्यक है कि भगवान्का अवतारात्मना या भजनीय विग्रहात्मना आविर्भाव, यज्ञवेदीमें आविर्भाव, योगिजनोंके हृदयमें प्रादुर्भाव, अथवा देवालय आदिमें आविर्भाव होता है, ऐसा तो सभी शास्त्रप्रामाण्यवादी मानते ही हैं. इन्द्रियग्राह्य लौकिक घटपटादि पदार्थोंके रूपमें भगवान्का आविर्भूत होना अवश्य विवादास्पद होनेसे विमर्शसापेक्ष है. वह यहां सच्चिदानन्द ब्रह्मकी चिदंशभूत जीवचेतनाओंका और आनन्दांशभूत व्यष्टि-समष्टिरूप उभयविध अन्तर्यामिओंका आविर्भावतिरोभावशाली होना विचारा जा रहा है, सदंशभूत प्राकृत तत्त्वोंका जन्मनाश होता होनेसे. सर्वनाम सर्वरूप और सर्वकर्मा अपरिच्छिन्न ब्रह्मके परिच्छिन्न तत्तत् सदंशोंके साथ तत्तद् नाम रूप और कर्म का प्रत्येक-नियततया जुड़ना ही 'जन्म' कहलाता है. और उनसे वियुक्त होना 'नाश' कहलाता है. एतावता तत्तद् नामरूपकर्मोंका सदंशोंके साथ जुड़ना ब्रह्मके बहुभवनके संकल्पवश प्रकट हुवा है नकि

मायाविद्यावश. जिसे 'माया' कहा जाता है वह भी ब्रह्मकी प्रमुख द्वादश शक्तिओंमें, नामशः : "**श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्या इलया उर्जया विद्यया अविद्यया** [इच्छया]**शक्त्या** [सर्वभवनसामर्थ्यरूपया]**मायया च निषेवितम्**" (भाग.पुरा. १०।३९।५५) एकतम है. अस्तु.

अतः आविर्भावतिरोभावकी शक्ति और सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्ति दोनोंकी सहप्रयोगान्वितिवश सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्ममें से देशकालस्वरूपतः परिच्छिन्न जडसृष्टि होती है. कालतः अपरिच्छिन्न परन्तु देशतः परिच्छिन्न जीवसृष्टि होती है. अतः त्रिविध परिच्छेदरहित आनन्दसृष्टि प्रकट होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं. इसमें प्रमुखतया अवधेय प्रक्रिया यह है कि देशकालस्वरूपतः परिच्छिन्न जडपदार्थके स्वरूपपरिच्छेदके तिरोधान बिना वह अन्य देश-कालमें जन्मग्रहण नहीं कर पाता. आनन्दांशके तिरोधानवश "'**तदिच्छामात्रतः तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकाराः तदिच्छया**'. **अंशाः साकाराः सूक्ष्मपरिच्छेदाः चेतनाः चित्प्रधानाः... साकाराः भगवद्रूपाअपि उच्चनीचभावेच्छया निर्गताः इति निराकाराः जाताः... सति चिदानन्दधर्मयोः तिरोभावः चिति आनन्दस्य...**" (त.दी.नि.प्र. १।२७-२९) वचननिर्दिष्ट रीतिसे कालमें अपरिच्छिन्न होनेके कारण और नीरूप होनेपर भी देशतः परिच्छिन्न होनेके कारण जीवाख्य चेतनपदार्थ अनेकविध देहलोकादिमें आवागमनक्षम होता है. आनन्दांश अन्तर्यामी अथवा भगवान्के अवतीर्ण रूप त्रिविध परिच्छेदसे रहित होनेके कारण सदा सर्वत्र सर्वरूपेण विद्यमान होनेपर भी कहींभी कभीभी और किसीभी रूपमें प्रकट या अप्रकट हो सकते हैं.

प्रकृतका अनुसन्धान करनेपर स्वयं श्रीशंकराचार्यको भी ब्रह्मके

तथाकथित मायिक रूप कितने प्रिय लगते हैं! यह तो स्तोतव्य सगुण ईश्वरके बारेमें उनके उद्गारोंके अवलोकन करनेपर स्पष्ट हो जाता है. यथा : **''न मोक्षस्य आकांक्षा भवविभववाञ्छापि च न मे, न विज्ञानापेक्षा... अत: त्वां संयाचे, जननि!, जननं यातु मम वै 'मृडानी' 'रुद्राणी' 'शिव-शिव' 'भवानी' इति जपत:'',''विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां, विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिभयं याति जनता... शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णो अक्षिविषय:'',''मन: त्वं व्योम: त्वं मरुद् असि... त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन बिभृषे''** (दे.क्षमा.स्तो. ८, कृष्णा.स्तो. ६, सौन्द.लह. ३५). ब्रह्मके इन मायिक रूपोंके प्रति इतनी मोहात्मिका भक्ति भगवत्पाद श्रीशंकरकी मायाके प्रति मोहकी गवाही दे रही हो, ऐसा तो कथमपि सम्भव ही नहीं माना जा सकता. जबकि यहां पाञ्चभौतिक जगद्की कारणभूता देवीको 'चिदानन्दाकारा' कहा जा रहा है. अत: इस चिदानन्दाकारको भी जब तक मिथ्या न माना जाय तब तक वह आकार मायिक कैसे हो सकता है?

अखण्डब्रह्मवादी दृष्टिकोणके अनुसार, परन्तु, इसे निहारनेपर कार्य भी ब्रह्म हो और कारण भी ब्रह्म हो तो ब्रह्मत्वके प्राधान्यसे तत्त्वान्तररूप कार्य-कारणभावका गौणतया निषेध भी उपपन्न तो हो ही सकता है, क्योंकि ''ब्रह्म ब्रह्म है'' कहनेसे उद्देश्यविधेयभाव प्रकट न होनेके कारण ब्रह्म वाक्यवाच्य न हो कर अवाकी बन जाता है. परन्तु सखण्डब्रह्मवादका अवलम्बन कर हमारी मतिकी सीमाकी चौखटमें इसे बिठानेको निहारना हो तो परमार्थत: ब्रह्म ही पहले कारणभावात्मना प्रकट हो कर पश्चात् कार्यभावात्मक भी स्वयं अपने-आपको बनाता है. जैसे स्वर्ण या स्वप्नद्रष्टा

आत्मा अविकृत रहते हुवे आभूषण या दृश्यात्मना परिणत हो जाते हैं. वैसे ही ब्रह्म भी कार्य-कारणभावात्मक सभी कुछ बन जाता है.

यों उत्पत्तिवादका अवलम्बन करके पहले तत्त्वध्यानके उपपादन हो जानेपर उपपत्तिवादका अवलम्बन करके भी तत्त्वध्यान उपपन्न हो जाता है.

उपपत्तिपक्ष :

इस आविर्भावतिरोभावकी प्रक्रियाके अन्तर्गत पूर्वोक्त कार्यकारणसम्बन्धी अनेकविध सैद्धान्तिकी प्रक्रियाओंका समावेश सम्भव हो सकता है. नामश: अवयव-अवयविभावमूलक आरम्भवाद हो, या निर्द्रव्यवादमूलक संघातवाद हो, कार्यकारकारणतावर्जित प्रतीत्यसमुत्पादवाद हो, या अधिष्ठानारोपवादमूलक विवर्तवाद हो, दुग्धदधिवत् विकृतपरिणामवाद हो या स्वर्णाभूषणवत् अविकृतपरिणामवाद हो, ऐसे सभी वादोंका समावेश इस आविर्भावतिरोभाववादमें सोचा जा सकता है. आविर्भाव या तिरोभाव का अन्तर्भाव, परन्तु, इतर प्रकारके कार्यकारणोंमें सोचा नहीं जा सकता. अतएव महाप्रभुने इदंप्रथमतया प्रकट ग्रन्थमें **"नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यत:"**(त.दी.नि. १।१) वचनमें [१उपपत्त्या]य: क्रीडति [२उत्पत्त्या]यो जगद् भूत्वा क्रीडति [३विवर्तेन]यतो जगत् क्रीडति, ऐसी त्रिविध क्रीड़ाओंका प्रतिपादन किया है. प्रथम प्रकारकी कर्तुंसामर्थ्यवश उत्पत्तिमें अपने तीनों सदंश चिदंश तथा आनन्दांश से ब्रह्म अन्वित रहता है. दूसरे प्रकारकी अकर्तुंसामर्थ्यवश उत्पत्तिमें आनन्दांशके तिरोभावपूर्वक केवल सदंश या चिदंश से अन्वित होता है. तीसरे प्रकारकी उत्पत्तिमें सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने तीनोंमेंसे किसी भी

अंशसे अन्वित हुवे बिना भी केवल तटस्थ संनिधिवशात् अन्यथाकर्तुंसामर्थ्यवश आभास प्रकट कर सकता है.

अत: कालिक दृष्ट्या उत्तरवर्तीका किसी अंशमें आविर्भाव तो पूर्ववर्तीका किसी अंशमें तिरोभाव के रूपोंमें कार्य-कारणको निहार पाना सुशक ही है.

एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक पहलु इस सन्दर्भमें यह भी अवधेय है कि द्वैतवादी पृष्ठभूमिमें संघातवाद या आरम्भवाद के अनुरोधवश अवयवोंके संयोगवश नूतन कार्यका आरम्भ उत्पत्तिरूप होता है. ब्रह्माद्वैतवादमें, परन्तु, प्राथमिक कार्यकारणभाव अवयवसंयोगवश नहीं परन्तु निरवयव एक अखण्ड तत्त्वके परमार्थत:, मायावादानुसार उपाधिवशात् या विवर्तरूपेण; अथवा, ब्रह्मवादानुसार पारमार्थिक आत्मविभाजनद्वारा ही शक्य बन पाता है. कहा गया है कि **''एको नानात्वम् अन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थित: वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा : अधिदेवम् अथ अध्यात्मम् अधिभूतम् इति प्रभु:. यथा एकं पौरुषं वीर्यं त्रिधा अभिद्यत...''** (भाग.पुरा. २।१०।१३-१४). अत: अवयवावयविभावमूलक कार्यकारणभाव नहीं होता प्रत्युत प्राथमिक कार्यकारणभावमूलक ही द्वैतीयक अवयवायविभाव प्रकट होता है. यहां [१]**''तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''**, [२]**''इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते''** ([१]छान्दो.उप. ६।२।३ [२]बृह.उप. २।५।१९) ऐसी श्रुतिनिर्दिष्टरीतिसे ही एकमेव अद्वितीय ब्रह्मकी अनेकभावापत्तिकी कामना पूर्वसिद्धतया प्रतिपादित हुयी है. *तदर्थ* मायाका करणतया अंगीकार कर्तारूप भगवान्द्वारा निरूपित है. नकि कामादि सकल गुणधर्मविवर्जित निर्विशेष तत्त्वका मायाके साथ अनादिसाहचर्यवश उपाधि-उपहितभाव विवक्षित लगता है. अस्तु.

अत: प्रकृतमें किसी रूपवत् पदार्थकी कार्यता प्रकट होनेमें केवल आविर्भावको नियामक नहीं मान लेना चाहिये. प्रत्युत पूर्वसिद्ध तत्त्वमें किसी न किसी अंश गुण धर्म या क्रिया के तिरोभूत हुवे बिना पश्चात्साध्य तत्त्व प्रकट हो ही नहीं सकता. यों परवर्ती पदार्थोंकी आविर्भाविका और पूर्ववर्ती पदार्थोंकी तिरोभाविका दोनों शक्तियोंके सहयोगवश ही कुछ भी प्रकट हो पाता है. ब्राह्मिक पदार्थोंमें यह ऐसी शक्ति महाप्रभुके अनुसार "**सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामि इति या हरेः वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवति अजः. मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतं मूलेच्छातः तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेः तदा**" (त.दी.नि. २।१४१-१४२) वचनमें निरूपित हुयी है.

इसे असत्कारणवादपोषक "न अनुपमृद्य बीजम् अंकुरोत्पत्ति" न्यायकी रीतिसे नहीं मान लेना चाहिये. यह तो तिरोभावरूप जैसे डिम्भके गर्भस्थ हो कर आविर्भावक शुक्राणुके जैसे देहतया परिणत बन पाने जैसी कथा है. इसे मूलतत्त्वका ही रूपान्तर गुणान्तर अर्थक्रियान्तर या अवस्थान्तर मानना उचित है. यह तत्त्वान्तरके उत्पन्न होनेकी बात नहीं है. निष्कर्षतया दोनों शक्तियोंके समुच्चयसे पूर्वसिद्ध पदार्थ पश्चाद्वर्तितया परिणत हो पाता है. अतएव महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण दिया है :

> **"तस्य स्वरूपम् आह 'सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतो अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमद् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति'... गतिकृतिलक्षणे क्रिये सर्वत्र स्वेच्छया परिच्छेदावभानं च उक्तं... एते धर्माः प्रपञ्चोत्तरमेव स्पष्टाः भवन्ति तथापि तेषां नित्यत्वख्यापनाय प्रथमतो वचनम्. सर्वत्र**

परिच्छेदस्य प्रयोजनम् आह 'अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म हि अविभक्तं विभक्तिमद्. बहु स्यां प्रजायेय इति वीक्षा तस्य हि अभूत् सती', 'अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म' इति 'अनन्त'पदस्य इममेव अर्थं ज्ञापयितुं 'हि'शब्दः. तर्हि खण्डशः स्याद् इति आशंक्य आह 'अविभक्तम्' इति. अनन्तमूर्तिष्वपि न परस्परं विभेदः. केवलम् इच्छया तावन्मात्रप्रकट-नार्थं विभक्तिमत्. एतत्स्वरूपम् उक्त्वा ततः सृष्टिं वक्तुं तदिच्छां कारणत्वेन आह बहु स्याम् इति. अनेकत्वम् उच्चनीचत्वं च भावयामास. भावना च तस्य 'सती' विषयाऽव्यभिचारिणी. ततो यद् जातं तद् आह 'तदिच्छामात्रतः तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः... सदंशेन जडाअपि आनन्दांश-स्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः'... त्रैविध्ये हेतुम् आह 'सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोः अन्यलीनता अतएव निराकारौ पूर्वौ आनन्दलोपतः' आनन्दांश-तिरोभावस्यापि ज्ञापकम् आह 'अतएव निराकारौ' इति...'जडो जीवो अन्तरात्मा इति व्यवहारः त्रिधा मतः''.

(त.दी.नि.प्र. १।२५-३०).

यह स्पष्ट है कि उपपत्तिपक्षके अवलम्बन द्वारा सृष्टिनिरूपणकी ऐसी प्रक्रिया बृहदारण्यकोपनिषद्के ''आत्मैव इदम् अग्रे आसीत् पुरुषविधः. सो अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यत्... स द्वितीयम् ऐच्छत्. स ह एतावान् आस. यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत्'' (बृह.उप. १।४।१-३) इस श्रुतिमें कही गयी

आत्मविभाजनकी प्रक्रियापर आधृत है. यह न्यायशास्त्रीय अणुसंयोगसे अवयवीकी उत्पत्तिसे विसदृश स्वात्मोपादानक स्वावयवोंके विभाजनद्वारा निगूढ़ अवयविभावके प्राकट्यका वृत्तान्त है. अतएव "**संहतैः उपचितैः अवयवैः गुप्तो अवयवी प्रकटीक्रियते**" (भाग.सुबो. २।१।२४) जैसे तीन रेखाओंके एक-दूसरेसे जुड़ जानेपर त्रिकोणात्मक रेखाओंमें गुप्त अवयवी प्रकट हो जाता है. यह महाप्रभुका वचन आरम्भवादका समायोजन आविर्भावतिरोभाववादमें कैसे हो सकता है, उसका प्रमाण है.

अतएव देशकाल दोनोंमें परिच्छिन्न रूपवद् जड़ पदार्थोंके आविर्भावको उत्पत्तिरूप या जननरूप स्वीकारा गया है. वैसे भी 'उत्पत्ति' या 'जनन' पदोंके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थोंको लक्ष्यमें रखनेपर प्रागभावकी अवधारणा स्फुरित नहीं होती : "'उत्'=उपरि पद्यतेइति उत्पत्तिः" और "'जनिः'=प्रादुर्भावे". कालमें अपरिच्छिन्न होनेपर भी देशमें परिच्छिन्न चिदंशोंका आविर्भाव-तिरोभाव आवागमनरूप माना गया है. देशकाल दोनोंमें असीमित होनेपर विरुद्धधर्माश्रयतया देशविशेष या कालविशेष में आविर्भूत या तिरोभूत होनेवाले आनन्दात्मक रूपोंका प्राकट्य या अप्राकट्य होना कहा जाता है. यों तीनों विधा आविर्भाव-तिरोभाव की होती है.

यहां एक गम्भीर समस्या उपस्थित होती है कि जो आविर्भाव-तिरोभाववादके आधारपर वस्तुमात्रकी ऐकान्तिक भावात्मकता ध्वनित हो रही है. उसके कारण, परन्तु, रज्जुसर्प पीतशंख मरुमरीचिका आदि भ्रान्तिरूप आभासोंके उदाहरणोंमें आविर्भाव-तिरोभाववाद स्वीकारनेपर भ्रमावभासित पदार्थोंका भी तत्तद् अधिष्ठानोंमें भाव स्वीकारना पड़ेगा. अथवा आविर्भाव-तिरोभाववादी सिद्धान्तका त्याग

अकाम-गले-पतित होगा. इस आपत्तिका भी विचार करना आवश्यक है.

उससे भी पहले, परन्तु, आविर्भाव-तिरोभाव जो भगवान्की शक्तिरूप माने गये हैं, उनका सुस्पष्ट विचार अपेक्षित है.

ब्रह्मका शक्तिमत्त्वरूपमें विकल्पवैशिष्ट्येन निरूपण उत्पत्तिवादका मूल है. अनन्त शक्तियोंवाले ब्रह्मके स्वरूपका यथावद् निरूपण उपपत्तिवादका मूल है. शब्दान्तरमें सरलीकृत रूपमें समझना हो तो यों निरूपित किया जा सकता है, उदाहरणतया पंचीकरणप्रक्रियाके अनुसार, पार्थिव भूतोंमें ५०% गन्धतन्मात्रा और शेष ५०%में शब्द स्पर्श रूप और रस तन्मात्राओंके एकचतुर्थांश विद्यमान रहते हैं, क्रमिक भूतविकारोंके परिणत होनेके कारण. अत: पार्थिव भूत पञ्चविध ज्ञानेन्द्रियोंका विषय बनता है. यह उत्पत्तिवादकी प्रक्रियाका अवलम्बन कर पार्थिव भूतकी व्याख्या हुयी. परन्तु जो पञ्चेन्द्रियग्राह्य भूत होता है वह पार्थिव भूत होता है यह उपपत्तिवादके अवलम्बन द्वारा पार्थिव भूतका निरूपण है.

वैसे यह खुलासा हमें श्रीशुकमुनिद्वारा किये गये श्रीभागवतके मंगलाचरणकी सुबोधिनीमे उपलब्ध होता है :

> [१] **"आदौ पर: असंगोदासीन: एकएव इति अर्थ:. तदनु सएव पुरुष:. अनेन अशरीरस्य विष्णो: पुरुषशरीरस्वीकार: च आदौ कथित:. तदनु 'बहु स्याम्' इति वाञ्छया एकएव भूयान्. तदनु क्रीडार्थं जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारै: स्वमायाभूतगुणभूतशक्ति-त्रयस्वीकारम् आह 'गृहीतशक्तित्रितयाय' इति.**

'सद्' इति वचनाद् असतः सत्ता निवारिता. किञ्च तस्य उद्भवः स्थानं निरोधः च लीलार्थम्. सद्रूपेण भगवान् उत्पद्यते तिष्ठति लीयते चेति. अनेन क्रमोऽपि दर्शितः : सदंशस्य व्यापकत्वात् सृज्यमानस्य परिच्छेदाभावाद् युगपदेव देशभेदेन एकत्र क्रमेणैव यथा लीला सम्पद्यते तथा करोति इति अर्थः. तदनु तत्र अन्तर्यामितया प्रविशति इति आह 'देहिनाम् अन्तर्भवाय' इति, नहि बहि स्थितो अन्तः प्रविशति किन्तु अन्तरेव आविर्भवति इति अर्थः. सृष्टेः नामरूपभेदेन द्वैरूप्याद् नामसृष्ट्यर्थं सर्वं सृष्ट्वा, सर्वम् अनुप्रविश्य सर्वैरपि अनुपलभ्यं वर्त्म यस्य तादृशो जातः इति अर्थः''.

[२] ''श्रुतिवाक्येषु परस्परविरोधः परिह्रियते विप्रतिषेधपरिहाराय मीमांसायाः तदर्थं प्रवृत्तत्वात् शक्त्यविरोधाभ्याम्. तथाच ब्रह्मवादे जडजीवयोः विरुद्धांशनिराकरणाय... द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः : भूतभौतिकं सर्वं ब्रह्मणएव विस्फुलिंगन्यायेन एका, अपरा वियदादिक्रमेण. साच अनामरूपात्मनो नामरूपत्वेन अभिव्यक्तिः, सजडस्य (ब्रह्मण)एव कार्यत्वात्. तस्य जीवस्यतु अंशत्वेनैव न नामरूपसम्बन्धः. अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमो नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा''.

([१] ''भाग.सुबो. २।४।१२, [२] ब्र.सू.अणुभा. २।३।१).

यह सदंशोंकी तत्तद् नामरूपकर्मोंके रूपमें स्वरूपतः परिच्छिन्न

बनानेरूपी जननरूपा उत्पत्ति है. चिदंशोंकी अग्निके विस्फुलिंगकी तरह व्युच्चरित हो कर सदंशोंके कोशमें प्रवेशरूपी समागमनरूपी उत्पत्ति है. व्यवहारमें भी माताके गर्भसे बहार आनेको नवजात शिशुका 'जन्म' ही कहा जाता है न. आनन्दांश तो ब्रह्मका मौलिक स्वरूप होता है : "[१]**तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्यो अन्तर आत्मा आनन्दमय. सवा एष पुरुषविधएव... आनन्द आत्मा"** [२]**"आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्"** ([१]तैत्ति.उप. २।५, [२]३।६). अत: 'ब्रह्म'पदके अनुरोधवश देशत: कालत: और स्वरूपत: अपरिच्छिन्न होनेसे उसका कालविशेषमें जन्मतया आभास अथवा देशविशेषमें समागततया आभास प्राकट्य रूप ही होता है. यहां एक नितान्त अवधेय तथ्य यह है कि देश-काल-स्वरूपत: परिच्छिन्न जडसृष्टिमें प्रकट होनेवाली ब्राह्मिकी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति यदि आत्मस्वरूपगामिनी होनेका स्वभाव न छोड़ पाती हो तो निर्विषय हो जायेगी. और अपने आत्मस्वरूपगामिनी होनेके स्वभावका त्याग कर परिच्छिन्न सदंश और उनमें प्रविष्ट होनेके कारण तद्वद्भावापन्न चिदंश के अनुरूप पदार्थजनन या पदार्थावगाहन करने लगे तो ब्रह्मस्वरूपदृष्ट्या उसका याथार्थ्य कितना होगा? एतदर्थ ब्रह्मकी स्वरूपकोटि ही नहीं प्रत्युत कारणकोटि और कार्यकोटि की भी ब्रह्मता साधारण्येन प्रतिपादित करने जो कहा गया है :

> **"सर्वान् उद्देशतो निरूप्य तेषां पुरुषत्वम् आह 'सर्वं पुरुषएव इदं भूतं भव्यं भवत् च यत् तेन इदम् आवृतं विश्वं वितस्तिम् अधितिष्ठति'. पूर्वोक्तं निरूपितं सर्वं पुरुषएव. इदमपि परिदृश्यमानं जडात्मकं सर्वं पुरुषएव. कालत्रयाधीनस्य पुरुषत्वाभावम् आशंक्य आह 'भूतं भव्य भवद्'**

इति. 'च'कारात् तत्र उत्पन्नानामपि ग्रहणम्... श्रुतिसिद्धत्वाद् न अत्र युक्ति: वक्तव्या इति अर्थ:. अनेन 'पुरुषएव इदं सर्वम्' इति अर्धर्चार्थ: कथित:. भगवतो विश्वमात्रत्वे तेन परिच्छेदसम्भ-वाद् अपरिच्छिन्नताव्याहति: इति आशंक्य आह 'तेनेदम्' इति विश्वेन न भगवान् आवृत: परिच्छिन्न: किन्तु विश्वमेव तेन आवृतं परिच्छिन्नम्. जातिवत् परिच्छेदं वारयति 'वितस्तिम् अधितिष्ठति' इति. जातिर्हि तावन्मात्रे स्थिता तं व्याप्नोति अयन्तु वितस्तिम् अधितिष्ठति 'अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्' इति... अनेन उभयध्याने सम्पूर्णो भगवान् ज्ञातो भवति. अतो विश्वात्मक: स्थूलो वितस्त्यात्मको अतिरिक्त:... तस्माद् यावान् भगवान् सर्वं तावान् अधिक: ततोऽपि अधिकइति न परिच्छेद: सम्भवति''

(भाग.सुबो. २।६।१५).

यह उत्पत्तिवादानुरोधिनी प्रक्रिया है. इसे ब्रह्माने अपने मानसपुत्र नारदजीको सुनायी थी :

''नारद उवाच : देवदेव नमस्ते अस्तु... तद् विजानीहि यज्ज्ञानम् आत्मतत्त्वविमर्शनं यद्रूपं यदधिष्ठानं यत: सृष्टम् इदं, प्रभो!, यत्संस्थं यत्परं यच्च तत् तत्त्वं वद तत्त्वत:... ब्रह्मा उवाच : ... येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयामि अहं... तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि

यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुं, विलज्जमानया यस्य स्थातुम् ईक्षापथे अमुया... द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो, ब्रह्मन्!, नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वत:... तस्यापि द्रष्टु: ईशस्य कूटस्थस्य अखिलात्मन: सृज्यं सृजामि सृष्टो अहम् ईक्षयैव अभिचोदित:... विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यग् अवस्थितं सत्यं पूर्णम् अनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यम् अद्वयं, ऋषे!, विदन्ति मुनय: प्रशान्तात्मेन्द्रियाशया: यदा, तदेव असत्तर्कै: तिरोधीयेत विप्लुतम्. आद्यो अवतार: पुरुष: परस्य, काल: स्वभाव: सदसन्मनश्च... सो अयं ते अभिहित:, तात!, भगवान् विश्वभावन: समासेन हरे: न अन्यद् अन्यस्मात् सदसत् च यत्..."

(भाग.पुरा. २।अध्या.५-७).

यह निरूपण सृष्टिनिर्माणार्थ भगवान्के रजोगुणाभिमानी अवतार होनेके कारण ब्रह्माने किया.

वैसे आठवें अध्यायमें विमर्शकी प्रक्रियाके अन्तर्गत पुन: महाराज परीक्षित्की आशंकागर्भित जिज्ञासाका निरूपण मिलता है :

"ब्रह्मणा चोदितो, ब्रह्मन्!, गुणाख्याने अगुणस्य च यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देवदर्शन:. एतद् वेदितुम् इच्छामि तत्त्वं... हरे: अद्भुतवीर्यस्य कथा लोकसुमंगला... अज: सृजति भूतानि भूतात्मा

यदनुग्रहाद् ददृशे येन तद्रूपं...''

(भाग.पुरा. २।८।१-९).

इन सारी जिज्ञासाओंके समाधानार्थ सृष्टिनिर्माणविधिमें स्वयं सृष्टिविधाता ब्रह्माको नारायणने जो स्वात्मिका सृष्टिके निर्माणार्थ स्वरूपदर्शन कराये थे वह भागवतमें **''सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्''** (छान्दो.उप. ६।२।२) श्रुतिनिर्दिष्ट तथ्यकी उपपत्ति ही थी. महाप्रभु भी अतएव प्रतिपादन करते हैं :

[१]**''एवं जडजीवयो: उत्पत्त्या निर्णयम् उक्त्वा अन्तर्यामिणोऽपि सर्वधर्मसहितस्य खण्डश: उत्पत्ति: उच्यते. तथा सति एकैकैकस्य धर्मस्य तादृशमाहात्म्यावगतौ विशिष्टस्य परममाहात्म्यं सेत्स्यतीति. अन्तर्यामिस्वरूपे 'प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्' इत्यादिपदै: यद् निरूपितं भगवत्स्वरूपं तस्य अत्र पदशो अवतारा: उच्यन्ते''.**

[२]**''विषयात्मकं तु भागवतम् अनेक(**दश**)धा, विमर्शात्मकन्तु द्वेधा : तत्र उत्पत्तिप्रकारेण निरूपितं ब्रह्मणा नारदाय उक्तम्. उपपत्तिप्रकारेणतु ब्रह्मणे भगवता प्रोक्तम्...भागवते सर्वे प्रकारा: उपनिबध्यन्ते.''**

([१]भाग.सुबो. २।७।१, [२]भाग.सुबो. २।८।२८).

यों उत्पत्तिप्रकार और उपपत्तिप्रकार के रूपोंमें विमर्शका द्वैविध्य निरूपित हुवा है. ज्ञानमीमांसाके दृष्टिकोणसे इसे प्रकारता और विषयता के दो रूपोंमें भी समझा जा सकता है. प्रमाणमीमांसाके

दृष्टिकोणसे प्रमाणसाधनफलभाव और प्रमेयभाव के रूपोंमें भी समझा जा सकता है. ब्रह्ममीमांसाके दृष्टिकोणसे अनन्तनामरूपकर्मात्मकस्वरूप और सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मस्वरूप के द्वैविध्यमें भी देखा जा सकता है. दैवी मीमांसाके दृष्टिकोणसे गुणलीलावेशावतार और अवतारिकृष्ण के रूपोंमें भी सोचा जा सकता है. जिज्ञास्यमीमांसाके दृष्टिकोणसे अन्वित/व्यतिरिक्त और अन्वयव्यतिरेकवत् तत्त्वोंके रूपोंमें भी निहारा जा सकता है. भगवद्गीता द्वारा परिभाषित रूपमें असंख्यविभूति और विराट् के दृष्टिकोणसे भी माना जा सकता है. कारणमीमांसाके दृष्टिकोणसे समझना हो तो कार्यकारणभावापन्न और अकारणाकार्यस्वरूपों में भी समझा जा सकता है. भजनीयमीमांसाके दृष्टिकोणसे समझना हो तो व्यष्टिरूप तत्तदात्मा और समष्टिरूपसर्वात्मा के रूपोंमें चाहा जा सकता है. कारकमीमांसाके दृष्टिकोणसे समझना हो तो अनेकविधकारक/क्रिया और एकमेवाद्वितीयकर्ता के रूपोंमें कहा जा सकता है. सृष्टिमीमांसाके दृष्टिकोणसे सर्गादिनवविधलीला और स्वाश्रयाश्रय के रूपोंमें भी विचारा जा सकता है. इत्यादि-इत्यादि अनेक रूपोंमें समझा जा सकता है. मुद्देकी बात यहां यही है कि किसी भी मीमांसाका प्रमुख प्रयोजन विप्रतिषिद्ध कल्प, अर्थात्, तुल्यबलवाले दो विकल्पोंमें से एकतर कल्पके निराकरण द्वारा अन्यतर कल्पके अंगीकरणरूप होता है. परन्तु उत्पत्ति-उपपत्ति रूपी उभयविध विमर्शोंमें विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मके दो विरुद्धधर्मोंमेंसे एकतर धर्मका निरसन अन्ततो ब्रह्मके अंशतो-निरसनमें ही पर्यवसित होगा. वह तो कथमपि अनुमोदनीय नहीं हो सकता. अतएव केनोपनिषद्के **''आप्यायन्तु मम अंगानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि सर्वाणि. सर्वं ब्रह्मोपनिषदं मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद्. अनिराकरणम् अस्तु अनिराकरणं मे अस्तु''** (केनोप. १।१) वचनमें ब्रह्मजिज्ञासुकी ब्रह्मजिज्ञासाके उपकरणोंकी भी अनिराकरणीय

ब्रह्मात्मकताके प्रतिपादनद्वारा ब्रह्मकी स्वप्रकाशरूपता तथा सर्वरूपता का निगमनात्मक निर्णय मिलता है. उपनिषदोंकी तरह भागवतपुराणमें भी इसका विधान्तरसे यों प्रतिपादन मिलता है :

> **'' 'अस्ति' इति 'नास्ति' इति वस्तुनिष्ठयो: एकस्थयो: भिन्नविरुद्धधर्मयो:... समं परं हि अनुकूलं बृहत् तत्, यो अनुग्रहार्थम् भजतां पादमूलम् अनामरूपो भगवान् अनन्त: नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि: भेजे स मह्यं परम: प्रसीदतु''.**
>
> (भाग.पुरा. ६।४।३२-३३).

अर्थात् स्वरूपत: अनामरूप अनन्त भगवान्, प्राकट्यापरपर्याय जन्मद्वारा और लीलारूप कर्मद्वारा, नाम और रूप धारण करनेमें अपने कर्तृस्वातन्त्र्यको प्रयोगान्वित करते हैं. स्वातन्त्र्यविहीन सर्पभ्रमाधिष्ठानवत् केवल अधिष्ठान नहीं बने रहते. क्योंकि 'अनाम' 'अरूप' या 'अकर्म' जैसे अपोहक पद, अपोह्य नाम रूप या कर्म रूपी अर्थके अत्यन्ताभावके नहीं प्रत्युत तिरोहित होनेके अभिप्रायवश हैं. क्योंकि स्वयं भागवत और गीता में भगवान् यह स्वीकारते हैं :

> **[१]''वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि धातुषु, उद्धव!, कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये. देशकालादिभावानां वस्तूनां मम, सत्तम!, गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणां... क्वचिद् गुणोऽपि दोष: स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणो... मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते तु अहम् एतावान्**

सर्ववेदार्थः शब्दे आस्थाय मां भिदाम्''.

[2]**''जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः त्यक्त्वा देहं पुनः जन्म न एति माम् एति''.**

([1]भाग.पुरा. ११।२१।६-४२, [2]भग.गीता ४।९).

एतावता विधेयार्थ अभिधेयार्थ विकल्प्यार्थ की तरह अपोह्यार्थ भी भगवान् ही केवल हों तो, इन अर्थभेदोंमें प्रकट होते गुण या दोष भी भगवद्रूप ही होंगे. अत: जब स्वयंके जन्मकर्मोंको 'दिव्य' कह रहे हैं तब स्वेतरतया भासित विविध प्राणियोंके जन्म-कर्मोंमें दिव्यताका अभाव नहीं परन्तु तिरोधान ही अभिप्रेत मानना चाहिये. अन्यथा ब्राह्मिक एकता और अद्वितीयता का अस्वीकार अकाम-गले-पतित होगा. तत्त्वत: भगवान्के जन्म और कर्म दिव्य होनेके अभिधानद्वारा मायिक होनेका अपोहन है. अर्थात् स्वेतर प्राणियोंके जन्मकर्म अदिव्य=तिरोहितदिव्यताक होनेसे उनके ज्ञानसे अपुनर्भव सिद्ध नहीं हो पाता. वह तो दिव्य जन्मकर्मवश ही शक्य बनता है.

मूल रहस्य इस सन्दर्भमें यही ज्ञातव्य है कि अनेक श्रुतिवचनोंमें निरूपित ब्रह्मका अनाम-सर्वनाम होना, या अरूप-सर्वरूप होना, या अकाम-सर्वकाम या अणुसे अणुतर अथवा महान्से महत्तर होना ऐसी अनेकविध विरुद्धधर्माश्रयताओंको मौलिक नहीं मानना चाहिये. महाप्रभुके वेदान्तचिन्तनमें मौलिक विरुद्धधर्माश्रयता, यदि कुछ हो तो ब्रह्मके अखण्डाद्वैत विरु. सखण्डाद्वैत की है. इसे भगवद्गीतामें तत्त्वदृष्ट्या और ज्ञानदृष्ट्या उभयत: प्रतिपादित किया गया है : [त.दृ.]**''अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्''**, [ज्ञा.दृ.]**''सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु**

तद् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्'' (भग.गीता १३।१६ , १८।२०). यह मौलिक विरुद्धधर्माश्रयता है. अन्य सारी विरुद्धधर्माश्रयताओंके निरूपण इस विरुद्धधर्माश्रयताकी आनुषंगिक हैं. अतएव निबन्धमें महाप्रभुने इस बारेमें ऐसा प्रतिपादन किया है :

> **'' 'अखण्डाद्वैतभानेतु सर्वं ब्रह्मैव न अन्यथा ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः. भिन्नत्वं नैव युज्येत ब्रह्मोपादानतः क्वचिद् वाचारम्भणमात्रत्वाद् भेदः केन उपजायते?' द्वेधा हि वेदान्तानां बोधनप्रकारः 'प्रजायेय' इति वाक्यानुरोधाद् उच्चनीचत्वं भगवानेव प्राप्तइति विकल्पबुद्धावपि ब्रह्मावगतिः न विरुद्ध्यते. क्वचित् पुनः विकाराः वाचैव आरब्धाइति कार्यांशम् अनादृत्य वस्तुस्वरूपविचारेण आविर्भावतिरोभावौ पृथक्कृत्य 'सन्मात्रं जगद्' इति बोधयन्ति... यदा अखण्डाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति, तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धिः 'घटः-पटः'इति सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैव इति. नतु स्वरूपतोऽपि घटादिपदार्थोऽपि धर्मी बाध्यते... घटपटयोः अद्वैतं न उपपद्यतइति प्रत्यक्षानुरोधाद् द्वैतम् अंगीकर्तव्यम् इति आशंक्य आह... कटककुण्डलयोः भेदो न सर्वथा भवति, उपादानस्य एकत्वाद्. धर्मरूपत्वे एकस्यैव उभयं धर्मः तयोश्च उपादानाभेदात्... अतः प्रमाणानुरोधाद् वाचारम्भणमात्रत्वं पदार्थानाम् अवगत्य सर्वत्र ब्रह्मभावावगतौ केन भेदः उपजायते?''.**
>
> (त.दी.नि.प्र. १।९१-९२).

अत: उपपत्तिपक्षके मूलमें अखण्डाद्वैती विभाषा काम करती है और उत्पत्तिपक्षके मूलमें सखण्डाद्वैती विभाषा.

यों आठवें अध्यायमें जो स्पष्ट किया तदनुसार नवम अध्यायमें उपपत्तिका प्रतिपादन अभीष्ट है. यहां एक स्पष्टता यह अतीव महत्त्वपूर्ण है कि उपपत्तिपक्ष प्रमुख है जबकि उत्पत्तिपक्ष तो सिद्धान्तैकदेशीका पक्ष है, जो आपत्तिजनक नहीं है. क्योंकि बोधसौकर्यार्थ उत्पत्तिपक्षका आश्रयण कर ब्रह्मस्वरूपके निरूपणमें अखण्डब्रह्मवादके स्थानपर जगत् और जगत्कर्ता रूप होनेके, ऐच्छिक द्वैतका सहारा लेना पड़ता है. भगवान् तो सर्वभवनसमर्थ और सत्यसंकल्प होनेके कारण अपने कार्य-कारणात्मक अंशांशिभावात्मक तथा ईशितव्य-ईश्वरात्मक रूपभेदोंका निर्वाह परमार्थत: कर सकते ही हैं. शांकर वेदान्तके दृष्टिकोण और वाल्लभ वेदान्तके दृष्टिकोणमें बस अन्तर यही है कि एक अन्योन्याश्रित होनेके कारण दोनोंको अज्ञानकल्पित मानता है. दूसरा, जबकि, इस अन्योन्याश्रित होनेके दोषका परिहार यह कह कर देना चाहेगा कि परमात्माके ऐश्वर्यादि गुणधर्म स्वत:सिद्ध होनेके कारण जीवात्माके ईशितव्य होनेके गुणधर्मके कारकहेतु बनते हैं. इसी तरह जीवात्माके ईशितव्य होनेके गुणधर्मादि परमात्माके गुणधर्मोंके ज्ञापकहेतु ही होते हैं. अत: अन्योन्याश्रय दोषापादन सर्वथा अप्रसक्त ही है. निष्कर्षरूपेण ब्रह्मके स्वरूपनिरूपणमें ब्रह्मकी अखण्ड एकता-अद्वितीयता ही लीलानिरूपणार्थ भी प्रमुख तात्पर्यका विषय है, नाम-रूप-कर्मके खण्डोंमें नित्यविभक्त ब्रह्मता नहीं. क्योंकि वह तो प्रत्यक्षसिद्ध होनेके कारण श्रुतिप्रतिपादनसे पहले ही अवगत हो जाती है. प्रामाण्य यहां अज्ञातज्ञापनवश माना गया है. अत: जड़जीवको उद्देश्य बना कर उनकी जो उत्पत्ति-नाश; या, देहमें जीवात्माके आगमन-निर्गमनात्मक जन्म-मरण का निरूपण है, वह

ब्रह्मके अभिन्ननिमित्तोपादान होनेके कारण ब्रह्मात्मकताके बोधनार्थ है. अतएव भगवान्के अवतीर्णरूपोंकी दिव्यताका व्याख्यान भी प्राकट्य और अप्राकट्य के प्रभेदवश ही माना गया है.

जो उत्तमाधिकारी होते हैं वे विविधतामें एकतापर ध्यान केन्द्रित कर पाते हैं. मध्यमाधिकारी उस अभिप्रेततर ब्राह्मिकी एकतामें केवल बोधनार्थ प्रकट अंशतो अभिप्रेत विविधतापर ध्यान देते हैं. कनिष्ठाधिकारीको, जबकि, शास्त्राभिप्रेत अखण्ड एकताके बजाय अनभिप्रेत विविधता ही केवल गृहीत हो पाती है. अतएव कहा गया है :

[१]ततो अन्यथा किञ्चन यद् विवक्षतः पृथग्दृशः तत्कृतरूपनामभिः न कर्हिचित् क्वापि च दुःस्थिता मतिः लभेत वाताहतनौरिव आस्पदम्.''

[२]''इदं हि विश्वं भगवानिव इतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः...''

[३]''अमूनि भगवद्रूपे मया ते हि अनुवर्णिते उभेअपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः. स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृङ् नामरूप-क्रियाः धत्ते सकर्मा अकर्मकः परः... इत्थम्भावेन कथितो, भगवान्, भगवत्तमाः!, नेत्थम्भावेन हि परं द्रष्टुम् अर्हन्ति सूरयः. नास्य कर्माणि जन्मादौ परस्य अनुविधीयते, कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं मायया आरोपितं हि तत्''.

([१]भाग.पुरा. १।५।१४, [२]भाग.पुरा. १।५।२०, [३]२।१०।३५-४५).

[1]यहां सुबोधिनीकार कहते हैं : शास्त्रोंका अभिधेय अर्थ तो ब्रह्मके अलावा किसी अन्य वस्तुमें पर्यवसित नहीं हो पाता... भगवान् तो अनन्त गुणोंवाले होनेपर भी श्रुत्यादि शास्त्रीय पदोंके नियत अर्थ होते हैं... अतः वैसे तो साराका सारा जागतिक क्रियाकलाप भगवच्चरित्र ही होता है; फिरभी, हमारे अन्यथा अभिप्रायवश वचनोंका भगवान्से अतिरिक्त अर्थ निकालनेपर भगवद्धर्म हमें स्फुरित हो नहीं पाते. सो ऐसे शाब्दबोधसे पैदा होती मति भी सागरमें तूफानके थपड़े खाती नौकाकी तरह दिग्भ्रमित हो जाती है.

[2]भगवान्के स्वरूप और चरित्र दोनों ही निरूपणीय हैं परन्तु भेददृष्टि रख कर नहीं. क्योंकि भेददृष्टि रखनेपर तो अनात्मभाव चरित्रमें भी भासित होने लगता है. अतः कृतार्थता तो सर्वत्र भगवद्दृष्टिके कारण ही शक्य होती है. अतः उत्तम मध्यम और आदिम के प्रभेदवश विश्वका तीन तरहसे भान होता है : [क]यह विश्व स्वयं भगवान् है जैसाकि ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''श्रुतिमें कहा गया. यह [ख]विश्व भगवान्के सदृश समादरणीय है पर भजनीय तो भगवद्रूप ही होता है. [ग]उत्पत्ति-स्थिति-नाशवान् होनेके कारण यह विश्व और अनाद्यनन्त होनेके कारण भगवान् दोनों ही एकदूसरेसे भिन्न हैं, हमारे क्षुद्र प्रत्यक्षसे पनपी मति तो ऐसी होगी ही.

[3]भगवान् अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाको करण बना कर अपने-आपको अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंके कर्ता बनाते हैं. फिरभी ज्ञानी पुरुषोंकी तो मूलस्वरूपमें ही आसक्ति बलवती होती है. अब यदि ऐसा ही हो तो फिर वाणीद्वारा भगवान्का ऐसा प्रतिपादन क्यों करना चाहिये? इस शंकाका समाधान यह है कि भगवान् ही ब्रह्म=वेदवाणी रूप धारण कर वाच्यवाचकभावापन्न हुवे हैं. अकर्मक होनेसे वागादि

व्यापारसे अतीत होनेपर भी नाम-रूप-क्रियाओंको धारण कर सकर्मक बने हैं. एतावता नाम-रूप-क्रियाधारक भगवान्‌को भूल कर भगवद्धारित नामरूपकर्मोंमें सम्मोहित नहीं हो जाना चाहिये. एतदर्थ जो भगवत्तम होते हैं वे जिस तरहके भगवान् प्रतिपादित हुवे हैं, उसी तरह भगवान्‌को देखना नहीं चाहते. क्योंकि भगवल्लीलारूपा नामादिरूपा सृष्टिको प्रकट करनेकी क्रियाका कर्म *''परसमवेतक्रियाफलशाली''* प्रतीत होता है; और, भगवान्‌से इतर यथापरिभाषित कर्म तो हो ही नहीं सकता. अत: कर्मका कर्तृत्व भी भगवान्‌में अप्रसक्त ही रहता है. वैसा कर्तृत्व तो परब्रह्ममें व्यामोहिका मायाके वश ही भासित होता होनेसे निषेधार्थ ही होता है. अस्तु.

उपपत्तिरीतिसे ब्रह्माको दिया गया भागवतोपदेश :

''ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितं सरहस्यं तदंगं च गृहाण गदितं मया. यावान् अहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मक: तथैव तत्त्वविज्ञानम् अस्तु ते मदनुग्रहात् :

[१]अहमेव आसमेव अग्रे न अन्यत् यत् सदसत्परं पश्चाद् अहं यद् एतत् च यो अवशिष्येत सो अस्मि अहम्.

[२]ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि, तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तम:.

[३]यथा महान्ति भूतानि भूतेषु उच्चावचेषु अनुप्रविष्टानि अप्रविष्टानि तथा तेषु न तेषु अहम्.

[४]एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुना आत्मनो अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा.

एतद् मतम् मम आतिष्ठ परमेण समाधिना
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्''
(भाग.पुरा. २।९।३०-३६).

प्रस्तुत कारिकाओंका सुबोधिन्यनुसारी भावार्थ :

जीवात्माका पाञ्चभौतिक देहधारण और परमात्माके ब्रह्माण्डविग्रह-धारण के प्रकारमें बहुत भेद है. सच्चिदानन्द ब्रह्मके क्षुद्र चिदंश होनेके कारण जीवात्मा क्षुद्र अहन्ता-ममतासे ग्रस्त करनेवाली व्यामोहिका मायाके वश पांचभौतिक जगत्में देहधारण करता है. परमात्मा, जबकि, अपने अपरिच्छिन्न महिमारूप अक्षरब्रह्ममें अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा अकुण्ठित इच्छाके वश ब्रह्माण्डविग्रहवान् लीलया बनते हैं. बननेसे पहले भी स्वयं उनके स्वरूपमें अनन्त नाम-रूप-कर्म अव्याकृत तो थे ही. ब्रह्माको सृष्टिनिर्माणकी आज्ञाप्रदानके बाद ब्रह्मामें प्रकट हुयी सिसृक्षाकी सन्तुष्टिके लिये भगवान्ने अपने स्वरूपमें ब्रह्माको ऐसे दर्शन भी कराये ही थे.

उसके बाद ब्रह्माने चार वर मांगे : [१]भगवान्के परावर रूपोंका ज्ञान, [२]भगवत्क्रीड़ाके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान, [३]तदुयोगी कुछ शिक्षा और [४]सृष्टिकर्ता बननेपर कहीं गर्व न पनपे. अत: भगवान् कहते हैं कि विज्ञानसमन्वित परमगुह्य ज्ञान यह है कि स्वधामरूप अक्षरब्रह्मात्मना निराकार होनेपर भी धामी पुरुषोत्तम होनेके रूपमें भगवान् नित्य दिव्याकार भी होते हैं. अत: स्वयं ब्रह्मा भी भगवान्के गुणावताररूप हैं. अतएव प्रमाणत: और परिमाणत: भगवान् क्या-कैसे हैं; और, भगवान्के रूप गुण और कर्म क्या-कैसे हैं इसका रहस्य भगवत्कृपासे ही जाना जा सकता है :

[१]भगवान्ने जैसे जगत्का निर्माण चाहा वैसा जगत् प्रकट

कर पानेकी शिक्षा देते हुवे भगवान् कहते हैं कि मैं स्वयं ही अपने सत् चिद् और आनन्द के अंशोंसे जगद्रूप होना चाहता हुं. अत: ब्रह्मा स्वयं अपने भगवद्गुणावतार होनेके आत्मभानके साथ भगवदात्मक सृष्टि प्रकट करते हों तो गर्वका कोई प्रसंग ही उपस्थित नहीं हो पायेगा. भगवान् जगद्रूप कैसे बन पायेंगे तो श्रुतिनिर्दिष्ट रीतिसे ब्रह्मकी *'तज्जलान्'* के रूपमें उपासना करनेपर *''सर्वं खलु इदं (निखिलनामरूपकर्मात्मकं जगत्)* ब्रह्म'' का परिज्ञान सुलभ बन जाता है. क्योंकि पहले तो भगवान् ही थे और कथमपि नहीं थे ऐसा तो सम्भव नहीं था. भगवान्से अतिरिक्त सत्(=स्थूल) या असत्(=सूक्ष्म) और सदसत्से पर 'तम:'पदोक्त भी कुछ नहीं था. दिव्य तमोरूपा योगनिद्रा भी भगवान्की एक अवस्थाविशेष ही थी. स्वान्त:स्थ अनन्त नामरूपकर्मोंके व्याकरण अर्थात् प्रादुर्भाव के बाद भी तत्तद्रूपेण भगवान् ही अवस्थित हैं. अन्तमें इनके स्वयंमें उपसंहृत हो जानेपर भी पुन: भगवान् ही बचे रहेंगे. यह श्रौत 'तज्जलान्' हेतुकी व्याख्योपम शिक्षा है.

२'तज्जलान्' हेतुकी ऐसी विवेचनाके बाद प्रमेय तो ''सब कुछ(प्रमाण प्रमेय साधन फल) परमात्मा है'' ऐसा निर्धारित यदि हो जाता हो तो ज्ञानके प्रमा और भ्रम के प्रभेद करनेकी कोई उपयोगिता रह नहीं जायेगी? ऐसी आशंकाका समाधान सर्वरूप प्रमेयके बारेमें प्रवृत्तिसंकोचवश गुणदोषमूलक भ्रम-प्रमाका प्रभेद भी उपपन्न हो सकता है. क्योंकि भगवान्की अनेकविध लीलाके अन्तर्गत स्वयंके सदंश चिदंश या आनन्दांश को कार्यान्वित किये बिना केवल अपनी माया से भी कुछ प्रकट करनेकी एक लीलाका निरूपण यहां अभिप्रेत है. सब कुछ भगवत्स्वरूप है परन्तु किसी

भी वस्तुमें भगवत्स्वरूपसे जो सर्वथा विपरीत गुणधर्मक्रियाओंका भान होता है, वह भगवान्की व्यामोहिका मायाके कारण होता है. व्यामोहिका मायासे व्यामोहित हमारी बुद्धि किसी पदार्थको अन्यथा मान लेती है. एतावता पदार्थ अन्यथा नहीं हो जाते. यह माया दो तरहके व्यामोहन करती है : [१]जो विद्यमान हो उसे ढांप देती है और [२]जो जहां विद्यमान न हो उसका वहां देश-कालके व्यत्याससे प्रकाशन कर देती है. अत: अनुभूयमान अर्थके याथात्म्यके ज्ञानके लिये प्रमाणकी उपयोगिता व्यवहारमें अपरिहार्य रहती है. प्रमाणभूत वेद जब, "सब कुछ ब्रह्म है" ऐसा स्पष्ट विधान करता हो तब; और, ब्रह्मज्ञानियोंकी अनुभूति भी उसका साक्ष्य देती हो तब, जो ब्रह्मको जान ही न पाये हों उनकी भ्रान्तिपूर्ण मतिकी विश्वसनीयता कितनी? उदाहरणतया चक्कर खाते हुवे पुरुषको चारों ओर सब कुछ चक्कर खाता दिखता हो और जो स्थिर खड़ा हो उसे वहां स्थिरता दीख रही हो तो दोनोंमें से किसकी अनुभूतिको विश्वसनीय मानना? अत: अनुभूयमान विषय (The thing as it is) वस्तुत: अनुभूतिबाह्य होता है. ऐसे ही अनूभूयमान विषयता (The thing as it is understood) वस्तु जैसी समझमें आती हो उसे भी स्वीकारना आवश्यक है. अन्यथा स्थिर पदार्थोंको चक्कर खाते दिखाती अनुभूति निर्विषय हो जायेगी. मतिमूलक अनूभूतिविषयता मायिक हो सकती है. एतावता इन्द्रियार्थसंयोगमूलक अनुभूयमान विषयको मायिक कैसे माना जा सकता है? वह तो ब्रह्मद्वारा लिया हुवा रूप है. अत: भगवन्मायाके कारण भगवान्का विषयतारूप भी प्रकट होता है.

सर्वांशोंमें तो विषयताको भी नि:स्वभाव माना नहीं जा सकता. क्योंकि न तो भगवच्छक्तिरूपा माया नि:स्वभाव हो सकती

है और न मायामोहित बुद्धि भी. भ्रमात्मिका बुद्धि तो सच्चिदानन्द ब्रह्मके चिदंशके साथ जुड़ी सदंशरूपा बुद्धिका चिद्‌विलास है. उसे मायिक कैसे माना जा सकता है? फिर भी जो वस्तु जिस देशकालमें अविद्यमान हो उस वस्तुका उस देशकालमें प्रकाशन मायाकरणक हो सकता है. पर न तो चक्षु आदि इन्द्रियां और न उनसे ग्राह्य विषय अपने नियत स्वभाव छोड़ कर अनियत स्वभाव प्रकट करने समर्थ हो सकते हैं. अत: जो गड़बड़ हो रही है, वह तो व्यामोहिका मायासे व्यामुग्ध मतिकी ही हो सकती है. जैसे एक चन्द्रमाके बजाय दो चन्द्रमा दिखने या दर्पणके भीतर सम्मुख अवस्थित वस्तु या व्यक्ति का आभास अथवा जैसे नयनोंको अपेक्षित प्रकाशके न होनेपर नीलवर्णी अन्धकारका दिखना. अत: एक विषयता जगत्‌की ब्रह्मताको ढांप देनेवाली आच्छादिका होती है और दूसरी ब्रह्मके गुणधर्मक्रियाओंसे अतिविपरीत गुणधर्मक्रियाओंकी भासिका अन्यथाप्रतीतिहेतुभूता विषयता होती है. ऐसी द्विविध विषयताओंपर नियन्त्रण पानेको प्रमाणोंकी उपयोगिता रहती ही है.

[३]इस तरह श्रुत्यादिशास्त्रैकगम्य प्रमेयस्वरूप और लोकव्यवहारोपयोगी प्रमाणोंकी उपयोगिता के निरूपणके बाद उस प्रमेयके सृष्टिमें प्रमाणविषय बननेकी रीतिके निरूपणतया यह जान लेना भी आवश्यक है कि वेदोंमें दो-दो तरहसे पदार्थोंका निरूपण मिलता है : साकारतया-निराकारतया सावयवतया-निरवयवतया पूर्णतया-परिच्छिन्नतया इत्यादि-इत्यादि. ये दोनों प्रकार हमारी प्रमानुभूतिके विषय बन जायें ऐसी तरह शास्त्रव्याख्यान करना चाहिये. अन्यथा किसी एकतर पक्षको ब्रह्मरूप विषयका अवबोधक माननेके बजाय मायिक विषयताका अवबोधक स्वीकारना पड़ेगा. यह अन्तमें शास्त्रोंके

अंशत: अप्रमाण होनेका हेतु बन जायेगा. वह न हो एतदर्थ ब्राह्मिक विषयकी उभयविधता सिद्ध होनी आवश्यक है : जितने भी आकाशादि पृथिव्यन्त महाभूत हैं, वे घटादि छोटे-बड़े स्थूल-सूक्ष्म ऋजु-वक्र आकारोंवाले विषयोंमें उपादानकारणतया प्रविष्ट रहते ही हैं. बावजूद इसके अपने बाह्य अप्रविष्ट रूपोंसे अनुप्रविष्ट होते भी पाये जाते हैं. इसी तरह भगवान् भी प्रत्येक कार्य या अंश में उपादानतया या अंशितया प्रविष्ट होनेपर भी उन कार्यों और अंशों के बाहर अकारण-अनंशिरूपेण विद्यमान होनेसे अप्रविष्ट और अनुप्रविष्ट होते हैं. अपने अपरिच्छिन्न विभु स्वरूपसे ही भगवान् अनुप्रविष्ट भी होते हैं. यही तथ्य तो **''तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्''** (तैत्ति.उप. २।६) श्रुतिमें दरसाया गया है. अत: घटके उदाहरणमें देखा जा सकता है कि आविर्भावसे पूर्व घट अपनी कारणावस्था मृत्तिकाके रूपमें सत् होता है. क्योंकि मृत्तिका न होनेपर मार्दव घट आविर्भूत नहीं हो पाता. इसी तरह अपनी कारणावस्थामें घट अनाविर्भूत सत्तया विद्यमान न हो तो पट वहां जैसे आविर्भूत नहीं हो पाता वैसे ही घट भी नहीं हो पायेगा. अत: कार्यका भी सत् होना आवश्यक है. जिस सदंशमें वह घट आविर्भूत होता है वह सदंश उस घटका आधार भी बनता है. उस सत्की सत्ता उस घटमें अभिव्यापकतया भी अनुप्रविष्ट होनेसे आधेय भी बनती है. यों वह सत्ता देश-काल-स्वरूपत: अपरिच्छिन्न होनेसे घटसे व्यतिरिक्त भी होती है. अत: घट और सत्ता के बीच अन्वयात्मक सम्बन्ध पांच तरहसे अनुभूत होता है.

इसी तरह एक घट दूसरे घटसे जैसे व्यतिरिक्त अनुभूत होता है ऐसे ही पटादिसे भी व्यतिरिक्त अनुभूत होता है. और घटान्तरके या पटादि के कारणभूत सदंशोंसे भी व्यतिरिक्त अनुभूत

होता है. यों त्रिधा व्यतिरिक्त भी अनुभूत होता है. ऐसा होनेके साथ-साथ अपने आविर्भाव-तिरोभावोंसे भी घट व्यतिरिक्त अनुभूत होता है.

यों पञ्चधा अन्वय और पञ्चधा व्यतिरेक वस्तुमात्रके अनुभूतिके विषय बनते हैं. भगवान् भी ठीक इसी तरह अपने सभी कार्यकलाप और सभी अंशकलापोंके साथ दशविध(५ अन्वय + ५ व्यतिरेक = १० विधाओंसे) बहुभवनात्मिका लीलाओंको प्रकट करते हैं.

[४]यों स्वयं अपनी आत्माके लिये जो जिज्ञासा प्रकट की सो तदनुरूप निरूपण होना जरूरी था सो किया गया. अत: आत्माके प्रमेय बनने योग्य ज्ञान का निरूपण हुवा और साधनतया वैराग्यका भी निरूपण किया गया. रही बात विषयकी तो वह तो भगवान्‌की दशविध लीला हैं. बस इतना ही आत्माके लिये जिज्ञास्य है. इसकी उपपत्ति भी दरसायी गयी कि सर्वत्र भगवान् अपने प्रमेय स्वरूपत: भी जैसे दशविध लीलाकर्ता होते हैं वैसे ही लोकमें प्रकट की गयी लीलाके कर्ताके रूपमें विषय भी दशधा बनते हैं. अत: सर्गादि दशविध लीलाओंमें भी पांच तरहसे अन्वित भी रहते हैं और अन्वित रहनेपर भी पांच तरहसे व्यतिरिक्त भी रहते ही हैं. यह **''पुरुषएव इदं सर्वम्''**-**''वितस्तिम् अधितिष्ठति''** (ऋक्संहि. १०।९०।२,भाग.पुरा. २।६।१५) दोनों वचनोंकी एकवाक्यताके आधारपर अपनी सभी लीलाओंके साथ अन्वय-व्यतिरेकात्मक सम्बन्ध भगवान्‌का निश्चप्रच है. इसके आधारपर जो शिक्षा मिलती है वह यही कि जगत्‌को ब्रह्मरूप जानना चाहिये परन्तु भगवान्‌का जगत्‌से व्यतिरिक्त भी स्वरूप होता है; अत:, आसक्ति तो जगत्‌के बजाय भगवान्‌में ही निभानी चाहिये. जगत्‌के प्रत्येक पदार्थमें भगवान्,

क्योंकि, अपनी दशविध लीलाओंके साथ विद्यमान हैं, अत: देशकालवस्तुस्वरूप होनेपर भी प्रत्येक देशकालवस्तुसे व्यतिरिक्त भी होते ही हैं.

इस रहस्यको जान लेनेपर कहीं भी कभी भी कोई भगवान्की व्यामोहिका मायासे व्यामुग्ध नहीं हो सकता. यह मत ब्रह्मानुभूतिके अनुकूल तथा भगवान्की व्यामोहिका मायामोहित मतिके प्रतिकूल होता है.

उपपत्तिरीतिसे भागवतोपदेशका उत्पत्तिरीतिसे दशविधलीलामें निगमन :

दशमाध्यायका आरम्भ करते हुवे महाप्रभु कहते हैं :

''एवं पूर्वाध्याये उपदेशे पदार्थचतुष्टयं निरूप्य तृतीयव्यतिरिक्तानां पक्षाणां श्रुत्यादिषु प्रसिद्धत्वात् तद्विस्तारम् अनुक्त्वा एकस्मिन् पदार्थे दश लीला अलौकिकाइति ताः स्वरूपतो लक्षणतः च निरूपयति. यद्यपि ते लौकिकाः दश पदार्थाः बहिर्मुखतया पुराणान्तरेषु सिद्धाः तथापि अत्र भागवते ते न भवन्ति किन्तु एते इति आह''.

(भाग.सुबो. २।१०।१).

अर्थात् विगत अध्यायमें दो श्लोकोंद्वारा भगवान् नारायणने ब्रह्माको स्वस्वरूपके उद्देशाभिधानरूप उपदेश दिया. उसके बाद एक श्लोकसे अपनी मायाद्वारा प्रदर्शित अपने दो निजस्वरूपाच्छादक रूप और स्वरूपान्यथाप्रतिभास रूप दो रूपोंका अपोहनरूप उपदेश दिया. साथ ही साथ चौथे श्लोकद्वारा ब्रह्माको कर्तव्यविधानरूप उपदेश दिया. अत: स्वरूपत: और लक्षणत: तो सब कुछ संक्षेपमें

समझा ही दिया कि भगवान् सर्वत्र सर्वदा सर्ववस्तुओंमें अपना अन्वय-व्यतिरेक निभाते हैं.

अनन्तनामरूपकर्मवान् जगत्में परमात्माका अन्वयव्यतिरेकसे विद्यमान होना *"स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि"*त्वरूप मिथ्यात्व (द्रष्ट.अद्वै.सि.मिथ्यात्व) के रूपमें निहारा नहीं जा सकता. क्योंकि जगत् और जगदीश दोनोंका ही एकदूजेमें अन्वय-व्यतिरेकरूप सम्बन्ध भगवद्गीतामें यदि **"मत्स्थानि सर्वभूतानि... नच मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगम् ऐश्वरम्"**(भग.गीता ९।४-५) कह का दिखाया गया है. इतना ही केवल निरूपित होता तो भूतोंका अपने अधिकरणमें रहनेवाले अभावका प्रतियोगी होना सोचा जा सकता था. भगवद्गीतामें ही, परन्तु, भगवान् यह भी कहते हैं कि **"सर्वभूतस्थितं यो मां"**,**"भूतभृद् नच भूतस्थो मम आत्मा"** (भग.गीता ६।२९, ९।५). तब तो भूतरूप अपने अधिकरणमें रहे अपने अभावका स्वयंको भी भगवान् प्रतियोगी बता रहे हैं. अत: उभयत्र दोष और तत्परिहार समान होनेसे भगवान्के सर्वत्र अन्वय-व्यतिरेकवान् होनेकी कथा मिथ्या मानी नहीं जा सकती. अन्यथा स्वयं ब्रह्मका भी मिथ्यात्व गलेपतित हो जायेगा. अस्तु.

ब्रह्माने अपने पुत्र देवर्षि नारदको नारायणोक्त चतु:श्लोकी-भागवत, जो भगवान्के उल्लिखित दशविध स्वरूपकी व्याख्याके रूपमें उपदिष्ट थी, उसे दशविध लीलाओंकी प्रतिपादक भागवतके रूपमें सुनायी. इसे ही देवर्षिने महर्षि बादरायण व्यासको सुनायी. इनसे श्रीशुकदेवने सुन कर महाराज परीक्षित्को सुनायी, ऐसा नवमाध्यायके उपसंहारमें कहा गया है. वह दश लक्षण इस तरह प्रतिपादित हुवे हैं :

"अत्र [१]सर्गो [२]विसर्ग: च [३]स्थानं [४]पोषणम्

[५]ऊतय: [६-७]मन्वन्तरेशानुकथा [८]निरोधो [९]मुक्ति: [१०]आश्रय:. दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानाम् इह लक्षणं वर्णयन्ति महात्मान: श्रुतेन अर्थेन च अञ्जसा.

[१]भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म 'सर्ग:'उदाहृत: [२]ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्ग: पौरुष: स्मृत: [३]स्थिति: वैकुण्ठविजय: [४]पोषणं तदनुग्रह: [५]मन्वन्तराणि सद्धर्म: [६]ऊतय: कर्मवासना: [७]अवतारानुचरितं हरे: च अस्य अनुवर्तिनां पुंसाम् ईशकथा प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिता: [८]निरोधो अस्य अनुशयनम् आत्मन: सह शक्तिभि: [९]मुक्ति: हित्वा अन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति: [१०]आभास: च निरोध: च यत: च अध्यवसीयते स आश्रय: परं ब्रह्म परमात्मा इति शब्द्यते. यो आध्यात्मिको अयं पुरुष: सो असौएव आधिदैविक: य: तत्र उभयविच्छेद: स: स्मृतो हि आधिभौतिक:. एकम् एकतराभावाद् यदा न उपलभामहे त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रय:''.

(भाग.पुरा. २।१०।१-९).

इन कारिकाओंमें प्राथमिकतया उत्पत्तिरूप अभिप्रेत अर्थको संकलित करते हुवे महाप्रभु कहते हैं :

''तत्र अशरीरस्य विष्णो: पुरुषशरीरस्वीकार: सर्ग:. पुरुषाद् ब्रह्मादीनाम् उत्पत्ति: विसर्ग:. उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम्. स्थितानाम्

अभिवृद्धिः पोषणम्. पुष्टानाम् आचारः ऊतिः. तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम्. तत्रापि विष्णुभक्तिः ईशानुकथा. भक्तानां आसक्तिविषयरूप**प्रपञ्चाभावो निरोधः. निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः. मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेण अवस्थानम् आश्रयः इति."**

(भाग.सुबो. २।१०।१).

आश्रय तत्त्वके व्याख्यानमें, अतएव, महाप्रभुने यह पृथक्करण समझाया है कि पदार्थमात्रमें भगवान्की दशविधा लीलात्मिका विद्यमानता रहती है. अत: प्रत्येक पदार्थमें ग्राह्य तो आश्रयरूप भगवान् ही होते हैं. शेष नवविध लीला तो मूलरूपसे अतिरिक्त नाम-रूप-कर्मात्मक पदार्थोंमें विद्यमान उस आश्रयरूप भगवान्के परिज्ञानार्थ ही होती हैं. अत: प्रमेय प्रमाण और अनुग्राहक के अन्योन्यमेलनसे इनका नवविध प्रकारोंमें पर्यवसान होता है. अत: सर्गादि तीन (सर्ग विसर्ग और स्थान) लीलाओंमें कारणके प्रधान होनेसे तत्प्रतिपाद्य वस्तुको प्रमेय माना गया है. इस ऐसे प्रमेयका सामान्यतो ज्ञान पोषण ऊति और मन्वन्तर रूपी तीन प्रमाणरूप लीलाविलाससे होता है. बादमें प्रमाणत: आश्रयतत्त्वके परिज्ञात हो जानेपर ईशानुकथा अर्थात् भक्त-भगवान्-भक्तिकी लीला, प्रपञ्चविस्मृति-पूर्विका भगवदासक्तिसम्पादिका लीला; और, सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य और सारूप्य सायुज्यादि प्रकारोंवाली मुक्तिलीला अनुग्राहिका बन जाती हैं. ये तीनों प्रमेय (सर्ग-विसर्ग-स्थान) प्रमाण (पोषण-ऊति-मन्वन्तर) और अनुग्रह (ईशानुकथा-निरोध-मुक्ति) रूपा भगवल्लीला ब्राह्मिक पहलुसे देखनेपर उत्पत्ति-स्थिति-लयरूपा होती हैं. इनसे पञ्चविध आश्रयरूपा लीलाका विशेषतो अपरोक्षानुभूतिरूप ज्ञान होता होनेसे प्रमाणानुग्राहिका लीलाके रूपमें स्वीकारा जाता है.

इस उत्पत्तिक्रमवाली लीलाकी प्रतिपादनशैलीमें अन्वय-व्यतिरेकवाले भगवान्‌के नित्यसिद्ध दशविध लीलास्वरूपको कैसे निहारना इसकी सूक्ष्मेक्षिका प्रदान करते हुवे महाप्रभु कहते हैं :

"प्रत्येकपदार्थे [1]*सर्गः* कारणत्वेन तत्र भगवत्स्थितिः. [2]*विसर्गः* कार्यत्वेन पूर्वमेव तत्र विद्यमानत्वं, पटे तन्तुषु सिद्धे हि तन्तवः पटे प्रतीयन्ते. [3]*स्थानं* सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपेण मूलरूपेण तत्तन्मर्यादारूपम्. [4]*पुष्टिः* कार्यसिद्ध्यर्थं सर्वसमर्थस्य तत्र प्रवेशः. ब्रह्मज्ञानिनः प्रतीतिसिद्ध्यर्थं तत्र तादृग्लीलाप्रदर्शनम् [5]*ऊतिः*. एवं पञ्चधा भगवदन्वयेन सर्ववस्तुषु भगवल्लीला.

व्यतिरेकेणापि पञ्चधा : तत्र कारणाद् भिन्नरूपेण घटरूपभिन्नभावेन सतां धर्महेतुः प्रापञ्चिकोऽपि विधिविषयो भवतीति स्वरूपाद् व्यतिरिक्तो [1]*मन्वन्तराणि*. सएव पुनः भक्तिविषयत्वेन भगवत्सेवैकरूपेण धर्मेण लौकिकवैदिकव्यतिरिक्तताम् आपद्यतइति [2]*ईशानुकथारूपो* भवति. सएव पुनः लौकिकवैदिकभक्तानां स्वरूपेच्छूनां परित्यागरूपेण पूर्वोक्तान् निरुणद्धीति [3]*निरोधरूपो* भवति. तादृशोऽपि सन् आत्मानं परित्याजयित्वा तानपि तादृशस्वस्मात् परित्याजनरूपो भवतीति [4]*मुक्तिरूपो* भवति, घटादिषु वा भगवतो असंगोदासीनरूपता मुक्तिः. [5]*आश्रयस्तु* नवप्रकाराणामपि स्वरूपाणाम् आधारो भवतीति.

एतदज्ञाने सर्वाण्येव शास्त्राणि व्याकुलानि भवन्ति. अतो भागवतं सर्वोद्धारकं सर्वनिर्वाहकम्."
(भाग.सुबो. २।१०।१).

महाप्रभुके अनुसार इस दशविधलीलाको न जाननेपर सभी शास्त्र व्याकुल हो जाते हैं. यहां एक विशेषतो अवधेय सैद्धान्तिक रहस्य यह और है कि प्राधान्येन श्रीकृष्णलीलाप्रतिपादक दशमस्कन्धमें वर्णित कृष्णलीला भूतलपर अवतीर्णरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी स्वयं भक्तोंके बीच साधनभावसे स्वयं निरुद्ध हो कर फलात्मिका प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका स्व-अनन्यासक्ति भक्तोंमें प्रकट करनेवाली लीला मानी गयी है. यह अक्षरब्रह्मरूप व्यापी वैकुण्ठधाममें नित्यलीलाविहारी श्रीकृष्णकी, जिसे भगवान्ने सृष्टिनिर्माणविधिके प्रारूपतया ब्रह्माको दरसायी थी, उस लीलासे किसी अंशमें आधारविभेदरूपेण पृथक् भी होती है. अत: भागवतके दशमस्कन्धका प्रतिपाद्यविषय भूतलपर अवतीर्ण कृष्णलीला है. यह लीला तो द्वादशस्कन्धीय अक्षरब्रह्मरूपा आश्रयभावापत्तिके निरूपणार्थ लक्षणतया मानी जा सकती है; परन्तु , समग्र द्वादशस्कन्धवाले श्रीभागवतमहापुराणरूप शास्त्रके प्रतिपाद्यविषयको समझनेके लिये तो नवलक्षणोंसे विशोधित लक्ष्यरूप आश्रय भी लक्षणोपम बन जाता है. जैसाकि महाप्रभुद्वारा विरचित भागवतार्थनिबन्ध और सुबोधिनीकारिकाओंके अवलोकन करनेपर स्पष्ट होता है :

[१]"'**श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुम:. शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये वाक्ये पदे अक्षरे एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते. आनन्दस्य हरे: लीला**

शास्त्रार्थो दशधा हि सा'. 'कृष्ण'शब्देन परं वस्तु उच्यते. तदेव कदाचित् परमसौन्दर्यं स्वगतं प्रकटीकरिष्यामि इति साकारं प्रादुर्भूतं सत् श्रीकृष्णः. अनेन विभूतित्वं निवारितम्. फलरूपताम् आह 'परमानन्दम्' इति, तस्य साधनं श्रवणमिति तद्विषयरूपताम् आह 'दशलीलायुतम्' इति. अवतारप्रयोजनम् आह 'सर्वभक्तसमुद्धारे' इति... भागवतार्थः तादृशो वक्तव्यो यो द्वादशस्कन्धार्थेषु अनुस्यूतो भवति... आनन्दरूपस्य लीलापि आनन्दरूपा...''

[२]''दशलीलानिरूप्यो अयं पुरुषो द्वादशात्मको द्वि(पुष्टि-मर्यादा)गुणो भगवान् अत्र प्रादुर्भूतः इति ईर्यते''.

([१]त.दी.नि.प्र. ३।१।१,
[२]भाग.सुबो. १०।३।९।का. १)

इस प्रतिपादनका स्वारसिक निष्कर्ष यही है कि परमतत्त्व तो श्रीभागवतके प्रमेय होनेके रूपमें देशकालातीत स्वरूपात्मिका दशविधलीलासहित सदा-सनातन ही जगत्के प्रत्येक पदार्थमें विद्यमान रहता है. सर्वविध भक्तोंके समुद्धारार्थ, परन्तु, अपनी पूर्णताको तिरोहित किये बिना जब कभी वह भूतलपर प्रकट होता है तो उसे 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है. तब वह निरोधलीलाकर्ताके रूपमें यद्यपि आश्रयस्वरूपके परिशोधनार्थ लक्षणात्मिका लीलाका भी विषय बनता है. एतावता उसके लीलार्थ अंगीकृत गौणभावको प्रमुख प्रमेयसे भिन्न नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि पराक्षरके

प्रभेदके बारेमें अर्जुनकी जिज्ञासाका समाधान स्वयं भगवान्ने यों दिया है :

[1]"यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति अव्यक्तो 'अक्षरः'इति उक्त तम् आहु परमां गतिं यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम. पुरुषः स परः, पार्थ!, भक्त्या लभ्यस्तु अनन्यया (ज्ञानभक्तिलभ्यताहेतुको भेदः)".

[2]"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ताः उपासते श्रद्धया परया उपेताः ते मे युक्ततमाः मताः. येतु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते सर्वत्रगम् अचिन्त्यञ्च कूटस्थम् अचलं ध्रुवं... ते प्राप्नुवन्ति मामेव (ज्ञानभक्तिलभ्यताहेतुकभेदेऽप्यभेदः)... अव्यक्ता हि गतिः दुःखं देहवद्भिः अवाप्यते. येतु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्तः उपासते तेषाम् अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागराद् भवामि न चिरात्.".

[3]"द्वौ इमौ पुरुषौ लोके क्षरश्च अक्षरमेव च. क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो 'अक्षर'इति उच्यते... यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपिच उत्तमः अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः (पराक्षरप्रभेदो भेदसहिष्णवभेदरूपः)".

(भग.गीता [1]८।२०-२२, [2]१२।२-७, [3]१५।१६-१८).

अत: द्वादशस्कन्धमें वर्णित भगवान्‌के आश्रयधामरूप अक्षरब्रह्मका भलीभांति परिज्ञान होनेपर ही भूतलपर प्रकट हुयी दशमस्कन्धीय निरोधलीला साक्षाद् धामी परम तत्त्वके सर्वभक्तसमुद्धारार्थ भूतलपर प्रकट होनेवाली परमानन्दात्मिका लीलाके रूपमें ज्ञात हो पाती है. अर्थात् इसके याथार्थ्यका ज्ञान हो पाता है. अत: अक्षरब्रह्मके परिज्ञानके बिना तो वह लौकिकी घटनावत् प्रतीत हो सकती है, जैसाकि परीक्षित्-शुकदेवके—

> **''राजोवाच : संस्थापनाय धर्मस्य... अवतीर्णो हि भगवान्... स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ता अभिरक्षिता... आप्तकामो यदुपति: कृतवान् वै जुगुप्सितम्?...**
>
> **श्रीशुकउवाच : ... गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनां यो अन्तश्चरति सो अध्यक्ष: क्रीडनेन इह देहभाग्. अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहम् आस्थित: भजते तादृशी: क्रीडा या: श्रुत्वा तत्परो भवेत्''.**
>
> (भाग.पुरा. १०।३३।२७-३७).

इस संवादमें प्रकट हुवा ही है. जबकि मायामोहित होनेसे कृताकृत कर्मोंसे बद्ध प्राकृत पुरुष जैसे भगवान् नहीं होते. भगवान् तो स्वभक्तजनोंपर अनुग्रहार्थ ही प्राकृतवत् बने थे यह **''एतद् वो दर्शितं रूपं... न अन्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिंगेन जायते''** (भाग.पुरा. १०।३।४४) ऐसा कह कर भगवान्‌ने प्रकट कर दिया. अतएव ऐसे भक्तानुग्रहार्थ रूपसे की जाती लीला भी मायामोहित

कृताकृतकर्मोंसे बद्ध पुरुषके जैसी कैसे मानी जा सकती है? अत: भगवद्गीताके दसवें और बारहवें अध्यायोंमें प्रतिपाद्य पराक्षरलीलारूपोंके बारेमें वे ही सारी जटिलता हैं जो विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मके अखण्डाद्वैत और सखण्डाद्वैत के बारेमें उभरती हैं.

यहां एक महत्त्वपूर्ण शंकासमाधान महाप्रभुने दिया है. वह यों कि दश पदार्थके प्रतिपादनकी इतनी आवश्यकता क्या है? किसी भी एक शास्त्रका प्रमुख विषय तो एक ही होना चाहिये. एकाधिक विषयोंको समप्रधानतया प्रतिपाद्य बनानेपर शास्त्रैक्य भंग हो जाता है. अत: इसके समाधानतया यह जान लेना उचित होगा कि दश पदार्थोंमें दशम पदार्थ ही मुख्य प्रतिपाद्य-विषय है. शेष नौ तो उस दशम आश्रयरूप लक्ष्यके लक्षणतया उपपादित हैं. यदि इन्हें लक्षणतया न लिया जाय तो जागतिक लीलामें ग्राह्याग्राह्यका विवेक नहीं प्रकट हो पायेगा. अत: प्रतिपाद्य गुणातीत ब्रह्मरूप लक्ष्यके लक्षणोंमें जहां तक गुणोंके सहारे गुणातीतके स्वरूपको समझानेकी उपयोगिता है, वहां तकही उपपादन अभीष्ट है. अन्यथा आश्रयरूप ब्रह्मके समाश्रयणमें अन्याश्रय दोष प्रसक्त हो सकता है.

बहुत सारे लोगोंको महाप्रभुके पूर्वापर वचनोंका भलीभांति अनुसन्धान न होनेके कारण अक्षरब्रह्मको गणितानन्द और पुरुषोत्तमको अगणितानन्द मान लेनेका बौद्धिक अतिसार हो जाता है! क्योंकि सिद्धान्तमुक्तावली और कृष्णाश्रय स्तोत्रमें महाप्रभुने 'सच्चिदानन्दकं' और 'गणितानन्दकं' पद अक्षरब्रह्मके लिये वापरा है.

यहां अवधेय यही है कि 'गणितानन्द' नहीं कहा प्रत्युत अल्पार्थक 'कन्'प्रत्यय जोड़ कर 'गणितानन्दक' कहा है. फिरभी

हठाग्रहिलतया अक्षरब्रह्मको गणितानन्द मान लेना वस्तुत: अतीव आश्चर्यजनक लगता है. न केवल इतना प्रत्युत सर्वनिर्णयनिबन्धके प्रकाश और द्वितीयस्कन्धकी सुबोधिनी में तो [१]"**आनन्दांश: तिरोहितइव भवति... मूलेन पुरुषोत्तमेन सह अविच्छिन्नतया तिष्ठति. एषा स्थिति: सर्वदा... प्रभु: वैकुण्ठवासी लोको वैकुण्ठ: जीवजडाकारेण प्रादुर्भवति.**" [२]"**शक्तीनां मध्ये श्री: प्रथमा... तस्या: शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपं... साहि अक्षरस्य आनन्दरूपा अक्षररूपौ च पादौ**" ([१]त.दी.नि.प्र. २।९९-१०२, [२]भाग.सुबो. २।९।१३) ऐसा स्पष्टीकरण भी दिया है. अर्थात् न तो आनन्दके तिरोधानवश अक्षरब्रह्मको गणितानन्द मानना उचित है और न आनन्दमात्रकरपादादि भगवान्के चरणोंको गणितानन्द माना जा सकता है. न भगवत्स्वरूपात्मिका शक्तिरूपा श्री ही कभी गणितानन्दात्मिका हो सकती है. अत: आश्रयतत्त्वरूप स्वधामको लक्ष्य बना कर स्वयं धामी पुरुषोत्तमका लक्षण बननेका गौणभाव तात्त्विक नहीं हो सकता, वह तो केवल शाब्दिक है. यदि ऐसा नहीं स्वीकारते तो—

> **"'आभासश्च निरोधश्च यतश्च अध्यवसीयते स आश्रयं 'परं ब्रह्म' 'परमात्मा' इति शब्द्यते'... यतो भगवत: सकाशाद् न केवलम् एते विकारा: जायन्ते किन्तु प्रकाश्यन्ते च भगवतैव... अतो अस्ति-भाति-प्रियम् इति त्रयं भगवत्कार्यं तत्कारणत्वेन आश्रय:... तद् आह 'स आश्रय:' इति, स भगवान् आश्रय: इति अर्थ:. यत: सच्चिदानन्दरूपत्वात् पूर्वोक्ता: धर्मा: भवन्ति. अयमेव भगवान् शास्त्रान्तरे नामान्तरेण व्यपदिश्यत- इति सर्वसमन्वयार्थम् नामान्तरम् आह 'परं**

ब्रह्म'इति वेदे 'परमात्मा'इति स्मृतौ. शब्द्यतएव शब्दमात्रं भिद्यते अर्थस्तु एकएव".

(भाग.सुबो. २।१०।७).

यहां अक्षरपुरुषोत्तमके बीच तत्त्वतो भेदके निरासपूर्वक शब्दमात्रतो भेदका स्वीकार क्या वदतोव्याघात है! कथमपि नहीं. अन्यथा वेदप्रतिपाद्य परब्रह्मसे श्रीकृष्णको भी पृथक् माननेपर तो "**परब्रह्मावतरणः केशवः क्लेशनाशनः**","**परं ब्रह्म तु कृष्णो हि**" (पुरु.सह.ना. १०।४९, सिद्धा.मु. ३) ऐसी अनेक महाप्रभूक्ति अर्थहीन हो जायेंगी. वस्तुतस्तु यह तो सर्गादि-प्रलयशेष भगवान्का "*करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तं बालं मुकुन्दं*"स्वरूपन्यायेन निजांगोंकी आनन्दमात्ररूपताका केवल निदर्शनमात्र है.

अतएव निरोधलीला भी भगवान्की साधनभावेन अन्वयरूपा और फलभावेन व्यतिरेकरूपा दो तरहकी स्वीकारी गयी है. परमानन्दरूप भगवान् सर्वथा परमफलरूप होनेपर भी अपने भक्तोंपर अनुग्रह बरसानेको प्रथम अपनी सभी दिव्य शक्तिओंके साथ साधनभाव स्वीकार कर भक्तोंके बीच प्रकट होते हैं. इसे 'साधननिरोध'कहा जाता है. यह स्वयंके ज्ञानप्रदान करनेके साधनतया अन्य किसी भी साधनकी अपेक्षासे रहित स्वयंको ही स्वयंके ज्ञानका साधन बनानेकी लीला होनेसे इसे 'प्रमाणनिरोधलीला' कहा जाता है. ऐसे आत्मैकनिष्ठ-स्वज्ञानसाधनताके कारण भगवान्का भक्तोंके हृदयोंमें जो प्रमेयरूप आरूढ़ हो जाता है, उसमें अपने इतर अनेकानेक रूपोंको प्रायः अप्रकट ही रखा जाता है. इसे 'प्रमेयनिरोधलीला' कहा गया है. ऐसे स्वरूपवाले भगवान्की लीलामें सहभावार्थ जो साधन अपेक्षित होते हैं, उन्हें भी भगवान् ही स्वयं अनुष्ठानान्वित

करते हैं. ऐसी लीलाको 'साधननिरोधलीला' कहा जाता है. अन्ततः ऐसे भगवदनुष्ठित भगवत्प्राप्तिके साधनोंके फलरूपेण भक्तगण प्रापञ्चिक विषयोंमें अपनी कायिक वाचिक या मानसिक सब शक्तिओंके साथ अनासक्त हो कर केवल भगवान्में जब समासक्त हो जायें तो इसे 'फलनिरोधलीला' कहा जाता है. यह ऐसी लीला भूतलपर अनुष्ठित होनेपर भी वहीं स्वमहिमाभूत स्वधामरूप लीलास्थली प्रकट कर देती है. अत: यह आश्रयरूप अक्षरब्रह्मके शुद्धस्वरूपके परिज्ञानार्थ होती होनेसे आश्रयलीलाकी लक्षणरूपा भी मानी जाती है. अन्यथा तो आश्रयलीला भी इस भक्तनिरोधार्थ लीला प्रकट करनेवाले स्कन्धविशेषार्थतया प्रतिपाद्य भगवान्की नहीं प्रत्युत समग्र द्वादशस्कन्धात्मक शास्त्रके प्रतिपाद्यरूप भगवान्की ही लीला मानी गयी है.

अतएव आश्रयलीलाके स्वरूपको द्वादशस्कन्धनिबन्धमें पञ्चविध प्रभेदसे उपपादित किया गया है : "[१]**कृष्णाश्रय** [२]**जगदाश्रय** [३]**वेदाश्रय** [४]**भक्तिमार्गाश्रय और** [५]**भागवताश्रय.**

(द्रष्ट.निबन्धानुसारी प्रक.अध्या.विभागसूचिका).

अत: बारहवें स्कन्धका प्रधान प्रतिपाद्य विषय अक्षरब्रह्म जैसे है, वैसे ही अवान्तर विषय पञ्चविध आश्रय भी हैं ही. इनके अन्तर्गत कृष्ण और भागवत तो रूपनामविभेदसे अन्योन्यात्मक हैं ही. इसी तरह कृष्ण और भक्तिमार्ग भी आलम्बनविभाव और स्थायिभाव के विभेदवश अन्योन्यात्मक हैं, यह पुष्टिभक्तिका गूढतम रहस्य है. इसी तरह जगत् और वेद दोनों ही अक्षरब्रह्मोपादानक होनेसे अक्षरात्मक माने गये हैं : [१]"**तस्माद् विराड् अजायत... पश्चाद् भूमिम् अथो पुरः... तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे... यजुः तस्माद् अजायत**" [२]"**यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा अक्षरात्**

सम्भवति इह विश्वं... तस्माद् ऋचः साम यजूंषि... '' ([1]पुरु.सू. २-४ [2]मुण्ड.उप. १।१।४-२।१।६). इस तरह देखा जा सकता है कि आश्रयरूप ब्रह्म एक ऐसा तत्त्व है कि जिसके बारेमें श्रुतिमें ''**एकः सन् बहुधा विचारः... सर्वे वेदाः यत्र एकं भवन्ति. सर्वे होतारो यत्र एकं भवन्ति**'' (तैत्ति.आर. ३।११।१) कहा गया है. इस अखण्डाद्वैतवादके प्रमेयको आधुनिक परिभाषामें 'The Grand Unifying Principle' कहा जा सकता है. अस्तु.

हमने देखा कि आश्रय तत्त्वकी परिभाषामें भागवतमें कहा गया है ''**आभासश्च निरोधश्च यतश्च अध्यवसीयते स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मा इति शब्द्यते. यो अध्यात्मिको अयं पुरुषः सो असावेव आधिदैविकः यः तत्र उभयविच्छेदः स स्मृतो हि आधिभौतिकः. एकम् एकतराभावाद् यदा न उपलभामहे त्रितयं तत्र यो वेदः स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः**'' (भाग.पुरा. २।१०।७-९). इस परिभाषाके निरूपणमें रही कुछ सन्देहजनक दुरूहताको भलीभांति सुलझाना अतीव आवश्यक लगता है. सर्वप्रथम तो यह कि 'आभास'पदका अभिप्रेतार्थ क्या है? दूसरी 'निरोध'पद दशमस्कन्ध प्रतिपाद्य वस्तुका परामर्शी है या अन्य किसीका? तीसरी समस्या आधिभौतिकके भीतर आध्यात्मिक होता है और उसके भीतर आधिदैविक; तो आधिभौतिक और आधिदैविक का विच्छेदक आध्यात्मिक होना चाहिये था, उभयान्तर्वर्ती होनेके कारण. आध्यात्मिक और आधिदैविक का विच्छेदक आधिभौतिक कैसे हो सकता है? बाह्यतम होनेके कारण. चौथी समस्या एकके न रहनेपर दूसरा भी उपलब्ध न होता हो इतरेतरसापेक्ष होनेके कारण. क्योंकि दोनों अन्योन्याश्रित स्वतःसिद्ध तो नहीं हो सकते. परस्पर अनुपलब्ध होनेपर भी जिस तत्त्वको स्वाश्रयाश्रय स्वयम्प्रकाश स्वीकारा गया है उसमें अवशिष्ट दोनोंका प्रकाशन

या बोध, पारमार्थिक वस्तुतया होता है या अपारमार्थिक मिथ्या वस्तुतया मानना चाहिये ?

प्रथम और दूसरी समस्याका समाधान महाप्रभुकी व्याख्यानीतिके अनुसार यों दिया जा सकता है कि भगवान्‌का आश्रय होना किसी एक विशेष दृष्टिकोणसे नहीं अपितु अनेकधा सम्भावित है. यथा शास्त्रीय साधन प्रपत्तिद्वारा भगवान् ही आश्रयणीय होते हैं "**भक्तिपरेशानुभवो विरक्तिः अन्यत्रच एषः त्रिकः एककालः प्रपद्यमानस्य यथा अश्नतः स्युः तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायो अनुघासम्**" (भाग.पुरा. ११।२।४२). जीवात्माकी सायुज्यमुक्ति भी परमात्माको आश्रय बना कर होती है "**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्**" (मुण्ड.उप. ३।२।८). इसी तरह सकल सृष्ट पदार्थकी उत्पत्तिस्थितिलयके भी आश्रय भगवान् ही होते हैं. यह क्रियाओंके आश्रयतया परमात्माकी अनेकविध आश्रयता है. ऐसे ही अनेकविध ज्ञानोंके आश्रय भी भगवान् होते हैं, यथा बाह्य पांच कर्मेन्द्रिय और बाह्य पांच ज्ञानेन्द्रिय और, अहंकारको छोड़ दें तो, आभ्यन्तर मनोबुद्धिचित्तके विषयतया भी परमात्मा ही आश्रय बनते हैं : "**मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः अहमेव न मत्तो अन्यद् इति बुद्ध्यध्वम् अञ्जसा**" (भाग.पुरा. ११।१३।२४). यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि इन्द्रियोंके विषयतया आश्रयभूत भगवान् तो आविर्भावतिरोभावशक्ति-ओंसे सम्पन्न अव्यय अक्षररूप ही होते हैं. फिरभी हमारी मायामोहित बुद्धिके प्रभावमें आ कर इन्हीं विषयोंको हम जब नश्वरतया समझ लेते हैं तो ऐसी विषयतावाली हमारी समझमें ब्रह्मके बजाय ब्रह्मकी सत्ता चेतना या प्रियता का ही नश्वर आभास हमें होने लगता है : "**यद् इदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः**

नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्'' (भाग.पुरा. ११।७।७). अत: ऐसे मिथ्या आभासवश जो उत्पन्न होता है उसकी उत्पत्ति और उसका नियमन=निरोध करने हम तो स्वयं सक्षम नहीं हो पाते. भगवान् ही, परन्तु, अपनी विद्याविद्यारूपा शक्तिओंके प्रयोग और/अथवा अप्रयोग में सक्षम होते हैं. इस तरह 'आभास'-'निरोध'पद यहां प्रकृतार्थसे भिन्न अभिप्रेतार्थकतया प्रयुक्त हुवे हैं. क्योंकि 'आभास'पदके साथ प्रयुक्त 'निरोध' पद और भक्तिके बाद भगवान्‌द्वारा भक्तोंके बीच की जाती निरोधलीलाका घटक 'निरोध' पद एकार्थक नहीं हो सकते.

तीसरी समस्या आधिभौतिक और आधिदैविक के मध्यपाती होनेके कारण आध्यात्मिकको विच्छेदक माननेके बजाय आधिभौतिकको विच्छेदक माननेके कारण प्रकट हुयी. उसका समाधान यह है कि भागवतके श्रवण-तत्त्वध्यानार्थ श्रोता और वक्ता रूपी जो पुरुष आध्यात्मिक हैं; और, इसी तरह उनके भीतर बिराजमान जो अन्तर्यामी परमात्मा आधिदैविक पुरुष होता है. इन दोनोंका आध्यात्मिक और आधिदैविक होना आधिभौतिक देहके द्वारा किये जाते कर्मफलके कर्ता भोक्ता और अभोक्ता साक्षी होनेके रूपोंमें ही प्रतिपादित हुवा है. अत: आधिभौतिक ही दोनोंका विच्छेदक माना गया है यथा : ''**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते... समानं वृक्षे पुरुषो निमग्नो अनीशया शोचति मुह्यमानो जुष्टं यदा पश्यति अन्यम् ईशम् अस्य महिमानमिति वीतशोक:**''(श्वेता.उप. ४।६-७) ऐसे श्रुतिवचनोंमें.

चौथी समस्या है : इतरेतरसापेक्षोंमे एकके न रहनेपर दूसरेके भी उपलब्ध नहीं होनेकी है. जो तत्त्व, परन्तु, स्वाश्रयाश्रय स्वयम्प्रकाश

अर्थात् स्वेतरप्रकाशननिरपेक्ष हो उसमें अवशिष्ट दोनोंका प्रकाशन या बोध पारमार्थिक वस्तुतया होता है या अपारमार्थिक मिथ्या वस्तुतया अवभासन होता मानना? इसके समाधानतया एक प्रतिप्रश्न यह उभरता है कि ऐसे स्वेतरनिरपेक्ष स्वयम्प्रकाश तत्त्वके आत्मप्रकाशनमें आत्माभिन्नतया प्रकाशित होते इतरेतरनिर्भर हो कर प्रकाशित होनेवाले जो दो पदार्थ यदि मिथ्या प्रतिभासित हो रहे हों तो अंशतो मिथ्यात्व उस स्वाश्रयाश्रय आत्मप्रकाशनमें भी आयेगा ही. यदि किसी अकल्पित हेतुवश न आता हो तो उसी *'त्रितयं तत्र यो वेद'*के प्रकाशनके कारण उन इतरेतरनिर्भर प्रकाश्यमानोंके मिथ्या प्रकाशन होनेकी शक्यता निरस्त हो जाती है. अन्यथा स्वाश्रयाश्रय होना भी परत:प्रकाश्य बिना निरूपणार्ह न होनेके कारण स्वाश्रयाश्रय तत्त्वका स्वयम्प्रकाश होना भी सूर्य-प्रदीप आदिकी तरह मिथ्या स्वयम्प्रकाश्यता मिथ्या सिद्ध क्यों नहीं करेगी? स्वाप्निक आभास भी विषयनिर्भर प्रकाश नहीं होता. अत: स्वप्नके उदाहरणद्वारा जाग्रत्कालीन घटादि विषयोंका प्रकाशन जैसे मिथ्या सिद्ध हो सकता है, वैसे ही स्वाप्निकी स्वयम्प्रकाशताके उदाहरणके बलपर ही स्वाश्रयाश्रय परमतत्त्वकी भी मिथ्याभासमानता सर्वशून्यताकी ओर ले जानेवाली विचारप्रणाली हो जायेगी. इस विषयमें भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यकी **''शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्धइति तन्निराकरणाय न आदर: क्रियते, नहि अयं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारो अन्यत् तत्त्वम् अनधिगम्य शक्यते अपह्नोतुम् अपवादाभावे उत्सर्गप्रसिद्धे:''** (ब्र.सू. शांक.भा. २।२।३१) यह सूक्ति नितान्त अविस्मरणीय है. जिस 'अन्यत् तत्त्वम्'के अधिगमके बिना शून्यवादको सर्वप्रमाणप्रतिषिद्ध माना जा रहा है, ऐसा स्वाश्रयाश्रय स्वयम्प्रकाश आश्रय तत्त्व भी परप्रकाश्य मिथ्याभासित पदार्थकी अपेक्षावश ही स्वयम्प्रकाशतया बोधगम्य बनता होनेके कारण शून्यवादकी ओर प्रयाणाभिमुख बन

रहा है. उस ऐसे प्रयाणमें मार्गावरोधक जो बन सकता है वह यही कि इतरेतरसापेक्षको निरर्थक मिथ्या माननेके दुराग्रहसे मुक्त होना.

अन्तमें अपनी एक अत्यद्भुत रचना *श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रम्* में महाप्रभुने भागवतके श्रवणकीर्तनाधिकारीके निरूपक प्रथमस्कन्धके बाद द्वितीयस्कन्धमें अभिप्रेत साधनरूप श्रवणके अंगभूत तत्त्वध्यान हृत्प्रसाद और मनन रूप अवान्तर प्रतिपाद्य अर्थोंके द्योतक नामोंको संकलित किया है. उन नामोंका अवगाहन कर लेना भी उचित होगा :

> **“[१]सकलागमश्रोतव्याय नमः [२]शुद्धभावकीर्तितव्याय नमः [३]आत्मवित्तमस्मर्तव्याय नमः [४]अनेकमार्गकर्त्रे नमः [५]नानाविधगतिप्रदाय नमः [६]पुरुषाय नमः [७]सकलाधाराय नमः [८]सत्त्वैकनिलयात्मभुवे नमः [९]सर्वध्येयाय नमः [१०]योगगम्याय नमः [११]भक्तिग्राह्याय नमः [१२]सुरप्रियाय नमः [१३]जन्मादिसार्थककृतये नमः [१४]लीलाकर्त्रे नमः [१५]सतां पतये नमः [१६]आदिकर्त्रे नमः [१७]तत्त्वकर्त्रे नमः [१८]सर्वकर्त्रे नमः [१९]विशारदाय नमः [२०]नानावतारकर्त्रे नमः [२१]ब्रह्माविर्भावकारणाय नमः [२२]दशलीलाविनोदिने नमः [२३]नानासृष्टिप्रवर्तकाय नमः [२४]अनेककल्पकर्त्रे नमः [२५]सर्वदोषविवर्जिताय नमः”**
>
> (पुरु.ना.सह. २).

यह भागवतपुराणके द्वितीय स्कन्धमें प्रतिपाद्य लीलात्मक अर्थोंकी

भगवन्नामात्मिका पचीस विषयोंकी तालिका है. दशमस्कन्ध प्रतिपाद्य विषय क्या है इस बारेमें महाप्रभु और शांकर वेदान्ती व्याख्याकार श्रीचित्सुखाचार्य, श्रीबोपदेव से लेकर श्रीधरस्वामी पर्यन्तके व्याख्याकारोंके साथ एकमत नहीं हैं. यहां परन्तु द्वितीयस्कन्धके प्रतिपाद्यार्थके बारेमें महाप्रभु, बहुत सारी बातोंमें, *हरिलीला*कार श्रीबोपदेवके साथ एकमत हैं सो उनके द्वितीयस्कन्धार्थको उद्धृत कर मेरे द्वारा भी संकलित स्कन्धार्थसंक्षेपको प्रस्तुत कर आलेखका उपसंहार करना उचित होगा :

(उपसंहार)

''द्वितीये श्रवणांगानि ध्यानं श्रद्धा विमर्शनं
द्वि-द्विषड्भिः दशाध्यायैः ध्यानं साधारणे हरेः,
देहे असाधारणे जीवैः श्रद्धा श्रोतरि वक्तरि,
उत्पत्तौ च उपपत्तौ विमर्शः तत्र देहयोः. उत्पत्तिः
त्रिविधा आद्यस्य मूर्तामूर्ताविभेदतः, उपपत्तिः त्रिधा
आक्षेपसमाधानप्रयोजनैः. त्रयाणां दशभिः भेदैरिति
अध्यायाः दश क्रमात्''.
(हरिलीला.स्क.द्वि. १-३).

इन्हें महाप्रभुकी व्याख्यारीतिसे संकलित करना हो तो मैंने भी कारिकाबद्ध करनेका प्रयास जो किया वह यों है :

स्कन्धार्थः साधनं तच्च तत्त्वध्यानमुदीरितम्॥
ब्रह्माण्डविग्रहध्यानं स्थूलध्यानतयोच्यते॥१॥
सूक्ष्मं हृद्यानन्दरूपं तत्राऽध्यायद्वयं मतम्॥
श्रोतृवक्तृविभेदेन हृत्प्रसादो हि श्रद्धया॥२॥

श्रद्धाच भगवल्लीला-श्रोतृवक्तृगता मता॥
श्रवणाय कीर्तनाय चाध्यायद्वययोजनम्॥३॥
पञ्चमादादशमं चोत्पत्त्युपपत्तिमर्शनम्॥
ब्रह्मणः सच्चिदानन्दात् त्रिविधोत्पत्तिवर्णना॥४॥
देशकालपरिच्छिन्ने सदंशे जननात्मिका॥
सदंशेषु चिदंशानां प्रवेशान्निर्गमात् तथा॥५॥
प्राकट्याच्च तिरोधानाद् अन्तर्याम्यवतीर्णयोः॥
देशकालापरिच्छेदाद् न जन्मागमने पुनः॥६॥
स्वमतैकदेशिमतं बोधसौकर्यहेतुकम्॥
मुख्यतात्रोपपत्तैर्हि सर्वस्य ब्रह्मरूपतः॥७॥
गुणधर्मक्रियाकार्यं सर्वं ब्रह्माऽभवद् यतः॥
तत् कथम् इति शंकाद्ये द्वितीये तन्निवारणम्॥८॥
तृतीये फलश्रुत्यैवं दशाध्यायार्थयोजना॥
वैक्रमेऽशीत्युत्तरद्विसहस्रे वत्सरे कृता॥९॥
श्रीमदाचार्यचरणानां कृपया प्रस्तावना॥
तत्त्वध्यानासमर्थस्य तत्त्वध्यानविवेचने॥१०॥
दोलायितं मनो नाद्य हरेर्दोलाजयोत्सवे॥
ध्यानाशक्त्याऽधिकारस्तु नासीत् तत्त्वविमर्शने॥११॥
तथापि धाष्टर्यमेतन्मे वागुपास्त्यै हि वाक्पतेः॥
प्रस्तावनाः सुबोधिन्याः स्कन्धानां सकलाः हि मे॥१२॥
निजगेह-प्रभोः पादपद्मयोर् अर्पिताः शुभाः॥
तेलीवालां मूलचन्द्रं बलभद्रं गुरोर्गुरुम्॥१३॥
श्रद्धादरसमायुक्तः तन्मुद्रितप्रकाशकः॥
नामं नामं स्वहृदये कार्तज्ञ्येन स्मराम्यहम्॥१४॥
प्राभवं सहयोगेन ह्यसितस्य श्रमेण वै॥
मनीषा च परेशश्च धर्मेन्द्रः पद्मिनी तथा॥१५॥

जगदीशानिलराजेशाः सर्वेऽत्र सहयोगिनः ॥
परिश्रमोऽस्ति चैतेषां नाम्ना सम्पादकस्त्वहम् ॥१६॥
प्रवीणाद्याः मुद्रणेऽपि भृशं वै सहयोगिनः ॥
पितामहो श्रीगोविन्दस्त्वाद्यो ग्रन्थप्रकाशकः ॥१७॥
आचार्याणां कृपातोऽद्य ग्रन्थो नूत्नकलेवरः ॥

भाद्रपदकृष्णा प्रतिपदा — गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहर

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

अखण्डाद्वैतभानेतु सर्वं...	(त.दी.नि.प्र. १।९१-९२)	१००
अजायमानो बहुधा विजायते...	(तैत्ति.आर. ३।१३।३)	७७
अत्र सर्गो विसर्गः च...	(भाग.पुरा. २।१०।१-९)	११२
अथ यद् इदम् अस्मिन्...	(छान्दो.उप. ८।१।१-३)	४१
अथ ह वाव तव...	(भाग.पुरा. ६।९।३९)	५०
अधिष्ठानत्वव्यपदेशस्तु तस्य...	(विवरणप्रमेयसंग्रह १।६९)	३३
अधीहि, भगवो!, ब्रह्म इति...	(तैत्ति.उप. ३।१-६)	६९
अनन्तश्च आत्मा...	(श्वेताश्व.उप. १।९)	७७
अपरिगणितगुणगणे...	(भाग.पुरा. ६।९।३६)	६३
अपरिमिताः ध्रुवाः तनुभृतो...	(भाग.पुरा. १०।८७।३०)	४४
अपिच क्वचिद् गौणः...	(ब्र.सू.शांक.भा. १।१।७)	६५
अभावस्तु अस्मन्मते...	(सुबो. २।९।३२)	८१
अभावस्य कारणत्वात्...	(त.दी.नि. २।११७)	७९
अमूनि भगवद्रूपे मया ते...	(भाग.पुरा. २।१०।३५-४५)	१०२
अविभक्तं च विभक्तेषु...	(भग.गीता १३।१६)	९९
अव्यक्तो 'अक्षरः' इति...	(भग.गीता ८।२१)	७३
अव्यक्ताद् व्यक्तयः...	(छान्दो.उप. २।२६।१)	८१
'अस्ति'इति 'नास्ति'...	(भाग.पुरा. ६।४।३२-३३)	९८
अस्ति भाति प्रियं रूपं...	(सिद्धान्तलेशसंग्रहः ३।७)	२९
'असद्'व्यपदेशाद्...	(ब्र.सू. २।१।१७-२०)	८२
अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे...	(भाग.पुरा. १।७।६-१०)	५०
अहम् आत्मा आत्मनां...	(भाग.पुरा. ३।९।४२)	२८
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः...	(भाग.पुरा. २।२।६)	४२
आत्मैव इदम् अग्रे...	(बृह.उप. १।४।१-३)	८९
आदौ परः असंगोदासीनः...	(सुबो. २।४।१२)	९१

आनन्दस्य हरे: लीला...	(त.दी.नि.प्र. ३।१।३-१०)	१९
आनन्दांश: तिरोहितइव भवति...	(त.दी.नि.प्र. २।९९-१०२)	१२१
आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्...	(तैत्ति.उप. ३।६)	९३
आप्यायन्तु मम अंगानि...	(केनोप. १।१)	९७
आभासश्च निरोधश्च यतश्च...	(भाग.पुरा. २।१०।७-९)	१२४
आभासश्च निरोधश्च यतश्च...	(सुबो. २।१०।७)	१२१
आसीद् ज्ञानम् अथो हि अर्थ:..	(भाग.पुरा. ११।२४।२-१०)	६१
'इति'परत्वादपि 'ब्रह्म'शब्दस्य...	(ब्र.सू.शांक.भा. ४।१।५)	५४
इदं हि विश्वं भगवानिव...	(भाग.पुरा. १।५।२०)	१०२
'इन्द्र:'=परमेश्वरो...	(बृह.उप.शांक.भा. २।५।१९)	६२
इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते...	(बृह.उप. २।५।१९)	८७
उभयव्यपदेशात्तु अहिकुण्डलवत्...	(ब्र.सू.अणुभा. ३।२।२७)	७३
एक: सन् बहुधा विचार:...	(तैत्ति.आर. ३।११।१)	१२४
एकदेशविकृतम् अनन्यवद् भवति...	(परिभाषेन्दुशेखर ३७)	११
एको नानात्वम् अन्विच्छन्...	(भाग.पुरा. २।१०।१३-१४)	८७
एतद् वो दर्शितं रूपं...	(भाग.पुरा. १०।३।४४)	११९
एवम् अयम् अनादिरनन्तो...	(ब्र.सू.शांक.भा. १।१।१)	२९
एवं जडजीवयो: उत्पत्त्या...	(सुबो. २।७।१)	९६
एवं पूर्वाध्याये उपदेशे...	(सुबो. २।१०।१)	१११
एवं प्रकारत्रयं...	(त.दी.नि.प्र. २।१३५-१४२)	७९
ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं...	(छान्दो.उप. ६।८।७)	३४,३७
कथम् असत: सद् जायेत?...	(छान्दो.उप. ६।२।२,६।८।४)	७८
कुतस्तु खलु सौम्य...	(छान्दो.उप. ६।२।२)	७६
कार्यवस्तु विरहय्य कारणं...	(संक्षेपशारीरकम् १७०-१९०)	३०
काल: स्वभावो नियति...	(श्वेताश्व.उप. १।२-३)	७७
केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे...	(भाग.पुरा. २।२।८)	४२
क्रीडार्थम् आत्मन: इदं...	(भाग.पुरा. ८।२२।२०)	२६
जन्म कर्म च मे दिव्यम्...	(भग.गीता ४।९)	९९

जीव ईशो विशुद्धा...	(पञ्चदशी ६।१८)	५२
ज्ञानं परमगुह्यं मे...	(भाग.पुरा. २।९।३०-३६)	१०४
तज्जलान् इति शान्त उपासीत...	(छान्दो.उप. ३।१४।१)	५५
ततो अन्यथा किञ्चन...	(भाग.पुरा. १।५।१४)	१०२
तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्...	(तैत्ति.उप. २।६)	१०९
तत्र अशरीरस्य विष्णोः...	(सुबो. २।१०।१)	११३
तथा परमहंसानां मुनीनाम्...	(भाग.पुरा. १।८।२०-३६)	८३
तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिम्...	(भक्तिहेतुनिर्णय मंगलाचरण)	७
तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत...	(तैत्ति.उप. २।७)	४४
तद् आहुः यद् ब्रह्मविद्यया...	(बृह.उप. १।४।९-१०)	६३
तद् एतद् अक्षयम्...	(विष्णुपुरा. १।२२।६०-६५)	८२
तदिच्छामात्रतः तस्माद्'...	(त.दी.नि.प्र. १।२७-२९)	८४
तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय...	(छान्दो.उप. ६।२।३)	८७
तद् 'बृहद्' ब्रह्म वाङ्मनोगोचरं...	(भाग.श्रीधरी ११।२४।२-३)	६२
तद्ध एके आहुः 'असदेव'...	(छान्दो.उप. ६।२।१-३)	६०
तद्धा इदं तर्हि अव्याकृतम्...	(बृह.उप. १।४।७)	१५,२५, ३७,८१
तस्मात् ऋचः...	(मुण्डकोप. २।१।६)	१२४
तस्माद् तार्किकचाटभट...	(बृह.उप.शांक.भा. २।१।२०)	७७
तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः...	(तैत्ति.उप. २।१)	७७
तस्माद् भारत सर्वात्मा...	(भाग.पुरा. २।१।५)	२६,४५
तस्मात् सर्वात्मना राजन्	(भाग.पुरा. २।२।३६)	४५
तस्माद् विराड् अजायत...	(पुरुषसूक्त २-४)	१२३
तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयाद्...	(तैत्ति.उप. २।५-९)	६९,९३
तस्य स्वरूपम् आह...	(त.दी.नि.प्र. १।२५-३०)	८८
तेन उभौ कुरुतो...	(छान्दो.उप. १।१।१०)	४७
ते ध्यानयोगानुगताः...	(श्वेताश्व.उप. १।३)	३६
त्रयं वा इदं नाम...	(बृह.उप.१।६।१-३)	१५,२५

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज...	(भाग.पुरा. ३।९।११)	४२
दशलीलानिरूप्यो अयं...	(सुबो. १०।३।९।का.१)	११७
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः...	(भाग.पुरा. १०।४७।२४)	७
दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय...	(भाग.पुरा. १०।८७।२१)	५०
द्रव्यं कर्म च कालः च...	(भाग.पुरा. २।५।१४)	३७
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...	(श्वेताश्व.उप. ४।६-७)	१२६
द्विगुणो भगवान् अत्र प्रादुर्भूतः...	(सुबो. १०।३।९।का.१)	११७
द्वितीये श्रवणांगानि ध्यानं...	(हरिलीला.स्क.द्वि. १-३)	१२९
द्वौ इमौ पुरुषौ लोके...	(भग.गीता १५।१६-१८)	७३,११८
ध्यायतो विषयान् पुंसः....	(भग.गीता २।६२-६५)	४७
न असतो विद्यते भावो...	(भग.गीता २।१६)	७८
न तस्य कार्यं करणं च...	(श्वेताश्व.उप. ६।८)	६१,७७
न मोक्षस्य आकांक्षा...	(देव्यपराधक्षमास्तोत्रम् ८)	८५
न रोधयति मां योगो न...	(भाग.पुरा. ११।१२।१-८)	८
न लोकवद् इह भवितव्यं...	(ब्र.सू.शांक.भा. २।१।११)	६६
न वा अरे सर्वस्य...	(बृह.उप. २।४।५)	२५
नच एकं तदन्यद् द्वितीयं...	(दशश्लोकी १०)	३३
नच एकत्वमेव तादात्म्यम्...	(विवरणप्रमेयसंग्रह १।२६)	३३
ननु अस्य शास्त्रस्य...	(सुबो. २।१।५)	३८
ननु तथापि काचित्...	(ब्र.सू.अणुभा. १।२।३२)	७७
नमो भगवते तस्मै...	(त.दी.नि. १।१)	१५,८६
नारद उवाच : देवदेव नमस्ते...	(भाग.पुरा. २।अध्या.५-७)	९४
निष्कारणं श्रुतिशिरोवचनस्य...	(संक्षेपशारीरकम् १।५४२)	३१
नृणां निःश्रेयसार्थाय...	(भाग.पुरा. १०।२९।१४-१५)	१८
नैव वाचा न मनसा...	(कठोप. २।३।१२-१३)	६२
परं ब्रह्म तु कृष्णो हि...	(सिद्धा.मु. ३)	१२२
परब्रह्मावतरणः केशवः क्लेशनाशनः...	(पुरु.सह.ना. १०।४९)	१२२
पालने विमलसत्त्ववृत्तये...	(पञ्चपादिकाविवरण १।१।१)	३५

पुनः तस्यैव त्रिपादमृतस्य...	(छान्दो.उप.शांक.भा. ३।१४।२)	५३
पुरः चक्रे द्विपदः पुरः...	(बृह.उप. २।५।१८)	५८
पुराणसंहिताम् एताम्...	(भाग.पुरा. १२।१२।६३-६४)	१८
पुरुषएव इदं सर्वम्...	(पुरुषसूक्त २)	११०
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः ...	(पु.प्र.म. १५)	१२
प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः ...	(सुबो. २।९।३२)	३१
प्रत्येकपदार्थे सर्गः कारणत्वेन...	(सुबो. २।१०।१)	११५
प्रपञ्चमेव मिथ्या इति...	(त.दी.नि.प्र. १।२३)	४३
प्रेम्णोऽन्यत् साधनं च...	(त.दी.नि.प्र. २।३२६-३२९)	६
बृहद् उपलब्धम् एतद्...	(भाग.पुरा. १०।८७।१६)	७८
ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन्...	(भाग.पुरा. २।८।१-९)	९५
ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यं...	(सुबो. २।९।३५)	३८
ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न...	(पत्रावलम्बन ३)	१४
भक्तिपरेशानुभवो विरक्तिः...	(भाग.पुरा. ११।२।४२)	१२५
भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः...	(सुबो. २।२।३२)	४२
भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो...	(ब्र.सू.शांक.भा. १।१।१)	७५
भावे च उपलब्धेः ...	(ब्र.सू. २।१।१५-२६, २।२।२६-२८)	७८
भूतभृद् नच भूतस्थो मम...	(भग.गीता ९।५)	११२
मत्स्थानि सर्वभूतानि...	(भग.गीता ९।४-५)	११२
मनः त्वं व्योमः...	(सौन्दर्यलहरी ३५)	८५
मनननिदिध्यासनयोः...	(सुबो. २।१।५)	२८
मनसा वचसा दृष्ट्या...	(भाग.पुरा. ११।१३।२४)	१२५
मय्यावेश्य मनो ये...	(भग.गीता १२।२-७)	११८
मल्लानाम् अशनिः नृणां...	(भाग.पुरा. १०।४३।१७)	१८
महतां कृपया यावद् भगवान्...	(नि.ल. ४)	४६
मानमेयविनिर्धारः तत्त्वार्थं...	(सुबो. २।२।१)	३९
यः सर्वज्ञः सर्वविद्...	(मुण्डकोप.शांक.भा. १।१।९)	६४
यः सर्वेषु भूतेषु...	(भग.गीता ८।२०-२२)	११४

यतो जातानि भुवनानि...	(श्वेताश्व.उप. ४।४)	७७
यतो वा इमानि...	(तैत्ति.उप. ३।१)	७७
यतो वाचो निवर्तन्ते...	(तैत्ति.उप. २।९)	७५
यत्तु वाक्यात् स्वप्नवद्...	(सुबो. २।१।५)	३२
यथा नद्यः स्यन्दमानाः ...	(मुण्डकोप. ३।२।८)	१२५
यथा शब्दएव प्रमाणं...	(त.दी.नि.प्र. २।८५)	७२
यथा शास्त्रद्वयं भक्तिज्ञानप्रतिपादकं...	(सुबो. १०।२६।१३)	१६
यथा सतः पुरुषात्...	(मुण्डकोप. १।१।४)	१२३
यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्...	(भाग.पुरा. ११।२८।१९-२३)	५९
यदा वै श्रद्दधाति अथ...	(छान्दो.उप. ७।२३।१९)	४७
यद इदं मनसा वाचा...	(भाग.पुरा. ११।७।७)	१२५
यावान् अहं यथाभावो...	(भाग.सुबो. २।९।३१)	३४
यस्य अमतं तस्य मतं...	(केनोप. १।११)	६५
येतु अक्षरम् अनिर्देश्यम्...	(भग.गीता ११।३-४)	७३
यो अयं विज्ञानमयः प्राणेषु...	(बृह.उप. ४।३।७-१४)	५९
राजोवाच : संस्थापनाय धर्मस्य...	(भाग.पुरा. १०।३३।२७-३७)	११९
रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांश...	(त.दी.नि. २।१८)	२१७,३८
'वचेः' घञन्तस्य करणे...	(छान्दो.उप.शांक.भा. ३।१४।२)	६०
वदन्ति तत् तत्त्वविदः ...	(सुबो. १।२।११)	७१
विकारैः सहितो युक्तैः ...	(भाग.पुरा. ३।११।४१)	७४
वितस्तिम् अधितिष्ठति...	(भाग.पुरा. २।६।१५)	११०
विना यस्य ध्यानं...	(कृष्णाष्टकस्तोत्र ६)	८५
विमर्शः षड्भिः अध्यायैः ...	(सुबो. २।५।०।का.१)	६७
विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्व...	(संक्षेपशारीरकम् १।५२०)	३०
विषयात्मकं तु भागवतम्...	(सुबो. २।८।२८)	९६
वेदानां भगवन्माहात्म्यप्रतिपादकत्वं..	(त.दी.नि.प्र. १।४१-४२)	३९
वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिंगं...	(त.दी.नि. १।६)	७१
वेदेन नामरूपाणि विषमाणि...	(भाग.पुरा. ११।२१।६-४२)	९८

शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा...	(सुबो. २।९।१३)	१२१
शश्वत् स्वरूपम् असहैव...	(भाग.पुरा. ३।९।१४)	२६
शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाण...	(ब्र.सू.शांक.भा. २।२।३१)	१२७
श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धात्वेव...	(छान्दो.उप. ७।१९।१)	६५
श्रद्धया अग्निः समिध्यते...	(ऋक्संहि. १०।१५१।१)	४९
श्रद्धया अग्निः साधु समिध्यते...	(निरुक्तं दुर्गाचार्य ९।४।३१)	४९
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः...	(भग.गीता ४।३९)	४७
श्रवणायापि बहुभिः...	(कठोप. १।२।७-२१)	६५
श्रिया पुष्ट्या गिरा...	(भाग.पुरा. १०।३९।५५)	८४
श्रीकृष्णं परमानन्दं...	(त.दी.नि. ३।१।१)	११६
श्रुतिवाक्येषु परस्परविरोधः...	(ब्र.सू.अणुभा. २।३।१)	९२
श्रोतव्य विषयत्वेन लीला...	(सुबो. २।१।५)	२९
श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो...	(विवरणप्रमेयसंग्रह १।१।१-२)	२७
श्रोतव्यविषयत्वेन तत्त्वम् एवं...	(सुबो. २।३।१)	४८
संनियोगशिष्टानाम् एकतरापाये...	(पाणि.परि. ३६)	३७
संहतैः उपचितैः अवयवैः...	(सुबो. २।१।२४)	९०
सकलागमश्रोतव्याय नमः...	(पुरु.ना.सह. २)	१२८
सत्यसंकल्पः—सत्याः..	(छान्दो.उप.शांक.भा. ३।१४।१-४)	५७
सदेव, सौम्य! ...	(छान्दो.उप. ६।२।२)	९६
सर्वं खलु इदं ब्रह्म...	(छान्दो.उप. ३।१४।१)	३७,४९,५५
सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः...	(छान्दो.उप. ३।१४।४)	५१
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्...	(ब्र.सू.शांक.भा. १।२।१)	५१
सर्वभूतस्थम् आत्मानम्...	(भग.गीता ६।२९-३०)	५१
सर्वभूतस्थितं यो माम्...	(भग.गीता ६।२९)	११२
सर्वभूतेषु च आत्मानं...	(भाग.पुरा. ३।२८।४२)	५२
सर्वभूतेषु येन एकं...	(भग.गीता १८।२०)	९९
सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामि...	(त.दी.नि. २।१४१-१४२)	८८
सर्वान् उद्देशतो निरूप्य...	(सुबो. २।६।१५)	९३

सो अकामयत 'बहु स्यां'...	(तैत्ति.उप. २।६)	१४,७४
स्कन्धेतु प्रथमे प्रोक्ताः ...	(सुबो. २।१।१।का.१-७)	२२
स्थूले भगवतो रूपे मनः ...	(भाग.पुरा. २।१।२३-३८)	३६
स्वदेहम् अरणिं कृत्वा...	(श्वेताश्व.उप. १।१४)	३६
स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक...	(अद्वैतसिद्धि १)	३६

॥ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणे द्वितीयस्कन्धार्थः ॥

प्रकाशः – द्वितीयस्कन्धे स्कन्धार्थप्रकरणाध्यायार्थान् वक्तुं सङ्गत्यर्थं प्रथमस्कन्धे सिद्धम् अर्थम् अनुवदति **उत्तमे** इति.

निबन्धः – **उत्तमे चोत्तमश्रोतुः प्रश्नः आद्ये निरूपितः ॥**
अध्यायदशकैस्तत्र साङ्गं श्रवणमीर्यते ॥१॥

प्रकाशः – **उत्तमे** वक्तरि **उत्तमश्रोतुः** परीक्षितः **आद्ये** स्कन्धे **प्रश्नो निरूपितः**. **तत्र** उत्तरे **साङ्गं श्रवणम् ईर्यते** किं कर्तव्यम् इति अपेक्षायां साङ्गं श्रवणं कर्तव्यम् इति. तत्र दश अङ्गानि इति दशाध्यायैः निरूप्यते. अनेन अङ्गनिरूपणं स्कन्धार्थः इति उक्तम् ॥१॥

सम्पूर्णस्य भागवतस्य श्रवणविधिशेषत्वम्. तत्र विषयत्वेन दश स्कन्धाः,

---

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अथ द्वितीयस्कन्धनिबन्धं व्याचिख्यासवः सङ्गतिबोधनाय आहुः **द्वितीय-** इत्यादि. **निरूपितः** इति द्विप्रकारको निरूपितः. **उत्तरे** इति द्वयोः वक्तव्ये उत्तरे. **कर्तव्यम् इति** इति, द्वयोः उत्तरत्वेन **ईर्यते** इति मूलेन सम्बन्धः. तथाच स्कन्धोपक्रमे "श्रोतव्य-" (भाग.पुरा. २।१।१) इति तदुपसंहारे च "पाद्मं कल्पम् अथो शृणु" (भाग.पुरा. २।१०।४७) इति श्रवणस्य कथनात् श्रवणं कर्तव्यम् इति प्रथमस्कन्धोक्तानां त्रिविधानामपि श्रोतॄणां कर्तव्यनिर्धारो द्वितीयस्कन्धार्थः इति अर्थः. ननु एवं सति द्वाभ्याम् एकेनैव वा अध्यायेन स निरूपणीयो ; दशानां किं प्रयोजनम् अतः आहुः **तत्र दश** इत्यादि. **तत्र** इति श्रवणे. **अनेन** इति दशाध्यायैः अङ्गनिरूपणेन. तथाच वस्तुतः कर्तव्यनिर्धारो अर्थः ; स दशभिः उच्यते इति अवयवसङ्ख्याविचारेण अङ्गनिरूपणं स्कन्धार्थः इति अर्थः ॥१॥

एवम् एकेन स्कन्धार्थम् उक्त्वा द्वौ कथं स्कन्धार्थौ इति जिज्ञासायां तत् चतुर्भिः उपपादयन्तः तस्य आवश्यकत्वबोधनाय आहुः **सम्पूर्ण-**

अधिकारार्थं प्रथमः, अङ्गार्थं द्वितीयः —इत्येवं भावनात् श्रवणं भागवते महावाक्यार्थः कर्तव्यरूपः. तत् श्रवणं किम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **शक्तितात्पर्यनिर्धारः** इति.

शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणं पदवाक्ययोः ॥
[१]तत्त्वध्यानं हृत्प्रसादो मननं चाङ्गम् उच्यते ॥२॥
श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः ॥
वक्तव्या वासुदेवस्य तदर्थमपरा कृतिः ॥३॥
शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्येन पदादिगः ॥
अङ्गोक्त्यैव सुसंसिद्धो द्वितीयोऽङ्गविनिश्चये ॥४॥
कृष्णस्य सर्वरूपत्वे निर्धारः पदवाक्ययोः ॥
गुणातीतस्वरूपत्वे निर्गुणश्रुतिनिर्णयः ॥५॥

पदे शक्तिनिर्धारो असङ्कोचरूपः सहजः, वाक्ये तात्पर्यनिर्धारः;

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

इत्यादि. **भावनाद्** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी; विचारं कृत्वा इति अर्थः. **कर्तव्यरूपः** इति. द्विविधो हि अत्र शास्त्रार्थः— अनुष्ठेयः प्रमेयश्च. तत्र द्वितीयो दशलीलायुतो भगवान्, प्रथमस्तु साङ्गश्रवणरूपः इति अर्थः. एवञ्च विचारे प्रथमस्कन्धार्थस्य कर्तृशेषत्वेन द्वितीयार्थस्य सहकारितया फलशेषत्वेन तृतीयाद्यर्थानां श्रवणस्वरूपशेषत्वेन हेतुतैव स्फुटीभवति इति अनुष्ठेयं शास्त्रार्थं प्रति स्कन्धार्थानां हेतुमद्भावः सङ्गतिः, स्कन्धार्थानां च परस्परम् एककार्यत्वसङ्गतिः इति ज्ञापितम्. **आह** इति लक्षणं कुर्वन् तत्स्वरूपम् आह.

ननु पदशक्तिनिर्धारस्य निघण्ट्वादिभिरेव सिद्धेः वाक्ये च शक्तेः अभावात् "पदवाक्ययोः तात्पर्यनिर्धारः श्रवणम्" इत्येव लक्षणं युक्तं, नतु शक्तिनिर्धारोऽपि मध्ये निवेशनीयः इति आकाङ्क्षायां तत्सार्थकत्वाय शक्तेः स्वरूपम् आहुः **असङ्कोचरूपः सहजः** इति. भगवद्वाचक-

---

१. तत्र ध्यानम् इत्यपि पाठः विकल्पेन गृहीतः - सम्पा.

उभयम् उभयत्र वा. अङ्गानि कानि इति आकाङ्क्षायाम् आह **तत्त्वध्यानम्** इति. **तत्र** इति वा. तत्त्वस्वरूपचिन्तनं ध्यानं, हृत्प्रसादः चित्तशुद्धिः, मननं च तृतीयम् अङ्गम्. अनेन प्रकरणविभागोऽपि निरूपितः. केषां शब्दानाम् इति आकाङ्क्षायां श्रोतव्यविषयम् आह **श्रोतव्य-** इति. दशविधा लीला श्रोतव्या. अनेन अग्रिमस्कन्धानाम् अर्थाः उद्देशतः उक्ताः. ननु धर्मी येनकेनचिद् धर्मेण सहितः श्रोतव्यो भवतु, को अयं निर्बन्धो

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

प्रणवविकृतिरूपाणां सर्वेषां पदानां भगवद्रूपेण अर्थेन नित्यसम्बद्धत्वाद् भगवतः च सर्वरूपत्वात् सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः इत्येवंरूपः पदे शक्तिनिर्धारः स्वाभाविकः. तथाच एवंरूपः पदशक्तिनिर्धारो न इतरसाध्यः इति **शक्ति**पदं सार्थकमेव इति अर्थः. एतेन जातौ विशिष्टे प्रवाहे वा शक्तिः इत्येतेषां पक्षाणाम् अत्र अनुपादेयत्वं बोधितम्. सर्वनिर्णये वैयाकरणरीत्या वाक्ये शक्तेः अङ्गीकरणात् पक्षान्तरम् आहुः **उभयम् उभयत्र वा** इति. एवम् एकः स्कन्धार्थः उक्तः. द्वितीयं वक्तुम् आहुः **अङ्गानि** इत्यादि. द्वितीयाध्याये स्वरूपध्यानस्य उक्तत्वात् प्रथमपाठे तस्य न सङ्ग्रहः इत्यतः पाठान्तरम् आहुः **तत्र इति वा** इति. अत्र शुकाभिप्रेतत्वात् प्रथमः पाठः, द्वितीयध्यानस्यापि प्रकारविशेषेण आदरणीयत्वात् पाठान्तरम् इति बोध्यम्. द्वितीयपाठे **ध्यान**पदस्य अर्थम् आहुः **तत्त्वस्वरूपचिन्तम्** इति. तत्त्वानां स्वरूपस्य च चिन्तनम् इति अर्थः. एवम् आद्याध्यायोक्तम् एकम् अङ्गम् उक्तम्. तदग्रिमद्वयोक्तम् अङ्गान्तरम् आहुः **हृद्** इत्यादि. तदग्रिमषडध्याय्युक्तं तृतीयम् आहुः **मननम्** इत्यादि. **अनेन** इति अङ्गत्रयकथनेन. एवं च अङ्गनिरूपणरूपे स्कन्धार्थे प्रकरणार्थानां विशेषरूपत्वात् सामान्यविशेषभावः, तान् प्रति अध्यायार्थानां च सः इति सङ्गतिः बोधिता ज्ञेया. प्रथमस्कन्धार्थान् परिच्छिन्दन्ति **केषाम्** इत्यादि. स्कन्धार्थभूतं केषां शब्दानां, किंशब्दविषयकम् इति आकाङ्क्षायां **श्रोतव्याः** शक्तौ तात्पर्ये च निर्धार्याः ये शब्दाः तेषां **विषयं** प्रतिपाद्यम् **आह** इति अर्थः. **दशविधा** इत्यादि. तथाच दशविधलीलाबोधकानां पद-वाक्यानां

दशविधलीलायुतः इति? तत्र आह **तदर्थम् अपरा कृतिः** इति. अन्यथा अग्रे निरूप्यमाणाः दश स्कन्धाः व्यर्थाः स्युः, पद-वाक्यानां च अनुपस्थित्वाद् अङ्गविचारोऽपि व्यर्थः स्यात्. तस्माद् अपरकृत्यनुपपत्त्या दशविधलीलायुक्तएव श्रोतव्यः. ननु शक्तितात्पर्यनिर्धारः कथं कर्तव्यः, केन कर्तव्यः इति आकाङ्क्षायाम् आह **शक्ति-** इति. अङ्गनिरूपणेनैव अङ्ग्यपि निरूपितो भवति. नहि सर्वाङ्गेषु सिद्धेषु अङ्गिसिद्धिः अवशिष्यते. तद् आह **अङ्गोक्त्यैव सुसंसिद्धः** इति. तदर्थं स्कन्धम् आह **द्वितीयः** इति. अनेन अङ्गानां स्कन्धे अङ्गिनो निरूपणं युक्तम् इति ज्ञापितम्. शक्तितात्पर्यनिर्धारो द्वितीयस्कन्धे न स्पष्टः इति तं स्पष्टयति **कृष्णस्य सर्वरूपत्वम्** इति. शक्तिसङ्कोचपक्षे न अन्यथा[१] पदानां भगवद्वाचकत्वं

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणम् इति अर्थः. **तस्माद्** इति उक्तहेतुद्वयानुरोधात् **शक्ती**त्यादि मूले. तथाच तत्त्वस्वरूपध्यान-चित्तशुद्धि-मननैः उपकृत्य अङ्गवाचकेन अनेन सामान्यतः कर्तव्यः इति अर्थः. ननु एवं सति श्रवणस्य स्कन्धार्थता आगता, पूर्वं तु टीकायाम् अङ्गनिरूपणस्य स्कन्धार्थता कण्ठतः उक्ता इति विरोधः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अङ्गे**त्यादि. **अङ्गी** इति श्रवणम्. तथाच एकद्वारा अन्यस्यापि सिद्धेः द्वयोः स्कन्धार्थत्वं न विरुद्धम् इति अर्थः. मूले **अङ्गविनिश्चये** इत्यत्र "निमित्तात् कर्मसंयोगे" (पाणि.सूत्र.भा. २।३।३६) इति सप्तमी ; अङ्गविनिश्चयार्थम् इति अर्थः. प्रथमस्य अर्थसिद्धिम् आशङ्क्य आहुः **शक्ती**त्यादि. **न स्पष्टः** इत्यादि. कोश-व्याकरण-मीमांसादिवद् अकथनात् न स्फुटः **इति** हेतोः **तं स्पष्टयति** भगवतः सर्वरूपत्वस्य तत्र बोधितत्वात् सर्वेषाम् अर्थानां संसर्गाणां च भगवद्रूपत्वे सिद्धे वक्तुः च तथा बोधने विवक्षिते सर्वेषां पद-वाक्यानां भगवद्वाचकत्वं तत्तात्पर्यकत्वं च निर्धारितं भवति इत्येवं स्फुटीकरोति इति अर्थः. ननु पृथिव्याः सर्वपार्थिवरूपत्वेऽपि यथा घटादिपदानां तत्र-तत्रैव शक्तिः, न पृथिव्यां, तथा अत्रापि शक्यवचनत्वात् सर्वस्य भगवद्रूपत्वेऽपि

---

१. **न अन्यथा** इति, जाति-तद्विशिष्टव्यक्ति-शक्तिपक्षेषु न.

सिद्ध्यति. एवं सति[1] श्रोतव्यविषयो दशविधलीलायुक्तएव भवति, अन्यथा[2]

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

कथं शक्त्यादिनिर्धारः इति शङ्कायाम् आहुः **शक्तीत्यादि.** अत्र **पदपदं** वाक्यानामपि उपलक्षकम्. तथाच एवं सिद्ध्यति— द्वादशे हि "ततोऽभूद् त्रिवृदोङ्कारो यो अव्यक्तप्रभवः स्वराट्... स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः, स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्" (भाग.पुरा. १२।६।३९-४१) इति वाक्यात् परमात्मवाचक-प्रणवविकृतीनां सर्वेषां शब्दानां भगवद्वाचकत्वस्य साहजिकत्वात् नामरूपव्याकरणादिश्रुतीनां शक्तिसङ्कोचनमेव अर्थः. भगवतः च सर्वरूपत्वं चतुःश्लोक्यां विवृतम्. अतएव एकादशेऽपि भगवता "मां विधत्ते अभिधत्ते माम्" (भाग.पुरा. ११।२१।४३) इति वक्ष्यते. अयं च अर्थो जाति-तद्विशिष्टव्यक्ति-प्रवाह-शक्ति-पक्षेषु न सिद्ध्यति इति ते पक्षाः सङ्कोचोत्तरभाविनएव आदरणीयाः. अतो भगवतः सर्वरूपत्वे शक्तिसङ्कोचनपक्षे च आदृते प्रथमस्कन्धे शौनकप्रश्नोत्तरं सूतेन "यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नः" (भाग.पुरा. १।२।५) इति सर्वेषां प्रश्नानां भगवानेव अर्थः इति यद् उक्तं तस्यापि तात्पर्ये विचारिते अत्रत्यानां पद-वाक्यानां भगवद्वाचकत्वं तत्तात्पर्यकत्वं च सिद्ध्यति, न अन्यथा इति सर्वस्य भगवद्रूपत्वे सुखेन तन्निर्धारः इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **एवं सति** इत्यादि. ननु उक्तरीत्या सर्वेषां भगवद्वाचकत्वं सिद्धम् इति कथम् अयं विषयसङ्कोचः

---

१. द्वितीयस्कन्धे प्रथमप्रकरणे **कृष्णस्य सर्वरूपत्वे निर्धारः पदवाक्ययोः** इत्यस्य विवरणे **एवं सति** इत्यादि **सार्थिका** इत्यन्तम्. श्रवणविधिप्रतिपादकेन द्वितीयस्कन्धेनैव कृष्णस्य सर्वरूपत्वे शक्तितात्पर्यप्रकारहेतुज्ञानार्थं ज्ञापिते **सति** श्रवणविषयाकाङ्क्षापूरणार्थं दशस्कन्धानाम् उक्तत्वात् **श्रोतव्यविषयो दशविधलीलायुक्तएव भवति.** दशविधलीला-युक्तस्य श्रोतव्यत्वाभावे श्रवणविधेः सामान्येन निरूपणापत्तेः दशस्कन्धातिरिक्तशब्दानां सामान्येन श्रोतव्यविषयाणाम् अनन्तत्वाद् द्वितीयस्कन्धश्रवणविधिः अपर्यवसन्नएव स्यात्! अतो अत्रोक्तस्य श्रवणविधेः पर्यवसानार्थम् उक्तत्वाद् दशस्कन्धानां सार्थकत्वम्. धर्मिमात्रश्रवणपरत्वे तु द्वितीयस्कन्धेनैव "तस्माद् भारत" (भाग.पुरा. २।१।५) इत्यनेन तस्य केवलधर्मिणः श्रोतव्यत्वनिरूपणात् पूर्वेणैव गतार्थत्वादपि वैयर्थ्यम् इति.

२. **अन्यथा** इति दशविधलीलेतरयुक्तस्यापि श्रवणविषयत्वे.

अनन्तत्वात् शब्दानां श्रवणाशक्तौ श्रवणविध्यपर्यवसानमेव स्यात्. यत्किञ्चित्पद-वाक्यनिर्धारो यत्रकुत्रचित् तत् न श्रवणम्. अतो अग्रिमा सर्वैव कृतिः सार्थिका. ननु मीमांसयैव अयम् अर्थः सिद्धः – "आत्मा ... श्रोतव्यः" (बृहदा.उप. २।४।५) इति तथैव सर्वैः श्रवणविधिः निरूपितः – इति आशङ्क्य आह **गुणातीतस्वरूपत्वे** इति. भगवतो हि रूपद्वयं— गुणातीतरूपं सगुणं च. तत्र वेदे गुणातीतमेव, पुराणे च सगुणम्. अतो वेदनिर्णयेन निर्णये गुणातीतमेव श्रोतव्यं स्यात्. अतो अत्र पृथङ्निरूपणम् उचितम् इति अर्थः. यतः **श्रुतयो निर्गुणाः**. अनेन तत्त्वध्यानस्य अङ्गता

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **तन्न श्रवणम्** इति. सर्वमुक्त्याद्यापत्तेः अनुभवविरोधाच्च तन्न श्रवणत्वेन विवक्षितम्. तथाच विधिपर्यवसानाय अग्रिमकृतिसार्थक्याय च अयं सङ्कोचः इति अर्थः. एवं प्रयोजने स्कन्धस्य उक्ते उत्तरमीमांसया स्कन्धस्य गतार्थत्वम् आशङ्कते **ननु** इत्यादि. **अयम्** इति भगवतः सर्वत्वरूपः. **तथैव** इति, "आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्" (बृहदा.उप. ४।५।६) इति आत्मज्ञाने सर्ववेदनरूप-फलस्य श्रवणाद् भगवतः सर्वरूपताज्ञानार्थः श्रवणविधिः इत्येवम्. **गुणातीतस्वरूपत्वे** इति श्रोतव्यस्य आत्मनः इति शेषः. तदेतद् उपपादयन्ति **भगवतः** इत्यादि. **गुणातीतम्** इति, गुणोत्पत्तेः तत्र अकथनात्, क्वचित् कथने तद्युक्ततया सृष्ट्याद्यकथनात्. **अतः** इति पुराणे सगुणस्यैव श्रोतव्यत्वात्. वेदे गुणातीतमेव कुतः उच्यते इत्यतः आहुः **यतः** इत्यादि. तथाच वेदे अनिरूपणात् सगुणं नास्त्येव इति न किन्तु ताः स्वाधिकारेण निरूपयन्ति इति न सगुणं निरूपयन्ति, नतु तदभावात् न निरूपयन्ति इति अर्थः. एवं चतुर्भिः द्वयोः स्कन्धार्थयोः निरूपणेन प्रथमप्रकरणार्थोपि उक्तएव इति आहुः **अनेन** इत्यादि. श्रुति-पुराणयोः अर्थप्रकारस्य विभागकथनेन प्रथमाध्यायोक्तस्य तत्त्वचिन्तनस्य सामान्यतो विशेषतः च अत्रत्यपद-वाक्ययोः शक्तितात्पर्यनिर्धारोपकारकता निरूपिता. अत्र तत्त्वानाम् ईश्वरशरीरे निवेशस्य उक्तत्वेन तत्तत्त्ववाचकानि पदादीनि तत्तदवयवबोधनद्वारा भगवत्पराणि इत्येवं

निरूपिता, अन्तरङ्गता च. तेन प्रथमं तन्निरूपणम् उचितम् इति भावः ॥२-५॥

द्वितीयाङ्गं साधयति **श्रोतुर्वक्तुस्तथा श्रद्धा** इति.

श्रोतुर्वक्तुस्तथा श्रद्धा सान्यसेवा बहिर्मुखा ।।
श्रोतुर्वक्तुः समुत्साहो नमनाद्यादरात् स्फुटः ॥६॥

एतदभावेऽपि श्रवणं न निर्वहति इति तथा. प्रथमप्रकरणवदेव च श्रद्धापि अन्तरङ्गम् इति अर्थः. पूर्वत्र भगवतः सर्वरूपत्वे सर्वेषां तदादीनाम् अर्थनिर्णयो भवति. प्रकृते श्रद्धा कथम् उपयुज्यते? नहि सर्वत्र शुद्धा

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

कथिता, तथा सञ्जातभक्तेरपि भगवद्भक्तिरूप-फलानुकूलत्वेन **अन्तरङ्गता** अतिशयितोपकारकता **च** उक्ता इति अर्थः. अतएव श्रुतिसम्मता द्वितीयाध्यायोक्ता. सूक्ष्मध्यानात् पूर्वम् एतत्कथनम् इति आशयेन आहुः **तेन** इत्यादि. अन्तरङ्गाङ्गत्वेन तथा इति अर्थः. एवञ्च एतस्य प्रकरणस्य ध्यानम् अर्थः ; तदध्यायद्वये आद्यस्य तत्त्वध्यानं द्वितीयस्य स्वरूपध्यानम् अर्थः इति उक्तम् ॥२-५॥

अतः परम् एकेन द्वितीयस्य प्रकरणस्य तदध्यायद्वयस्य च अर्थं वक्तुम् आहुः **द्वितीयम्** इत्यादि.

एतस्याः अङ्गत्वं कथम् इति आकाङ्क्षायां स्वरूपोपकारकत्वेन इति स्फुटीकुर्वन्ति **एतद्** इत्यादि. ननु एवं सति प्रथमस्कन्धएव वक्तव्यो, न अत्र इति आशङ्कायाम् आहुः **तथा** इत्यादि. तथाच तद् यथा श्रवणस्य स्वरूपे फले च उपकरोति तथा इयमपि इति अन्तरङ्गत्वात् न अधिकारस्कन्धे निवेशः इति अर्थः. ननु श्रवणादरत्वेन रूपेण श्रद्धायाः स्वरूपोपकारकत्वस्य पूर्वस्कन्धेऽपि सिद्धत्वाद् अत्र को वा विशेषो येन अत्रापि स्वरूपोपकारकत्वम् उच्यते इति आकाङ्क्षायां तं विशेषं वक्तुम्, अन्तरङ्गतां च साधयितुम् आहुः **पूर्वत्र** इत्यादि. **कथम्** इति, सर्वविषयत्वेन वा दशविधलीलायुक्तविषयत्वेन वा रूपान्तरे वा. तत्र आद्यं निषेधन्ति **नहि सर्वत्र** इत्यादि. द्विष्टादिषु तददर्शनात् तथा इति अर्थः. द्वितीयं

भवति नापि दशविधलीलापरिच्छेदे. अतः स्वरूपोपकारिण्यपि श्रद्धा पर्यवसानाभावात् न अङ्गं भवितुम् अर्हति इति आशङ्क्य आह **सान्यसेवा बहिर्मुखा** इति. अन्यसेवाबहिर्मुखत्वेन श्रद्धायाः श्रवणाङ्गत्वम्. यथा दशविधलीलायुक्तातिरिक्तस्य न श्रवणं तथा तत्प्रतिपाद्यरूपातिरिक्तरूपे न श्रद्धा, अतः पर्यवसानम् अस्त्येव. ततो अन्ये ब्रह्मणस्पतिप्रभृतयः श्रद्धाप्रकरणे निरूपिताः. तत्रापि **श्रोतुः** तस्य अन्यत्र श्रद्धायां श्रवणं व्यर्थं स्यात्. **वक्तुस्तु श्रद्धा नमनाद्यादरात् समुत्साहरूपा स्फुटैव** ॥६॥

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

निषेधन्ति **नापि** इत्यादि. तथा सति गुणातीतश्रवणे अश्रद्धा आपद्येत इति तथा इति अर्थः. अथ द्विष्टादिभावस्य त्याज्यत्वात् सर्वविषयत्वेनैव उपयोगः आद्रियेत, तदा तु तस्याः अङ्गत्वमेव हीयेत इति आहुः **अतः** इत्यादि. तथाच रूपान्तरस्य अशक्यवचनत्वाद् आदरस्य च पूर्वम् उक्तत्वाद् अत्र स्वरूपोपकारकत्वम् अस्याः न उचितम् इति आशङ्कार्थः. समाधिं व्याकुर्वन्ति **अन्यसेवा** इत्यादि. तथाच अनेन रूपेण उभयाङ्गत्वात् न पूर्वस्कन्धे निवेशो न वा पूर्वप्रकरणतौल्यहानिः इति अर्थः. एवं तृतीयाध्यायार्थो निर्णीतः. तुरीयस्य आहुः **वक्तुः** इत्यादि. **समुत्साहरूपा** इति निष्कामानन्यभक्तिकर्तव्यताध्यवसायरूपा. अत्र यद्यपि आचार्यैः वाक्यानि न विभक्तानि तथापि पूर्वस्कन्धनिबन्धे अध्यायद्वयस्य वक्त्रधिकारबोधकतया उक्तत्वाद् विभज्यन्ते. तत्र प्रथमे अध्याये चतुर्दशभिः प्रथमप्रश्नोत्तरं, सप्तभिः द्वितीयस्य, शेषोऽध्यायः तदुभयशेषः. द्वितीये सप्तभिः पूर्वाध्यायोक्तस्य अर्थस्य पूर्वकाण्डार्थनिश्चायकत्व-समर्थनं, षड्भिः द्वितीयकाण्डार्थनिश्चायनम्, एकेन धारणाधिकारिविभागः, सप्तदशभिः म्रियमाणस्यैव धारणावश्यकता सपरिकरा विचारिता, द्वाभ्यां श्रुतिसमानाधिकरणत्वाय श्रौतार्थनिर्णयः, एकेन सर्वेषां शास्त्राणाम् एतदेकदेशानुसारित्वं, द्वाभ्याम् उक्तार्थनिगमनेन उक्तोपसंहारः. एवम् अध्यायद्वयेन सर्वशास्त्रार्थसङ्ग्रहाद् उत्तमवक्तुः अधिकारस्य सर्वज्ञत्व-साम्प्रदायिकश्रुतभागवतत्व-भक्तत्वपूर्वक-परमविरक्तत्वरूपस्य सिद्धिः. तृतीये द्वादशभिः अन्यसेवा-बाहिर्मुख्यबोधनेन श्रोतुः प्रोत्साहनाद्

एवं मध्यमप्रकरणार्थम् उक्त्वा तृतीयप्रकरणे अवान्तरप्रकरणभेदो अस्ति इति तद्भेदकं निरूपयति **उत्पत्त्या च** इति.

उत्पत्त्या चोपपत्त्या च सर्वत्वं तस्य चिन्त्यते ॥
तथाच व्यतिरिक्तत्वं फलतस्त्वस्य निर्णयः ॥७॥

उत्पत्त्या विमर्शः त्रिभिः **उपपत्त्या च** त्रिभिः ; उभाभ्यां भगवतः **सर्वत्वमेव** विचार्यते. **च**काराद् उत्पत्तौ उपपत्तिः तथा उपपत्तौ उत्पत्तिः इति. सर्वस्य उत्पत्त्यैव निर्णये पृथग्रूपस्थित्यभावे उत्पत्तिरेव न घटेत इति **व्यतिरिक्तत्वं च** उभयत्र वक्तव्यम्. सर्वस्यैव उपपत्तिमत्त्वेन परमं

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

उत्तमश्रोतुः तादृशी श्रद्धा. शेषैः आद्यश्रोतुः. तावता प्रत्याहारन्यायेन तदुपनिबन्धनेन च मध्यमस्यापि उक्तप्रायात् तुरीये प्रथमैकादश पूर्वशेषाः, तदुत्तरं वक्तृश्रद्धाप्रकाशकाः इति. एतावपि वक्त्रधिकारविचारे तस्यैव शेषौ इति च अग्रे ''नमनेनैव निर्धारम्'' (का. २६) इत्यत्र स्फुटीभविष्यति ॥६॥

प्रकृतम् अनुसरामि. एवं प्रकरणद्वयार्थं निर्णीय एकेन तृतीयप्रकरणार्थं विचारयन्ति **एवम्** इत्यादि.

अत्र भेदकद्वयकथनेन उभयव्यपदेशाद्यधिकरणद्वयार्थः (ब्रह्मसूत्र ३।२।२७-२८) स्मार्यते. तेन ''वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि'' (त.दी.नि. १।७) इत्यत्रोक्तं प्रथमैक्यं सेत्स्यति इति बोध्यते. ननु सर्वस्य उत्पत्त्यैव भगवतः सर्वत्वनिर्णये व्यतिरिक्तत्व-कथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **सर्वस्य** इत्यादि. **सर्वस्य** भगवतः सकाशाद् **उत्पत्त्यैव** भगवतः सर्वोपादानत्वेन सर्वत्व**निर्णये पृथक्स्थित्यभावे** वृक्षबीजन्यायेन कृत्स्नप्रसक्तौ **उत्पत्तिरेव न घटेत** कर्तुः अभावात् न उपपद्येत **इति** तदर्थम् उभयत्र तन्निरूपणम् इति अर्थः. ननु एवं व्यतिरिक्तत्वमात्र-कथनेऽपि निखिलजगत्कर्तृतया माहात्म्ये ज्ञाते स्नेहस्य भक्तित्वसिद्धेः सर्वत्वनिरूपणस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **सर्वस्य** इत्यादि. सर्वस्य ततः उत्पत्त्यनुक्तौ लौकिककर्तृन्यायेन सगरवद् असमर्थात् समर्थोत्पत्तेरपि शक्यवचनत्वात् परमं माहात्म्यं न भवेत्. सर्वस्य उत्पत्तिमत्त्वे तु व्यतिरिक्तस्य अजन्यत्वाद् भवेत्. अतः परत्वज्ञापनं तत्प्रयोजनम्

माहात्म्यं भवेत्. तर्हि तस्य उत्पत्त्युपपत्त्यभावात् कथं निर्णयः इति आशङ्क्य आह **फलतस्तु अस्य निर्णयः** इति. उभयविचारेण विचारितस्य तत् फलम् अर्थात् साधकं च, अतः तन्निर्णयार्थं न किञ्चिद् वक्तव्यम् इति अर्थः ॥७॥

एवम् अङ्गानि निर्णीय तेन अङ्गिसिद्धिम् आह **ततो लीलाः सदा वाच्याः** इति.

ततो लीलाः सदा वाच्याः श्रोतव्याः श्रवणेन हि ॥
म्रियमाणे विशेषेण योगो ह्यष्टाङ्गः ईर्यते ॥८॥
अन्ते मतेर्गतित्वं[१] हि मनश्चञ्चलमस्थिरम् ॥
पाक्षिकोऽपि हि दोषोऽत्र परिहार्यः सुसात्त्विकैः ॥९॥

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

इति अर्थः. तज्ज्ञानस्य दौर्लभ्यम् आशङ्कते **तर्हि** इत्यादि. व्यतिरिक्तत्वस्य अवश्यज्ञाप्यत्वे तस्य व्यतिरिक्तरूपस्य ज्ञापकभूतोत्पत्त्युपपत्त्योः अभावात् तस्मिन् व्यतिरिक्ततायाः केन हेतुना निर्णयः, तस्य वा रूपस्य केन हेतुना निर्णयः **इति आशङ्क्य** इति अर्थः. ज्ञापकं व्याकुर्वते **उभये**त्यादि. उत्पत्त्युपपत्ति**विचारेण विचारितस्य** सर्वरूपत्वस्य **तद्** रूपं **फलं** तद् विचारात् प्राप्यम् **अर्थात्** सर्वोत्पत्त्यादिरूपात् **साधकम्** उत्पादकं **च. अतः** कारणतानिर्वाहकस्य तस्य धर्मस्य तस्य कारणरूपस्य च कार्येणैव निर्णयात् तज्ज्ञापनाय हेत्वन्तरं न वक्तव्यम् इति अर्थः. एवम् एकेन तृतीयप्रकरणार्थो निर्णीतः ॥७॥

तेन अङ्गिसिद्धिम् आह इति. अग्रे लीलानामेव उक्तत्वाद् अङ्गान्तरानपेक्षां बोधयितुं तावतैव श्रवणसिद्धिम् अर्धेन आह इति अर्थः.

मूले **ततः** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी ; तत्कृत्वा. तद् व्याकुर्वते

---

१. **अन्ते मतेः गतित्वम्** इत्यादि. "अन्ते या मतिः सा गतिः" (लौकि.न्या.सा. १६६) इति वाक्याद् अन्ते मतेः फलत्वम्. हिः त्वर्थे. **मनस्तु चञ्चलम् अस्थिरं, हिः** हेतौ, अतो हेतोः योगेन **पाक्षिकोऽपि दोषो** अस्थिरस्वरूपः **परिहार्यः** इति अर्थः. **चञ्चलम्** इत्यस्य अर्थकथनम् **अस्थिरम्** इति.

(**ततो!**) भगवन्तं निर्णीय भगवल्**लीलाः वाच्याः** कीर्तितव्याः, अन्यथा लीलात्वमेव न स्याद् इति. तथैव श्रोत्रापि श्रोतव्याः, एवं स्मर्तव्याः इति सर्वदा कर्तव्यं सेत्स्यते इति. एवं सदा कर्तव्ये श्रवणे सर्वस्य भागवतस्य उपयोगम् उक्त्वा द्वितीयप्रश्नोत्तरं विचारयति **म्रियमाणे विशेषेण** इति. तत्र **योगो अष्टाङ्गः** कर्तव्यः. तत्र हेतुम् आह **अन्ते मतेः** इति. अतः पाक्षिकदोषपरिहारार्थं योगोपयोगः ॥८-९॥

तस्य साधनानि आह.

गृहत्यागस्तीर्थवासो योगाभ्यसनमेव च ॥
अन्तकाले त्ववश्यं हि यथा चित्तं न भिद्यते ॥१०॥

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

भगवन्तम् इत्यादि. ननु यथाकथञ्चिच्छ्रवणेऽपि फलसिद्धेः किमिति भगवन्निर्णयानन्तर्यपेक्षा इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. "लीला विदधतः स्वैरं" (भाग.पुरा. १।१।१८), "अमोघलीलः" (भाग.पुरा. १।३।३६), "लीलावतारानुरतः" (भाग.पुरा. १।२।३४) इत्यादिवाक्यैः अत्र सर्गादीनां श्रवणं लीलात्वेन विवक्षितं, नतु "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च, वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्" (वराहपुरा. २।४) इतिवत् सर्गत्वादिरूपेण. लीला च अनायासेन क्रियमाणं कर्म. अनायासज्ञानं तु भगवत्स्वरूपज्ञानाधीनम्. अतः तन्निर्णयाभावे सर्गादीनां **लीलात्वमेव** ज्ञातं **न स्यात्**, तदभावे तच्छ्रवणफलमपि न स्याद् अतः तथा इति अर्थः. एषः चतुर्दशभिः उक्तस्य प्रथमप्रश्नोत्तरस्य अर्थः इति आहुः **तथैव** इत्यादि. **द्वितीयप्रश्नोत्तरम्** इति "अन्तकाले" (भाग.पुरा. २।१।१५) इत्यादि सप्तश्लोकोक्तम्. मूले **विशेषेण** इति, आग्रहेण श्रवणादिकमेव कर्तव्यम् इति अर्थः. **विशेष**पदोक्ताऽऽग्रहस्वरूपम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र हेतुम् आह** इति, आग्रहे किं बीजम् इति आकाङ्क्षायाम् आग्रहबीजम् एकेन आह इति अर्थः ॥८-९॥

तस्य साधनानि आह इति, योगस्य अङ्गानि अर्धेन आह इति अर्थः.

गृहत्यागः तीर्थवासः इति साधनत्रयम्. श्रवण-योगयोः विकल्पः इति विमर्शः, समुच्चयः इति केचिद्, भिन्नो अधिकारः इति अन्ये – संस्कारो अत्र नियामकः – बहिर्मुखान्तर्मुखव्यवस्था इति अपरे. शुकेन पूर्वजन्मनि तथा कृतम् इति स्वानुभूतं तद् आह. श्रवणं तु व्यासाद् अवगतम् इति विमर्शः. अतएव आह **अन्तकाले तु अवश्यं हि** इति ॥१०॥

ननु ज्ञानमार्गं परित्यज्य भक्तियोगं वा किमिति अवोचत्? तत्र आह.

श्रुतात्मब्रह्मभावस्य नानन्दानुभवः सदा ॥
मनसश्चञ्चलत्वाद्धि स्थिरे योगेन साधिते ॥११॥
सगुणां मानसीं मूर्तिं हरेः कृत्वाऽण्डरूपिणीम्[१] ॥
अन्तर्यामिस्वरूपां वा ध्याने सत्त्वमये हृदि ॥१२॥
प्रकटः परमानन्दः तत्र स्थित्वा सुखी भवेत् ॥
गुणानां प्रेरकत्वे हि स्थिरता साधने मता ॥१३॥

श्रुतात्मब्रह्मभावस्य इति. येन स्वात्मा ब्रह्मत्वेन श्रुतः "तत्त्वमस्या"दि-वाक्यैः (छान्दो.उप. ६।८।७) तस्य अवश्यं कर्तव्यान्तराभावाद्

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

भिन्नाधिकारस्वरूपम् आहुः **संस्कारः** इत्यादि. यस्य यद्विषयः संस्कारः तेन तत् कर्तव्यम् इति अर्थः. **बहिर्मुखे**त्यादि. बहिः भगवन्तं ज्ञातुम् इच्छुः **बहिर्मुखः**, अन्तः ज्ञातुम् इच्छुः **अन्तर्मुखः** इति अर्थः. विकल्पपक्षः तर्हि कुतः आद्रियते इति आकाङ्क्षायां विमर्शस्वरूपम् आहुः **शुकेन** इत्यादि. तथाच शिवरूपेण सर्वदा तत् कृतवान् इति अन्तकाले चित्तस्थैर्यार्थं स्मरणशेषं योगम् आह इति अर्थः. मूले **अवश्यम्** इत्यादि. श्रवणान्यतमं वा गृहत्यागादि-साधनत्रयं वा, **अवश्यं** कर्म कर्तव्यं **यथा चित्तं न भिद्यते** भगवति नीयमानं चित्तं येन प्रकारेण भिन्नं ततो न भवति तथा इति अर्थः ॥१०॥

---

१. **अण्डरूपिणीम्** इति प्रथमाध्यायोक्तां ब्रह्माण्डरूपिणीम्. तथा द्वितीयाध्यायोक्तां द्वितीयाम् इति मूलार्थः.

आनन्दानुभवेन भाव्यम्. स न जायते इति किञ्चिद् अन्यत् साधनम् अन्वेषणीयम्. ततो नियतफलेषु साधनेषु पूर्वं श्रुतिः अप्रयोजिका इति साधनमेव उपदेष्टव्यम् इति भावः. अनेन व्यपदेशपक्षो गृहीतः. सिद्धपक्षस्य अनुभवविरोधात् – "अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः" (बृहदा.उप. ४।४।५) इति शास्त्रतएव तथोक्तिः, यथा प्रतिमायां विष्णुबुद्धिः, तस्मात् तं पक्षम् अप्रयोजकं मत्वा – मनोराज्यतुल्यम् इति तत् न उक्तवान्. योगस्य आवश्यकत्वम् आह **मनसः चञ्चलत्वाद् हि** इति. अस्य पक्षस्य फलपर्यवसानम् आह— **योगेन** चित्ते स्थिरीभूते **मानसीं**

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

पूर्वम् इति साधनकरणात् पूर्वम्. **श्रुतिः** इति, श्रवणम् इति अर्थः. तथाच कृतादिकालेषु कृतैः साधनैः शुद्धचित्तानां सा उपयुज्यते, न इदानीन्तनानाम्, अतः तं मार्गं परित्यज्य इदम् उपदिष्टम् इति अर्थः. ननु आत्मनः सिद्धे ब्रह्मत्वे कुतो न आनन्दानुभवः? नच दोषाद् इति वाच्यं, तस्मिन् सति तत्सम्बन्धस्यैव अशक्यवचनत्वात्. नच अनादिः तत्सम्बन्धः इति युक्तं, तथा सति अभेदस्यैव बाधात्. नच श्रौतत्वात् न बाधः, तथा सति यथा अनुपलभ्यमानेऽपि धर्मे अव्यतिरेकेण आत्मनो ब्रह्मरूपत्वं प्रवर्तयति, बलिष्ठत्वात् तत्प्रमितिं च जनयति, तथा ब्रह्मत्वस्य विद्यमानत्वाद् आनन्दप्रमितिं जनयेद्, दोषमपि न निवारयेत्. अतो "नित्यो नित्यानाम्" (श्वेताश्व.उप. ६।१३) इत्यादिश्रुत्यन्तराद् भिन्नएव जीवात्मा आदरणीयः. अभेदश्रुतिस्तु ब्रह्मशरीरत्वात् साजात्याद् वा नेया इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अनेन** इत्यादि. ज्ञानमार्गाकथनेन "तद्गुणसारत्व"-सूत्रसिद्धो (ब्रह्मसूत्र २।३।१९) **व्यपदेशपक्षः** ब्रह्मांशत्वेन ब्रह्मगुणवत्त्वेन च आत्मनि ब्रह्मत्वम् उपचर्यते इति पक्षो **गृहीतः** इति अर्थः. तदादरेऽपि श्रुतिरेव बीजं, न दृष्टार्थापत्तिमात्रम् इति आहुः **अयम्** इत्यादि. तथाच विज्ञानमयत्वरूपस्य समानधर्मस्य श्रुत्यन्तरे निर्देशाद् व्यपदेशपक्षस्य शास्त्रतएव आदरः इति अर्थः. तत्र दृष्टान्तः **यथा** इति, आकृतिसाम्याद् इति अर्थः. **तस्माद्** इति श्रुति-प्रत्यक्ष-विरुद्धत्वात्. **आवश्यकत्वम् आह** इति, द्वाभ्याम्

मूर्तिं तत्र ध्यात्वा तेन ध्यानेन चित्ते **सत्त्वमये** जाते **परमानन्दः प्रकटो** भवति इति तत्र नित्यं स्थितः **सुखी भवेत्**. ततो ज्ञानफलमपि तत्र सिद्ध्यति. यदा पुनः मनो रजस्तमोभ्याम् अन्यथा भवति तदा साधनपरएव भवेत् ॥११-१३॥

एतत् न आसन्नमरणस्य उच्यते किन्तु यो मरणं वाञ्छति तस्य. तादृशस्य साधनं फलम् (च!) आह.

आमृतेस्तत्र तिष्ठेत बुद्ध्या वा तनुम् उत्सृजेत् ॥
लिङ्गं च तत्र त्यक्तव्यम् अग्रे[1] गत्वाऽथ वा त्यजेत् ॥१४॥
धर्मस्य वासनाशेषाद् यदीच्छा पारलौकिके ॥
स्थूलस्य भावनायां हि यदि मृत्युस्तदा भवेत् ॥१५॥
चतुर्मुखत्वं सूक्ष्मे तु प्रधानफलमेव हि ॥
मनोमय्या अपि यतो मुक्तिदातृत्वमुच्यते ॥१६॥
स्थूलेन भाविते चित्ते भक्तिः सूक्ष्मे तदा मनः ॥
भक्त्यभावे तथा रागे न सूक्ष्मे[2] विशते मनः ॥१७॥

आमृतेः तत्र तिष्ठेत इति योगेन आयुर्वृद्धौ ; बुद्धिपूर्वकं **वा तनुम् उत्सृजेत्**. तत्रापि पक्षद्वयं— सर्वकामनाभावे देहत्यागसमयएव **लिङ्गमपि त्यक्तव्यं** – तदा सद्योमुक्तिः – क्रमेण वा अंशतः त्यागः – तदा क्रममुक्तिः – इति. ननु सद्योमुक्तौ सत्यां कथं क्रममुक्तिपक्षः तत्र आह **धर्मस्य वासनाशेषाद्** इति. पूर्वं कृताः धर्माः स्वर्गादिसाधकाः ; ते योगं साधयित्वा क्रमेण निवृत्ताअपि फलांशे वासनाशेषाः तिष्ठन्ति.

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

आह इति अर्थः. **ज्ञानफलम्** इति नित्यनिरतिशय-जैवानन्दाभिव्यक्तिम्. **यदा** इत्यादि. इदं **गुणानां प्रेरकत्वे हि** इत्यर्धस्य व्याख्यानम् ॥११-१३॥

एतद् इति योगाभ्यसनम्. इदं सर्वं द्वितीयाध्यायस्थानां "स्थिरं सुखम्" (भाग.पुरा. २।२।१५) इत्यादीनां तात्पर्यम्.

---

१. मूले **अग्रे गत्वा** इति, लिङ्गं संरक्ष्य अग्रे त्यजेद् इति अर्थः.

२. **सूक्ष्मे तदा मनः** इति, तादृशे चित्ते यदा भक्तिः तदा मनः सूक्ष्मे विशते.

तदा परलोकेच्छा. इदानीं ध्येयभेदेन फलभेदम् आह **स्थूलस्य** इति. "अन्ते या मतिः" (लौकि.न्या.सा. १६६) इति सोऽपि[1] विराड् भवति. तस्य[2] लोकव्यवहार्यरूपं **चतुर्मुखत्वम्. सूक्ष्मे तु प्रधानफलं** सद्योमुक्तिः क्रममुक्तिः वा. एवं सति योगेनैव मुक्तिः, न भक्त्या, इति पूर्वम् उक्तः श्रवणादिमार्गो व्यर्थएव इति आशङ्क्य आह **मनोमय्याअपि** इति. अत्र अष्टाङ्गे योगे ध्यानमेव प्रसाधकं, विषयप्राबल्यात्, ततः कैमुतिकन्यायः ; श्रवणादिना तु स्वाभाविको[3] भगवान् आविर्भवति इति महानेव विशेषः. ननु एवं कल्पनायां किं प्रमाणं? तत्र आह **स्थूलेन भाविते चित्ते** इति. यतो अयं ध्येयद्वयम् आह. तत्रापि "यावन्न जायेत" (भाग.पुरा. २।२।१४) इति वाक्येन स्थूलध्यानस्य भक्तिशेषत्वम् उक्तम्. सूक्ष्मध्यानस्य च भक्तिसाध्यत्वेनैव फलसाधकत्वम्. तद् आह **भक्त्यभावे** इति ॥१४-१७॥

अन्यदपि नियामकम् अस्ति इति आह **सर्वस्य** इति.

सर्वस्य भक्तिशेषत्वं तद्धेतुः श्रवणादिकम् ॥
निर्वाहकं तदन्योन्यं तेन त्रयमुदीर्यते ॥१८॥

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

प्रसाधकम् इति. यमादिपञ्चकं तस्य अङ्गं, धारणा तु तस्यैव अवस्थाभेदः, समाधिस्तु योगएव इति ध्यानं प्रकर्षसाधकम् इति अर्थः. **उक्तम्** इति. तथाच तदेव एवं कल्पनायां प्रमाणम् इति श्रवणादिमार्गो न व्यर्थः इति अर्थः. ननु अस्तु स्थूलध्यानस्य भक्तिशेषत्वं तथापि सूक्ष्मध्यानस्य तथात्वाभावात् तेन योगस्य फलदत्वे व्यर्थैव इयं कल्पना इत्यतः आहुः **सूक्ष्मे**त्यादि. तथाच भक्त्यभावे तदभावात् तस्यापि भक्तिशेषत्वमेव इति न श्रवणादिमार्गो व्यर्थः इति अर्थः ॥१४-१७॥

नियामकम् इति कल्पनानियामकम्. शिष्टम् अतिरोहितार्थम्. एवम् एकादशभिः अध्यायद्वयार्थो निरूपितः, विषयस्य ऐक्यात् ॥१८-२० १/२॥

---

१. **सोऽपि** इति उपासकोऽपि इति. २. **तस्य** इति विराजः.

३. **स्वाभाविकः** इत्यनेन विषयप्राबल्यम् उक्तम्.

“न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्थाः” (भाग.पुरा. २।२।३३) इति उपसंहारे भक्तिशेषत्वेनैव सर्वम् उपसंहृतम्. तस्याश्च **हेतुः श्रवणादिकम्**. यद्यपि प्रत्येकमेव भक्तिसाधकं तथापि **तद् अन्योन्यनिर्वाहकं, तेन त्रयम्** उच्यते. अन्योन्यनिर्वाहकत्वं टीकायां निरूपितम् ॥१८॥

ननु श्रवण-योगयोः विकल्पे किं सर्वदा श्रवणेन! अन्ते योगएव साधनीयो अल्पकालसाध्यत्वाद् इति आशङ्क्य आह.

बहुकालविलम्बे तु सुगमं त्वेतदेव हि ॥
अन्यथा पापसंवृद्धौ न त्यागे विशते मनः ॥१९॥
अत्यागेऽपि हरिः प्रीतः स्वयं वा साधयेत् फलम् ॥
एवं श्रीकृष्णभजनम् अध्यायद्वितयेन हि ॥२०॥
श्रवणादिभिरुक्तं हि नित्यमेतत् न चेतरत् ॥

बहुकालविलम्बे तु इति, अन्तकालसन्देहे योगे प्रवृत्तो दुःखं प्राप्नोति, श्रवणादौ तु सुखम्. अतः सुगमत्वात् पूर्वोक्त्यायेन [१]आवश्यकत्वाच्च श्रवणं कर्तव्यम्. किञ्च योगपक्षेऽपि श्रवणम् आवश्यकम् इति आह **अन्यथा** इति. श्रवणाभावे[२] नित्यम् उपचीयमानपापेन योगाङ्गत्यागो न भवेत्. श्रवणे तु न योगापेक्षा इति आह **अत्यागेऽपि** इति. प्रथमप्रकरणार्थम् उपसंहरति **एवम्** इति. योगस्य गौणत्वाद् भक्तिमार्गएव उपसंहृतः. तत्र हेतुं वदन् योगस्य गौणताम् आह **नित्यम् एतद्** इति. श्रवणमेव मुख्यं, योगो न मुख्यः इति अर्थः. नियतफलसाधकं वा अकरणे प्रत्यवायो वा, [३]तव्यप्रत्ययस्यापि लोके विधित्वाङ्गीकारात् ॥१९-२०॥

एवम् अध्यायद्वयार्थं विचार्य तृतीयाध्यायार्थं विचारयति **कामेन तु**

श्रीपुरुषोत्तमानां आवरणभङ्गः

अतः परं सार्धैः त्रिभिः तृतीयाध्यायार्थम् आहुः **एवम्** इत्यादि.

---

१. भक्तिम् अन्तरा सूक्ष्मध्यानस्य फलासाधकत्वरूपणे. २. **श्रवणाभावे** इत्यादि. “प्रविष्टं कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहं, धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरद्” (भाग.पुरा. २।८।५) इति वाक्यात्.

३. **तव्यप्रत्ययस्य** इति “तस्माद् भारत” (भाग.पुरा. २।१।५) इति पद्योक्तस्य.

अन्यभजनम् इति.

कामेन त्वन्यभजनमस्मिन् कामोऽपि सिद्ध्यति ।।२१।।
सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यम् असेवायां भविष्यति ।।
निषिद्धार्थत्वसाम्येन द्वयमेकत्र चोदितम् ।।२२।।
श्रोतुरुत्साहकथने सन्देहाच्छौनके कृतम् ।।
भजने बाधनिर्धारो द्वयम् एकत्र सिद्ध्यति ।।२३।।
यावत् प्रभोः स्वरूपं च गुणाः कर्मादयस्तथा ।।
न सम्यगवगम्यन्ते तावद् भजनसंशयः ।।२४।।

आवश्यकत्वाभावाद् बाधाभावाच्च न अन्यभजनं प्राप्नोति किन्तु कामे विद्यमाने तत्तद्विषयाधिकारिणां भजनं भवति. तत् महाप्रभोरपि भजने भवति इति ज्ञापयति[१]. प्रत्युत अभजने **सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यं**[२] च. अतो भजनावश्यकत्वाय तृतीयाध्यायः. अनेन ज्ञानिनोऽपि देहेन्द्रियाणां वैफल्यं निरूपितम्. कामाभावेऽपि इन्द्रियाणां सार्थकत्वाय भजनं कर्तव्यम्. तत्तदभिमानिन्यो देवता भगवत्सम्बन्धम् अप्राप्य दुःखिताः सत्यो मोक्षे ज्ञाने वा विघातं कुर्युः इति भावः. आत्मभूतत्वेऽपि वैफल्यात्[३]. यथा

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

बाधाभावाद् इति तस्य अकरणे भगवद्भजनबाधाभावात्. ननु ज्ञानवतः इन्द्रियादिषु आत्मबुद्ध्यभावाद् इन्द्रियवैफल्येऽपि को दोषः इत्यतः आहुः **कामाभावेऽपि** इत्यादि. ननु सिद्धज्ञानस्य तु न अयमपि दोषः इत्यतः आहुः **आत्मभूते**त्यादि. तथाच तत्र इन्द्रियवैफल्यमेव तस्य

---

१. **ज्ञापयति** इति. ''अकामः सर्वकामो वा'' (भाग.पुरा. २।३।१०) इति वाक्ये श्रीशुको ज्ञापयति. तथाच अस्मिन् भगवद्भजने कामएव न सिद्ध्यति किन्तु कामाः मोक्षश्च इति उभयं सिद्ध्यति इति मूलार्थः. २. **वैफल्यम्** इति ''श्वविड्वराह-'' (भाग.पुरा. २।३।१९) इत्यादिश्लोकतात्पर्यम्. ३. तृतीयाध्याये **सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यम् असेवायाम्** इति कारिकाव्याख्याने **आत्मवैफल्येऽपि वैफल्याद्** इति. अत्र **आत्म**शब्देन इन्द्रियाणि. तेषां वैफल्यं = तत्तदिन्द्रियैः भगवत्सम्बन्धाभावः. तदापि जीवस्य वैफल्याद् भगवत्सम्बन्धाभावाद् हेतोः तृतीयाध्यायस्य भगवद्भजनावश्यकत्वार्थ-

अकल्पो अग्निं प्रविशति. अतः सर्वेन्द्रियैः भजनं कर्तव्यम् इति श्रद्धा निरूपिता. ननु एकस्मिन् अध्याये कथम् अर्थद्वयनिरूपणं : देवतान्तरभजननिषेधो, भगवद्भजननिषेधः च इति ? तत्र आह **निषिद्धार्थत्वसाम्येन** इति. तृतीयाध्याये श्रोतुः श्रद्धा वक्तव्या. तत्र राजनि श्रद्धा निश्चिता, पूर्वस्कन्धे उत्तमाधिकारित्वेन निरूपणात् ; शौनके सन्देहः. **श्रोतुः उत्साहकथने** वक्तव्ये **शौनके सन्देहात्** तत्रैव **कृतं** निरूपितम् इति अर्थः. **भजने बाधनिर्धारः** तु देवान्तरभजनरूपः, सः साधारणः इति शेषः. इन्द्रियाणां दुष्टत्वं च. **द्वयम्** एकेनैव प्रकारेण

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

अनीशत्वापादकम् इति सएव तत्र दोषः इति अर्थः. **निरूपिता** इति, सर्वम् उक्त्वा अग्रे "एतावानेव यजताम्" (भाग.पुरा. २।३।११) इति द्वाभ्यां श्रोतृप्रोत्साहनेन श्रीशुकैरेव निरूपिता इति अर्थः. **एकस्मिन्** इत्यादि. श्रोतृश्रद्धानिरूपकतया एकस्मिन् अध्याये कथं निषेधद्वयस्य प्रकारता इति अर्थः. ननु श्रोतृश्रद्धा अध्यायार्थः, सा तु उत्साहनादेव सिद्धा इति शौनकप्रश्नोपनिबन्धनस्य किं प्रयोजनम् इत्यतः आहुः **तृतीये**त्यादि. **निरूपितम्** इति श्रद्धालुत्वं निरूपितम्. तथाच श्रोतृमात्रे नान्यत्वरूपैव श्रद्धा फलोपकारिणी, नतु केवलश्रवणादरमात्ररूपा इति ज्ञापनार्थं तत्कथनम् इति अर्थः. ननु निषेधद्वयस्य उत्तमश्रोतृश्रद्धायाम् अस्तु प्रकारता, शुकदेवेन तद्द्वारा तत्प्रोत्साहनाद्, जघन्ये कथं प्रकारता इत्यतः आहुः **भजने** इत्यादि. **साधारणः इति** इति श्रद्धाद्वयेऽपि सर्वथा अपेक्षितः. **च** इति, बाधकतया साधारणम् इति अर्थः. ननु प्रकारतया विवक्षितस्य निषेधस्य अप्रतीयमानत्वात् कथं तेन रूपेण अध्यायार्थता इत्यतः आहुः **द्वयम्** इत्यादि. **एकेन**

त्वम् —एवं साध्येन अन्वयः. अत्र उदाहरणम् **अकल्पो अग्निम्** इति. "यदाकल्पः स्वक्रियायाम्" (भाग.पुरा. ७।१२।२३) इत्यनेन अकल्पस्य अग्निप्रवेशः. "कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य" (भाग.पुरा. ७।१३।१) इत्यनेन कल्पस्य संन्यासः उक्तः. अत्र देहस्य फलं सर्वसंन्यासपूर्वकं देहेन साध्यानुष्ठानम्. तत् सामर्थ्याभावे सति न सिद्ध्यति. तदा जीवस्यापि संन्यासफलं न स्याद् इति यथा देहवैफल्ये जीवस्य वैफल्यं तथा इन्द्रियाणां भगवत्सम्बन्धाभावेऽपि जीवस्य भगवत्सम्बन्धरूपं फलं न स्याद् इति अर्थः.

सिद्ध्यति इति विधिमुखतया[१] तृतीयाध्यायार्थः. देवतान्तरभजनम् इन्द्रियदोषः च बाधकः इति. इन्द्रियदोषे च देवतान्तरभजनम्, अन्यभजने च इन्द्रियदोषः इति. ननु एवं शौनकस्य भजनावश्यकत्वज्ञाने सिद्धे किं प्रश्नेन इति आशङ्क्य आह **यावत् प्रभोः** इति. स्वरूपाद्यज्ञानेऽपि भजनं न सिद्ध्यति इति तदर्थं प्रश्नः ॥२१-२४॥

एवं शौनकोत्साहं निरूप्य राज्ञोऽप्युत्साहं चतुर्थाध्यायादौ निरूपयति इति आह **भजनार्थम्** इति.

भजनार्थं समुत्साहो ममतानाशपूर्वकः ॥
त्यक्तोऽपि विषायोऽन्तःस्थो ज्ञानादेव निवर्तते ॥२५॥

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

इति अनन्यभजनरूपेण. **विधिमुखतया** इति, "यजेत पुरुषं परम्" (भाग.पुरा. २।३।१०) इत्यस्य विधेः परिसङ्ख्यारूपेण द्वारतया. मूलस्थ-**बाधपदस्य** "करणाधिकरणयोश्च" (पाणि.सूत्र ३।३।११७) इति करणार्थकत्वबोधनाय आहुः **बाधक-** इति. ननु करणव्युत्पन्नस्य **बाधकपदस्य** कथम् उभयसङ्ग्राहकता इति अपेक्षायाम् आहुः **इन्द्रिय-** इत्यादि. **चद्वयम्** अवधारणार्थकम्. एवं सार्धैः त्रिभिः तृतीयाध्यायार्थः उक्तः ॥२१-२४॥

अतः परं सार्धाभ्यां चतुर्थाध्यायार्थं वदन्तः प्राथमिकानाम् एकादशश्लोकानां पूर्वशेषित्वेऽपि उत्तरशेषत्वात् चतुर्थाध्यायारम्भे तदुक्तिः इति आशयेन आहुः **एवम्** इत्यादि.

---

१. अत्रैव अग्रे **भजने बाधनिर्धारः** इति कारिकाव्याख्याने **विधिमुखतया तृतीयाध्यायार्थः** इति. तृतीयाध्यायार्थः श्रोतुः श्रद्धा. सा पूर्वं प्रकरणार्थोक्तौ पर्यवसानार्थं "सान्यसेवा बहिर्मुखा" (का. ६) इत्यनेन निषेधमुखेन निरूपिता. अत्र तु **भजने बाधनिर्धारः** इत्यनेन श्रोतुः साक्षादेव भगवति श्रद्धा निरूपिता. शुकेन श्रोतुः प्रोत्साहनार्थं "ब्रह्मवर्चसकाम-" (भाग.पुरा. २।३।२) इत्यारभ्य "यजेत पुरुषं परम्" (भाग.पुरा. २।३।१०) इत्यन्ते अन्यभजने क्रियमाणे भगवद्भजनं बाध्यते, भगवद्भजने अन्यभजनं बाध्यते इति निरूपितम्. शौनकेन तु इन्द्रियदोषो भगवद्भजनबाधकः, भगवद्भजनं च तद्बाधकम् इति निरूपितम्. तद् देवतान्तरभजनम् इन्द्रियदोषश्च अन्योन्यहेतुभूतं भगवद्भजनबाधकम् इति समुदितेन अध्यायेन व्यासेन निरूपितम् इति.

तत्त्यागपूर्वकः प्रश्नः कृतः स्वोत्साहबोधकः ॥
नमनेनैव निर्धारं सामान्येन शुको जगौ ॥२६॥

प्रश्नात् पूर्वं ममतानाशो निरूपितः सः सामान्यतः श्रद्धाप्रतिपादकः. ननु पूर्वमेव प्रायोपवेशनात् त्यक्ता राज्यादौ ममता, कथं तु इदानीं पुनः त्याज्या इति आशङ्क्य आह **त्यक्तोऽपि** इति. ज्ञानं = सर्वं हरिः इति, सएव भजनीयः इति वा. उत्तमयोः द्वितीयः इति **स्वोत्साहबोधकः** इति उक्तम्. ज्ञानमात्रं प्रथमे, परित्यागसहितं द्वितीये इति स्वाधिकारानुसारेण शुकस्य उत्तरं नमनादिवाक्यैः उच्यते. नमन-प्रार्थनाभ्यां च उत्साहोऽपि सिद्ध्यति ॥२५-२६॥

उपसंहरति **एवम् उत्साह-** इति द्वाभ्याम्.

एवमुत्साहसंसिद्धिर्विश्वासार्थं कथावचः ॥
एतज्ज्ञानं भागवतश्रवणादेव नान्यथा ॥२७॥
इति नारदसन्देहो ब्रह्मवाक्यं तथोच्यता ॥

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

तत्र आद्यानां सूतोक्तानां चतुर्णाम् अर्थम् आहुः **प्रश्नाद्** इत्यादि. **द्वितीयः** इत्यादि. भजनीयत्वज्ञानपूर्वकः प्रश्नः **इति** हेतोः **स्वोत्साहबोधकः** स्वस्य स्नेहेन श्रवणे यः उत्साहो = हर्षः तद्बोधकः **इति उक्तम्** इति अर्थः. अतः परं शुकवाक्यतात्पर्यं वदन्तो अधिकारप्रकरणसमाप्तिबोधनाय, तस्य अधिकारस्य उत्तमतायाः स्फुटीकरणाय च आहुः **ज्ञानमात्रम्** इत्यादि. तथाच प्रथमे वक्तृत्वस्य अभिमाने उत्तरत्वेन उक्तकथनात्, शुकस्य तु नमनादिवाक्यैरेव कथनात् तदभिमानाभावो व्यासपादैः बोधितः इति परमवैराग्यसाहित्याद् उत्तमः इति अर्थः. ननु एतेन सर्वज्ञत्वविरक्तिसिद्धे शेषे द्वे कथं सिद्ध्यते इति अपेक्षायाम् आहुः **नमने**त्यादि. **उत्साहः** इति कीर्तनोत्साहः. तथाच भगवन्नमन-प्रार्थनाभ्यां भक्तत्वं, व्यासनमनेन श्रुतभागवतत्वं च बोधितम् इति सर्वोऽपि अधिकारः एतेन सिद्धः इति अर्थः ॥२५-२६॥

प्रत्याहारन्यायं प्रकरणसमाप्तिं च बोधयन्ति **द्वाभ्याम्** इत्यादि.

विमर्शोऽपि ततः सिद्ध्येद् उत्पत्त्या सा त्रिधा मता ॥२८॥

सर्वेषामेव उत्साहः सिद्धः. स्वतएव प्रमेयकथनं परित्यज्य ब्रह्म-नारदसंवादक्षेपोऽपि विश्वासार्थः. तत्रापि नारदस्य प्रश्नः एवं ज्ञापयति इति आह **एतज्ज्ञानम्** इति. सर्वशास्त्रार्थनिर्धारः सामान्येन उक्तोऽपि न सम्यग् अवगम्यते भागवतश्रवणव्यतिरेकेण इति सर्वज्ञस्यापि नारदस्य प्रश्नः. अतएव ब्रह्मणोऽपि उत्तरम्, अन्यथा परीक्षकवचनमिव उपेक्ष्यं स्यात्. तयोः वचनानुवचनेनैव पूर्वोक्तस्यापि विमर्शः सिद्ध्यति. एवम् अध्यायत्रयस्य उत्पत्त्या विमर्शो अर्थः इति उक्त्वा तस्य प्रकरणस्य अध्यायत्रयात्मकत्वे हेतुं वदन् अध्यायार्थान् विभजते **सा त्रिधा मता** इति ॥२७-२८॥

तामेव आह **अनित्ये** इति.

अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ॥

नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं सत्त्वतः स्वतः ॥२९॥

सूक्तार्थकथनं मध्ये भजनार्थं हि सर्वथा ॥

नित्यापरिच्छिन्नतनावपि द्वेधा प्राकट्यम् : आवेशित्वेन अवतारत्वेन

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

अत्र **सर्वेषाम्** इति पदं प्रत्याहारन्यायबोधकम्. ''एतदेव'' (भाग.पुरा. २।४।५) इति श्लोकतात्पर्यम् आहुः **स्वतः** इत्यादि. एवं सार्धाभ्यां चतुर्थाध्यायार्थः उक्तः. अतः परं षड्भिः पञ्चमाध्यायार्थं तृतीयप्रकरणस्य अवान्तरप्रकरणार्थं च आहुः **तत्रापि** इत्यादि. **तत्रापि** इति पञ्चमाध्यायारम्भेऽपि. **अतएव** इति एतज्ज्ञापनायैव. चतुर्थ्याः तसिः. उत्तरस्य कथं तथात्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **पूर्वोक्तस्य** सर्वरूपत्वस्य व्यतिरिक्तरूपत्वस्य च ॥२७-२८॥

ताम् इति त्रिरूपां विधाम्.

आवेशित्वेन अवतारत्वेन च इति. इदं **सत्त्वतः स्वतः** इत्यस्य व्याख्यानम्. सत्त्वं = सत्ता = अयसि वह्नेरिव सङ्क्रान्त्या विद्यमानता, तेन. स्वं = स्वेच्छया प्रादुर्भूतं भगवत्स्वरूपं, तेन इति अर्थः. आवेशेऽपि विधाद्वयं पूर्वस्कन्धनिबन्धे उक्तं, सत्त्वगुणजन्यशरीरस्य शुद्ध-मिश्रभेदेन द्वैविध्यात्.

च. अनेन लोकेऽपि वस्तूत्पत्तिनिर्धारेण भजनं निर्धारितं भवति— अन्यकृता या काचित् मूर्तिः प्रथमा, स्वात्मानम् आवाह्य भजनं द्वितीया, स्वतः आविर्भूता तृतीया इति. तत्रापि नित्यस्थितौ अवतारः, कादाचित्के तु आवेशः. विशेषोऽपि टीकया ज्ञातव्यः. इमम् अर्थं सूचयति **सूक्तार्थकथनं मध्ये** इति. प्रथमभजनं लौकिकं, द्वितीयं वैदिकं, तृतीयम् आन्तरानुभवसिद्धम् इति ॥२९॥

तन्मूलत्वाद्धि सर्वस्य तज्जे तद्रूपएव च ॥३०॥
मूलभक्त्यैव भजनम् अतः प्राकट्यसङ्कथा ॥
तस्यापि मूलं कृष्णस्तु विमर्शे तस्य साधनम् ॥३१॥
माहात्म्यं च स्वरूपं च द्वयं तत्रैव रूपितम् ॥
अनेन फलसिद्धिर्हि बहूनाम् इति कीर्तितम् ॥३२॥

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

उत्पत्तित्रैविध्यकथनस्य फलान्तरम् आहुः **अनेन** इत्यादि. **अनेन** इति अध्यायत्रयेण उत्पत्तित्रयकथनेन. ननु अन्यनिर्धारेण कथम् अन्यस्य निर्धारः इत्यतः आहुः **अन्येत्यादि**. **प्रथमा** इति उत्पत्तिमती. **भजनम्** इति यत्र इति शेषः ; सप्तम्यन्तो वा पाठः. तथाच आवाह्या मूर्तिः द्वितीया इति अर्थः. **स्वतः आविर्भूता** इति वेङ्कटेशादिस्वरूपा. **तत्रापि** इति स्वतः आविर्भूतेऽपि. तत्र आविर्भावावेशौ पूजाप्रवाह-तदभावाभ्यां ज्ञातव्यौ, सर्वनिर्णयोक्त-स्वारस्यात्. ननु एवं वस्तूत्पत्तिनिर्धारणे मूर्तिरूपनिर्धारो भवति, कथं भजननिर्धारः इत्यतः आहुः **इमम्** इत्यादि. **मध्ये** इति प्रकरणमध्यमे षष्ठेऽध्याये. तथाच मूर्तित्वज्ञाने तत्त्वमध्यपातात् कार्यरूपविषयिणी तत्कृतिः इति तस्य भजनस्य लौकिकत्वं, तत्र आवाह्यत्वज्ञाने परिच्छेद-नित्यत्वयोः स्फूर्त्या अंशत्वएव पर्यवसानात् मध्यमत्वं – वैदिकत्वं तु वाक्यात् प्राप्तेः स्फुटमेव – "मदुद्धाराय कयाचिद् विधया प्रादुर्भूतः" इत्यादिरूपेण अनुभावादिविषयेण च सिद्धत्वे उत्तमत्वम् —इत्येवं भजनस्वरूपनिर्धारो द्वयोः मध्ये सूक्तार्थभूत-नित्यपरिच्छिन्नकथनेन उत्तरस्य उत्कृष्टताज्ञापनात् सूचितो भवति इति अर्थः ॥२९॥

तावन्मात्रत्वकथनम् अन्येषां वारयत्यपि ॥

मध्यमभजनं च द्विरूपं : वेदे सिद्धप्रकारेण ब्रह्मानुभवरूपं, यज्ञरूपं वा. तत्र यज्ञरूपं तज्जम्. भक्तिमार्गेण **भजनं मूलभक्त्यैव** इति पुरुषोत्तमभक्तिसिद्ध्यर्थं **प्राकट्यकथैव** उक्ता सर्वत्र अवतारेषु. अवताराणा**मपि मूलं कृष्णः** इति बोधयितुं **विमर्शे** कृष्णस्य पुरुषोत्तमत्वं च साध्यते. अन्यथा साधनम् अनुपपन्नं स्याद्, अवतारान्तरवत् चरित्रमात्रमेव वक्तव्यं स्यात्. तत्र सिद्धम् आह **माहात्म्यम्** इति. "इतरथाऽर्जुनयोः न भाव्यम्" (भाग.पुरा. २।७।२७) इत्यादिना **माहात्म्यं,** "सितकृष्णकेशो" यस्य अंशः (भाग.पुरा. २।७।२६) इति **स्वरूपम्**. कथापि तत्र निरूप्यते इति शङ्कां वारयति **द्वयम्** इति. ननु "ये च प्रलम्ब-" (भाग.पुरा. २।७।३४) इत्यादयः सङ्क्षेपेण कथाश्रिताः कथार्थमेव निरूपिताः इति आशङ्क्य आह **अनेन फलसिद्धिः** इति. कृष्णेनैव मोक्षः इति अर्थः. गणनायाः च प्रयोजनम् **अन्येषां** मोक्षनिवृत्तिः ॥३०-३२ १/२॥

एवम् उत्पत्त्या विचारम् उक्त्वा उपपत्त्या विचारार्थम् अध्यायत्रयम् आह **उपपत्त्या** इति.

उपपत्त्या विचारोऽपि त्रिधा शङ्कोत्तरे फलम् ॥३३॥
ब्रह्मणोऽपि हरिर्मूलम् उपपत्तिः कथागता ॥
प्रदर्श्य कथनात् तस्य न मूलान्वेषणं मतम् ॥३४॥

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

एवं पञ्चम-षष्ठयोः अर्थम् उक्त्वा सप्तमस्य वदन्ति **मध्ये**त्यादि. इदं **तन्मूलत्वाद्धि** इति कारिकाव्याख्यानम्. **तज्जम्** इति. लौकिके व्रीह्यादौ प्रोक्षणादिना अलौकिके पदार्थे सन्निधापिते यज्ञो निर्वर्त्यते इति तथा इति अर्थः. ननु नारदप्रश्नोत्तरस्य द्वाभ्यामेव सिद्ध्या अवतारानुक्रमादेः किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **भक्ती**त्यादि. कथं साध्यते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तत्र** इत्यादि. स्पष्टम् अग्रिमम्. एवं षड्भिः उत्पत्तिप्रकरणं विवृतम् ॥३०-३२ १/२॥

अतः परं शिष्टैः सार्धसप्तभिः द्वितीयं विचारयन्ति **एवम्** इत्यादि.

उक्तेऽर्थेऽनुपपत्तिश्च शिष्टप्रश्नस्तथैव च ॥
आक्षेपस्य समाधानम् अन्यत् स्थूलेऽतिदिश्यते ॥३५॥
तस्मात् स्थूलश्रुतिः सिद्धा तत्स्वरूपम् अतः फलम् ॥
रूपतश्चार्थतश्चैव तत्स्वरूपनिरूपणम् ॥३६॥
लक्षणोक्त्या स्वरूपस्य त्रैविध्यं चार्थतः स्फुटम् ॥
आनन्त्याद्धि विशेषस्य स्थूले कथनतोऽपि च ॥३७॥

अध्यायार्थान् विभजते **शङ्कोत्तरे फलम्** इति. ननु अस्य उपपत्तित्वं कथम्? तत्र आह **ब्रह्मणोऽपि हरिः मूलम्** इति. एषा **उपपत्तिः कथागता** सामान्यतो मूलम् इति अर्थः. सर्वस्य भगवत्त्वे भगवानेव वक्ष्यति "अहमेव आसमेव अग्रे" (भाग.पुरा. २।९।३२) इति. ननु तस्यापि मूलान्तरम्

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

शङ्का इत्यादि. अत्र अध्यायार्थविभागे अष्टमाध्यायस्य आक्षेपक-युक्तिमत्त्वाद् उपपत्तिप्रकरणे निवेशः, नवमस्य सिद्धान्तयुक्तिमत्त्वात्, तृतीयस्य फलाख्य-युक्तिमत्त्वाद् इति अर्थः. फलस्य युक्तित्वं तात्पर्यनिर्णायकत्वाद् बोध्यम्. **ननु अस्य** इत्यादि. पूर्वप्रकरणाध्यायेषु उत्पत्तेः स्फुटत्वात् युक्तम् उत्पत्तिप्रकरणत्वम्; अत्र नवमे युक्तेः अदर्शनात् कथम् इति अर्थः. **एषा** इत्यादि. ब्रह्मणः सर्वरूपत्वस्य पूर्वप्रकरणे नारदेन उक्तोर्णनाभिदृष्टान्तेन उक्तत्वात् तस्यापि भगवानेव मूलं चेत् सैव ऊर्णनाभिदृष्टान्तसिद्धा उपपत्तिः मुखतो कथनाद् अस्फुटापि कथासन्दर्भवशाद् अवगता. पटस्य कार्पासमिव **सामान्यतो** हरिरेव **मूलम्** उपादानं कारणम् इति अर्थः. ननु✲ मूलत्वम् आधारतयापि सम्भाव्यते, यथा "पादमूलम्" इति. तथा निमित्ततयापि, यथा "कृष्णा मूलम् अनर्थानाम्" इति. तथा अवश्यापेक्ष्यतयापि, यथा "धनम् अर्जय काकुत्स्थ धनमूलम् इदं जगद्" इति. अतो न तावन्मात्रेण निर्णयः. तथा सति ऊर्णनाभिदृष्टान्तवाक्येऽपि "अक्लमः" (भाग.पुरा. २।५।५) इति विशेषणात् तावन्मात्रएव दृष्टान्तस्य नियन्तुं शक्यत्वाच्च✲ इत्यतः आहुः **सर्वस्य** इत्यादि. **वक्ष्यति** इति उपपत्तिं वक्ष्यति. तथाच एतदनुरोधेन ऊर्णनाभिदृष्टान्तोऽपि पूर्णो, नतु तावन्मात्रः इति पूर्वोक्तयुक्तिः

अन्वेषणीयम् इति कथम् उपपत्तिरूपता इति आशङ्क्य आह **प्रदर्श्य कथनात् तस्य** इति. भगवान् स्वस्य रूपं प्रदर्श्य पश्चात् स्वस्वरूपम् आह, तेन सन्देहो न उत्पन्नः इति न मूलान्तरापेक्षा. एतस्य प्रकरणस्य उपपत्तित्वसाधने हेत्वन्तरम् आह **उक्ते अर्थे अनुपपत्तिः च** इति. यो अर्थः उत्पत्त्या निरूपितः स पुनः पूर्वपक्षीक्रियते. तत्सिद्ध्यर्थम् अन्यान्यपि[१] पृच्छ्यन्ते. **आक्षेपस्य** च वक्ता **समाधानं** करोति. अन्येषां च उत्तरं न प्रयच्छति. अन्यथा कथापक्षएव स्यात्. तेषामपि परम्परोपयोगो अस्ति इति स्थूले भागवते तस्य उत्तरम् इति आह **अन्यत् स्थूले** इति. अनेन उपपत्त्यैव यत् सिद्धं तत् निरूपितम् इति आह **तस्मात् स्थूलश्रुतिः** इति. दशलक्षणं भागवतं श्रोतव्यम् इति सिद्धम्. अतः फलाध्याये भागवतस्वरूपमेव निरूपितम्. तेन सर्वदा म्रियमाणैः वा भागवतं श्रोतव्यम्

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

उपादानत्वे उपपत्तिः निष्प्रत्यूहा इति अर्थः. **अन्वेषणीयम्** इति, ब्रह्मसूत्रेषु "परम् अतः सेतून् मानसम्बन्धभेदव्यपदेशभ्यः[२]" (ब्रह्मसूत्र ३।२।३१) इतिवद् अन्वेषणीयम्. **न उत्पन्नः** इति. तथाच इदानीन्तनानाम् उत्पद्यमानो भ्रान्तिमूलकएव, न शास्त्रविप्रतिपत्तिमूलकः इत्यतो न अन्विष्टम् इति अर्थः. **अन्यथा** इति सर्वम् उत्तरोक्तौ. तथाच तस्मादपि हेतोः प्रकरणस्य उपपत्तित्वम् इति अर्थः. ननु अन्येषाम् उत्तराऽदाने वक्तुः अज्ञानं वा श्रोतुः अन्याभिनिवेशाद् अवैराग्यं वा स्फुटीभवति इति न अनयोः उपपत्तित्वसिद्धिः इति आशङ्कायाम् आहुः **तेषामपि** इत्यादि. को वा उपयोगः इति अपेक्षायाम् आहुः **अनेन** इत्यादि. **निरूपितम्** इति स्थूले निरूपितम्. तथाच उपपत्तित्वसाधनएव तस्यापि उपयोगः इति अर्थः. तस्यापि उपयोगस्य अन्यत् फलम् आहुः **दश-** इत्यादि. इदं **तत्स्वरूपम् अतः फलम्** इति चतुर्थपादस्य च व्याख्यानम्. अतः परं तत्र गमकं वदन्तो **रूपतः च अर्थतः** इति कारिकां व्याकुर्वन्ति **अतः फलेत्यादि. फलत्वेन सिद्धम्** इति

---

१. "यावान् कल्पो विकल्पः" (भाग.पुरा. २।८।१२) इत्यादिना कल्पादिसूत्राणि.

२. -व्यपदेशाद् इति पाठः.

इति भागवतं फलत्वेन सिद्धम्. अतः तस्य फलाध्याये **रूपतः च अर्थतः च स्वरूपनिरूपणम्**. तदेव कथम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **लक्षणोक्त्या** इति. दशलीलानां लक्षणकथनेन भागवतस्वरूपम् उक्तम्. आध्यात्मिकादिभेदेन अर्थस्यापि त्रैविध्यं स्फुटम्. ननु अर्थतः स्वरूपतो निरूपणे किं पुनः स्थूलं भागवतं श्रोतव्यम् इति आशङ्क्य आह **आनन्त्याद्** इति. त्रयाणां विशेषस्य आनन्त्यात् न अत्र निरूपणम्. स्थूले च विशेषेण निरूपणम्. अतो लक्षणत्वेनैव अत्र निरूपणं ; विशेषतो ज्ञानं स्थूलभागवतएव ॥३३-३७॥

दशमाध्याये सिद्धम् अर्थम् अनुवदति.

सार्थकं च सुरूपं च तस्मात् श्रोतव्यता स्थिता ॥
तस्यांशश्रवणे चापि निःसन्देहफलं च तत् ॥३८॥
तादृशार्थस्य सम्प्रश्नः कथाक्षेपार्थम् उच्यते ॥
विघ्नसन्देहतः शीघ्रं स्वकृतार्थत्वसिद्धये ॥३९॥
शौनकस्य हि सम्प्रश्नः शुकोक्तिश्चापि तादृशी ॥
अतः सर्वोत्तमम् इदम् इति वक्तुं तथा वचः ॥४०॥

सार्थकं च सुरूपं च इति. चकारात् फलरूपोऽपि अर्थो भगवत्प्रसादलक्षणः सङ्गृह्यते. द्वितीयचकारेण शब्दतोऽपि उत्तमता. एवं मुखतो माहात्म्यम् उक्त्वा कैमुतिकन्यायेनापि माहात्म्यं वक्तुं स्थूलश्रोतारं विदुरम् आक्षिपति इति आह **तस्यांशश्रवणे चापि** इति. लीलाद्वयश्रवणेनापि

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

उपपत्तिविमर्शफलत्वेन सिद्धम्. ततएव दशमस्य फलाध्यायत्वं प्रकरणे प्रवेशः च इति अर्थः. **तदेव कथम्** इति, ननु दशस्कन्धात्मकस्य स्थूलश्रीभागवतस्य एकेन अध्यायेन रूपतः अर्थतः च निरूपणं केन प्रकारेण? **दशेत्यादि.** तथाच एवं समासेन निरूपणम् इति अर्थः. **किं पुनः** इति, प्रयोजनाभावात् कुतः इति अर्थः. **स्थूलभागवतएव** इति. तथाच आध्यात्मिकादीनां विशेषज्ञानस्य प्रयोजनस्य सत्त्वाद् तत् श्रोतव्यम् इति अर्थः ॥३३-३७॥

आक्षिपति इति, निदर्शनत्वेन उपस्थापयति इति अर्थः.

सम्पूर्णफलं सिद्ध्यति. अतः शौनकेन विदुरकथा पृष्टा, "यावतः कृतवान् प्रश्नान्" (भाग.पुरा. १।१३।२) इति पूर्वं श्रुतत्वात्, "यथा पुरस्ताद् व्याख्यास्ये" (भाग.पुरा. २।१०।४७) इति स्थूलकथनप्रतिज्ञायां भागवतं बहुधा प्रवृत्तम् इति. यत्र शीघ्रं[1] फलं तदेव कथय इति कथाविशेषाक्षेपार्थं प्रश्नः इति अर्थः. शुकोऽपि तदेव वक्तुं प्रवृत्तः इति सूतः शीघ्रम् आह, अन्यथा विलम्बे शौनकः किञ्चिद् अन्यत् पृच्छेत् तदा स्वाभिप्रेतं न सिद्ध्येद् इति. ननु शौनकः केन अभिप्रायेण तथा प्रश्नं कृतवान्? तत्र आह **स्वकृतार्थत्वसिद्धये शौनकस्य हि सम्प्रश्नः** इति. सर्वलीलाश्रवणं सम्भविष्यति न वा इति. अयमेव अभिप्रायः शुकस्यापि ; मध्ये राज्ञः उद्वेगे स्वस्य वा निमित्तान्तरापत्तौ वा कार्यं न सेत्स्यति इति सर्वोत्तमांशाक्षेपार्थमेव कथनम्. **अतः सर्वोत्तमम् इदं** वक्ष्यमाणं भागवतम् इति फलितम् इति अर्थः ॥३८-४०॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचित-सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्धे
श्रीमद्भागतार्थप्रकरणे द्वितीयस्कन्धार्थनिरूपणं समाप्तम् ॥

श्रीपुरुषोत्तमानाम् आवरणभङ्गः

आक्षेपार्थम् इति उपन्यासार्थम्. **इदं**पदस्यैव व्याख्यानं **वक्ष्यमाणम्** इत्यादि ॥३८-४०॥

॥ इति श्रीतत्त्वदीपप्रकाशावरणभङ्गे श्रीपुरुषोत्तमविरचिते
द्वितीयस्कन्धविवरणं सम्पूर्णम् ॥

---

१. **शीघ्रम्** इति. स्कन्धान्तरे अनुपन्यस्य द्वितीयस्कन्धएव उपन्यासात् **शीघ्र**पदं प्रयुक्तम्. इति द्वितीयस्कन्धलेखः.

॥ श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्रे द्वितीयस्कन्धनामानि ॥

ज्ञान (साधन) लीला

.... श्रोतव्यः सकलागमैः ॥
कीर्तितव्यः शुद्धभावैः स्मर्तव्यश्चात्मवित्तमैः ॥२५॥
अनेकमार्गकर्ता च नानाविधगतिप्रदः ॥
पुरुषः सकलाधारः सत्त्वैकनिलयात्मभूः ॥२६॥
सर्वध्येयो योगगम्यो भक्त्या ग्राह्यः सुरप्रियः ॥
जन्मादिसार्थककृतिः लीलाकर्ता पतिः सताम् ॥२७॥
आदिकर्ता तत्त्वकर्ता सर्वकर्ता विशारदः ॥
नानावतारकर्ता च ब्रह्माविर्भावकारणम् ॥२८॥
दशलीलाविनोदी च नानासृष्टिप्रवर्तकः ॥
अनेककल्पकर्ता च सर्वदोषविवर्जितः ॥२९॥

श्रीगोष्ठीशालोपनाम-रामचन्द्रभट्टात्मज-घनश्यामभट्टकृता
शास्त्र-स्कन्ध-प्रकरणाध्याय-विभागसूचिका

अतः परं द्वितीयस्कन्धे साधननिरूपणं क्रियते. तत्र एवं प्रकरणविभागः — तत्र साधनस्य तत्त्वध्यान-हृत्प्रसाद-मननभेदेन त्रिविधत्वात् प्रकरणत्रयम्. तत्र तत्त्वध्यानस्य स्थूल-सूक्ष्मभेदेन द्विविधत्वाद् (१-२) अध्यायद्वयेन निरूपणम्. हृत्प्रसादस्यापि श्रद्धारूपत्वात् श्रद्धायाः श्रोतृ-वक्तृभेदेन द्विविधत्वाद् (३-४) अध्यायद्वयेन हृत्प्रसादप्रकरणनिरूपणम्. मननस्यापि उत्पत्त्युपपत्तिभेदेन द्विविधत्वाद् उत्पत्त्या अपि ''अनित्ये जननम्'' इति वाक्योक्तरीत्या त्रिविधत्वाद्, उपपत्त्या अपि आशङ्कोत्तरफलभेदेन त्रिविधत्वात् (५-१०) षड्भिः अध्यायैः मननप्रकरणनिरूपणम्. एवं द्वितीयस्कन्धनिरूपणे दशाध्यायाः.

॥ श्रीगोकुलरायकृतो अध्यायार्थः ॥

अथ द्वितीयस्कन्धे तत्त्वध्यानप्रकरणे स्थूलध्याननिरूपणं प्रथमेऽध्याये. तत्त्वध्यानप्रकरणे सूक्ष्मध्याननिरूपणं द्वितीयेऽध्याये.

हृत्प्रसादप्रकरणे श्रोतृश्रद्धानिरूपणं तृतीयेऽध्याये. हृत्प्रसादप्रकरणे वक्तृश्रद्धानिरूपणं चतुर्थेऽध्याये.

उत्पत्तितो विमर्शप्रकरणे चतुर्दशलोकरचनार्थम् अनित्यानां महदादि-ब्रह्माण्डहेतुरूपाणां जनननिरूपणं पञ्चमेऽध्याये.

उत्पत्तितो विमर्शप्रकरणे परिच्छिन्नानां जीवानां नित्यानां ब्रह्माण्डे तत्तत्स्थानेषु समागमनिरूपणं, पुरुषसूक्तार्थकथनेन जीवानां सर्वफलसाधक-भगवद्भजननिरूपणं च षष्ठेऽध्याये.

उत्पत्तितो विमर्शप्रकरणे मूलभक्त्या भजनसिद्ध्यर्थं नित्यापरिच्छिन्नस्य भगवतः प्राकट्यनिरूपणं सप्तमेऽध्याये.

उपपत्तितो विमर्शप्रकरणे उक्तेऽर्थे अनुपपत्तिरूपाऽऽशङ्कानिरूपणम् अष्टमेऽध्याये.

उपपत्तितो विमर्शप्रकरणे जीव-ब्रह्मणोः देहसम्बन्धे जातशङ्कापरिहार-कथनेन उत्तरनिरूपणं नवमेऽध्याये.

उपपत्तितो विमर्शप्रकरणे शङ्कोत्तराभ्यां सिद्धस्य फलस्य श्रीभागवत-श्रवणकर्तव्यतारूपस्य निरूपणं दशमेऽध्याये.

॥ इति श्रवणाङ्गनिरूपणे द्वितीयस्कन्धः ॥

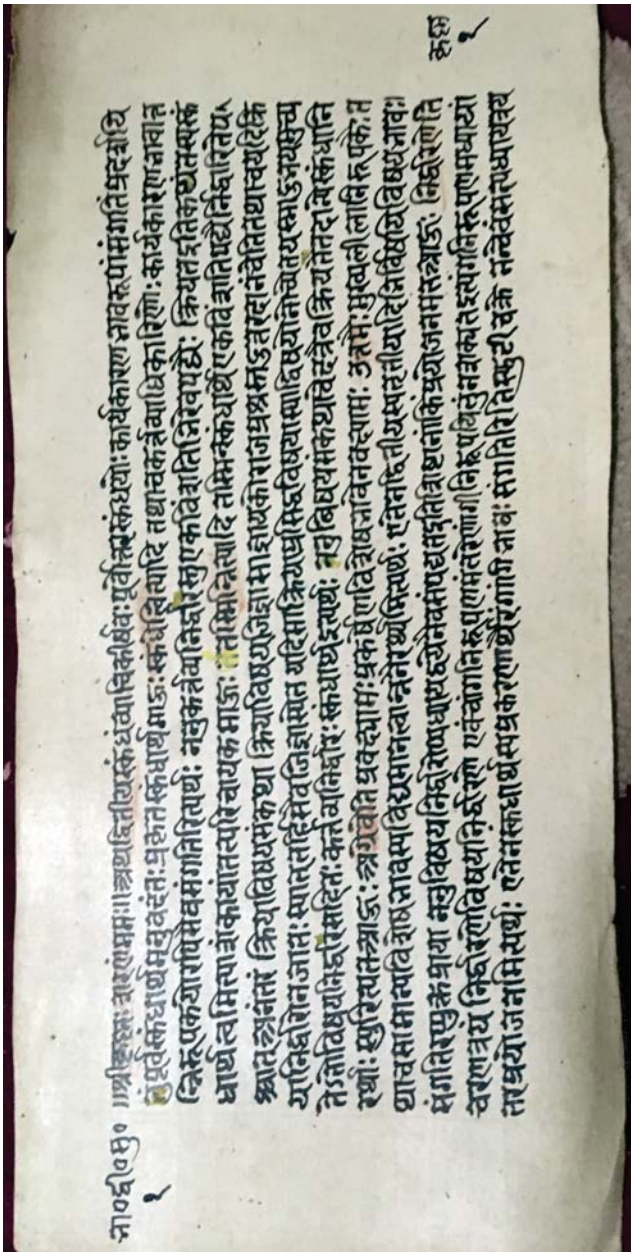

किशनगढके संग्रहमेंकी प्रकाशकी हस्तप्रति ('कि.' पाठ)

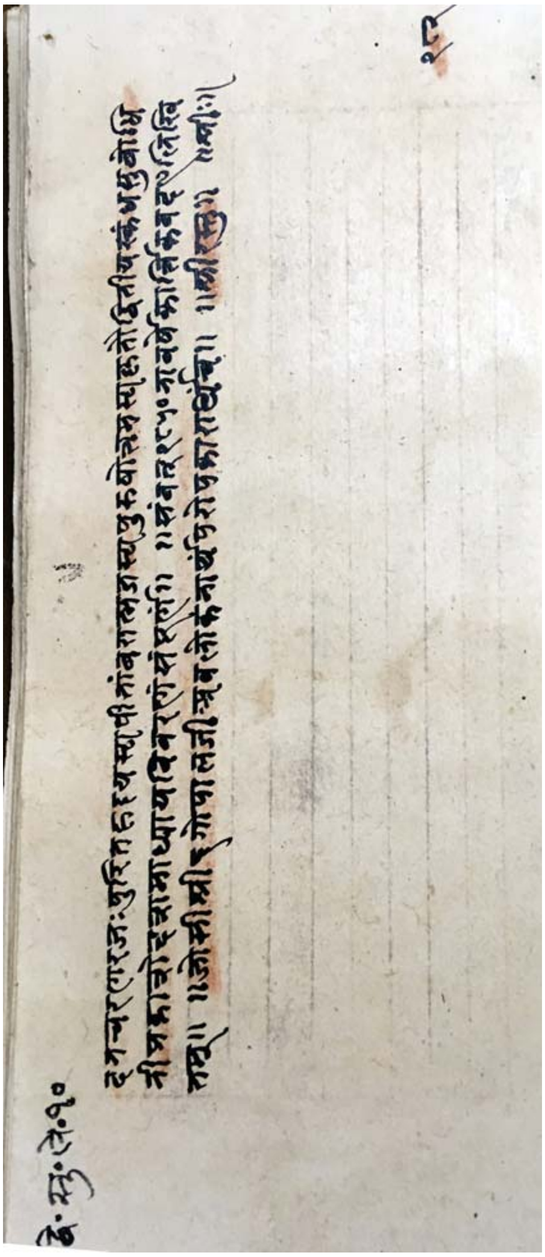

माण्डवीके संग्रहमेंकी प्रकाशकी हस्तप्रति ('मा.' पाठ)

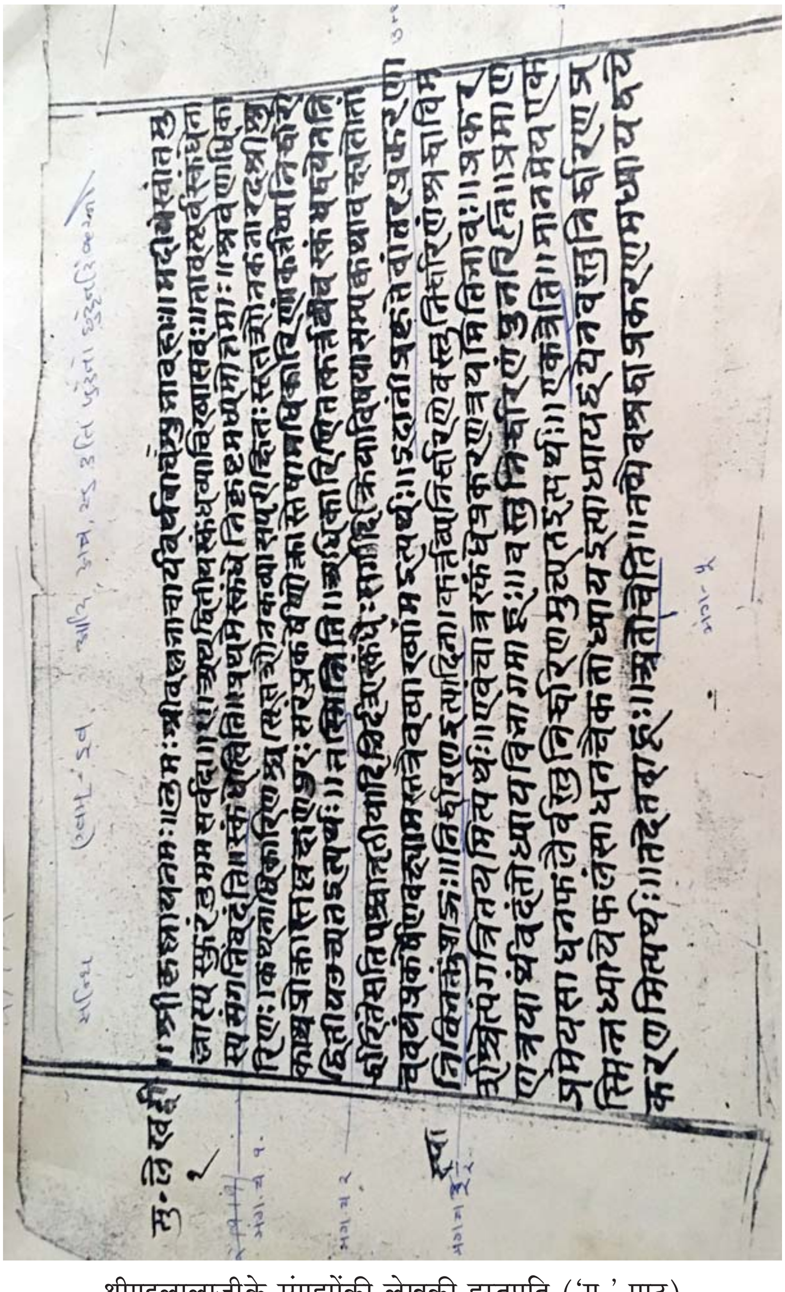

श्रीगट्टुलालाजीके संग्रहमेंकी लेखकी हस्तप्रति ('ग.' पाठ)

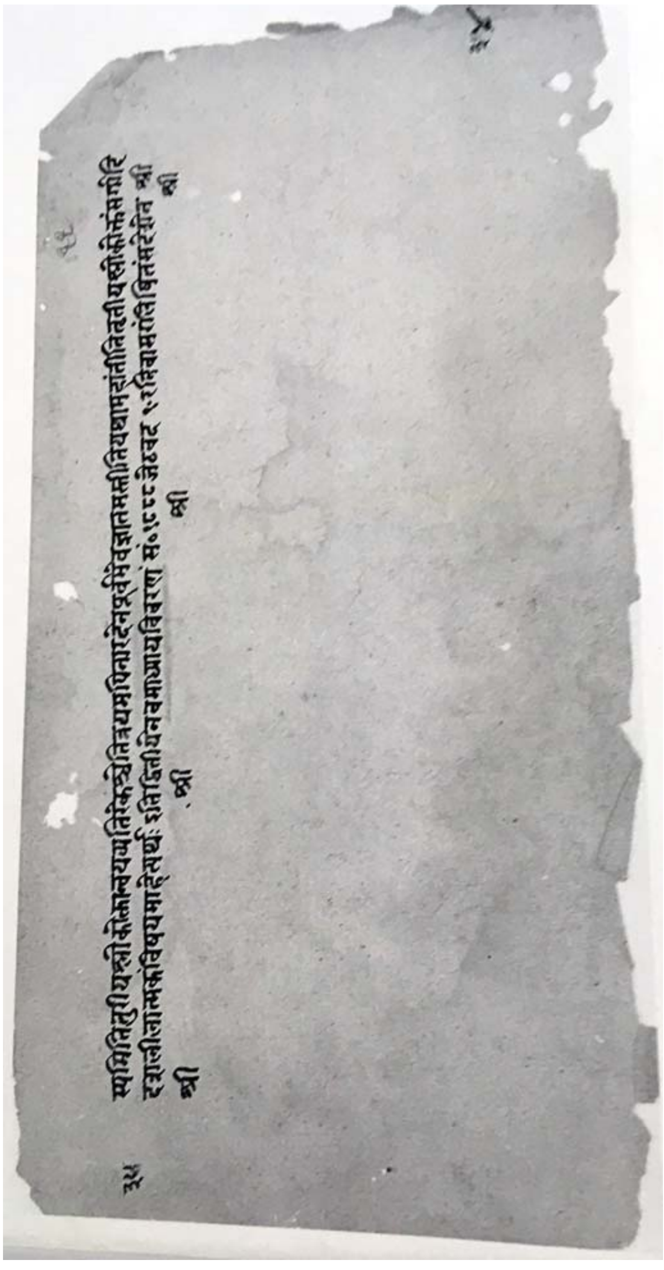

नडियादके पुष्टिमार्गीय पुस्तकालयके संग्रहमेंकी लेखकी हस्तप्रति ('न.' पाठ)

विषयानुक्रमणिका

	विषयाः	पृष्ठानि
	(१) द्वितीयस्कन्धः	१—६६५
१.	**प्रथमोऽध्यायः** शुकपरीक्षित्संवादे कर्तव्यनिरूपणे मान-मेयविभेदतः बाह्यतत्त्व-निर्धारणम्.	१ – ९१
२.	**द्वितीयोऽध्यायः** शुकपरीक्षित्संवादे कर्तव्यनिरूपणे साधन-फलविभेदतः आन्तर-तत्त्वनिर्धारणम्.	९२ – १३७
३.	**तृतीयोऽध्यायः** शुकपरीक्षित्संवादे श्रोतुः दृष्टादृष्टसाधनयोः श्रद्धायाश्च निरूपणम् .	१३८ - १६४
४.	**चतुर्थोऽध्यायः** प्रश्नकरणेन परीक्षितः, उत्तरदानेन च शुकस्य विमर्षणाधिकार-निरूपणम् .	१६५ – २१८
५.	**पञ्चमोऽध्यायः** उत्पत्त्या स्थूलमूर्तविमर्शकरणे ब्रह्माणं प्रति नारदप्रश्नः, ब्रह्मोक्तिः, तत्त्वानाम् उत्पत्तिः, ब्रह्माण्डनिर्माणवर्णनञ्च.	२१९ – २७३
६.	**षष्ठोऽध्यायः** ब्रह्मानारदसंवादे उत्पत्त्या स्थूलामूर्तविमर्शकरणे पुरुषसूक्तानुसा-रेण विराट्स्वरूपनिरूपणम् .	२७४ – ३२१
७.	**सप्तमोऽध्यायः** ब्रह्मानारदसंवादे उत्पत्त्या सूक्ष्मविमर्शकरणे संक्षेपतो सर्वावतार-चरित्रवर्णनम्.	३२२ – ४४३
८.	**अष्टमोऽध्यायः** शुकपरीक्षित्संवादे उपपत्त्या विमर्शकरणे परीक्षिता आक्षेपगर्भित-प्रश्नकरणम्.	४४४ – ४८७
९.	**नवमोऽध्यायः** शुकपरीक्षित्संवादे उपपत्त्या विमर्शकरणे शुकेन सैद्धान्तिकोत्तर-दानं— ब्रह्मणो वैकुण्ठधामदर्शनं, तत्र अभ्यर्थमानेन भगवता ब्रह्मणे चतुःश्लोकभागवतोपदेशदानम् .	४८८ – ६०६
१०.	**दशमोऽध्यायः** शुकपरीक्षित्संवादे उपपत्त्या विमर्शकरणे फलतया भगवतो दशविधलीलानां कर्तृत्वस्य निरूपणम् .	६०७ – ६६५

	(२) परिशिष्टानि	६६६ – ७८४
१.	**स्वतन्त्रलेखाः**	६६६-७२६
२.	**आद्यसम्पादकयोः प्रस्तावनाद्वये**	७२७-७३३
३.	**सूचयः**	७३४-७८४
	श्रीमदाचार्यवाङ्मौक्तिकानि	७३४-७३९
	कारिकार्धसूचिः,	७४०-७४२
	मूलश्लोकार्धसूचिः,	७४३-७५७
	उद्धरणसूचिः,	७५८-७८४

॥ अथ श्रीभागवते द्वितीयस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥

✻ श्रीवल्लभाचार्याणां सुबोधिनी ✻

स्कन्धे तु प्रथमे प्रोक्तास्त्रिविधा ह्यधिकारिणः ॥
तेषां कर्तव्यनिर्धारो द्वितीये विनिरूप्यते ॥(१)॥
तस्मिन्निर्धारिते पश्चात् क्रियाविषयसङ्कथा ॥

✻ श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशः ✻

। श्रीकृष्णः शरणं मम । अथ द्वितीयस्कन्धं व्याचिकीर्षवः पूर्वोत्तरस्कन्धयोः कार्य-कारणभावरूपां सङ्गतिं प्रदर्शयितुं पूर्वस्कन्धार्थम् अनुवदन्तः प्रकृतस्कन्धार्थम् आहुः **स्कन्धे तु** इत्यादि. तथाच कर्तव्याधिकारिणोः कार्य-कारणभावात् तन्निरूपकयोरपि सैव सङ्गतिः इति अर्थः (१).

ननु कर्तव्यनिर्धारस्तु एकविंशतिभिरेव पद्यैः क्रियते इति कथं तस्य स्कन्धार्थत्वम् इति आशङ्कायां तत्परिचायकम् आहुः **तस्मिन्** इत्यादि. **तस्मिन्** स्कन्धार्थे एकविंशतिपद्यैः **निर्धारिते पश्चाद्** अनन्तरं **क्रियाविषयसङ्कथा** क्रियाविषयजिज्ञासा-ज्ञापको राजप्रश्नः तदुत्तरदानञ्च इति. तथाच यदि क्रियानिर्धारो न जातः स्यात् तर्हि सैव जिज्ञास्येत. यदि सा क्रिया प्रसिद्धविषया स्याद्, विषयो न उच्येत. यस्माद् उभयम्

✻ श्रीवल्लभानां लेखः ✻

। श्रीकृष्णाय नमः ।

नुमः श्रीवल्लभाचार्यवर्यवाचः शुभावहाः ॥
मदीयं स्वान्तम् उल्लास्य स्फुरन्तु मम सर्वदा ॥

अथ द्वितीयस्कन्धं व्याचिख्यासवः तावत् पूर्वस्कन्धेन अस्य सङ्गतिं वदन्ति **स्कन्धे तु** इति. **प्रथमे** स्कन्धे **(त्रिविधाः अधिकारिणः!)** निकृष्ट-मध्यमोत्तमाः श्रवणाधिकारिणः कथनाधिकारिणश्च शौनक-व्यास-परीक्षितः सूत-नारद-श्रीशुकाश्च **प्रोक्ताः** तल्लक्षणपुरःसरं प्रकर्षेण उक्ताः. **तेषाम्** अधिकारिणां **कर्तव्यनिर्धारो द्वितीये** उच्यते इति अर्थः (१).

तस्मिन् इति. अधिकारिणि तत्कर्तव्यं च स्कन्धद्वयेन **निर्धारिते** सति **पश्चात् तृतीयादिभिः** दशस्कन्धैः सर्गादि**क्रियाविषया सम्यक्कथा**

अग्रे च तां प्रवक्ष्यामस्तृतीयादिभिरुत्तमैः ॥(२)॥
निर्धारणेऽङ्गत्रितयं वस्तुनिर्धारणं पुरा ॥
श्रद्धा चैव विमर्शश्च वस्तुनिर्धारणं पुनः ॥(३)॥
प्रमाणेन प्रमेयेण साधनेन फलेन च ॥

प्रकाशः

उच्यते अतो विषयनिर्धारसहितः कर्तव्यनिर्धारः स्कन्धार्थः इति अर्थः. ननु विषयसङ्कथा चेद् अत्रैव क्रियते तदा अन्ये स्कन्धाः निरर्थाः स्युः इत्यतः आहुः **अग्रे च** इति. **प्रवक्ष्यामः** प्रकर्षेण विशेषभावेन वक्ष्यामः **उत्तमैः** मुख्यलीलानिरूपकैः. तथाच सामान्यविशेषभावस्य विद्यमानत्वाद् न नैरर्थ्यम् इति अर्थः. एतेन द्वितीयस्य तृतीयादिभिः विषयिविषयभाव[१]-सङ्गतिरपि उक्तप्राया (२).

ननु विषयनिर्धारोपि अध्यायद्वयेनैव सम्पद्यते इति शिष्टानां किं प्रयोजनम् अतः आहुः **निर्धारणे** इति चरणत्रयम्. **निर्धारणे** विषयनिर्धारणे. एवञ्च अङ्गनिरूपणम् अन्तरेण अङ्गी निरूपयितुं न शक्यतइति अङ्गनिरूपणम् अध्यायान्तरप्रयोजनम् इति अर्थः. एतेन स्कन्धार्थस्य प्रकरणार्थैः अङ्गाङ्गिभावः सङ्गतिः इति स्फुटीचक्रे. ननु एवं सति अध्यायत्रयमेव अस्तु, किं दशकेन इत्यतः आहुः **वस्तु** इत्यादि पादोनकारिकाचतुष्टयम्. एतेन प्रकरणाध्यायार्थानां परस्परं सङ्गतिरपि प्रदर्शिता ज्ञेया. तथाहि **वस्तुनिर्धारणं** नाम वस्तुनः इदमित्थतया निश्चयः. सच प्रथमप्रकरणस्य अर्थः. तच्च

लेखः

वक्ष्यतो **तां च** वयं **प्रकर्षेण वक्ष्यामः** तत्रैव व्याख्यास्यामः इति अर्थः (२).

इदानीं प्रकृते अवान्तरप्रकरणानि विभक्तुं प्राहुः **निर्धारणे** इत्यादिना. कर्तव्यनिर्धारणे **वस्तुनिर्धारणं श्रद्धा विमर्शश्च** इति **अङ्गत्रितयम्** इति अर्थः. एवञ्च अत्र स्कन्धे प्रकरणत्रयम् इति भावः. प्रकरणत्रयार्थं वदन्तो अध्यायविभागम् आहुः **वस्तुनिर्धारणं पुनः** इति. प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलैः

---

१. -भावः सङ्गतिः इति मुद्रितपाठः अर्थस्वारस्यात् संशोधितः - सम्पा.

एकत्र मानमेये हि फलं साधनमेकतः ॥(४)॥
अतोऽत्र वस्तुनिर्धारे ह्यध्यायद्वितयं मतम् ॥
श्रद्धाऽपि द्विविधा लोके श्रोतृवक्तृविभेदतः ॥(५)॥

प्रकाशः

प्रमाणादिचतुष्टयाधीनम्. तेन आद्यप्रकरणाध्यायार्थयोः कार्य-कारणभावः सङ्गतिः. ननु एवं सति अध्यायचतुष्टयं स्याद् इत्यतः आहुः **एकत्र** इत्यादि. एकस्मिन् अध्याये **(मान-मेये!)** श्रुत्यविरुद्धा युक्तिः योगश्च[१] प्रमाणभूते स्थूलरूपाख्यं प्रमेयञ्च उच्यते, "मानाधीना मेयसिद्धिः" (द्रष्ट. चित्सुखी) इति. **एकतः** एकस्मिन् अध्याये **फलं** सूक्ष्मरूपाख्यं **साधनं** द्विविधा भक्तिश्च उच्यते, साधनाधीना फलानुभूतिरिति. **अतो** हेतोः **अत्र** स्कन्धे वस्तुनिर्धारप्रकरणे **हि** निश्चयेन **अध्यायद्वितयं मतं** व्यासचरणानां सम्मतम् इति अर्थः (३-४ १/२).

एवम् आद्यप्रकरणस्य अध्यायार्थं सङ्गतिं च प्रदर्श्य द्वितीयस्य आहुः **श्रद्धे**त्यादि. **ह्यध्याय** इति चरणो देहलीदीपवद् इहापि अन्वेति. एवं द्वितीयप्रकरणेऽपि अध्यायद्वयोपपादनद्वारा प्रकरणाध्यायार्थयोः सामान्य-विशेषभावरूपा सङ्गतिः प्रदर्शिता. ननु श्रद्धा नाम आस्तिक्यबुद्धिः आदरात्मिका. तस्याः अधिकारिविशेषणत्वमेव ; नहि अश्रद्धालुः विहिते प्रवर्तते! साच प्रथमस्कन्धे उक्तैवेति किमर्थम् अत्र तदुक्तिः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **फले**त्यादि. **एतद्** निष्कामाऽनन्यभगवद्भजन-कर्तव्यताध्यवसायात्मक-

लेखः

वस्तुनिर्धारणम् उच्यते इति अर्थः. **एकत्र** इति. **मान-मेये** एकस्मिन् अध्याये, **फलं साधनञ्च एकतो** अध्याये इति अध्यायद्वयेन वस्तुनिर्धारणप्रकरणम् इति अर्थः. तदेतद् आहुः **अतो अत्र** इति. तथैव श्रद्धाप्रकरणम् अध्यायद्वयेन इति आहुः **श्रद्धापि** इति (३-५).

ननु श्रोतृ-वक्तृविषयत्वात् श्रद्धायाः अधिकारिनिरूपक-पूर्वस्कन्धएव प्रवेशः कुतो न स्याद्? अतः आहुः **फलोपकारी** इति.

१. इति इत्यधिकम् अत्र मुद्रितपाठे. मा.पाठे तु नास्ति - सम्पा.

फलोपकार्यङ्गमेतद् नाऽधिकारे ततो विशेत् ॥
विमर्शोऽपि द्विधा पूर्वमुत्पत्त्या चोपपत्तितः ॥(६)॥
त्रिविधे द्वे ततस्तत्र षडध्यायास्ततो दश ॥
तत्र तु प्रथमेऽध्याये कर्तव्यं विनिरूप्यते ॥(७)॥
वस्तुनस्तत्त्वनिर्धारो मानमेयविभेदतः ॥

प्रकाशः

श्रद्धारूपम् **अङ्गम्** उभयनिष्ठं **फलोपकारि** परमानन्दानुभवोपकारि. **ततो** हेतोः **अधिकारे न विशेत्** श्रवणस्वरूपोपकारित्वेऽपि उक्तरूपाद् विशेषात् तत्र उक्तायां श्रवणाद्यादररूपायां श्रद्धायां न विशेत्, तस्माद् अत्र उक्तम् इति अर्थः (५ १/२).

द्वितीयस्य उपपाद्य तृतीयस्य आहुः **विमर्शोपि** इत्यादि. **त्रिविधे द्वे** इति. जनन-समागम-प्राकट्यभेदेन उत्पत्तित्रैविध्यं, आक्षेप-सिद्धान्त-फलभेदेन उपपत्तित्रैविध्यं बोध्यम्. तथाच विमर्शप्रकरणस्य स्वावान्तरप्रकरणाभ्यां सह सामान्य-विशेषभावः, तयोः च परस्परम् एककार्यत्वं, तयोः तत्तदध्यायैः सह सामान्य-विशेषभावः इति सङ्गतिनिष्कर्षः (६ १/२).

एवं स्कन्धाद्यर्थं सङ्गतिञ्च निरूप्य प्रथमाध्यायार्थम् आहुः **तत्र तु** इत्यादि. **कर्तव्यं** श्रवणादि, तस्य सविषयत्वाद् विषयनिर्धारः, विषयस्य द्वैविध्यात् तन्निर्धारश्च. तथाच विषयसहित-कर्तव्यनिर्धारः प्रथमाध्यायार्थः इति अर्थः (७ १/२).

लेखः

विमर्शोऽपि इति. विमर्शप्रकरणञ्च अध्यायषट्केन निरूप्यते इति अर्थः (६).

ननु एवम् अध्यायद्वयमेव समायाति इत्यतः आहुः **त्रिविधे द्वे** इति. **उत्पत्त्युपपत्ती** द्वेऽपि प्रत्येकं **त्रिविधे** इति **षडेव अध्यायाः** अतः पूर्वप्रकरणाभ्यां सह **दशाध्यायाः** इति अर्थः (७).

कर्तव्यतायाः वस्तुतत्त्वनिर्धाराधीनत्वाद् विचार्यमाणे वस्तुतो मान-मेयविभेदतो वस्तुनिर्धारएव अत्र अध्याये निरूप्यते इति आहुः **वस्तुनः** इति (७ १/२).

एवं कारिकाभिः स्कन्धादिप्रमेयम् उपपाद्य व्याख्यानम् आरम्भन्तः

पूर्वस्कन्धे अधिकारनिरूपणे परीक्षितो मुख्याधिकारं निरूप्य तेन किं कर्तव्यम् इति अपेक्षायां भगवत्कृपया सत्सङ्गे सति सर्वतत्त्वजिज्ञासार्थं प्रश्नः कर्तव्यः इति प्रथमं प्रश्नद्वयं कृतं— सर्वात्मना किं कर्तव्यं, म्रियमाणैः च किं कर्तव्यम् इति. सर्वात्मना कर्तव्यं नाम यस्मिन् अकृते कोऽपि पुरुषार्थो न सिद्ध्यति तत् सर्वात्मना कर्तव्यम्. तत्र अधिकारिणो न निर्धारिताः. ते[1] च उत्तरदानसमये निर्धारणीयाः[2]. म्रियमाणानां कर्तव्यनिर्धारो द्वितीयः. ये पुनः श्रोतव्यादिपञ्च पदार्थाः पृष्टाः ते यथायथम् एतन्निरूपणेनैव निरूपिताः भविष्यन्ति, कांश्चिद् अग्रे निरूपयिष्यामः. अतो द्वयं निरूपणीयं— सर्वात्मना कर्तव्यं, म्रियमाणैः च कर्तव्यम् इति. तदर्थं सर्वेषां वस्तूनां

प्रकाशः

एवं सर्वम् अर्थं सङ्गृह्य व्याख्यानपीठिकाम् आहुः **पूर्वे**त्यादि. **न निर्धारिता** इति. "मनुष्येषु मनीषिणाम्" इति प्रश्नवाक्ये 'मनीषि'पदेन उक्ताअपि मनीषायाः बहुविधत्वाद् एते मनीषिणः इति निश्चित्य न उक्ताः. **सच** इति **चो**ऽप्यर्थे, सोऽपि इति अर्थः. तथाच एतावान् अर्थः सङ्गृहीताद् अधिकः इति अर्थः. ननु पूर्वस्कन्धे राज्ञा प्रश्नषट्कम् अन्यदपि कृतं "यच्छ्रोतव्यमथो जाप्यम्" (भाग.पुरा. १।१९।३८) इत्यादिना, तत् कथं **द्वयं कृतम्** इति उच्यते? तत्र आहुः **ये पुनः** इत्यादि. **एतन्निरूपणेन** इति, प्रश्नद्वयोत्तरनिरूपणेन प्रथमप्रश्नोत्तरनिरूपणेन वा. तर्हि "यद्वा विपर्ययम्" (भाग.पुरा. १।१९।३८) इत्यनेन उक्तस्य षष्ठस्य कुत्र उत्तरम् इत्यतः आहुः **कांश्चिद्** इत्यादि. **अग्रे** इति दशमाध्यायसमाप्तौ "अमुनी भगवद्रूपे" (भाग.पुरा. २।१०।३५) इत्यादिना. **निरूपयिष्यामः** इति, उत्तरभेदेऽपि विषयाऽभेदेन एकरूपतया निरूपयिष्यामः. तेन सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि.

लेखः

तावत् सङ्गतिं स्फुटीकर्तुम् आहुः **पूर्वस्कन्धे** इति. एवञ्च प्रसङ्गः कार्य-कारणभावो वा स्कन्धसङ्गतिः इति सिद्ध्यति. **एतन्निरूपणेनैव** इति, प्रथमप्रश्नद्वयनिरूपणेनैव इति अर्थः. **कांश्चिद् अग्रे** इति. … .

---

१. स चेति ख-ग-घ-प्रकाशे - सम्पा. २. निर्द्धारणीय इति ख-ग-घ. निर्द्धारिता इति ङ.

याथात्म्यं निरूप्यं, फलमुखम् अङ्गं श्रद्धा[1] निरूप्या, विचारः च निरूप्यः. एतेषाम् आवश्यकत्वं तत्तत्प्रकरणे निरूपयिष्यामः. तत्र सर्वात्मना कर्तव्यनिर्धारं चतुर्दशश्लोकैः आह **वरीयान्** इत्यादिभिः. कर्तव्यनिरूपणात् पूर्वम् अभिनन्दनं कर्तव्यं[2] प्रश्नस्य हेतुत्वार्थम्. यथा क्षुधितस्य अन्नदानं तथा साकाङ्क्षस्य कर्तव्यकथनम्. अधिकारनिर्धारः च कर्तव्यः, विशेषतः पूर्वं प्रश्नशेषतया अनिरूपणात्. प्रेक्षापूर्वकारिणं प्रवर्तयन् फलम् अनिरूप्य विधिः प्रवर्तयितुं न शक्नोति, अतः फलनिर्धारार्थम् अधिकारो निरूपणीयः. तत्र दोषत्रयं

प्रकाशः

एवं प्रथमकारिकार्थः उक्तः. अग्रिमाणाम् आहुः **तदर्थम्** इत्यादि. ननु त्रयाणाम् एतेषां कुतो अङ्गत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **एतेषाम्** इत्यादि. ननु उत्तरे वक्तव्ये प्रश्नाभिनन्दनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **कर्तव्ये**त्यादि. किं हेतुताबोधनेन इत्यतः आहुः **यथा** इत्यादि. तथाच तदाकाङ्क्षापूर्तिः ततइति तया च व्यग्रतानिवृत्त्या सुखेन कर्तव्यसिद्धिरिति तत् प्रयोजनम् इति अर्थः. एवम् आद्यश्लोकप्रयोजनम् उक्तम्. तदग्रिम-त्रयाणाम् आहुः **अधिकारे**त्यादि. किं तावता इत्यतः आहुः **प्रेक्षे**त्यादि. तर्हि एकः

लेखः

ननु सर्वात्मना कर्तव्यनिर्धारस्य ''तस्माद् भारत'' (श्लो. ५) इत्यादि दशभिरेव कृतत्वात् चतुर्दशोक्तिः कथं सङ्गच्छताम्? इत्यतः आद्यश्लोकचतुष्टयस्यापि तत्र प्रवेशं वक्तुम् आहुः **कर्तव्यनिरूपणाद्** इत्यादि. **हेतुत्वार्थम्** इति, कर्तव्यनिरूपणे हेतुत्वार्थम् इति अर्थः. तत्रैव कथन्ताकाङ्क्षायाम् आहुः **यथा क्षुधितस्य** इति. तथाच प्रश्नाभिनन्दनेनैव प्रश्नस्य औचित्यज्ञापने तदुत्तरकथनस्य योग्यता ज्ञापिता भवतीति तथा इति भावः. प्रथमश्लोकसङ्गतिम् उक्त्वा त्रयाणाम् आहुः **अधिकारे**त्यादि. ननु अधिकारः पूर्वं निरूपितएव अस्ति! इत्यतः आहुः **विशेषतः** इति. विशेषतः पूर्वं निरूपितोऽपि अधिकारो अत्र प्रश्नशेषत्वेन निरूप्यतइति न पुनरुक्तिः इति भावः. **दोषत्रयम्** इति. बुद्धिदोषः, आयुर्जनितदोषो, बाह्यान्तर्दोषश्च इति त्रयम् ॥१॥

---

१. श्रद्धां निरूप्येति घ.   २. वक्तव्यमिति क-ग.

निराकार्यं, तदर्थं त्रयः श्लोकाः. तत्र प्रथमं प्रश्नम् अभिनन्दति **वरीयान्** इति.

॥ श्रीशुकः उवाच ॥

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतोऽलोकहितो[१] यतः ॥
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥१॥

श्रोतव्यादिषु (भाग.पुरा. १।१९।३७-३८) प्रश्नेषु मध्ये **यः (परः कृतः!)** प्रथमतः पृष्टः – सर्वात्मना किं कर्तव्यम् इति – **एषः प्रश्नो वरीयान्** श्रेष्ठः. उत्तमत्वे हेतुम् आह **यतः** सतु **ते (अलोकहितो!)** तव उपकाराय, अन्येतु अन्येषाम्. अस्मिन् अर्थे महतां सम्मतिम् आह **आत्मवित्सम्मतः** इति, आत्मविदामपि अयं प्रश्नः सम्मतः. अनेन अत्र प्रश्नोत्तरे बुद्धेः भरोदयः इति सूचितम्. किञ्च **पुंसां** सर्वेषामेव विचारकाणां स्वतन्त्राणाम् अयं प्रश्नः **सम्मतः** इति सम्बन्धः. तस्माद् अत्र उत्तरं कथयिष्यामि इति भावः ॥१॥

इदानीं फलप्रेप्सुम् अधिकारिणं निर्धारयितुं सर्वेषाम् एकं कर्तव्यं नास्ति इति आह **श्रोतव्यादीनि** इति. अग्रिमप्रश्नानाम्[२] अनभिनन्दनाद् गौणता सूचितैव, तथापि यदि राज्ञः तत्र आकाङ्क्षा दृढा भवेत् तदा प्रथमोत्तरम् उच्यमानं न सम्यग् अवगम्येत. अतो अधिकारनिरूपणप्रस्तावे श्रोतव्यादीन्यपि निराकरोति.

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ॥
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥२॥

राजेन्द्र इति सम्बोधनाद् बहुविधाः पुरुषाः त्वयैव दृष्टाः, बहूनि

प्रकाशः

श्लोको अस्तु, किं त्रिभिः इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र** इति अधिकारएव उत्तरदानात्. पूर्वेषां चतुर्णां तात्पर्यम् उक्त्वा व्याचक्षते **तत्र** इत्यादि. **अन्ये** इति, ''अथो जाप्यम्'' इत्यादिना उक्ताः. ते विषयाऽभेदेऽपि अन्योपकारकाः इति भावः ॥१॥

---

१. श्रीधरादिसर्वेषां पाठः 'लोकहितः' इति - सम्पा. २. अग्रिमप्रश्नानभिनन्दनादिति क-ग.

च शास्त्राणि, तत्र तव तेषां वा न कोऽपि पुरुषार्थः सिद्धः इति तदनुभवस्य सम्मतिः प्रदर्शिता. प्रश्ने "नृभिः[१]" (भाग.पुरा. १।१९।३८) इति वचनात् तज्ज्ञापनाय उत्तरेऽपि (**नृणाम्** इति!) आह. तर्हि तानि कुतो न वक्तव्यानि? तत्र आह **सन्ति सहस्रशः** इति, मत्कथनात् पूर्वमेव मत्कथनम् अनपेक्ष्य सहस्रशः सन्ति. सामान्येषु स्वाभिप्रेतानाम् अप्रवेशार्थम् आह **अपश्यताम् आत्मतत्त्वम्** इति. **आत्मनः तत्त्वम्** अनारोपितं रूपं, तत् शास्त्राभावाद् **अपश्यतां** लोकव्यवहारेण आत्मा आरोपितएव दृश्यते देहादिरूपः संवलितो वा. ननु कथम् उपाये विद्यमाने ते आत्मतत्त्वं न जानन्ति? तत्र आह **गृहेषु गृहमेधिनाम्** इति. तैः विविक्तात्मस्वरूपं ज्ञात्वा किं कर्तव्यम्? ते हि **गृहमेधिनः** गृहएव पर्यवसितमतयः. तेषां गृहोपयोगि यद् भवेत् तदेव ज्ञातव्यम्. विविक्तात्मातु गृहस्य बाधकः अतो न ज्ञातव्यः. **गृहेषु** इति निमित्तसप्तमी. तेषां गृहेषु[२] बुद्धिः अस्ति "गृहैकनिष्ठाः भविष्यामः" इति. अतो गृहाः प्राप्तव्याः. तस्माद् ययैव बुद्ध्या गृहसिद्धिः तामेव बुद्धिं सम्पादयन्ति. साच लोकसिद्धग्रन्थैरेव पुष्टा न अस्मद्वाक्यम् अपेक्षते. अतः तद्विषयकः तव प्रश्नो न साधुः. अनेन म्रियमाणविषयको यः प्रश्नः सः न स्तुतो न वा निन्दितः इति तदुत्तरम् अग्रे वक्ष्यति इति सम्भाव्यते ॥२॥

ननु केवलं गृहार्थे कथं तेषां बुद्धिः, सद्बुद्धिसाधनानां विद्यमानत्वात्? तत्र आह.

प्रकाशः

तच्छास्त्राभावाद् इति. सत्स्वपि ग्रन्थेषु तदभिज्ञ-गुर्वलाभेन तेषां शास्त्रत्वाभावाद् इति अर्थः. एतेन छान्दोग्यस्थ-सनत्कुमार-नारदसंवादन्यायो बोधितः. **निमित्तसप्तमी** इति "निमित्तात् कर्मसंयोगे" (पाणि.सूत्र.वार्तिक २।३।३६) इत्यनेन उक्ता. तथाच गृहार्थं श्रोतव्यादीनि सहस्रशः सन्ति इति अर्थः. **तव प्रश्नो न साधुः** इति, प्रश्नः तव न साधुः इति अन्वयः. **अनेन** इति, आद्याभिनन्दनेन इतरविषयक-निन्दनेन च ॥२॥

---

१. नृणामिति क. २. गृहे इति ख.

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ॥
दिवा चाऽर्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा ॥३॥

निद्रया ह्रियते नक्तम् इति. सत्सङ्गसाधनीभूतः समयएव तेषां नास्ति, तत्समयस्य अन्यैरेव अपहारात्. तद् आह— निद्रा चेष्टा च अर्धशः आयुः हृतवत्यौ. तत्र **निद्रया नक्तं वयो ह्रियते** रात्रिसम्बन्धी आयुः अज्ञानेन गच्छति, **दिवा च** दिनसम्बन्धी आयुः **अर्थेहया** गच्छति. अज्ञानाद् अन्यथाज्ञानाच्च सर्वम् आयुः गच्छति इति उक्तं भवति. ननु न सर्वा रात्रिः निद्रया गच्छति! तत्र आह **व्यवायेन च वा** इति. **च**कारात् तत्साधनेन. **वा** इति प्रकारद्वयं परित्यज्य[१] न अन्यः पक्षः तेषु सम्भावितः. **वयः**शब्देन पुरुषार्थसाधनीभूतम् आयुः तारुण्यमेव ; तत् चेद् गतं जरठः किं नु साधयेद् बालो वा? **अर्थेहया** गृहस्य मूलं धनम्. **च**काराद्[२] अर्थार्थं प्रयत्नेन, सिद्धे अर्थे **कुटुम्बभरणेन वा** ॥३॥

ननु वैराग्यसाधनानां जायमानत्वात् कथं तेषां गृहे विचिकित्सा न जायते? तत्र आह.

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ॥
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥४॥

देहापत्येति. त्रयो गृहे मुख्याः— देहः पुत्रो भार्या च. तन्मूलकाः अन्ये. ते च स्वभावतो गुणतः च दुष्टाः यतः आत्मनाशकाः. ये हि यस्य परिकराः भवन्ति ते तं पोषयन्ति ; एते **आत्मसैन्या**अपि[३] आत्मानमेव शत्रुभिः घातयन्ति अतो **असन्तः**. ननु किम् अतो यदि एवम्? एवम्[४] एतद् इति आह. ते हि आत्मघातदोषेण[५] धनेन पोषिताः

प्रकाशः

विचिकित्सा इति. जुगुप्सोत्पादकं[६] गृहं दुःखदं न वा इति संशयः.

---

१. परिहृत्येति ख. २. मुद्रितादिपाठे अत्र 'निद्रया' इति अन्तर्गडुपदं लेखकप्रमादप्रक्षिप्तं भाति -सम्पा. ३. आत्मसैन्यानि इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु कपाठानुरोधात् -सम्पा. ४. एवमित्याद्याहेत्यन्तं नास्ति ख-ग.

५. -त्यात्मेति ग. ६. -दको इति मुद्रितपाठः अन्वयानुरोधात् संशोधितः -सम्पा.

निधनं प्राप्नुवन्ति. तदा दुष्टानां नाशाद् आत्मनिष्ठो भवेत्! तदन्तःस्थदोषाद् न ज्ञायते[१] इति आह **प्रमत्तः** इति. यथा अत्यन्तं मदिरामत्तो गतमपि वस्त्रं स्पृशन्नपि देहं वस्त्रगमनं न अनुसन्धत्ते तथा अयमपि मृता**नपि** तान् **पश्यन् (न पश्यति!)** जीवतइव तदर्थं प्रयतते. तस्माद् बाह्यान्तरदोष-व्याप्तत्वाद् आयुषो वृथा क्षयाद् गृहएव पर्यवसितबुद्धित्वात् तेषां श्रोतव्यादि न प्रष्टव्यम् इति अर्थः.

बुद्धिश्चाऽऽयुश्च दोषाणामभावः कारणं यतः ॥(८)॥
यस्य नैते भविष्यन्ति तस्य नाऽस्त्यधिकारिता ॥ ॥४॥

एवं प्रश्नम् अभिनन्द्य साधारण्यं परिहृत्य अभयम् इच्छताम् उपायम् आह.

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ॥
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम् ॥५॥

तस्माद् इति. यस्माद् आद्यएव पक्षः समीचीनः, यस्माद् अन्यविषयकः च असमीचीनः तस्माद् येषां संसाराद् भयम् अस्ति, तद्भयनिवृत्त्यर्थं च यतन्ते, तेषाम् **अभयम् इच्छतां भगवान् श्रोतव्यः**. यद्यपि अत्र युक्तिः वक्तव्या तथापि बहिर्मुखस्य बुद्धिः युक्तिमपि न गृह्णातीति स्वभावतो अधिकारी वक्तव्यः. तद् आह. **भारत** इति विशिष्टाधिकारद्योतकम् उक्तविश्वासाय. ''दौष्यन्तिः अत्यगाद् मायाम्'' (भाग.पुरा. ९।२०।२७)

प्रकाशः

त्रीनपि व्याख्याय तेषाम् अधिकारशेषत्वाय तदर्थं सङ्गृह्य आहुः **बुद्धिः** (का. ८) इति ॥४॥

तस्माद् इत्यत्र. **अत्र** इति सर्वभयनिवृत्त्यर्थं भगवान् श्रोतव्यः इत्यस्मिन् अर्थे. **बहिर्मुखस्य** इति भगवति विश्वासरहितस्य. **स्वभावतो अधिकारी** इति औत्पत्तिक-विश्वासवान्. **तद् आह** इति, तस्माद् आह इति अर्थः. विशिष्टाधिकारं स्फुटीकुर्वन्ति **दौष्यन्तिः** इत्यादि. **तद्धर्मपुरःसरम्** इत्यनेन दुर्योधनादयो व्यावर्तिताः.

---

१. जायत इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ख-ग पाठानुरोधात् - सम्पा.

इति भरतस्य मायामोहाभावात् तद्धर्मपुरस्सरं तद्वंशोत्पन्नानामपि मायामोहाभावाद् उक्तविश्वासः.

ननु वैदिकविधिबोधितानाम् अग्निहोत्रादीनाम् आत्मजिज्ञासायाः वा कथनं परित्यज्य कथं भगवच्छ्रवणं विधीयते, अवैदिकत्वात्? तत्र आह **सर्वात्मा** इति. प्रमाणबलात् प्रमेयबलं महद् इति अग्रे वक्ष्यते. प्रमेये च युक्तिः बलिष्ठा. तत्र एषा युक्तिः— अभयप्रेप्सवः त्रैवर्णिकाएव भवन्ति इति नास्ति नियमः, अन्येषामपि कृतपुण्यपुञ्जानाम् अभयेच्छासम्भवात्. अतः तेषाम् उपायो वेदे न उक्तइति तदर्थं वक्तव्ये साधने – तेनैव साधनेन त्रैवर्णिकानामपि पुरुषार्थसिद्धौ आवश्यकत्वाद् लाघवाच्च – सर्वोपयोगी

प्रकाशः

एवं राज्ञो दृढीकरणेन युक्तेः वक्तव्यत्वम् उपपाद्य वक्ष्यमाणां तां दृढीकर्तुम् आशङ्कन्ते **ननु** इत्यादि. **कथम्** इति केन प्रकारेण. आत्मत्वेन चेद् वैदिकपरित्यागायोगः, प्रकारान्तरेण चेत् तत्र विश्वासाभावः इति. **तत्र आह** इति, तादृश्याम् आशङ्कायाम् उभयदोषनिवारकं प्रकारम् आह इति अर्थः. ननु जाता प्रमाणाकाङ्क्षा ; तत्पूर्त्यर्थं प्रमाणे वक्तव्ये प्रमेयविशेषणं किमिति उच्यते? तत्र आहुः **प्रमाणे**त्यादि **वक्ष्यते** इति. **बलिष्ठा** इति, पूर्वतन्त्रे तथैव निर्णीयमानत्वाद् बलिष्ठा. लोकेऽपि प्रमाणम् एकदेशं प्रमापयति, प्रमेयन्तु ततोऽप्यधिकम् इति दृश्यते. अतः [१]प्रमाणाकाङ्क्षापूर्त्यर्थं तादृशतत्कथनं युक्तम् इति अर्थः. सा का इति आकाङ्क्षायां ताम् आहुः **तत्र** इत्यादि **वक्तव्यः** इत्यन्तम्. **तत्र** इति भगवच्छ्रवणे. **नास्ति नियमः** इति. नारदपूर्वजन्मनि दासीपुत्रेऽपि तदुक्त्या नियमभङ्गदर्शनाद् इदानीन्तनानामपि तथा दर्शनाच्च नास्ति इति अर्थः. **अतः** इति. तादृशाम् उद्धार्यत्वात् **तेषाम्** अर्थे **उपायः** उद्धारोपायः **वेदे** त्रैवर्णिक-मात्रोपकारके **न उक्तः** उक्तो नास्ति **इति** हेतोः **तदर्थं वक्तव्ये साधने** आवश्यकत्वात् **तेनैव** इत्यादिना उक्तरीत्या **लाघवाद्** इति अन्वयः. तथाच एताभ्यां युक्तिभ्यां सर्वात्मत्वेन रूपेण भगवच्छ्रवणं विधीयते इति अर्थः. ननु कथम् एतेन

---

१. प्रमाणका- इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः - सम्पा.

एकएव उपायो वक्तव्यः. सच सर्वात्मत्वाद् भगवतः तद्विषयएव कश्चिद् वक्तव्यः. नहि स्वस्य आत्मा कस्यचिद् न श्रोतव्यः, "आत्मा वा अरे श्रोतव्यः" (बृहदा.उप. २।४।५), "आत्मलाभान्न परं विद्यते" (आप.धर्मसूत्र १।८।२२।२), "तरति शोकम् आत्मविद्" (छान्दो.उप. ७।१।३) इति श्रुतेः. तत्र स्व-स्वात्मश्रवणे बोध्यमाने बोधकस्य वाक्यापर्यवसानमेव स्याद्, आत्मसु प्रकृति-विकृतिभावाभावाच्च. तस्मात्

प्रकाशः

[१]प्रमाणाकाङ्क्षापूर्तिः इत्यतः आहुः **नहि** इत्यादि. तथाच श्रुतिसामानाधिकरण्यात् प्रमाणाकाङ्क्षापूर्तिः इति अर्थः. कथं युक्तेः बलिष्ठत्वम् इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र** श्रौते श्रवणविधौ "आत्मनः तु कामाय पतिः प्रियो भवति" (बृहदा.उप. २।४।५) इत्याद्युपक्रमम् आपाततो अनुरुध्य अभ्यर्हितत्वात् – **स्व-स्वात्मश्रवणे** स्वपदेन देहो वाच्यः, तथाच – तत्तदवच्छिन्नस्य तत्तदभिमन्तुः वा **श्रवणे बोध्यमाने बोधकस्य वाक्यापर्यवसानमेव स्याद्** देहानन्त्येन आत्मीयत्वानन्त्यात् तथा स्यात्. तथाच अशक्योपदेशत्वेन अननुष्ठापकत्वात् प्रामाण्यमेव तस्य भज्येत इति अर्थः. अथ आत्मीयापेक्षया देहात्मनि अभ्यर्हित-स्वत्वस्य आधिक्यात् स्वत्वम् आत्मत्वमेव इति चेत्, तत्र आहुः **आत्मसु** इत्यादि. तथाच तद्वैशिष्ट्यस्य सर्वेषु तुल्यत्वाद् **आत्मसु** तद्व्यवच्छेदकस्य **प्रकृति-विकृतिभावस्य अभावात्** सर्वात्मश्रवणप्राप्तौ तदानन्त्यादपि सएव दोषः इति अर्थः. अथ स्वत्वम् अभिन्नत्वमेव इति चेत्, किम् इदम् अभिन्नत्वं ; नानात्वराहित्यं वा अन्योन्याभावराहित्यं वा? न उभौ, अनेकात्मवादाभ्युपगमे नानात्वभेदयोः तत्र उपगतत्वेन तदभाववत्त्वस्य तत्र अशक्यवचनत्वात्. भिन्नत्ववद् अभिन्नत्वस्यापि प्रतियोगिसापेक्षत्वेन तदाकाङ्क्षायां स्वस्यैव तत्र निवेशे स्वयं कः इति जिज्ञासायां स्वाभिन्नः इति ज्ञेयतया आत्माश्रया-ऽन्योन्याश्रयापातेन ज्ञानदौर्घट्याच्च. इदं **चकारेण** सङ्गृहीतम्. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. उपक्रमस्य अनुरोध्यत्वाद् दोषस्य च परिहार्यत्वात् **सर्वेषाम् एको यः**

---

१. प्रमाणका- इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः -सम्पा.

सर्वेषाम् एको यः आत्मा भवति सएव श्रोतव्यः. अतः[१] श्रुतावपि 'आत्म'पदं सर्वात्मपरम्. नच जातिवाचकत्वम् 'आत्म'पदस्य, तथा सति व्यक्तिरूपस्य स्वस्य गौणत्वेन अश्रौतत्वात् क्रियावद् ज्ञाने अनुपपत्त्यभावाच्च न आत्मनः

प्रकाशः

आत्मा भवति सः स्वात्मापि भवत्येवेति **सएव श्रोतव्यः** इति अर्थः. युक्तेः बलिष्ठत्वाय आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** इति उक्तहेतोः. तथाच एवं श्रुत्यर्थनिश्चायकतया बलिष्ठत्वेन, अतः प्रमाणाकाङ्क्षायाअपि पूर्तिः इति अर्थः. ननु आत्मनां नित्यत्वेन प्रवाहशक्तिपक्षस्य अत्र असम्भवाद् 'आत्म'शब्दस्य व्यक्तौ जातिविशिष्ट-व्यक्तौ वा शक्त्यङ्गीकारे [२]पूर्वोक्तदोष-सम्भवाच्च तान् पक्षान् परित्यज्य, सर्वात्मत्वस्य उपाधित्वेन गुरुत्वात् तत्परत्वमपि त्यक्त्वा, जातिवाचकत्वम् आदरणीयम्. ततः च जात्या व्यक्त्याक्षेपदशायाम् अहंवित्तिवेद्यैव आक्षेप्या, नतु अन्या, उपक्रमानुरोधात्. अतो न श्रुतौ 'आत्म'पदस्य सर्वात्मपरत्वम् इत्यतः आहुः **नच** इत्यादि. तत्र हेतुः **तथा सति** इत्यादि. उक्तदोषपरिहाराय 'आत्म'पदस्य जातिवाचकत्वे अङ्गीकृते सति **व्यक्तिरूपस्य स्वस्य** आत्मनो **गौणत्वेन** अवाच्यत्वेन **अश्रौतत्वात्, क्रियावद्** "व्रीहिभिः जुहोति" (. । ।) इत्यादिक्रियायां यथा व्रीहित्वादेः होमादिसाधकत्वानुपपत्त्या व्रीह्यादिव्यक्तिः आक्षिप्यते, तस्याः च अनन्यलभ्यत्वात् शब्दार्थत्वं च अङ्गीक्रियते, तथा **ज्ञाने अनुपपत्त्यभावात्** शब्दश्रवणमात्रेण जातिज्ञाने जायमाने व्यक्त्याक्षेपकानुपपत्त्यभावाच्च आक्षेप्यत्वाभावेनापि अश्रौतत्वाद् **न आत्मनः कार्यं सिद्ध्येद्** आत्मवेदनस्य अभावेन शोकतरणरूपम् आत्मलाभरूपं च कार्यं न सिद्ध्येद् इति अर्थः. ननु आत्मत्वजातिशब्दादेव आत्मकार्यसिद्धिः अस्तु, को दोषः इति चेद्, न, तस्याः जातिवाचकपद-श्रवणमात्रेणापि भवनात् प्रियत्वलिङ्ग-श्रावणविरोधापत्तेः. ननु तर्हि यथाकथञ्चिद् आत्मश्रवणे विधिः अङ्गीकार्यः इति चेत्, तत्र आहुः **सङ्घातेऽपि** इत्यादि. श्रवणविधिम्

---

१. अत इति नास्ति ख-ग.

२. बोधकवाक्यपर्यवसानदोषः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

कार्यं सिद्ध्येत्. सङ्घातेऽपि आत्मज्ञानस्य विद्यमानत्वात् श्रुतौ प्रकारविशेषस्य अनुक्तत्वाद् ज्ञानार्थं प्रयासो व्यर्थः स्यात्. श्रुतिः च उपचरिता भवेत्. अतः सर्वात्मैव श्रोतव्यः. तस्य[१] शारीरस्य च भेदाभावाद् न स्वस्य गौणता.

प्रकाशः

अन्तरेणापि **सङ्घाते** अहंवित्तिरूपस्य **आत्मज्ञानस्य** प्रमाण-वस्तुभ्यां जायमानस्य **विद्यमानत्वाद्**, ''न वा अरे'' (बृहदा.उप. २।४।५) इत्यादि**श्रुतौ** पत्यादिष्विव शरीरे औपाधिकप्रीत्यश्रावणेन **प्रकारविशेषस्य अनुक्तत्वात् तज्ज्ञानार्थं** श्रवणादिरूपः **प्रयासो व्यर्थः स्यात्**. तथाच श्रवणविधि-वैयर्थ्यापाताद् न तथा अङ्गीकर्तुं शक्यम् इति अर्थः. ननु मणिपरीक्षायामिव आत्मपरीक्षायामपि वाक्यसहकृतस्यैव प्रत्यक्षस्य[२] हेतुत्वाद् न श्रवणविधिवैयर्थ्यम् इति चेत्, तत्र आहुः **श्रुतिः च** इत्यादि. तथा सति वाक्यस्य चक्षुःसहकारित्वं मनःसहकारित्वं वा वाच्यम्. तत्र आद्ये देहात्मभावदृढीकरणेन उपचरिता. द्वितीयेऽपि प्राणात् मनसश्च आत्मविवेकस्य अजातत्वात्, श्रुत्यन्तरे ''आत्मानं चेद् विजानीयाद् 'अयमस्मी'ति पुरुषः, किम् इच्छन् कस्य वा हेतोः शरीरम् अनुसञ्ज्वरेद्'' (बृहदा.उप. ४।४।१२) इति आत्मज्ञाने शारीरतापज-तापनिवृत्त्यादेरेव उक्तत्वात्, तस्याश्च योगेन समाधिदशायां प्राणे सप्राणमनसि[३] वा जायमानतया तद्विशिष्टात्मभाव-दृढीकरणेन उपचरिता भवेत्. तथाच लक्षणादोषापातात् तथा न उपगन्तुं शक्यम् इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **अतः** इति. असन्दिग्धत्वेन प्रतिपत्तिलाघवात् तत्प्रकरणगत-वाक्यान्तरान्वय-स्वारस्याच्च **सर्वात्मैव श्रोतव्य**त्वेन श्रुत्या विधीयते इति अर्थः. ननु* अस्तु एवं श्रोतव्यविधिनिर्वाहः, तथापि आत्मलाभश्रुतौ शोकतरणश्रुतौ च जीवात्मैव 'आत्म'पदेन ग्राह्यः. 'लाभ'पदस्य सिद्धासिद्धान्यतर-

१. तस्य चेति ख-ग.

२. -कृतस्य प्रत्यक्षस्यैव इति मुद्रितपाठः. कि-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

३. सप्राणे सः मनसि इति मुद्रितपाठः. प्राणेशप्राणे सप्राणमनसि इति मा.पाठे. अप्राणमनसि वा इति कि.पाठे. गृहीतस्तु तेषां निष्कर्षः - सम्पा.

किञ्च "फलमत उपपत्तेः" (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) इति न्यायेन न केवलं ज्ञानमात्रेण फलं किन्तु श्रवणादिभिः ज्ञाते ब्रह्मणि तत् फलं प्रयच्छति. तत्[१] चेद् निर्धर्मकं शारीररूपं वा स्यात्, फलदाने असमर्थमेव स्यात्. अतः फलदानसमर्थरूपएव आत्मा श्रोतव्यः इति आह **भगवान्** इति. षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो, नतु भ्रान्तशास्त्रैः प्रतिपन्नः. वेदार्थोऽपि अयमेव इति अवादिष्म.

प्रकाशः

वस्तुस्वाधीनतायामेव प्रयोगाद्, ईश्वरस्य स्वतन्त्रत्वेन जीवाधीनतायाः अशक्यवचनत्वाद्, जीवे तु विस्मृतकण्ठमणिलाभ-न्यायेन ज्ञानमात्रेणापि लाभस्य शक्यवचनत्वात्. तेन च शारीरादिज्वराभावे शोकस्यापि निवृत्तेः तस्यैव लाभस्य परत्वेन सिद्धेश्च. सर्वात्मश्रवण-विधानाङ्गीकारे तु स्वस्य अश्रुतत्वेन अज्ञाततया अलब्धत्वात् स्वस्य पराधीनत्वरूपया गौणतया शोकस्यापि अनिवृत्तेः. अतः एतत्सामञ्जस्याय तत्रापि शारीरएव आत्मा श्रोतव्यत्वेन स्वीकार्यः* इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तस्य** इत्यादि. **भेदाभावाद्** इति सुवर्ण-तत्खण्डयोरिव अंश्यंशभावेन तादात्म्यात्. तथाच तज्ज्ञानेऽपि आत्मज्ञानसिद्ध्या आत्मलाभ-शोकतरणयोः सिद्धेः श्रुतिसामञ्जस्यात् तत्रापि 'आत्म'पदेन सर्वात्मैव ग्राह्यः इति अर्थः. एतेन जीव-ब्रह्मभेदवादो निराकृतः. विशिष्टाद्वैतवादश्च, तत्रापि विशेषणत्वेन गौणत्वानपायात्.

ननु एवं सति तादात्म्येऽपि किञ्चिद् गौणतासत्त्वात् तमपि वादं विहाय [२]शुद्धाभेदवादएव स्वीकार्यः, तथा सति घट्टकुट्यां प्रभातम् इति शङ्कायां युक्त्यन्तरम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. **फलम्** इति शोकतरणादिरूपम्. **अतः** इति दानस्य दातृसामर्थ्यसापेक्षत्वात्. **षड्गुणे**त्यादि. तथाच [२]शुद्धाभेदवादोऽपि दुष्टः इति न्यायसामञ्जस्यार्थं तादात्म्यमेव अङ्गीकृत्य श्रुत्यर्थो निर्णेयः इति अर्थः. ननु तथापि यौक्तिकएव अयम् अर्थः नतु श्रौतः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **वेदे**त्यादि. भगवानेव वेदार्थइति तस्यैव

---

१. तच्चेति क-ग.

२. शुद्धाभेदवादः अत्र केवलाद्वैतवादो, नतु शुद्धाद्वैतवादः इति अवगन्तव्यम् - सम्पा.

किञ्च फलं दुःखाभावः सुखञ्च. तत्र प्रथमं दुःखाभावो मृग्यः, बुद्धेः तत्रैव प्रथमं प्रवृत्तेः. तत्र श्रवणस्य तत्साध्यज्ञानस्य वा एकफलत्वे सर्वफलत्वे वा आहारपृथक्त्वेन सर्वफलत्वनिर्धारात् प्रथमं जाते साक्षात्कारे

प्रकाशः

श्रवणादिकं विधेयम् इति वेदार्थः इति सर्वनिर्णये (त.दी.नि. २।८४), प्रथमस्कन्धे (भाग.पुरा. १।३।२९), वाक्यान्वयाधिकरणे (ब्रह्मसूत्र १।४।१९) च "सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति" (कठोप. १।२।१५), "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" (भग.गीता १५।१५) इत्यादिश्रुत्युपन्यासपूर्वकं "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाद्" (ब्रह्मसूत्र १।२।१) इत्यादि न्यायोपन्यासपूर्वकं च उक्तम् इति अर्थः.

ननु एवं सति श्रुत्यर्थनिश्चायनाय "सर्वात्मा भगवान् श्रोतव्यः" इत्येव वक्तव्यं ; कृतम् अन्याभ्याम् इति आकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनम् आहुः **किञ्च फलम्** इत्यादि. **दुःखाभावः** इत्यादि. अवान्तरभेदबाहुल्येऽपि एतद्द्वयएव पर्यवसन्नत्वाद् इति अर्थः. **तत्र** इत्यादि. **तत्र** तत्साधनविचारे क्रियमाणे मैत्रेयीब्राह्मणे दर्शनसाधनत्वेन उपस्थितस्य **श्रवणस्य एकफलत्वे,** "द्रष्टव्यः" इत्यनेन उपस्थितस्य **तत्साध्यज्ञानस्य वा एकफलत्वे** 'अमृत'पदोक्त-दुःखाभावफलत्वे. **सर्वफलत्वे वा** "ब्रह्मविदाप्नोति परं" (तैत्ति.उप. २।१), "न पश्यो मृत्युं पश्यति" (छान्दो.उप. ७।२६।२) इति ब्रह्मविदम् उपक्रम्य "सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति" (छान्दो.उप. ७।२५।२) इत्यादि श्रुत्यन्तरोक्त-सर्वफलत्वे वा **आहारपृथक्त्वेन सर्वफलत्व-निर्धारात्** "मैत्रावरुणीं द्विरूपाम् आलभेत अन्नकामः" (तैत्ति.संहि. २।१।७।३-५), एवं वृष्टिकामः - प्रजाकामः इति नानाफलार्थं विहितानां यागानाम् "ऐन्द्राग्नम् एकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः ... स्पर्धमानः ... सङ्ग्रामम् उपप्रयास्यन् ... सङ्ग्रामं जित्वा" (तैत्ति.संहि. २।२।१।१-३. द्रष्ट. पातं.महाभा. १।४।२८ बालमनोरमा च) इति नानावाक्यविहिते यागे, किं सकृत्करणेन सर्वफलसिद्धिः उत तत्तदर्थम् आवृत्तिः कर्तव्या इति सन्देहे, कालभेदादिना आहारस्य = आहरणस्य यत् पृथक्त्वम् = आवृत्तिः तेन सर्वफलत्वं, नतु सकृत्करणेन इति निर्धारात्. **प्रथमं जाते साक्षात्कारे**

दुःखनिवृत्तौ परमानन्दो न स्यात्, परमानन्दे वा स्वर्गादिसुखवद्[१] दुःखनिवृत्तिः न स्यात्. [२]सन्नियोगशिष्टत्वेऽपि (लौकि.न्या.सा. ४४४) फलदातृत्वाद् भगवतो द्वयं न प्रयच्छेद्, अन्यथा आहारपृथक्त्वन्यायो भज्येत. अतः श्रवणएव तादृग्विषयो वक्तव्यः यस्तु उभयरूपो भवति. तद् आह **हरिः ईश्वरः** इति. हरित्वेन सर्वदुःखहर्तृत्वेन **ईश्वर**त्वेन सर्वफलदातृत्वेन च

प्रकाशः

तेन विहितज्ञानेन तथा स्यात्. ननु एकसाधनकत्वेन निर्दिष्टानां सन्नियोगशिष्टत्वात् "सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः" (परिभाषापाठसूत्र ८८) इति न्यायेन सहभवनस्य शक्यवचनत्वात् कुतो न फलद्वयम् इति चेत्, तत्र आहुः **सन्नियोगे**त्यादि. तत्र हेतुः **अन्यथा** इत्यादि. तथाच सन्नियोगशिष्ट-न्यायस्य व्याकरणसिद्धत्वेन शब्दविषयत्वाद् उक्तन्यायस्य[३] च क्रियानिर्णायकत्वेन तद्विषयत्वात् श्रवणस्थले तद्भङ्गे क्रियामर्यादैव भज्येत. नच भगवतो अनियम्यत्वात् को दोषः इति शङ्क्यं, "स्वकृतसेतुपरीप्सया" (भाग.पुरा. १०।५५।३७) इत्यादिवाक्यैः तदभञ्जकत्वनिश्चयात्. अतः तदभङ्गार्थत्वात् **श्रवणएव** तथा इति अर्थः. **हरित्वेन** इत्यादि. तथाच यथा जातेष्ट्यधिकरणे "यद् अष्टाकपालो भवति गायत्रियैव एनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, यद् नवकपालः त्रिवृतैव अस्मिन् तेजो दधाति, यद् दशकपालो विराजैव अस्मिन् अन्नाद्यं दधाति, यद् एकादशकपालः त्रिष्टुभैव अस्मिन् इन्द्रियं दधाति, यद् द्वादशकपालो जगत्यैव अस्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जाते एताम् इष्टिं निर्वपन्ति पूताः तेजस्वी अन्नादः इन्द्रियावी पशुमान् भवति" (तैत्ति.संहि. २।२।५।३-४) इति श्रुत्या द्वादशकपालपुरोडाशस्य सकृत्करणेऽपि तद्गताष्टाकपालत्वादिधर्मेण नानाफल-

लेखः

तस्माद् इत्यत्र. **आहारपृथक्त्वन्यायः**. ... .

---

१. स्वर्गादितत्सुखवदिति ग. २. सन्नियोगशिष्टानाम् अन्यतरापाये उभयोरपि अपायः. "देवदत्त-यज्ञदत्ताभ्याम् इदं कर्म कर्तव्यम्" इति आदेशे देवदत्तापाये यज्ञदत्तोऽपि न करोति - सम्पा. ३. आहारपृथक्त्वन्यायस्य इति तात्पर्यम् - सम्पा.

श्रोतव्यः, "तं यथा यथा उपासते" (मुद्गलोप. ३) इति श्रुतेः. अतो धर्मचतुष्टय-युक्तत्वेन गुणोपसंहारन्यायेन[१] तादृशः श्रोतव्यः इति विषयं व्यावर्तकधर्मैः परिच्छिद्य तत्र कर्तव्यम् आह श्रोतव्यादित्रयम्.

ननु अस्य शास्त्रस्य भक्तिफलकत्वात् श्रवणादिकं न धर्मरूपम्, उत्तमवक्तृकथनाच्च. अतो नवविधा भक्तिः कर्तव्यत्वेन वक्तव्या ; तत् कथं त्रयमेव उच्यते इति चेत्, सत्यम्. नवविधभक्तेः वक्तव्यत्वेऽपि प्रेमानन्तरभावित्वाद् अन्येषां त्रयमेव उक्तम्. त्रिभिः स्नेहे जाते अन्येषां कर्तव्यता अनुक्तसिद्धैव.

प्रकाशः

सिद्धिः, तथा अत्र श्रोतव्यगतधर्मेणेति न न्यायविरोधः इति अर्थः. ननु श्रवणस्य क्रियाकल्पत्वेन तस्य अनेकफलत्वे तथानिर्णयो अस्तु, प्रकृते तु तत्साध्यज्ञानस्य तथात्वं विवक्ष्यते इति तस्य कथं पूर्वतन्त्रेण निर्णयः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तम्** इत्यादि. "तं यथा यथा उपासते तथैव भवति, तद्धैतान् भूत्वा अवतीति, तस्माद् एनम् एवंवित् सर्वैः एतैः उपासीत, सर्वं हि तद् भवति, सर्वं हैनम् एतद् भूत्वा अवति" इति श्रुतेः. उपासनं = चिन्तनम्. तथाच उत्तरकाण्डेऽपि ज्ञेयधर्मभेदेन ज्ञानफलभेदस्य उक्तत्वाद् अत्रापि तथैव निर्णयः इति अर्थः. सिद्धं वदन्तः तस्य न्यायसिद्धतां बोधयन्ति **अतः** इत्यादि. एवं श्रुतिसामानाधिकरण्य-व्युत्पादनेन अस्य प्रकारस्य बलिष्ठत्वं दृढीकृतम्.

अतः परं सर्वोपयोगित्वं दृढीकर्तुम् आहुः **ननु** इत्यादि. **उत्तमवक्तृकथनाद्** इति परमविरक्त-ज्ञानिभक्तेन वक्त्रा कथनात्. **अतः** इति भक्तित्वात्. तथाच सङ्ख्याभेदेन भक्तित्वसंशये सर्वोपयोगित्वस्यापि संशयः इति अर्थः. अत्र तदुक्तम् उपगम्य सङ्ख्योक्तिसमर्थनेन समादधते **सत्यम्** इत्यादि.

एवं सङ्ख्याविचारेण भगवच्छ्रवणविधेः सार्थक्यम् उपपाद्य

---

१. ब्रह्मणः सर्ववेदान्तप्रत्ययरूपत्वेन एकस्याम् उपासनायाम् अपठितानामपि इतरत्र पठितानां गुणानाम् उपसंहारः कार्यः इति - सम्पा.

ननु "भगवान् श्रोतव्यः" इति को अर्थः? तद्वाचकाः शब्दाः श्रोत्रेण ग्राह्याः, तेषाम् अर्थो वा ज्ञातव्यः, अभिप्रायो वा? सर्वेषां वा केषाञ्चिदेव वा? आद्ये विधिः व्यर्थः, प्रमाण-वस्तु-परतन्त्रत्वेन ज्ञानस्य श्रोत्रेन्द्रियवतो यतःकुतश्चित् शब्दे उच्चारिते ज्ञानं भविष्यत्येव. गृहीतसङ्केतस्यतु पुनः अर्थज्ञानमपि भविष्यति. नच तत्सम्पादने यत्नः कर्तव्यः इति, दैवगत्या यत्नं विनाऽपि सर्वेषां तत्सम्भवात्. अथ सर्वदा? अशक्त्या असम्भवाद्, जीवनानुपपत्तिः च. किञ्च भगवद्वाचकानां सर्वेषां पद-वाक्यानाम् एकेन उपस्थापयितुम् अशक्यत्वाद् यत्किञ्चित्-पदवाक्यमात्रस्य सर्वजनीनत्वाद् अवक्तव्यत्वम्. अथ शक्तितात्पर्यनिर्धारः पद-वाक्ययोः श्रवणं, तथैव कीर्तनं स्मरणञ्च इति चेद्, न, सर्वेषां पद-वाक्यानाम् अनुपस्थितौ तन्निर्धारस्य अशक्यत्वात् यत्किञ्चित्-पदवाक्यमात्रस्य तु[१] शक्तितात्पर्यनिर्धारः[२] सर्वजनीनइति न उपदेशो युक्तः इति. मा एवम्.

श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः ॥(९)॥
उक्तैव वासुदेवस्य तदर्थम् अपरा कृतिः ॥

प्रकाशः

विधेयश्रवणविषय-विचारेण उपपादयन्ति **ननु भगवान्** इत्यादि. **इति को अर्थः** इति अस्मिन् वाक्ये किम् अभिधेयम्. अत्र षट् विकल्पाः. तेषु आद्यं दूषयन्ति **आद्ये** इत्यादि. द्वितीयं विकल्प्य दूषयन्ति **गृहीत** इत्यादि. द्वितीये द्वितीयं दूषयन्ति **किञ्च** इत्यादि. तृतीयं दूषयन्ति **अथ** इत्यादि. **पद-वाक्ययोः** इति श्रोत्रेन्द्रियगृहीतयोः पद-वाक्ययोः. **तथैव** इति. तन्निर्धारपूर्वकं शब्दोच्चारणं, तन्निर्धारजन्य-संस्कारजनितज्ञानम् इति अर्थः. तत्र सङ्ख्यां नियमयन्तः समादधते **मा एवम्** इत्यादि. **पुनः** इति विधानानन्तरम्. **उक्तदूषणम्** इति उपदेशायोगरूपम्.

लेखः

पूर्वपक्षम् उक्त्वा कारिकया समादधते **दशविधा** इति, सर्गादयः इति अर्थः. **उक्ता** इति. स्कन्धान्ते उद्देश्यतया उक्तैव इति अर्थः. **तदर्थम्**

---

१. तुर्नास्ति ख. २. शक्तितात्पर्येति वर्णाः न सन्ति क.

शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्येन पदादिगः ॥(१०)॥
क्रियते स्कन्ध एवाऽत्र तेन नाऽत्रोक्तदूषणम् ॥

भगवान् दशविधलीलायुक्तः श्रोतव्यः, अन्यथा विषयवाचक-पदचतुष्टयेनैव श्रवणसिद्धेः विधेः वैयर्थ्यं स्यात्, तृतीयादि-दशस्कन्धकृतिवैयर्थ्यञ्च. तावता[1] शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्यन्यायेन व्याकरणवद् मीमांसावच्च अत्रैव क्रियते.

प्रकाशः

कारिकां व्याकुर्वन्ति **भगवान्** इत्यादि. अत्र भगवच्छ्रवणं विधाय अग्रे दशविधलीलानां कथनाद् न अयं वाक्यार्थः इति अर्थः. अत्र **भगवच्**छब्दो योगरूढः. **श्रोतव्यः** इति शाब्दविषयः कर्तव्यः, 'श्रवण'पदस्य श्रोत्रेन्द्रियजन्य-ज्ञानइव शाब्देऽपि रूढत्वात्. "गजराजः श्रुतः", "बृंहितं श्रुतम्" इत्यादिप्रयोग-तौल्यदर्शनाद् ईदृशस्य श्रोतव्यत्वे अर्थापत्तिं प्रमाणयन्ति **अन्यथा** इत्यादि. ननु एवमपि द्वितीयस्कन्धवैयर्थ्यन्तु तदवस्थम् इत्यतः आहुः **तावताम्** इत्यादि. दशविधलीलावाचकानां तद्युक्तवाचकानां तत्तात्पर्यकाणां[2] च पद-वाक्यानां **शक्ति-तात्पर्यनिर्धारः** असङ्कोच-सङ्कोचभेदेन द्विविधायाः शक्तेः तादृशप्रत्यायने वक्तुः इच्छायाश्च निर्णयः **सामान्यन्यायेन व्याकरणवद् मीमांसावच्च अत्रैव क्रियते.** यथा व्याकरणे "सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु 'जातिः' इति उच्यते तस्यां सर्वे शब्दाः व्यवस्थिताः" (वाक्यप.जातिस. ३।३३) इत्यादौ सर्वशब्दानाम् एकस्यां सत्तायां "तद् अस्य अस्ति अस्मिन् इति मतुप्" (पाणि.सूत्र ५।२।९४), "तद् अस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतज्" (पाणि.सूत्र ५।२।३६) इत्यादौ च एकस्य मतुपः तारकितशब्दस्य च अर्थे बोधिते तदन्तानां

लेखः

इति, तत्तल्लीलानां विशेषज्ञानार्थं तृतीयादिस्कन्धेषु भगवतो अनन्ता कृतिः उच्यते इति अर्थः (९-१०).

पदचतुष्टयेनैव इति. पूर्वार्धोक्त-**सर्वात्मादि**-पदचतुष्टयम् इति अर्थः.

---

१. तावतामिति क-प्रकाशे - सम्पा.

२. तत्तात्पर्यकारणानाम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

तस्माद् न कोऽपि दोषः. एते हि चत्वारो गुणाः अधिकारिफल-निरूपकत्वेन

प्रकाशः

तदादीनां च तत्र तत्तार्थे[१] शक्तिनिर्धारः क्रियते. यथा च मीमांसायाम् ''आकाशस्तल्लिङ्गाद्'' (ब्रह्मसूत्र १।१।२१), ''वाक्यान्वयाद्'' (ब्रह्मसूत्र १।४।१९) इत्यादौ तात्पर्यबोधनप्रकारे उक्ते तल्लिङ्गादिभिः हेतुभिः अन्येषामपि पदानां वाक्यानां च शक्तितात्पर्यनिर्धारः क्रियते. तद्वद् अत्रैव ''द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च, वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न च अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः'' (भाग.पुरा. २।५।१४) इत्यादिषु, ''शाब्दस्य हि ब्रह्मणः एषः पन्थाः'' (भाग.पुरा. २।२।२) इत्यादिषु सर्वशब्दानां भगवति, ''पातालम् एतस्य हि पादमूलम्'' (श्लो. १६) इत्यादिषु भगवदवयवविशेष-रूपे अर्थे शक्तितात्पर्यनिर्धारः, ''नारायणपराः वेदाः'' (भाग.पुरा. २।५।१५), ''भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन'' (भाग.पुरा. २।२।३४) इत्यादौ वाक्यानां तात्पर्यनिर्धारश्च क्रियते. तस्मात् शाब्दप्रमितिं प्रति शक्ति-तात्पर्यग्रहणयोः कारणत्वात् तद्ग्रहस्य च व्याकरणाद्यन्यतमाधीनत्वाद् अस्मिन् स्कन्धे तद्ग्राहकयोः विवृत्त्या आप्तवाक्ययोः निरूपणाद् न कोपि दोषः, न[२] पुनरुक्तिः वैयर्थ्यं वा इति अर्थः. एतेन यथा गायक-गीयमानाऽऽलापगत-'ननना'दिशब्दश्रवण-महिम्ना अर्थज्ञानविधुराणामपि श्रोतॄणां चित्तद्रुतिः जायते, तथा भगवद्वाचक-शब्दश्रवणमहिम्ना अभयसिद्धिरपि भविष्यति इत्यपि चोद्यं निरस्तम्. ननु शक्त्यादिनिर्धारस्य[३] सम्पूर्णस्कन्धसापेक्षत्वे, विषयस्य च स्कन्धान्तरेषु निरूपणे ''भगवान् श्रोतव्यः'' इत्येव वक्तव्यं, तावतैव विधानसिद्धेः ; **सर्वात्म-हरीश्वर**-पदानां[४] शेषाणां किं प्रयोजनम् अतः आहुः **एते हि** इत्यादि. **अवच्छेदकत्वेन** इति

लेखः

एते हि इति, **सर्वात्मादि**-पदचतुष्टयबोध्याः इति अर्थः.

१. तत्र तत्र अर्थे च इति मा.पाठे - सम्पा. २. न इति नास्ति मा.पाठे - सम्पा.

३. शक्यादि- इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

४. इदं पदं मा.पाठे 'शेषाणाम्' इत्यस्य उपरि पादटिप्पण्याम् अस्ति - सम्पा.

उक्ताः, नतु श्रोतव्यत्वेन, अवच्छेदकत्वेनैव तदुपयोगात्. गुणानाम् आनन्त्येऽपि यथा दशलीलासु सर्वप्रवेशः तथा उत्तरत्र वक्ष्यते. अनुप्रवेशेऽपि यथा आनन्त्यं तथाऽपि (/ तदपि ?) वक्ष्यते.

प्रकाशः

तदितरस्य विवक्षितफलनिरूपकता-व्यावर्तकत्वेन. तथाच श्रुतिसामानाधिकरण्याय **सर्वात्म**पदं, निर्धर्मकस्य एकजीववाद्यभिमत-शारीरस्य च व्यावृत्त्यर्थं **भगवत्**पदं, तस्य केवलयौगिकत्व-गौणत्वयोः वारणाय **हरि**पदं, "भगश्च असौ वांश्च भगवान्" (?) इति योगस्य अथर्वशिरसि शिवे दर्शितत्वाद् "भगवान् इन्द्रः प्रतिघातम् अचीकरत्" (भाग.पुरा. ४।१९।१०) - "दृढं प्रलब्धो भगवानपां पतिः" (भाग.पुरा. ३।१७।२९) इत्यादौ गौण्या प्रयोगस्य अन्यत्रापि दर्शनात् "उत्पत्तिं प्रलयश्चैव[१] भूतानाम् आगतिं गतिं, वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवान्" (विष्णुपुरा. ६।५।७८) इति व्युत्पत्तेः अन्यत्रापि दर्शनात् तद्वारणाय[२] **ईश्वर**पदम् —इत्येवम् इतरव्यावर्तनेन भगवतएव अधिकारिणः फलम्, न इतरस्माद्[३] इति बोधनाय उक्ताः इति अर्थः. ननु गुणानाम् अनन्तत्वेऽपि किमिति दशानामेव श्रोतव्यविषयत्वनियमनम्[४] इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **गुणानाम्** इत्यादि. ननु एवं सति "विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्" (ऋक्संहि. १।१५४।१), "गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः शेषो अधुनापि समवस्यति न अस्य पारम्" (भाग.पुरा. २।७।४१) इत्यादि श्रुति-स्मृतिविरोधः इत्यतः आहुः **अनुप्रवेशेऽपि** इत्यादि.

एवं विधेयश्रवणादिपदार्थं विधिवाक्यार्थं च निर्णीय विधेयगत-सङ्ख्यायाः

लेखः

अवच्छेदकत्वेनैव इति. भावप्रधानानां **सर्वात्मादि**-पदचतुष्टयबोधितानां गुणानां श्रोतव्यविषयस्य अन्यतो व्यावर्तकत्वेनैव उपयोगाद् इति अर्थः.

---

१. उत्पत्तिं च निवृत्तिं च इति मुद्रितपाठः. पुराणे तु एवम् - सम्पा.

२. तन्निर्धारणाय इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

३. तेनरस्माद् इति मुद्रितपाठः, न इतस्माद् इति मा.पाठः. उभे अपि अशुद्धे. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा. ४. -विषयनियमनम् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

अथ अत्र त्रयं न विधातव्यम्, एकेनैव प्रेमद्वारा अभयसिद्धेः. नच मिलितानां त्रयाणां साधकत्वं, परीक्षिति तदभावेन अभयाभावप्रसङ्गात्. श्रवणस्य आवश्यकत्वाच्च न "विकल्पेन अनेकविधानम्" इति वाच्यम्. अत्र उच्यते — त्रयाणाम् अन्योन्यनिर्वाहकत्वेन विधानम्. तथाहि कीर्तनाविधाने श्रवणमेव न निर्वहेत्. नच अध्ययनविधिवद् एकविधानेन अन्यप्राप्तिः

प्रकाशः

विवक्षितत्वात् तां[1] विचारयन्ति **अथ** इत्यादि. अत्र अयम् अर्थः — अभयार्थम् अत्र त्रयाणां विधानम्. तत्र विधेयानां श्रवणादीनाम् अभयं प्रति तृणारणिमणिन्यायेन (लौकि.न्या.सा. ४३४) यदि कारणत्वं तदा सङ्ख्याविरोधो, अष्टदोषदुष्टो[2] विकल्पश्च. यदि दण्डचक्रादिन्यायेन (लौकि.न्या.सा. ४३५) कारणता स्यात् तदा समुच्चये अधिकारिविशेषस्य फलाभावप्रसङ्गः स्यात्. यदि व्यवस्थितविकल्पः "उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति" (तैत्ति.ब्रा. ३।८।१६।४) इतिवत् तदा तु श्रवणस्य अधिकारिविशेषे अनावश्यकतायां कीर्तनाद्यधिकारिणा तदकरणे तयोरपि अनिर्वाहः. अतः आवश्यकत्वात् श्रवणमेव विधातव्यम्. कीर्तन-स्मरणे तु अर्थबलादेव आयास्यतः ; नहि कीर्तनाभावे श्रवणं सम्भवति, न वा अस्मरन् कीर्तयतीति. अतः श्रुत्यर्थनिर्णयाय श्रवणमात्रं विधातव्यं, नतु त्रयम् इति. अत्र समादधते **अत्र** इत्यादि. अर्थात्प्राप्तिं निराचक्षते **नच** इत्यादि. तत्र हेतुः **अध्यापनस्य**

लेखः

श्रवणस्य आवश्यकत्वाद् इति. अत्र श्रवणादित्रिकोक्तिः त्रयाणां मुख्यत्वेन विधानार्था न किन्तु उपलक्षणविधया विकल्पेन नवानामपि प्राप्तिं बोधयति इति न वक्तव्यं, तथा सति श्रवणस्यापि सामान्यमध्यपाताद् आवश्यकता न स्यात् तथा सति प्रकृतविरोधः इति अर्थः. **नच अध्ययन** इति. यद्यपि "स्वाध्यायो अध्येतव्यः" (तैत्ति.आर. २।१५) इति अध्ययनविधिना वेदाध्ययनमात्र-विधानेऽपि तात्पर्यवृत्त्या उपलक्षणविधया वा

१. तम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा. २. "प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्व-परित्याग-प्रकल्पने, प्रत्युज्जीवनहानिभ्याम् अष्टौ दोषाः विकल्पजाः" - सम्पा.

इति वाच्यम्, अध्यापनस्य संसारिकर्तव्यत्वेन[1] विधिं विनाऽपि वृत्तित्वेन प्राप्तत्वात्. नच अत्र तथा, श्रवणेन कृतार्थस्य कीर्तने प्रवृत्त्यनुपपत्तेः.

प्रकाशः

इत्यादि. अयम् अर्थः— श्रुतौ "स्वाध्यायो अध्येतव्यः" (तैत्ति.आर. २।१५) इति विधिना प्राप्ते अध्ययने कस्माद् अध्येयः इति अध्ययन-हेत्वाकाङ्क्षायाम् "अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत तम् अध्यापयीत" (याज्ञ.स्मृ.बालक्रीडा १।२।२४) इति श्रुत्यन्तरगत-निञ्विहितात्मनेपदेन आचार्यत्वकामिनो नियोज्यत्वावगमात् ततो अध्ययनम् आयाति. आचार्यश्च "उपनीय तु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेद् द्विजः, सकल्पं सरहस्यं च तम् आचार्यं प्रचक्षते" (मनुस्मृ. २।१४०) इति स्मृत्युक्त-लक्षणकः. आचार्यत्वकामना च प्रतिष्ठार्थं वा वृत्त्यर्थं वा पुत्रस्नेहादिना वा. अतो विधिविचारे सांसारिक-कर्तव्यत्वे, अर्थात्प्राप्तिविचारे वृत्तित्वेन, वृत्तिः स्नेहस्यापि उपलक्षिका, अतः तैः [2]आचार्यत्व-कामनाहेतुभिः प्रतिष्ठा-वृत्ति-स्नेहैः[2] अध्यापनस्य प्राप्तत्वाद् ; अध्ययनस्यापि सांसारिक-कर्तव्यत्वात् तद्विधिवद् **एकविधानेन अन्यप्राप्तिः**. सा **अत्र न,** कीर्तने मुक्तकर्तृ-कर्तव्यतायाः विवक्षितत्वेन सांसारिक-कर्तव्यत्वाभावात्. किं तावता इत्यतः आहुः **श्रवणेन** इत्यादि. तथाच अन्यत्र कीर्तनस्य श्रवणविध्याक्षेपलभ्यत्वेऽपि अत्र विवक्षितकीर्तनस्य न तेन लाभः इति अर्थः. नच शुकादीनां विहिताऽकारित्वे[3] "दोषबुद्ध्योभयातीतः" (भाग.पुरा. ११।७।११) इत्यादि वाक्यविरोधः इति शङ्क्यं, "निवृत्ता विधिषेधतः" (श्लो. ७) इत्यत्र तत्परिहारस्य

लेखः

यथा लोके काव्य-गज-तुरग-खगादिलक्षण-ग्रन्थाध्ययनस्य प्राप्तिः तथा अत्रापि एकविधानेन अन्यद् उपलक्षणीयम् इति न वाच्यम् इति अर्थः. तत्र हेतुः **अध्यापनस्य** इत्यादि. न हि लौकिकग्रन्थाध्ययनं वेदप्रणिहितं, साक्षात् तद्विधेः अश्रुतत्वात्. उपलक्षणत्वेन प्राप्तिस्तु न वैदिकानां सम्मता, तथा

---

१. सांसारिककर्तव्यत्वेन इति प्रकाशे -सम्पा. २-२. मा.पाठे 'तैः' इत्यस्य उपरि पादटिप्पणी इयम् -सम्पा. ३. विहितकारित्वे इति कि.पाठे -सम्पा.

तर्हि कीर्तनमेव विधीयतां, श्रवणन्तु अर्थादेव भविष्यतीति! न, परीक्षिति तदभावाद्, अभये वैलक्षण्याभावाच्च. तस्मात् शुकादीनाम् अतिनिरपेक्षाणामपि

प्रकाशः

वक्ष्यमाणत्वात्. एवं कीर्तनविधिः समर्थितः. श्रवणविधिं समर्थयन्ति **तर्हि** इत्यादि. **तर्हि** कीर्तनस्य आक्षेपलभ्यत्वाभावे. **अर्थादेव भविष्यति** इति. "भगवान् कीर्तितव्यो" नाम कीर्तनगोचरीकर्तव्यः. कीर्तनं नाम ताल्वोष्ठ-पुटादिव्यापारेण शब्दाभिव्यञ्जनं तदभिव्यञ्जितः शब्दो वा, धातोः फल-व्यापारयोः रूढत्वात्. तयोः मध्ये[१] तादृशशब्दएव अत्र ग्राह्यः, भगवतो व्यापाराविषयत्वेन शब्दविषयत्वात्. तत्र तादृशं शब्दोच्चारणं च श्रोतारं विना असम्भवात् श्रवणम् आक्षेप्स्यतीति तथा इति अर्थः. तत् परिहरन्ति **न** इत्यादि. तथाच श्रवणस्य अर्थात्प्राप्तौ अविहितत्वे ततः फलाभावे प्रसक्ते परीक्षिति कीर्तनस्य अभावात् तस्य अभयं न स्यात्, तथा सति उपदेशवैयर्थ्यम् इति अर्थः. तत्सार्थक्यार्थं ततोऽपि फलाङ्गीकारे दूषणान्तरम् आहुः **अभये** इत्यादि. अर्थात् प्राप्ते विहिते च फलतारतम्यस्य गुरु-शिष्यादौ दृष्टत्वाद् अत्रापि तथा वक्तव्यम्. तत्तु **अभये वैलक्षण्याभावाद्** वक्तुम् अशक्यम्. तथाच उपदेशसार्थक्यार्थं श्रवणोपदेशोऽपि आवश्यकः इति अर्थः. एवं श्रवणस्य आवश्यकत्वे तेन सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **तस्मात्** कृतार्थकृतस्य[२] कीर्तनस्य विधिं विना अनुपपन्नत्वाद्, अतः श्रवणस्य च कीर्तनं विना अनुपपन्नत्वात्. **अतिनिरपेक्षाणाम्** इति.

लेखः

सति "श्वेतम् आलभेत" (तैत्ति.संहि. २।१।१।१) इत्यादौ नीलादिपशुरपि कदाचित् कल्प्येत! किन्तु लौकिकं वृत्तित्वेन जीविकात्वेन प्राप्तं सन्निपातकार्यम् इति अर्थः. ननु कीर्तनाभावे श्रवणमात्रेण अभयसिद्धौ न्यूनता स्याद् इत्यतः आहुः **अभये** इत्यादि. ननु अभयसिद्धौ तारतम्यं न, "भक्त्या माम् अभिजानाति" (भग.गीता १८।५५) इति वाक्योक्तस्य भगवत्प्रवेशरूपस्य

१. मुद्रितपाठे अत्र इति अधिकम् अत्र - सम्पा.

२. कृतार्थाकृतस्य इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

कीर्तने प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं कीर्तनविधानम्. तदैव श्रवणसिद्धिः[१]. फलन्तु प्रत्येकमेव. अभयन्तु भगवत्प्रवेशरूपं, तदैव सर्वभयनिवृत्तेः. तर्हि स्मरणं न विधातव्यम्. नच श्रवणानन्तरम् अस्मरणे विस्मरणात् कीर्तनानुपपत्तिः इति वाच्यम्,

---

प्रकाशः

"प्रिया बत अरे नः सति" (बृहदा.उप. २।४।४) इति तत्र वाक्याद्, अत्र तु "महापौरुषिको भवान्" (श्लो. १०) इति वाक्याद् याज्ञवल्क्यापेक्षयापि अतिनिरपेक्षाणाम्. तथाच श्रौत-श्रवणविधौ कीर्तनाक्षेपसम्भवेऽपि अत्र तदसम्भवाद् उत्तमवक्तृ-प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं कीर्तनविधानम् आवश्यकम् इति अर्थः. हेत्वन्तरमपि आहुः **तदैव श्रवणसिद्धेः** इति. वक्तुः अपेक्षादोषे श्रोत्रानुसंहिते गुरुभक्ति-न्यूनतायां "यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ, तस्य एते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" (श्वेताश्व.उप. ६।२३) इति श्रुतेः तादृशस्य अर्थप्रकाशाभावाद् न वाक्यतात्पर्यनिर्धारः. अतिनिरपेक्ष-वक्तृके तु गुरुभक्तिप्रकर्ष-सम्भवात् तन्निर्धारः सम्भवति अतोपि[२] तद्विधानम् आवश्यकम् इति अर्थः. ननु एवं सति श्रवणस्य अभयसाधकत्वं[३] युज्यते, कीर्तनस्य तु श्रवणं जनयित्वा उपक्षयाद् अभयरूप-फलसम्बन्ध-बोधनं न सङ्गच्छते इत्यतः आहुः **फलन्तु प्रत्येकमेवे**ति प्रतिव्यक्तिभिन्नमेव. तथाच कीर्तनस्य स्वव्यधिकरण-श्रवणजनकत्वेऽपि स्वसमानाधिकरणाऽभयजनकत्वम् अक्षतम् अतो न असङ्गतम् इति अर्थः. ननु एवं प्रतिव्यक्ति फलभेदे तद्वैलक्षण्यमपि सम्भवत्येवेति श्रवणविधिम् अन्तरेणापि तल्लाभात् श्रवणविधिवैयर्थ्यं दुर्वारम् इत्यतः आहुः **अभयन्तु** इत्यादि. **तदैव** इति प्रवेशेन अभेदे. तथाच न वैलक्षण्य-सम्भावनाऽवसरः इति अर्थः. अत्र **तदा, तर्हि** इति शब्दाः सप्तम्यन्त-'तच्'छब्दस्य अर्थे रूढाः ज्ञातव्याः. एवं श्रवण-कीर्तनविधी उपपाद्य स्मरणविधिम् उपपादयन्ति **तर्हि** इत्यादि.

लेखः

स्वरूपतः तारतम्याभावाद्, इत्यतः आहुः **फलन्तु प्रत्येकमेव** इत्यादि.

---

१. -सिद्धेः इति प्रकाशे -सम्पा. २. अपि इति अधिकं मा.पाठानुसारेण ; मुद्रितपाठे नास्ति -सम्पा. ३. अभयसाधनकत्वम् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

अन्यलभ्यत्वेन विध्यनुपपत्तेः इति चेद्, न, सकृत्कृतकीर्तनस्याऽपि विस्मरणसम्भवाद् न कीर्तनशेषत्वेन स्मरणम् आयाति. विहितेतु स्मरणे श्रवण-कीर्तने सदा भवतः, दोषान्तराप्रवेशः च. किञ्च त्रयाणां देहपातपर्यन्तम्

प्रकाशः

तर्हि इति विधिद्वयेनैव निर्वाहे. **अन्यलभ्यत्वेन** इति कीर्तनानुपपत्तिलभ्यत्वेन. समादधते **न, सकृद्** इत्यादि. अयम् अर्थः — अत्र **श्रोतव्यः कीर्तितव्यः स्मर्तव्यः** इति आनुपूर्वीविशेषेण कीर्तनानन्तरमपि स्मरणं लभ्यते. तत् च कीर्तनानन्तरभावित्वाद् न तद्विधिना आक्षेप्तुं शक्यम्. प्राथमिक-तदाक्षेपेणैव स्मरणाक्षेपेण[१] स्वरूपलाभस्य कीर्तनस्वरूपलाभस्य[२] जातत्वात्. अतः स्मरणविधिः आवश्यकः इति. नच तर्हि स्मरणं वा स्मरण-कीर्तने वा विधातव्ये, शिष्टम् अर्थाद् आयास्यति इति वाच्यं, दशविधलीलायुक्त-भगवत्स्मरणस्य अत्र विवक्षितत्वेन भगवतः तादृशत्वस्य राज्ञा अज्ञातत्वेन वाक्यस्य अनुत्तरत्वापाताद्, द्वयविधानेऽपि दोष-तादवस्थ्याच्च. गुणविशेषादपि आवश्यकत्वम् आहुः **दोषान्तराप्रवेशश्च** इति. अन्यासक्तेः फलप्रतिबन्धकत्वात् तदभावस्य आवश्यकतया स्मरणेन उत्तरकालीनस्य तस्य असम्भवश्च इति फलोपकार-शैघ्र्यादपि स्मरणम् आवश्यकम्. अतोऽपि तद्विधानम्. तथाच श्रीशुकस्य अध्ययनापदेशेन श्रवणेन भगवति स्नेहो भगवत्स्मरणजनक-संस्कारश्च

लेखः

अन्यलभ्यत्वेन इति. आक्षेपलभ्यत्वेन **स्मर्तव्यः** इति विध्यर्थत्वानुपपत्तेः, अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वाद् इति भावः. **सकृद्** इत्यादि. सकृच्छ्रवणे हि तत्संस्कारानुदयाद् अग्रे स्मरणमेव दुर्घटमिति दूरापास्तं कीर्तनाङ्गत्वं तस्य. स्मरणविध्यङ्गीकारे तु न एषः दोषः, स्मरणस्य विधिबोधितत्वेन आवश्यकत्वज्ञानात् श्रवणस्य यथा स्मरणानुकूल-दृढतरसंस्कारोत्पादकत्वं भवति तथा कुरु इति स्मरणम् उपपद्यते तेन कीर्तनादिकञ्च इति. तदेतद् आहुः **विहिते तु** इत्यादिना. **तदभावार्थम्** इति, अधिकाराभावाभावार्थम् इति अर्थः.

१,२. मा.पाठे इमे पदे पादटिप्पण्याम् - सम्पा.

आवृत्तानामेव अभयसाधकत्वम्. उत्तरावधिः देहपातएव, पूर्वावधिः संसारभयज्ञानम्. ''आवृत्तिः असकृदुपदेशाद्'' (ब्रह्मसूत्र ४।१।१) इति न्यायेन स्मरणान्तरव्यावृत्त्यर्थम्. यद्यपि स्नेहे जाते आवृत्तिः न विधातव्या, स्वतएव तत्सम्भवाद्, अथाऽपि भरतवत् कदाचिद् अन्यासक्तिः भवेत्. नच तथा सति अधिकाराभावादेव विधिः व्यर्थः इति वाच्यं, तदभावार्थमेव विधानात्. तस्माद् यथासम्भवं देहपातपर्यन्तं त्रयाणाम् आवृत्तिः कर्तव्या.

ननु मनन-निदिध्यासने कुतो न विहिते? ज्ञानञ्च साध्यत्वेन कुतो

प्रकाशः

उत्पादितः, ततः तेन स्मरणेन पूर्वस्नेहपोषकं स्नेहान्तरं कीर्तनं च उत्पादितम्. अतएव ''तं व्याससूनुम् उपयामि गुरुं मुनीनाम्'' (भाग.पुरा. १।२।३) इति मुनि-गुरुत्वम् उक्तम्. ततः तेन कीर्तनेन पूर्वपोषकं स्नेहान्तरं पुनः स्मरणान्तरम् उत्पादितम् इति स्वानुभूतस्य दोषान्तराप्रवेशस्य अन्योन्यनिर्वाहस्य च स्फुटीकरणाय शुकेन त्रितयम् उपदिष्टम् इति अर्थः. हेत्वन्तरमपि आहुः **किञ्च** इत्यादि. अवधी तु ''तस्मात् सर्वात्मना राजन्'' (भाग.पुरा. २।२।२६) इति श्लोके स्फुटौ भविष्यतः. ननु न्यायेऽपि आवृत्तिनिरूपणस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **स्मरणान्तर-व्यावृत्त्यर्थम्** इति. तथाच ''अन्ते या मतिः सा गतिः'' (लौकि.न्या.सा. १६६) इति फलप्रतिबन्धकीभूत-मत्यन्तरनिवृत्त्यर्थम् आवृत्तिविधानाय त्रितयविधानम् इति अर्थः. ननु स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं तेनैव आवृत्तिसम्भवाद् व्यर्थम् आवृत्तिविधानम् इति शङ्कायाम् आहुः **यद्यपि** इत्यादि. तथाच प्रारब्धवशाद् अन्यासक्तिः उत्पद्यतइति प्रारब्धनिवृत्त्यर्थम् आवृत्तिविधानम् इति अर्थः. एतेन ''मामेव ये प्रपद्यन्ते'' (भग.गीता ७।१४) इति वाक्यार्थः स्मारितः, काय-वाङ्-मनसां तदीयत्वस्यैव 'प्रपत्ति'पदार्थत्वाद् इति. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इति, स्मरणान्तरव्यावृत्तेः आवश्यकत्वात्. एवं सर्ववाक्यव्याख्याने तत्र विधेयश्रवणविषय-विचारे अत्र अवयुत्य अनुवादाद् भगवत्त्वांशे विधिः, शेषे अनुवादः इति श्रवणविधेः अवयुत्य अनुवादत्वं सिद्धम्.

तत्र अनुवादांशे श्रुतिविरोधम् आशङ्कन्ते **ननु** इत्यादि. तथाच मननाद्यकथनेन प्रवेशरूपाभयस्य भेदसहिष्णुतया कैवल्यश्रुतिविरोधेन मध्ये

न उक्तम्? ''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'' (द्रष्ट.गरुडपुरा. २।४९।८७) इति श्रुतिविरोधः च. नच ज्ञानस्य अर्थात् सिद्धिः, तथा सति ज्ञानस्य व्यापारत्वं -स्याद्, अत्र स्नेहस्य तथात्वेन विवक्षितत्वाच्च इति चेद्, न, मनन-निदिध्यासनयोः अङ्गत्वेन श्रवणमध्यपातात्. तद् अत्रैव उत्तरत्र वक्ष्यते. ज्ञानन्तु

प्रकाशः

ज्ञानानङ्गीकाराद्[१] ज्ञाने हेतुताबोधकश्रुतिविरोधेन च अत्रत्य-श्रवणविधेः न श्रुतिसामानाधिकरण्यम् इति अर्थः. तत्र समादधते **न** इत्यादि. साङ्गस्य श्रवणस्य अत्र अवयुत्य अनुवादः इत्यत्र गमकम् आहुः **तद्** इत्यादि. **सिद्धमेव** इति, भगवतः श्रोतव्यत्वविधानादेव सिद्धम्. तेन अनुक्तसिद्धत्वात् तत्रेव अत्रापि न उक्तम् अतो न दोषः इति अर्थः. ननु तथापि दृशेः चाक्षुषे मानसे च शक्तेः अत्र तदभावे द्रष्टव्यश्रुति-विरोधस्तु तदवस्थः इत्यतः आहुः **प्रेम्णा** इत्यादि. ''भक्त्या माम् अभिजानाति'' (भग.गीता १८।५५) इति वाक्ये अभिज्ञायाः उक्तत्वात् तस्याश्च तत्तेदन्ताऽवगाहि-ज्ञानत्वेन साक्षात्कार-विशेषात्मकत्वात् प्रेम्णा तत्सम्भवे सोऽपि न इति अर्थः. प्रवेशस्य लिङ्गभङ्गानन्तर-भावित्वाद् जीवस्य तदानीं भेदसहिष्णुतायामपि न कैवल्यश्रुतिविरोधोऽपीति श्रवणविधेः न श्रौतसामानाधिकरण्यहानिः इति भावः. ननु एवं सति ज्ञानादेव अत्र मोक्षसिद्धेः व्याख्येय-वाक्यविरोधः, वाक्ये

लेखः

अत्र आशङ्कते **ननु मननेत्यादि**. **अर्थात् सिद्धिः** इति, श्रवण-कीर्तनाभ्यामेव तद्विषयज्ञानजननात् श्रोतव्यत्वादि-विधानादेव तत्सिद्धिः इति अर्थः. **व्यापारत्वम्** इति, श्रवणादिजन्यत्वे सति तज्जन्याऽभयजनकत्वाद् इति अर्थः. **तथात्वेन** इति, व्यापारत्वेन इति अर्थः. एवञ्च श्रवणादीनां करणत्वं, स्नेहस्य व्यापारत्वं, ज्ञानस्य साध्यत्वम् इत्येव वक्तव्यम् इति आशयः. समादधते **न** इत्यादि. **मध्यपाताद्** इति. एवञ्च श्रवणादि-निर्वाहकत्वेन अर्थात्प्राप्तएवेति कण्ठेन अनुक्तावपि न दोषः इति भावः. ज्ञानस्य साध्यत्वं यद् आक्षिप्तं तत्रापि वदन्ति **ज्ञानन्तु** इत्यादि. अत्र ज्ञानस्य साध्यता

---

१. ज्ञानाङ्गीकाराद् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

शाब्दं सिद्धमेव. प्रेम्णा क्रियमाणैः त्रिभिः भगवत्साक्षात्कारोऽपि सम्भवति. तथापि श्रवणादीनामेव कारणत्वम्. अन्तिमसाक्षात्कारस्यतु फलनान्तरीयकत्वात्

प्रकाशः

श्रवणादीनामेव अभयकारणत्व-बोधनाद् इत्यतः आहुः **तथापि** इत्यादि. तथाच साक्षात्कारोत्तरमपि तस्य अनन्तिमत्वे श्रवणादेः प्रेम्णा आवृत्तेः अवश्यभावित्वात् तत्कारणतायाः[१] अभङ्गेन न व्याख्येय-वाक्यविरोधः इति अर्थः. ननु तथापि अन्तिमसाक्षात्कारेण अन्यथासिद्धेः तद्विरोधो दुर्वारः इत्यतः आहुः **अन्तिमे**त्यादि. **नान्तरीयकत्वम्** अविनाभूतत्वम्. तथाच यथासम्भवं तैः प्रेम उत्पाद्यं ; ततः[२] सप्रेमभिः तैः साक्षात्कारः, ततः तदनन्तरभाविभिः सप्रेमभिः अन्तिमसाक्षात्कारप्रवेशाविति न कोपि दोषलेशः इति अर्थः. ननु किमिति एवं कल्प्यते ; वैदिक्येव प्रक्रिया कुतो न अङ्गीक्रियते इत्यतः आहुः **नच आध्यात्मिके**त्यादि. **श्रवणवद्** इति

लेखः

यद् आक्षिप्यते तद् ज्ञानं कीदृशम् इति पृच्छामः ; शाब्दरूपं, साक्षात्कारात्मकं, मानसं वा इति? तत्र आद्यं निराकुर्वन्ति **शाब्दन्तु सिद्धमेव** इति. एवञ्च श्रवणादिसाधनत्वेनैव पूर्वं गृहीतस्य ज्ञानस्य साध्यता न वक्तुं शक्या इति भावः. द्वितीयं निराकुर्वन्ति **प्रेम्णा** इत्यादि. **सम्भवति** इति. तथाच तादृशज्ञानस्य साध्यता तु सिद्धान्तानुकूलैवेति अस्मदिष्टसिद्धिरेव इति भावः. **श्रवणादीनामेव** इति **एव**कारेण मनन-निदिध्यासनयोः शाब्दज्ञानस्य च स्वातन्त्र्यव्यवच्छेदः. ननु साक्षात्कारोऽपि ज्ञानमेव, तथाच श्रवणादि-स्नेहान्तानां ज्ञानसाधनत्व-सिद्ध्या ज्ञानस्यैव उत्कर्षः सिद्ध्यति नतु भक्तेरपि इत्यतः आहुः **अन्तिमे**त्यादि. **फलनान्तरीयकत्वाद् फलमध्यपातः** इति. तथाच "भक्त्या माम् अभिजानाति" (भग.गीता १८।५५) इत्यादि वाक्यात् साक्षात्कारात्मकज्ञानस्य स्वरूपान्तःपातित्वेन फलमध्यपातात् तत्साधनत्वं भक्तेः न सिद्धान्ताद् विरुद्धमेवेति न किञ्चिद् एतद् इति

१. तत्कारणतया इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

२. ततः इति अधिकं कि.-मा.पाठानुसारेण ; मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

फलमध्यपातः. नच आध्यात्मिकश्रवणवत् श्रवणाद्याहितसंस्कार-सध्रीचीनेन मनसा शारीरात्मसाक्षात्कारवद् भगवत्साक्षात्कारो वक्तुं शक्यः, ''नाहं वेदैः'' (भग.गीता ११।५३) इति वाक्यात्. नच शारीरसाक्षात्कारएव फलं, सङ्घाताद् उद्गतस्य कैवल्यं प्राप्तस्य भगवच्छ्रवणे मुख्याधिकारात्. ''एतावदरे

प्रकाशः

सप्तम्यर्थे वतिः. अनङ्गीकारे हेतुः **नाहम्** इत्यादि. अत्र **वेद**शब्दो वेदोदित-ज्ञानमात्रवाची, ''सर्वेषां वेदानां हृदयम् एकायनम्'' (बृहदा.उप. २।४।११) इत्यादौ तथा दर्शनात्. विदेः ज्ञानवचनत्वाद् अत्र सङ्कोचएव, नतु लक्षणा. नतु वेदोदित-यावत्साधनवाची, तपआदीनां पृथग् उपादानाद् लक्षणापत्तेश्च. 'दृशिः' (धातुः!) तु ज्ञान-दर्शनोभयसाधारणः, अग्रिमवाक्य-स्वारस्यात्. एतेन ''न अयम् आत्मा'' (कठोप. १।२।२३) इति श्रुतिरपि सङ्गृहीता. तथाच अतो न अङ्गीक्रियते इति अर्थः. ननु✻ उक्तैः दोषैः श्रवणविधौ शारीरस्य विषयत्वेन ग्रहीतुम् अशक्यत्वेऽपि दर्शनविधौ सएव ग्राह्यः, अभ्यर्हितत्वात्. नच वाक्यभेदापत्तिः, सर्वात्मदर्शनएव स्वदर्शनस्यापि सिद्धेः. ततः च ''आत्मानं चेद् विजानीयाद्'' (बृहदा.उप. ४।४।१२) इति श्रुत्यनुसारेण शोकस्यापि निवृत्तिः आत्मलाभश्च भविष्यतीति फलत्वं तत्साक्षात्कारस्यैव उचितम् ✻इति शङ्कायाम् आहुः **नच** इत्यादि. तत्र हेतुः **सङ्घात-** इत्यादि. अयम् अर्थः— अस्यामेव श्रुतौ ''यद्वै तन्न शृणोति, शृण्वन् वै तन्न शृणोति, न हि श्रोतुः श्रुतेः विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्, नतु तद्द्वितीयम् अस्ति, ततो अन्यद् विभक्तं यत् शृणुयाद्'' (बृहदा.उप. ४।३।२७) इति. एवमेव ''यद्वै तन्न पश्यति'' (बृहदा.उप. ४।३।२३) इत्यादि. अत्र ''यद्वै तन्न शृणोति'' इत्याद्युक्त्वा अश्रवणादिप्रकारं वदति ''शृण्वन् वा'' इत्यादिना. तत्र च श्रुत्यादीनाम्

लेखः

भावः. तृतीयं दूषयितुम् आहुः **नच** इत्यादि. **आध्यात्मिकश्रवणवद्** इति तृतीयान्ताद् वतिः. तथाच जीवात्मानम् अधिकृत्य यानि शास्त्राणि तच्छ्रवणेन शारीरात्मनो मानससाक्षात्कारवत् **श्रवणमननाद्याहितं संस्कारसध्रीचीनेन मनसा भगवत्साक्षात्कारो न वक्तुं शक्यः** इति अर्थः. अत्रैव प्रसङ्गात्

खलु अमृतत्वम्'' (बृहदा.उप. ४।५।१५) इति ब्रह्मप्रकरणस्थत्वाद् ब्रह्मात्मविषयकमेव. भगवतः च स्वतन्त्रत्वाद् न अन्येन प्रकारेण आविर्भावः सम्भवति. यत्तु वाक्यात् स्वप्नवद् ब्रह्मात्मभावस्फूर्तिः तेन वा सर्वाविद्यानिवृत्तिः स्वचरितार्थता वा उच्यते तद् ज्ञानदुर्बलानां मनोरथमात्रमेव, शुक-सनकादीनाम् अद्याऽपि परिभ्रमणात्. तस्मात् सायुज्यएव सर्वभयनिवृत्तिः. ''ब्रह्मैव सन्

प्रकाशः

अविनाशित्वकथनेन आत्मधर्मत्वं बोध्यते. तथा सङ्घाते विद्यमानेऽपि ब्रह्मभावेन ब्रह्मधर्मप्राकट्याद् व्यापकः सङ्घाताद् उद्गतः कैवल्यं प्राप्तः सर्वेन्द्रियकार्यं ब्रह्मैक्येन श्रवण-दर्शनादिकं स्वयमेव करोति ; यथा ब्रह्म ''प्राणन्नेव प्राणो भवति'' (बृहदा.उप. १।४।७) इत्यादिश्रुत्या स्वयं करोति तद्वत्. तादृशस्य च भगवच्छ्रवणे प्रवृत्तिः शुकेनैव वक्ष्यते ''परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये'' (श्लो. ९) इत्यनेन. एवं सति तद्विषयकश्रवणं तद्दर्शनस्यैव फलं, न शारीरदर्शनस्य इति अर्थः. ननु एवं पुराणोक्तश्रवणे अस्तु, नतु श्रौतेऽपि, मानाभावाद् इत्यतः आहुः **एतावद्** इति. तथाच तत्रापि श्रुतेः सन्दिग्धत्वेन प्रकरणबलाद् दर्शनस्यापि ब्रह्मात्मविषयत्वमेव निर्णीयते, अतो न प्रमाणाभावः इति अर्थः. ननु श्रुतौ द्वारत्वेन प्रेम्णो अनुक्तेः तदंशे विरोधः इति शङ्कायाम् आहुः **भगवतः** इत्यादि. तथाच ''यमेव'' (कठोप. १।२।२३) इत्यादिश्रुत्यन्तरेण तत्रापि तदभिप्रेतमिति न विरोधः इति अर्थः. अस्मिन् अर्थे वादिविप्रतिपत्तिं निराकर्तुं तन्मतम् अनुवदन्ति **यत्तु** इत्यादि. दूषयन्ति **तद्** इत्यादि. तथाच यदि तथा स्यात्, शुकः किमिति छायां दद्यात्? सनत्कुमारो वा किमिति स्कन्दरूपेण अवतरेत्? अतो न तथा इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. तथाच **अभयपदेन** भगवत्प्रवेशएव, न जीवस्वरूपलाभइति आत्मलाभश्रुतावपि भगवत्सायुज्यमेव अभिप्रेतम् इति अर्थः. अत्र गमकम् आहुः **ब्रह्मैव** इत्यादि. तथाच यदि स्वरूपलाभमात्रं 'मोक्ष'पदवाच्यं फलं स्यात् तदा ब्रह्मभावानन्तरमपि अयं न वदेत्. अतः **सायुज्यएव सर्वभयनिवृत्तिः**

लेखः

प्राप्तम् एकदेशिमतं दूषयन्ति **यत्तु वाक्याद्** इत्यादि. ''तत्त्वमसि'' (छान्दो.उप. ६।८।७) इति वाक्याद् इति अर्थः. इदं शास्त्रार्थादौ स्फुटतरम्.

ब्रह्माऽप्येति'' (बृहदा.उप. ४।४।६) इति श्रुतिः च तमेव अर्थं वक्ति. नच उपनिषदां वैयर्थ्यम्, अस्यैव अर्थस्य अधिकारिभेदेन प्रकारभेदेन विधानात्. फलन्तु एकमेव, ''ते प्राप्नुवन्ति मामेव'' (भग.गीता १२।४) इति वाक्यात्, ''वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः'' (भग.गीता १५।१५) इति च, ''सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति'' (कठोप. १।२।१५), ''तद्विष्णोः परमं पदम्'' (ऋक्संहि. १।२२।२०) इति च, ''तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्'' (महाना.उप.

प्रकाशः

इति तदेव 'आत्मलाभ'पदार्थः इति अर्थः. ननु प्रकारान्तरेण भगवदाविर्भावाभावे फलस्यापि अभावाद् उपनिषत्सु भक्तेः अस्फुटत्वाद् निष्फलतायां तद्वैयर्थ्यापातः इत्यतः आहुः **नच** इत्यादि. **अस्य** भजनरूपस्यैव[1] **अर्थस्य** अभिधेयस्य फलस्य च **अधिकारिभेदेन** मर्यादा-पुष्टिभेदेन **प्रकारभेदेन** अव्यक्तादि-रूपान्तरादिभेदेन **विधानम्** अतो न वैयर्थ्यम् इति अर्थः. ननु प्रकारभेदे फलभेदोऽपि आपद्येत लोकवद् इति चेत्, तत्र आहुः **फलन्तु** इत्यादि. ननु भगवद्रूपमेव प्रमेयं तत्सायुज्यरूपमेव च फलं श्रुतावपि उच्यते इत्यत्र किं गमकम् इति आकाङ्क्षायां तद् आहुः **वेदैश्च** इत्यादि. तथाच वेदे सर्ववेद्यत्वं यस्य उक्तं तस्यैव ॐकारवाच्यस्य निष्कर्षो गीतायाम् 'अहम्' इति वक्तुः अभिधायकेन पदेन क्रियते. ''ततोऽभूत् त्रिवृद् ॐकारो यो अव्यक्तप्रभवः स्वराट् ... स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः, स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्'' (भाग.पुरा. १२।६।३९-४१) इति परमात्मवाचकं सकल-निष्कलभेदेन द्विविधम् ॐइति यत् पदम् एतदेव सर्वे वेदाः आमनन्ति = तद्बीजकत्वात् तस्यैव अर्थं नानाप्रकारैः अभिदधति सो अहं भगवान् इति. अतः प्रमेयैक्यम्. काठके ''सो अध्वनः पारम् आप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्'' (कठोप. १।३।९) इति यत् फलम् उक्तं, यदेव च ''अम्भसि अपार'' (महाना.उप. १।१) इत्यादिना समुद्रशायित्व-लिङ्गपुरःसरं [2]बृहन्नारायणीयोपनिषदुक्तं, तदेव अत्र ''माम्''

---

१. एव इति अधिकं कि.पाठानुसारेण ; मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

२. -यणोप- इति मा.पाठे - सम्पा.

१।६) इति च. तस्माद् वैदिकप्रकारेण भागवतप्रकारेण वा भगवति प्रवेशः त्रैवर्णिकानाम्, अन्येषान्तु भागवतप्रकारेणैव. नच व्यवस्थितविकल्पः, “किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या” (भग.गीता ९।३३) इति वाक्यात्, “क्लेशो अधिकतरः तेषाम्” (भग.गीता १२।५) इति च. अतएव श्रुतिविप्रतिषेधोऽपि नास्ति. शाण्डिल्यस्य तथा वचनं पूर्वं चित्तशुद्धिः तथा न जातेति न उपनिषद्भिः

प्रकाशः

इत्यनेन निष्कृष्यते. नहि पदस्य पुरुषाद् भेदः इति फलैक्यम्. अतः साधनप्रकारभेदमात्रं, नतु प्रमेयफलभेदः इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. ननु अत्र अधिकारिभेदो वर्णपरत्वेनैव वक्तव्यः, अन्यथा विकल्पव्यवस्थया[१] अष्टदोषापत्तिः इत्यतः आहुः **नच** इत्यादि. तथाच “अव्यक्तासक्तचेतसाम्” (भग.गीता १२।५) इति वाक्यशेषात् चित्तासक्तिभेदादेव अधिकारभेदः, न वर्णभेदेन इति अर्थः. तर्हि विकल्पस्य कथं व्यवस्था इत्यतः आहुः **अतएव** इत्यादि. काम्यस्थले तथैव व्यवस्थादर्शनाद् इति अर्थः. अत्र ऋष्यन्तरम् आहुः **शाण्डिल्यस्य** इत्यादि. तत् च “सा मुख्येतरापेक्षितत्वाद्” (शाण्डि.भ.सूत्र २।१) इति आरभ्य “प्रश्ननिरूपणाभ्याम् आधिक्यसिद्धेः” (तत्रैव २।१६) इत्यन्तं पञ्चदशसूत्रात्मकं ज्ञेयम्. तस्य अर्थम् आहुः **पूर्वम्** इत्यादि. ननु एवं सति “अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते अन्यो असौ अन्यो अहमिति न स वेद यथा पशुः एवं हि स देवानां पशुः” (बृहदा.उप. १।४।१०) इत्यादि

लेखः

किं पुनर्ब्राह्मणाः इति. अत्र ब्राह्मण्ये कैमुत्या ब्राह्मणभक्त-राजर्ष्यादीनां मुख्यत्वेन अधिकारित्वज्ञापनाद् न विकल्पो अपितु गौण-मुख्याधिकारित्वेन व्यवस्था इति भावः. **अतएव** इति, यथाधिकारम् उभयसामञ्जस्याद् इति भावः. **शाण्डिल्यस्य** इति. ... . **पूर्वं चित्तशुद्धिः** इति, उपनिषदुक्त-ज्ञानसाधना-करणात् पूर्वम् इति अर्थः. ननु चित्तशोधकानां कर्मणां सत्त्वात् कथं पूर्वं न साध्यते इत्यतः आहुः **चित्तशोधकानाम्** इति.

---

१. -ल्पाव्य- इति मुद्रितपाठः अर्थस्वारस्यात् संशोधितः - सम्पा.

फलोदयः, चित्तशोधकानां वैदिकमार्गे क्लेशसाध्यत्वात्. अतः स्वपक्षस्थापना-मात्रपरत्वाद्[१] इतरपक्षनिन्दावचनानां न तावता श्रुतिविरोधः सम्भवति. तस्मात् सूत्रविचारानुसारि-वैदिकमार्गेण भगवन्मार्गेण वा यथाधिकारं सर्वेषां परमपुरुषार्थप्राप्तेः सर्वम् अनवद्यम्.

[२]विधिविशेषविचारस्तु न कर्तव्यः, 'तव्य'प्रत्ययस्य विधौ अविधानात्, लिङ्-लोट्-पञ्चमलकाराणामेव विधौ[३] विधानात्. लोक-वेदप्रसिद्धत्वाच्च भगवतो न अत्र विधिः सम्भवति, भक्तिशास्त्रत्वाच्च. फलसाधनता तु

प्रकाशः

वाक्यानां का गतिः इत्यतः आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** इति अधिकारिभेदात्. तथाच "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता अपितु विधेयं स्तोतुम्" (लौकि.न्या.सा. १३८) इति न्यायात् तादृशानि वचनानि अहंग्रहाद्युपासना-स्तावकानि इति न विरोधः इति अर्थः. फलितम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि.

ननु अत्र विधिः नियमः परिसङ्ख्या वा? आद्ये अश्रौतत्वाद् नैर्बल्यं, द्वितीयादौ तु विकल्पापत्तिः इत्यतः आहुः **विधी**त्यादि. ननु "प्रैषानुवाद" (पाणि.सूत्र ३।३।१६३) इति सूत्रे 'प्रैष'पदेन विधिरेव सर्वैः व्याख्यायतइति कथम् अविधानम् इति आकाङ्क्षायां तदुक्तम् उपगम्य हेत्वन्तरम् आहुः **लोके**त्यादि. वस्तुतस्तु सूत्रकृता "प्रैषम्" इति वदता विधिभिन्नत्वं तस्य ज्ञाप्यते, अथापि व्याख्यातृप्रसिद्ध्या तथाङ्गीकारेऽपि अत्र न सम्भवति इति अर्थः. ननु विध्यभावे कथं फलसाधनत्वावगमः इत्यतः आहुः **फले**त्यादि. ननु विध्यभावे अत्र मन्त्रादिरूपतायाअपि अभावेन

लेखः

ननु एवं साधितमपि असाधितप्रायमेव, श्रवणादीनामपि विधिबोधितत्वेन तच्छेषत्वसिद्ध्या कर्म-ज्ञानादि-तौल्याद् इत्यतः आहुः **विधिशेष** इत्यादि. **लोक-वेद** इति. अपूर्वांशबोधकस्यैव विधित्वाद् इति भावः. **भक्तिशास्त्राच्च** इति. ... . ननु विध्यभावे फलवत्त्वाभावः इत्यतः आहुः **फलेति.**

---

१. -स्थापनमात्रेति ख. २. विधिशेष- इति लेखे -सम्पा.

३. विधाविति नास्ति ख.

तादर्थ्येन विधानात् समभिव्याहारादेव[१] लभ्यते. वाक्यार्थस्य अपूर्वत्वाद् भावनापक्षः च पूर्वमीमांसाभाष्यएव निराकृतः. अयञ्च 'तव्य'प्रत्ययः आवश्यके विहितः "कृत्याश्च" (पाणि.सूत्र ३।३।१७१) इति सूत्रेण. प्रश्नानुगुणः च अयम्. तस्माद् भगवत्प्रवेशार्थं यावज्जीवं यथासम्भवं त्रयाणाम् आवृत्तिः

प्रकाशः

अर्थवादत्वमेव वक्तव्यं, तथा सति सिद्धार्थबोधकत्वेन अनुवादत्वाद् अनधिगतार्थ-गन्तृत्वाभावात् प्रामाण्यहानिः इत्यतः आहुः **वाक्यार्थस्य अपूर्वत्वाद्** इति. तथाच भगवतः प्रसिद्धत्वेऽपि भजनसंसर्गस्य लोकानधिगतत्वेन अपूर्वस्य बोधनाद् न प्रामाण्यहानिः इति अर्थः. ननु भावनाङ्गीकारे को दोषः इत्यतः आहुः **भावने**त्यादि. तन्निराकरणप्रकारस्तु भाष्यस्य उत्सन्नत्वाद् इदानीं सर्वनिर्णयस्थेन "साधनानि स्वरूपं च सर्वस्य आह श्रुतिः फलम्" (त.दी.नि. २।१८०) इत्यादिसन्दर्भेण विवरणाद् अवगन्तव्यः. तर्हि **तव्यस्य** अत्र को अर्थः इत्यतः आहुः **अयञ्च** इत्यादि. आवश्यकार्थताङ्गीकारे गुणम् आहुः **प्रश्ने**त्यादि. फलितम् आहुः **तस्माद्** इति, एवं वाक्यार्थस्य सिद्धत्वात्. शेषम् अतिरोहितार्थम् ॥५॥

लेखः

राजर्षेः अलौकिकफलम् उद्दिश्यैव श्रवणादिकथनाद् अतः सन्दर्भ**समभिव्याहारात्** तत् लभ्यम् इति वाक्यार्थत्वेन तत्प्रवेशो वक्तव्यः, समभिव्याहारलब्धत्वेन अपूर्वत्वाभावाद् वाक्यार्थस्य च अपूर्वत्वाद् इति अर्थः. **भावनापक्षश्च** इति. लिङ्त्वांशवाच्य-शाब्दभावनायाः प्रवर्तकत्वम् इति पक्षः इति अर्थः. भाष्यस्य उत्सन्नत्वेऽपि "प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य न विध्यर्थस्य कर्हिचिद्" (त.दी.नि. २।१७७) इत्यादि सर्वनिर्णयोक्तदिशा निराकरणीयः इति. **कृत्याश्च इति सूत्रेण प्रश्नानुगुणश्च** इति. अयम् आवश्यकार्थप्रत्ययः प्रश्नानुगुणः इति अर्थः. 'पृच्छामि' इत्यत्र प्रश्नारम्भे 'सर्वथा' इतिपदोक्त्या अवश्यकर्तव्यस्यैव प्रश्नाभिप्रायविषयत्वाद् इति भावः. **पूर्वोक्तश्च** इति, कीर्तितव्यः इति अर्थः ॥५॥

---

१. समभिव्यवहारादेवेति ख.

कर्तव्या इति सिद्धम्. **श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च, कीर्तितव्यः श्रोतव्यश्च, स्मर्तव्यः** पूर्वोक्तश्च —एवं प्रतिपादनार्थं **चकारद्वयम्. इच्छता** इति पदात् श्रवणाद्यकरणे अभयमेव न भविष्यति, नतु तदकरणकृतः प्रत्यवायोऽपि इति सूचितम् ॥५॥

श्रवणस्य अङ्गत्वे श्रुतेः संवादित्वात् स्मरण-कीर्तनयोः फलहेतुत्वं साधनीयं वादिविप्रतिपत्ति-निराकरणाय. तत्र प्रथमम् इतरासापेक्षत्वात् स्मरणस्य फलसाधकत्वं साधयति.

एतावान् साङ्ख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ॥
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥६॥

एतावान् इति. पञ्च सिद्धान्ताः स्वतन्त्रतया विहिताः. तत्र श्रुति-वैष्णवौ

प्रकाशः

एतावान् इत्यत्र. **तत्र प्रथमम् इतरासापेक्षत्वाद्** इति, तयोः कीर्तन-स्मरणयोः मध्ये प्रथमोद्दिष्टत्वेन अवसरप्राप्तात् कीर्तनविचारात् पूर्वं पुरुषान्तरानपेक्षत्वात्. उपोद्घातेन आहुः **पञ्च** इत्यादि. भारते मोक्षधर्मे ''साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदारण्यकमेव च, ज्ञानानि एतानि विप्रर्षे लोके च प्रचरन्ति हि, किम् एतानि एकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने, प्रब्रूहि वै मया पृष्टः प्रवृत्तिं च यथाक्रमम्'' (महाभा. १२।३५९।१) इति जन्मेजयेन पृष्टे वैशम्पायनेन ''साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा, ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै'' (तत्रैव श्लो. २४) इत्यादिना स्वतन्त्रफलसाधकत्वेन उक्ताः. ततः ''साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते, हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता न अन्यः पुरातनः, अपान्तरतमश्चैव

लेखः

एतावान् इत्यत्र आभासे. अत्र अग्रिमश्लोकेषु श्रवणफलं विहाय स्मरण-कीर्तनयोः फलम् उच्यते तत्तात्पर्यम् आहुः **श्रवणस्य** इत्यादि. श्रवणस्य फलाङ्गत्वे, फलजनकत्वे इति यावत्. **श्रुतेः** इति. ''आत्मा वा अरे श्रोतव्यः'' (बृहदा.उप. २।४।५) इति श्रुतौ श्रवणस्य निरूपणात् तद्रीत्या करणोक्तफलेनैव सफलत्वम्, अतो न तत्र वादिविप्रतिपत्तिरिति तयोरेव फलं निरूप्यते इति अर्थः. **इतरासापेक्षत्वात्** पश्चाद् निरूपणम्

समप्रधानत्वेन उक्तौ. पशुपतिमतस्य कल्पभेदेन तामसपरत्वेन उत्कर्षजननद्वारा परम्परया यथायथम् उपयोगः, क्रममुक्तिहेतुत्वेन वा. अतः परं साङ्ख्य-योगौ

प्रकाशः

वेदाचार्यः स उच्यते, प्राचीनगर्भं तम् ऋषिं प्रवदन्ति इह केचन, उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः, उक्तवान् इदम् अव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः, पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्'' (तत्रैव श्लो. ६५) इति प्रवर्तककथनेन प्रवृत्तिम् उक्त्वा, ''सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते, यथागमं तथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः'' (तत्रैव श्लो. ६८) इति कथनात्. तेषां मध्ये ''पञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपुरा नृप, एकान्तभावोपगताः ते हरिं प्रविशन्ति वै'' (तत्रैव श्लो. ७२) इति पाञ्चरात्रिकाणां भगवत्प्रवेशकथनेन **श्रुति-वैष्णवसिद्धान्तौ समप्रधानत्वेन उक्तौ** तुल्यफलतया उक्तौ. ततो अग्रे ''साङ्ख्यं च योगश्च सनातने द्वे वेदाश्च सर्वे निखिलेन राजन्, सर्वैः समस्तै ऋषिभिर्निरुक्तो नारायणो विश्वमिदं पुराणम्'' (तत्रैव श्लो. ७३) इत्यत्र पाशुपतस्य अकथनात्, पूर्वं च आत्मप्रमाणेषु गणयित्वा युक्तिभिः अहन्तव्यत्वस्यापि[१] कथनात् **पशुपतिमतस्य कल्पभेदेन उत्कर्षजननद्वारा** श्रुतौ **उपयोगः**, **तामसपरत्वेन परम्परया** वैष्णवसिद्धान्ते **उपयोगः**. मत्स्यपुराणे कल्पविभागे ''तेष्वेव[२] योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिम्'' (मत्स्यपुरा. २८९।१७) इत्यनेन सात्त्विककल्पेष्वेव मुक्तेः उक्तत्वात्; मोक्षधर्मे दक्षस्तवप्रसन्नेन शिवेन ''अपूर्वं सर्वतो भद्रं सर्वतः सुखम् अव्ययम्, अब्दैः दशार्धैः संयुक्तं गूढम् अप्राज्ञनिन्दितं, वर्णाश्रमकृतैः धर्मैः विपरीतं क्वचित् समं, गतान्तरैः अध्यवसितं मर्त्याश्रयम् इदं व्रतं, मया पाशुपतं दक्ष शुभम् उत्पादितं पुरा'' (महाभा. १२।२८४।९३-९५) इति तस्य योगस्य शतान्तरे व्यवसितकथनाद्; ब्रह्मपुराणे च समाप्तिदशायां मायानुकीर्तनाध्यायारम्भे ''तस्माद् वक्ष्यामि भो विप्राः कृष्णे भक्तिः यथा भवेद्'' (ब्रह्मपुरा. २२९।८) इति प्रक्रम्य प्रथमम् अन्यदेव-भक्तिं, ततः तत्प्रसादेन यज्ञकरणे भक्तिं, ततो अग्निप्रसादेन भास्करे, ततः तत्प्रसादेन

---

१. -व्यक्त- इति मा.पाठे - सम्पा. २. तथैव इति पाठः पुराणे - सम्पा.

धर्मशास्त्रञ्च सर्वाङ्गत्वेन प्रतिपादितम्. स्वतन्त्रतया ब्रह्ममीमांसायां निन्दितत्वाद् अन्यत्र प्रवेशम् अलभमानाः स्मरणशेषाः भवन्ति इति आह. **एतावान्** पुरुषार्थः इति अर्थः. बुद्धिस्थम् 'एतच्'छब्दार्थं विवृणोति **अन्ते नारायणस्मृतिः** इति. अयमेव **परो जन्मलाभः**. स्वधर्मस्य पञ्चाग्निविद्याप्रकारेण उत्तमदेहजननं फलं, तथा योगस्याऽपि. "शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते" (भग.गीता ६।४१) इत्यारभ्य "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" (भग.गीता ६।४५) इति उपसंहाराद् योगेनापि अन्तिमो देहः साध्यते. साङ्ख्येऽपि "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" (भग.गीता ७।१९) इति वाक्याद्, "ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः" (भग.गीता ६।४६) इति योगप्रशंसावाक्याच्च अन्तिमजन्म-साधकत्वमेव. भगवद्धर्माणामपि व्रतोपवासा-दीनां भगवदीयदेहसाधकत्वम्. अतो अन्तिमदेहे सर्वे उपक्षीणाः. नच सोऽपि

प्रकाशः

शम्भौ भक्तिं च उक्त्वा, "तुष्टे त्रिलोचने तस्य भक्तिः भवति केशवे, सम्पूज्य तं जगन्नाथं वासुदेवाख्यम् अव्ययं, ततो भक्तिं[१] च मुक्तिं च स प्राप्नोति द्विजोत्तमाः" (तत्रैव श्लो. १२-१३) इति व्यासवाक्ये एकैकभावविमोकोत्तरं शिवभक्तेः, ततो भगवद्भक्तेः संसारमुक्तेश्च कथनात् **क्रममुक्तिहेतुत्वेन वा** तदुपयोगः इति अर्थः. **अतः परम्** इति, एतेभ्यः परं शिष्टं साङ्ख्यादित्रयम्. ते एते **स्वतन्त्रतया** फलसाधकत्वांशे तत्र निन्दितत्वात् पूर्वोक्तेषु **प्रवेशम् अलभमानाः स्मरणशेषाः भवन्ति इति आह** इति अर्थः. धर्मशास्त्रादीनां स्मरणशेषत्वम् उपपादयन्ति **स्वधर्मस्य** इत्यादि. **अतः** इति, उक्तवाक्यैः एवम् अर्थनिर्धारात्. **स्वरूपभूतः** इति

लेखः

इति भावः. व्याख्याने. **ब्रह्ममीमांसायाम्** इति. प्रथमाध्याय-तुरीयपादे सर्ववादनिराकरणप्रसङ्गे एतेषां स्वातन्त्र्यं निराकृतम्. "**शुचीनां श्रीमतां गेहे**" इत्यादि. इदं षष्ठाध्याये गीतायाम्. "**ज्ञानिभ्योऽप्यधिकः**" इत्यपि तत्रैव. "**बहूनां जन्मनाम् अन्ते**" इत्यादि सप्तमाध्याये ॥६॥

---

१. भुक्तिम् इति पाठः पुराणे - सम्पा.

देहः स्वरूपभूतः सन् फलसाधकः किन्तु ‘‘अन्ते या मतिः सा गतिः’’ (लौकि.न्या.सा. १६६) इति न्यायात् ‘‘यं यं वापि स्मरन् भावम्’’ (भग.गीता ८।६) इति भगवद्वाक्याच्च अन्ते भगवत्स्मरणहेतुत्वेन तदुपयोगः. सः चेद् अस्मदुक्तप्रकारेण यस्मिन् कस्मिंश्चिदपि देहे अन्ते भगवत्स्मरणं भवेत् तदा ‘‘पूर्वात् परबलीयस्त्वम्[१]’’ इति न्यायेन सएव देहो अनन्तिमोऽपि अन्तिमत्वम् आपद्यमानो लाभत्वेन सम्पद्यते. योगादयः च स्व-स्वमार्गेण दूरफलाः सन्तो अत्रैव प्रविशन्ति. अतो देहसाधकानां योगादीनां देहस्य च अयमेव लाभो यद् **अन्ते नारायणस्मृतिः** इति. अतो अस्य साक्षाद् भगवत्प्रवेशहेतुत्वाद् न अत्र विधिशेषतया श्रुतिसंवादो अपेक्षितः. यद्यपि भगवदीयत्वमपि जन्मलाभः तथापि ततोऽपि अयं परः. ननु ‘‘अपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाऽऽद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्त-सर्वार्था’’ (भाग.पुरा. ५।६।१०) इति वाक्यविरोधः इति चेत्, तत्र आह **पुंसाम्** इति. भगवदीयत्वं हि साक्षाद् भगवदनुगृहीतानां पुष्टिमार्गीयाणां[२] जन्मलाभरूपम् इति उच्यते. इदन्तु उक्तसाङ्ख्यादिमार्गाणां प्रावाहिकमर्यादामार्ग-रूपत्वात् तन्निष्ठानामपि तथात्वाद् ‘‘अन्ते या मतिः’’ इति न्यायेन अन्ते

प्रकाशः

अन्तिमभूतः. **तदुपयोगः** इति तस्य देहस्य उपयोगः. **सः** इत्यादि. **सः** उपयोगः **चेद्** इत्यादिना उक्तप्रकारेण **स्मरणं भवेत् तदा** भवेद् इति अर्थः. कथम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **पूर्वाद्** इति. सिद्धम् आहुः **अतः** इति. यतः स्मरणस्य अन्तिमदेहसम्पादकत्वं, योगादीनामपि च एतस्मिन्नेव पर्यवसितत्वम्, अतः इति अर्थः. एवं श्लोकं व्याख्याय तत्तात्पर्यम् आहुः **अतः** इत्यादि. एतेन युक्तिः प्रदर्शिता. तत्र अयं प्रयोगः— अन्तकाले भगवत्स्मरणं साक्षाद्भगवत्प्रवेशहेतुः, योगादिशेषित्वात्. यद् न एवं तद्

१. पूर्वात् परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम्, अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्, पूर्वं परम् अजातत्वाद् अबाधित्वैव जायते, परस्य अन्यथोत्पादो न त्वबाधेन सम्भवः (द्रष्ट. भामती = ब्र.सू.शां.भाष्यटीका १।१।१) - सम्पा.

२. पुष्टिजन्मलाभरूपमिति ख.

भगवत्स्मृतौ तत्प्राप्तिः भवतीति तस्याः[१] तथात्वम् उच्यतइति न उक्तविरोधः. **पुंसाम्** इति, साधारणानामपि इति अर्थः[२]. अतो महाफलत्वात् स्मरणस्य सर्वदा भगवान् स्मर्तव्यः इति सिद्धम् ॥६॥

इदानीं कीर्तनस्य तथात्वं साधयति.

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः ॥
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥७॥

प्रायेण इति. कीर्तनन्तु ततोऽपि अधिकं— (**मुनयः!**) येषाम् अन्तिमं जन्म जातं, ये च (**विधिषेधतः निवृत्ताः!**) जीवन्मुक्ताः (**नैर्गुण्यस्थाः!**) केवलं गुणातीतएव व्यवसिताः पुनरावृत्तिसम्भावनारहिताः, तेऽपि **हरेः गुणानुकथने** श्रवणानन्तरभाविनि कीर्तने परमानन्दरसम् उपलभमानाः ''साधनदशायामेव एवं सुखम्, एतत्साध्यफलदशायां कीदृशं सुखं भविष्यति!'' इति मन्यमानाः **रमन्ते. स्म** इति प्रसिद्धेः. केचन पुनः मननएव पर्यवसितमतयः – असम्प्रज्ञातसमाधयो वा – तस्मिन्नेव सुखे स्थिताः, तेऽपि उत्थानाभावाद्

प्रकाशः

न एवं, यथा काम्यादयः इति. **तथात्वाद्** इति. ''ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन्, यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्'' (भग.गीता ८।१३) इति भगवद्वाक्येन तेषामपि लाभरूपत्वात्. **तस्याः तथात्वम्** इति अन्तकालीन-भगत्स्मृतेः परमजन्मलाभत्वम् ॥६॥

प्रायेण इत्यत्र. **इदानीम्** इति, स्मरणस्य फलसाधकत्व-साधनानन्तरम्. **साधयति** इति, पञ्चभिः साधयति इति अर्थः. **गुणानुकथने** इति **गुण**पदं लीलानामपि उपलक्षकम्. **असम्प्रज्ञातसमाधयः** इति. '' विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः'' (पातं.योगसूत्र १।१८) इति पातञ्जलयोगसूत्रे ध्येयसर्वावयव-धारणोत्तरं तद्वशीकरणे सर्वावयव-त्यागोत्तरम् एकैकावयवध्यानं = विरामप्रत्ययः, तस्य यो अभ्यासः = साधनाग्रहः तत्पूर्वः संस्कारशेषः = पूर्वप्रत्यय-सूक्ष्मावस्थाशेषः शिष्टपदार्थो यत्र तादृशो अन्यः = असम्प्रज्ञातसमाधिः इति लक्षणात्. ''तत्सर्वव्यापकं चित्तम् आकृष्य ... व्योम्नि धारयेत्, तच्च

---

१. तस्मादिति ख. २. इत्यर्थ इति नास्ति ख.

न रमन्ते ; तद्व्यावृत्त्यर्थं **प्रायग्रहणम्**. **राजन्** इति सम्बोधनं तथाभूत-शमीकस्मरणाय[१]. अत्र विषयरसादेव तथा रमणं, नतु कृतेः धर्महेतुत्वेन. ते हि कृति-गुणदोष-सम्बन्धरहिताः, तद् आह **निवृत्ता विधिषेधतः** इति. विधिसहिताद् निषेधाद् निवृत्ताः. ''द्रव्यं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति'' (भाग.पुरा. ४।४।२०) इति न्यायेन ब्रह्मभूताअपि, ''दोषबुद्ध्योभयातीतः'' (भाग.पुरा. ११।७।११) इति वाक्यात्. विधिसहितनिषेधकथनेन च एतद् ज्ञापयति— ''बुधो बालकवत् क्रीडेद्'' (भाग.पुरा. ११।१८।२९) इत्यादिवाक्यानि यद्यपि विधिरूपाणि तथापि अस्य अग्रे निषेधाभावाद् न एतेषां ग्रहणम् इति. **नैर्गुण्ये** गुणत्रयातीते स्वस्मिन्नेव **स्थिताः**. विरोधाभासबोधनार्थं

प्रकाशः

त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेद्'' (भाग.पुरा. ११।१४।४३-४४) इति भगवद्वाक्योक्तः. यत्र वेद्यं किमपि न ज्ञायते तादृशभावनाविशेषयुक्ताः. **वाक्याद्** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी ; एतद्वाक्यम् अनुसन्धाय इति अर्थः. **विरोधाभासबोधनार्थम्** इति. एतद्बोधनं भगवद्गुणानां गुणातीतत्वबोधनाय

लेखः

''कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्युत, वेदे विविच्य उभयलिङ्गम् आश्रितं, विरोधि तद्यौगपदेककर्तरि **द्रव्यं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति**'' इति चतुर्थे पञ्चमे. ''**दोषबुद्ध्योभयातीतो** निषेधाद् न निवर्तते, गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः''. ''**बुधो बालकवत् क्रीडेत्** कुशलो जडवत् चरेत्, वदेद् उन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्यां नैगमंश्चरेद्'' इति एकादशे. अत्र विधि-निषेधयोः न पार्थक्येन त्यागः उच्यते, तथा सति ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' (कश्यपस्मृ. १२) इत्यादि निषेधनिवृत्त्या विपरीतम् आपद्येत. तथाच यानि पूर्वं ब्रह्मचर्यादौ विहितान्यपि सन्ध्यावन्दनादीनि पश्चात् संन्यस्त-परमहंसादौ निषिध्यन्ते तानि अत्र विधि-निषेधविषयत्वेन उच्यन्ते. अन्यथा 'विधितो निषेधः' इति उक्तं स्याद् इति भावः. इति अभिप्रेत्यैव **विधिसहिताद् निषेधाद्** इति व्याख्यातम् इति ज्ञेयम् ॥७॥

---

१. द्रष्टव्यः भाग.पुरा. १।१८।२४-३० -सम्पा.

गुणग्रहणम्. तस्मात् स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात् कीर्तने शङ्काऽपि न कर्तव्या ॥७॥

एवं युक्त्या द्वयं समर्थयित्वा त्रयस्याऽपि पुरुषार्थसाधकत्वे साधिते युक्तिमूलकम् इदम् अप्रामाणिकम् इति शङ्का स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थम् आह.

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ॥
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ॥८॥

इदम् इति. **पुराणम्** इति प्रमाणम्. **भागवतं नाम** इति तदवान्तरभेदः. यौगिकः च अयं, तेन भगवता प्रोक्तं भगवत्प्रतिपादकं भगवत्फलकञ्च इति. अस्य दुर्बलत्वं वारयति **ब्रह्मणा** वेदेन **सम्मितं,** पर**ब्रह्म** वा **सम्यङ् मितं** ज्ञातं यत्र. गुरुपरम्पराम् आह **पितुः द्वैपायनाद्** इति. तदानीन्तनकालस्य प्राणिबुद्धिनाशकत्वाय आह **द्वापरादौ** इति. द्वापरस्य आदौ. तदानीमपि द्विपरा बुद्धिः न जाता. **अधीतवान्** इति वेदवद् नियमेन अर्थावबोधपूर्वकम् अध्ययनम् उक्तम्. **पितुः** इति. ''पितैव उपनयेत् पुत्रम्[१]'' (द्रष्ट. निर्णयसिन्धु.) इति न्यायेन उपनयनाध्यापनयोः[२] एककर्तृकत्वाद् अध्ययनप्रकारः सर्वोऽपि सुसम्पन्नः इति सूचितम् ॥८॥

प्रकाशः

इति ज्ञेयम्. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इति. तथाच अत्र अयं प्रयोगः— भगवद्गुणकीर्तनं साक्षाद्भगवत्प्रवेशहेतुः, गुणातीत-रमणविषयत्वाद्, ''रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि, इति 'राम'पदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते'' (रामपूर्वतापिन्युप. १।६) इति श्रुत्युक्त-ब्रह्मवद् इति ॥७॥

इदम् इत्यत्र. **इदम् अप्रामाणिकम्** इति, एवं स्मरणकीर्तनोत्कर्षसाधनम्. **आह** इति, प्रमाणम् आह इति अर्थः. **दुर्बलत्वम्** इति, श्रुत्यपेक्षया नैर्बल्यम्. **गुरुपरम्पराम् आह** इति. ''युष्माभिः कथं ज्ञातम्?'' इति अपेक्षायां ताम् आह इति अर्थः. **पितृ**पदस्य अनतिप्रयोजनकत्वम् आशङ्क्य तत्तात्पर्यम् आहुः **पितैव** इत्यादि. ''यं प्रव्रजन्तम्'' (भाग.पुरा. १।२।२)

---

१. ''पितैव उपनयेत् पुत्रं तदभावे पितुः पिता, तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे सहोदरः'' (निर्णयसिन्धौ उपनयनाधिकारनिरूपणे) - सम्पा. २. उपनयनाध्ययनयोरिति ख.

ननु अस्य अध्ययनस्य[१] वेदवत् सामग्रीश्रवणाद् इदमपि विचार्यमेव, अतो न अनेन केवलेन निर्धारितार्थः प्रतिपत्तुं शक्यः इति आशङ्क्य आह.

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया ।।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ।।९।।

परिनिष्ठितोऽपि इति. मम अध्ययनं न बालवत् किन्तु विचारपूर्वकम्. प्रथमतो अधिकारएव मया विचारितः "मम इदं कर्तव्यं न वा" इति. तत्र सर्वस्याऽपि अध्ययनस्य "आत्मलाभान्न परं विद्यते" (आप.धर्मसूत्र १।८।२२।२) इत्यादिश्रुतिभिः आत्मपर्यवसानाद् (**नैर्गुण्ये परिनिष्ठितः**!) गुणातीतसमाधिरूपे नित्यं स्थितः सन् भागवतस्य च रसम् अनुभूय – तस्य अप्राकृतत्वं ज्ञात्वा यथा ब्रह्मणि लीनो न समाध्यवस्थां भजते[२] तथा ब्रह्मरसादपि अधिकरसत्वाद्[३] – गुणैः **गृहीतचेताः आख्यानम् अधीतवान्**. आकरस्थो यो रसः सः स्वस्थाने स्थितः स्वस्मिन् आगतान्

प्रकाशः

इत्यत्र उपनयनस्य अनुक्तत्वात् कदा पठनम् इति आशङ्कानिरासाय इदम् उक्तं ज्ञेयम् ।।८।।

परिनिष्ठितः इत्यत्र. **अतः** इति निगूढाशयत्वात्. **आह** इति, निर्धारितार्थ-प्रतिपत्ति-जनकत्वाय स्वानुभवमपि तत्र प्रमाणयितुं स्वस्य एतज्ज्ञानप्रकारम् आह इति अर्थः. **गुणैः** इति लीलाभिः. अत्र **गृहीतचेता** इति विशेषणेन श्रवणद्वारा श्रीभागवतरसानुभावो ध्वन्यते. तेन च उपादानबुद्धि-गोचरत्वाद् "मम वचनैः तव निर्धारितार्थप्रतिपत्तिः सुकरा"

लेखः

परिनिष्ठितोऽपि इत्यस्य आभासे. **सामग्रीश्रवणाद्** इति. यथा व्याकरणाद्यङ्गसामग्रीम् अन्तरा केवलवेदपाठमात्रेण न वेदार्थज्ञानं तथा एतदपि सामग्र्या विचार्यम् इति अर्थः. व्याख्याने. ब्रह्मस्वरूपानन्दरसात् कथारसे आधिक्यम् उक्तं तद् उपपादयितुम् आहुः **आकरस्थः** इत्यादि. यथा

१. अध्यापनस्येति क. २. भजेतेति ख. ३. अधिकारसत्त्वादिति क.

प्रति न स्वात्मानं तथा प्रकाशयति, किन्तु केवलधर्मरूपेण प्रकटः, नृत्ये पात्रस्थ-पेयजले च दर्शनात्. यदा भगवान् लीलारूपेण प्रकटो जातः तदा तस्यां लीलायां यो रसः सएव रसो ब्रह्मणि, परं न अभिव्यक्तः इति निश्चित्य ''किमर्थं तदाशया स्थीयते ; तदपेक्षयाऽपि इदानीमेव रसः कथं न पीयते?'' इति विचारसहितलीलया गृहीतचित्तत्वम्. इमम् अर्थम् आह **उत्तमश्लोके**ति. उत्तमैः श्लोक्यते इति भगवान् उत्तमश्लोकः. गुणकरणादेव भगवतः स्तोत्रमपि, जनैः सह सम्बन्धोऽपि. तस्माद् यः कश्चन भगवत्स्वरूपात्मको रसो निरतिशयत्वेऽपि सातिशयः स्वाऽभिव्यक्त्या भोक्तव्यः इति येषाम् इच्छा तैः लीला श्रोतव्या इति निर्धार्य मया श्रोतव्यरसाभिज्ञेन **आख्यानम् अधीतम्** इति अर्थः. **राजर्षे** इति सम्बोधनं यथा ऋषिदशायां राजत्वरसस्फूर्तिः अधिका ज्ञानमिश्रत्वाद् मान्यताधिक्याच्च तथा इदमपि

प्रकाशः

इति बोध्यते. तदुपपाद्य आहुः **आकरस्थः** इत्यादिना. **स्तोत्रम्** इति स्तुत्यता. **स्वाभिव्यक्त्ये**ति, स्वस्मिन् भगवत्प्राकट्येन. फलितम् आहुः

लेखः

काव्यादौ स्थितोऽपि शृङ्गारादिरसो, यथा वा समीचीन-तडागादिस्थितोऽपि जलरसश्च, काव्यपाठकान् प्रति, तथा पात्रादौ अनुद्धृत्य तडागएव केवलम् अञ्जलिभ्यां यैः जलं पीयते तान् प्रति च, **सः** काव्यरसः सः जलरसश्च **न आत्मानं** सर्वथा **प्रकाशयति किन्तु केवलं धर्मरूपेण प्रकटः** तर्कादि-कर्कश-विचाराहित-खेदमात्रं निवर्तयति इति अर्थः. ननु तर्हि क्व सर्वात्मना तद्रसानुभवः? इत्यतः तत्स्थलं निर्दिशन्ति **नृत्ये** इत्यादि. काव्यादिस्थितः शृङ्गारादिरसो नृत्याद्यभिनये सामाजिकैः रसवत् चर्व्यमाणः सर्वात्मना अनुभूयते. तथा तडागादि-स्थितोऽपि जलरसश्च ततः उद्धृत्य सन् मृत्पात्रस्थापिते जले शैत्य-सौगन्ध्य-सुमृष्टत्वादिभिः सर्वात्मना अनुभूयते. एवञ्च **दर्शनाद्** इत्यस्य सर्वात्मना रसानुभवदर्शनाद् इति अर्थः. एवं दृष्टान्तम् उपपाद्य दार्ष्टान्तिके निगमयन्ति **यदा** इति. **गुणकरणादेव** इति. भगवत्स्तोत्रं, जनैः सह भगवत्सम्बन्धश्च गुणात्मककरणम् अवलम्ब्यैव इति अर्थः. **तथा इदमपि** इति. **इदं** श्रीभागवताध्ययनं नैर्गुण्य-परिनिष्ठितानन्तरम्

इति युक्तौ सम्मतिः उक्ता. अनेन मर्यादात्वेऽपि पुष्टिरूपम् इदम् इति उक्तम् ॥९॥

अतः तादृशैरेव श्रोतव्यमिति कीर्तनरसास्वादनार्थं परिभ्रमता मया तादृशो भवान् उपलब्धः. अतः तद् अहं ते अभिधास्यामि इति आह.

तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान् ॥
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ॥१०॥

तद् अहम् इति. **तत्** पूर्वोक्तम् उद्भूतब्रह्मामृतरसभूतम् **अहं** कीर्तनरसप्रेप्सुः **ते** तादृशाय तुभ्यम् **अभिधास्यामि** कथयिष्यामि. अथवा[१] **ते** त्वत्सम्बन्धिभूतं **तत्** त्वयि स्थापयित्वा **अहमेव अभितः** सर्वतो **धास्यामि** पास्यामि इति अर्थः. पीतस्य पुनः रसास्वादनं निष्काश्य अन्यत्र स्थापयित्वा पुनः पाने भवति. इदन्तु गजेषु उपलब्धम्. अभितः च

प्रकाशः

अनेन इत्यादि. उक्ताधिकारवत्त्वेऽपि लीलागृहीतचित्तत्व-कथनेन ईदृशं स्वाधिकारस्वरूपम् उक्तम् इति अर्थः ॥९॥

तदहम् इत्यत्र. **अतः** इति. यतः ईदृशी मदुपरि कृपा, तज्जन्यो अनुभवश्च एतादृशेष्वेव प्रमितिजनकः, अतः इति अर्थः. **अतः** इति समानशीलत्वात्. ननु निरपेक्षस्य भवतः कथने किं प्रयोजनम् अतः आहुः **अथ** इति. **अथ च** इत्यादिना उक्तम् अर्थम् उपपादयन्ति **पीतस्य** इत्यादि **सिद्धम्** इत्यन्तम्. वान्तत्वदोष-परिहाराय उदाहरणम् आहुः **इदम्** इत्यादि. अत्र सेचनादेः पानत्वकथनम् अन्तःप्रवेशकत्व-साधर्म्येण गौण्या ज्ञेयं, "नेत्राञ्जलिभिः पपुः" इतिवत्. ननु अयं पानार्थकएव प्रयोगः इति कथं निश्चेयम् इत्यतः आहुः **द्वैपायन** इत्यादि. अन्यथा 'पितृ'पदेनैव चारितार्थ्याद् इदं न वदेत्, पदान्तरं वा वदेद्, अतः तथा इति अर्थः.

लेखः

अधिकं रसजनकम् इति अर्थः. अतएव "निवृत्ततर्षैः उपगीयमानाद्" (भाग.पुरा. १०।१।४) इत्यादि वक्ष्यमाणं सङ्गच्छते इति भावः ॥९॥

---

१. अथ चेति क-ख-प्रकाशे - सम्पा.

पानं सेचनादिरूपम्. 'द्वैपायन' (श्लो. ८) पदस्याऽपि एतत्सूचकत्वं— द्विः गता आपो यत्र इति तद्भवत्वाद् अन्तर्बहिः पाता उक्तः, अन्तःस्थ-बहिःस्थयोः च गुणयोः. अतः सूक्ष्मरूपभागवतद्वयं बहिःस्थितं भगवता ब्रह्मणा च प्रकटितम् अन्तःप्रवेश्य पुनः प्रकटितवान्. अतएव उत्पत्त्या च उपपत्त्या च भगवद्गुणानां स्वरूपविचारे तदुभयम् उदाहृतम्, अन्यथा ब्रह्मणा अनुभूयमानो

प्रकाशः

कथम् एतस्य तत्सूचकत्वम् इत्यतः आहुः **द्विर्गता** इत्यादि. 'द्वैपायन'पद-गर्भस्थ-बहुव्रीहिणा द्विविधौ गुणौ सूच्येते, तद्धितेन च द्विविधं पातृत्वं ; तद् उदाहृत्य दर्शयन्ति **अतः** इत्यादि. **अतः** इति. द्विधा द्वयोः पातृत्वात्. अत्र **भगवत्प्रकटितम्** अन्तःस्थ-गुणप्रकाशकं, **ब्रह्मप्रकटितं** बहिष्ठगुणप्रकाशकं, **पुनः प्रकटनं** च बहिःपानरूपम् इति ज्ञेयम्. तेन 'द्वैपायन'पदस्य एतत्सूचकत्वम् इति अर्थः. **अतएव** इति, गुणद्वैविध्य-प्रकाशनार्थत्वादेव. (अथवा!) **अतएव** इति गुणानां द्वैविध्यादेव. सिद्धम्

लेखः

तदहम् इत्यत्र. **द्वैपायनपदस्य** इति, "इदं भागवतं नाम" (श्लो. ८) इति श्लोकोक्तस्य इति अर्थः. **तद्भवत्वाद्** इति, रसात्मकजलव्याप्त-स्थलोत्पन्न-व्यासोद्भवत्वाद् अन्तःस्थ-बहिष्ठ-श्रीमद्भागवतद्वयस्य तथाभूतयोः गुणयोः पाता श्रीशुकः भक्तः इति अर्थः. जलस्य रसात्मकत्वन्तु "तेजसस्तु विकुर्वाणाद् आसीद् अम्भो रसात्मकम्" (भाग.पुरा. २।५।२८) इति वाक्याद् ज्ञेयम्. एतदेव प्रपञ्चयन्ति **अतः** इत्यादिना. तथापानएव साकल्येन रसानुभवसम्भवाद् इति अर्थः. **सूक्ष्मरूपम्** इति, संक्षेपेण सर्वसिद्धान्तरूपम् इति अर्थः. **भगवता** इति. "ज्ञानं परमगुह्यं मे" (भाग.पुरा. २।९।३०) इत्यादिना भगवता, "यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय" (भाग.पुरा. २।७।१) इत्यादिना **ब्रह्मणा च प्रकटितम्**. अतएव **बहिःस्थितम्** अन्तर्बहिःव्याप्तिभेदेन **भागवतद्वयम् अन्तःप्रवेश्य** शुकः **प्रकटितवान्** इति अर्थः. उपदर्शित-प्रकारकद्वयेनैव अनुभवे महान् रसः इत्यत्र संवादार्थम् आहुः **अतएव** इत्यादि. उक्तप्रकारद्वयेनैव अनुभवे महारसानुभवादेव इति अर्थः. **तदुभयम्** इति, अन्तर्बहिःभेदेन अनुभवद्वयम् इति अर्थः. **उदाहृतं** विमर्शप्रकरणे उदाहृतम्

भगवान् किमिति स्वगुणप्रकाशकं भागवतं वदेत्! सोऽपि नारदाय कथं वदेत्! अतः उपपत्त्या भगवदपेक्षया गुणाः अधिकाः निरूपिताः, उत्पत्तौ च अन्तःप्रविष्टाअपि ते गुणाः पुनः बहिःकृताः, अतः ते अभिधास्यामि इति सिद्धम्. ननु कथम् अहम् अत्र अधिकारी इति आकाङ्क्षायाम् आह **महापौरुषिको भवान्** इति. महापुरुषस्य सम्बन्धी महापौरुषिकः. महापुरुषो हि कीर्त्या, कीर्तिः च गुणात्, तदीयत्वं च गुणास्वादनयोग्यतयैव, अन्यथा तादृशधर्मवतः सम्बन्धी न स्यात्. **भवान्** इति न अत्र तिरोहितमिव. एवं भगवद्गुणानाम् आधिक्यम् उक्त्वा तेषां फलम् आह **यस्य** इति. **यस्य** आख्यानस्य सम्बन्धिनी या **श्रद्धा** तद्युक्तानां (**मुकुन्दे**!) मोक्षदातरि स्वानन्ददायके **सती** पतिव्रतारूपा तदेकरसास्वादिनी **मतिः** (**आशु स्याद्**!) भवति ॥१०॥

एवं स्वरूपं फलञ्च उक्त्वा तत्र स्वमात्रविचारतां दूरीकर्तुं सर्वेषामेव विचारकाणां सम्मतिम् आह.

एतद् निर्विद्यमानानाम् इच्छतामकुतोभयम् ।।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ।।११।।

प्रकाशः

आहुः **अतः** इत्यादि. अतः कथनं विना दर्शनमात्रेण ज्ञातुम् अशक्यत्वबोधनाद् गुणाः भगवदपेक्षया अत्यन्तम् उपकारकाः उक्ताः, उत्पत्तौ च बहिः प्रकटिताः. अतो गुणद्वैविध्यस्य पानद्वैविध्यस्य च परम्पराप्राप्तत्वात् **ते अभिधास्यामि** इत्यनेन बोधितं गुणद्वैविध्यं पानद्वैविध्यं च निर्विवादम् इति अर्थः. **इति आकाङ्क्षायाम् आह** इति, योग्यताम् आह इति अर्थः. एवम् अत्र प्रथमे स्वस्वरूपकथनेन उक्तार्थे स्वानुभवः प्रमाणत्वेन उक्तः, द्वितीये च फलकथनेन राज्ञः प्रतिपत्तिसौकर्ये उपायः उक्तः ॥१०॥

लेखः

इति अर्थः. **अन्यथा** इति, उक्तप्रकारेण अनुभवस्य मुख्यत्वानङ्गीकारे इति अर्थः. **अनुभूयमानः** इति. एवञ्च साक्षाद्भगवदनुभवेऽपि यद् गुणप्रकाशकं श्रीभागवतकथनं तेन गुणानां श्रैष्ठ्यं निरूपितं भवति. एतावता आत्मानुभवप्रकारो दर्शितः. बाह्यानुभवप्रकारम् आहुः **सोऽपि** इति. अन्यत्तु उत्तानार्थम् ॥१०॥

एतद् इति. अत्र सर्वैरेव **एतद् निर्णीतम्**. **एतद्** भगवद्गुणानुकथनरूपम्. **निर्विद्यमानानां** विरक्तीच्छूनां विरक्तिं वा अभ्यसताम् **अकुतोभयं** ब्रह्मानन्दम् **इच्छतां (योगिनां!)** तदर्थं योगादिकं च कुर्वताम् **एतद् निर्णीतं** यद् **हरेः नामानुकीर्तनं** तैः वा तेषाम् अर्थे वा. प्रथमतो विरक्ताः ब्रह्मानन्दप्रेप्सवः तद्रसञ्च योगेन अनुभवन्तः तादृशं रसं तत्र अननुभूय – तत्प्रकटस्थानं भगवन्नाम, हरित्वात् पूर्वक्लेशं दूरीकुर्वन्नेव तद्रसं पाययतीति – तन्नाम्नां पूर्वोक्तप्रकारेण तद्रसाभिव्यक्तियुक्तानां प्रथमं पानं कृत्वा पश्चाद् अनुकीर्तनं कर्तव्यम् इति शास्त्रार्थनिर्धारः. अतो (**नृप!**) भवान् अहञ्च महारसे पतिताविति उभयोः उत्तमाधिकारिणोः परमोत्साहः सूचितः ॥११॥

एवं गुणकथनश्रवणरसं श्रुत्वा स्वस्य शापेन शीघ्रमरणम् अनुस्मृत्य तादृश-रसास्वादनाभावाद् विषीदन्तं राजानं प्रति आह.

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरपि ॥
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः ॥१२॥

किं प्रमत्तस्य इति. साधनीभूतम् आयुः नास्तीति विषादो न कर्तव्यः. यथा साकाङ्क्षस्य अधिकारिणो रसाभिव्यक्तिः तथा जीवनेयत्तापरिज्ञान-रहितस्य अनधिकारिणो न अभिव्यक्तिः. अतो जीवनेयत्ताज्ञापकः शापः उत्तमएव, अल्पता च उत्तमा, उत्तरावधेः नैकट्यात्. आस्वाद्य (/ द्यं!) परमरसं तस्मिन् रसे प्रवेशाद् न पश्चात्तापः. अतः **प्रमत्तस्य** स्वार्थे अनवहितस्य **बहुभिरपि हायनैः** वर्षैः अज्ञातैः (**किं!**) न किञ्चित् फलम्. (**विदितं!**) ज्ञातन्तु **मुहूर्तमपि वरं** पुरुषार्थसाधकं, **यतो** ज्ञानात् तेनाऽपि क्षणेन (**श्रेयसे!**) पुरुषार्थसाधनाय **घटेत** ॥१२॥

प्रकाशः

एतद् इत्यत्र. **तैः वा** इति. ''कर्तृ-कर्मणोः कृति'' (पाणि.सूत्र २।३।६५) इति कर्तृषष्ठ्या तथा इति अर्थः. कथं तेषां निर्णेतृत्वम् इति आकाङ्क्षायां व्याख्यानमुखेन आहुः **प्रथमतः** इत्यादि ॥११॥

किं प्रमत्तस्य इत्यत्र. **आह** इति, श्रोतृविषादस्य वक्तुः उद्वेगजनकत्वेन रसानुभव-प्रतिबन्धकत्वात् तन्निवारणाय आश्वासनम् आह इति अर्थः. **अतः** इति आकाङ्क्षाजनकत्वात् ॥१२॥

अतः शत्रूणाम् आयुरिव अज्ञातं स्वायुः न प्रयोजकं किन्तु ज्ञातमेव इत्यत्र दृष्टान्तम् आह.

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहाऽऽयुषः ॥
मुहूर्तात् सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥१३॥

खट्वाङ्गो नाम इति. खट्वाङ्गनामा दिलीपो (/ दैलीपो = दिलीपात्मजः !) (**राजर्षिः !**) देवपक्षपाती भूत्वा दैत्यान् हत्वा देवैः "वरं ब्रूहि" इति उक्तः "आयुषः परिमाणं[१] ज्ञात्वा तदनुसारेण वरं प्रार्थयिष्यामि" इति विचिन्त्य आयुःपरिमाणं[२] पृष्टवान्. ततः तद्वचनाद् **मुहूर्तमात्रं (आयुषः इयत्तां !) ज्ञात्वा (इह !)** भूमौ समागत्य अग्रे फलत्वेन[३] हरेः उक्तत्वात् तदतिरिक्तं **सर्वं (उत्सृज्य !)** परित्यज्य **अभयरूपं हरिं** स्मरणेन **गतः** सन् तं प्राप्तवान्[४] इति अर्थः. तस्मात् कालभूयस्त्वं न अपेक्ष्यते इति भावः ॥१३॥

तव तु मुहूर्तानां शतद्वयम् अधिकं च अस्ति. एकेनाऽपि मुहूर्तेन कार्यं सेत्स्यति. तथापि पूर्वम् अस्माभिः उक्तं श्रवणं यावद्दशविधलीलायुक्त-भगवद्विषयकम् उपकल्पय इति आह.

तवाऽप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः ॥
उपकल्पय तत्सर्वं तावद् यत् साम्परायिकम् ॥१४॥

तवाऽपि इति. यथा तस्य ज्ञातम् आयुः एवं **तवाऽपि** इति **एतर्हि** इदानीमपि **जीवितावधिः सप्ताहं** सप्तदिनमात्रं जीवितस्य अवधिः अतः **तावत्पर्यन्तं (यत् !) सर्वमेव (साम्परायिकं !)** परलोकसाधनम् **(तत् !) उपकल्पय** सम्पादय. सर्वं परित्यज्य भगवत्कथां शृणु इति अर्थः. केचन अग्रे वक्ष्यमाणम् आहुः, तत् प्रमेयविरोधाद् उपेक्ष्यम् ॥१४॥

एवं सपरिकरं प्रथमप्रश्नोत्तरम् उक्तं "सर्वात्मना किं कर्तव्यम्" इत्यस्य. "अन्ते नारायणस्मृतिः" (श्लो. ६) इति च "गतवानभयं हरिम्"

---

१. परिणाममिति ख. २. परिणाममिति ख. ३. पालत्वेन इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु सं.-मा.२ पाठानुसारेण. 'अग्रे पालनत्वेन हरेरुक्तत्वात्तदतिरिक्तम्' इत्ययमंशो नास्ति ख. -सम्पा. ४. द्रष्ट. भाग.पुरा. ९।९।४१-४९ -सम्पा.

(श्लो. १३) इति च वाक्याभ्यां ''सर्वम् उपकल्पय'' (श्लो. १४) इत्यनेन च अन्तकालकर्तव्यम् उपदिष्टमेव, सर्वात्मना सर्वसमये तदेव[१] कर्तव्यं यतः. तथापि राज्ञः चेद् हृदये ''तस्य उत्तरं देयम्'' इति आकाङ्क्षा स्यात् तदा अस्माभिः उच्यमानं श्रवणं न सम्यग् हृदये भासेतेति विशेषेण अन्तकालकर्तव्यं वदन् पूर्वोक्तस्य श्रवणस्य फलोपकार्युत्तराङ्गे मनन-निदिध्यासने निरूपयति **अन्तकाले** इति. मननं नाम युक्तिभिः अनुचिन्तनम्. तत्र भगवान् श्रोतव्यः इति उक्तम्. तत्र को भगवान् इति आकाङ्क्षायां ''सर्वात्मे''त्यादिपदैः सर्वपुरुषार्थरूपः सर्वफलसाधकः सर्वमेव भगवान् इति उक्तं भवति. तत्र कथं सर्वं भगवान् इति आकाङ्क्षायाम् ''आत्मैव इदं सर्वम्'' (छान्दो.उप. ७।२५।२) ''ब्रह्मैव इदं सर्वम्'' (बृहदा.उप. २।५।१) ''अहं हरिः सर्वम् इदं जनार्दन'' (विष्णुपुरा. १।२२।८७) इति वाक्यानां प्रमाणानां विद्यमानत्वेऽपि लौकिकयुक्त्यपेक्षायां सर्वस्याऽपि

प्रकाशः

तवापि इत्यत्र. **प्रमेयविरोधाद्** इति. अत्र हि ''तस्माद् भारत'' (श्लो. ५) इति आरभ्य ''तस्मात् सर्वात्मना'' (भाग.पुरा. २।२।३६) इति उपसंहारात् सर्वात्मना-कर्तव्य-प्रश्नोत्तरमेव मुख्यतया प्रतीयते, तदेव च अत्र कार्यते, तेन श्रवणकरणमेव प्रमेयं ; तद्विरोधाद् इति अर्थः ॥१४॥

अन्तकाले तु इत्यत्र. श्रवणकरणस्य प्रमेयस्य विरोधम् एतदाभासेनापि स्फुटीकुर्वन्ति **एवम्** इत्यादि. अत्र मननादि-निरूपणं कथं सिद्ध्यति इति अपेक्षायां तद् व्युत्पादयन्ति **मननम्** इत्यादि.

लेखः

तवापि इत्यत्र. **वक्ष्यमाणम्** इति, ''अन्तकाले तु पुरुषः'' (श्लो. १५) इत्यादि वक्ष्यमाणं साधनम् इति अर्थः. **प्रमेयविरोधाद्** इति. न हि वक्ष्यमाणप्रकारो राजार्थम् उच्यते किन्तु जिज्ञासायां सामान्यन्यायेनैव तत्कथनम्. अन्यथा सकलश्रीमद्भागवतश्रवणं बाध्येत इति भावः ॥१४॥

१. एतदेव इति मा.१ पाठे -सम्पा.

जगतो भगवच्छरीरे सन्निवेशः उच्यते. पुरुषः च भगवान् इति अविवादं, ''पुरुषो ह वै नारायणो अकामयत'' (नारा.अथर्वशिरोप. १) इति श्रुतेः, ''पुरुष एवेदं सर्वम्'' (ऋक्संहि. १०।९०।२) इति च. तत्र सर्वस्याऽपि यावत् पुरुषशरीरे निवेशनं न क्रियते तावत् सर्वत्वं पुरुषस्य न मन्येत. अतः पुरुषशरीरे[१] निवेशनं कथयति. किञ्च पुरुषस्य शरीरे सर्वं वचनेन निवेशितमपि यदि अनुभवेन विसंवादि स्यात् तदापि न मन्येत. अतः तद् ध्यानरूपेण वदति. ध्यायमानस्य कदाचित् साक्षात्कारो भवेत् तदा तस्य शरीरे सर्वं पश्यन् निःसन्दिग्धो भवेदिति मननं निदिध्यासनावधि साक्षात्कारफलकं तत्त्वनिरूपणार्थम् उपदिशन् ''पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीयः'' इति न्यायेन – को वेद अन्तकाले स्मरणे क्रियमाणे व्यासङ्गान्तरमपि भवेत् तदा तदेव भवेद् इति तद्दोषपरिहारार्थं – चित्तवृत्तिनिरोधरूपं योगं वदन् तदङ्गभूत-ध्यानविषयत्वेन भगवत्स्वरूपमपि वदन् अन्तकालकर्तव्य-प्रश्नोत्तरमपि आह.

अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः ।।
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम् ।।१५।।
गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः ।।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने ।।१६।।
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमनुस्मरन् ।।१७।।

तुशब्दः ''तव एतत् कर्तव्यम्'' इति पक्षं व्यावर्तयति, पूर्वपक्षसङ्गतमेव किञ्चिद् उच्यते इति वा पक्षं व्यावर्तयति. **अन्तकालो** मरणकालः, कालस्य अन्तो वा वयोरूपस्य ; राजदन्तादिवत् परनिपातः. अन्तकस्य[२] वा कालः. **समागतः** इति ज्ञाते प्रथमसाधनं **गतसाध्वसः** इति तदर्थं पूर्वोक्तं कर्तव्यम्. तदनु **असङ्गशस्त्रेण** वैराग्यशस्त्रेण **देहे, तम् अनु**

प्रकाशः

तदर्थं पूर्वोक्तं कर्तव्यम् इति साध्वसनिवृत्त्यर्थं श्रवणं कर्तव्यम्.

१. मन्मत इति ख. पुरुषस्य शरीरे इति क. २. अन्तकालस्येति घ.

ये देहानुवर्तिनो गृहादयः तेषु **च, स्पृहाम्** अभिलाषं "मम एते भवन्तु तत्कृतोपकारो[१] वा" इति **छिन्द्याद्** अन्तःकरणे तेषाम् अपेक्षां त्यजेत्. इदं द्वितीयम्. ततो **गृहात् प्रव्रजेत्** संन्यासं गृहीत्वा गच्छेत् ; तृतीयम्. ततः शीतादिबाधायां (**धीरः!**) धैर्यं चतुर्थम्. एते यमाः उक्ताः. नियमम् आह **पुण्यतीर्थजलाप्लुतः** इति. पुण्यं जलम् उद्धृतमपि भवति इति **तीर्थ**पदम्. **पुण्य**पदेन काम्यतीर्थपरित्यागः. **पुण्यरूपं तीर्थं** गङ्गा वा. **तीर्थ**पदेन घट्टो वा, "तीर्थे हि ते तां प्रावेशयन्" (तैत्ति.संहि. ६।१।१।२) इति श्रुतेः. **आप्लुतः** सम्यक् स्नातः. आसनम् आह. **शुचौ** पवित्रे **विविक्ते** एकान्ते **विधिवत्** चैलाजिनकुशोत्तरप्रकारेण **कल्पिते आसने आसीनः अभ्यसेद्** इति सम्बन्धः. प्राणायामम् आह (**मनसा!**) **अभ्यसेद्** इति. सबीजप्राणायामे शीघ्रं वायुः स्थिरो भवति, पापेन च वायोः चलनम्. अतः **त्रिवृद्ब्रह्माक्षरम्** अकारोकारमकारैः वृतं सङ्घट्टितं वर्णत्रयात्मकम् एकं ब्रह्मवाचकं, (**शुद्धं!**) निर्विघ्नार्थं मङ्गलरूपञ्च, **परं** परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-प्रकारेषु प्रथमम्, अवर्णात्मकं वा, तद् **अभ्यसेत्**. तेन वायुजयो भवति. ततः प्रत्याहारम् आह **मनो यच्छेद्** इति. जितश्वासस्यैव मनोनियमनं,

प्रकाशः

वा इति इति. **इति** हेतोः **मम एते भवन्तु** इति अपेक्षाम् इति अर्थः ॥१५॥

लेखः

अभ्यसेद् इत्यत्र. **मङ्गलरूपम्** इति. "ॐकारश्चाथ शब्दश्च" (नारदपुरा. ५१।१०) इति वाक्याद् इति भावः. **परा-पश्यन्ती** इत्यादि. तैत्तिरीय-द्वितीयाष्टके "पीवोन्नारयिवृधः सुमेधाः" (तैत्ति.ब्रा. २।८।१।१) इति प्रपाठके श्रूयते— "चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि, तानि विदुः ब्राह्मणा ये मनीषिणः, ऊहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति" (तैत्ति.ब्रा. २।८।८।५-६) इति. **अवर्णात्मकम्** इति. शब्दब्रह्मणः सकाशाद् अधिकं = परं ब्रह्म इति अर्थः ॥१७॥

१. एवं तत्कृतेत्यादि क. एतत्कृतेत्यादि सं.-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

श्वासजयः च ब्रह्माक्षरेण, अतो **ब्रह्मबीजम् अनुस्मरन्**[१] **जितश्वासो मनो यच्छेद्** इति सम्बन्धः ॥१५-१७॥

प्रत्याहारे मनसश्च इन्द्रियाणाम् अन्योन्य-हेतुहेतुमद्भावेन भेदं निरूपयति.

नियच्छेद् विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः ॥
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद् धिया ॥१८॥

नियच्छेद् इति. प्रत्याहारे[२] **मनसा (अक्षान्!)** इन्द्रियाणि **विषयेभ्यो नियच्छेत्.** विषयाणां दुष्टत्वबुद्धिः मनसा इन्द्रियनियमने **सारथिः** सहायः. पूर्वं मनसः क्रिया निवारिता प्राणायामेन, अधुना **कर्मभिः आक्षिप्तं** प्रत्याहाररूपैः कर्मभिः आक्षिप्तं आसमन्ताद् विषयेभ्यो दूरीकृतं[३], विषयज्ञानाननुकूलम् इति यावत्. तादृशं **मनः शुभरूपे अर्थे धिया (धारयेत्!)** सर्वावयव-व्यापिकया बुद्ध्या मानसीं मूर्तिं परिकल्प्य तत्र सर्वावयवस्थितं मनोधारणारूपं कुर्यात्. सर्वावयवे मनसः स्थापनं धारणा, एकावयवे मनोधारणं ध्यानम् इति भेदः ॥१८॥

ध्यानम् आह.

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ॥
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चिन्न संस्मरेत् ॥१९॥

तत्र एकावयवम् इति. तत्र मनोगृहीतमूर्तौ **एकम् अवयवं ध्यायेद् अव्युच्छिन्नेन** पूर्वध्यातावयव-संश्लिष्टेन **(चेतसा!)**. अनेन खण्डशो ध्यानं निवारितम्. एकमपि अवयवम् इतरावयवैः यथायोग्यं संश्लिष्टमेव ध्यायेत्. एवं ध्याने क्रियमाणे यदा **मनो** विषयवासनां त्यजति तदा इममपि विषयं त्याजयित्वा सर्वथा **निर्विषयं युक्त्वा** योगसहितं कृत्वा, सर्ववृत्तिनिरोधं

प्रकाशः

तत्र एकावयवम् इत्यत्र. **विषयवासनाम्** इति. [४]ध्यानगृहीतध्येयविषयक-ज्ञानसूक्ष्मावस्थारूपां स्ववृत्तिम् इति अर्थः ॥१९॥

---

१. अविस्मरन्निति घ. २. इत्यधिकं खपाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति -सम्पा. ३. घपाठानुसारेण. दूरीभूतम् इति मुद्रितपाठः -सम्पा.

४. -गृहीतेध्यय- इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् -सम्पा.

कृत्वा इति अर्थः. **ततः (किञ्चित्!)** किमपि **न संस्मरेत्**. योगसाधितप्रयत्नेन चित्तं निरुद्ध्य तिष्ठेत् ॥१९॥

ततो यद् भवति तद् आह.

पदं तत् परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ।
रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः ॥
यच्छेद् धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम् ॥२०॥

पदम् इति. एवं चित्तनिरोधे क्रियमाणे तच्चित्तं स्वयमेव **प्रसीदति** ध्यानाकारेण परिणमति. तस्य परिणामस्य यः आधारः **तद् विष्णोः परमं पदम्**. अन्यथा स्थलान्तरे निरुद्धं तदभिव्यक्तिं कुर्याद् विषीदेद् वा. अतो **यत्र** निरुद्धं **प्रसीदति** तद् आधारसामर्थ्यादिव प्रसीदति इति प्रसादाधारो भगवत्पदमेव. चित्तप्रसादे यत् प्रकाशते तद् जीवात्मस्वरूपं पुरुषोत्तमस्य स्थानम्. "तस्याः शिखायाः मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" (महाना.उप. ११।१३) इति श्रुतेः वह्निशिखात्वेनाऽपि उच्यमाना जीवकलैव. अथवा अक्षरस्य भगवत्पदत्वात् तदंशो जीवोऽपि भगवत्पदम्. एवं यावत्कालं प्रसन्नं मनः तिष्ठति तावत् तथैव स्थातव्यम्. "रजः सत्त्वं

प्रकाशः

पदं तद् इत्यत्र. **ध्यानाकारेण परिणमति** इति, [१]कार्यकरणकर्तृभावं विहाय अविकल्परूपं भवति. **पुरुषोत्तमस्य स्थानम्** इति. अन्तर्यामिब्राह्मणे "य आत्मनि तिष्ठन्" (शतपथब्रा. १४।६।७।३०) इत्यनेन जीवान्तः भगवत्स्थितेः उक्तत्वात् तस्य [२]स्थानम् इति अर्थः. ननु महानारायणोपनिषदि जाठराग्नि-शिखामध्ये नारायणस्य परमात्मनः स्थितिः उक्तेति तस्याः पदत्वं, न जीवात्मनः इति शङ्कायाम् आहुः **तस्याः** इत्यादि. तथाच श्रुत्यन्तर-स्वारस्यात् तथा इति अर्थः. ननु उपक्रमविरोधात् तस्याः श्रुतेः जीवकलापरत्वं न वक्तुं शक्यमिति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **जीवानाम्** इति लिङ्गविशिष्ट-जीवानाम् ॥२०॥

---

१. कार्यं करण- इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. स्थितिस्थानम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

तमश्चैव'' (भग.गीता १४।१०) [१]इति न्यायेन कारणीभूतं रजस्तमो वा कालप्रेरितं सद् मनो विक्षिपति, विमूढं वा करोति. तदा योगबलेन अन्येषामपि मनांसि भगवत्पदे भासन्ते, सर्वेषां जीवानां तत्र एकीभावात्. तत्र अन्यमनोविक्षेपे न किञ्चित् कुर्यात्, यदातु **आत्मनो मनः** कर्मणि **क्षिपेद् रजो, मूढं** वा कुर्यात् **तमः** तदा तद्दोषपरिहारार्थं पुनः **धारणया मनो यच्छेत्**. तत्र नियमनसमये वासनया रजो विषयान् उपस्थापयति, तमः च निद्रादिकं ; तत्र उभयत्राऽपि **धीरो** भवेत्. तादृशी च धारणा कर्तव्या यया रजोदोषः तमोदोषः च दूरीक्रियते ; चण्डिका-शिवादि-धारणाव्यावृत्त्यर्थम् उक्तम् **हन्ति या तत्कृतं मलम्** इति ॥२०॥

किञ्च तादृशी धारणा कर्तव्या यया धारणया योगः सिद्ध्येत्. सन्ति च बहवो योगाः चित्तनिरोधकाः कर्मादयः. तत्रापि भक्तिलक्षणो योगो यया सम्पद्यते तां धारणां कुर्याद् इति आह.

यत्र सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः ॥
आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ॥२१॥

यत्र इति. **यत्र** विषये (**सन्धार्यमाणायां!**) सर्वावयवसंस्थितायां चित्तवृत्त्यां सत्यां **योगिनः** चित्तनिरोधकस्य **भक्तिरेव लक्षणं यस्य** गोसास्नादिवत्[२] कदाऽपि भक्तिः न व्यभिचरति, भक्त्यैव च तत्प्रसिद्धिः तादृशो **योगः सम्पद्यते.** ननु योगस्य कस्माद् भक्तिलक्षणत्वं? तत्र आह **आश्रयं भद्रम् ईक्षतः** इति. **भद्रं** मनोहरम् **आश्रयं** धारणायाः, भगवद्रूपम् इति यावत्, तद् **ईक्षतः** तद् ध्यायतः. भगवद्ध्याने भक्तिलक्षणो योगः सम्पद्यते इति अर्थः ॥२१॥

तत्र राजा विशेषं पृच्छति.

॥ राजोवाच ॥

यथा सन्धार्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता ॥
यादृशी वा हरेद् आशु पुरुषस्य मनोमलम् ॥२२॥

---

१. तमश्चेति न्यायेनेति क.

२. एतत्स्थाने 'योगस्य अवसरे' इति सं.-मा.१ पाठयोः -सम्पा.

यथा इति. इयं **धारणा** कथं **सन्धार्या?** किं मानसीं मूर्तिं कृत्वा तत्र मनः स्थापनीयम् आहोस्वित् श्रुतां भगवन्मूर्तिं स्मृत्वा? किञ्च **यत्र सम्मता** यस्यां मूर्तौ सम्मता. अनन्तमूर्तित्वाद् भगवतो यस्यामेव मूर्तौ सर्वेषामेव योगिनां सम्मतिः अस्ति. किञ्च **यादृशी** वा यादृक्प्रकारा रूपप्राधान्येन धर्मप्राधान्येन वा, स्थूला सूक्ष्मा वा, निराकारा साकारा वा, शान्ता वा साग्रहा वा. तत्र **यादृशी पुरुषस्य मनोमलं (आशु हरेद्!)** हन्ति तत् कथय इति अर्थाद् उक्तं भवति. गुरोः सन्निधाने नियोगो अनुचितइति अभिप्रायबोधक-वाक्यशेषम् उक्त्वा नियोगांशं न उक्तवान् ॥२२॥

तत्र उत्तरम् आह.

॥ श्रीशुकः उवाच ॥

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ॥
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद् धिया ॥२३॥

जितासनः इति "यादृशी" इत्यस्य उत्तरम्; आसनादिजयसहिता सा मनोमलं हन्ति. **जितसङ्गः** जितो विषयसङ्गो येन. अनेन मनोनियमनम् उक्तम्. "यत्र सम्मता" इत्यस्य उत्तरम् आह **स्थूले** इति. **धिया** निश्चयात्मिकया बुद्ध्या ॥२३॥

ननु भगवतः कथं स्थूलं रूपम्? व्यापकन्तु फलरूपं न धारणाम् अर्हति. अन्यानि मत्स्यादिरूपाणि अनिर्धारितपरिमाणानि. अतः स्थूलं किम्

प्रकाशः

यथा सन्धार्यते इत्यत्र. **सर्वेषामेव** इति. एतेन सर्वसम्मतस्य सर्वाधिकारकत्वात् सुगमत्वं भवतीति तदेव वक्तव्यम् इति आशयः इति अर्थः ॥२२॥

जितासनः इत्यत्र. **आसनादि** इति. एतेन "साग्रहा" (श्लो. २२ सुबो.) इति उत्तरितम्. उत्तरार्धे **स्थूले** इत्यादि कथनेन "स्थूला, साकारा, रूपप्राधान्येन" (श्लो. २२ सुबो.) इति उत्तरितम्. **धिया** इत्यनेन निदिध्यासनं च उक्तं ज्ञेयम् ॥२३॥

विशेषः इत्यत्र. **कथम्** इति. केन परिमाणेन, अतिमहता वा

इति आकाङ्क्षायाम् आह.

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च यत् ।।२४।।

विशेषः तस्य देहो अयम् इति. **विशेषः** पृथिवी, सर्वे विशेषाः तद्रूपाः इति, ''अतो विशेषः'' (भाग.पुरा. ३।२६।४९) इति वाक्यात्. विशिष्टः शिष्टो यत्र इति वा. **वेः** कालस्य **शेषो** वा, अत्रत्यानां स्वेच्छया कालग्रासात्. अतएव भगवतो देहो विशेषः. कालस्य भगवच्चेष्टात्वात् तदाधारो देहो भवत्येव. देहात्मनोः संयोगः सम्बन्धः इति साङ्ख्याः, तदेकदेशिनो योगिनः च अध्यासः इति. आवेशः इति अपरे, अग्न्ययोगोलकवत्. अहंकारेण अहम् इति स्वीकारः इति अपरे. ते चत्वारोऽपि पक्षाः भगवतो देहस्य च सम्बन्धप्रतिपादकाः न भवन्ति, किन्तु स्व-स्वामिसम्बन्धः इति षष्ठ्या सम्बोधयति **तस्य** इति. ''दिह उपचये'' (पाणि.धा.पा.भ्वादि. १०४०) इति धातोः अच्प्रत्यये कृते 'देहः' इति भवति. भगवतो अयम् उपचयः इति अर्थः. स्वरूपस्थितेनैव यद्यपि सर्वं कर्तुं शक्यते

प्रकाशः

मध्यमेन वा? **अतो विशेषः** इति. ''परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयाद्, अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते'' इति तृतीयस्कन्धीय-वाक्याद् लुप्तमत्त्वर्थीयं **विशेषपदम्** इति अर्थः. अनयैव अरुच्या पक्षद्वयम् आहुः **विशिष्टः** इत्यादि. अत्र **विः शेषः शिष्टो यत्र** इति पाठः प्रतिभाति. द्वितीयाङ्गीकारे हेतुम् आहुः **अत्रत्यानाम्** इत्यादि. तथाच अत्रत्यानां ग्रासोत्तरम् अवान्तरप्रलये अयमेव शिष्यते अतः तथा इति अर्थः. **अतएव** इति ग्रासानधीनत्वादेव. प्रथमाङ्गीकारे हेतुम् आहुः **कालस्य** इत्यादि. **न भवन्ति** इति. तत्संयुक्त-तदध्यस्त-तदाविष्टेषु 'संयुक्ता'दिपदं विना केवलषष्ठ्या तत्तन्मतविवक्षित-प्रतीत्यनुत्पत्तेः ''तस्य अयम्'' इति प्रयोगाभावाच्च न भवन्ति इति अर्थः. **पोषार्थम्** इति पदस्य अर्थम्

लेखः

विशेषः तस्य इत्यत्र. ''परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयाद्, **अतो विशेषो** भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते'' इति तृतीये षड्विंशे.

तथापि सर्वेषां पोषार्थं = स्वरूपादपि अधिकसुखदानार्थम् उपचितः सन् = पुष्टः सन् सर्वं करोतीति तदेव रूपं भगवतो धारणाविषयो भवति इति सर्वेषां सम्मतिः. **अयम्** इति अपरोक्षविषयः. यद्यपि एकदेशएव तथा तथापि तेन इतरानुमानं सुकरम् इति इतरावयवज्ञान-सहकृता प्रत्यक्षसामग्र्येव विशिष्टज्ञानं जनयति इति **अयम्** इति उक्तम्. **स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्** इति. प्रथनात् पृथिवी स्थविष्ठा स्थूला वा. अत्र शास्त्रे विरलावयवाः सूक्ष्माः, संहतावयवाः स्थूलाः. अतएव आकाशादयः सूक्ष्माः तथा व्यवहारागोचराः, पृथिवी तु सर्वव्यवहारगोचरा स्थूला. संहतैः उपचितैः अवयवैः गुप्तो अवयवी प्रकटीक्रियते तथा देहेनाऽपि भगवान् प्रकटीक्रियते इति ध्यानविषयतायां भगवानपि प्रकटो भवतीति तस्य स्थूलत्वनिरूपणम्. बुद्धौ प्रविष्टो वा बुद्धिमपि विशदयतीति पश्चात् स्थूला बुद्धिः सूक्ष्मान् विषयान् न ग्रहीष्यति.

प्रकाशः

आहुः **स्वरूपेत्यादि**. **सम्मतिः** इति. तथाच ''यत्र सम्मता'' (श्लो. २२) इति प्रश्नस्य इदम् उत्तरम् इति अर्थः. **इतरानुमानम्** इति ; अयं ब्रह्माण्डैकदेशः इतरावयवसंलग्नः, अविच्छिन्नैकदेशत्वाद्, अस्मदादि-शरीरैकदेशवद् — इत्यादिरूपम्. '**अयम्**' **इति उक्तम्** इति. शुकस्य योगजधर्मेण सर्वप्रत्यक्षसिद्धावपि इदानीं ज्ञानलक्षणया विशिष्टज्ञानं राज्ञोऽपि सुकरम् इत्येतद् बोधनाय **अयम्** इति उक्तम्, अन्यथा 'असौ' इत्येव वदेद् इति अर्थः. स्थविष्ठ-स्थूलयोः भेदबोधनार्थं 'स्थूल'पदार्थं विवृण्वन्ति **अत्र** इत्यादि. **तथा** इति पृथिवीवत्. **ध्यानविषयतायाम्** इति उपचितावयव-प्रकारक-ध्यानविषयत्वे. **इति तस्य** इति. **इति** हेतौ. तथाच यदि एवम् अर्थो बोधनीयो न स्यात् तदा **अयम्** इत्यनेन विशिष्टविषयतायाः बोधितत्वात् तेन स्थूल(रूप)ताज्ञानस्यापि जननाद् इमं चरणं न वदेद् इति अर्थः. **स्थविष्ठपदस्य** विस्तारार्थकत्वपक्षे तत्कथनप्रयोजनम् आहुः **बुद्धौ** इत्यादि. **स्थूला** इति बहुविषयग्राहकतया विस्तीर्णा. **तेन** इति सौन्दर्येण. **अतएव**

लेखः

विशिष्टः शिष्टो यत्र इति. ... . **यद्यपि एकदेशएव तथा** इति, पृथिव्यादि-रूपैकदेशएव प्रत्यक्षः इति अर्थः. **सूक्ष्मान्** इति, परिच्छिन्नान् इति अर्थः ॥२४॥

तेन मनसो रजस्तमःकृतो दोषो निवर्तितो भवति. **चकारात्** सुन्दरश्च, सर्वविशेषसमवायात्. तेन तत्र बुद्धिः स्थिरा भवति. **स्थवीयसाम्** आकाशादीनां मध्ये उपचितावयवत्वादिति. अतएव ''आकाशशरीरं ब्रह्म'' (तैत्ति.उप. १।६।२) इति, ''वायुरात्मा'' (. । ।) इति, ''ज्योतिषां ज्योतिः'' (मुण्डकोप. २।२।९) इति, ''तोयात्मने नमः'' (कूर्मपुरा. १।१०।६८) इति वाक्यैः सर्वाण्येव भूतानि भगवच्छरीरत्वेन उक्तानि. तथापि अस्मादेव विशेषाद् अस्य धारणाविषयत्वम्. किञ्च सर्वाणि रूपाणि अत्र सम्भवन्ति, इदन्तु न अन्यत्र सम्भवतीति अस्य ध्यानास्पदत्वम्. तद् आह **यत्र** इति. सर्वमेव **विश्वम्** अत्र व्यज्यते समुद्राः सूर्यो वायुः अवकाशः च. अन्येषामपि सूक्ष्माणाम्, एतदवान्तरभूतानाम् अहंकारादीनाञ्च, स्वयमेव अत्र निवेशं वक्ष्यति ''पातालम्'' (श्लो. २६) इत्यादिना. किञ्च कालोऽपि अत्र निविशते[१] कार्यद्वारेति तद् आह **भूतं भव्यं भवत् च** इति. अनुदयास्तमयरूपस्य कालस्य भूतत्वादिसाधकत्वं केनचिद् निमित्तेन अतीतत्वादि-धर्मसम्बन्धात्. तत्र[२] उत्पत्ति-स्थिति-विनाश-लक्षण-

---

प्रकाशः

इति अनुपचितावयवत्वादेव. **भगवच्छरीरत्वेन** इति, नतु देहत्वेन इति अर्थः. **अस्माद्** इति उपचितावयवत्व-रूपात्. एतस्य धारणाविषयतायाः सर्वसम्मतत्वाय देहत्व-विशदीकरणार्थमेव **स्थविष्ठादि**पदानि इति आशयम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. तुरीयचरणप्रयोजनम् आहुः **कालोपि** इत्यादि. ननु साङ्ख्यानुयायिभिः चिरक्षिप्रादि-व्यवहारवद् भूत-भव्य-भवद्व्यवहारोऽपि उपाधिभिरेव साध्यतइति न अनेन व्यवहाररूपेण कार्येण कालसिद्धिः इत्यतः आहुः **अनुदये**त्यादि. उदयास्तमयाभ्यां रूप्यते इति **उदयास्तमयरूपा** सूर्यादिगतिः, तद्भिन्नस्य नित्यस्य **कालस्य भूतत्वादिसाधकत्वं** भूतत्वादि-व्यवहारोपपादकत्वं **केनचिद् निमित्तेन** भगवदिच्छया चलनैक-स्वभावत्वेन धर्मेण **अतीतत्वादि-धर्मसम्बन्धात्**. यथा भ्रमतः कुलालादि-चक्रस्य तत्तद्देशप्रतियोगिकसंयोगेन अतीतत्वादि-सम्बन्धः तथा

---

१. निविशति इति क.	२. अत्र इति प्रकाशे - सम्पा.

गुणत्रयप्रेरणात् तथात्वम्. अतः स्वकार्यसहितः कालो भगवच्चेष्टारूपो अत्र स्पष्टतया प्रकाशतइति सर्वमेव भगवत्कार्यम् अत्र स्पष्टतया ज्ञातं भवति. **भूतं** जातं **भव्यं** भाव्यं **भवत्** वर्तमानरूपं **च**कारात् कालत्रयसम्बन्ध-रहितमपि प्राण-जीवादिस्वरूपम् अत्र **दृश्यते** इति अर्थः. **यद्** इति प्रसिद्धं, न अत्र तिरोहितमिव किञ्चित्. अतो विशेषतः प्रमाणं न वक्तव्यम् इति भावः ॥२४॥

ननु जडस्य कथं ध्येयत्वं, ध्यातस्य फलदानावश्यम्भावात्? क्रियान्तरवद् ध्यानस्य न अदृष्टद्वारा फलजनकत्वं, ध्येयसाक्षात्कारस्यैव दृष्टत्वात्. भगवत्सम्बन्धाद् ध्येयत्वेऽपि ''गौण-मुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः'' (परिभाषेन्दुशेखर परिभा. १५) इति न्यायेन भगवानेव कथं न ध्यानविषयीक्रियते? तत्र आह.

प्रकाशः

ब्रह्माण्डावयवभूतं तं तं देशम् अतिक्रामतो अधितिष्ठतः प्रयास्यतश्च कालस्य तत्प्रतियोगिकावयव-सम्बन्धेन अतीतत्वादि-सम्बन्धाद् उपपद्यते इति तत्सिद्धिः इति अर्थः. ननु ब्रह्माण्डस्य नश्वरत्वात् तदभावे तत्सम्बन्धाभावात् कथं तत्सिद्धिः इत्यतः आहुः **अत्र** इत्यादि. तथाच सर्गादौ तन्मतेऽपि चन्द्र-सूर्याद्यभावेन तद्गतिरूपोपाध्यभावेऽपि उत्पत्ति-स्थिति-नाशानां क्रमिक-त्वस्य (नित्येन) गुणस्वभावं[1] कालस्य भूतत्वादि-साधकत्वं भूतत्वादि-व्यवहारोपपादकत्वं गुणस्वभावमात्रेण उपपत्त्यभावाद् गुणत्रयप्रेरणाय[2] कालो अवश्यम् अभ्युपेयइति तेषां नित्यानां गुणानां प्रेरणाद् अतीतत्वादि-व्यवहारोपपादकत्वम् इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. अखण्डस्यापि कालस्य एवं भूतादिव्यवहारोपपादकत्वात् तथा इति अर्थः. एवं भूतादिव्यवहारं साधयित्वा व्याकुर्वन्ति **भूतम्** इत्यादि. **दृश्यते** इत्यत्र दृशिः ज्ञानसामान्यार्थकः. ननु कालसम्बन्धरहितस्य दृश्यत्वे किं मानम् अतः आहुः **यद्** इत्यादि ॥२४॥

---

१. गुणस्वभावे इति मा.पाठः - सम्पा.

२. गुणप्रेरणाय इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते ।।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ।।२५।।

आण्डकोशे इति. न इदं ध्यानविषयत्वेन निरूपितं किन्तु तदाश्रयत्वेन. अनेन "यथा सन्धार्यते" (श्लो. २२) इत्यपि निरूपितं भवति. भगवान् साक्षाद्विषयत्वेन, आण्डकोशस्तु तदाधारत्वेन. यद्यपि स्वात्मनएव जीवस्य आधारत्वं युक्तं – तदपि अग्रिमाध्याये मतान्तरत्वेन वक्ष्यते – तथापि बहिःस्थितो भगवान् अन्तःप्रवेशनीयः इति – स्नेहाधिक्यसिद्ध्यर्थम् आत्मनो महत्त्वसिद्ध्यर्थञ्च प्रयत्नसाफल्याय च स्वात्मनि सिद्धभगवद्रूपापेक्षया सिद्धसाधनत्वदोषाभावात् स्मरणमात्रविषयत्वाच्च – ध्यानसिद्ध्यर्थं ब्रह्माण्डाधारएव भगवान् विषयत्वेन निरूप्यते. अण्डसम्बन्धी **आण्डः**, सएव **कोशो**

प्रकाशः

आण्डकोशे इत्यत्र. **तदाश्रयत्वेन** इति ध्यानविषयाश्रयत्वेन. ननु※ यदि भगवानेव ध्येयो, न देहः, तदा अयं किमिति उच्यते? यदि तदाधारत्वेन तदा जीवएव तथात्वेन ग्राह्यः, "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानम् अन्तरो ... यस्य आत्मा शरीरम्" (शतपथब्रा. १४।६।७।३०) इति शरीरत्वाधारत्वयोः तत्र श्रावितत्वेन आन्तरत्वेन सहजस्नेहविषयत्वेन च उत्कृष्टत्वाद् ※इति आशङ्कायाम् आहुः **यद्यपि** इत्यादि. **युक्तम्** इति उक्तहेतुभ्यो युक्तम्. तथापि बहिष्ठएव अन्तःतिष्ठतीति माहात्म्यज्ञाने तत्र स्नेहो अधिको भवति इति तत्**सिद्ध्यर्थं ;** हृदयदेशावच्छिन्नः शारीरो अणुरेव भवति, तत्र चेद् इयान् माति तदा सोऽपि महान् भवेद् इति तन्**महत्त्वसिद्ध्यर्थं स्वात्मनि** इत्यादिना उक्ताद् हेतोः **प्रयत्नस्य** ध्यानीयस्य **साफल्याय** सर्वस्य भगवत्त्वे तस्यैव स्मरणत्वावच्छिन्न-यावत्स्मरणविषयत्वाद् अन्यध्याने बाहिर्मुख्यनिवृत्तौ ध्यानं सुकरम् इति तत्सिद्ध्यर्थं **बहिःस्थितो अन्तः प्रवेशनीयः** इति गुणाधिक्यात् तथा **निरूप्यते** इति अर्थः.

लेखः

आण्डकोशे इत्यत्र. **अनेन** इति. "कथं सन्धार्यते" इति प्रश्नस्य उत्तरम् अनेन निरूपितं भवति इति अर्थः. तत् प्रपञ्चयन्ति **भगवान्** इत्यादि. **वक्ष्यते** इति, "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे" (भाग.पुरा. २।२।८)

मुकुलितकमलरूपः, सएव **शरीरम्**. ''भूतैः यदा पञ्चभिः आत्मसृष्टैः'' (भाग.पुरा. ११।४।३) इति वाक्यात् स्वार्थं भगवान् शरीरम् इदं कृतवान्. अतो अत्र कृतं तस्य भोगाय भवति, भोगायतनत्वात् शरीरस्य. अतः आत्मापेक्षयाऽपि अयमेव आधारत्वेन ध्येयः इति भावः. कोशरूपत्वाद् अस्य उत्तरदेहवत्[१] सच्छिद्रता निवारिता. तत्रैव मकरन्दपानञ्च. अस्य शरीरस्य सुरक्षितत्वं कथयन् भगवद्व्यतिरिक्तस्यैव सर्वस्य तत्त्वसमूहस्य अत्र निवेशम् आह **सप्तावरणसंयुते** इति, सप्त यानि आवरणानि तैः संयुक्ते. संयुक्तपदाद् मध्ये शून्यं स्थानं निवारितम्. जलादि-प्रकृत्यन्तानि सप्तावरणरूपाणि. तत्र **यो वैराजः पुरुषो** द्वितीयपुरुषरूपः. **यः** सर्वत्र शास्त्रे प्रसिद्धः **असौ** इति अनुभवसिद्धश्च सएव **वैराजो** विराट्शरीरे प्रविष्टः, नतु जीवविशेषः कश्चित्. तद् आह **भगवान्** इति. **यो वैराजः पुरुषः** उक्तः सएव **भगवान्** योगिप्रत्यक्षसिद्धः. अतएव प्रचुरतराभ्यासाद् **असौ** इति प्रत्यक्षतया निर्देशः. सतु **धारणायाः आश्रयः**. तस्य आश्रयः कोशः. यथा अयोगोलकस्थो वह्निः, यथा वा कमलस्थितो भ्रमरः, यथा वा प्रासादस्थितो राजा. **आश्रय**पदेन धारणायाः फलं स्वशरणम् आगतायाः

प्रकाशः

भूतैः इति. इदम् एकादशे योगेश्वरवाक्यम्. **द्वितीयपुरुषरूपः** इति अक्षररूपः. **यो वैराजः** इत्यादिना यः पुरुषः सएव वैराजः इति उद्देश्यविवरणेन अक्षर-पुरुषोत्तमयोः अभेदो बोध्यते. **यथा** इत्यादिना उक्तं दृष्टान्तत्रयं च **वैराज-पुरुष-भगवत्**पदैः सूचितं ज्ञेयम्. तेन यथाधिकारं त्रिधा ध्यानं कर्तव्यत्वेन बोधितं ज्ञेयम् ॥२५॥

लेखः

इत्यादिना वक्ष्यते इति अर्थः. ''**भूतैः यदा पञ्चभिः आत्मसृष्टैः** पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्, स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानम् अवाप नारायण आदिदेवः'' इति एकादशे चतुर्थे. **द्वितीयेति**. ''द्वितीयन्तु अण्डसंस्थितम्'' (सात्वततन्त्र   ) इत्युक्तेः इति भावः. ॥२५॥

---

१. इतरदेहवदिति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु खपाठानुरोधाद् - सम्पा.

सर्वथा दास्यति[१] इति सूचितम् ॥२५॥

इदानीं सर्वेषामेव सूक्ष्माणां साधाराणां तत्र[२] निवेशनं वक्तुं भारत्वाभावाय आधाराणाम् अवयवत्वं निरूपयति **पातालम्** इत्यादिभिः.

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् ॥
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥२६॥
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेरूरुद्वयं वितलञ्चाऽतलञ्च ॥
महीतलं तज्जघनं महीपतेर्नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥२७॥
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वै वदनं जनोऽस्य ॥
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥२८॥

चतुर्दश लोकाः चतुर्दशभेदेन अवयव-विन्यासत्वम् आपन्नाः ध्यानविषयत्वम् आपद्यन्ते, नतु भगवदवयवाः लोकत्वम् आपन्नाः ; तथा सति उत्तमस्य हीनभावाद् अध्येयत्वमेव स्यात्. तद् आह **पातालं** सर्वाधोलोकः **पादमूलं** पादारक्तस्थानम्. तथा सति वासुकिप्रभृतीनां रेखात्वम् उपपद्यते. अत्र प्रमाणम् आह **पठन्ति** इति, वेदवद् अनादिसिद्धा इयं प्रसिद्धिः. **एतस्य** शरीरस्य, भगवत्पक्षे साकारब्रह्मणः तत्र व्याप्तत्वात् तद्भावम् आपन्नम् इति. **पार्ष्णिः** चरण-पश्चाद्भागः. **प्रपदं** पादाग्रं प्रत्याहारेण तन्मध्यभागश्च. **रसातलं** तदुपरितनो लोकः. **गुल्फौ** पादग्रन्थिरूपौ. **महातलं** रसातलाद् उपरितनो लोकः. एवम् अग्रेऽपि, पूर्वनिरूपितस्य उपरितनो लोकः पश्चाद् निरूप्य इति. महातलस्य 'महत्'पदप्रयोगे हेतुम् आह **विश्वसृजः** इति, ततः आरभ्य सृष्टेः आधिक्यात्. तस्य भिन्नखण्डत्वनिरूपणाय **अथशब्दः**.

प्रकाशः

पातालम् इत्यत्र. **इदानीम्** इति, विशेषस्य कथं देहत्वं, कथं च स्थविष्ठत्वम् इति आकाङ्क्षायाम्. **तस्य** इति पदं **भारत्वाभावाय**

लेखः

पातालम् इत्यत्र. **पादारक्तस्थानम्** इति. ... . **प्रत्याहारेण** इति, प्रत्याहारन्यायेन इति अर्थः. तत्र हि आद्यन्तग्रहणेन मध्यगानां सञ्ज्ञेति

१. धारणाकर्त्रे दास्यति इति ऊह्यम् - सम्पा. २. तस्य इति प्रकाशे - सम्पा.

एतावता पञ्चात्मकः पुरुषः इति निरूपितो भवति. तत्र लोकद्वयम् एकः खण्डः, **अथ** भिन्नप्रकारेण गुल्फौ. त्रयाणामपि गुणानां पञ्च भेदाअपि उक्ताः भवन्ति— केवलं तमः, रजस्तमः, रजः, रजःसत्त्वं, सत्त्वम् इति. तत्र केवलं तमो निरूपितम्. महातलादि-सुतलपर्यन्तं द्वितीयः खण्डः. तत्र **जङ्घे तलातलं पुरुषस्य** इति लोमशत्वम्. **जङ्घे** जङ्घाद्वयम्. उभयावयवत्वाद् नाम्नि पदद्वयप्रयोगः, आधारत्वेन वा. **सुतलं द्वे जानुनी. जानुनी**पदेनैव जानुद्वये प्राप्ते पुनः **द्वि**पदं तस्य लोकस्य द्विरूपताज्ञापनार्थम्.

प्रकाशः

इत्यनेन सम्बध्यते. **एतावता** इति, लोकद्वयोक्त्यनन्तरं भिन्नप्रक्रमकथनेन. पञ्चात्मकत्वं स्फुटीकुर्वन्ति **तत्र** इत्यादि. **द्वितीयः खण्डः** इति. एतेन यथा लौकिके पुरुषशरीरे खण्डविभागः तथा अत्र इति बोधितम्. तेन वितलातले तृतीयो, मह्यादि-ज्योतिरनीकान्तः तुरीयो, महरादि-सत्यलोकान्तः पञ्चमः इति सिद्ध्यति. **उभयावयवत्वाद्** इत्यादि. गुल्फ-जानुसम्बन्धेन जङ्घायाः तद्द्वयावयवत्वेन जान्वपेक्षया नीचत्वाद् गुल्फापेक्षया उच्चत्वाच्च लोकनाम्नि पदद्वयस्य प्रयोगः इति अर्थः. आङ्प्रश्लेषे[१] 'आसमन्तात् तलम्' इति अर्थान्तरं सम्भवतीति बलवत्त्वबोधनाय तमपि पक्षं सङ्गृह्णन्ति **आधारत्वेन वा** इति. **अतएव** इति, बलिस्थानस्य शुद्धत्वादेव. **वितलं**

लेखः

तथा इति. **ततः आरभ्य सृष्टेः आधिक्याद्** इति. पाताले तर्हि नागलोकपतयो वासुकिप्रभृतयो, रसातले नागलोकपतयो, तलातले च दैतेय-दानव-निवातकवचाश्च नियताएव वसन्ति. महातलादौ तु काद्रवेयान् एककुलानां सर्पादीनां स्थित्या तथा इति अर्थः. **पञ्चात्मकः** इति. पञ्चखण्डनिरूपणेन तथा उक्तः इति अर्थः. शिष्टम् अत्र श्रीपुरुषोत्तमीय-प्रकाशे द्रष्टव्यम्. **लोमशत्वम्** इति. ... ॥२६॥

द्वे जानुनी इत्यत्र. **लोकस्य** इति, सुतलस्य इति अर्थः. द्विरूपत्वे

---

१. "आङ् आभिमुख्ये करणे ग्रहणे श्लेषधर्मणे" : अव्ययकोश १५१ - सम्पा.

अतएव अग्रे सुतलं शुद्धम् इति वक्ष्यति. साधारणस्थानं स्वस्थितिस्थानञ्च. यत्र बलिः तिष्ठति तत् शुद्धम्, अतएव तस्य प्रदर्शितं विश्वरूपम् अनुस्मारयति **विश्वमूर्तेः** इति. **वितलम् अतलञ्च ऊरुद्वयम्** एकम् अतलम् एकं वितलम्. केचन अग्र-पश्चाद्भावभेदेन द्वयमपि द्वयम् आहुः, तत् लौकिकपुरुषन्यायेन तथा सम्भवेऽपि पञ्चमे ततो अधस्तादित्यभावात् चिन्त्यम्. अत्र **च**कारद्वयस्य विद्यमानत्वात् तथात्वं वा, तत्राऽपि अवान्तरभेदो वा— महादेवक्रीडास्थानं मयपुत्रस्थानञ्च स्वर्गापररूपम्. **महीतलं** पृथिवी **तस्य** भगवतो **जघनम्**. उत्थितपुरुषस्य एवं व्यवस्था, ऊर्ध्वगोलस्य च. ध्येयस्तु

प्रकाशः

चातलं च इत्यत्र **अग्र-पश्चाद्भावभेदेन** इति, वितलम् अग्रभागः अतलं पश्चाद्भागः इति भेदेन. ननु पश्चाद्भागस्य अधस्त्वाभावाद् अत्र[१] पञ्चमस्कन्धविरोधः इत्यतः तमपि पक्षं स्वीकृत्य आहुः **अत्र** इत्यादि. **तथात्वम्** इति अग्र-पश्चाद्भागभेदः. तथाच न्यायमात्राद् असङ्गतमेव इति अर्थः. ननु फलतो न कश्चिद् विशेषः इत्यतः आहुः **अवान्तरभेदो वा** इति. **च**कारयोः एवमपि उपपत्तौ. तस्मिन् अर्थे विनिगमनाविरहाद् लोके तदग्रभागादेः उपर्यादिभागत्वेन व्यवहाराच्च तं पक्षं विहाय एवम् आदरणीयम् इति अर्थः. तद् विभजन्ति **महादेवे**त्यादि. वितलं **महादेवक्रीडास्थानम्**, अतलं **मयपुत्रस्य स्थानं स्वर्गापररूपम्** इति अर्थः ॥२६॥

महीतलम् इत्यत्र. **तस्य** इति. एतेन 'तद्' इति पदं भिन्नं सुलुक्सूत्राद् (पाणि.सूत्र ७।१।३९) लुप्तषष्ठीकम् इति बोधितम्. **एवं**

लेखः

गमकम् आहुः **अतएव** इति. **सुतलं शुद्धम् इति वक्ष्यति** इति. ''जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यान्तु तलातलम्'' (भाग.पुरा. २।५।४०) इति पञ्चमाध्याये वक्ष्यति इति अर्थः. **तस्य** इति बलेः. **तत्... चिन्त्यम्** इति. ... . **महादेवस्थानम्** इत्यादि वितलम् अतलञ्च यथाक्रमं बोध्यम् ॥२७॥

१. -भावाद् न इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

सएव. **महीपतेः** इति राजरूपेण अत्र भगवत्स्थितिः उक्ता. **नभस्तलम्** अन्तरिक्षम्. **नाभिसरः** इति अन्तरिक्षे जलस्थितिः उक्ता. प्रत्यक्षविरोधेऽपि वेदप्रमाणसिद्धम् इति आह **गृणन्ति** इति, ''सलिलं वा इदम् अन्तरासीद् यदतरन् तत् तारकाणां तारकात्वम्'' (तैत्ति.ब्रा. १।५।२।५) इति श्रुतेः. अत्र भगवन्मूर्तेः अभावाद् रुद्रालयत्वाच्च नाभिकमलोद्भव-सम्भवाच्च सरस्त्वेनैव निरूपणम्. **उरः** वक्षस्थलं **ज्योतिरनीकम्** आदित्यादि-ध्रुवान्तं ज्योतिश्चक्रं, तद् **अस्य.** तत्र न अन्यः तिष्ठति इति उक्तं भवति. शिशुमारस्य भगवत्त्वाद् हृदये च जीवस्थानं भवति अतो ज्योतिरनीके शिशुमारे भगवान् ध्येयः. **ग्रीवा** महर्लोकः. **वदनं** जनलोकः

प्रकाशः

व्यवस्था इति. पञ्चमस्कन्ध-स्वारस्यावगता सा इति अर्थः. अत्र यद्यपि श्रोणिलोकनिवेशो न उक्तः तथापि अग्रे ''सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे'' (श्लो. ३५) इति मृगाद्यधिकरणतया श्रोणिदेशस्य वक्ष्यमाणत्वाद् मृगादीनां च भूमिष्ठत्वात् तस्मिन्नपि भूर्लोकतैव बोध्या, तथा अग्रे ''निरयस्य गुदः स्मृतः'' (भाग.पुरा. २।६।८) इत्यनेन वक्ष्यमाणस्य नरकस्य पञ्चमस्कन्धे ''अधस्ताद् भूमेरुपरिष्टाच्च जलाशयाद्'' (भाग.पुरा. ५।२६।५) इति भूम्यधस्तात् तत्स्थानकथनाच्च. **सरस्त्वेनैव निरूपणम्** इति. एतेन ज्योतिरनीकस्य निराधारतापि वारिता. तथा ''पराभूतेः अधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः'' (भाग.पुरा. २।६।९) इति वक्ष्यमाणस्य पृष्टदेशस्यापि पर्वतादिद्वारा भूरादि-महर्लोकपर्यन्तं संलग्नतापि बोध्या, पञ्चमस्कन्धे लोकालोक-संस्थानकथने ''आदित्यानां[१] ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयो अर्वाचीना एव न पराचीना भवितुम् उत्सहन्ते तावद् उन्नहनायाम'' (भाग.पुरा. ५।२०।३७) इति कथनात्. तत्रापि पराभूतिस्थानस्य अन्तरिक्षसमानदेशत्वम्, अधर्मस्थापनस्य आदित्यादिसादेश्यं, तमःस्थानस्य ध्रुवसादेश्यम् इति. एतेन प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वात् ''न ध्रुवोपरि तद्गतिः'' (त.दी.नि. २।६) इति निबन्धोक्तः कर्मिणां सत्यलोकगमन-मार्गोऽपि सङ्गमिष्यते. **ग्रीवा महः**

१. सूर्यादीनाम् इति प्रसिद्धपाठः - सम्पा.

चिबुकादि-भ्रूपर्यन्तम्. अयमपि केवलं भगवतः, नित्यसुखस्थानत्वात्. तद् अग्रे वक्ष्यामः. **तपोलोको रराटी** ललाटं शून्यस्थानम्. स्त्रीपदप्रयोगः शृङ्गाराधारत्वख्यापनार्थः. **आदिपुंसः** इति तपसा तत् प्राप्यते इति. **सत्यन्तु शीर्षाणि.** शिरसां बहुत्वे हेतुः **सहस्रशीर्ष्णः** इति. सहस्रशीर्षा इति तस्य श्रौतत्वज्ञापनाय. तत्र ब्रह्मादीनां बहूनां लोकभेदात् सर्वेषां मूर्धन्यतासिद्ध्यै मूर्धानं यन्ति इति शीर्ष्णां बहुवचनम् ॥२६-२८॥

एवं लोकानां सन्निवेशम् उक्त्वा तत्रत्यानां जीवानां सन्निवेशम् आह **इन्द्रादयः** इत्यादिना.

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ॥
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणञ्च गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥२९॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत् पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ॥
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम् आपोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥३०॥
छन्दांस्यनन्तस्य यशो गृणन्ति दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि ॥
हासो जनोन्मादकरी च माया दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः ॥३१॥
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो धर्मः स्तनोऽधर्मपथश्च पृष्ठः ॥
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः ॥३२॥
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र ॥
अनन्तवीर्यश्वसितं मातरिश्वा गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः ॥३३॥
ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान् वासस्तु सन्ध्ये कुरुवर्य भूम्नः ॥
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च स चन्द्रमाः सर्वविकारकोषः ॥३४॥
विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम् ॥
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे ॥३५॥
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुजो निवासः ॥

प्रकाशः

इति. सादेश्याद् गलत्वमपि तस्यैव उन्नेयम्. **यन्ति** इति कर्मणा प्राप्नुवन्ति. एवं बहुत्वोपपादनाद् "ब्रह्मलोकम् अकर्मकम्" (. । ।) इत्यादीनां विरोधः परिहृतः ॥२७॥

गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः स्वरस्मृतीरसुरानीकवर्यः[1] ॥३६॥
ब्रह्माननः क्षत्रभुजो महात्मा विड्रूरुरङ्घ्रिः श्रितकृष्णवर्णः ॥
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः ॥३७॥

यद्यपि येषां यत् स्थानं ते तत्र निविष्टाः इति अर्थाद् उक्तं भवति तथापि अनियतस्थान-जीवानां स्थानं निरूप्यते, यतो देवाः सर्वेषु लोकेषु परिभ्रमन्ति. अथवा भगवदिन्द्रियाणाम् आधारत्वं न भविष्यतीति तन्निरूपणार्थं पृथङ्निरूपणम्. आधिदैविकाः ते देवाः, अन्येऽपि तत्प्रकरणे निरूपिताः तद्रूपाएव. **इन्द्रादयो** देवाः **उस्राः** कर्मफलदातारः. भारवहनसमर्थाः "उस्राः" उच्यन्ते, उद् उर्ध्वं सरन्ति इति, "उस्रावेतं द्धूर्षाहौ[2]" (तैत्ति.संहि. १।२।८।२, शतपथब्रा. ३।३।४।१२) इत्यत्र तथा निरूपणात्. भगवद्**बाहवः** च फलदातारः. भगवतः **कर्णौ** ब्रह्माण्डे **दिशः**. यस्तु **शब्दः** सः भगवतः **श्रोत्रम्** इन्द्रियम्. **नासत्यदस्रौ** अश्विनौ. **नासे परमस्य** नासिकाद्वयं परमस्य यज्ञस्य, यज्ञएव तत्कृतोपकारात्. अस्मदिन्द्रियाद्यधिष्ठातारो भगवदिन्द्रिय-

प्रकाशः

इन्द्रादयः इत्यत्र. स्थानाभावे परिभ्रमणमात्रेण अवयवत्वं न वक्तुं शक्यमिति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **उस्रावेतम्** इत्यादि. एतेन मन्त्रमयी देवता इति जैमिनीयं मतम् असङ्गतम् इति बोधितम्. **नासत्यदस्रौ** इत्यत्र **यज्ञस्य** इति. एतेन यज्ञ-पुरुषयोः अभेदो बोधितः. सच "तमेव यज्ञपुरुषं तेनैव अयजम् ईश्वरम्" (भाग.पुरा. २।६।२७)

लेखः

इन्द्रादयः इत्यत्र. **आधारत्वम्** इति, देवाधारत्वम् इति अर्थः. "उस्रावेतं द्युर्षाहावनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ वरुणस्य स्कम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनमसि प्रत्यस्तो वरुणस्य पाश" इति प्रथमाष्टकद्वितीयप्रपाठे. **तत्कृतोपकाराद्** इति, नासिकाकृतोपकाराद् इति अर्थः ; यज्ञवराहस्य ततएव प्रकटत्वाद् इति ॥२९॥

---

१. स्वरस्मृतिर्ह्यसुरानीकवीर्यः इति माध्वानां पाठः - सम्पा.

२. घूर्षहेति ख. धूरुषाहौ इति मुद्रितपाठः. गृहीतपाठस्तु उद्धरणानुसारेण - सम्पा.

गोलकानि, विषयस्तु इन्द्रियम्. **गन्धो** अस्य **घ्राणम्**. **इद्धो** ज्वलन् **अग्निः** **(मुखम्!)**. अतो भगवन्मुखे यद् देयं तद् ज्वलद् अग्नौ देयम्. **द्यौः** स्वर्गलोकः शिशुमारस्थानभूतः **अक्षिणी** गोलके. **चक्षुः** इन्द्रियं **पतङ्गः** सूर्यः, पतद् गच्छति इति, चक्षुरपि भगवदीयं स्वस्मिन् पतत् चलतु इत्येतदर्थम्. **पक्ष्माणि** चत्वारि नेत्रोन्मीलन-निमीलनकर्तॄणि **विष्णोः** इति कालरूपस्य यज्ञस्वरूपस्य वा **अहनी** रात्र्यहनी. **उभे च** इति देव-मनुष्यभेदेन. **चकारात्** पितृ-ब्रह्मणोरपि. **परमेष्ठिधिष्ण्यं** ब्रह्मस्थानं सत्यलोकस्थितं **तस्य** भगवतो **भ्रूविजृम्भः**. यं प्रति भ्रुवोः विजृम्भणं = सन्तोषेण प्रसारणं करोति तं ब्रह्मासने उपवेशयति. **आपो** जलानि वरुणपत्नीरूपाणि **अस्य तालुः** गोलकरूपा जिह्वा. **जिह्वा** इन्द्रियम् **(रसएव!)**. एवकारेण रसवद्द्रव्यं निवारितम्. **छन्दांसि** गायत्र्यादीनि – परःसहस्रं छन्दांसि, तत्र सप्त मुख्यानि – **यशः** कीर्तिः **गृणन्ति** इति पूर्ववत् प्रमाणकथनम्. भगवद्**दंष्ट्रा यमः**. **स्नेहकला** मोहादयो **द्विजानि** दन्ताः. **हासः** हास्यं **(जनानां!)** प्राणिनाम् **उन्मादकर्त्री मायैव**. **चकाराद्** अनुन्मादकरी भक्तिरूपा च. **माया** पूर्वम् उक्ता. **दुरन्तसर्गः** नित्यप्रवाहरूपा सृष्टिः **अपाङ्गमोक्षः** कटाक्षमोक्षः. **व्रीडा** लज्जा **(उत्तरोष्ठः!)** ब्राह्मणानाम् उपरि भवति, **अधरः** अधरोष्ठः अधस्तनानामेव **लोभो** भवति. **एवकारेण** उपरितनानां लोभाभावः सूचितः. **धर्मो** ब्रह्मसुतो नर-नारायणपिता, चतुष्पाद् धर्मो वा,

---

प्रकाशः

इत्यत्र स्फुटो भविष्यति. **शिशुमारस्थानभूतः** इति. एतेन विरुद्धधर्मवत्त्वं बोध्यते. **पक्ष्माणि विष्णोः** इत्यत्र **कालरूपस्य** इति. अत्रापि पुरुषाऽभेदो गीतायां ''कालोऽस्मि'' (भग.गीता ११।३२) इति भगवद्वाक्याद् ज्ञेयः. **पूर्वम् उक्ता** इति, प्रथमस्कन्धे [१]''अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्'' (भाग.पुरा. १।७।४) इत्यत्र[१] भगवदुपाश्रितत्वेन उक्ता. **मेढ्रम् अर्थः इन्द्रियम्** इति,

लेखः

व्रीडा इत्यत्र. **ब्राह्मणानाम् उपरि** इति. इति वाक्याद् उपरिलोकस्थानामेव

१-१. मा.पाठे 'प्रथमस्कन्धे' इत्यस्य उपरि पादटिप्पणी इयम् - सम्पा.

एकस्तनो दक्षिणः, वामस्तु अधर्मः. **अधर्ममार्गश्च** भगवतः **पृष्ठभागः**. **कः** प्रजापतिः **मेढ्रम्**[१] अधः[२] इन्द्रियम् इति यावत्. **(वृषणौ!) मित्रौ** मित्रावरुणौ, मित्रद्वयं वा. **कुक्षिः** उदरं; सर्वेऽपि **समुद्राः** भगवत्कुक्षिः. **गिरयः** पर्वताः **अस्थिसमूहाः** वङ्क्रयः. **नद्यो** गङ्गाद्याः **अस्य** भगवतो **नाड्यः**. **तनूरुहाणि** लोमानि. **अथ** इति अचेतनप्रायसृष्टि-सन्निवेशार्थम्. राजसानां वा लोकाः तामसाः, देवादयः एतदन्ताः सात्त्विकाः. **महीरुहाः** वृक्षाः षड्विधाअपि भगवतो लोमानि. **विश्वतनोः** इति विश्वं तनौ यस्य. अनेन तेषां विश्वरूपत्वं निरूपितम्, अन्नाच्छादनरूपत्वात्. **नृपेन्द्र** इति सम्बोधनं महाराजस्य राज्ये एकस्मिन्नपि वृक्षे च्छिन्ने लोमच्छेदनवत् क्लेशो भवति इति अनुभवस्य संवादार्थम्. **अनन्तवीर्यस्य** भगवतः **श्वसितं** नासापुटस्थ-वायुः **मातरिश्वा** अयं वायुः. भगवतो **गतिः वयः** कालः. **कर्म** भगवतो **गुणप्रवाहः** सत्त्व-रजस्तमसां देव-तिर्यङ्-मनुष्यादि-सृष्टिरूपः. **ईशस्य** ईश्वररूपस्य **(केशाः!) अम्बुवाहाः** मेघाः **विदुः** इति पूर्ववत् प्रमाणम्. **वासः** पीताम्बरं **सन्ध्ये** सन्ध्याद्वयम्. **तु**शब्देन मायापक्ष-व्यावृत्तिः. **भूम्नः** इति कालस्य. **कुरुवर्य** इति सम्बोधनं भगवतो महत्त्वज्ञापनार्थम्. **अव्यक्तं** प्रकृतिः भगवतो **हृदयम् आहुः** इति पूर्ववत्. **सः चन्द्रमाः**

प्रकाशः

अधः इन्द्रियम् इति पाठो भाति. **वङ्क्रयः** इति पार्श्वाऽस्थीनि. **महत्त्वज्ञापनार्थम्** इति, राजादिवत् सामर्थ्यादिभिः महत्त्वज्ञापनार्थम्.

लेखः

ब्राह्मणानां लज्जा इति तथा इति अर्थः. **मित्रद्वयम्** इति. तयोः मैत्र्यैव सहभावाद् इति भावः. **वृक्षाः षड्विधाः** इति ''वनस्पत्योषधि-लता-त्वक्सारा-वीरुधो-द्रुमा'' (भाग.पुरा. ३।१०।१९) इति तृतीय-दशमाध्यायोक्ताद् ज्ञेयाः. **अनेन तेषाम्** इति. तनूरुहानां सर्वाङ्गव्याप्तत्वाद् वृक्षाणाञ्च तत्त्वोक्त्या तथात्वम् उक्तं भवति इति अर्थः. **अन्न** इति, व्रीह्यादीनां तथात्वाद् इति ॥३२-३३॥

---

१. मेण्ढ्रं इति मुद्रितपाठः -सम्पा. २. अर्थः इति मुद्रितपाठः -सम्पा.

आधिदैविकरूपः **सर्वविकाराणां कोषरूपं** भगवन्**मनः,** तद्विकासे[१] सर्वे विकाराः उत्पद्यन्ते इति. **विज्ञानशक्तिं** ज्ञानशक्तिं **महिं** महत्तत्त्वम्. **अन्तःकरणम्** अहङ्कारं **गिरित्रं** महादेवम्. **सर्वात्मनः** इति अहङ्कारस्य सर्वत्र स्थितिः उक्ता. **अश्वादयः** चत्वारो अवयवचतुष्टय-**नखानि.** तत्र आद्यौ हस्तयोः. वामहस्तनखानां स्त्रीषु उपयोगः इति **अश्वतरी.** सर्वे **मृगाः पशवश्च** भगवतो अवयवत्वाभावेऽपि **श्रोणिदेशे** श्रोणिस्थाने भवन्ति. अथवा मृगाः पशवश्च श्रोणिस्थानद्वयम्. **वयांसि** पक्षिणः **तस्य** भगवतो **(विचित्रं!) व्याकरणं,** "मयूराश्चित्रिता येन" (नारदपञ्च. १।३।१५) इति वाक्यात्. **मनुः** स्वायम्भुवादिः **मनीषा** इच्छा. **मनुजो** मनुष्यः **निवासो** गृहम्. **गन्धर्वादयो अप्सरोऽन्ता** एकवद्भावं प्राप्ताः **स्वरो** भगवत्कर्तृको रागविशेषः. **असुरानीकवर्यः** प्रह्लादः **स्मृतिः**[२] स्मृतीः स्मृतयः. पाठान्तरे अप्सरोन्ताः प्रह्लादश्च **स्वर-स्मृती** आद्यः स्वरः द्वितीयः स्मृतिः. **वीर्यः** इति पाठे पूर्वोक्ताएव स्वरस्मृतयः ; **असुरानीकं वीर्यं** यस्य, समासएव उद्देश्य-विधेयभावः. **ब्रह्मभावः** कश्चिद् धर्मः यस्मिन् विद्यमाने 'ब्राह्मण'शब्दवाच्यो भवति पुरुषः, 'ब्राह्मण्या'ऽपरनाम. ब्राह्मण्यं न जातिः,

---

प्रकाशः

गन्धर्वः इत्यत्र. **स्मृतिं स्मृती स्मृतयः** इति. मूलपदं बाहुलकाद् उभयथापि सम्भाव्यते इतः एवम् उक्तम् ॥२९-३६॥

ब्रह्मानन इत्यत्र. **ब्रह्मभावः** इत्यादि. ननु ब्राह्मण्यं हि लोके जातित्वेन

लेखः

विज्ञानशक्तिम् इत्यत्र. **वामहस्तनखानाम्** इति. स्त्रीणां स्थितेः वामभागएव प्रशस्तत्वात् तथा इति भावः ॥३५॥

वयांसि इत्यत्र. **प्रह्लादः स्मृतिः** इति, असुरानीकेषु वर्यः प्रह्लादो स्मृतिः इति अर्थः. **स्मृतिः** इति. इदं मूलस्थं प्रतीकम्. अस्यैव पर्यायकथनं **स्मृतयः** इति. **पाठान्तरे** इति, **स्वरस्मृतीः** इति समस्तपदत्वाङ्गीकारे इति अर्थः. **पूर्वोक्ताएव** इति, अप्सरोन्ता इति अर्थः ॥३६॥

---

१. तद्विकाश इति ग. २. स्मृतिम् इति प्रकाशे -सम्पा.

व्यक्तिसद्भावेऽपि तस्य अपगमाद्, "ब्राह्मण्यादेव हीयते" (मनुस्मृ. ३।१७) इति वाक्यानुरोधात्. वृत्त्यन्तर-कल्पनायां प्रमाणाभावात्, नियतव्यञ्जका-

---

प्रकाशः

प्रसिद्धं, तत् किमिति धर्मान्तरत्वेन स्वीक्रियते इत्यतः आहुः **न जातिः** इति. तत्र हेतुः **व्यक्ती**त्यादि. ननु अपगमे किं मानम् इत्यतः आहुः **ब्राह्मण्यादेव** इत्यादि. "शूद्रां शयनम् आरोप्य ब्राह्मणो याति अधोगतिं, तस्यां तनयम् उत्पाद्य ब्राह्मण्यादेव हीयते" (मनु.स्मृ. ३।१७) इति वाक्ये 'एव'कारेण अपगमस्यैव शीघ्रं प्रतीतेः इति अर्थः. ननु✻ "अत ऊर्ध्वं पतन्ति एते सर्वधर्मबहिःकृता" (याज्ञ.स्मृ. १।१।३८) इत्यादौ ब्राह्मणकर्माऽनधिकारस्य प्रत्ययाद्, "येन विप्लावितं ब्रह्म वृषल्यां जायतात्मना" (भाग.पुरा. ६।२।२६) इत्यादावपि 'ब्रह्म विप्लावितं' नाम ब्राह्मणकर्माऽनधिकारित्वं सम्पादितम् इति लाक्षणिक-शाब्दबोधइव, उक्तवाक्येऽपि 'ब्राह्मणकर्माधिकाराद् हीनो भवति स्वयम्' इत्येवं शाब्दबोधसम्भवाद् न उक्तदूषणावकाशः ✻इत्यतः आहुः **वृत्त्यन्तरे**त्यादि. "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" (पाणि.सूत्र ५।१।१२४) इति अनुशासने कर्मणि ष्यञ्विधानेन, भावपक्षेऽपि तस्य जातिभिन्नधर्मपरत्वेन अविरोधाद् लक्षणाकल्पने मानाभावाद् इति अर्थः. किञ्च उक्तवाक्यादौ गौण्यनवकाशाद्, "गङ्गायां घोषः" इत्यादौ शैत्य-पावनत्वादिवद् अत्र फलविशेषस्यापि अप्रत्ययाद्, निरूढलक्षणास्थले च "कृती कुशल" (अमरको. ३।१।४) इत्यादि कोशेन डित्थादिष्विव शक्तेरेव ग्राहणेन तस्याः विप्रतिपन्नत्वात्, का वा लक्षणा वाच्या इत्येवमपि प्रमाणाभावो बोध्यः. ननु✻ विश्वामित्रादौ जातिगमागमदर्शनाद् व्याप्य-व्यापकभेदेन जातिचतुष्टयस्य जातित्रयस्य वा स्वीकारवद् अत्रापि अनपायिब्राह्मण्य-व्याप्यापायिब्राह्मण्य-स्वीकारे "ब्राह्मो-

लेखः

ब्रह्माननम् इत्यत्र. **तस्य अपगमाद्** इति. तथाच जातेः नित्यत्वम् इति नियमभङ्गप्रसङ्गः इति भावः. ननु "ब्राह्मण्यादेव हीयते" इत्यत्र न ब्राह्मण्यापगमः उच्यते किन्तु ब्राह्मणवृत्त्यन्तरापगमएव इत्यतः आहुः **वृत्त्यन्तरे**ति. **नियते**ति, नियमेन अनुगतैकाकारप्रतीति-जनकत्वाभावाच्च इति

भावाच्च. "ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाद् जातत्वं" चतुर्मुखे तत्पुत्रेषु मानसेषु च अव्यापकम्. ऋषभपुत्रेषु "एकाशीतिः ... [१]ब्राह्मणाः बभूवुः" (भाग.पुरा. ५।७।१३) इति वाक्याच्च. तस्मात् शास्त्रे बहुवाक्यविरोधाद् ब्राह्मण्यं काचिद् देवता. सा यस्मिन्नेव देहे अभिव्यक्ता भवति ते 'ब्राह्मणाः' इति उच्यन्ते. अतएव शापादिना शूद्रत्वं चण्डालत्वम्, अनुग्रहेण ब्रह्मत्वम्

प्रकाशः

ऽजातौ" (पाणि.सूत्र ६।४।७१) इति सूत्रप्रत्युदाहरण-लिङ्गाद् अव्याप्यवृत्ति-जातिस्वीकारे वा को दोषः *इत्यतः आहुः **नियते**त्यादि. यदि अव्याप्यवृत्तिः जातिः विश्वामित्रादौ स्यात् तदा तत्तद्व्यञ्जकन्तु नियतं स्यात्; तदभावात् च न अव्याप्यवृत्तिः जातिः इति अर्थः. नच क्रोध-तेजःप्रभृतीनां व्यञ्जकत्वं वक्तुं शङ्क्यं, दुर्वासःप्रभृतिषु व्यभिचारात्. प्रत्युदाहरणन्तु "मातुः यद् अग्रे जायन्ते द्वितीयं मोञ्जीबन्धनाद्" (याज्ञ.स्मृ. १।२।३९) इति स्मार्तजननम् आदाय "जननं जातिः" इति व्युत्पत्त्या सङ्गमनीयम् इति सर्वम् अनवद्यम्. उपाधित्वम् आशङ्क्य दूषयन्ति **ब्राह्मणाद्** इत्यादि. तथाच ब्राह्मण्यां जातत्वं चाण्डाले अतिव्यापकं, ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाच्च जातत्वम् उक्तस्थले अव्यापकम्, अतो न सखण्डोपाधिः वक्तुं शक्यः इति अर्थः. ननु "विशुद्धमातापितृकत्वं ब्राह्मणत्वम्" इति उक्ते न कश्चिद् दोषः इत्यतः आहुः **ऋषभे**त्यादि. तथा सति नवसु भागवतत्वं, दशसु क्षत्रियत्वम्, एकाशीतिषु यवीयःसु ब्राह्मणत्वम् इति तारतम्यं न स्याद् इति अर्थः. एवं विशुद्धमातृकत्वं विशुद्धपितृकत्वं च यायातेषु[२] पुंढ्रसुह्यादिषु यथायथम् अतिव्यापकं ज्ञेयम्. फलितम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि **उच्यन्ते** इत्यन्तम्. **तस्माद्** जातेः सखण्डोपाधेश्च अनिरूप्यत्वाद् अखण्डोपाध्यङ्गीकारेऽपि तस्याः जातिकल्पत्वेन उक्तरीत्या **शास्त्रे बहुवाक्यविरोधाद् ब्राह्मण्यं देवता** इति अर्थः. **अतएव**

लेखः

अर्थः. **चतुर्मुखे** इति. 'ब्रह्म'शब्दवाच्यस्यापि तस्य ब्राह्मणतः उत्पत्त्यभावात् तत्र अव्याप्तिः इति अर्थः. अतिव्याप्तिम् आहुः **ऋषभे**ति. एवञ्च निर्वचनमपि

---

१. एकाशीति ब्रह्मणेति ख. २. ययातेषु पुंढ्रसुब्रह्मादिषु च इति मा.पाठे -सम्पा.

इति. सा[१] च उपनयनेन देहे समायाति. तदा बहूनि वाक्यानि सङ्गच्छन्ते. एवं क्षत्रम्. अतएव परशुरामे उभयनिवेशः. **ब्रह्म आननं** यस्य, **क्षत्रं**

प्रकाशः

इति, देवताभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिभ्यामेव इति अर्थः. **इतीति**, प्रसिद्धम् इति अर्थः. ननु देवता कथम् अभिव्यक्ता भवति इत्यतः आहुः **सा च** इत्यादि. **उपनयने**ति उपलक्षणं ; तदनुकूलेश्वरेच्छा च सर्वत्र सहकारिणी सर्वैरेव मन्तव्येति न कश्चिद् दोषः. एतेन देवताभिव्यक्तिः समागमनरूपा ज्ञापिता इति ज्ञेयम्. **बहूनि वाक्यानि** इति, ''जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैः द्विज उच्यते, वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रो ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणः स्मृतः'' (.   । ।) इत्यादीनि इति अर्थः. अयञ्च अर्थो बृहदारण्यकीय-पुरुषविधब्राह्मणे ''ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीद्'' (बृहदा.उप. १।४।११) इति आरभ्य ''वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः'' (तत्रैव १५) इत्यन्तग्रन्थे स्पष्टः. एवञ्च ब्राह्मणीत्वमपि ''विवाहस्तु समन्त्रकः'' (याज्ञ.स्मृ. १।२।१३) इत्यादि वाक्याद् विवाहानन्तरमेव, पूर्वन्तु ब्राह्मणकन्यात्वमेव. तत्र व्यभिचारादावपि पापतारतम्यं प्रायश्चित्ततारतम्यं च ज्ञेयम्. अतएव तादृङ्मरणे आशौचतारतम्यमपि सङ्गच्छते इति **बहूनि सङ्गच्छन्ते** इति सुष्ठु उक्तम्. एवञ्च ''ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं'' (तैत्ति.संहि. २।२।५।७) - ''मरुतो वै देवानां विशः'' (तत्रैव) इत्यादि श्रुतयोपि सङ्गच्छन्ते. अन्यत्रापि अतिदिशन्ति **एवं क्षत्रम्** इति. इदम् उपलक्षणं ज्ञेयम्. ननु शूद्रत्वस्य अजातित्वे 'शूद्रा'पदे टाबभावापत्तिः, अजातित्वाद् इति चेद्, न, ''वेदाक्षरविचारेण ब्राह्मणीगमनेन च, कपिलाक्षीरपानेन शूद्रः चाण्डालतां व्रजेद्'' (परा.स्मृ. १।६७) इत्यादि लिङ्गात् तत्रापि जननम् आदायैव निर्वाहात्. तथाच यत्रैव बाधाभावः तत्रैव जातित्वम् अवधेयं, न अन्यत्र इति दिक्. **अतएव** इति देवताद्वय-समागमादेव. **उभयनिवेशः** इति, [२]ब्रह्म-क्षत्ररूप-देवताद्वय-निवेशः

---

१. इति च. चोपनयनेनेति ग.

२. ब्राह्म- इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठः गृहीतः -सम्पा.

भुजो यस्य. पूर्वम् इद्धो अग्निः मुखत्वेन उक्तो वाक्प्रकाशार्थम्, अतो वागिन्द्रियदेवता अग्निः. इन्द्रादयश्च भोक्तारो बाहवः पूर्वम् उक्ताः. अत्र

प्रकाशः

इति अर्थः.

एतेन ग्रन्थेन भारते वनपर्वणि✻ आजगरे "ब्राह्मणः को भवेद् राजन्" (महाभा. ३।१८०।२०) इति प्रश्ने "सत्यं दानं क्षमा शीलम् आनृशंस्यं तपो घृणा, दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः" (तत्रैव २१) इति लक्षिते "चातुर्वर्ण्ये प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि, शूद्रेष्वपि च सत्यं च" (तत्रैव २३) इत्यादिना अतिव्याप्तौ दर्शितायां "शूद्रे तु यद् भवेद् लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते, न वै शूद्रो भवेत् शूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः, यत्र एतद् लक्ष्यते सर्प स ब्राह्मण इति स्मृतः, यत्र एतद् न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेद्" (तत्रैव २५-२६) इत्यनेन लक्ष्यकुक्षिनिक्षेपे लक्ष्यबहिष्कारे च कृते "यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः, वृथा जातिः तदायुष्मन् कृतिः यावद् न विद्यते" (तत्रैव ३०) इत्यनेन अनियतव्यङ्ग्यायां जातौ स्वीकृतायां "जातिः अत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते, सङ्करात् सर्ववर्णानां दुःपरीक्ष्या इति मे मतिः, सर्वे सर्वासु अपत्यानि जनयन्ति सदा नराः" (तत्रैव ३१-३२) इत्यनेन साङ्कर्यदूषणं[1] जातौ उक्त्वा – 'दुःपरीक्ष्या' इत्यनेन अनियतव्यङ्ग्या न जातिः किन्तु नियतव्यङ्ग्यैव जातिः इति सूचयित्वा – "इदम् आर्षं प्रमाणं च" (तत्रैव ३३) इति आरभ्य "यत्र इदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते, तं ब्राह्मणम् अहं पूर्वम् उक्तवान् भुजगोत्तम" (तत्रैव ३७) इत्यन्तेन ✻संस्कारवृत्ताभ्यां ब्राह्मण्यम् उक्तं तदपि एतदविरोधी इति ज्ञापितं ज्ञेयम्.

वारद्वयं मुखाद्युक्तेः तात्पर्यम् आहुः **पूर्वम्** इत्यादि **कर्म** इत्यन्तम्. तथाच कार्यभेदाद् मुखान्तराद्युक्तिः. विश्वरूपाध्याये "अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्" (भग.गीता ११।१६) इति कथनाद्, अत्रापि "सहस्रशीर्षा" (भाग.पुरा.

---

१. साङ्कर्यं दूषणम् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

तु रसाधिष्ठात्री देवता वरुणः, रसभोक्तृ ब्राह्मण्यं, तथा रक्षाकर्तृ क्षत्रम् इति. **विड् ऊरु** यस्य. वितलातलरूपस्याऽपि[१] ऊरुणोः वैश्यत्वम्. स्थितिसाधकत्वेन[२] पूर्ववद् विशः[३]. वृत्तेः चतुर्विधत्वाद् बहुवचनम्. विश ऊरू[४] यस्य इति. एवम् **अङ्घ्रिः श्रितकृष्णवर्णः**[५]. श्रितः कृष्णवर्णो यम्. कृष्णवर्णः = शूद्रत्वं, वेदरहिता विद्या च. कर्म द्विविधं— स्वाभाविकं वैशेषिकञ्च, स्वार्थं परार्थम् इति यावत्. तत्र परार्थं पूर्वम् उक्तं **कर्म गुणप्रवाहः** इति. अत्र तु स्वार्थं **कर्म वितानयोगो** यज्ञविस्तारः. वितानाः = सप्ततन्तु-वितानाः, तेषां योगो यत्र सत्राहीनेषु सः भगवत्कर्म[६].

प्रकाशः

२।५।३५) इत्यनेन तत्सूचनाद् न कोपि सन्देहः इति अर्थः. **ऊरुणः** इति नपुंसकप्रयोगो लिङ्गस्य लोकाश्रयत्वेन अशिष्यत्वाद्[७] ज्ञेयः. "सक्थि क्लीबे पुमान् ऊरुः" (अमरको. २।६।७३) इति कोशे 'सक्थि' इति रूपभेदेन नपुंसकत्वे 'सक्थि'शब्दस्य अवगते 'पुमान् ऊरुः क्लीबे' इति अन्वयादपि सुष्ठु ॥३७॥

लेखः

असङ्गतमेव इति भावः. **अत्र तु रसाधिष्ठात्री देवता वरुणः** इति. रसरूप-जलाधिष्ठातृत्वेन पूर्वम् उक्तत्वाद् वरुणपत्नीनां तद्रसभोक्तृत्वेन ब्राह्मण्यम् उच्यते इति भाति. **पूर्ववद् विशः** इति. मुखादिरूपत्वेन अग्न्यादीनाम् उक्तौ, अन्येऽपि पुनः ब्राह्मण्यादीनां तत्त्वोक्तिः यथा प्रयोजनान्तरसिद्धि-फलिका तथा वितलातलत्वेन उक्तयोरपि ऊर्ध्वो यो(?) वैश्यत्वम् उक्तम् इति अर्थः. **बहुवचनम्** इति. बहुव्रीहिघटक-**विट्**पदेन बहुवचनं वक्तव्यम् इति अर्थः. **सप्ततन्तुर्वितानाः ... सत्राहीनेषु सः** इति, कर्मवितानयोगः इति

---

१. वितलातलरूपस्याऽपि ऊरुणोर्वैश्यत्वमिति ऊरोः द्विःवैश्यत्वमिति वा क. ऊरुणोर्वैश्यत्वमित्येव ग. वितलातलरूपस्याऽपि ऊरोर्वैश्यत्वमिति ख. २. स्थितिसाधकत्वेऽपीति ग. ३. पूर्ववद्विष इति क. पूर्ववद्विशेष इति घ. ४. ऊरु इति क.

५. श्रितः कृष्णवर्ण इति क. ६. भगवत्कर्मा इति क.

७. द्रष्ट. पातं.महाभा. ४।१।१ - सम्पा.

तस्य द्व्यङ्गताम् आह— **नानाभिधाः** नाना-नामानः **इज्यगणाः** देवगणाः पूज्यगणाः तत्राऽपि **अभितः** प्रधान-गुणभावेन तेन **उपपन्नः, द्रव्यात्मकश्च** व्रीहि-यवादिसाध्य-पुरोडाशादिः[१]. देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः ; तत्र देवता द्रव्यञ्च अङ्गम् ॥२९-३७॥

एवं सर्वपदार्थानां भगवत्स्वरूपत्वाय उद्देशप्रकारेण भगवच्छरीरे समावेशनम् उक्त्वा उपसंहरति.

इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः सन्निवेशः कथितो मया ते ॥
सन्धार्यतेऽस्मिन्वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्ध्या न यतोस्ति किञ्चित् ॥३८॥

इयान् असौ इति. **ईश्वरविग्रहस्य** विराड्देहस्य **सन्निवेशः** अवयवविन्यास-प्रकारः **इयान्** एतावानेव, न अधिको विन्यासो अस्ति इति अर्थः. **असौ** अयमेव विन्यासो, नतु अन्योऽपि[२] विन्यासो अस्ति. अथवा **असौ** प्रकृतरूपो[३] विन्यासः **इयान्** एतावान्, आनन्दमयस्यतु अन्यः, सः उत्तरत्र वक्ष्यते. अत्र पदार्थानां विनिवेशस्य[४] उद्देशप्रकरणत्वाद् न अस्माभिः विवरणम् उक्तम्, अग्रे विमर्शे वक्तव्यत्वात्. एवं निवेशकथनस्य[५] प्रयोजनम् आह **सन्धार्यते** इति. **अस्मिन्नेव वपुषि** सर्वैः योगिभिः **मनः सन्धार्यते** योगाङ्ग-धारणा-विषयो अयमेव क्रियते. **स्थविष्ठे** इति पूर्ववत्.

प्रकाशः

इयान् असौ इत्यत्र. प्रथमपक्षे सन्निवेशम् उद्दिश्य इयत्त्वम् अदस्त्वं च इति विधेयद्वयं बोध्यम्. द्वितीयपक्षस्य फलम् आहुः **आनन्द-** इत्यादि.

लेखः

अर्थः. **द्व्यङ्गता** इति. द्वे द्रव्य-देवते अङ्गे यस्य इति सा तथा उक्तः ॥३७॥

इयान् इत्यत्र. **उत्तरत्र** इति, "आसीद् यदुदरात् पद्मम्" (भाग.पुरा. २।८।८) इत्यादिना सृष्टिनिरूपणे **वक्ष्यते** इति अर्थः. **पूर्ववद्** इति,

---

१. पुरोडाशादय इति ख. २. अपिर्नास्ति क. ३. प्राकृतरूप इति ख. प्रकृतिरूप इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा. ४. च इति अधिकम् अत्र सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा. ५. निवेशनकथनस्येति क-ख.

वं = सुखं पुष्णाति इति **वपुः** देहापरपर्यायः. तुल्यार्थत्वाद् अस्याऽपि अर्थः तत्रैव उक्तः. **स्वबुद्ध्या** आत्मबुद्ध्या आत्मरूपत्वेन, अन्यथा सर्वप्रवेशो न स्यात्, परमभक्तिः आकाङ्क्षा भावश्च न भवेत्. फलञ्च भोगो अतिक्रमश्च न भवेत्. एतस्मिन् धारणाविषये जाते ''कुत्र धारणा कर्तव्या, कुत्र न?'' इत्यादिसन्देहाः गच्छेयुः. यतो **न यतो अस्ति किञ्चित्** यस्माद् रूपाद् अन्यद् भिन्नं किमपि नास्ति ॥३८॥

प्रकाशः

आत्मरूपत्वेन इति. ब्रह्माण्डं स्वात्मत्वेन ध्यात्वा तत्र मनः सन्धार्यते इति अर्थः. ननु आत्मत्वेन ब्रह्माण्डध्यानस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. आत्मत्वेन ब्रह्माण्डध्यानाभावे इति अर्थः. **अतिक्रमः** इति चण्डिकादि-धारणातिक्रमः. तथाच एतेषां प्रयोजनानामर्थे[१] आत्मत्वेन ध्यानम् उच्यते इति अर्थः. तदेव विवृण्वते **एतस्मिन्** इत्यादि **गच्छेयुः** इत्यन्तेन ॥३८॥

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व इत्यत्र. ननु राजकृत-प्रश्नसप्तके

लेखः

'' विशेषस्तस्य देहो अयम्'' (श्लो. २४) इति श्लोकोक्त-'स्थविष्ठ'पदवद् इति अर्थः. **तुल्यार्थत्वाद्** इति. देहेन समानार्थकत्वात् तत्रैव श्लोके 'देह'पदव्याख्यानाद् अस्यापि अर्थः उक्तप्रायः इति अर्थः. **अन्यथा** इति, उद्दिष्टानाम् आत्मत्वाभावे इति अर्थः. **प्रवेशः** इति. पातालादीनां तत्तदवयवत्वे अत्र सन्निवेशः. तस्मात् पापदिष्टता[२] तस्य फलति, अन्यजातीयस्य अन्यजातीयावयवत्वेन प्रवेशस्य बाधाद् इति भावः. **परमभक्तिः** इति, एतद्धारणया सा न स्याद् इति अर्थः. **आकाङ्क्षा** धारणाभिलाषः, **भावः** श्रद्धा, **भोगः** भगवत्कर्तृक-भोगः. **अतिक्रमः** इति. आत्मरूपत्वाभावे हृदयमूर्धादिषु स्थित्या अतिक्रमोऽपि सम्भाव्येत, तत्त्वे तु न तथा इति भावः. **एतस्मिन्** इति, सर्वात्मत्वेन अभितः एतस्मिन् इति अर्थः ॥३८॥

---

१. -मपि इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. पापदिष्टाता इति ग.पाठस्तु अशुद्धः. न.पाठे तु एवम् - सम्पा.

साधारणानां पञ्चप्रश्नेषु – कर्तव्यमध्यएव श्रोतव्य-स्मर्तव्ययोः अनुप्रवेशाद्, नामानुकीर्तनेनैव जपस्य उक्तत्वात्, कर्तव्यमध्यएव कर्तव्यस्य प्रवेशाद्, वैकल्पिकपक्षत्वाच्च अन्येषां – भजनीयप्रश्नो अवशिष्यते. तम् आह.

प्रकाशः

आद्यप्रश्नद्वयोत्तरं सोपपत्तिकम् उक्तं, शेषाश्च निन्दिताएव इति भजनविधायकम् इदं पद्यं न सङ्गच्छते इति आशङ्क्य सङ्गतिं विमृशन्ति **साधारणानाम्** इत्यादि. अयम् अर्थः— शुकैः हि ''वरीयान्'' (श्लो. १) इत्यनेन एकं प्रश्नं स्तुत्वा ''तस्माद् भारत'' (श्लो. ५) इत्यारभ्य ''नामानुकीर्तनम्'' (श्लो. ११) इत्यन्तेन चत्वारो अर्थाः उक्ताः. तेन एवं ज्ञायते यत् श्रोतव्यादिगतं साधारण्यमेव परिहरति, स्तुत्यगतम् एकत्वं च एकविषयत्वेन समर्थयति इति. एवं सति ''नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम्'' (भाग.पुरा. २।३।१) इत्यत्र 'नृणाम्' इति साधारण्येन कथनात् तादृशानां **पञ्चप्रश्नेषु** सर्वात्मना **कर्तव्यमध्यएव** उक्तरीत्या चतुर्णां प्रवेशात् ''भजनीयं वा ब्रूहि'' (भाग.पुरा. १।१९।३८) इति राजप्रश्नेन **वैकल्पिकपक्षत्वाच्च भजनीयप्रश्नः** साधारणो अनुत्तरितो **अवशिष्यते. तम् आह** तम् असाधारणत्वेन आह अस्मिन् पद्ये इति. एवञ्च अवसरः प्रसङ्गो वा अत्र सङ्गतिः

लेखः

स सर्वधी इत्यत्र. आभासे. **साधारणानाम्** इत्यादि. ''यत् श्रोतव्यम् अथो जाप्यं यत् कर्तव्यं नृभिः प्रभोः, स्मर्तव्यं भजनीयं वा'' (भाग.पुरा. १।१९।३८) इत्यन्तेन उक्तेषु **पञ्चप्रश्नेषु** मध्ये **श्रोतव्य-स्मर्तव्ययोः** द्वयोः ''तस्माद् भारत'' (श्लो. ५) इत्यनेन सर्वात्मना कर्तव्यत्वेन निरूपणीयेषु श्रवण-कीर्तन-स्मरणेषु **मध्ये अनुप्रवेशाद्**, जपस्य च कीर्तनमध्ये प्रवेशात्, कर्तव्यस्य च श्रवण-कीर्तन-स्मरणेष्वेव अन्तर्भावाद्, म्रियमाणकर्तव्यस्य वा ''अन्तकाले तु पुरुषः'' (श्लो. १५) इत्यादिना उक्तकर्तव्यमध्ये प्रवेशाद् वा ''ब्रूहि यद् वा विपर्ययम्'' (भाग.पुरा. १।१९।३८) इत्यनेन विकल्पोक्त्या गौणत्वसूचनेन तदुत्तरदानस्य च अनावश्यकत्वाद् अतः परं **भजनीयप्रश्नो अवशिष्यते.** तदपि आह इति अर्थः.

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ॥
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नाऽन्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः ॥३९॥

॥ इति श्रीभागवत-द्वितीयस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥

सः सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः इति. यो अत्र धारणाविषयत्वेन उक्तः, 'सर्वात्म'पदेन च श्रोतव्यविषयतावच्छेदक-वाचकेन निरूपितो, यस्य विवरणार्थम् अयं सन्निवेशो निरूपितः, सएव श्रवणादिना भजनीयः. श्रवणादिना भगवत्सन्निधाने गत्वा तत्सायुज्यं वा प्राप्य साक्षात् **तमेव भजेत.** अन्यत्र – फले, साधनान्तरेण, अनेन वा साधनेन – आसक्तः स्वस्थानादपि पतेत्. यस्याम् अवस्थायां तिष्ठति ततोऽपि पतेत्. अनेन "प्रथमं फलार्थं भवतु पश्चात् तदर्थमपि" इत्यपि पक्षो निवारितः. ननु अस्य फलत्वं भजनीयत्वं वा कथं? तत्र आह **आनन्दनिधिम्** इति. भजनीयं फलमेव, साधनस्य पुरुषशेषत्वात्. यद्यपि फलमपि पुरुषशेषः, पुरुषानुभव-विषयत्वाद् अनुभवरूपत्वाद् वा, तथापि रसत्वेन रसप्रधानत्वेनैव भोगे रसिकता भवति

प्रकाशः

इति भावः. मूलस्थयोः **सः** इति **तम्** इति पदयोः पूर्वपरामर्शित्वात् पूर्वं च वपुषः सन्निवेशस्य च उक्तत्वात् तदन्यतरस्य भजनीयत्व-व्युदासाय तदर्थं विवृण्वते **यः** इत्यादि[१] **भजनीयः** इत्यन्तम्. तथाच पुल्लिङ्गेन वपुषः प्रतिबन्धात् **सर्वे**त्यादिविशेषणेन च सन्निवेशप्रतिबन्धाद् "मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" (परिभाषेन्दु.परिभा. १५) इति न्यायाच्च "वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः" (श्लो. २५) इत्यत्र 'यच्'छब्देन यः परामृष्टः सएव 'तच्'छब्दार्थः इति अर्थः. **अत्र** ब्रह्माण्डे. **श्रवणादिना** इति. श्रवण-कीर्तन-स्मरणानां भक्तिलक्षणक-योगस्य च प्रस्तुतत्वात् तैः इति अर्थः. अन्यथा भजनीयत्वे तदुत्तरं पूर्वमेव वदेत्. **भजनीयः** इति पद्यफलितार्थ-कथनम्. तथाच "भजनीयं ब्रूहि" इत्यनेन यः पृष्टः सो अयम् इति अर्थः. एतेन च पूर्वोत्तरार्धयोः सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वत्वात् सएव भजनीयः इति तं भजेत इत्येवंरूपो हेतु-हेतुमद्भावो ज्ञापितः. **तमेव** इति

---

१. इति इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

इति फलं सेव्यम्. तच्च परमानन्दः. सोऽपि न गणनया प्राप्तो ब्रह्मणि स्थितः, परिमितत्वात्, किन्तु आनन्दनिधिः. आनन्दो नितरां धीयते अस्मिन् इति पूर्णानन्दो भगवानेव सेव्यः. आनन्दपोषस्य उक्तत्वात् तस्य तिरोभावम् आशङ्क्य आह **सत्यम्** इति. ननु फलान्तरविषये चित्तसद्भावे किं विधेयम्, "उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते" (भाग.पुरा. ३।२२।१२) इति न्यायात्? तत्र आह **सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः** इति. **सर्वधीवृत्तिभिः** सर्वेषां सर्वज्ञानजनकेन्द्रिय-वृत्तिभिः **अनुभूतं सर्वं** येन. यत्किञ्चित् फलं येन केनचिद् उपभोग्यं तत् तदिन्द्रियद्वारा अनेनैव उपभोग्यम्. अतः स्वरूपतो अस्माद् यथा अन्यद्[1] न अवशिष्यते तथा फलमपि ; एतदनुपभोग्यं फलञ्च न अवशिष्यते. ननु कथम् अस्य भोक्तृत्वं, तत्तदधिष्ठातॄणां विद्यमानत्वात्? तत्र आह **आत्मा यथा** इति. तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातॄणां दिगादीनां विद्यमानत्वेऽपि यथा आत्मा सर्वेन्द्रियानुभूतसर्वः एवं भगवानपि तमपि एकदेशाभिमानिनम् अविगणय्य तेन अधिष्ठितैरेव इन्द्रियैः सर्वम् अनुभवति इति अर्थः. ननु आत्मनः इन्द्रियाधिष्ठातॄणाम् अप्रतीतत्वाद् आत्मीयत्वेनैव

प्रकाशः

एवकारश्च तुरीयचरणार्थ-सङ्ग्राहको ज्ञेयः. **अतः** इति सर्वरूपत्वात्. **फलमपि** इत्यस्यैव विवरणम् **एतद्** इत्यादि. विराडन्तर्वर्तिनो भगवतः सर्वेषां धीवृत्तिभिः जन्यं सर्वानुभवं साधयितुं दृष्टान्तं व्युत्पादयन्ति **तत्र** इत्यादि. तथाच "स्वराड् अस्मदाद्यात्माधिष्ठितेन्द्रियानुभूतसर्वः, अस्मदाद्यधिष्ठित-सर्वेन्द्रिय-स्वामित्वात्, [2]तत्तद्देवाधिष्ठितेन्द्रियस्वामी अस्मदाद्यात्मवद्" इति अनुमानेन

लेखः

व्याख्याने. **गणनया** इति. "ते ये शतं प्रजापतेः आनन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः" (तैत्ति.उप. २।८) इति गणनया प्राप्तो अत्र न विवक्षितः इति अर्थः. **यथा आत्मा** इति, शारीरात्मा इति अर्थः. **आत्मीयत्वेन** इति, स्वसम्बन्धित्वेनैव इति अर्थः. **तस्य** शारीरात्मनः व्यष्टित्वेन

---

१. अन्यत्राऽवशिष्यत इति ख.

२. -न्द्रियस्य अस्म- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

इन्द्रियाणां ग्रहणात् तस्य स्वगृहीत-मात्रानुभवो भवतु नाम, भगवतस्तु समष्टिरूपस्य व्यष्टिषु देहस्थित-कीटेष्विव प्रतीत्यभावाद् आत्मीयत्वाभावाच्च तदिन्द्रियाणां कथं सर्वधीवृत्तिभिः भगवान् अनुभवति? तत्र आह **स्वप्नजनेक्षितैकः** इति. **स्वप्नजनानाम् ईक्षिता** द्रष्टा यथा **एकः**. स्वप्नस्य मायिकत्वेऽपि ज्ञानं न मायिकं, तस्य आत्मरूपत्वात्. तत्र स्वप्नदृष्टाः

प्रकाशः

तथात्वसिद्धिः इति अर्थः. **प्रतीत्यभावाद्** इति अस्मदादि-देहप्रतीत्यभावात्. तथाच "स्वराट् न अस्मदाद्यधिष्ठितेन्द्रियानुभूतसर्वः, समदृष्टित्वेन अस्मदादि-देहप्रतीतिशून्यत्वाद्, देहस्थित-कीटप्रतीति-शून्या-ऽस्मदाद्यात्मवद्" इति. तथाच "स्वराट् न तथा, अस्मदादिदेहानभिमानित्वात्, परदेहानभिमानि-परात्मवद्" इति सत्प्रतिपक्षाद् न तेन स्वराजः तथात्वम् इति अर्थः. **तत्र आह** इति, एवं दोषे प्राप्ते दृष्टान्तान्तरम् आह इति अर्थः. **यथा** इति मूलस्थं देहलीदीपवद् युज्यते. **स्वप्नजनानाम् ईक्षिता** इति, स्वप्नदृष्टजनानां शरीरेषु द्रष्टृत्वेन प्रतीयमानः स्वयम्. ननु स्वप्नस्य मायिकत्वेन तत्रत्यप्रतीतेरपि मायिकत्वेन दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः वैषम्यम् इत्यतः तदभावम् उपपादयन्ति **स्वप्नस्य** इत्यादि. **स्वप्नस्य** सन्ध्यसृष्टेः **मायिकत्वेऽपि ज्ञानं** तद्विषयकं **न मायिकम्**. तत्र हेतुः **तस्य** स्वाप्नज्ञानस्य **आत्मरूपत्वाद्** ज्योतिर्ब्राह्मणे "आत्मज्योतिरेव अयम्" (बृहदा.उप. ४।३।६) इति प्रतिज्ञाय "अत्र अयं स्वयञ्ज्योतिः भवति" (तत्रैव ११) इति उपसंहारेण तस्य आत्मरूपत्वबोधनं क्रियते तस्मात्. एतेन स्वप्नस्य स्मरणरूपत्वं वदन्तोपि प्रत्युक्ताः वेदितव्याः, अस्मिन् ज्योतिर्ब्राह्मणे स्वप्नस्य "तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन् उभे स्थाने पश्यति" (तत्रैव ९) इति स्थानत्वेन प्रयोगाद्

लेखः

स्वगृहीतेति स्वात्ममनःसंयुक्तेन्द्रियगृहीत-**मात्रानुभवो भवतु नाम, भगवतस्तु समष्टिरूपस्य व्यष्टिषु प्रतीत्यभावाद्** इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तः **देहस्थितेति**. शारीरात्मनः स्वदेहोपष्टम्भकत्वेन कट्यादिषु स्थितः कीटविषयकप्रतीत्यभावो यथा इति अर्थः. **आत्मीयत्वाभावाच्च** इति, किन्तु आत्मारूपत्वमेव इति भावः. व्यष्टिदेहस्थे**न्द्रियाणाम् आत्मीयत्वाभावाच्च कथं सर्वेन्द्रियधी-**

पुरुषाः सर्वं पश्यन्ति इति प्रतीतिः अस्ति. तत्र पुरुषदेहानां मायिकत्वं न्यायसिद्धं तथापि तन्निष्ठा या प्रतीतिः सा न मायिकी. तत्र चैतन्यान्तराभावाद् भगवतो वा जीवस्य वा चैतन्यं भवति. स्वस्याऽपि द्रष्टृत्वाभावाद्, इन्द्रियाणां

प्रकाशः

इति. ननु अस्तु [१]तज्ज्ञानस्य सत्यत्वं तथापि स्वप्नस्य मायिकत्वेन तत्र प्रतीतस्य ईक्षितुः मायिकत्वात् तद्दृष्टान्तेन कथं प्रकृतिसिद्धिः इत्यतः तद् उपपादयन्ति **तत्र** इत्यादि. **तत्र** स्वाप्ने ज्ञाने **स्वप्नदृष्टाः पुरुषाः पश्यन्ति इति प्रतीतिः अस्ति** पुरुषादिप्रतीतिवत् तन्निष्ठ-ज्ञानविषयिण्यपि प्रतीतिः अनुव्यवसायइव जायते. **तत्र** स्वप्नदृष्ट-पुरुषनिष्ठ-ज्ञानविषयिण्यां प्रतीतौ **पुरुषदेहानां मायिकत्वं न्यायसिद्धं** मायामात्रं तु "कात्स्न्र्येनानभिव्यक्त-स्वरूपत्वाद्" (ब्रह्मसूत्र ३।२।३) इति सूत्रसिद्धं **तथापि** न्यायरीत्यापि **तन्निष्ठा या प्रतीतिः** 'पश्यन्ति' इत्याकारिका **सा न मायिकी.** सूत्रे हि "कात्स्न्र्येनानभिव्यक्त-स्वरूपत्वाद्" इति हेतुः उक्तो मायिकत्वे. तथा अनभिव्यक्तिश्च देहादेरेव, प्रतीतिस्तु ज्ञानत्वेन रूपेण कात्स्न्र्येन अभिव्यज्यतएव इति न मायिकी ; आत्मरूपत्वात् च न मायिकी. ननु सा प्रतीतिः देहान्तर्निष्ठत्वेन प्रतीयते, तेषां च मायामात्रत्वेन तेषु चैतन्याभावाद् आत्मरूपत्वस्य दुर्घटत्वेन कथं न मायिकी इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र** 'पुरुषाः पश्यन्ति' इति प्रतीतौ **चैतन्यान्तराभावात्** स्वप्नदृष्ट-पुरुषदेहानां मायिकत्वेन ऐन्द्रजालिक-देहेष्विव जीवान्तरस्य अभावाद् **भगवतो वा जीवस्य वा चैतन्यं भवति** इति, भगवदात्मरूपा स्वप्नदृष्ट-जीवात्मरूपा वा सा भवति इति न मायिकी इति अर्थः. ननु सम्भवति एवं, परं द्रष्टुः सन्दिग्धत्वेन निर्वक्तुम् अशक्यतया तस्याअपि कात्स्न्र्येन अभिव्यक्त्यभावाद् न अमायिकत्वं निश्चेतुं शक्यम् इत्यतः आहुः **स्वस्यापि** इत्यादि. **स्वस्य** स्वप्नद्रष्टुरपि

लेखः

वृत्तिभिः भगवान् अनुभवति इति अर्थः. **स्वस्यापि** इति, जीवस्यापि इति अर्थः. कथं दृष्टृत्वाभावः इत्यतः आहुः **इन्द्रियाणाम्** इत्यादि. ननु

---

१. ज्ञानस्य इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

गोलकाभावेन प्रदर्शनासामर्थ्याद्, गोलकस्य[१] च स्वाप्नस्य च मिथ्यात्वाद्, भगवानेव पश्यति इति युक्त्या अध्यवसीयते. निद्रावशाच्च तेन सह भेदो न स्फुरति. तथा अन्यत्रापि सएव पश्यति इति अध्यवसीयते स्वप्नदृष्टान्तेन[२].

प्रकाशः

"तथाभिमानाभावे स्वाप्निकदेहेषु द्रष्टृत्वेन प्रतीतः मदात्मा न भवति, तद्देहाभिमानित्वाद्, यस्य यद्देहानभिमानित्वं तस्य न तदात्मत्वं, मद्देहानभिमान्यात्मान्तरवद्" इति अनुमानेन द्रष्टृत्वाभावात्. नापि इन्द्रियाण्येव पश्यन्ति इति शङ्क्यम्, **इन्द्रियाणां गोलकाभावेन प्रदर्शनासामर्थ्यात्** "पराञ्चि खानि" (कठोप. २।१।१) इति श्रुतेः पराचाम् इन्द्रियाणाम् अन्तःगोलकाभावेन अनाधाराणां प्रदर्शनसामर्थ्याभावात्. नच स्वाप्नेन गोलकेन सामर्थ्यसिद्धिः इति शङ्क्यं, **स्वाप्नस्य च गोलकस्य मिथ्यात्वात्**. एवं निवृत्ते जीवस्य इन्द्रियाणां च द्रष्टृत्वे **भगवानेव पश्यति इति युक्त्या अध्यवसीयते** "तेषु तथा प्रतीतः अन्यो जीवात्मा न भवति, तदनभिमानित्वाद्, मदात्मवद्" इति अनुमानेन जीवमात्रनिवृत्तौ "तत्र तथा प्रतीतः स्वराडेव, सर्वात्मत्वाद्, यद् न एवं तद् न एवं मदात्मवद्" इति अनुमानरूपया परिशेषरूपया च युक्त्या निश्चीयते. तथाच एवं निरुक्ते द्रष्टरि तस्याः कात्स्न्याभिव्यक्तिसिद्ध्या मायिकत्वाभावाद् न दृष्टान्तवैषम्यम् इति अर्थः. ननु भगवान् चेत् पश्येत् तदा स्वाप्नपुरुषवत् सोपि कथं न प्रतीयते, अतो न एवम् इत्यतः आहुः **निद्रे**त्यादि. निद्रा हि रजःसहितस्य तमसः उद्रेकात् प्रवर्तमानो बुद्धिवृत्तिविशेषः, तद्**वशात् तेन** भगवता **सह** तेषां **भेदो न स्फुरति,** यथा स्वाप्यये, उभयत्रापि तमोभिभवस्य तौल्यात्.

लेखः

तर्हि "अहं राजा अस्मि", "सेवको अस्मि" इत्यादि कथं स्वात्मविषयक-प्रतीतिः? अतः आहुः **निद्रावशाद्** इति. **तेन सह** इति भगवता सह. **स्वस्वदृष्टान्तेन** इति, स्व-स्वदेहावच्छिन्नात्मप्रत्ययदृष्टान्तेन

---

१. स्वाप्नस्य च गोलकस्य मिथ्यात्वाद् इति पाठः प्रकाशे - सम्पा.

२. स्वदृष्टान्तेनेति ख. स्वस्वदृष्टान्तेन इति लेखे - सम्पा.

ततः तेषु देहेषु जीवसद्भावे असद्भावे वा भगवानेव द्रष्टा इति निश्चीयते. तस्य च अस्मदिन्द्रियगोलकापेक्षा नास्ति, देवतानामेव गोलकत्वात्, विषयस्य च इन्द्रियत्वात्, विषये च अस्मदादीन्द्रियलयात्. कारणलयपक्षेऽपि वासनया

प्रकाशः

तथाच तदप्रतीतिमात्रेण तस्याः द्रष्टृत्वं न वक्तुं शक्यम् अतः तत्र सएव प्रतीतिनिश्चयो निर्बाधः इति अर्थः. अत्र पूर्वदृष्टान्तस्यापि सङ्ग्रहाद् जीवस्य द्रष्टृत्वं न निषिध्यते किन्तु भगवतोपि साध्यते इति बोध्यम्. एवम् एकत्र स्वप्ने द्रष्टृत्वं भगवतः समर्थयित्वा अन्यत्रापि अतिदिशन्ति **तथे**त्यादि. अध्यवसायप्रकारस्तु व्याख्यातएव. तदेतद् निगमयन्ति **ततः** इत्यादि. **ततः** इति परिशेषात्. ननु✲ अस्तु द्रष्टा, तथापि साक्षित्वेन वा इन्द्रियैः वा इति विचारणीयम्. तत्र न आद्यः, प्रतिज्ञाविरोधात् प्रकृतानुपयोगाच्च. न द्वितीयः, करणसामग्र्यभावात्. अतो ✲न अनेन प्रकृतसिद्धिः इति शङ्कायाम् आहुः **तस्य च** इत्यादि. तथाच "नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणं च गन्धः" (श्लो. २९) इत्यादिभिः तस्य करणसामग्र्याः उक्तत्वेन तत्करणेषु अस्मदिन्द्रियाणां श्लेषे स्वस्यैव करणसामग्र्या पश्यन् अस्मदिन्द्रियैः पश्यति इति न प्रतिज्ञाविरोधः, नापि प्रकृतानुपयोगः इति अर्थः. ननु✲ लयवादिनां मते इन्द्रियाणां कारणएव लयो अङ्गीक्रियते. "इन्द्रियाणि स्वयोनिषु" (भाग.पुरा. ११।२४।२४) इति पुराणवाक्येऽपि लयभावनायां तथाङ्गीकाराच्च. अतः तदिन्द्रियेषु अस्मदिन्द्रियलयाभावाद् "अस्मदिन्द्रियैः पश्यति" इति असङ्गतम् ✲इति आशङ्कायाम् आहुः **कारणलये**त्यादि. किम् अत्र इन्द्रियकारणत्वेन विवक्षितं, भूतानि वा मात्रा वा भूतादिः

लेखः

इति अर्थः. ननु गोलकाभावे कथं तत्तद्विषयं तत्तद्रूपेण गृह्णाति? इत्यतः आहुः **तस्य च** इति. **देवतानामेव** इति. इदम् उपपादितम् "इन्द्रादयः" (श्लो. २९-३७) इति श्लोके. **विषये च अस्मदादीन्द्रियलयाद्** इति. अस्मदादीन्द्रियाणां संश्लिष्टत्वाद् इति अर्थः. तथाच एवम् अस्मदिन्द्रियैः पश्यति इति युक्तमेव इति भावः. ननु "इन्द्रियाणि स्वयोनिषु" इति स्वकारणे तेनैव तेजसाहंकारेएव लयो वाच्यः इत्यतः आहुः **कारणे**ति.

तत्र विषयसद्भावात्[१]. कारणस्य अलये लीनानामपि प्रकाशसम्भवाद् लयाङ्गीकारे गौरवाच्च विषयएव लयो अङ्गीकर्तव्यः. अन्यथा निद्रायाः अव्यवधायकत्वात् पुनः उद्बोधः कथं क्रियेत[२]! अहङ्कारस्तु आत्माध्यासरूपः

प्रकाशः

वा तैजसो वा? तत्र पुराणवाक्योक्त-बहुवचनानुरोधाद् आद्यविकल्पद्वयोक्ताऽन्यतराङ्गीकारे तु विषये लयो निर्विवादः. बहुवचनम् अनादृत्य तृतीयाङ्गीकारेऽपि तत्र सूक्ष्मरूपेण मात्रासद्भावात् तथा. अथ तुरीयो अवशिष्यते. तत्र लयपक्षेऽपि वैकारिककार्ये मनसीव इन्द्रियकारणे तैजसोऽपि विक्षेपस्य रजोजन्यत्वेन वासनोत्पत्तेः तौल्ये **वासनया तत्र विषयसद्भावात्** तेष्वेव लयः इति अर्थः. ननु कारणे लयपक्षेऽपि तेष्वेव लयः इत्यत्र किं मानम् इति शङ्कायाम् आहुः **कारणस्ये**त्यादि. तस्य विक्षेपकत्वात् **तदलये** तत्र **लीनानाम्** इन्द्रियाणां विक्षेपेण विषय**प्रकाशसम्भवात्** तस्यापि **लयाङ्गीकारे** उभयलयाङ्गीकारापातेन **गौरवाच्च** तथा अङ्गीकार्यः. तथाच लाघवानुगृहीतं प्रकाशाभावप्रत्यक्षमेव विषयेषु इन्द्रियलये मानम् इति अर्थः. ननु शास्त्रानुग्रहाद् फलमुखम् इदं गौरवं न दोषाय इति चेत्, तत्र आहुः **अन्यथे**त्यादि. तैजसस्य लयाङ्गीकारे तत्र[३] निद्राव्यवधायकत्वाभावेन

लेखः

वासनया इति. ... . **प्रकाशसम्भवाद्** इति. तथाच स्वप्नेऽपि इन्द्रियप्रकाशापत्त्या कारणलयोऽपि कर्तव्यत्वेन आपतति. तथाच उभयलयाङ्गीकारे गौरवम् इति अर्थः. तथापि कारणलयो न वक्तुं शक्यते इत्यतः आहुः **अन्यथा** इति. विषये लयानङ्गीकारे इति अर्थः. अयम् अर्थः— विषये लयानङ्गीकारे कारणएव लयोऽङ्गीकर्तव्यः. उक्तदोषपरिहाराय कारणस्यापि लयो वाच्यएव. एवञ्च तेजसाहङ्कारस्य निद्राविच्छेदकस्य अभावात् **पुनरुद्बोधः कथं** स्याद् इति! ननु अहङ्कारलये जागृदवस्थावत् प्रत्ययः स्याद् इत्यतः आहुः **अहंकारस्तु** इति ॥३९॥

॥ इति द्वितीयस्कन्धे प्रथमाध्यायार्थः ॥

---

१. -सम्भवादिति ख. २. क्रियते इति ख. ३. तस्य इति मा.पाठः - सम्पा.

इन्द्रियवद् लीयते, नतु इन्द्रियकारणभूतः. तथा सति पुनः सृष्ट्यभावाद् न उत्पद्येरन्! अतो विषयलीनानि इन्द्रियाणि भगवदिन्द्रियलीनानि भवन्ति.

प्रकाशः

तस्याः निवृत्त्यसम्भवात् **पुनर्जागरणं कथं क्रियेत** तामस-वैकारिकयोः अचञ्चलत्वेन अविक्षेपकत्वात् केन प्रकारेण क्रियेत! तथाच जागरणान्यथानुपपत्त्या तैजसस्य न लीनता, तदलये च विषयप्रकाशापत्तिरिति तदभावान्यथानुपपत्त्या विषयएव लयो अङ्गीकार्यः इति अर्थः. ननु सुषुप्तौ अहंवित्तेः अभावाद् अहङ्कारलयः प्रत्यक्षानुभवसिद्धइति तल्लयकृतं गौरवं न दोषाय इत्यतः आहुः **अहङ्कारः** इत्यादि. सत्यं, तल्लयो अनुभवसिद्धः, परं सोऽहङ्कारो भिन्नः **आत्माध्यासरूपः,** नतु इन्द्रियजनकइति तेन अनुभवेन एतस्य गौरवस्य प्रामाणिकत्वं न आपादयितुं शक्यम् इति अर्थः. ननु विवेचकस्य अभावाद् अहंवित्तौ सर्वएव भासन्तइति सोऽनुभवः सर्वाहङ्कारलयबोधकइति न तस्य गौरवस्य अप्रामाणिकत्वम् इत्यतः आहुः **तथा सति** इत्यादि. विक्षेपस्य[१] तस्यापि लये सति प्रलयदशायामिव सुषुप्तावपि **पुनः सृष्ट्यभावाद्** इन्द्रियाणि पुनः **न उत्पद्येरन्** इति जागरएव न[२] स्याद्, जागरे वा ऐन्द्रियकज्ञानमेव न स्यात्! अतो जागरितज्ञानानुरोधाद्[३] विवेकः आवश्यकइति तल्लयगौरवम् अप्रामाणिकमेव इति अर्थः. नच कालस्य क्षोभकत्वात् ततः[४] तैजसोद्बोधे पुनः सृष्ट्युपपत्तेः तल्लयो न अप्रामाणिकः इति वाच्यं, तथा सति एकस्य जागरे अन्येषामपि जागरणप्रसङ्गात्, कालस्य साधारणत्वात्. अतः तन्नियामकत्वेन अस्य स्थितिः आवश्यकी. इदमेव हृदिकृत्वा आहुः **अतो विषयेत्यादि. अतः** इति. कारणपक्षस्य उक्तरीत्या दुष्टत्वाद् विषयएव लयो युक्तः इति अर्थः. नच ''इन्द्रियाणि स्वयोनिषु'' (भाग.पुरा. ११।२४।२४) इति भगवद्वाक्यविरोधः, तस्य प्रलयसामयिकदशा-भावनविषयत्वेन स्वापविषयत्वा-

---

१. विक्षेपकस्य इति मा.पाठः -सम्पा. २. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति -सम्पा. ३. जागरिताज्ञान- इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् -सम्पा. ४. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति -सम्पा.

अतः स्वप्नद्रष्टुः[१] विचारे क्रियमाणे यथा सर्वं व्याप्य सर्वेषाम् आत्मा भूत्वा सर्वं पश्यति इति निश्चयः एवं जागरणावस्थायामपि तत्तद्विषये प्रविष्टानि इन्द्रियाणि भगवदिन्द्रियप्रवेशाद् भगवज्ज्ञानसाधकानि भवन्ति. अन्यथा

प्रकाशः

भावात्. एतेन "बहिरिन्द्रियजन्यज्ञानं प्रति तत्तदिन्द्रिय-मनःसंयोगत्वेन जागरे कारणता, हितावच्छिन्नात्म-मनःसंयोगत्वेन च स्वप्ने कारणता" इत्येवं कार्य-कारणभावद्वयम् अङ्गीकृत्य स्वप्नं साधयन्तः[२] इन्द्रियलयम् अनङ्गीकुर्वन्तो नैयायिकाअपि प्रत्युक्ताः, दृप्तबालाकिब्राह्मणे "तद् एषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय" (बृहदा.उप. २।१।१७) इत्यादिना श्रावितस्य अर्थस्य विरोधात्, तत्र आदानकथनेन 'प्राण'शब्दवाच्येन्द्रियाणां स्व-स्वस्थानत्यागबोधनात् तत्तद्विधलोहितभृतासु नाडीषु लयबोधनाद् इति. सिद्धम् आहुः **अतः स्वप्ने**त्यादि. **प्रविष्टानी**ति इन्द्रियभावेन सम्बद्धानि. तथाच "स्वराड् अस्मदादि-सर्वेन्द्रियवृत्तिभिः सर्वम् [३]अनुभवति, अस्मदादि-सर्वेन्द्रियाधिष्ठातृत्वात्, स्वाप्न-सर्वदेहाद्यधिष्ठातृ-स्ववद्" इति अनुमानेन तथात्वसिद्धिः इति अर्थः. ननु* स्वप्ने स्वाप्नसृष्टेः विषयत्वाद् भवतु द्रष्टृत्वं, जाग्रति तु विषये प्रविष्टानाम् इन्द्रियाणां भगवदिन्द्रिये[४] प्रविष्टत्वे स्वप्नावस्थायामिव इन्द्रियकोटिनिवेशेन विषयभावाभावाद् दृश्याभावेन पूर्वोक्तद्रष्टृत्वं न सुघटम्. यदि च लयाभावाद् इन्द्रियकोटौ अनिवेशः तदापि विषयतयैव संयुक्तानि इति भगवतो अस्मदिन्द्रियापेक्षापि नास्ति इति तदिन्द्रियकरणकं तस्य ज्ञानं भविष्यति, नतु अस्मदिन्द्रियकरणकम्. अतोऽपि तथात्वं दुर्घटम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथा** इति. स्वाप इव इन्द्रियभावत्यागेन[५] प्रवेशे विषयाभावाद् न किमपि गृह्णीयाद् इति सत्यं, परन्तु जाग्रद्दशायां तैः विषयग्रहणस्य अनुभूयमानत्वेन तेषाम्

---

१. स्वप्नदृष्टेति क. स्वप्नद्रष्टृविचारे इति घ. २. साधयन् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा. ३. भवति इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

४. -न्द्रियप्रवि- इति मा.पाठः - सम्पा.

५. -याभाव- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

भगवतः इन्द्रियातिरिक्तस्य विषयस्य अभावात् किं गृह्णीयात्? तत्र इन्द्रिये सम्बद्धम्[१] आत्मानं गृह्णन्नपि वेद्यत्वाकाङ्क्षायाम् आत्मनो अवेद्यत्वात् परेन्द्रियवेद्यत्वेन इन्द्रियस्यैव वेद्यत्वं सम्भवति. अतोऽपि अस्मदिन्द्रियापेक्षा. सच सर्वत्र **एकः**, भेदकप्रमाणाभावात्, स्वप्नदृष्टान्तेन व्यावर्तकानाम् अव्यावर्तकत्वात्. अतः तेनैव सर्वभोगसिद्धौ **(अन्यत्र न सज्जेद्!)** पुनः यत्नान्तरेण भोगो न साधनीयः. **(यतः!) आत्मनः पात**सम्भवाच्च.

प्रकाशः

इन्द्रियभावात्यागनिश्चयात् तेषाम् इन्द्रियत्वेनैव प्रवेशइति तान्यपि इन्द्रियत्वेनैव अधितिष्ठति. एतावान् परं विशेषः — स्वप्ने तानि स्वेन्द्रियत्वेन गृह्णाति, जाग्रति तु परेन्द्रियत्वेन इति. एवं सति स्वप्ने स्वेन्द्रियैः स्वाप्नसृष्टिम् अस्मदाद्यात्मानं च पश्यति, जाग्रति तु अस्मदिन्द्रियाणि अस्मदात्मानं च. अस्मदिन्द्रियैस्तु स्वेन्द्रियरूपान् विषयानेव, नतु अस्मदात्मानमपि, परात्मनः परेन्द्रियाऽवेद्यत्वाद् इति. तदेतद् उक्तं **तत्र इन्द्रिये**त्यादिना. **आत्मानम्** इति अस्मदात्मानम्. **इन्द्रियस्ये**ति स्वेन्द्रियरूपस्य विषयस्य. **एक**पदं विवृण्वन्ति **स च** इत्यादि. **स्वप्ने**त्यादि. स्वप्ने यथा स्वस्य स्वाप्नपुरुष-देहाद्यनभिमानित्वं तथा तत्तद्देहाद्यभिमानित्वेऽपि सर्वानभिमानित्वेन [२]अव्यावर्तकत्वाद् इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. **तेनैव** इति स्वात्मतया ब्रह्माण्ड-पुरुषाऽभेदध्यानेनैव.

---

१. सम्बद्ध आत्मानमिति क.

२. व्यावर्तकत्वाद् इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

देहस्थित-कीटेषु तु स्वस्य सर्वात्मभाव-तिरोभावाद् जीवत्वाद् वा न स्फुरणम् इति सर्वम् अविवादम् ॥३९॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे प्रथमो अध्यायः

प्रकाशः

ननु व्यावर्तकानां चेद् अव्यावर्तकत्वं तदा देहस्थित-कीटेन्द्रियादिजन्यं ज्ञानम् अस्माकमपि स्याद् इत्यतः आहुः देहेत्यादि. तथाच सर्वात्मभावे जाते ब्रह्मभावेन अभेदस्य भानाद् जीवत्वे वा निवृत्ते वामदेव-शुकादिवत् स्यादेव इति न कोऽपि विवादलेशः इति अर्थः ॥३९॥

॥ इति श्रीमद्द्वितीयस्कन्ध-सुबोधिनीप्रकाशे प्रथमाध्यायविवरणं सम्पूर्णम् ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

मानमेयविनिर्धारस्तत्त्वार्थं विनिरूपितः ॥
फलसाधननिर्धारो द्वितीये विनिरूप्यते ॥(१)॥
द्विविधस्तत्त्वनिर्देशो बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥
बाह्यो निरूपितस्तत्र मानमेयपुरस्सरम् ॥(२)॥
आन्तरं भिन्नमार्गेण फलसाधनबोधतः ॥
अतः साधननिर्धारः प्रथमं क्रियते स्फुटः ॥(३)॥
पश्चात् फलस्य निर्धारस्ततस्तत्त्वं फलिष्यति ॥

प्रकाशः

अथ द्वितीयाध्यायविवरणं चिकीर्षवः तयोः पौर्वापर्ये बीजस्य अनुक्तत्वात् तं वक्तुं पुनः तदर्थम् अनुवदन्ति **मानेत्यादि**. **तत्त्वार्थम्** इति वस्तुनो अनारोपितरूपस्य निर्धारार्थम्. इदम् उत्तरार्धेऽपि युज्यते, तेन एककार्यत्वरूपा सङ्गतिरपि स्मारिता (१).

बीजम् आहुः **द्विविधः** इत्यादि. **तत्त्वस्य** श्रोतव्यस्य ध्येयस्य च वस्तुनो **निर्देशो** लौकिकबुद्धि-विषयीकरणं **द्विविधः बाह्याभ्यन्तरभेदतः** द्विप्रकारकम्. **तत्र** तयोः प्रकारयोः मध्ये **मान-मेयपुरःसरं** – श्रुतिमूलक-तदविरुद्धयुक्तिः योगसाधितं मनश्च इति मानं, क्षरावयवविन्यासो मेयं, तदुभयकथनपूर्वकं – **बाह्यो** निर्देशः पूर्वाध्याये **निरूपितः** आन्तरज्ञानस्य बाह्यज्ञानाधीनत्वाद् उक्तः. तथाच उपोद्घातगर्भा हेतुता पूर्वापरभावे बीजम् इति अर्थः (२).

ननु पूर्वाध्याये योगः उक्तः सः सर्वगमकः ; तथा विषयः सर्वात्मकः

लेखः

अथ द्वितीयाध्यायं विवरिषवः प्रसङ्गसङ्गतिं वदन्तः पूर्वोक्तं स्मारयन्ति **मानमेय** इत्यादि. **बाह्यः** इति. **मानमेयपुरःसरं बाह्यः तत्त्वनिर्देशो निरूपितः, आन्तरं भिन्नमार्गेण** अत्र अध्याये उच्यते इति अर्थः. अस्यैव अर्थकथनं **फलसाधनबोधतः** इति. **प्रथमम्** इति फलनिरूपणतः प्रथमम् (१-३ १/२).

एवं पूर्वाध्याये सर्वेषां वस्तूनां प्रमाणतः प्रमेयतश्च तत्त्वं निर्धारितम्. भिन्नतया प्रतीतानामपि भगवति प्रवेशाद् भगवतो द्रष्टृत्वाच्च प्रसङ्गाद् भगवतः साधनत्वं फलत्वञ्च उक्तम्. तथापि बाह्यत्वाद् न तयोः तत्त्वनिर्धारः. इदानीं सर्वेषां केन रूपेण साधनता केन रूपेण च फलता इति विचार्यते. तत्र त्यागविषयत्वेन साधनता अवान्तरफलत्वेन च फलता इति सर्वपरित्यागेन जीवस्वरूपस्य साधनत्वं ब्रह्मस्वरूपस्य च फलत्वं निर्धारितं भविष्यति. तत्र पूर्वोक्तफलस्य साधनस्य वा प्रकृतोपयोगं वक्तुं वैराग्यशेषत्वेन तदुपयोगम् आह.

॥ श्रीशुकः उवाच ॥

एवं पुरा धारणयाऽऽत्मयोनिर्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुद्ध्य तुष्टात् ॥
तथा ससर्जेदममोघदृष्टिर्यथाऽप्ययात् प्राग् व्यवसायबुद्धिः ॥१॥

प्रकाशः

उक्तः. एवं सति किं वा अज्ञातं किं वा आन्तरम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **आन्तरम्** इत्यादि. यद्यपि योगमार्गेण सर्वं ज्ञातं तथापि "यन्न योगेन" (भाग.पुरा. ११।१२।९) इत्यादि वाक्यात् तदगोचरं तदप्राप्यं च **भिन्नमार्गेण** भक्तिमार्गेण **फल-साधनयोः बोधतः** बोधनात् तद् वर्तते. **अतः प्रथमं साधनस्य** ततः **फलस्य** च निश्चयः क्रियते. **ततः** ताभ्यां कृत्वा पूर्वोक्तयोरपि साधन-फलयोः **तत्त्वं** वक्ष्यमाण-साधन-फल-शेषतात्मकं वास्तवं रूपं **फलिष्यति** लौकिक्याअपि बुद्धेः विषयीभविष्यति. तथाच यथा एतज्ज्ञानार्थं तत्कथनं तथा तत्तत्त्वनिर्धाराय एतत्कथनम् इति परस्परसाकाङ्क्षत्वात् प्रकरणैक्यम् अध्यायपौर्वापर्यं च युक्तम् इति अर्थः (३ १/२).

एतदेव विशदीकुर्वन्ति **एवम्** इत्यादि. **तयोः** इति साधनत्व-फलत्वयोः. **तत्र** इति विचारे क्रियमाणे. एवम् अध्यायार्थं विशदीकृत्य व्याख्यातुम् आरभन्ते **तत्र** इत्यादि. **तत्र** इति, एवम् अध्यायार्थे निर्धारिते.

एवं पुरा इत्यत्र. अत्र केचन व्याख्यातारो **नष्टां स्मृतिं धारणया प्रत्यवरुध्य तथा ससर्ज** इति योजयन्ति, तत्तात्पर्यम् आहुः **तथे**त्यादि. सृष्टिसामर्थ्यं धारणाफलं, नष्टस्मृति-प्रत्यवरोधो व्यापारः इति तदभिप्रायः

एवं पुरा इति. तथासामर्थ्यं फलम् इति केचित्. तद् ब्रह्मणः स्वतःसिद्धत्वाद् नष्टस्मृतेः प्रत्यवरोधवचनाच्च विचारणीयम्. **नष्ट**पदेन च सर्वथा नाशे पुनः तुष्टेन भगवता तत्सम्पादने तोषहेतुत्वमेव भवेत् नतु सामर्थ्यहेतुत्वमपि, अन्यथासिद्धत्वात्. अत्रतु पूर्वविस्मृतोद्बोधहेतुत्वे दृढवैराग्य-हेतुत्वं भगवत्तोषे वा सर्वहेतुत्वम् इति प्रथमं तदेव उच्यते. **पुरा** दैनन्दिनप्रलयानन्तरम् **एवं धारणया** पूर्वकल्पे या **स्मृतिः** पदार्थनिर्माणज्ञानं तत् **प्रत्यवरुद्ध्य** पुनः **ससर्ज** इति सम्बन्धः. **तुष्टाद्** इति हेतौ पञ्चमी ; तुष्टाद् भगवतः सकाशाद् भगवतो हेतुभावाद् वा यथा पूर्वं तथा ससर्ज.

प्रकाशः

इति अर्थः. तद् दूषयन्ति **तद**दित्यादि. ब्रह्मणः सृष्टिसामर्थ्यस्य ब्रह्मत्वादेव सिद्धत्वाद् अत्र स्मृतिप्रत्यवरोधस्य फलत्वेन कथनाच्च तत् तेषां मतं चिन्त्यम् इति अर्थः. ननु विद्यमाने सामर्थ्ये [१]धारणाप्रयोजनाभावाद् नष्टस्मृति-प्रत्यवरोधस्य व्यापारत्वेन फलत्वस्य अङ्गीकाराच्च मूलसङ्गतौ किमिति विचार्यत्वम् उच्यते इति? तत्र आहुः **नष्टे**त्यादि. **सर्वथा नाशे** इति संस्काररूपस्यापि नाशे. **तोषहेतुत्वम्** इति धारणायाः तथात्वम्. तथाच तोषस्य व्यापारतायाः स्मृतिप्रत्यवरोधस्य च फलतायाः आपत्त्या धारणायाः तत्रैव उपक्षयेण सामर्थ्यपर्यन्त-धावनाक्षमत्वाद् विचार्यत्वम् इति अर्थः. तर्हि किम् अत्र विवक्षितम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अत्र तु** इत्यादि. **तद**दिति स्मृतिप्रत्यवरोधनम्. तथाच समभिव्याहारवशाद् एवं विवक्षितं निश्चीयते इति अर्थः. ननु स्मृतिनाशवत्[२] सामर्थ्यकौण्ठ्यस्यापि शक्यवचनत्वाद् धारणायाः तोषहेतुत्वाङ्गीकारे को दोषः, श्लोके छन्दोऽनुरोधस्य आवश्यकत्वेन समभिव्याहारस्य अप्रयोजकतया पार्ष्णिकान्वयस्यैव बलवत्त्वाद् इति शङ्कायाम्

लेखः

एवम् इत्यत्र. **तथासामर्थ्यम्** इति, सृजनसामर्थ्यम् इति अर्थः. **विचारणीयम्** इति, चिन्त्यम् इति अर्थः.

---

१. धारणप्र- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. स्मृतिनाशे सामर्थ्य- इति कि.पाठः - सम्पा.

तोषे पूर्वज्ञानमेव हेतुः. यथा कश्चित् कञ्चन पदार्थं सङ्गोप्य बालके व्यामोहिते सः चेद् उपायेन तज्जानीयात् तदा सन्तुष्टो भवेत् पितृत्वात् तथा स्वस्याऽपि सृष्टेः पूर्वं भगवन्निकटे स्थितत्वाद् भौमभोगार्थम् आगतस्य तद्विस्मरणाद् उपायेन तत्स्मरणे[१] सन्तुष्टः ''सखास्वरूपं प्रापयेद्'' इति. मुख्यं साधनं पूर्वोक्तधारणैव. तोषसाधनपक्षेऽपि ''तुष्टेतु तत्र किम् अलभ्यम्'' (भाग.पुरा. ७।६।२५) इति न्यायेन अन्यत् सर्वं सुगमं भविष्यति इति तद् अवश्यं साधनं कर्तव्यम्. सृष्टिसामर्थ्यन्तु अप्रयोजकं, परम् अधिकारित्वेन

प्रकाशः

आहुः **तोषे** इत्यादि. तद् उपपादयन्ति **यथा** इत्यादि. अत्र भगवन्निकटे स्थितिः सुषुप्तौ सत्सम्पत्त्या बोध्या. **तद्विस्मरणाद्** इति पूर्वकल्पीय-पदार्थादि-विस्मरणात्. **सखा** इति. ''यावत्सखा सख्युरिव'' (भाग.पुरा. २।९।२९) इति वक्ष्यमाणरीत्या समानशीलः सन्. **मुख्यं साधनम्** इति स्मृतिप्रत्यवरोधस्य मुख्यं साधनम्. ननु समभिव्याहाराग्रहेण प्राञ्जलान्वयाङ्गीकारेऽपि तोषस्य सृष्टिहेतुना प्राप्त्या सामर्थ्यकौण्ठ्यस्य अर्थात्सिद्धिरिति तत्सामर्थ्यस्य फलत्वम् अवर्जनीयम् अतो व्यर्थः प्रयासः इत्यतः आहुः **तोषे**त्यादि. धारणायाः तोषसाधनत्व-पक्षेऽपि उक्तन्यायेन तोषादेव सर्वभवने स्मृतिप्रत्यवरोधस्य फलत्वम् अवर्जनीयमिति आवश्यकत्वात् तस्यैव फलत्वम् अस्तु, नतु सृष्टिसामर्थ्यस्य. तत्तु [२]ब्रह्मत्वरूपप्रतिकूल-निहतत्वात् तथापदेन सृष्टिकरण-व्यवधानात् फलप्रतिबन्धकत्वाच्च **अप्रयोजकम्**. न हि अत्र शुकः तथासामर्थ्यार्थं धारणारूपं[३] साधनम् उपदिशति येन तथा प्रशंसेत्, किन्तु पूर्वं ''न अन्यत्र सज्जेद्'' (भाग.पुरा. २।१।३९) इति कथनाद्, अग्रेऽपि ''अतः

लेखः

तोषसाधनपक्षे इति, धारणायाः तत्साधनत्वपक्षे इति अर्थः. **अप्रयोजकम्** इति, तत्कारणतायाम् अप्रयोजकम् ॥१॥

---

१. तत्स्मरणेन सन्तुष्ट इति क-घ.

२. ब्रह्मत्वे रूप- इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु मा.पाठानुसारेण -सम्पा.

३. -रूपसाधनम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् -सम्पा.

प्रतिबन्धकम्. **आत्मयोनिः** ब्रह्मा **नष्टां** विस्मृतां **स्मृतिं** पदार्थज्ञानम्. सृष्टेः अनादित्वात् पूर्वमपि स्मरणेनैव कृतम् अतः संस्कारनाशो न उक्तः. **तुष्टाद्** भगवतः सकाशाद् **इदं** सर्वं भगवत्येव लीनं स्थितं पुनः **तथैव यथाऽप्ययात्** प्रलयात् **प्राक्** पूर्वं यथा इयं सृष्टिः, **यथा** वा **व्यवसायात्मिका बुद्धिः यस्य** तथाभूतः सन् **तथा ससर्ज** इति अर्थः ॥१॥

इदानीम् इहामुत्रार्थफलभोगवैराग्यं सर्वविषयत्यागार्थं साधनान्तरम् आह.

प्रकाशः

कविर्नामसु यावदर्थः स्याद् अप्रमत्तः'' (श्लो. ३) इति कथनाच्च वैराग्यार्थम्. तथा सति यथा धारणया नष्टस्मृत्यवरोधेन भगवत्तोषात् सर्गे अधिकृतस्य ब्रह्मणो यथापूर्वसृष्टिकरणं तथा अत्र धारणया नष्टस्मृतिप्रत्यवरोधेन भगवत्तोषाद् अस्य स्थूलाहंग्रहोपासकस्य योगिनो वा ''तुष्टे तु'' (भाग.पुरा. ७।६।२५) इति न्यायेन अमोघदृष्टित्वे सर्वभोगेन वैराग्यदार्ढ्यमिति तथासामर्थ्यस्य फलत्वकथनं विचार्यम् इति अर्थः. नच अस्य पूर्वं सर्वाननुभवाद् नष्टस्मृति-प्रत्यवरोधो असङ्गतः इति शङ्क्यम्, इदानीं प्रत्यहं प्राज्ञे सृष्टेः पूर्वं च भगवदुदरएव सत्त्वेन सूक्ष्मानुभवस्य, विभागम् आरभ्य इयत्पर्यन्तं च तत्तज्जन्मसु नानाप्रकारक-स्थूलानुभवानां च बहुधा जातत्वाद् इति. तस्माद् एवमेव अर्थः इति निश्चयः. यत्-तदोः नित्यसम्बन्धाद् एकैनैव इतरस्य[1] लाभेऽपि पुनः **यथापद**ग्रहण-तात्पर्यम् आहुः **यथा वा** इत्यादि. तथाच सृष्टौ बुद्धौ च पूर्वकल्पीय-प्रकारतौल्य-बोधनाय पदद्वयोक्तिः इति अर्थः. एवम् अनेन धारणारूपस्य साधनस्य प्रकृतोपयोगाय वैराग्यशेषत्वं साधितम् ॥१॥

अथ[2] पूर्वाध्यायोक्तस्य फलस्यापि प्रकृतोपयोगाय तदर्थमेव द्वाभ्यां वैराग्यशेषत्वम् उपपादयन्ति **इदानीम्** इत्यादि. **साधनान्तरम्** इति, वेदतात्पर्यविचार-करणरूपं तद् इति अर्थः.

शाब्दस्य हि इत्यत्र. ननु ''वेदेन सर्वविषयत्याजनाय स्थूलधारणैव

---

१. तस्य इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. अतः इति मुद्रितपाठः अर्थस्वारस्याद् संशोधितः - सम्पा.

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्थाः यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः ॥
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्मायामये वासनया शयानः ॥२॥
अतः कविर्नामसु यावदर्थः स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः ॥
सिद्धेऽन्यथाऽर्थे न यतेत तत्तत् परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः ॥३॥

शाब्दस्य हि इति. सर्वे विषयाः त्यक्तव्याः. तत्र महतां लौकिकबाधाभावेऽपि परित्यागे वैदिकं बाधकं भवेत्, ‘‘यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः प्रजाकामः पशुकामः’’ (वाराहश्रौतसूत्र १।१।१।८६) इति. तत्र यावज्जीवाधिकारस्य नित्याङ्गत्वेन प्रजाकामनादीनां वा नित्यत्वे वैराग्यम् अकर्तव्यमेव स्यात्, कर्तव्यत्वे वा आन्तरमेव कर्तव्यं स्यात्. आत्मनि अग्निसमारोपणं वा कृत्वा अग्निहोत्रं कुर्वाणएव प्रव्रजेद् वा.

प्रकाशः

कर्तव्यत्वेन बोध्यते’’ इति कथम् अवगन्तुं शक्यते इति आशङ्कायां तद् उपपादयन्ति **सर्वे** इत्यादि. **प्रजाकामनादीनां वा नित्यत्वे** इति. यद्यपि नित्यविधायकं वाक्यं भिन्नं कामनार्थं[1] च भिन्नं तथापि यथा ‘‘पुरोडाशं ... चतुर्धा करोति’’ (तैत्ति.ब्रा. ३।३।८।६-७) इत्यस्य आग्नेयं चतुर्धा करोति इत्यनेन उपसंहारः, तथा कामवाक्यस्य नित्ये वक्तुं शक्यत्वात् तथा इति अर्थः. **कर्तव्यत्वे वा आन्तरमेव** इति. ‘‘यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्’’ (जाबालोप. ४) इति जाबालश्रुतौ वैराग्यस्य प्रव्राजे अधिकारिविशेषणतया[2] कथनात् तस्य **कर्तव्यत्वे वा आन्तरमेव** कामनात्यागेनैव **अवान्तरमेव** वा होमातिरिक्तसमयएव कर्तव्यं स्यात्. पक्षान्तराणि आहुः **आत्मनि** इत्यादिना. एतेषु प्रथमः प्राणाग्निहोत्रोपनिषदुक्तः **अग्निहोत्रे**त्यादिना उक्तः. द्वितीयस्तु नवमस्कन्धे ‘‘विरक्तो न्यासम् आस्थितः सहैव अग्निभिः आत्मानं युयोज परमात्मनि’’ (भाग.पुरा. ९।६।५३) इति सौभर्युपाख्यानोक्तः. **जरामर्ये**ति तृतीयो ‘‘अम्भसि अपारे’’ (महाना.उप. १।१) इति तैत्तिरीय-बृहन्नारायणोपनिषत्समाप्तौ ‘‘तस्य एवं विदुषः’’

---

१. कामार्थम् इति मा.पाठः - सम्पा.

२. -कारवि- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

जरामर्याग्निहोत्रं[१] वा कुर्यात्, सर्वेषां पदार्थानां श्रुतिमूलकत्वेन तद्विरोधेन पदार्थकल्पनायाः अशक्यत्वात्. तस्माद् यथोक्ताएव पदार्थाः फले साधने च अवगन्तव्याः. तस्माद् वैराग्यं, पूर्वोक्तप्रकारेण शास्त्रार्थनिर्धारो वा, न सम्भवति इति आशङ्क्य सर्वस्याऽपि वेदस्य अर्थम् आह. यथा परब्रह्म भगवान् अर्थरूपः एवं वेदोऽपि शब्दराशिभूतं ब्रह्म. अम्बुराशिवद्

प्रकाशः

(महाना.उप. १९।१) इति अनुवाकोक्तः. एवं सर्वेषां प्रमाणसिद्धत्वेऽपि ये प्रव्राजस्य अन्ध-पङ्ग्वाद्यधिकारकत्वम् अङ्गीकुर्वन्ति तान् प्रति आहुः **सर्वेषाम्** इत्यादि. यदि तथा स्यात् तदा श्रुतिः प्राजापत्याम् आग्नेयीं च इष्टिं जाबालादिश्रुतौ प्रव्राजपूर्वाङ्गत्वेन न विदध्यात् "प्राजापत्यां निरूप्य इष्टिम् अग्नीन् अपिबद् ईश्वरः" (भाग.पुरा. १।१५।३९) इति. युधिष्ठिरोऽपि धर्मावतारो न प्राजापत्यां कृत्वा प्रव्रजेत्. सौभरिश्च याज्ञवल्क्यस्यापि प्रव्राजं वाजिशाखायां मैत्रेयीब्राह्मणे न श्रावयेत्. व्यासचरणाअपि साधनाध्याय-तुरीयपादे प्रव्राजनिर्णयं न कुर्युः. अतो मीमांसकानां तथा कल्पनम् अयुक्तम् इति तद् विहाय **सर्वेषाम्** उक्तानां पक्षाणां **श्रुतिमूल**त्वाद् यथाश्रुताएव साधनरूपाः **पदार्थाः फले** फलरूपाश्च ते **साधने** अधिकारिभेदेन वचनानि व्यवस्थाप्य **अवगन्तव्याः**, अन्यथा नित्याग्निहोत्र-प्रव्राजविधायकयोः श्रुत्योः विरोधो दुष्परिहरएव स्याद् इति अर्थः. एवं विचारेण सिद्धं पूर्वपक्षस्य अर्थम् आहुः **तस्माद् वैराग्यम्** इत्यादि. लौकिकविषय-वैतृष्ण्यस्यैव श्रुत्यभिप्रेतत्वाद् दृष्टानुश्रविक-विषयवैतृष्ण्यं धारणाकरणरूपश्च **शास्त्रार्थनिर्धारो न सम्भवति** इति शङ्कायां **सर्वस्यापि वेदस्य** तात्पर्यम् अनेन पद्येन **आह** इति अर्थः. सैद्धान्तिकम् अर्थं व्युत्पादयन्ति **यथा परब्रह्म** इत्यादि. **प्रस्थानत्वाद्** इति प्रकृष्टस्थानत्वात्.

लेखः

जरामर्याग्निहोत्रम् इति. इदम् "अम्भसि अपारे" (महाना.उप. १।१) इत्यस्य समाप्तौ निरूपितम्. **स्वस्य** वेदस्य ॥२॥

---

१. जरामर्यादाग्निहोत्रमिति घ.

यथा ब्रह्मणि सर्वत्र आनन्दः[1] पूर्णः एवं शब्दब्रह्मण्यपि सर्वत्र फलम् उच्यते स्वस्य ब्रह्मत्वख्यापनाय. शब्दप्रस्थानत्वाच्च शब्दमात्रम्, अर्थस्तु परब्रह्मरूपम् इति फलं तद्गतम्, अन्यथा एकस्मिन् कर्मणि प्रतिसाधनं धर्म-धर्मिभेदेन क्रियाभेदेन च उच्यमानानि फलानि अप्रामाण्यम् अन्यानर्थक्यं वा सम्पादयेयुः.

यथा ''सुवर्गाय वा एतानि लोकाय हूयन्ते'' (तैत्ति.संहि. ६।३।२।१, ६।६।१।१) इति उपक्रम्य दाक्षिणहोमे आहुतिचतुष्टये नैमित्तिके दक्षिणासंस्कारत्वेन क्रियमाणे गार्हपत्ये आहुतिद्वयम्— आग्नीध्रे उत्तरवेद्यां च[2] एकैकाहुतिः. तत्र प्रतिकर्म सङ्ख्यादीनामपि माहात्म्यं वेदेन बोध्यते ''द्वाभ्यां गार्हपत्ये जुहोति द्विपाद् यजमानः प्रतिष्ठित्या[3]'' (तैत्ति.संहि. ६।६।१।१) इति. यदि एतदाहुतिद्वयएव यजमानः प्रतिष्ठितः तदा अन्यानर्थक्यमेव स्यात्, विरोधेन अप्रामाण्यं वा स्यात्. विकल्पस्तु न भवति एककर्मत्वात्. किञ्च ''आग्नीध्रे जुहोति अन्तरिक्ष एवाऽऽक्रमते'' (तत्रैव) इति यदि आग्नीध्रहोममात्रेणैव अन्तरिक्षाक्रमणसामर्थ्यं स्यात् तदा श्रुतिः प्रमाणं स्यात् ; तत् प्रत्यक्षविरोधाद् असम्भावितम्. ''आहवनीये जुहोति सुवर्गमेव एनं लोकं गमयति'' (तैत्ति.संहि. ६।३।२।१) इति तदानीमेव यजमानस्य स्वर्गप्रापणम्

प्रकाशः

ननु✲ ''यजेत''-''जुहुयाद्'' इत्यादौ नियोगदर्शनात् पुरुषस्य कर्मशेषत्वेन, कर्मणः फलशेषत्वेन, फलस्य च पुरुषार्थतया पुरुषशेषत्वेन, तद्वाक्यानां साध्यार्थत्व-निश्चये कर्मफलं पुरुषगतमेव आयाति इति '' सिद्धस्वरूप-ब्रह्मगतं फलम्'' इति कथं[4] वक्तुं शक्यम् ✲इति आशङ्कायां श्रुतार्थापत्तिं प्रमाणत्वेन आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **अन्यथा** इति, वाक्यानां साध्यार्थत्वम् अङ्गीकृत्य फलस्य पुरुषशेषत्वाङ्गीकारे. **अप्रामाण्यम् अन्यानर्थक्यं वा** इति, वाक्यस्य अप्रामाण्यं कर्मान्तरस्य आनर्थक्यं वा.

तद् उदाहृत्य दर्शयन्ति **यथा सुवर्गाय** इत्यादि.

---

१. आनन्दमिति ख.	२. चैकाहुतिरिति ग.	३. प्रतिष्ठितः इति सं-मा.१ पाठयोः -सम्पा.	४. न इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् -सम्पा.

अनिष्टम् इति प्रवृत्तिप्रतिबन्धकता च स्यात्! किञ्च आहुतिद्वयसङ्ख्यया यजमानस्य अत्र प्रतिष्ठितत्वम् उक्त्वा "सौरीभ्यामृग्भ्यां गार्हपत्ये जुहोति अमुमेव एनं लोकं समारोहयति" (तैत्ति.संहि. ६।६।१।१) इति होमसाधनऋचोः सूर्यप्रकाशकत्वेन धर्मेण स्वर्गाक्रमणलक्षणं फलम् उक्तं तच्च सङ्ख्याफलेन विरुद्ध्यते. एवं सर्वत्र बहुफलत्वम् अन्योन्यविरुद्धफलत्वं बाधितफलत्वञ्च कर्मणां वदद्[1] अप्रामाणिकमेव स्यात्.

अतः प्रामाण्यार्थं किञ्चित् तात्पर्यं वर्णनीयं, यथाच शब्दार्थो बाधितो न भवेत् तथाच वर्णनीयम्. तत्र षोडशर्त्विग्रूपस्य[2] यजमानात्मकस्य यज्ञस्य सर्वलोकान्तःपातिनो भगवद्रूपस्य लीला सर्वत्र वर्ण्यते. यतः[3] सः भगवान्

प्रकाशः

ननु वर्ण्यतएव तात्पर्यम्, अङ्गे फलश्रुतेः अर्थवादत्वात् कर्मप्रशंसामात्रम् अत्र क्रियते इति. तत्र आहुः **यथा च** इत्यादि. किम् अत्र बालोपलालनवत्[4] स्तोभरूपा प्रशंसा, उत यथार्था? आद्ये तु एकत्र प्रतारकतायां सिद्धायां मुख्यफलेऽपि अनाश्वासप्रसङ्गेन सर्वस्य वेदस्य अप्रामाण्यप्रसङ्गः. द्वितीये तु परस्परविरोधात् प्रत्यक्षादिविरोधाच्च शब्दार्थस्यैव बाधइति न एवं तात्पर्यनिश्चयइति तदुभयदोषाभावो यथा तथा वर्णनीयम् इति अर्थः. तर्हि कथं वर्णनीयम् इति आकाङ्क्षायां वेदस्य सिद्धार्थत्वम् अनुसन्धाय फलस्य ब्रह्मगतत्वं च अनुसन्धाय वर्णनीयम् इति आशयेन तत्प्रकारम् आहुः **तत्र** इत्यादि. "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.संहि. १।७।४।४) इति श्रुत्या क्रियायां प्रविष्टतया न्यग्भूत-ऋत्विग्-यजमानरूपेण स्वयमेव वर्तते. यज्ञियानां पदार्थानां जागतानामिव तदङ्गएव निविष्टत्वात् पूर्वकाण्डे तस्यैव लीला वर्ण्यते. तत्र गमको हेतुः **यथे**त्यादि. **यथा भगवान्** इत्यत्र **यतः** इति पाठः प्रतिभाति, अग्रे **तः** इति पदस्य दर्शनात्. अथ अयमेव चेत् पाठः तदा **यथा**पदस्य उदाह्रियते इति अर्थो बोध्यः. **यत्र येन भोगेन**

१. वदन्नप्रामाणिकमिति ख-ग-घ.   २. षोडशऋत्विग्रूपयजमानात्मकस्येति ग-घ.

३. यथेति ख-ग-घ-प्रकाशे - सम्पा.

४. -लालनरूपवद् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

एकत्रैव सर्वरसानां विद्यमानत्वात् सर्वत्र सर्वपूर्णोऽपि यथा यत्र येन भोगेन[१] लीलां कृतवान् तथा वेदो वदति इति निश्चीयते. ततः च "काण्डद्वयेऽपि अयमेव भगवान् विराड्रूपो 'यज्ञा'ऽपरनामा प्रतिपाद्यते" इति यद् अस्माभिः स्थूलधारणा उक्ता वेदेनाऽपि तदेव उक्ता इति **शाब्दस्य ब्रह्मणो (एषः!)** अस्मदुक्तएव **पन्थाः**. किन्तु लोको भ्राम्यति वाक्यार्थापरिज्ञानात्. **(यत्!)** यतो यत्र स्थितैः **नामभिः** वाक्यार्थसम्बन्धरहितैरेव पदार्थं विनिश्चित्य खण्डशः साधनतां ज्ञात्वा तत्तदिच्छां करोति ततः तमेव अर्थं **(धीः!)** **ध्यायति.** नहि पदानां वाक्यार्थबोधने पदार्थेष्वपि बोधकत्वं, युगपद्-वृत्तिद्वयविरोधात्. अतः स्वार्थे **अपार्थैरपि**[२] **नामभिः** लोको भ्राम्यति. ततः स्वबुद्ध्या वेदार्थं मत्वा **तत्र** तत्र बुद्ध्या **परिभ्रमन्** तदर्थं कर्म

प्रकाशः

इति. यस्मिन् गार्हपत्यादिरूपे मुखे **येन** हविरदनेन इति अर्थः. **निश्चीयते** इति. "सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति" (कठोप. १।२।१५), "वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः" (भग.गीता १५।१५), "मां विधत्ते अभिधत्ते माम्" (भाग.पुरा. ११।२१।४३) इत्यादि वाक्यैः सर्वस्य वेदस्य भगवत्तात्पर्यकत्वे तद्बोधकत्वे तद्विधायकत्वे तद्वाचकत्वे च बोधिते वेदस्य सर्वस्य सिद्धार्थएव तात्पर्यं निर्धार्य विधायकादि-वाक्याबाधार्थम् एवं प्रकारेण अनुवादो अयम्, नतु गुणवादः इति तात्पर्यं निश्चीयते. अतः काण्डद्वयेऽपि नामभेदेन प्रकारभेदेन च कथनात् सर्वस्य **शाब्दब्रह्मणो** वेदस्य **अस्मदुक्तएव** मार्गः इति अर्थः. ननु एवम् अर्थो अन्यैः कुतो न अङ्गीक्रियते इत्यतः आहुः **किन्तु** इत्यादि. **नामभिः वाक्यार्थसम्बन्धरहितैः** इति. फलबोधकैः पदैः वाक्यार्थत्वेन अङ्गीक्रियमाणो यः पुरुषः तेन सह सम्बन्धशून्यैः. **खण्डशः** इति अवान्तरवाक्य-सम्बन्धमात्रेण. **ध्यायति** इति धीः ध्यायति. **अतः** इति वृत्तिद्वयविरोध-शब्दार्थबाधाभ्याम्. तथाच यदि वेदस्य कर्मणि तस्य पुरःस्फूर्तिके फले पुरुषे च तथा तात्पर्यं स्यात् तदा यथाश्रुताः पदार्थाः फले साधने च ग्राह्याः स्युः. ननु एवं किन्तु महावाक्यार्थविचारे

---

१. भागेनेति ख. २. अपार्थैरेवेति क.

वा कुर्वन् **अर्थान्** फलत्वेन उक्तान् **न विन्दते.** किन्तु **वासनया** कामनादार्ढ्येन तमेव अर्थं विचारयन् **(मायामये!) शयानो** भवति, महामोहे निमग्नो भवति इति अर्थः. तस्माद् अस्मदुक्ते वेदोक्ते च भेदाभावाद् न प्रामाण्यसन्देहः कर्तव्यः इति भावः.

ननु यदि वेदो भिन्नप्रकारेण कमपि अर्थं प्रतिपादयेत् तदा [1]कस्यापि कोऽपि पुरुषार्थो न सिद्ध्येत् सर्वकरणासामर्थ्यात्[2], तस्माद् न एवं निर्णयो युक्तः इति आशङ्क्य यत्र सिद्धार्थानुवादकत्वेन महावाक्योपयोगार्थम्[3] अवान्तरफलानि अनुवदति तानि लोकसिद्धत्वाद् युक्तियुक्तानि साधनानि तादृशफलार्थं कर्तव्यानि. यथा ''धन्वन्निव प्रपा असि'' (ऋक्संहि. १०।४।१)

प्रकाशः

उक्तरीत्या भगवत्परतैव सिद्ध्यतीति यथाश्रुतग्रहणं न युक्तम् इति अर्थः. **फलत्वेन उक्तान्** इति अङ्गवाक्येषु फलत्वेन उक्तान्. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **तस्माद्** इति. वेदस्य ईश्वरात्मकत्वेन सामान्यैः ऋषिभिरपि तदर्थानिर्धारात् तत्तदंशे श्रद्धां विहाय इति अर्थः ॥२॥

अतः इत्यस्य आभासे. **भिन्नप्रकारेण** इति लोकाननुरोधेन भगवत्परतया. **सर्वकरणासामर्थ्याद्** इति भगवद्वत् सर्वकर्मकरणसामर्थ्याभावात्. **तस्माद्** इति. सर्वेषां फलदर्शनात् प्रवृत्त्यव्यतिरेकाद् अग्निहोत्रादि-वाक्येषु श्रूयमाणस्य 'काम'पदस्य भगवति अनन्वयाद् अवान्तरवाक्यानां भगवत्परत्व**निर्णयो न युक्तः** इति तथा इति अर्थः. एवम् आशङ्क्य **अतः कविः** इति श्लोकस्य अर्थम् आहुः **यत्र** इत्यादि. येषु वाक्येषु **सिद्धार्थानुवादकत्वेन** भगवल्लीलानुवादकत्वेन रूपेण **महावाक्यार्थोपयोगार्थं** महावाक्यार्थस्य मृत्युतरणस्य उपकारार्थम् **अवान्तरफलानि** वृष्ट्यादि-स्वर्गान्तानि **अनुवदन्ति तानि** कर्माणि **लोकसिद्धत्वात्** प्रवृत्त्यव्यतिरेक-सिद्धत्वाद् **युक्तियुक्तानि** तत्तत्फलोपायभूतानि **साधनानि** नतु प्रतारणरूपाणि **तादृशफलार्थं** साक्षात् परम्परया च मृत्युतरणार्थं **कर्तव्यानि** अनुष्ठेयानि. कथं युक्तियुक्तत्वं?

---

१. कस्यापि इत्यधिकं कपाठानुसारेण, मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

२. सर्वकारणाऽसामर्थ्यादिति क-ग. ३. -वाक्यार्थोप- इति प्रकाशे - सम्पा.

अग्नेः[१] स्तुतौ लोकसिद्धा प्रपा दृष्टान्तीक्रियते. तथा "कारीर्या वृष्टिकामो यजेत" (आप.श्रौतसूत्र १९।२५।१६), "श्येनेन अभिचरन् यजेत" (आप.श्रौतसूत्र २२।४।१३) इति फलानि प्रत्यक्षसंवादीनि भगवल्लीलार्थमेव प्रतिपादितानि महावाक्यार्थोपयोगीनि. **(अतः कविः!)** श्रुतेः तात्पर्यं लोकदृष्टान्तरूपम् अवगन्तुं निपुणो भूत्वा **(नामसु यावदर्थः!)** येषु अनुवादफलेषु ससाधनेषु[२] स्वस्य कार्यं सिद्ध्यति तावन्मात्रपरः **स्यात्**.

प्रकाशः

कथं वा उपयोगः? इति अपेक्षायां **यथा "धन्वन्"** इति अग्निस्तुतिवाक्ये अग्नेः अतिप्रियत्वादि-बोधनार्थं **लोकसिद्धा प्रपा दृष्टान्तीक्रियते** इति तस्य वाक्यस्य तावन्मात्रे तात्पर्यं, नतु तद्विधाने. तथा अत्यन्तं सन्मार्गविमुखस्य [३]सान्मुख्यजननमात्रे **कारीर्यादि** वाक्यतात्पर्यम्. एवं सन्मुखस्य संसारासक्तस्य तदावेशाद् विश्वासापगमशङ्कया तद्दार्ढ्यजननमात्रे चित्रोद्भिदादि-वाक्यतात्पर्यम्. एवं दृष्टाद् वितृष्णस्य आनुश्रविके सक्तस्य दृष्टवैतृष्ण्य-दार्ढ्यजननमात्रे ज्योतिष्टोमादि-वाक्यतात्पर्यं, नतु तत्तदर्थमेव तत्तत्करणे. नच फलाभावः शङ्क्यः, तथा सति विश्वासाद्यपायप्रसङ्गात्. फलन्तु तात्पर्यभ्रमेणापि करणे लोकयात्रानिर्वाहार्थत्वाद् "फलमतः उपपत्तेः" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२८) इति न्यायेन भगवता दानाद् भविष्यति. तेन एतानि वृष्ट्यादीनि **फलानि भगवल्लीलार्थमेव प्रतिपादितानि.** एवम् इतराण्यपि तानि सर्वाणि उक्तरीत्या **महावाक्यार्थे** मुक्तिरूपे विप्रकृष्ट-सन्निकृष्ट-परम्परया उपयुक्तानि इति. एतेन ग्रन्थेन मूलस्थो **अतः**शब्दार्थो विवृतः. **अतः** उक्तवाक्यघटितस्य पूर्वकाण्डस्य उपासनाकाण्डस्य च महावाक्यार्थोपयुक्तत्वात् **कविः श्रुतेः तात्पर्यं लोकदृष्टान्तरूपम् अवगन्तुं निपुणो भूत्वा नामसु यावदर्थः स्याद् येषु** इत्यादिना उक्तरीत्या तथा स्यात्. तथाच जैमिनीयमते यथा "वायुः वै क्षेपिष्ठा" (तैत्ति.संहि. २।१।१।१) इत्यादीनाम् अनुवादत्वं तथा सिद्धान्ते कारीर्यादि-ज्योतिष्टोमान्तानां पूर्वकाण्डस्थानां मुक्त्यतिरिक्त-

१. अग्ने स्तुतावित्यविसर्गः पाठः क-ख-ग. २. स्वसाधनेष्विति साधनेष्विति घ.

३. औन्मुख्य- इति मुद्रितपाठः असङ्गतत्वात् शोधितः -सम्पा.

''शान्तो दान्त उपरतः तितिक्षुः'' (बृहदा.उप. ४।४।२३) इति शमादिकम् उपक्रम्य ''आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्'' (तत्रैव), ''सर्वैः सर्वम् इदं जगत्'' (महाना.उप. २३।१), ''स भूतं स च भव्यम्'' (महाना.उप. २४।१) इति उक्त्वा ''ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युम् उपयाहि विद्वान्'' (तत्रैव) इति. ''अम्भसि अपारे'' (महाना.उप. १।१) इति उपक्रम्य ''य एनं विदुः अमृताः ते भवन्ति'' (महाना.उप. १।११) इति उपसंहाररूपम्. यथा यस्य यत्र अधिकारः तावन्मात्रो भवेत्. तत्राऽपि **अप्रमत्तः** ; नहि एवं ज्ञानमात्रेण अग्रिमकृतिनिरपेक्षेण कार्यं सिद्ध्यति. ननु एवं गोधूमराशिपतित-यवोद्धारणवद् व्रतिनः चक्षुरालोकादि-बलाभावाद् अशक्यमेव स्याद् इति आशङ्क्य आह **व्यवसायबुद्धिः** इति. व्यवसायात्मिका बुद्धिः यस्य ; अतिविचारेण सर्वम् आलोड्य स्वार्थम् उद्धृत्य निश्चित्य तत्साधनकरणार्थं दृढो भवेद् इति अर्थः. तत्र किं कर्तव्यम् इति आकाङ्क्षायां प्रथमतो लोकप्राप्तं देहादिनिर्वाहार्थं कार्यं न कर्तव्यम् इति आह **सिद्धे अन्यथा अर्थे (न यतेत!)** इति. **अन्यथैव** कालेन भगवता वा स्वभावेन कर्मणा लोकैः वा देहनिर्वाहे सिद्धे स्वयं तत्र प्रयत्नं न कुर्यात्. स्वस्य हि परिमितः प्रयत्नः ; सः भगवत्सेवार्थं स्थापितो न अन्यत्र

प्रकाशः

दृष्टादृष्टफल-बोधकानाम्, उत्तरकाण्डस्थानाञ्च वाक्यानाम् अधिकारिभेदेन अवयुत्य अनुवादत्वम् अवगत्य स्वापेक्षितपरो भवेद् इति अर्थः. कानि कार्यसाधनानि इति अपेक्षायाम् आहुः **शान्तः** इत्यादि. तथा जीवात्मनः क्षरपुरुषस्य वा दर्शने अधिकृतः सः शान्त्यादिपरो भवेत्. यस्य अक्षरदर्शने अधिकारः सः सर्वं ब्रह्म इति ज्ञानपरो भवेत्. यस्य पुरुषोत्तमदर्शने सः बृहन्नारायणोपनिषदुक्त-ज्ञानपरो भवेद् इति अर्थः. एवं यथाधिकारं सर्वासु परविद्यासु बोध्यं, विद्यानां परापरविभागस्य पर-परमोत्कृष्ट-विभागस्य बाह्य-रहस्यविभागस्य च श्रुतिसिद्धत्वाद् इति न कोऽपि विवादलेशः. **अप्रमत्त**पदतात्पर्यम् आहुः **न हि** इत्यादि. **व्रतिनः** इति सर्वदा एवं विचारनियमस्थस्य. **तत्र** इति चक्षुरालोकादिबल-सिद्धिविषये. **न कुर्याद्** इति. तथाच प्रकारान्तरेणैव तद्बलसिद्धिः इति अर्थः ॥३॥

विनियोगम् अर्हति. किञ्च **तत्तत्परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः**. न केवलम् अन्यथासिद्धत्वमात्रं दूषणम्. **तत्र** देहनिर्वाहे **तत्तत्परिश्रमं** तेषां तेषां परिश्रमम् एकैकस्मिन् शय्यादिपदार्थे देहेन्द्रियबुद्ध्यादीनां परिश्रमं **समीक्षमाणो न यतेत** इति सम्बन्धः ॥२-३॥

अन्यथासिद्धिं क्लेशञ्च बोधयति.

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैर्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ॥
सत्यञ्जलौ किं पुरुधाऽन्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥४॥
चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां ॥
नैवाऽङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ॥
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपपन्नान् ॥
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥५॥

सत्यां क्षितौ इति. **क्षितौ** विस्तीर्णतया प्रसारितशय्यारूपायां वालुकादौ कोमलरूपायां वा उपार्जनक्लेशव्यतिरेकेणैव **सत्यां** सिद्धायां **कशिपोः** तूलिकायाः वस्त्रकार्पास-सीवनधूननास्तरण**प्रयासैः किं** फलं, साधनसुखस्य तुल्यत्वेऽपि अत्र दुःखाधिक्यात्! किञ्च **स्वतःसिद्धे बाहौ** – महापुरुषस्य इन्द्रियवैकल्यशङ्काभावाद् एवम् उक्तम् – **उपबर्हणैः** शिरसि उच्चतासाधन-भूतैः गल्लयोः पादयोश्च सतूलवस्त्रपुटैः **किं** प्रयोजनम्! भिन्नं वाक्यम्

प्रकाशः

सत्याम् इत्यत्र. ननु सर्वेषाम् इन्द्रियसाकल्याभावेन बाहोः स्वतःसिद्धत्वस्य प्रायिकत्वाद् उपबर्हण-कैमर्थ्यं कथम् उच्यते इत्यतः आहुः **महापुरुषे**त्यादि. यो हि राजवत् सम्पत्समृद्धाद् गृहाद् एवं विचारपूर्वकं विरज्यते सः भगवत्कृपयैवेति तादृशस्य तथात्वाद् एवम् उक्तम् इति अर्थः. **उपबर्हण**पदगत-बहुत्वसङ्ख्यायाः तात्पर्यम् आहुः **गल्लयोः पादयोश्च** इति. अत्र उपबर्हण-कैमर्थ्य-कथनेन तदर्थक-प्रयासकरण-वैयर्थ्यम् अजहत्-स्वार्थया लक्ष्यते. ततः[१] च पादयोः बाहुकृतोपयोगाभावात् **सत्यां क्षितौ** इत्यनेनापि **उपबर्हण**पदान्वयो भवति— तस्यां तैः किम् इति. एवं सति

---

१. तथाच इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

अतः तात्पर्येण एकवाक्यता. **(अञ्जलौ सति !)** करपात्रेणाऽपि भिक्षानिर्वाहे **(पुरुधा !)** अनेकविधाऽ**न्नपात्र्या** ताम्रादिमय्या **किम्**! सर्वत्र प्रयासानुसन्धानं कर्तव्यम्. उष्णकाले **दिशः** शीतकाले **वल्कलादीनि – आदिशब्देन** चीरपत्रादीनि – **दुकूलैः** पट्टवस्त्रैः **किम्**! किञ्च महाविरक्तस्य जनैरपि किम्! लोकाअपि सर्वे त्यक्तव्याः इति अर्थः. ननु✲ सर्वत्र सर्वे पदार्थाः अन्यदीयाः साधनेनैव सिद्ध्यन्ति. क्षितिरपि कस्यचिद् भवति. अतः तदाज्ञया स्थातव्यं तदनुरोधेन च. देहः च पराधीनः. वल्कलादिकमपि साधनसाध्यम्. अतः सर्वदा सर्वनैरपेक्ष्यस्य अशक्यत्वात् किञ्चित् सापेक्षतायां कर्तव्यायां ''मग्नश्चेत् पातालं विशेद्'' (.   । ।) इति न्यायेन सर्वथा सापेक्षतैव अस्तु✲! तत्र आह **चीराणि किं पथि न सन्ति** इति. **चीराणि** वस्त्रखण्डाः. **पथि** इति तत्सम्पादनार्थमपि अन्यत्र न गन्तव्यम् इति सूचितम्. **अङ्घ्रिपाः** वृक्षाः **परभृतः** परानेव बिभ्रति, नतु तत्फलैः तेषाम् उपकारः कश्चन. ते हि पक्वं फलं स्वतएव त्यजन्ति, ईषत्पक्वन्तु चालनेन. तेतु देवतारूपाः वैष्णवाश्च. भगवज्जीवार्थं जगतः सृष्टत्वाद् एकपरित्यागे अन्यदीयं तद् भवति. अतः चीराण्यपि भगवदीयानि. मार्गाश्च भगवदीयाः गतिसाधनत्वात्. अतः तेऽपि किं वस्त्राणि न प्रयच्छन्ति

प्रकाशः

विकलाङ्गस्यापि तत्सिद्धिरिति तादृशैस्तु सर्वथैव प्रयासो न कार्यः इत्यपि उपदेशः फलति. ननु भिन्नवाक्यत्वे कथम् उपदेशैक्यम् इत्यतः आहुः **अतः** इति, फलैक्यात्. एवम् अग्रेऽपि बोध्यम्. तुरीयपाद-सूचितम् अर्थम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. **चीराणि** इत्यत्र. **देहश्च पराधीनः** इति. ''देहः किम् अन्नदातुः ... वा'' (भाग.पुरा. १०।१०।११) इति न्यायात् पराधीनः इति अर्थः. **अतः** इति सर्वस्य साधनसापेक्षत्वेन. विवृतौ. ननु मार्गे चीरसत्त्वेऽपि स्वतः तद्ग्रहणे बाधकमपि सम्भाव्यतइति कथं निस्तारः इत्यतः आहुः **अतः तेऽपि** इति. भगवदीयत्वाद् भगवदीयाअपि. तथाच **दिशन्ति**

लेखः

चीराणि इत्यत्र. **भगवज्जीवार्थम्** इति, भगवत्सम्बन्धि-जीवार्थम् इति अर्थः. यद्यपि **जीवार्थम्** इत्येव वक्तव्यं (तथापि !) भगवत्सम्बन्धस्फोरणन्तु

इति योजनीयम्. पादसम्बन्धात् तद्दानं लक्ष्यते. गतमात्रे च क्षणविलम्बाद्

प्रकाशः

न इति वाक्यस्य अत्रापि योजने अस्माद् दोषाद् निस्तारः इति अर्थः. ननु दानस्य चेतनधर्मत्वाद् अचेतने मार्गे कथं तत्सम्भवः इत्यतः आहुः **पादे**त्यादि. "सर्वेषाम् अध्वनां पादौ एकायनम्" (बृहदा.उप. २।४।११) इति श्रुत्युक्ताद् अचेतनत्वेऽपि **पादसम्बन्धात् तद्दानं लक्ष्यते** करणतया चीरदानं लक्ष्यते. तथाच यथा परम्परित-चेतनसम्बन्धेन दर्व्याहुतिदानं तथा श्रौतज्ञापकोपलब्ध्या पथिभिः वस्त्रदानमपि युज्यतइति **तेऽपि किं वस्त्राणि न प्रयच्छन्ति** इति वाक्ये गौण्या दानसम्भवः इति अर्थः. न च "लक्षणां नैव वक्ष्यामि" (सुबो.का. १।१।०।६) इति प्रतिज्ञाभङ्गः इति वाच्यं, तस्याः परोक्षवाद-भिन्नविषयत्वाद् अत्र च परोक्षवादात्. कथम् अत्र परोक्षवाद-प्रत्यभिज्ञा इति चेत्, तुरीयचरणाद् इति वदामः. धनमदान्ध-तद्भक्तौ प्रति यदि अयम् अर्थः प्रत्यक्षः स्यात् [१]तेऽपि प्रतिबुध्येरन् ; अप्रतिबोधाच्च परोक्षः इति निश्चीयते. अतएव नद्यो-ऽशुष्यन्-रुद्धपदेषु विपरीतलक्षणापि सङ्गच्छते. यत्तु "काक्वा अत्र निर्वाहाद् न अत्र लक्षणा" इति आह कश्चित् तत् मन्दं, **किं**पद-वैयर्थ्यापत्तेः. नच तत् काकुबोधकम् इति वाच्यं, विनिगमकाभावाद्, वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात्, शब्दविकारस्यैव काकुत्वेन तस्याः [२]वृत्त्यन्तरत्वापाताच्च. नच सा चेष्टाविशेषः इति वाच्यं, "काकुः स्त्रियां विकारो यः शोक-भीत्यादिभिः ध्वनेः" (अमरको. १।६।१२) इति कोशेन तस्यां ध्वनिधर्मत्व-बोधनात् चेष्टाविशेषाभिव्यञ्जित-शब्दधर्मत्वस्यैव आदरणीयत्वात्. नच आस्तां ध्वनिधर्मत्वं तथापि पदधर्मत्वाद्

लेखः

तदुपकारौचित्य-ज्ञानार्थम्. **पादसम्बन्धाद्** इति. **अङ्घ्रिपाः** इति उक्त्या वृक्षेषु पादसम्बन्धबोधनात् वासादिरूपः तत्सम्बन्धोऽपि उक्तो भवति इति भावः ॥५॥

१. ते = धनमदान्ध-तद्भक्तरूपाः कवयः - सम्पा.

२. तस्यावृत्त्यन्तरा- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

वा फलदानाद् **भिक्षा**दातृत्वम्. तेषां हस्तस्य अशुद्धत्वं च निवारितम् **अङ्घ्रिपाः** इति. जलातिरिक्तं च न भक्षयन्ति ; जलञ्च अङ्घ्रिभिरेव पिबन्ति. आतपादिभिश्च शाखाः शुद्धाः. वनस्थाः सहिष्णवः च परार्थैकान्तजीविनश्च. अतः तेष्वेव माधुकरी कर्तव्या. जलार्थमपि न लौकिकापेक्षा इति आह **सरितोऽपि (नैव!) अशुष्यन्** इति. तदा हि कूपाद्यपेक्षा भवति. सरितां बहुत्वं महत्त्वञ्च सर्वप्रसिद्धम्. शीतवातातप-वर्षानिवारणार्थमपि न अन्यापेक्षा कर्तव्या इति आह **रुद्धाः गुहाः** इति, तासां[१] निरोधस्य अश्रवणात्. ननु कदाचित् सर्वाभावे गुहासु च व्याघ्रादिभये किं कर्तव्यं? तत्र आह **किम् अजितो अवति** इति. केनाऽपि न जितः अतिसमर्थः **उपपन्नान्** शरणागतान् **किं न अवति?** आग्रहेण सर्वत्र कथनं तथा अधिकारिणोऽपि तथा न कुर्वन्ति इति. एवं सर्वकार्येष्वपि सिद्धेषु ये **(कवयो!)** अधिकारिणोऽपि भूत्वा **धनदुर्मदान्धान् भजन्ति** धनेन यो दुष्टो मदो गर्वः तेन अन्धान् आगतस्वरूपानभिज्ञान् (ते!) **कस्माद्** हेतोः भजन्ति इति न जानीमः ॥४-५॥

एवं प्रसङ्गाद् अन्यान् उपदिश्य तादृशेन निरपेक्षेण यत् कर्तव्यं तद् आह **एवं स्वचित्ते** इति.

प्रकाशः

न वृत्त्यन्तरत्वापत्तिः इति वाच्यं, ध्वनिधर्मत्वेऽपि पदनिष्ठ-ध्वनिधर्मत्वेन पदधर्मत्वानपायात्. अन्यथा घण्टादि-ध्वनावपि काक्वापत्तेः. तस्मात् 'किमा'दिपदैः तात्पर्यार्थानुपपत्ति-बोधने काकुः सहकारिणी भवतु नाम, अभिनयादिवद्, नतु शक्यविपरीतार्थबोधने अत्र शक्तेति लक्षणा आवश्यक्येव इति दिक्. अतएव पूर्वश्लोकेऽपि लक्षणा न दोषाय. ननु वृक्षेषु भिक्षादातृत्वं कथम् अवधेयम् इत्यतः आहुः **गते**त्यादि. तथाच तत्साधर्म्याद् अवधेयम् इति अर्थः ॥४-५॥

---

१. तेषामिति ख-घ.

एवं स्वचित्ते स्वतएव सिद्धे आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत संसारहेतूपरमश्च यत्र ।।६।।

भजनीयोपार्जनक्लेशाभावाय[१] आह **एवं स्वचित्ते** इति. एवं[२] सर्वप्रकारेण सर्वनैरपेक्ष्यं यो अन्तःकरणप्रेरणया साधयति सो अन्तःकरणे तिष्ठति इति अविवादम्. अतः **एवम्** अस्माद् हेतोः एवम्प्रकारेण वा **स्वचित्ते** स्वाधीने चित्ते **स्वतएव** यत्नव्यतिरेकेणैव[३] **सिद्धे** सति **सिद्धौ** वा **तं भजेत** इति सम्बन्धः. तादृशस्य भगवतो भजनीयं रूपं वक्तुं सर्वपुरुषार्थहेतुभूत-पञ्चधर्मवत्त्वम् आह **आत्मे**त्यादिपदैः. आत्मत्वात् प्रियत्वं, प्रियत्वाद् अर्थत्वम्, अर्थत्वाद् भगवत्त्वं, भगवत्वाद् अनन्तत्वम् इति हेतु-हेतुमद्भावोऽपि विशेषणानाम्. प्राणिनां सेवौपयिकरूपाणि[४] पञ्च— स्वात्मा देहो धनम् ईश्वरो नित्यकर्म च. तत्र भगवान् पञ्चरूपोऽपि इति आह. प्रथमतः तेषाम् **आत्मा** वस्तुतो अधिकारिणं प्रति तत्त्वेन प्रकाशमानोऽपि, तस्माद् अवश्यं सेव्यः. उपपत्त्या सेवनम् उक्तं, रुच्या सेवनम् आह **प्रियः** इति. यथा प्राणो यथा वा देहः प्राणिनां प्रीतिविषयो भवति. आत्मत्वेन प्रीतिविषयत्वे प्राप्तेऽपि पुनः यत् प्रीतिविषयकथनं (तत्!) प्रीतेः परिच्छिन्नत्वज्ञापनार्थम्. अतः सा प्रीतिः एकत्र विनियुक्ता न अन्यं तथात्वेन गृह्णाति. अतः सर्वरूपे[५] एकस्मिन्नेव प्रीतिः कर्तव्या, अन्यथा खण्डशः एकस्मिन् एकरूपे वा क्रियमाणा न सर्वपुरुषार्थं साधयेत्. प्रीतिस्तु

प्रकाशः

एवम् इत्यत्र. **अस्माद् हेतोः** इति, उपार्जनक्लेश-राहित्याद् इति अर्थः. **अतः** इति परिच्छिन्नत्वात्. **अतः** इति एकग्राहित्वात्. ननु दक्षिणे अनेकमहिला-समरागित्व-दर्शनाद् न इदं साम्प्रतम् इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **अन्यथा** दक्षिणदृष्टान्तेन प्रीतौ सर्वविषयत्वाङ्गीकारे

लेखः

एवं स्वचित्ते इत्यत्र. **अधिकारिणं प्रति तत्त्वेन** इति. … .

---

१. भजनीयस्येति ख. २. एवंप्रकारेणेति घ. ३. यत्र व्यतिरेकेणेति क. यन्न व्यतिरेकेणेति घ. ४. सेवोपयिकेति ख. सर्वौपयिकेति घ. ५. स्वरूपे इति ख.

भगवद्धर्मः ; भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यः तं खण्डशो दत्तवान् सुखार्थम्. अतो यत्रैव प्रीयते ततएव सुखं भवति. ततः स्वसुखमेव स्वस्य भवति इति उक्तं भवति. तद् यत्र विषयोऽपि सुखरूपो भवति तत्र तद्दाने महत् सुखं भवेत्. अतो देहादिभ्यः प्रीतिम् आच्छिद्य भगवति स्थापयन्तु इति भावः. **अर्थो** धनरूपः ; यावत् कार्यं तेन भविष्यति तत् सर्वं भगवता भविष्यतीति. 'अर्थ'शब्दस्य पञ्चार्थवाचकत्वात् पञ्चरूपोऽपि[१] भगवान्— सर्ववेदार्थः, सर्वधनरूपः, सर्ववस्तुरूपश्च, सर्वनिवृत्तिरूपेण सर्वनिवर्तकश्च. भजने च एते धर्माः भजनीयविषयतावच्छेदकत्वेन गुणोपसंहारन्यायेन ग्राह्याः. तथा सति सर्वात्मकतया भजनं भवति. किञ्च **भगवान्** षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः. ऐश्वर्याद्यर्थमपि स्वस्य सेवनं भवति. 'श्री'शब्देन अत्र शोभा ग्राह्या. किञ्च **अनन्तो** देशकालापरिच्छिन्नो नित्यः. एतावता पञ्चविंशति तत्त्वानि, षड्विंशकश्च महाविष्णुः षड्विंशतिप्रकारेण सेवितव्यः.

प्रकाशः

खण्डशः क्रियमाणा इत्यादि स्पष्टम्. ननु "तस्य तदेव हि मधुरम्[२]" (सुभा.हारा. १४४१) इति न्यायात् तथाकरणेऽपि को दोषः इत्यतः आहुः **प्रीतिस्तु** इत्यादि. **ततः** इत्यादेरेव विवरणं **ततः** इत्यादि. **अतः** भगवतः सहजप्रियत्वात्. **चेति**, आनन्दनिधित्व-लक्षण-प्रयोजनरूपः इति अर्थः. **अत्र** इति स्वेष्टैश्वर्यादौ. **एतावता** इति पञ्चात्मकत्वेन ॥६॥

लेखः

पञ्चार्थवाचकत्वाद् इति. "अर्थो अभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु" (अमरको. ३।३।८६) इति कोशाद् इति भावः. **'श्री'शब्देन अत्र शोभा** इति. **अर्थ**पदव्याख्याने धनस्य उक्तत्वात् लभते ; न पुनरुक्तिः इति भावः. **अनन्तो द्विविधश्च** इति, देशकालाभ्याम् अनन्तत्वं द्विधा इति अर्थः. पञ्चविंशति-तत्त्वपक्षस्तु **अनन्त**पदेन द्वैविध्याविवक्षया षड्विंशतिभेद-कथनेन ॥६॥

---

१. अपिर्नास्ति ख. २. दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधा तु मधुरैव, तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम् : हरिकविः -सम्पा.

तत्र **आत्मा** द्विविधो जीव-ब्रह्मभेदेन, **प्रियः** एकादशविधः एकादशेन्द्रिय-भोग्यत्वाद्, **अर्थः** पञ्चविधः उक्तः, **भगवान्** षड्विधः, **अनन्तो** द्विविधश्च —एवं सर्वप्रकारेण सेवितव्यः इति अर्थः. सेवकस्य अधिकारिविशेषणभूत-धर्मद्वयम् आह **तं निर्वृतो नियतार्थः** इति. एकम् अन्यनिवृत्त्यर्थम् एकञ्च भगवति दार्ढ्यार्थम्. इमौ च धर्मौ आवश्यकौ, अन्यथा सर्वप्रकारेण सेवितोऽपि न पुरुषार्थो भवति. सर्वतो **निवृत्तः**[१], अन्यथा ब्रह्मास्त्रन्यायो भवेत्. **नियतो** भगवत्येव **अर्थः** पुरुषार्थो यस्य, भगवान् वा. अन्यथा "संशयात्मा विनश्यति" (भग.गीता ४।४०). यद्यपि भगवानेव फलं, नच अन्यद् अपेक्ष्यते[२], तथापि आनुषङ्गिकं फलं **संसारहेतोः** अज्ञानस्य भगवद्वैमुख्यस्य वा (**उपरमः!**) निवृत्तिः भवति. **चकारात्** सायुज्यादि ॥६॥

एवं भजनस्य सर्वोत्तमत्वं प्रतिपाद्य तादृशस्य अकर्तॄन् शोचन् आह.

कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्तामृते पशूनसतीं नाम युञ्ज्यात् ॥
पश्यन् जनं पतितं वैतरिण्यां स्वकर्मजान् परितापान् जुषाणम् ॥७॥

कः ताम् इति. **तां** भगवतः **पराम् अनुचिन्तां** ध्यानरूपचिन्तनाम्[३] **ऋते पशून्** विना पशून् **अनादृत्य** अकृत्वा **असतीं** चिन्तकनाशिकां देहादिचिन्तां **नाम** इति प्रसिद्धे **युञ्ज्यात्** स्त्रियमिव योजयेत्! अज्ञानाद् भवतु नाम योजनं; तत्कृतम् अपकारं ज्ञात्वा **कः तां युञ्ज्यात्?** अपकारं गणयति **पश्यन् जनम्** इति. यथा भगवद्भजने भगवदीयाः षड्गुणाः स्वस्मिन् सङ्क्रमन्ते तथा देहादिभजने तद्गताः षड्दोषाः सङ्क्रमन्ते— उत्पत्तिः नाशो दुःखं कर्माणि परितापो हीनत्वं च. तद् आह. **जनम्** उत्पद्यमानम्. **पतितं** स्वस्थानात् च्युतं, मृतम् इति यावत्. **वैतरिण्यां** यमद्वारस्थित-नद्याम्. अनेन असतीपरिग्रहे मृतो वैतरिण्यां पतति इति सूचितम्. (**स्वकर्मजान् परितापान् जुषाणं!**) स्वकृतविविधकर्मफलं च सेवमानम्. **परितापाः** शोकादयः. अतः को वा अमृतं विहाय विषं भक्षयति[४] इति प्ररोचनार्थं न बहु वक्तव्यम् इति भावः.

---

१. निर्वृत इति ख-ग-घ. २. अपेक्षत इति ख. ३. ध्यानेन रूपचिन्तनामिति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु कपाठानुसारेण -सम्पा. ४. भक्षयिष्यतीति ख-घ.

एवं सर्वार्थनिश्चयपूर्वकं भक्तिमार्गानुसारेण भगवद्विषयकं श्रवणादिकं साधनं कर्तव्यम् इति सिद्धम् ।।७।।

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति ।।८।।
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम् ।।
लसन् महारत्नहिरण्मयाङ्गदं स्फुरन् महारत्नकिरीटकुण्डलम् ।।९।।
उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धरमम्लानलक्ष्म्या वनमालयाऽञ्चितम् ।।१०।।
विभूषितं मेखलयाऽङ्गुलीयकैर्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।।
स्निग्धामलैः कुञ्चितनीलकुन्तलैर्विरोचमानाननहासपेशलम् ।।११।।
अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद् भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं यावन्मनो धारणयाऽवतिष्ठते ।।१२।।
एकैकशोऽङ्गानि धियाऽनुभावयेत् पादादि यावद्धसितं गदाभृतः ।।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत् परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा ।।१३।।

अत्र केषाञ्चिद् मते सर्वनिर्धारो व्यर्थः. मुख्यभगवद्रूपं चतुर्भुजादि आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादिरूपं ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यम् इति धारणायां स्थूलस्थाने भजनीयं भगवतः आनन्दरूपं योजयन्ति. **केचिद्** इति वचनाद् न अत्र सर्वसम्मतिः ; अनेन हि आनन्दाविर्भावएव क्रियते नतु दोषनिवृत्तिः. यद्यपि नान्तरीयकपापादिनिवृत्तिः क्रियते तथापि सर्वभावत्व-सम्पादकत्वाभावाद् न रागादिनिवृत्तिः. भगवतो रूपाणि चत्वारि ध्येयानि— अङ्गुष्ठमात्रं, प्रादेशमात्रं, पुरुषमात्रं, पूर्वोक्तञ्च. तत्र (**स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे वसन्तं प्रादेशमात्रं पुरुषं!**) स्वनैकट्यं प्रादेशमात्रस्यैवेति, वैश्वानरविद्यायां च सिद्धत्वात्

प्रकाशः

कः ताम् इत्यत्र. **एवम्** इति, सप्तपद्योक्तप्रकारेण इति अर्थः ।।७।।

केचिद् इत्यत्र. **अत्र** इति, साधननिर्धारे इति अर्थः. विवृतौ

लेखः

केचिद् इत्यत्र. **वैश्वानरविद्यायाम्** इति. ... . **पुरुषाद् अतिरिक्तम्**

शुद्धे च स्वहृदये मातुं शक्यत्वात्. अथवा "अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" (ऋक्संहि. १०।९०।१) इति पुरुषाद् अतिरिक्तं रूपम् अतिरेकार्थं भजन्ते. अतिरिक्तमपि पुरुषाकारं **वसन्तं** तृतीयं पुरुषम्. तस्य मूलरूपं[1] वर्णयति **चतुर्भुजम्** इति. **कञ्जं** कमलं **रथाङ्गं** चक्रं; हस्तचतुष्टयेऽपि आयुधधारिणम्. अनेन सर्वतो रक्षा सूचिता, प्रवेशेऽपि तत्त्वानि तत्र स्थापयित्वा स्वयं प्रविशेद् इति. **धारणया** पूर्वोक्तया **स्मरन्ति** इति विद्यमानत्वाद् न अन्तर्मनसा कल्पनम् अपेक्ष्यते[2]. किञ्च **प्रसन्नवक्त्रं** प्रसन्नं भक्तेभ्यः फलदानार्थं वक्त्रं यस्य, **नलिनवद् आयते** दीर्घे **ईक्षणे यस्य. कदम्बकिञ्जल्कवद्** अर्धपीतारक्तम्[3] अन्तभागे च[4] अन्ते मुक्ताफलसहितं रेखाकारञ्च. **कदम्बकिञ्जल्कवत्** सुवर्णदण्डाकार-सूत्रनद्ध-मुक्ताव्याप्तं कृतार्थीकृताशेषजीवयुक्त-वेदरूपम् एतादृशं **(पिशङ्गवाससम्!)** भगवतः पीताम्बरम्. **लसन्ति महारत्नानि यस्मिन् हिरण्मये अङ्गदे. अङ्गदं** बाह्वाभरणम्. **स्फुरन्ति महारत्नानि किरीटे कुण्डलयोश्च यस्य. उन्निद्रे** विकसिते हृदयरूपे **पङ्कजे** या **कर्णिका** तस्मिन् यद् **आलयं** गृहं "सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं[5]" (भाग.पुरा. ३।८।३१) तस्मिन् आलये **योगेश्वरैः आसमन्तात् स्थापितं**

प्रकाशः

तत्र इति आयुधेषु. **स्वयं** जीवः. **सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमम्** इति. "रविमध्ये स्थितः सोम-" (मैत्रायण्युप. ६।३८) इति मन्त्रे तथा सिद्धम् इति

लेखः

इति, विराट्पुरुषाद् अतिरिक्तम् इति अर्थः. **तृतीयम्** इति. तदुक्तं "प्रथमं महतः सृष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितं, तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते" (सात्वततन्त्र) इति. **प्रवेशेऽपि** इति. हृदयदेशे भगवत्प्रवेशेऽपि तत्त्वरूपाणि आयुधानि रक्षार्थं बहिः स्थापयित्वैव प्रविशेद् इति अर्थः.

---

१. स्थूलरूपमिति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ख-ग-घपाठानुसारेण - सम्पा.

२. अपेक्षते इति ग-घ. ३. पीतारक्तयुक्तमिति क-ख. ४. वाऽन्ते इति ग-घ.

५. 'सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमम्' इति. एते सूर्यादयः कर्णिकायां आवरणभूताः. एतैः विद्यया तैः भगवत्प्राप्तिः न भवतीति दिन-रात्रिव्यवस्थया कालातिक्रमार्थम् : सुबो. ३।८।३१ - सम्पा.

पादपल्लवं यस्य. श्रीः लक्ष्म चिह्नं **यस्य. कौस्तुभरत्नं कन्धरायां यस्य. अम्लाना लक्ष्मीः यस्याः** सर्वदा प्रत्यग्रविकसित-पुष्पयुक्ता तादृश्या **वनमालया अञ्चितं** पूजितम्. **मेखलया** कटिदोरकरूपया **अङ्गुलीयकैः** च. **महाधनैः** अमूल्यरत्नादियुक्तैः, उभयत्र विशेषणम्. **नूपुरम्** एकं महाराजचिह्नरूपम्. आदिशब्देन वलयादि. **स्निग्धाश्च**[१] **ते अमलाश्च कुञ्चिताः नीलाः कुन्तलाः** तैः **विरोचमानं** यद् **आननं** तेन यो **हासः** तेन **(पेशलं!)** सुन्दरम्. **अदीनं** यद् **लीलाहसितम्**. सर्वेभ्यो याचकेभ्यः सर्वफलदानेऽपि असङ्कोचयुक्तम् **अदीनम्**. लीलाहसितेन युक्तं यद् **ईक्षणं** तेन **उल्लसन्त्यौ** ये **भ्रुवौ** तयोः **भङ्गः** तेन **संसूचितः भूरि** अधिकः **अनुग्रहो येन. (एनं चिन्तामयम्!)** एतादृशं चिन्तया प्रकटीभूतं राजाधिराजरूपम् **ईश्वरम् ईक्षेत यावद् मनः धारणया** सर्वाङ्गस्थितया **अवतिष्ठते** चाञ्चल्यं न प्राप्नोति. सर्वाङ्गास्फुरणे पुनः **एकैकशो अङ्गानि (अनुभावयेत्!)** धारयेत्. एकं धृत्वा तस्य स्वाधीनतायां जातायां द्वितीयं धारयेद् इति **धिया** इति उक्तम्. अत्र धारणायां क्रमो विवक्षितः, तद् आह **पादादि यावद् हसितम्** इति. तृतीयस्कन्धे स्पष्टं भविष्यति. **गदाभृतः** इति प्राणनिश्चलता सूचिता. **जितं जितं स्थानं** स्वाधीनं स्वाधीनं स्थानं पादादि **अपोह्य** ग्राहकबुद्ध्यग्रभागात्[२] त्याजयित्वा तेन अग्रेण **(परं!)** अन्यद् ग्राह्यम्. अन्यग्रहणे तथा भगवदवयवस्य

प्रकाशः

अर्थः. कथं धारयेद् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **जितं जितम्** इत्यादि ॥८-१३॥

लेखः

विभूषितम् इत्यत्र. ननु पुरुषस्य नूपुरधारणम् अप्रसिद्धम् इत्यतः आहुः **नूपुरम्** इति. **एकम्** इति, असाधारणचिह्नम् इति अर्थः. अतो महाराजाधिराजत्व-बोधनार्थं तदुक्तिः इति भावः ॥८-१३॥

---

१. स्निग्धानि च तान्यमलानीति कुन्तलानीत्यन्तं क्लीबपाठः क.

२. ग्राहकबुद्धिग्रहणादिति ख-ग. ग्राहकबुद्ध्यग्रगाभावादिति घ.

अधिकाः गुणाः स्मर्तव्याः **यथा (धीः शुद्ध्यति!)** बुद्धिदोषाः अपगच्छेयुः. तदपगमे बुद्धिः विशदा भवति. तदा **(परं!)** अवयवान्तरमपि माति ; एवम् उत्तरत्राऽपि. यथा यथा बुद्धिः शुद्ध्यति तथा तथा परं धारयेद् इति अर्थः ॥८-१३॥

इयञ्च धारणा सञ्जातभक्तेः भवति. यावत् पुनः भक्तिः न जायते तावत् पूर्वैव धारणा कर्तव्या इति आह.

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः ॥
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥१४॥

यावद् इति. **परे अवरे यस्मात् ;** परावरत्वस्फुरणमपि सर्वोत्तमत्वरूपं प्रेमभक्तेः अङ्गं माहात्म्यज्ञानापरपर्यायम्. **अस्मिन्** इति स्वयं भक्त्या तं पश्यन् आह. **द्रष्टरि** सर्वसाक्षिणि पूर्वोक्तन्यायेन सर्ववस्तुषु चैतन्यरूपेण वा प्रत्यग्ररूपेण वा प्रकाशमाने. **योग**पदेन स्वसाधनं साधनभूतं **भक्तेः** स्थिरं रूपम् उक्तम्. **तावत् स्थवीयः** स्थूलं **पुरुषस्य** पूर्वोक्तस्य **(रूपं स्मरेत!)**. **क्रियावसाने** अग्निहोत्रादिकं कृत्वा अव्यग्र-शुद्धावस्थायां ; संन्यासं गृहीत्वा इति केचित्. तदा निरन्तरं स्मरणं भवति, परं क्रियायाः हेतुत्वं

प्रकाशः

यावद् न इत्यत्र. **पूर्वोक्तन्यायेन** इति, स्वप्नजनेक्षितृन्यायेन (भाग.पुरा. २।१।३९) इति अर्थः. अत्र **परावरेऽस्मिन्** इति (मूल)पदाभ्यां माहात्म्यज्ञान-पूर्विकां भक्तिं भगवदाविर्भावं (च!) स्वस्मिन् सूचयति इति **भक्तियोग**पदेन भक्तिलक्षणं योगमपि स्वस्मिन् सूचयति इति आशयेन आहुः **योगपदेन** इत्यादि. **स्वसाधनं** स्वकृतं चित्तनिरोधरूपं साधनं **साधनभूतं भक्तेः स्थिरं रूपम् उक्तम्** असाधारणं भक्तिनिरूपकम् उक्तं, स्वस्मिन् भक्तिलक्षणो योगः उक्तः इति अर्थः. **पूर्वोक्तस्य** क्षरस्य इति अर्थः.

लेखः

यावद् न जायेत इत्यत्र. **केचिद्** इत्यनेन अस्वरसः सूचितः तद्बीजम् उद्घाटयन्ति **तदा** इत्यादि. सर्वकर्मत्यागेन संन्यासानन्तरम् एतद्धारणायां यद्यपि **स्मरणं निरन्तरं भवति** तथापि वैदिक्याः **क्रियायाः** लौकिककर्मवद् हेयत्वमेव सिद्ध्येद्, नतु हेतुत्वेन उपादेयत्वमपि इति अर्थः. ननु इष्टापत्तिरेव

न स्यात्, प्रतिबन्धकत्व-कल्पनापेक्षया साधकत्वकल्पनायाः उत्कृष्टत्वात्, "पुण्यतीर्थजलाप्लुतः" (भाग.पुरा. २।१।१६) इति नियमानाम् उक्तत्वाच्च. **प्रयतः** सावधानो भूत्वा. नियमेऽपि धर्मः. अन्यभावनापरित्यागार्थं वा ॥१४॥

एवम् अन्तकाले पाक्षिकदोषपरिहारार्थं योगं साधयित्वा तस्य दृष्टोपायत्वज्ञापनाय बुद्धिपूर्वकं मरणप्रकारम् आह **स्थिरम्** इत्यादिना.

स्थिरं सुखञ्चाऽऽसनमास्थितो यतिर्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम् ॥
देशे च काले च मनो न सज्जयेत् प्राणान् नियच्छेत् मनसा जितासुः ॥१५॥
मनः स्वबुद्ध्याऽमलया नियम्य क्षेत्रज्ञ एनां निनयेत् तमात्मनि ॥
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥१६॥

प्रकाशः

क्रियायाः हेतुत्वानङ्गीकारे[१] इष्टापत्तौ दूषणम् आहुः **प्रतिबन्धके**त्यादि. **उत्कृष्टत्व**ञ्च "एतान्यपि तु कर्माणि" (भग.गीता १८।६), "स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः" (भाग.पुरा. ११।१९।४२) इत्यादि वाक्यैः अवगन्तव्यम्. प्रकृतानुशयो अयमेव इत्यत्र विनिगमकम् आहुः **पुण्ये**त्यादि **प्रयतः** इत्यादि च. फलानभिसन्धाने धर्मस्य किं प्रयोजनम् इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः **अन्य** इत्यादि ॥१४॥

लेखः

कुतो न स्याद्, लौकिककर्मवद् वैदिकस्यापि ध्यानादि-प्रतिबन्धकत्वेन हेयत्वाद् इत्यतः आहुः **प्रतिबन्धकत्वे**ति. **साधकत्वे**ति, चित्तशुद्धिद्वारा साधकत्वेति अर्थः. **उत्कृष्टत्वाद्** इति. अन्यथा वैदिककर्मणोऽपि लौकिककर्मसमानता-सिद्ध्या निकृष्टत्वमेव स्याद् इति भावः. ननु **अवसाने** इति उक्त्या सर्वात्मना क्रियात्यागएव सिद्ध्यति इति ग्रहिलवादिनं प्रति आहुः **पुण्यतीर्थ** इति. तथाच पूर्वापरविरोधाद् **अवसानप**दं न सर्वथा त्यागार्थकम् इति भावः. **नियमेऽपि** इति. तथाच अत्रापि नियमोक्त्या धर्मत्यागास्फोरणाद् उक्तैव व्यवस्था इति भावः ॥१४॥

---

१. हेतुत्वाङ्गीकारे इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

फलमुखम् एतद् अङ्गं सन्निहितम्, उत्तराङ्गम् इति केचिद्, अवान्तरव्यापारः इति अपरे. **स्थिरम्** अचञ्चलं **सुखं** कोमलम् **(आसनं!)** पद्मासनादिरूपं वृष्यादिरूपं[१] वा. **आसमन्तात् स्थितः** मनसाऽपि अन्यत्र गमनं निवारितम्. अतः परं संन्यासो नित्यः. तदा वा संन्यासः कर्तव्यः इति आह **यतिः** इति. प्राणायामं कृत्वा पञ्चाक्षरं संन्यासमन्त्रं त्रिर्जपित्वा "अभयमभयं भूतेभ्यः" (बोधा.गृह्यसूत्र ४।१६।४) इति भूताभयदानम् उक्त्वा ब्रह्मणः त्रिविधनिर्देशम् उक्त्वा "वसुरण्वो विभूरसि" (महाना.उप. २४।८) इति महोपनिषदर्थं भावयित्वा ब्रह्मणि प्रणवेन जीवयोजनं यतित्वम्. एवं भूत्वा तदा अन्यदा वा **यदा जिहासुः** भवति **इमं लोकं** देहं तदा देशकालापेक्षा न कर्तव्या इति आह **देशे च काले च** इति. **देशे** बदरिकाश्रमादि-पुण्यस्थाने **काले** उत्तरायणे **चकाराद्** उभयाङ्गधर्मेषु **मनो न (सज्जयेद्!)** आसक्तं कुर्यात्. विशेषणभूतएव देशादौ चित्तं व्यापृतं मा भवेदिति तदा केवलं भगवन्निष्ठं मनः कृत्वा यद् देशादिभिः भविष्यति तद् भगवतैव भविष्यतीति मनःस्थैर्यं विधाय **प्राणान् नियच्छेत्** मूलाधाराद् अपानं सङ्कोच्य तत्र प्राणं निधाय कुण्डलिनीप्रबोधनेन प्रबुद्धां तां प्राणापानसहितां सुषुम्णारन्ध्रे निवेश्य वायुम् ऊर्ध्वं नयेद् इति अर्थः. **मनसा** बुद्धिसहितेन देहचालनादिकम् अकृत्वा. एतत्सामर्थ्यं जितासोरेव

प्रकाशः

स्थिरम् इत्यत्र. **एतदङ्गम्** इति, बुद्धिपूर्वकं मरणं स्मरणस्य **अङ्गं सन्निहितं** सहकारि इति अर्थः. **उत्तराङ्गम्** इति फलजननदशायां सहकारि.

लेखः

स्थिरम् इत्यत्र. **वृष्यादिरूपं वा** इति. व्रतीनाम् आसनम् वृषी. "उपविष्टं दर्भमय्यां वृष्याम्" (भाग.पुरा. ४।६।३७) इति चतुर्थस्कन्ध-समाप्त्यध्याये. **ब्रह्मणः त्रिविधनिर्देशम्** इति. तदुक्तम् "ॐ-तत्-सद् इति निर्देशो ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः" (भग.गीता १७।२३) इति. **वसुरण्वो विभूरसि** इति. ... ॥१५॥

---

१. वृक्षादिरूपं वेति ख.

[1]भवतीति तदवसरं[2] स्मारयति **जितासुः** इति. एवङ्कृते वा जितासुः भवति. यदा कश्चित् स्वग्रामाद् निष्काश्यते तदा जयः सिद्धो भवति. तदनन्तरं **मनः स्वबुद्ध्या** आत्मबुद्ध्या सङ्घातव्यतिरिक्तरूपया **अमलया** भक्त्यादिभिः शुद्धया **नियम्य** स्थिरं कृत्वा प्रयत्नं त्याजयित्वा, दण्डवत् त्यक्त्वा इति यावत्, स्वस्मिन् वा स्थापयित्वा बुद्ध्या वा संयोज्य **(एनां!)** तां बुद्धिं मनःसमाहितां वा **क्षेत्रज्ञे** शारीरे **आत्मनि** यः क्षेत्रं देहादि 'अहम्' इति 'मम इदम्' इति वा अभिमन्यते तस्मिन् **(निनयेत्!)** प्रवेशयेत्. तञ्च क्षेत्रज्ञं भगवतो रूपविशेषे सर्वजीवसमूहरूपे **आत्मनि** "अहम् आत्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः" (भग.गीता १०।२०) इति वाक्यनिरूपिते भगवद्विभूतिरूपे तम् **आत्मानं** भगवति तस्मिन्नेव[3] भगवद्रूपे **अवरुध्य** एकीकृत्य पुनः देहानुसन्धानार्थम् इच्छाम् अकृत्वा **धीरो** भूत्वा तत्र आत्मनि **लब्धोपशान्तिः कृत्यात्** कोटिजन्मभिः कृतात् कर्तव्यात् सर्वेभ्यएव प्रयत्नेभ्यः **(विरमेत्!)** उपरतो भवेत्, समाधाविव स्थित्वा पुनः न आगच्छेद् इति अर्थः. अत्रैव मुक्तिः इति एकः पक्षः. एवं स्थिते देहः स्वयमेव स्वकारणलयाद् गच्छति, परं तद् न अनुसन्धत्ते. एतत् तृतीये वक्ष्यते ॥१५-१६॥

प्रकाशः

मनः स्व इत्यत्र. **अत्रैव मुक्तिः इति** इति. **अत्रैव** हृदयाकाशएव इति अर्थः. एतेन "यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा ये अस्य हृदि स्थिताः, अथ मर्त्यो अमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठोप. २।३।१४) - "तद् यथाहि निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत एवमेव इदं शरीरं शेते" (बृहदा.उप. ४।४।७) इत्यादिका श्रुतिः व्याख्याता ज्ञेया. **एवं स्थिते** इति, स्वजीवम् अक्षरे संयोज्य स्थिते सति इति अर्थः. **स्वकारणलयाद्** इति. देहकारणञ्च प्राणधारणप्रयत्नो वा अविद्या-काम-कर्माणि वा ; तल्लयश्च उपशमाद् ज्ञेयः. अत्र एवम् उक्तौ प्रमाणम् आहुः

---

१. सम्भवतीति क-ग. २. तदवसरे इति मुद्रितपाठः. कपाठे तु एवं - सम्पा.

३. तस्मिन्नेव वा भगवद्रूपे इति ख.

तस्य मुक्तित्वं वदति.

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे ॥
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानम् ॥१७॥

न यत्र इति. **यत्र** आत्मनि **कालो न प्रभुः**. **अनिमिषां** देवानां **परः** उत्कृष्टः मुख्याधिकारी, **प्रभुः** तेषामपि नियन्ता. अनेन अधिकारः सामर्थ्यञ्च उक्तम्. तथापि भगवति स्थितत्वाद् न प्रभुः ; **कुतो नु देवाः** इन्द्रियाधिष्ठातारः! ते हि सर्वदा समाधिस्थितं[१] निष्काशयन्ति. तेषाम्[२] इतो निष्काशने सामर्थ्यं कैमुतिकन्यायेन निवारितम्. तेषां सामर्थ्यम् आह **जगतां य ईशिरे** इति, सर्वजगति ये प्रभवः. अतः कालस्य कालनियम्यानां वा न तत्र सामर्थ्यम् इति उक्तम्. यद्यपि कालप्रेरणव्यतिरेकेण गुणाः न क्षुभ्यन्ति, अक्षुब्धाश्च स्वरूपाद् न प्रच्यावयन्ति, तथापि क्षोभणे कालो गुणाधीनः इति तेषां पृथग् निराकरणम् आह **न यत्र** इति. **च**कारात् प्रकृतिगुणाः अहङ्कारगुणाश्च. **वै** निश्चयेन (**विकारो!**) अहङ्कारोऽपि. सतु सर्वदा स्वरूपच्यावकः[३] अतो **वै**शब्दः. **महान्** महत्तत्त्वं **प्रधानं** प्रकृतिः ; तत्र स्थितं कोऽपि न चालयति इति अर्थः ॥१७॥

प्रकाशः

तृतीये इति. देवहूतिसंसिद्धौ स्फुटं, ततो अवधेयम् ॥१५-१६॥

न यत्र इत्यत्र आभासे. **क्षोभणे कालो गुणाधीनः** इति. गुणानधीनत्वे[४] युगपदेव क्षोभयेदिति क्रमदर्शनात् तथा इति अर्थः. **विकार**शब्दस्य अहङ्कारबोधकत्वे विनिगमकम् आहुः **अतो वै** इत्यादि. 'विकार'शब्देन हि षोडशकम् उच्यते. तद् अत्र देवानाम् अनीशत्वोक्त्या, इन्द्रियाणां जडतया च भूतानां प्रच्यावनाऽसमर्थत्वात् कैमुतिकेनैव परास्तम् इति "विकरोति" इति योगाद् महत्समभिव्याहाराच्च अहङ्कारएव उच्यते इति ज्ञापनार्थम् **अतः** सर्वथा प्रच्यावकत्वाद् **'वै'शब्दः** उक्तः इति अर्थः ॥१७॥

१. समाधिस्थमिति ख-ग. २. तेषामपीतो निष्काशने इति ख-ग.

३. स्वरूपप्रच्यावकः इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

४. गुणाधीनत्वे इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

ननु एवं तस्य स्थानस्य कथं माहात्म्यम्? तद् आह.

परं पदं वैष्णवम् आमनन्ति तद् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ॥
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगूह्याऽर्हपदं पदे पदे ॥१८॥

परं पदम् इति, तत् सर्वेभ्यः पदेभ्यः स्थानेभ्यः उत्कृष्टं **पदम्** अक्षररूपं पुरुषोत्तमपादरूपम् अतएव **वैष्णवम्. यद् वैष्णवं परं पदम् आमनन्ति** इति योजना. **यद्** इति उद्देश्यम्. **आमनन्ति** इति तत्र प्रमाणम्. केवलश्रुतेः प्रमाणत्वे उपचरितार्थत्वं [१]वा कल्प्येत अतः आह **नेति नेति इति अतद् उत्सिसृक्षवः** इति. **अतद्** आत्मव्यतिरिक्तम् अस्मिन् सङ्घाते ये **उत्सिसृक्षवो** भवन्ति ते **तद् वैष्णवं पदम् इति** वदन्ति. तद् एकं ग्राह्यम् अन्यत् त्याज्यम् इति विवेकः. नच तेषाम् उत्तमाधिकारादेव स्फुरणं भविष्यति इति आशङ्क्य तेषाम् अधिकारम् आह **विसृज्य** इति. तेषाम् अपेक्षितं गुणत्रयं वर्तते— **(दौरात्म्यं!)** सर्वथा देहादौ आत्मस्फूर्तित्यागः सर्वदोषाभावरूपः. **(अनन्यसौहृदाः!)** न विद्यते अन्यस्मिन् सौहृदं येषाम्. अनेन पूर्वोक्तन्यायेन भगवति परमा प्रीतिः उक्ता. साधनञ्च

प्रकाशः

परं पदम् इत्यत्र. **उपचरितार्थत्वं वा** इति **वा**शब्दो अप्यर्थे. **नच** इत्यादि. अनया शङ्कया च सर्वत्र भगवद्भाववत्त्वम् उत्तमाधिकारित्वम् इति ज्ञाप्यते. तथाच तदुक्तं तादृशानामेव उपयोगि, नतु सामान्यानाम् इति सामान्यप्रत्ययार्थं सामान्याधिकारम् आह इति अर्थः. **पूर्वोक्तन्यायेन**

लेखः

परं पदम् इत्यत्र. **उपचरितार्थत्वम्** इति, गौण्या यथाकथञ्चिद् निरूपकत्वम् इति अर्थः. **न च तेषाम्** इति. **उत्तमाधिकारादेव तेषाम्** आत्मव्यतिरिक्त-**स्फुरणं न भविष्यति इति आशङ्क्य** इति अर्थः. तथाच तेषां दृष्ट्या कथम् अवरैः तत्र परत्वं निश्चेयम् इति भावः. **अधिकारम् आह** इति, तर-तमज्ञानप्रयोजकम् अधिकारम् आह इति अर्थः ॥१८॥

---

१. उपचरितार्थत्वं कल्प्येतेति क.

आह **अर्हपदं** भगवच्चरणारविन्दं **पदे पदे** क्षणे क्षणे, मनसः स्थापनस्थाने वा, **उपगूह्य** आलिङ्ग्य **आमनन्ति** इति सम्बन्धः. एतादृशैः उक्तं न अन्यथा भवति इति अर्थः ॥१८॥

इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो विज्ञानदृग्वीर्यसुरन्धिताशयः ॥
स्वपार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितक्लमः ॥१९॥
नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्माद् उदानगत्योरसि तं नयेन् मुनिः ॥
ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत् सुधीः ॥२०॥
तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत निरुद्धसप्तास्वयनोऽनपेक्षः ॥
स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठदृष्टिर्निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत् परं गतः ॥२१॥

इत्थम् इति उपसंहारः ; एवं स्थिते देहादिः स्वयमेव गमिष्यति इति भावः. पक्षान्तरम् आह **मुनिस्तु** इति. यदि तत्र स्थितो न भवेद्, मननवत् साधनान्तरपरो भवेत्. भिन्नतया तत्स्वरूपं भासयते चेत् तदा तस्माद् **उपरमेत्,** प्रकारान्तरेण पुरुषार्थः साधनीयः इति. तमेव प्रकारान्तरम् आह **व्यवस्थितः** इति. विशेषाकारेण [1]तस्मिन्नेव पदे **(अवस्थितः!)** मनः स्थिरीकृत्य आत्मानं योजयित्वा भगवत्साक्षात्कारं ब्रह्मात्मभावं वा बहुकालम् अनुभूय तस्य **विज्ञानस्य** बलं प्राप्य, **विज्ञानमेव** या(/वा!) **दृग्** अनुभवरूपं यज्ज्ञानं तस्य **वीर्येण** सामर्थ्येन सर्वाज्ञाननिवर्तकरूपेण

प्रकाशः

इति ''स सर्वधीवृत्ति-'' (भाग.पुरा. २।१।३९) इति श्लोकोक्तन्यायेन ॥१८॥

इत्थं मुनिः इत्यत्र. **मननवत्साधनेति.** अत्र मतुब् ज्ञेयो, नतु वतिः. **विज्ञानम्** इति, निदिध्यासनरूपं समूहालम्बनात्मकं ज्ञानम् इति

लेखः

इत्थम् इत्यत्र. **तत्र स्थितो न भवेद्** इति, पूर्वोक्तधारणायाम् इति अर्थः. **तत्स्वरूपम्** इति. **तत्** मनःकर्तृभूतं **स्वरूपं** कर्मभूतम् अन्यथा **भासयेत् चेत् तदा** मननाद् **उपरमेद्** इति अर्थः. **तस्माद्** इत्यत्र.

---

१. एतस्मिन्निति ख.

सुष्ठु रन्धितः शोधितः[१] =रागादिनिराकरणेन शुद्धः कृतः **आशयो यस्य** तादृशो भवेत्, सम्यक् चित्तशोधनं कुर्याद् इति अर्थः. तदा शुद्धे चित्ते देहत्यागार्थं यत्नं कुर्याद् इति तत्त्यागोपायम् आह **स्वपार्ष्णिना आपीड्य** इति. मूलाधारस्य पीडनं पार्ष्णिना कर्तव्यम्. एकवचनेन पार्ष्णिद्वयपक्षो निवारितः. **गुदं** मूलाधारस्थानम्. **ततः** कुण्डलिनीप्रबोधात् **ततो** मूलाधाराद् **अनिलम्** उत्थाप्य **(षट्सु स्थानेषु उन्नमयेद्!)** षट्चक्रभेदनेन ऊर्ध्वं नयेत्. तत्र वायोः स्थानभूतानि षट्चक्राणि [२]मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरका-ऽनाहत-विशुद्धि(?)-आज्ञारूपाणि गुदे गुह्यस्थाने[३] नाभौ हृदये तालुमूले भ्रूमध्ये च स्थितानि. तानि स्थानानि 'पद्म'त्वेन उक्तानि— चतुर्दलं, षड्दलम्, अष्टदलं, द्वादशदलं, षोडशदलं, द्विदलम् इति. तेषु वायोः ऊर्ध्वनयनम् आर्जवेन न भवति इति अन्यत्र गमनशङ्कया साधनम् आह **जितक्लमः** इति, वाय्वाकर्षणे[४] जितः क्लमो येन. नाभिपर्यन्तम् आर्जवम्, अग्रे वक्रता. अतो **नाभ्यां स्थितं** महता प्रयत्नेन **हृदि अधिरोपणीयम्**. तत्र हृत्पुण्डरीकम् ऊर्ध्वनालम् अधोमुखं ; तद् वायुवशाद् ऊर्ध्वमुखं कर्तव्यम्. ततः प्रयत्नाधिक्याद् **नाभ्यां स्थितम्** इति अनूद्य हृदि अधिरोपणम् उक्तम्. **तस्मादपि** अग्रे नयनं दुर्घटं[५] तालुमूलस्थाने. उरसि उदानवायुरेव तिष्ठति. अन्योऽपि यो गच्छेत् तत्र सः तद्भावम् आपन्नएव गच्छेद्, अतः आह **उदानगत्या उरसि तं नयेद्** इति. पूर्वाधिकारे हृदयपर्यन्तमेव वायोः आनयनम्, अस्य तु अग्रे नयनम् इति पूर्ववद् आह **मुनिः** इति. तत्र समावस्थितिभावं प्राप्तस्य अग्रे गमनार्थं तद्भावं त्यक्त्वा पूर्वभावम्

प्रकाशः

अर्थः. **नाभ्याम्** इत्यत्र. **अग्रे** पदं तालुमूलस्थान-विशेषणं ज्ञेयम्. **ततो अनुसन्धाय** इत्यत्र. **समावस्थितिभावम्** इति, उदानसाम्यम् इति अर्थः.

---

१. शोषित इति ख. २. मूलाधारं स्वाधिष्ठानमिति ख.

३. गुह्यमूले इति ख. ४. वाय्वाकर्षेणेति ग-घ.

५. दुर्घटं ततः प्रयत्नाधिक्याद् : इत्यधिकं ख. एवं तालुमूले स्थिरीकृतं मुखादिच्छिद्रद्वारा निर्गमनशङ्कया : इत्यधिकं मा.१ पाठे - सम्पा.

अनुसन्धाय ततो (धिया!) महत्या बुद्ध्या ग्रहणस्थापनसमर्थया **मनस्वी** महाबुद्धिमान् **स्वतालुमूलं** तस्यैव अग्रिमस्थानं – शीघ्रं नीतस्य मुखादिद्वारेण निर्गमनशङ्कया – **शनकैः नयेत्**. तत्र बुद्धेः सूक्ष्मता विधेया स्थापनार्थं नयनार्थञ्च इति आह **सुधीः** इति. एवं तालुमूले स्थिरीकृतं मुखादिच्छिद्रद्वारा निर्गमनशङ्कया **निरुद्धसप्तास्वयनः** निरुद्धानि सप्त असोः प्राणस्य अयनानि द्वाराणि येन तादृशो भूत्वा **तस्मात्** पूर्वस्थानाद् **भ्रुवोः अन्तरम् ऊर्ध्वं नयेत्**. तत्र आज्ञाचक्रे तं वायुं स्थिरीकृत्य अन्तःकरणशुद्धेः पूर्वं निरूपितत्वात् **(अनपेक्षः!)** सर्वापेक्षारहितो भूत्वा तत्र भगवद्ध्यानेन भगवदाविर्भावे जाते तत्र **अकुण्ठदृष्टिः मुहूर्तार्धं स्थित्वा परं** भगवन्तं **गतः** सायुज्यं प्राप्तः. पूर्वमेव वायोः बहिर्निर्गमनार्थं प्रयत्नस्य कृतत्वात् **मूर्धानं** ब्रह्मरन्ध्रं **निर्भिद्य विसृजेद्** इन्द्रियाणि विसृजेत्. प्राणानामपि निस्सारणं केचिद् इच्छन्ति. अग्रे तेषामपि उपयोगात् केचिद् "इहैव समवनीयन्ते" (बृहदा.उप. ४।४।६) इति वाक्यानुरोधात् प्राणानाम् अत्रैव आत्मनि स्वमूलभूताऽऽसन्यरूपेण

प्रकाशः

केचिद् इच्छन्ति इति. क्रममुक्त्यधिकारिणः योगिविशेषाः इच्छन्ति इति अर्थः. तत्र हेतुम् आहुः **अग्रे** इत्यादिना. **उपयोग**श्च पवनान्तरात्मत्वम्. अथ अत्र प्रसङ्गाद् अधिकारिविशेषकृतं प्रकारान्तरम् आहुः **केचिद्** इत्यादि. ते च जीवन्मुक्तीच्छवो ज्ञेयाः. **इहैव** इति, बृहदारण्यकीय-शारीरकब्राह्मणे "अथ अकामयमानः" (बृहदा.उप. ४।४।६) इति अधिकृत्य "[१]न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (तत्रैव) इति **वाक्यानुरोधात् प्राणानां** प्राणसहितानाम् इन्द्रियाणाम् **अत्रैव आत्मनि** "अहम् आत्मा गुडाकेश" (भग.गीता १०।२०) इति वाक्यनिरूपिते[२] हृदयाकाशवर्तिनि भगवद्विभूतिरूपे इन्द्रिय**मूलभूतासन्यरूपेण**

लेखः

सप्त इति, श्रोत्रे नेत्रे नासिके मुखञ्च इति सप्त. **अग्रे** इति. ... .

---

१. इयं श्रुतिः ४।२।१ सूत्रभाष्ये विवृता.

२. -तह्- इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

स्थितिम् इच्छन्ति, प्राणस्य भोगासाधकत्वञ्च. ''तमुत्क्रामन्तं प्राणो अनूत्क्रामति'' (बृहदा.उप. ४।४।२) इति अमुक्तिविषयम्. उत्क्रान्तिचरण-विचारेणाऽपि ''वाङ् मनसि सम्पद्यते'' (छान्दो.उप. ६।८।६) इत्यादिभिः 'प्राण'शब्देन इन्द्रियाणि उच्यन्ते. गमने वा आयुषोऽभावाद् ''मुख्ये

प्रकाशः

स्थितिम् इच्छन्ति इति अर्थः. ननु जीवः स्वयं तत्रैव सायुज्यं प्राप्तः, तत्रैव प्राणाअपि सन्ति, तर्हि प्राणैः भोगः कुतो न कार्यते इत्यतः आहुः **भोगे**त्यादि. सुषुप्ताविव पाप्मना अविद्धत्वाद् वा इति अर्थः. एवं प्रसङ्गाद् जीवन्मुक्तिः व्याख्याता ज्ञेया. ननु जीवन्मुक्तिः युज्यते, परं जीवस्य अत्रैव सायुज्यप्राप्तौ इन्द्रियविसर्जनन्तु दुर्घटं, ''तम् उत्क्रामन्तम्'' इति श्रुतिविरोधाद् इत्यतः आहुः **तम्** इत्यादि. **अमुक्तिविषयम्** इति. तथैव उपक्रमाद् इति अर्थः. ननु ''अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां, स य एषो अणिमा'' (छान्दो.उप. ६।८।६) इति श्रुतौ मुक्त्यमुक्ति-साधारण्येन वागादिचतुष्कस्यैव लयः उक्तो, नतु इन्द्रियत्यागः इति इन्द्रियविसर्जनं श्रुतिविरुद्धम् आभाति इत्यतः आहुः **उत्क्रान्ती**त्यादि. ''प्राणम् उत्क्रामन्तं सर्वे प्राणाः अनूत्क्रामन्ति'' (बृहदा.उप. ४।४।२) इति शारीरक-ब्राह्मणोक्ता या प्राणानाम् उत्क्रान्तिः, ''हन्तास्यैव सर्वे रूपम् असामइति त एतस्यैव सर्वे रूपम् अभवंस्तस्माद् एते एतेन आख्यायन्ते प्राणा इति'' (बृहदा.उप. १।५।२१) इति सप्तान्नब्राह्मणोक्तं यत् प्राणव्रतचरणं तयोः **विचारेणापि** ''वाग्'' इत्यादि श्रुतावपि **'प्राण'शब्देन इन्द्रियाणि उच्यन्ते** इति तत्रापि सर्वेन्द्रियलयः उच्यतएवेति स्वस्य अगमनेऽपि इन्द्रियत्यागः श्रुत्यविरुद्धः इति अर्थः. **गत**शब्दस्य गमनार्थत्वम् अभिप्रेत्य पक्षान्तरम् आहुः **गमने वा** इति. गमने ''अणुपन्थाविततः पुराणो मां स्पृष्टो अनुवित्तो मयैव,

लेखः

भोगासाधकत्वञ्च इति. अत्रापि **इच्छन्ति** इति अनुकृष्यते. **उत्क्रान्तिचरणे**ति. ''उत्क्रान्ति-गत्यागतीनाम्'' (ब्रह्मसूत्र २।३।१९) इत्यत्र तच्चरणविचारे इति अर्थः ॥१९-२१॥

कार्यसम्प्रत्ययः" (परिभाषेन्दुशेखर परिभा. १५) इति न्यायेन मुख्यानुरोधिप्राणानाम् इह लयः. तस्माद् इन्द्रियाणि तत्सम्बद्धः प्राणश्च बहिः निस्सारितः इति अर्थः ॥१९-२१॥

एवं सद्यो मुक्तिः द्विधा निरूपिता उत्तम-मध्यमभेदात्. आद्यस्य वासनायाः अक्षीणत्वाद् भोगेनैव तत्क्षयं मत्वा तं प्रति क्रममुक्तिं वदन् इन्द्रियादीनां स्वसङ्गे नयनम् आह.

यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं वैहायसानामुत यद् विहारम् ॥
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये सहैव गच्छेत् मनसेन्द्रियैश्च ॥२२॥

यदि इति. **यदि प्रयास्यन्** भवति तदा **मनसा इन्द्रियैश्च सहैव उपगच्छेद्** इति सम्बन्धः. **नृप** इति सम्बोधनं सर्वपुरुषार्थसिद्धावपि यथा पारध्यादिगमनम्[१] अक्षीणवासनत्वाद् राज्ञां तथा इदमपि इति सम्मत्यर्थम्. यदेव स्थानं प्रयास्यन् भवति तद् गणयति— **पारमेष्ठ्यं** ब्रह्मस्थानं, **वैहायसानां** विमानम् अधिरुह्य स्त्रीभिः सह सर्वत्र अन्तरिक्षे परिभ्रमतां **यद् विहारस्थानं** तत्र वा, **उत** अपि **अष्टाधिपत्यम्** अष्टगुणैश्वर्यं, किं बहुना, **गुणसन्निवाये** ब्रह्माण्डे अधः उपरि मध्ये वा **प्रयास्यन्**

प्रकाशः

तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गलोकम् इतो विमुक्ताः" (बृहदा.उप. ४।४।८) इति शारीरकब्राह्मणे ब्रह्मविदः उत्क्रमोक्तेः जीवस्य **गमने आयुषो अभावात्**. आयुः जीवितकालः जीवितञ्च स्मरणाधीनं, स्मरणं च[२] आत्माधीनम् इति तद्गमने तत्तदभावेन तदभावाद् "मुख्ये" इत्यादि न्यायेन आसन्यानुरोधिनाम् इह लयः. "न तस्मात् प्राणा उत्क्रमन्ति" (बृहदा.उप. ४।४।६) इति उक्त्वा अनुपदमेव "ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गलोकम् अपि यन्ति" (बृहदा.उप. ४।४।८) इति उक्तेः इह आसन्ये प्राणलयो न श्रुतिविरुद्धः इति अर्थः. **तस्माद्** मुक्तस्य लिङ्गभङ्गः भञ्जन-समर्थत्वाद् इति अर्थः ॥१९-२१॥

यदि इत्यस्य आभासे **आद्यस्य** इति, प्रथमाधिकारिणः इति अर्थः. **पारध्यादिगमनम्** इति मृगयादि-गमनम्. विवृतौ

१. पाराध्यादिगमनमिति ग. २. वा इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

भवति तत्रैव **सह गच्छेत्**. चकाराद् वासनाभिः प्राणैः वा ॥२२॥

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ॥
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम् ॥२३॥

ननु एवं सामर्थ्यं कथं जीवस्य इति आशङ्क्य आह **योगेश्वराणाम्** इति, येषां स्वाधीनो योगः. यद्यपि स्वतो गमनसामर्थ्यं न भवति तथापि योगेन तद् भवति इति सर्वाः गतयः उच्यन्ते **त्रिलोक्याः अन्तर्बहिः** च इति. बहिःस्थिताअपि अन्तः आयान्ति, अन्तःस्थिताअपि बहिः गच्छन्ति. तत्र हेतुः **पवनान्तरात्मनाम्** इति, पवनस्य अन्तः आत्मा लिङ्गशरीरं येषाम्. अत्र **त्रिलोकी** इति[१] न ब्रह्माण्डाभिप्रायं किन्तु लोकत्रयमेव. यद्यपि कर्मभिरपि सर्वत्र ब्रह्माण्डे गमनम् अस्ति तथापि न[२] तेषां स्वेच्छया गमनम् इति आह **(न कर्मभिः!) ताम् (गतिम् आप्नुवन्ति!)** इति. या स्वच्छन्दा[३] योगिनां सा न कर्मिणाम् इति अर्थः. ननु उपायस्य तुल्यत्वेऽपि योगस्य कथं गौणता, कथं कर्मणां मुख्यत्वम् इति? तत्र आह **विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम्** इति. कर्म तु स्वतन्त्रम् असहायं जीवं स्वाधीनं करोति, योगे तु विद्यादयो अन्येऽपि चत्वारः सन्ति,

---

प्रकाशः

प्राणैः वा इति पक्षान्तरं ''पवनान्तरात्मनाम्'' (श्लो. २३) इति वक्ष्माण-विशेषणाभिप्रायेण ज्ञेयम् ॥२२॥

योगेश्वराणाम् इत्यत्र. **चत्वारः सन्ति** इति. एतेन विद्यादिरहिताः

लेखः

योगेश्वराणाम् इत्यत्र. **अत्र त्रिलोकीपदम्** इति. अत्र **किम्** इति अव्ययं निषेधार्थकम् इति प्रतिभाति. **योगस्य कथं गौणता** इति. योगमार्गे जीवस्य स्वतन्त्रत्वेन योगस्य गौणता, कर्ममार्गे जीवस्य कर्माधीनत्वेन तेषां स्वातन्त्र्यमेव मुख्यत्वम् इति अर्थः. तद् उपपादयन्ति **कर्म तु** इत्यादि ॥२३॥

---

१. त्रिलोकी न ब्रह्माण्डाभिप्रायमिति क-ग. त्रिलोकीपदम् इति लेखे - सम्पा.

२. नेति नास्ति. ३. स्वच्छन्दयोगिनामिति क-घ.

तत्संवेष्टितं जीवं योगः स्वाधीनं कर्तुं न शक्नोति ; एवम् अन्येऽपि. ततः च जीवएव स्वतन्त्रः, अन्येतु[१] गुणभूताः स्वेच्छया गमने सहायभूताः भवन्ति. **विद्या** उपासना मन्त्रप्रकारेण. **तपः** कृच्छ्रादि ज्ञानं वा. **योगो** अष्टाङ्गः. **समाधिः** समाधिस्थित-भगवद्दर्शनेन तज्जनित-भक्तिसहित-'परमधर्मः' उच्यते. एतेषु करणदशायामपि पुरुषस्य स्वातन्त्र्यं, कर्ममार्गेतु विध्यधीनता[२] इति ॥२३॥

एवं पुरुषस्य स्वाधीनतां निरूप्य गमनप्रकारम् आह **वैश्वानरं याति** इत्यादिना.

वैश्वानरं याति विहायसा गतः सुषुम्णया ब्रह्मपथेन शोचिषा ॥
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात् प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ॥२४॥
तद् विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णोरणीयसा विरजेनाऽऽत्मनैकः ॥
नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति कल्पायुषो यद् विबुधा रमन्ते ॥२५॥
अथो अनन्तस्य मुखानलेन दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम् ॥
निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं यद् द्वैपरार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम् ॥२६॥

यावद् "अवसाने आनन्दमयः" (श्लो. ३१) तावद् **याति** इति सम्बन्धः. **वैश्वानरम्** अग्न्यधिष्ठातृ-देवतालोकम्. "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः" (भग.गीता ८।२४) इति वाक्यप्रकारेण गमनम्. ननु तस्य लोकस्य दूरे विद्यमानत्वाद् बहुकालव्यवधानेन अन्तरा भोगाभावाद् भोगाभिनिवेशस्य विद्यमानत्वात् पुनः आगमनं स्यात्! तदर्थम् आह **विहायसा गतः** इति, आकाशमार्गेण गतः. पूर्वमेव "पवनान्तरात्मनाम्" (श्लो. २३) इति उक्तत्वाद् यथा वायोः गमनं तथा तेषामपि इति अर्थः. ननु वायोः

प्रकाशः

कुयोगिनो योगाधीनाः इति ज्ञापितम्. ते च "विदूरकाष्ठाय" (भाग.पुरा. २।४।१४) इत्यत्र वक्ष्यन्ते. **परमधर्मः** इति. "अयं हि परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्" (याज्ञ.स्मृ. १।१।८) इति उक्तः इति अर्थः ॥२३॥

---

१. अन्ये गुणभूता इति क-ख-ग. २. विध्यधीनतयेति क-ख-ग.

इतस्ततो गमनसम्भवात् तद्वद् अस्याऽपि न ऋजुमार्गेण वैश्वानरे गमनं सम्भवति! तत्र आह **सुषुम्णया** इति, सुषुम्णामार्गेण गच्छति इति न अन्यत्र गमनम्. ननु सुषुम्णाऽपि कथं न अन्यत्र गच्छति? तत्र आह **ब्रह्मपथेन** इति. ब्रह्मणः पन्थाः ; ब्रह्ममार्गत्वाद् व्यापिवैकुण्ठएव गच्छति. ननु सुषुम्णायाः नाडीरूपत्वात् कथं देहाद् बहिः निर्गमनं? तत्र आह **शोचिषा** इति, तेजोरूपया. एवं तेन मार्गेण वैश्वानरलोकं गतस्य पूर्वम् अद्भिः सम्परिष्वक्तस्य गमनात् कामनाबाहुल्येन वा सकल्कत्वात् तत्र भोगे अग्निमध्यभोगात् कल्कशोषः. अतः तदनन्तरं ज्योतिस्स्थानगमने आदित्यादि ध्रुवपर्यन्तं गमने **विधूतकल्को** भूत्वा **अथ** भिन्नप्रक्रमेण तेजोमयशरीरेण **हरेः** भगवतः स्वरूपभूतं **शिशुमाररूपं चक्रम् (प्रयाति!)** उपयाति. यद्यपि शिशुमारचक्रस्य भूमेः परितो विद्यमानत्वात् सर्वत्र गमनम् आयाति तथापि **उदस्ताद्** ऊर्ध्वमेव गच्छति. **नृप** इति सम्बोधनं शुद्धसत्त्वात्मकस्य ऊर्ध्वगमनस्य संवादबोधकं, यथा नरपालकस्य नृभिः ऊर्ध्वं नयनम् इति. शिशुमारस्वरूपम् अग्रे वक्ष्यते. तत्र ध्रुवस्थानं शिशुमारस्य अन्ते भवति,

---

प्रकाशः

वैश्वानरं याति इत्यत्र. **तेजोरूपया** इति. तेजसः ऊर्ध्वगामित्वं लोकप्रसिद्धमेव इति न कश्चित् संशयः इति अर्थः. **सकल्कत्वाद्** इति. वैद्यके जलेन एकीकृतं 'कल्कम्' इति उच्यते. तथाच सकल्कत्वे अद्भिः सम्परिष्वक्तस्य शिष्टं गोलकद्वयं कल्कम् इति **पूर्वम् अद्भिः सम्परिष्वक्तस्य गमनाद्** इति एको हेतुः. "तपो न कल्को अध्ययनं न कल्कः" (महाभा. १।१।२७५) इत्यादौ 'कल्क'शब्देन अनिष्टकरं कर्म उच्यते. "कल्को स्त्री शमलैनसोः दम्भेऽपि" (अमरको. ३।३।१४) इति कोशात् तम् अर्थम् आदाय **कामनाबाहुल्येन** इति द्वितीयो हेतुः ज्ञेयः. **तद्**

लेखः

वैश्वानरम् इत्यत्र. **अद्भिः सम्परिष्वक्तस्य** इति. ... . **भूमेः परितो विद्यमानत्वाद्** इति. ... **ऊर्ध्वमेव गच्छति** इति. शिशुमारचक्रस्था-ऽऽदित्यादि-ध्रुवान्तानि पदानि गच्छति इति अर्थः. इमानि पञ्चमस्कन्धे द्रष्टव्यानि. **तद्** इति, शिशुमारचक्रम् इति अर्थः. **तद् विश्वनाभिम्**

तद् (**विश्वनाभिं!**) ब्रह्माण्डस्य नाभिस्थानीयम्. (**अतिवर्त्य!**) ततो अग्रे लोकचतुष्टयम्. तत्र **तु**शब्देन पूर्वरूपाद् रूपान्तरकरणम् उक्तम्. ततो द्वितीयं ध्रुवे[१]. **विष्णोः** इति उभयत्र सम्बध्यते. तत्र गमनयोग्यं शरीरं वर्णयति **अणीयसा विरजेन आत्मना** इति. पूर्वापेक्षया तद् अणीयः, वायुप्रधानत्वात्. प्रशिथिलावयवः इति अर्थः. तत्रापि विरजः. वायोरपि लोकत्रयएव रजःसम्बन्धः. अथवा पूर्वशरीरं तामसं[२] स्थितं तद् वैश्वानरलोके[३] त्यक्तं, ततो द्वितीयं (राजसं!) ध्रुवे त्यक्तं, तृतीयम् इदम् इति तमोरजसोः अभावाद् **विरजेन** इति उक्तम्. केवलसत्त्वमयेन सत्त्वमिश्रेण वा, केवलसत्त्वेन ब्रह्माण्डभेदस्य वक्ष्यमाणत्वात्. **आत्मना** पूर्ववद् आत्मत्वेन गृहीतेन देहेन. **एकः** इति तत्र वैमानिकानां गमनाभावाद् असहायत्वेन एकाकित्वम्. **ब्रह्मविदां**

प्रकाशः

विश्वनाभिम् इत्यत्र. **विरज**शब्दलिङ्गकं गोलकत्रयं पक्षान्तरेण आहुः **अथवा** इत्यादि. **विरज**शब्दस्य अर्थान्तरम् आहुः **सत्त्वमिश्रेण वा** इति. विगतं [४]केवलं रजो यस्माद् इति उत्तरपदलोपी ज्ञेयः. तत्र हेतुः **केवल** इत्यादि.

लेखः

इत्यत्र. **ततो अग्रे** इति, ध्रुवलोकाद् अग्रे महर्जन-तपः-सत्यलोकाद् इति अर्थः. **पूर्वरूपाद्** इति. वैश्वानरलोकम् आरभ्य ध्रुवलोकपर्यन्तं येन रूपेण गताः तस्माद् उत्कृष्टरूप-स्वीकरणम् उक्तम् इति अर्थः. **ततो द्वितीयम्** इति. तथाच वैश्वानरलोकपर्यन्तं येन रूपेण गमनं तत् प्रथमं रूपं तत्रैव त्यक्तम्. **विधूतकल्क**-पदसूचित-द्वितीयरूपेण आदित्यादि ध्रुवलोकपर्यन्तं गतः. तदपि तत्रैव त्यक्त्वा **तु**शब्दसूचित-तृतीयरूपेण महल्लोकादिषु गच्छति इति अर्थः सम्पद्यते. **उभयत्र** इति, देहलीदीपन्यायेन तथा इति अर्थः. **पूर्वापेक्षया** इति, तेजःशरीरापेक्षया इति अर्थः. **अथवा** इति. अत्र नमआदित्यागएव पक्षान्तरम् ॥२४-२६॥

---

१. ध्रुवेत्युक्तमिति क-ग. २. नाम संस्थितमिति क. ३. वैश्वानरलोकेत्युक्तमिति ख.
४. कवलम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

स्थानम् अन्यैः **नमस्कृतं** केवलं ज्ञानिनामेव स्थितियोग्यं महर्लोकम्. **(यद्!)** यत्र महर्लोके **कल्पायुषः** ब्रह्मकल्पपर्यन्तम् आयुः येषां **(विबुधाः!)** विशेषेण बुधाः ज्ञानिनो भृग्वादयो **रमन्ते** भगवद्गुणानुस्मरणैः ज्ञानेन वा समाधिरूपेण, अयमपि **(उपैति!)** तत्र गतो ब्रह्मकल्पपर्यन्तं तिष्ठति. **(अथो!)** ततो भगवच्छयने जाते **अनन्तस्य** सङ्कर्षणस्य **(मुखानलेन दन्दह्यमानं विश्वं!)** मुखाग्निना त्रैलोक्यम् अत्यन्तं दह्यमानं **निरीक्ष्य** ततो **निर्याति** भृग्वादिभिः सह. गमनस्य बहुकालव्यवधानत्वाद् **अथो** इति उक्तम्. **सिद्धेश्वरैः जुष्टानि धिष्ण्यानि यत्र** जनस्तपोलोके. **पारमेष्ठ्यं** सत्यलोकस्थानं, तदपि पूर्ववत् सिद्धेश्वरसेवितम् इति अर्थः ॥२४-२६॥

तत्र मुक्तिवत् सुखम् आह **न यत्र** इति.

न यत्र शोको न जरा न मृत्युर्नाऽऽधिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित् ।
यच्चित्ततोऽदः कृपयाऽनिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् ॥२७॥

यत्र ब्रह्मलोके **शोकः** अज्ञानकार्यं **न** अस्ति, **न** वा **जरा** देहधर्मः, **न** वा **मृत्युः** मृत्युग्रासः, **न आधिः** मनःपीडाऽपि न. अन्तःकरणधर्माभावः. मृत्योः प्राणग्राहकत्वात् तद्धर्मः इति केचित्. **(न च!) उद्वेगः** बुद्धेः, असहिष्णुता वा. यद्यपि असहिष्णुता उद्वेगश्च तत्रापि अस्ति तथापि अन्यतो न किन्तु स्वतएव. तद् आह **ऋते कुतश्चिद्** इति. अन्यस्माद् ऋते किन्तु स्वतएव. स्वतस्त्वं विशदयति **यच्चित्ततो अदः** इति. **अदः** प्रसिद्धं **चित्ततः** चित्ताद् हेतोः **यत्** तत् स्वानुभवगम्यम् अतो विशेषतो न वक्तुं शक्यम् इति तथा उक्तम्. तत्र विषयम् आह **अनिदंविदां**

प्रकाशः

स्थानम् अन्यैः नमस्कृतम् इत्यत्र **स्थाना-ऽन्यपदयोः** अध्याहारः **कल्पायुषः** इति **अथो अनन्तस्य** इति लिङ्गकृतो ज्ञेयः. **अथो अनन्त** इत्यत्र **अथोशब्दार्थ-कथनेन** वायवीयदेहापरित्यागः सूचितः ॥२४-२६॥

न यत्र इत्यत्र. **अन्यस्माद् ऋते** इति. **अन्यस्मात्** कुतश्चित् पदार्थभूताद् वक्ष्यमाणलक्षणाद् उद्वेगाद् **ऋते** विना इति अर्थः. तं विशदयन्ति **किन्तु स्वतएव** इति ॥२७॥

दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनाद् इति. **इदं** स्थानम् एतत्साधनं ज्ञानं मार्गप्रकारं[१] वा **न विदन्ति** इति तथा. **दुरन्तं** यद् **दुःखं** तस्य **प्रभवो** यत्र संसारे तस्य **अनु** पश्चाद् **दर्शनम्**. एकवारम् उत्पन्नाअपि विवेकिनोऽपि पुनः तत्रैव गच्छन्ति इति तथा ॥२७॥

ततः स्वेच्छया ब्रह्माण्डभेदनम्[२] आह.

ततो विशेषं प्रतिपद्य पार्थिवस्तेनाऽऽत्मनाऽऽपोऽनलमूर्तिरत्वरन् ॥
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम् ॥२८॥

ततो विशेषम् इति. अश्वमेधयाजिनोऽपि तत्र गच्छन्ति, तथा हिरण्यगर्भोपासकाः पूर्वोक्ताश्च. तत्र "आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः" (भग.गीता ८।१६) इति वाक्यात्[३] कर्मिणां पुनरावृत्तिः. हिरण्यगर्भोपासकानां ब्रह्मणा सह या ब्रह्मणो गतिः सा गतिः. पूर्वोक्तस्तु अण्डं भित्त्वा गच्छति इति आह. **ततः** सत्यलोकाद् **विशेषं** पृथिव्यावरणरूपं **प्रतिपद्य (पार्थिवः!)** पृथिवीरूपो भूत्वा तत्र प्रविष्टः पृथिव्यावरणातिक्रमे आवरणरूप-पृथिवीसायुज्यं प्राप्य ताम् अतिक्रम्य, पुनः **(आपो!)** जलरूपेण जलसायुज्यं प्राप्य तदतिक्रम्य, इत्येवम् अग्रेऽपि **(अनलमूर्तिः ज्योतिर्मयः वायुम् उपेत्य वाय्वात्मना खम् उपेत्य!)** आकाशातिक्रमपर्यन्तं[४] गच्छति. सर्वत्र **तेन आत्मना** इति ज्ञातव्यम्. **अत्वरन्** इति तत्र तत्र गन्धादिभोगान् भुञ्जानएव विलम्ब्य **काले** भोगेच्छावसाने उत्तरत्र गमनम् इति सर्वत्र. **खम्** आकाशं, तद् **बृहद्** अनन्तमेव. शब्दब्रह्मरूपं वा, नादात्मकं वा. तस्य बृहत्त्वे हेतुः **आत्मनः** भगवतो **लिङ्गं** शरीरं, "आकाशशरीरं ब्रह्म" (तैत्ति.उप. १।६।२) इति श्रुतेः. भगवतो व्यापकत्वं अन्तर्बहिः व्यवहारहेतुत्वं, परिच्छेदापरिच्छेदौ, शब्दब्रह्माश्रयत्वम् इत्यादि-धर्मबोधकम् ॥२८॥

एवम् आकाशान्तपरित्यागे महाभूतांशाः परित्यक्ताः. विषयातिक्रमे इन्द्रियातिक्रमम् आह.

---

१. आत्मप्रकारं वा इति घ. २. भेदनप्रकारमिति ख. ३. विशेषवाक्यादिति ख.
४. आकाशादतिक्रमपर्यन्तमिति ख. आकाशादिति क्रमपर्यन्तमिति ग.

घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं रूपञ्च दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव ।।
श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं प्राणेन चाऽऽकूतिमुपैति योगी ।।२९।।

घ्राणेन इति. **प्राणेन** इति पाठेऽपि सएव अर्थः. सर्वत्र तत्तद् उपेत्य तद्भोगानन्तरं तत्तदतिक्रम्य इति ज्ञातव्यम्. **नभोगुणत्वं** शब्दत्वम्. **प्राणेन (च!)** कर्मेन्द्रियसहितेन तद्रूपेण वा **आकूतिं** क्रियापञ्चकमपि **उपैति** त्यजति इति पूर्ववत्. **योगी** इति योगसामर्थ्याविस्मरणम् ।।२९।।

अहङ्काराद्यतिक्रमम् आह.

स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं मनोमयं देवमयं विकार्यम् ।।
सम्प्राप्य[१] गत्या सह तेन याति विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधम् ।।३०।।
तेनाऽऽत्मनाऽऽत्मानमुपैति शान्तम् आनन्दमानन्दमयोऽवसाने ।।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग ।।३१।।

स एव योगी **भूतानां सूक्ष्माणाम् इन्द्रियाणाञ्च सन्निकर्षम्** उत्पत्तिस्थानं तामसं राजसञ्च अहङ्कारं **मनोमयं, देवमयम्** इति सात्त्विकं, **विकार्यं** मूलाहङ्कारं **तेन** रूपेण **गत्या सह याति** क्रियाम् अहङ्कारञ्च त्यजति इति अर्थः. **विज्ञानतत्त्वं** महत्तत्त्वं, **गुणसन्निरोधं** प्रकृतिम्[२]. सर्वत्र **तेन आत्मना** इति. अग्रे पुरुषावरणं, तत्रापि **तेन आत्मना आत्मानम् उपैति.** ततः **शान्तम्** अक्षरं, ततः **आनन्दं** पुरुषोत्तमं स्वयमपि **आनन्दमयो** भूत्वा **उपैति अवसाने** अतः परं गमनं नास्ति. ''माम् उपेत्य तु कौन्तेय'' (भग.गीता ८।१६) इति वाक्यम् एतादृशपरम् इति आह **एतां गतिम्** इति. ब्रह्माण्डमध्ये हृदयमध्ये ब्रह्माण्डात् परतो वा यत्रैव आनन्दमयो भूत्वा **(यः एतां भागवतीं गतिं गतः!)** आनन्दरूपं भगवन्तं प्रविशति **सः नैव इह पुनः (विषज्जते!)** संसारं प्रविशति ।।३०-३१।।

प्रकाशः

घ्राणेन इत्यत्र. **कर्मेन्द्रियसहितेन** इति. इदं साहित्यं **प्राणेन च** इति चकारेण द्योतितं ज्ञेयम् ।।२९।।

---

१. सम्पाद्य, संसाद्य इति पाठान्तरे - सम्पा. २. रूपं प्रकृतिमिति ख.

एवम् अपुनरावृत्ति-मार्गद्वयम् उक्त्वा – सद्योमुक्ति-क्रममुक्तिरूपम् – उपसंहरति.

एते सृती ते नृपदेव गीते त्वयाऽभिपृष्टे च सनातने च ।।
ये वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट आराधितो भगवान् वासुदेवः ।।३२।।

एते सृती इति. एतेषां सर्वेषां पदार्थानाम् अध्यायद्वयोक्तानां – भगवत्स्वरूपत्वेनैव ज्ञानार्थम् उक्तानां – यथानिवेशं यथोपयोगं युक्तिभिः विमर्शे स्वरूपं स्पष्टं भविष्यति, अत्रतु उद्देशमात्रं कृतम्. तत्र स्पष्टमेव विवरिष्यामः. **ते** तुभ्यं हे **नृपदेव**[1] **गीते** राजत्वात्[2] त्वत्सुखार्थं स्वरूपेण कीर्तिते. तत्रापि **त्वया अभिपृष्टे** साधनस्य फलपर्यवसानात् साधनप्रश्नेनैव तत्प्रश्नः उक्तो भवति. **सनातने च** नहि इदम्प्रथमतया कश्चिद् अस्मिन् मार्गे गच्छति किन्तु अनादिसिद्धे. अत्र गन्ता अग्रे स्पष्टो भविष्यति. अनादित्वे प्रमाणम् आह **ये वै पुरा** इति. ब्रह्मणा एवं[3] **पृष्टे ब्रह्मणे आह भगवानपि** पृष्टः सन्. कथने हेतुः **आराधितः** इति. एवं कथने हेतुम् आह **वासुदेवः** इति. मोक्षदातृत्वेन एवम् उक्तवान् इति अर्थः ।।३२।।

एवं फलं निरूप्य उपसंहृत्य एतन्मार्गप्रवेशे कियन्तः उपायाः सन्ति इति आकाङ्क्षायाम् आह.

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतां संसृताविह ।।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ।।३३।।

प्रकाशः

एते सृती इत्यत्र. राज्ञा मार्गद्वयप्रश्नस्य अकृतत्वात् **त्वया अभिपृष्टे** इति उक्तिः न सङ्गच्छते इति आशङ्क्य आहुः **साधने**त्यादि. म्रियमाण-**साधनप्रश्नेन तत्प्रश्नः उक्तो भवति** इति अर्थः ।।३२।।

लेखः

एते सृती इत्यत्र. **विमर्शे** इति, विमर्शप्रकरणे इति अर्थः. **तत्र स्पष्टम्** इति, उक्तप्रकरणएव इति अर्थः. **अग्रे** इति. ... ।।३२।।

---

१. नृपदेवेति इति ख-घ. २. राजत्वात्सुखार्थमिति ख-घ.
३. ब्रह्मणैव पृष्टे इति ख-ग-घ.

नहि अतो अन्यः इति. **(अतः!)** अस्मात् पूर्वोक्ताद् **अन्यः शिवः** कल्याणरूपः साधनदशायामपि सुखकरः **पन्थाः** आदौ तत्र निविष्टस्य पुनर्भ्रमाभावार्थं मार्गरूपः कोऽपि **न (हि!)** अस्ति, बहूनां च गतियोग्यः. एतदज्ञानेन **इह (संसृतौ!)** संसारे **विशतां,** नतु निविष्टानां संसार्येकस्वभावानाम्. तं मार्गं पुनः स्मारयति **वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेद्** इति. **(वासुदेवे!)** मोक्षदानार्थम् आगते **भगवति** साक्षात्परब्रह्मरूपे[१] – सत्त्वाकारेण परिणतान्तःकरणे सत्त्वासने षड्गुणैश्वर्यरूपेण आविर्भूते – **(यतः भक्तियोगो भवेद्!)** येनैव उपायेन परमा प्रीतिः भवति सएव उपायः इति अर्थः. श्रवणादिभिः स्नेहः, ततो मनन-निदिध्यासनरूपेण ध्यानेन[२] सर्वभावस्नेहो द्वितीयः. ततोऽपि सूक्ष्मध्यानेन हृदि भगवति समागते तत्र यः परमस्नेहः साक्षाद् भगवत्प्रवेशहेतुः – सः फलरूपोऽपि साधनरूपोऽपि अवान्तरव्यापाररूपोऽपि इति तद्धेतुः[३] – मार्गः गृहाद् निर्गतस्य इष्टदेशप्रवेशपर्यन्तं विततः. तत्र पूर्वभागः साधनरूपो, मध्यभागो[४] अवान्तरव्यापाररूपो, अग्रिमो भगवत्सम्बद्ध-फलरूपः. तत्र श्रवणादि ध्यानद्वयं च क्रमाद् वितता भूमिः.

प्रकाशः

न हि अतो अन्यः इत्यत्र. **सः** इति, स्नेहत्वावच्छिन्नः स्नेहः इति अर्थः. **तद्धेतुः मार्गः** इति, श्रवणादिरूपः इति अर्थः. **तत्र** इति मार्गे **पूर्वभागः** श्रवणादिः, **मध्यभागः** मनन-निदिध्यासने, **अग्रिमः** सूक्ष्मध्यानरूपः. **तत्र** इति, गमनसामग्रीविचारे इति अर्थः ॥३३॥

लेखः

न हि इत्यत्र. **सत्त्वाकारेण** इति. **सत्त्वाकारेण परिणतं** यद् **अन्तःकरणम्,** अतएव तत् **सत्त्वात्मकम् आसनं** भवति ; तत्र प्रादुर्भूतः

---

१. परब्रह्मस्वरूपे इति ख. २. ध्यानेनेति नास्ति ख-घ.

३. तद्धेतुमार्ग इति ख-ग. ४. मध्यमेति क.

प्रीतिः पादौ, सा चेत् प्रीतिः तन्मार्गेण तावत्पर्यन्तं गच्छति तदा भगवन्तं प्रापयति न अन्यथा इति ॥३३॥

फलसाधननिर्धारः पूर्वमेव जातः इति आह.

भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ॥
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत् ॥३४॥

भगवान् इति. प्रमेयबलेन स्वयम् उक्त्वाऽपि प्रमाणबलेनाऽपि तद् वक्तव्यम् इति पूर्वोक्तम् **(ब्रह्म!)** अनादिसिद्धं **(त्रिः!)** राशीभूतवेदं **मनीषया** विचारकबुद्ध्या **(कात्स्न्र्येन अन्वीक्ष्य!)** आलोड्य फलत्वेन **(आत्मनि!)** आत्मानं विनिश्चित्य साधनविचारे क्रियमाणे ''यमेवैष वृणुते'' (कठोप. १।२।२३) इत्यादिवाक्यैः **(रतिः!)** प्रीतिमेव अवान्तरव्यापारं ज्ञात्वा ''भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति'' (महाभा.ता.नि. १।११६) इति विचार्य मुख्यं साधनं भक्तिं ज्ञात्वा तत्साधकत्वेन अन्यद् इति **अध्यवस्यत्**. तत्रापि **कूटस्थो** निश्चलः ॥३४॥

एवं प्रमाणेन युक्त्या च भक्तिमार्गं स्थिरीकृत्य अन्येषां मार्गाणां परम्परोपयोगं वक्तुम् आह.

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः ॥
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः ॥३५॥

भगवान् इति. प्रतिपुरुषं प्रतिविषयं शास्त्राणि प्रसृतानि. तानि न

प्रकाशः

भगवान् इत्यत्र. **पूर्वोक्तम्** इति, पूर्वं स्वयम् उक्तम् इति अर्थः. **तत्साधकत्वेन** इति, भक्तिसाधकत्वेन इति अर्थः. **अन्यद्-इति** पदाभ्यां मूलस्थतत्पदं तुरीयचरणश्च विवृतौ ज्ञेयौ ॥३४॥

भगवान् सर्वभूतेषु इत्यत्र. **आह** इति, सकलदर्शनानां लक्षकत्वम्

लेखः

इति अर्थः. **प्रीतिः पादौ** इति, गमनसाधनीभूतौ इति अर्थः ॥३३॥

॥ इति द्वितीये द्वितीयाध्यायः ॥

सर्वथा बाधितविषयाणि, परम्परोपयोगात्. **भगवान्** तैः सर्वैरेव **सर्वभूतेषु लक्षितः** लक्षणया ज्ञापितः[१]. नैयायिकैः कर्तृत्वेन, मीमांसकैः क्रियात्वेन, वेदान्तैः आत्मत्वेन, साङ्ख्यादिभिः करणत्वेन, अन्यैश्च तद्भेदैः ज्ञानत्वेन ज्ञातृत्वेन च, अन्यैः ज्ञानाधिष्ठातृत्वेन च —सर्वैरेव भगवान् एकदेशे लक्षितः अन्धहस्तिवद् अनुभवेन युक्त्या च. **स्वात्मना** अनुभवेन **दृश्यैः द्रष्टा बुद्ध्यादिभिः** च **लक्षणैः** असाधारणचिह्नैः जीवेषु प्रवेशम् अलभमानैः क्रियादिभिः अतएव **अनुमापकैः** तर्कसहकृतैः परोक्षज्ञानजनकैः **(हरिः!) लक्षितः** इति सम्बन्धः. लक्षणया ज्ञापितः इति अर्थः ॥३५॥

तस्मात् सर्वेषामेव दर्शनानाम् अप्रयोजकत्वात् पूर्वोक्तप्रकारेणैव कर्तव्यम् इति उपसंहरति **तस्माद्** इति.

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ॥
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम् ॥३६॥

सर्वात्मना इति उत्तराङ्गसाहित्येन. **राजन्** इति अवधारणसामर्थ्यम् उक्तम्. **हरिः** इति साधनदशायां जात-दुःखदूरीकरणार्थम्. **सर्वत्र सर्वदा**

प्रकाशः

आह इति अर्थः. विवृतौ **तैः सर्वैः** इति, शास्त्रकारैः इति अर्थः. कथं ज्ञापितः[२] इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **नैयायिकैः** इत्यादि. **अन्धहस्तिवद्** इति, अन्धानुमित-हस्तिवद् इति अर्थः. तद् विशदयन्ति **अनुभवे**त्यादिना. **दृश्यैः** इति, शास्त्रकारैः इति अर्थः. एतदेव मोक्षधर्मे उक्तं "तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः" (महाभा. १२।३४९।७०) इत्यादिना. मूलस्थं **दृश्यैः** इति पदं कर्तृवाचकम् इदं ज्ञेयम्. **जीवेषु** इत्यादि. तादृशाः च क्रियादयः सर्वकर्मकाः ज्ञेयाः. तथाच सर्वविषयक-क्रियावत्त्वं, सर्वविषयक-कर्मत्वं, सर्वात्मत्वं, सर्वकरणत्वं, सर्वविषयक-ज्ञानत्वं, सर्वज्ञातृत्वं, सर्वज्ञानाधिष्ठातृत्वं च तत्तन्मते भगवल्लक्षणं ज्ञेयम् ॥३५॥

तस्माद् इति, एकदेशज्ञापकत्वाद् इति अर्थः. **तस्माद्** इत्यत्र. **उत्तराङ्गसाहित्येन** इति, चित्ताऽचाञ्चल्य-साहित्येन इति अर्थः ॥३६॥

---

१. ज्ञात इति ख-ग-घ. २. ज्ञातः इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

इति देशकालविचारो न कर्तव्यः. पूर्ववत् श्रोतव्यादिफलार्थं **भगवान्** इति. **नृणाम्** इति मनुष्यमात्राधिकारित्वम्[१] ॥३६॥

एवं मार्गं वस्तुतत्त्वञ्च उक्त्वा प्रकरणस्य समाप्तत्वात् साधारणश्रवणस्याऽपि शुद्धिद्वारा भगवत्प्रापकत्वम् आह.

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ॥
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥३७॥

॥ इति श्रीभागवत-द्वितीयस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥

पिबन्ति ये भगवतः इति. बहिःस्थितस्य अन्तःप्रवेशनं पानम्. **भगवतः आत्मनः सताम्** इति. सर्वेषामेव भगवत्त्वेन भगवान् स्फुरति, सतां तु आत्मत्वेनाऽपि. सर्वे सकामाः, सन्तः प्रेमलाः[२] इति विभागः. **कथैव अमृतं श्रवणपुटेषु** उत्तम्भितकर्णपुटेषु **(सम्भृतं!)** पूर्णं **विषयैः विदूषितम् आशयं पुनन्ति.** यथा अन्तः असाध्यरोगव्याप्तो वैद्यैः अमृतरसेन सिद्धः क्रियते तथा अन्तःकरणमपि – विषयसहितैः[३] विशेषेण दूषितं सर्वथा सन्मार्गानर्हं तादृशमपि – पुनन्ति. क्रमात् **तच्चरणसरोरुहान्तिकं (व्रजन्ति!)** वैकुण्ठं भक्तं वा प्राप्नुवन्ति इति अर्थः ॥३७॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे द्वितीयो अध्यायः

प्रकाशः

पिबन्ति इत्यत्र. **विषयसहितैः** इति, इन्द्रियैः इति अर्थः. एतेन मूलस्थं **विषयपदं** पापिवाचक-'पाप'पदवद् विषयिवाचकम् इति ज्ञापितम् ॥३७॥

॥ इति श्रीद्वितीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे द्वितीयाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

---

१. मनुष्यमात्राधिकारित्वमितीति ख. २. प्रेम्णा इति क. ३. अतान्तविषयेत्यादि ख.

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

श्रोतव्यविषयत्वेन तत्त्वमेवं निरूपितम् ॥
उद्देशेनाऽस्य निपुणं साधनं विनिरूप्यते ॥(१)॥

प्रकाशः

अथ तृतीयाध्यायं विवरिषवः पूर्वप्रकरणस्य समाप्तत्वात् तदर्थम् अनुवदन्तः प्रस्तूयमान-प्रकरणार्थनिरूपण-मुखेन तयोः हेतु-हेतुमद्भावरूपं सङ्गत्यन्तरमपि स्फुटीकुर्वन्ति. अन्यथा एतादृशे महाफले कुतो न सर्वेषां प्रवृत्तिः इति शङ्का स्याद् इति तामपि निवारयन्ति **श्रोतव्य** इत्यादि. **श्रोतव्यविषय** इत्यत्र कर्मधारयः. तेन रूपेण **एवं** प्रमाणादिपूर्वकं द्वाभ्यां वस्तुतत्त्वं शुकेन **उद्देशेन निरूपितम्. अस्य** श्रवणस्य **निपुणं** फलोपकारि **साधनं विनिरूप्यते** इदानीं शुकेन व्यासपादैश्च उच्यते इति अर्थः (१).

एवं पूर्वप्रकरणार्थनिरूपण-मुखेन सामान्यतः तं प्रति अस्य हेतुतां प्रदर्श्य उत्तरं प्रत्यपि तां दर्शयितुं विशेषाकारेण अस्य अर्थम् आहुः **अदृष्टम्** इत्यादि. **अदृष्टं दृष्टञ्च साधनम् अत्रापि सम्मतम्** अवश्यं **वाच्यं** वचसा स्फुटीकरणीयम्. ननु शाब्दज्ञानस्य सङ्केतग्रहमात्र-सापेक्षस्य

लेखः

अथ तृतीयाध्यायं विवृण्वन्तः सङ्गत्यर्थं पूर्वाध्यायार्थम् अनुवदन्ति **श्रोतव्येत्यादि.** "तस्माद् भारत सर्वात्मा" (भाग.पुरा. २।१।५) इति "एवं स्वचित्ते स्वतएव सिद्धे" (भाग.पुरा. २।२।६) इत्यादिना श्रोतव्यविषयता-ऽवच्छेदकतया सर्वात्मत्वादि-गुणानां निर्धारितत्वात् **श्रोतव्य-विषयभूतं तत्त्वमेव** पूर्वाध्यायाभ्यां निष्कृष्य **निरूपितम्** इति अर्थः. एवम् अध्यायद्वयेन वस्तुनिर्धारणं समाप्य अतः परम् अध्यायद्वयेन श्रद्धाप्रकरणं साधनं निरूप्यते इति आशयेन आहुः **उद्देशेन** इत्यादि. **अस्य** फलरूप-श्रवणादेः **निपुणं साधनम्** इदानीम् अध्यायद्वयेन **निरूप्यते** इति अर्थः. एवञ्च प्रसङ्गएव सङ्गतिः इति भावः. ननु तत्त्वे निर्धारिते पुनः विमर्शस्य क्व उपयोगः इति चेद्, मा एवं, निर्धारितेऽपि तत्त्वे मन्द-मध्यमाद्यर्थत्वेन विमर्शस्य आवश्यकत्वात् मीमांसावद् इति (१).

अदृष्टं साधनं वाच्यं दृष्टं चाऽप्यत्र सम्मतम् ॥
अन्यथा क्रियमाणस्तु विमर्शो व्यर्थतां व्रजेत् ॥(२)॥
इन्द्रियाणामदुष्टत्वे ह्यनुकूले तथेश्वरे ॥

प्रकाशः

पूर्वाध्यायाभ्यां जातत्वात् किम् अन्येन स्वरूपोपकारिणा? श्रवणस्य फलजनने असहायशूरत्वात् किम् अन्येन फलोपकारिणा? इति आशङ्कायां दृष्टादृष्टसाधनस्य सम्मतत्वे अवश्यवाच्यत्वे च गमकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. साधनान्तरस्य असम्मतत्वे अनावश्यकत्वे च क्रियमाणः "ब्रह्मवर्चसकामेन" (श्लो. २) इत्यादिना शुकेन, "आयुः" (श्लो. १७) इत्यादि शौनकवाक्योपन्यासाद् व्यासचरणैः, "भूयः" (भाग.पुरा. २।४।६) इत्यादिप्रश्नैः राज्ञा, पुनः नमनादि (भाग.पुरा. २।४।१२) वाक्यैः शुकेन **क्रियमाणः** अग्रिमप्रकरणे क्रियमाणो **विमर्शो व्यर्थतां व्रजेद्** जाते शाब्दज्ञाने मुधैव स्यात्. अतो ज्ञायते— निर्धारः उद्देशमात्रेण न भवति इति. तेन दृष्टाऽदृष्टसाधन-कथनम् आवश्यकम् इति अर्थः (२).

किं तद् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **इन्द्रिये**त्यादि सार्धेन. **साध्यं** श्रवणं कीर्तनञ्च **पूर्णं** तात्पर्यनिर्धारान्तं तत्पूर्वकञ्च **सम्पद्यते अतो** हेतोः

लेखः

अदृष्टम् इति. अत्र श्रवणादौ **अदृष्टं दृष्टं च साधनं**, दृष्टं च फलसाधकत्वेन **सम्मतं**, तत् क्रमेण अध्यायद्वयेन **वाच्यम्** इति अर्थः. एतस्य उत्तरप्रकरणोपयोगित्वं वदन्तः आवश्यकत्वं ज्ञापयन्ति **अन्यथा** इति. साधनद्वयसिद्ध्यभावे अग्रे **क्रियमाणो विमर्शो व्यर्थतां व्रजेद्** इति अर्थः. साधनाभावे श्रवणादि-विषयक-निष्ठायाः असम्भवात् कृतोऽपि विमर्शः फलाभावाद् अकृतप्रायएवेति व्यर्थतां व्रजेद् इति अर्थः (२).

ननु अध्यायद्वयेन निरूप्यं किं तद् अदृष्टं दृष्टं च साधनम् इत्यतः आहुः **इन्द्रियाणाम्** इत्यादि. तत्र अस्मिन् अध्याये अन्यदेवभजन-निषेधेन इन्द्रियाणाम् अदुष्टत्व-सम्पत्तिरूपम् अदृष्टं साधनम् उच्यते. तथा अग्रिमे च "नमः परस्मै" (भाग.पुरा. २।४।१२) इत्यादिना नमनेन ईश्वरानुकूल्य-सम्पत्तिरूपं दृष्टं साधनम् उच्यते इति विभागः. तदेतद् आहुः

साध्यं सम्पद्यते पूर्णम् अतोऽत्र द्वयमीर्यते ॥(३)॥
श्रद्धाऽपि तदभिप्रायात् श्रोतुर्वक्तुश्च गम्यते ॥
तस्मात् साधनसंयुक्तः शृणुयान्नेतरो वृथा[१] ॥(४)॥

एवम् अध्यायद्वयेन श्रवणं सविषयं निरूप्य* महाफले श्रवणे सर्वेषाम् अप्रवृत्तिं दृष्ट्वा, किञ्चिद् अस्ति निमित्तं यतः सर्वे न प्रवर्तन्ते इति

प्रकाशः

अत्र प्रकरणे **द्वयं** पूर्वार्धोक्तम् अदृष्टं दृष्टञ्च साधनद्वयम् **ईर्यते**. तमेव अभिप्रायम् अनुसन्धाय द्वयोः **श्रद्धापि** ज्ञाप्यते. **गम्यत**इति णिजन्तात् कर्मणि प्रयोगः. एवञ्च अत्र साधनद्वयस्य प्रतिपाद्यत्वेऽपि अदृष्टस्य दृष्टद्वारैव अवगमाद् दृष्टायाः भगवदनन्यत्व-रूपायाः श्रद्धायाः स्फुटत्वात् तस्याएव मुख्यतया प्रकरणार्थतेति न पूर्वोक्तविरोधः इति अर्थः. तेन फलितम् अभिप्रायान्तरम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. एवं प्रकरणार्थनिर्धाराद् अयं व्यासाशयो ज्ञायते इति अर्थः (३-४).

एवं सङ्गतिं दर्शयित्वा अन्यभजनबोधक-वाक्यानाम् उपोद्घातरूपां सङ्गतिं प्रकृतार्थे दर्शयिष्यन्तः पीठिकाम् आहुः **एवम्** इत्यादि.

लेखः

अतो अत्र द्वयम् ईर्यते इति. **अत्र** अध्यायद्वयेन उपदर्शितम् अदृष्ट-दृष्टभेदेन साधनद्वयं क्रमेण **ईर्यते** इति अर्थः (३).

ननु अस्तु एवं, तथापि अत्र अध्यायद्वये श्रद्धानिरूपणस्य अदर्शनाद् "वस्तुनिर्धारणं पुरा श्रद्धा चैव विमर्शश्च" (सुबो.का. २।१।०।३) इति प्रतिज्ञात-प्रकरणविभागः कथं सङ्गच्छताम् इत्यतः आहुः **श्रद्धाऽपि** इति. प्रश्नेन श्रोत्रभिप्रायज्ञानात् **श्रोतुः वक्तुश्च** अत्र अध्यायद्वये यथायथं **श्रद्धापि गम्यत**इति ज्ञातएव प्रकरणविभागः इति भावः. एतेन सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इति कारिका (४).

एवं कारिकाभिरेव अर्थं संगृह्य तं विशदयन्ति **एवम्** इत्यादिना ॥१॥

---

१. यथा इति ग.

आकाङ्क्षायां विषयस्य निर्दुष्टत्वात् करणदोषो वा तदधिष्ठातृदोषो वा भवेद् इति आशङ्क्य, तयोरपि अधिष्ठातुः बलिष्ठत्वात् तत्प्रतिबन्धादेव श्रवणादिषु अप्रवृत्तिः इति विनिश्चित्य, देवतानां भजने तत्प्रतिबन्धो गमिष्यतीति पूर्वं देवतान्तरभजनं साधनीयं ततः इन्द्रियाणां च शोधनम् इति आशङ्क्य, देवतान्तरभजने पुनः बहिर्मुखत्वात् तेषां नियतफलजनकत्वाच्च प्रतिबन्धाभावार्थं क्रियमाणे भजने दोषान्तरम् आपद्येतइति तेषां फलानां नियतत्वं प्रतिपादयितुं प्रथमं पूर्वेण संश्लेषं निवारयितुं* पूर्वोक्तम् उपसंहरति **एवम् एतद्** इति.

।। श्रीशुकः उवाच ।।

एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद् भवान् मम ।।
नृणां यन् म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम् ।।१।।

मम मां प्रति. **नृणां** मध्ये ये **म्रियमाणाः** तेषामपि उक्तं, **मनुष्याणामपि** मध्ये ये **मनीषिणः** तेषामपि अर्थे **(एतन्निगदितं!)** श्रवणादिकम् उक्तम् इति अर्थः ।।१।।

ब्रह्मवर्चसकामस्तु भजेत ब्रह्मणस्पतिम् ।।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ।।२।।
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् ।।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान् ।।३।।
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान् ।।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशाम् ।।४।।
आयुःकामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां भजेत् ।।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ ।।५।।
रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम् ।।
आधिपत्यकामः सर्वेषां भजेत परमेष्ठिनम् ।।६।।
यज्ञं भजेद् यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम् ।।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थम् उमां सतीम् ।।७।।

प्रकाशः

तयोः इति तयोः मध्ये. **बहिर्मुखत्वाद्** इति, इन्द्रियाणां तथात्वात्. **इतिः** हेतौ ।।१।।

धर्मार्थमुत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् भजेत् ।।
रक्षाकामः पुण्यजनान् ओजस्कामो मरुद्गणान् ।।८।।
राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् भजेत् ।।
कामकामो भजेत् सोमम् अकामः पुरुषं परम् ।।९।।

पूर्वोक्तम् उपसंहृत्य देवतान्तरभजननिराकरणार्थं (इदं प्रतिपादनम्!). स्वमते अष्टाविंशतिदेवाः तत्त्वरूपाः. वेदे च ये त्रयस्त्रिंशद्देवाः वसवो रुद्राः आदित्याः इन्द्रः प्रजापतिश्च इति तेऽपि अत्र उक्ताः तत्त्वरूपेण. किं बहुना, सर्वे तत्त्वेषु अन्तर्भूताः. ते[१] तु अष्टाविंशतिः, ''एते देवाः कला विष्णोः'' (भाग.पुरा. ३।५।३७) इति वाक्यात्. ते च प्रजापतिप्रभृति-सोमान्ताः. तत्र प्रथमं रजोगुणाभिमानिनी देवता **ब्रह्मणस्पतिः** वेदादिकर्ता जगन्निर्माता च इति अर्थः. तद्भजने ब्रह्मतेजो भवति इति

प्रकाशः

ब्रह्मवर्चस इत्यादीनां तात्पर्योक्तौ **निराकरणार्थम्** इति, तद्भजनम् अनुवदति इति शेषः. **वेदे**त्यादि. तथाच बृहदारण्यके ''कत्येव देवाः'' (बृहदा.उप. ३।९।१) इति शाकल्यप्रश्ने याज्ञवल्क्येन तथा निर्धारात् तावतीषु यथा सर्वान्तर्भावः तथा अत्रापि इति तावतैव सर्वेतरभजन-निराकरणसिद्धिः इति अर्थः. **सर्वे** इति तत्र पक्षान्तरेण उक्ताः अन्यत्र उक्ताश्च. **ते च** इत्यादि. तथाच तएव अत्र नामान्तरेण उच्यन्ते इति अर्थः. अन्तर्भावश्च— द्वादशादित्येषु श्रौतानां मासानां, ''आददाना यन्ति'' (बृहदा.उप. ३।९।५) इति व्युत्पत्तेः उभयत्र साधारण्यात्, साहङ्कारेषु इन्द्रियेषु प्राणरूपाणां रुद्राणां, सोमे नक्षत्राणां, ''नक्षत्राणाम् अहं शशी'' (भग.गीता १०।२१) इति वाक्यात्, शेषाः स्फुटाइव इति ज्ञेयम्. **सत्त्वाभिमानिनी** इत्यादि.

लेखः

इन्द्रम् इत्यत्र. **वसवः** इत्यादि. अष्टौ वसवः, एकादशाः रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः प्रजापतिश्च इति त्रयस्त्रिंशत्. ननु अत्र सोमान्ता अष्टाविंशतिः उक्ता इति कथम् एकवाक्यता इत्यतः आहुः **तेऽपि** इति.

---

१. तेष्वष्टाविंशति ख.

ब्रह्मवर्चसकामएव तं **भजेद्** इति अर्थः. ततः सत्त्वाभिमानिनी **इन्द्रो** देवता यज्ञादिरूपः. तद्भजने इन्द्रियसिद्धिः भवतीति **इन्द्रियकामः** तं **भजेत.** एवम् उत्तरत्राऽपि. **प्रजाकामः** पुत्रकामः[१] **प्रजापतीन्** मरीच्यादीन् तमोधिष्ठात्री देवता[२]. **देवीं मायां** प्रकृत्यधिष्ठात्रीं देवतां[३] **श्रीकामः** धनकामः. सम्पत्तिरूपं धनम्. **तेजस्कामः** स्वस्मिन् अधृष्यं तेजः, दुर्धर्षत्वम् इति यावत्, **विभावसुः** अग्निः. **वसुकामः** धनमात्रकामः **वसून्** द्रोणादीन् **रुद्रान्**[४] वामादीन्. **वीर्यकामः** पराक्रमकामः. अत्र फले विशेषम् आह **अथ वीर्यवान्** इति, तदनन्तरमेव वीर्यवान् भवति. वागभिमानिनी देवता अग्निः, गन्धाभिमानिनी देवता वसवः, रुद्राः आकाशस्य, अदितिः भूमेः. **अन्नाद्यकामः** अन्नभोजनकामः ; अन्नभक्षणसामर्थ्यम् अन्नसमृद्धिः वा. **स्वर्गकामः** स्वर्गलोककामः **अदितेः सुतान्** द्वादशाऽऽदित्यान् तेजोऽभिमानिनी[५].

प्रकाशः

इन्द्रस्य सत्त्वाभिमानित्वं देवमुख्यत्वाद्, देवानां सत्त्वारब्धत्वाद् इति. **प्रजापतीन्** इति. एतेषां तमोधिष्ठातृत्वं प्रजायाः संसाराविच्छेदापादकत्वेन तामसत्वात् तत्पतित्वेन तत्र अधिकृतत्वात्. **देवीम्** इत्यनेन ब्रह्मानन्दरूपा व्यावर्त्यते. **वागभिमानिनी** इति. ''तेजोमयी वाग्'' (छान्दो.उप. ६।६।५) इति श्रुतेः वाचः तेजोविकारत्वेन तेजस्कामस्य तद्भजनकथनाद् इदम् अवगम्यते. वसूनां गन्धाभिमानित्वं गन्धगुणक-भूर्लोकजय-श्रावणेन अग्रे व्युत्पाद्यम्. तथैव रुद्राणाम् आकाशाभिमानित्वम् आकाशजयेन अग्रेतनग्रन्थाद् बोध्यम्. रुद्रभजने तात्कालिक-फलकथनं विश्वासजननेन तद्भजनस्य दुर्वारत्वाय इति बोध्यम्. ''अन्नम् अद्यम् आद्यं वा यत्र इति अन्नाद्यम्'' इति व्युत्पत्तौ समृद्धिरपि **अन्नाद्यपदेन** आयाति इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः **अन्नसमृद्धिः वा**

लेखः

तेष्वेव अन्तर्भावः इति भावः. **एवम् उत्तरत्रापि** इति. अन्येष्वपि यथायोग्यं

---

१. पुत्रकाम इति नास्ति क्वचित्. २. देवतामिति ख.

३. -ष्ठात्री देवता इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ख-सं-मा.१ पाठानुसारेण - सम्पा.

४. रुद्रादीनिति क. ५. तेजोऽभिमानिन इति ग.

विश्वेदेवाः विश्वायाः पुत्राः **राज्यकामः** राजत्वकामः. **साध्यान्** साध्यायाः पुत्रान् **विशां** देशस्थप्रजानां **संसाधकः** स्वाधीनकरणेच्छुः. विश्वेदेवा जलस्य, साध्या वायोः. **आयुःकामः** आयुष्याभिवृद्धिकामः **अश्विनौ** अश्विनीकुमारौ घ्राणदेवता. **पुष्टिकामः** स्थूलत्वकामः, सर्वान् पोषान् वा कामयते, **इला** भूमिः शब्दाधिष्ठात्री देवता (वा!). **प्रतिष्ठाकामः** लोके सन्माननाकामः. **पुरुषः** इति योग्यस्यैव एषा कामना ; एवम् अन्यत्राऽपि ज्ञातव्यम्[१]. **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ **लोकानां मातरौ.** लोकमातृत्वं गुणः, मातृकापूजायां विहिते[२] वा. हस्ताभिमानिनी. **रूपाभिकामः** सौन्दर्यकामः **गन्धर्वान्** विश्वावसुप्रभृतीन्. एताः राष्ट्रभृतो देवताः, "एते वै गन्धर्वाप्सरसो यद्

प्रकाशः

इति. **जलस्य** इति. विश्वेषां जलाभिमानित्वं "सर्वा देवता आपः" (महाना.उप. १४।१) इति श्रुतेः जलस्य तथात्वेन, विश्वेषां च सर्वदेवाधिष्ठातृत्वाद् ज्ञेयम्. साध्यानां वाय्वभिमानित्वं फलबलाद्, वायुवद् अन्तर्बहिःर्वर्तित्वएव चित्तपरावर्तनादिसिद्धिः[३] इति. **लोकमातृत्वं गुणः** इति. एतं गुणम् अनुसन्धायैव तद्भजनार्थम् अयम् उक्तः इति अर्थः. श्रुतौ "इदं द्यावापृथिवी सत्यमस्तु पितर्मातः" (ऋक्संहि. १।१८५।११) इति उक्तत्वाद् एवं मातृत्वं न युक्तमिति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **मातृके**त्यादि. "गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया, देवसेना स्वधा स्वाहा मातृकाः वैधृतिः धृतिः" (नारदपुरा. १।५१।९७) इति स्मृतौ तासु तथात्वस्य प्रसिद्धत्वेन तद्रूपत्वम् अनुसन्धाय इति अर्थः.

लेखः

गुणत्वं कल्पनीयम् इति अर्थः. **रूपाभिकामः** इत्यत्र. **राष्ट्रभृतः** इति. ... . **अधरारणिदेवताम्** इति. "उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम्" (भाग.पुरा. ९।१४।४५) इति नवमे चतुर्दशाध्यायोक्तेः इति भावः.

---

१. ज्ञातव्या इति क-ख-घ. २. विहितो इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

३. -सिद्धेः इति मा.पाठः - सम्पा.

राष्ट्रभृतः'' (तैत्ति.संहि. ३।४।८।४) इति श्रुतेः. **स्त्रीकामः** सुन्दरस्त्रीप्राप्तिकामः **अप्सरोरूपाम् उर्वशीम्** अधरारणिदेवतां, देवपत्नीमध्ये वा. गन्धर्वाः रूपस्य, अप्सरसो रसस्य (अभिमानिनी देवता!). **आधिपत्यकामः** ''सर्वेषाम् अहम् अधिपतिः भविष्यामि'' इति **परमेष्ठिनं** गुह्याधिष्ठातारम्. **यज्ञं** यज्ञपुरुषं चरणाधिष्ठात्री[१] **यशस्कामः** कीर्तिकामः. **कोशकामः** भाण्डारकामः – कोशो धनसञ्चयः – **प्रचेतसं** वरुणं रसनेन्द्रियाधिष्ठातारम्. **विद्याकामः** ब्रह्मविद्यादिविद्याः **गिरिशं** महादेवम् अहङ्काराधिष्ठातारम्. **दाम्पत्यार्थं** दम्पत्योः प्रीत्यर्थम् **उमां सतीं** जन्मद्वयव्यापिनीं महादेवभार्याम्. **धर्मार्थं** धर्मसिद्ध्यर्थम् **उत्तमश्लोकं** वेदवेद्यम्. **तन्तुं तन्वन्** सन्ततिं विस्तारयन् **पितॄन्** अग्निष्वात्तादीन्. **रक्षाकामः** भूतादिभ्यः शत्रुभ्यो रक्षाम् इच्छन् **पुण्यजनान्** यक्षादीन्. **ओजस्कामः** इन्द्रियबलकामः **मरुद्गणान्** दितिपुत्रान्. **राज्यकामः** राज्याधिपत्यकामः **मनून् देवान्** स्वायम्भुवादीन् तन्मन्वन्तरदेवताश्च. **निर्ऋतिं** मृत्युम् **अभिचरन्** शत्रुमरणम् इच्छन्. **कामकामः** कन्दर्पवृद्धिम् इच्छन् **सोमम्**. **अकामः** सर्वकामरहितस्तु **परं पुरुषं** पुरुषोत्तमम्. अयम् एकोनत्रिंशत् सर्वतत्त्वपतिः. सोमो मनसः, निर्ऋति पायोः, मनवो देवाः चक्षुषः, मरुद्गणाः त्वचः, पुण्यजनाः जलस्य[२], पितरो महत्तत्वस्य, उत्तमश्लोकः पुरुषस्य, उमा श्रोत्रस्य.

प्रकाशः

पुण्यजनाः जलस्य इत्यत्र 'स्पर्शस्य' इति पाठः प्रतिभाति, पूर्वम् अग्रे च स्पर्शदेवतायाः अनुक्तत्वात्, ''प्रतिसिञ्चन् विचिक्रीडे यक्षीभिः यक्षराडिव'' (भाग.पुरा. १०।८७।९) इत्यादौ तेषु स्पर्शसुखवत्त्व-प्रसिद्धेः, विश्वेषु देवेषु स्पर्शसुख-गमकानुपलम्भाच्च.

अत्र यद्यपि मूले ब्रह्मणस्पतिप्रभृतीनां रजआद्यधिष्ठातृत्वं न प्रोक्तं तथापि श्रुति-पुराणान्तराद्युक्तं ज्ञेयं, वाराहे आदित्रेता-वृत्तान्ते गणपतेः आकाशाभिमानित्वस्य स्कन्दस्य अहङ्काराधिष्ठातृतायाश्च उक्तत्वेन अन्यत्र एवं क्रमस्यापि सम्भावितत्वाद् इति.

---

१. चरणाधिष्ठात्रीमिति क. २. स्पर्शस्येति ख.

एवं कामनाभेदेन प्रकृतोपयोगि-सर्वबलसिद्ध्यर्थं तत्तद्देवताभजनं कर्तव्यम् इति उक्तम्. वैराग्यार्थं च भगवान्.

तत्र कामना ब्रह्मवर्चसादिविषया. इयं[१] कामनाभेदेन भक्तिः साक्षात्परब्रह्मणो वासुदेवस्य असाधारणो धर्मः स्नेहात्मा. सः तदैव[२] प्रकाशते यदा तत्र वर्चः तेजः प्रकाशकं भवति. वेदेन ब्रह्ममात्रं प्रकाशयितुं शक्यं, नतु ब्रह्मधर्मः साक्षात्, नाऽपि प्रत्यक्षतया. प्रत्यक्षसमवेताअपि अभिव्यञ्जकाभावे न प्रकाशन्ते. अतो ब्रह्मणि भगवति यद् वर्चः तत् चेत् स्वस्मिन् आगच्छेद्, दीपहस्तइव सर्वं पश्येत्! अतः प्रथमं **ब्रह्मवर्चसकामना** कर्तव्या.

प्रकाशः

ननु✻ अत्र इतरभजन-निराकरणार्थं तेषु वाक्येषु तत्तत्कामनायाः उल्लेखो न युक्तः, लोकप्रवाहसिद्धत्वात्. तथा देवतानामपि उल्लेखो न कर्तव्यः, **अकामः** इति श्लोकस्थस्य **यजेत** इति पदस्य परिसङ्ख्यात्वे सुखेन तन्निवृत्तिसम्भवाद् ✻इति आकाङ्क्षायां तत्कथनप्रयोजनं वक्तुं तेषु 'यजि'पदोक्तायाः[३] देवपूजायाः स्वरूपम् आहुः **इयम्** इत्यादि. वाक्यान्वयाधिकरणे (ब्रह्मसूत्र १।४।१९), "पुनश्च भूयाद् भगवति अनन्ते रतिः" (भाग.पुरा. १।१९।१६) इत्यत्र प्रथमस्कन्धे च उपपादितत्वात् तथा इति अर्थः. ननु तत्तत्कामना तर्हि न स्यात्, सर्वासु कामनासु सएव स्नेहविषयत्वेन तदर्थक-क्रियोद्देश्यत्वेन च प्रकाशेत इति आकाङ्क्षायां तथा तदप्रकाशे हेतुम् आहुः **सः तथा** इत्यादि. ननु वेदे ब्रह्मणः औपनिषदत्वस्य उक्तत्वात् तेन तत्प्रकाशस्य सम्भवाद् न तत्र तेजोपेक्षा इत्यतः आहुः **वेदेन** इत्यादि. निषेधतयैव निरूपणात् तथा इति अर्थः. **साक्षाद्** इति, केवला(/लः!) इति अर्थः. ननु तर्हि धर्मोक्तेः का गतिः इत्यतः आहुः **नापि** इत्यादि. तदुक्त्या यथाकथञ्चन शाब्दं भवतु, नतु तत् प्रत्यक्षमपि. वेदोक्तसाधनैः प्रत्यक्षेऽपि ब्रह्मणि समवेताअपि धर्माः अभिव्यञ्जकस्य सहकारिणो अभावात् प्रत्यक्षतया न प्रकाशन्ते इति अर्थः.

---

१. इयं हीति ख-घ. २. तथैवेति ख-ग-प्रकाशे - सम्पा.

३. यजिप्रयुक्तायाः इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

वेदस्थं[१] वा प्रकाशनसामर्थ्यम्. नहि चक्षुर्व्यतिरेकेण स्फीतालोकमध्यवर्त्यपि घटः प्रकाशते. तद् ब्रह्मगतं वेदगतं वा को वा दातुं शक्तः इति विचारे यो **ब्रह्मणः पतिः** वेदस्य वेदार्थस्य वा नियामकः – येन वा तत्सामर्थ्यं तत्र निहितं भवति तेनैव दातुं शक्यतइति ब्रह्मधर्मान् सर्वान् गृहीत्वा जगति प्रकटनार्थं या रजोगुणदेवता – सैव उपास्या, प्रकटनार्थमेव तत्प्रवृत्तेः. नाऽपि कूटस्थं, तदर्थम् अप्रवृत्तत्वात्[२]. एवम् उत्तरत्राऽपि. इन्द्रियव्यतिरेकेण स्वतो जीवात्मा – प्रकाशकेऽपि ब्रह्मवर्चसे करणाभावाद् – न ज्ञातुं शक्तइति इन्द्रियम् अपेक्ष्यम्. इन्द्रियवानेव भगवच्छास्त्रे अधिकारी, ''को नु राजन् इन्द्रियवान्'' (भाग.पुरा. ११।२।२) इति वाक्यात्. तच्च[३] इन्द्रियं स्वतो विद्यमानमपि ज्ञान-क्रियारूपं कार्यं जनयदपि परमार्थवस्तुबोधक-स्वरूपत्वाभावाद् अपेक्षितेन्द्रियाद् भिन्नम्. ''इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यम्'' (तैत्ति.संहि. २।५।३।२) इत्यादिश्रुतौ तदिन्द्रियं

प्रकाशः

सामर्थ्यम् इति, कामयितव्यम् इति अर्थः. तत्र हेतुः **न हि** इत्यादि. तथाच अत्र कामितस्य लोकप्रवाहसिद्धत्वाभावात् तदुल्लेखः इति अर्थः. देवतोल्लेखप्रयोजनम् आहुः **तद् ब्रह्म** इत्यादि. तथाच अत्र उक्तानां देवतानामपि अतिरिक्तत्वात् परिसङ्ख्यापि वक्तुम् अशक्या इत्यतः तदुभयकथनम् इति अर्थः. इममेव प्रकारम् अग्रेऽपि अतिदिशन्ति **एवम्** इत्यादि. ''इन्द्रस्य'' इत्यादि श्रुतिस्तु तैत्तिरीयसंहिता-द्वितीयाष्टके अस्ति. ''इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यं पृथिवीमनुष्याच्र्छत् तदोषधयो विरुधो अभवन्निति स प्रजापतिं ... पशून् अब्रवीद् एतस्मै सन्नयतेति ... अध्यात्मन् समनयत् तत्प्रत्यदुहन्'' इत्याद्युक्त्वा ततः इन्द्रेण ''न तु मयि श्रयते'' इति उक्ते, ''एतदस्मै श्रितं कुरुत'' इति आज्ञप्ते, ततः श्रयणोत्तरम् इन्द्रेण ''न तु मा धिनोति'' इति उक्ते, ''एतदस्मै दधि कुरुत'' (तैत्ति.संहि. २।५।३।२-४) इति दधिकरणं तत्र उक्तम्. तेन इन्द्रस्य तथात्वात् सएव सेव्यः इति अर्थः. अत्र अन्नान्नाद्ययोः कथं

---

१. वेदस्य वेति ख. २. ममप्रवृत्तत्वादिति ग. ३. तत्रेन्द्रियमिति क.

प्रसिद्धम्, अन्यथा वृत्रहननं[१] प्रजापत्युपधावनं च न स्यात्. अतो **(इन्द्रियकामः!)** अलौकिकपदार्थज्ञान-करणेन्द्रियप्राप्त्यर्थम् **इन्द्रः** उपास्यः. तेन हि तद् उपायेन प्राप्तम्. यद्यपि प्रजापतिः प्रयोजकः तथापि तत्पदार्थरसानभिज्ञत्वाद् गवामपि तथात्वाद् इन्द्रएव सेव्यः. अन्यथा इन्द्रस्य पुनः पुनः उपधावनं न भवेत्. अतो [२]धिनोत्यन्तं तस्य रसम् इन्द्रएव जानाति इति सएव सेव्यः. ऋणत्रयापाकरणार्थं सहायार्थं वा प्रजाः पुत्रादिरूपाः अपेक्ष्यते, अन्यथा भगवद्भजने नैश्चिन्त्यं न स्यात्. तत्र स्वतो जायमानाः प्रजाः[३] स्वापेक्षितं न कुर्वन्ति इति **(प्रजाकामः!)** स्वापेक्षितप्रजालाभार्थं **(प्रजापतीन्!)** मरीच्यादयएव सेव्याः, ते हि ब्रह्मणो अभिप्रेतं कृतवन्तः इति. इदानीं भगवद्भजने लक्ष्मीरूपा सम्पत्तिः अपेक्ष्यते. सैव भगवन्निष्ठा तत्र विनियोगम् अर्हति, अन्यां भगवानपि न गृह्णीयात्. अतो **(श्रीकामः!)** भजनौपयिकां सम्पत्तिम् इच्छन् **मायामेव भजेत.** तत्र एका माया व्यामोहिका, एका जगत्करणभूता[४]; ते उभे न सेव्ये, अन्यत्र अधिकृतत्वात्. **(देवीं!)** देवतारूपा सात्त्विकी मोक्षदातुः वासुदेवस्य – मोक्षदानार्थमेव तादृशं रूपं गृहीतवतः – तदुपयोगि-साधनसम्पादनार्थं लक्ष्मीरेव[५] "विष्णोः देहानुरूपां वै करोति एषा आत्मनः तनुम्" (विष्णुपुरा. १।९।१४५) इति वाक्यात् तद्भार्यारूपेण मायारूपं गृहीतवती. "मया सह [६]आगन्तव्यम्" इति नियोगकरणाद् 'माया' इति अभिधानम्, "इत्थं विचिन्त्य परमः स तु वासुदेवनामा बभूव निजकारणमुक्तिदाता, तस्याऽऽज्ञयैव नियताऽथ[७]

लेखः

इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इति. ... . **यद्यपि प्रजापतिः प्रयोजकः** इति, इन्द्रस्यापि तथासामर्थ्ये प्रयोजकः इति अर्थः. **गवामपि** इति. दुग्धादिना हविःसम्पादनेन यज्ञद्वारा इन्द्रादौ सामर्थ्याधानाद् इति भावः.

---

१. वृत्रहरणमिति क-ग-घ. २. अत्यन्तम् इति मा.२ पाठः - सम्पा.

३. प्रजालाभार्थं प्रजेति ख. ४. जगत्कारणभूता इति ग-घ.

५. लक्ष्म्येव इति ख. ६. सह गन्तव्यमिति घ. ७. नियता परमाऽपि रूपमिति ख.

रमाऽपि रूपं वव्रे[1] द्वितीयमिव यत् प्रवदन्ति मायाम्'' (महाभा.ता.नि. १।६) इति वाक्यात्. अतएव **तु**शब्देन अन्ये निवारिते. किञ्च इन्द्रियेण सम्पत्त्या सहायेन प्रकाशेन च भगवद्धर्मेषु समानीतेषु स्वस्य धारणासामर्थ्य-सिद्ध्यर्थं स्वस्मिन् तेजः अपेक्ष्यते, अन्यथा ते समागताः तत्र न निविशेयुः, निविष्टाः वा तदाश्रयं दहेयुः! अतः स्वयोग्यतासिद्ध्यर्थं तेजः अपेक्षितम्. तद्धि सर्वाभिभावकं सर्वमेव रूपं स्वसमानं करोति. तद् भगवन्निष्ठमेव वह्निना प्राप्तं, विशेषेण भा दीप्तिः वसु धनं यस्य इति 'विभावसु'शब्दनिर्वचनात्. अतः **तेजस्कामो विभावसुमेव** सेवेत. एवं धनस्याऽपि भगवद्भक्तेषु आनत्यर्थं श्रवणादिसिद्ध्यर्थम् उपदेशनार्थं वा देयम्[2] अपेक्ष्यते, साधनरूप-श्रवणादिकं तादृशैरेव भवति इति, शुककर्तृकन्तु फलरूपम्. दृष्टरूपत्वाच्च तद् अपेक्ष्यतएव. तत् तन्नाम्ना वसुष्वेव प्रतिष्ठितं, ''त इमं लोकम् अयजन्'' (तैत्ति.संहि. ७।१।५।३) इति श्रुतेः. एवं वीर्यस्य बलस्याऽपि भगवत्सेवौपयिकत्वाद् बलाधिष्ठानदेवतायाः[3] वायोः स्थानभूतस्य अन्तरिक्षस्य रुद्राः प्रभवः इति देवताऽपि तदधीना इति **वीर्यकामो रुद्रानेव** भजेत, ''तेऽन्तरिक्षम् अजयन्[4]'' (तैत्ति.संहि. ७।१।५।३) इति श्रुतेः. एवम् अन्नादेरपि, अन्नभक्षणस्य वा. ''यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाऽतिप्रियमात्मनः'' (भाग.पुरा. ११।११।४१) इति वाक्याद् अन्नाद्यमपि काम्यम्. तत्र **अदितिः** इयमेव भूम्यधिष्ठात्री देवता, ''सा अदितिः अब्रवीद् वरं [5]वृणा अथ मया विगृह्णीध्वम्'' (तैत्ति.संहि. ६।४।७।२) इति उपाख्याने तस्याः तादृशत्वप्रसिद्धेः. भूमौ भगवद्भजनं कृत्वा दिव्यानां

प्रकाशः

सेवासाधनत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **यद्यदिष्ट** इत्यादि. तदभावे लोके इष्टतमस्य स्वप्रियस्य च अभावाद् वाक्यार्थबाधापत्तिः इति तेन तयोः तथात्वम् इति अर्थः. **अदित्युपाख्यानं, ''त इमं लोकम् अजयन्''**

---

१. चक्रे इति ग. २. देवमिति ख. ३. बलाधिष्ठानदेवता वारोरिति क-ग-घ.

४. अयजन्निति क-ग-घ.

५. वरं वृण इति क-ग. वरं वृणु इति घ. वृणीष्व इति मा.१ पाठः -सम्पा.

पदार्थानाम् अभावात् स्वर्गे कर्तव्यम् इति **स्वर्गकामना** भवति. तत्र (**अदितेः सुतान्!**) आदित्याः प्रभवः, "ते अमुं लोकम् अजयन्" (तैत्ति.संहि. ७।१।५।३) इति श्रुतेः. **विश्वेदेवास्तु**[1] राज्ये अधिकारिणः, सर्वदेवताधिष्ठातृ-देवतारूपत्वात्. राजा च सर्वदेवतामयः. अतो अत्र सर्वसम्पत्त्या भजनसिद्ध्यर्थं (**राज्यकामः!**) राजत्वम् अपेक्षितम्. भक्तिमार्गस्तु अलौकिकः इति (**विशां संसाधकः!**) असाध्यसाधक-पदार्थसिद्ध्यर्थं तदधिकारिणः **साध्यान् भजेत्**. सर्वाः चेत् प्रजाः स्वाधीनाः भवेयुः तदा सर्वत्र भक्तिप्रचारो भवेद् इति भक्तिप्रसरणार्थं तत्साधकत्वम् अपेक्ष्यते. **आयुषस्तु** भक्तसङ्गाद्यर्थम् उपयोगः स्पष्टएव. तत्र **अश्विनौ** आयुषः प्रभू इति तदुपाधावनम्. एवं **पुष्टिरपि** लोकातीता भगवत्कार्यसाधिका इति सर्वपोषकर्त्री (**इलां!**) भूमिं भजेद्, यतो भूमिष्ठाएव सर्वे वर्धन्ते अङ्कुरादयः. **प्रतिष्ठाया**अपि तद्वृत्तानुवृत्त्या[2] प्रचयार्थम् अपेक्षा भवति. प्रतिष्ठा च माहात्म्याद् वैचित्र्याद् वा. तद् द्यावापृथिव्योरेव, उभयं प्रसिद्धम् इति. भगवदधिष्ठानेषु **रूपा**भिव्यक्ति-सामर्थ्यार्थं "रूपमिति गन्धर्वा" (शतपथब्रा. १०।५।२।२०) इति श्रुतेः ते सेव्याः. नृत्यादिना भगवद्भजनार्थं तादृश**स्त्रीकामना**याम् (**अप्सर!**) अनेकरूपकरणसमर्था **उर्वशी** सेव्या. नारायणोत्पन्नत्वाद्

प्रकाशः

इत्यादि श्रुतिश्च सप्तमाष्टके पठ्यते. **तद्वृत्तानुवृत्त्या** इति, रोदस्योः वृत्तस्य लोकमातृत्वरूपस्य पोषकत्वस्य अनुसरणेन[3]. "**रूपम्**" इति श्रुतिस्तु वाजसनेयिनां मण्डलब्राह्मणस्था. एवम् एतेन सन्दर्भेण कामनायाः भगवत्सेवोपयोगित्वेन देवतानाञ्च वायोः क्षेपिष्ठत्ववत् तत्तत्सामर्थ्यवद्-भगवदंशत्वेन लोक-प्रवाहसिद्धेभ्यो भेदः साधितः ॥२-९॥

---

१. सुराज्ये इति ख. सुरराज्ये इति मा.१ पाठः - सम्पा.

२. तद्वृत्त्यानुवृत्त्या इति ख. वृत्तत्वानुवृत्त्या इति मा.२ पाठः - सम्पा.

३. पोषकत्वानुसरणेन इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

दृषिमातृत्वाद् वैराग्यबोधनेन मुक्तिदातृत्वाच्च – पूर्वचित्त्यादयस्तु न एवंरूपाः – **(आधिपत्यकामः !)** आज्ञापनसामर्थ्य-सिद्ध्यर्थं तथाभूतः **परमेष्ठी** चतुर्मुखः सेव्यः, सहि सर्वान् आज्ञापयति इति. आज्ञापनस्य च भक्तिकारणता स्पष्टा. तथा **यशसो**ऽपि ; कीर्त्या हि सर्वे समायान्ति पश्चात् तद्वृत्तम् अनुतिष्ठन्ते. **यज्ञो** हि यशः प्राप्तवान्. ''देवा वै [1]सत्रमासतर्द्धिपरिमितं[2] यशस्कामा'' (तैत्ति.संहि. २।३।३।१) इत्यत्र यज्ञेनैव यशसः प्राप्तत्वात् सः सेव्यः. **(कोशकामः !) प्रचेता** निधिपतिः ; अलौकिकार्थदाने हि भगवदुत्सवादिः भवति. **विद्यायास्तु** साक्षाद् उपयोगाद्, ''ईश्वराद् ज्ञानम् अन्विच्छेद्'' (ब्रह्मपुरा. १३९।११) इति वाक्यात्. ''प्रतिकूले गृहं त्यजेद्'' (त.दी.नि. २।२३१) इति **दाम्पत्यं** भगवद्भजनार्थम् अपेक्षितम्. तत्र परमभक्तायाः [3]परमभक्त-स्वपतिनिष्ठतया बहुजन्मसिद्धत्वाद् **उमा** सेव्या. **धर्मेण** च भक्तिः भवति इति पूर्वं साधितं ; उत्तमैः च लोके वेदे धर्मप्रतिपादकएव सेव्यते. भक्तिमार्गस्य परम्परासिद्ध्यर्थं **(तन्तुं तन्वन् !)** सन्तत्यपेक्षायां **पितरो** हि तदासंशकाः इति तेषां भजनम्. **रक्षायां** क्रूराणाम् अपेक्षितत्वाद् यक्षभजनम्. **ओजसः**[4] इन्द्रियशक्तेश्च नेत्र-श्रोत्र-पाटवरूपत्वात् **मरुद्गणा**श्च पटवो भवन्ति – बहुधा च्छिन्नाअपि न मृताः इति, महापुरुषपूजया सिद्धाः इति, परित्यक्तदोषाः – इति ते सेव्याः. **(राज्यकामः मनून् !)** अधिकारिणः सर्वविनियोगसामर्थ्यात् स्पष्टं मन्वन्तराधिपतयः सेव्याः. प्रतिबन्धकनिवृत्तेः अपेक्षितत्वाद् **(अभिचरन् !) निर्ऋतिः** सेव्यः. **कामनया** सर्वं भवति इति भगवद्विषयक-कामनोत्पत्त्यर्थं रासप्रकरणे निरूपितस्य **सोमस्य** भजनं कर्तव्यं, तेन हि भगवतोऽपि कामः पूरितइति, तादृशकामपितामहत्वाच्च[5] ॥२-९॥

लेखः

मुक्तिदातृत्वाच्च इति. ... ॥२-९॥

१. देवा वै सत्रं समासत ऋद्धिपरिमितमिति क-ख. २. ऋद्धिपरिमितमिति ग. सिद्धं परिमितमिति घ. ३. परमभक्तेः स्वपतिनिष्ठाया इति ग. परमभक्तैस्त्वयमिति निष्ठयेति घ. ४. ओज इति क-ग. ५. कामयिता महत्त्वाच्चेति घ.

एवं भगवदंशानां तत्तत्साधकत्वम् उक्त्वा ससाधनभक्ति-सिद्ध्यर्थमपि भगवानेव सेव्यः इति आह.

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।।
तीव्रेण भक्तियोगेन भजेत पुरुषं परम् ।।१०।।

अकामः इति वैराग्यकामः, पूर्वाध्यायोक्त-न्यायेन स्वतन्त्रतया निष्कामो वा. **सर्वकामः** एतदध्यायोक्तकामः. **मोक्षकामो वा. उदारा धीः यस्य** इति स्वतन्त्रो वा. **तीव्रेण** शीघ्रं **(भक्तियोगेन!)** भगवत्प्रापकेण पूर्वोक्तमेव **परं पुरुषं भजेत,** भगवतैव ससाधनं साध्यं सेत्स्यति इति ।।१०।।

ननु भजनमेव कथं सिद्ध्येत्, कामनाभावे बकबन्धप्रयासवद् इति आशङ्क्य कामनया तत्साधनेऽपि अन्तरङ्गसाधन-साधकमेव सेव्यम् इति अभिप्रायेण आह.

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।।
भगवत्यचलो भावो यद् भागवतसङ्गमः ।।११।।

एतावानेव इति. सर्वाण्येव साधनानि साधनद्वये प्रविशन्ति— (येन **भागवतसङ्गमः!**) भगवद्भक्तसङ्ग-साधकत्वेन, **भगवति** (येन **अचलो भावः!**) रति-साधकत्वेन च. एतावान् अर्थः चेत् सिद्धः तदा न अन्यकामना कर्तव्या. अतएव **यजतां** मध्ये **इह** अस्मिन् भक्तिमार्गे **श्रेयसः (निः!)** परमः **उदयः एतावानेव** द्वयमेव, तद् उक्तम् ।।११।।

प्रकाशः

अकामः इत्यत्र. तद्भजन-निराकरण-बीजम् आहुः **भगवतैव** इत्यादि. तथाच पूर्वं ''श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र'' (भाग.पुरा. २।१।२) इति, ''नान्यत्र सज्जेद्'' (भाग.पुरा. २।१।३९) इति, ''तन्निर्वृतो नियतार्थो भजेत'' (भाग.पुरा. २।२।६) इत्यादिभिः पर्युदस्तस्य पुनः पर्युदासाऽयोगादपि अयमेव शुकाशयः इति अर्थः ।।१०।।

लेखः

एतावानेव इत्यत्र. **तद् उक्तम्** इति, तद्द्वयम् एतच्छ्लोके उक्तम् इति अर्थः ।।११।।

तयोरपि एकं साधनं येन तौ भवतएव. तद् आह.

ज्ञानं यदाऽऽप्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रम्
आत्मप्रसाद उभयत्र गुणेष्वसङ्गः ।।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात् ।।१२।।

ज्ञानम् इति. हरिकथासु रतिः तयोः साधिका, कथारतिषु [१]सक्तस्य कथकाअपि मिलन्ति प्रेमाऽपि भवति इति. आनुषङ्गिकं च अन्यद् बह्वेव भवति इति आह. **(यद्!)** यासु कथासु **आसमन्तात् प्रतिनिवृत्तं गुणोर्मीणाम्** उत्पत्त्यादीनां **चक्रं** रागादिधर्मसमुदायो येन, सर्वाविद्यानिवर्तकम् इति यावत्, तादृशं **ज्ञानं** भवति. तत्साधनम् **(आत्मप्रसादः!)** अन्तःकरणप्रसादोऽपि भवति. तस्याऽपि साधनम् **(उभयत्र गुणेषु असङ्गः!)** ऐहिकामुष्मिकगुणेषु वैराग्यम्. एवं ससाधनं ज्ञानमपि सिद्ध्यति. सोपायो मार्गो अयं, **कैवल्ये सम्मतस्तु (पथः!)** मार्गो **भक्तियोगः. अथ** इति भिन्नप्रक्रमे[२]— स्वतन्त्रो[३] न ज्ञानसाधनं न वा तत्सहायः किन्तु पूर्वोक्तकामनया सिद्धसाधनसाध्यः. यत्र आनुषङ्गिकं ज्ञानं भक्तिश्च भवति, भगवति प्रेम भक्तसङ्गश्च मुख्यतया भवति तादृशीषु **(हरि!) कथासु** सन्मार्गवर्ती **को** वा **रतिं न कुर्याद्** इति अर्थः. तत्राऽपि **निर्वृतः** अप्रवृत्तिमार्गपरः ।।१२।।

प्रकाशः

ज्ञानम् इत्यत्र. **सिद्धसाधनसाध्यः** इति. तया सिद्धं यद् भगवद्भक्तसङ्गरूपं साधनं तत्साध्यः ।।१२।।

लेखः

तयोरपि एकम् इति. [४]अचलभाव-भक्तसङ्गयोः इति अर्थः ।।१२।।

---

१. कथारतियुक्तस्य इति सं-मा.२ पाठयोः -सम्पा. २. भिन्नक्रम इति ग.

३. 'भक्तियोगः' इति प्रथमाविभक्तेः अयं व्यञ्जितो अर्थः, स्वतन्त्रः कर्ता इति -सम्पा.

४. न.पाठानुसारेण. अचलभाव- इति ग.पाठे अन्यत्र निक्षिप्तम् -सम्पा.

एवं ससाधनं भक्तिमार्गम् उपदिश्य[१] ''तस्य विशेषाकाङ्क्षायाम् अन्यद् वक्तव्यम्'' इति तूष्णीम्भूतः. तथा[२] सूतोऽपि. अयम् अर्थो गुप्ततया निरूपितः इति शौनकादीनां हृदये समागतो न[३] वा इति सन्दिह्य तूष्णींस्थिते स्वाभिप्रायं शौनकः प्रकटयन् गुप्ततया उक्तम् अर्थं प्रकटयितुम् आह **इत्यभिव्याहृतः**[४] इति यावदध्यायसमाप्तिः[५]. इदमेव हि तस्य परिज्ञानं यद् भक्त्यसाधकानां विद्यमानानां वैयर्थ्यज्ञानम्. तदा हि तत्साधनेषु प्रवृत्तिः भवति. यस्तु सिद्धसाधनः सः भगवत्सङ्गेऽपि सिद्धे कथायामपि रतौ सत्यां भगवति स्नेहार्थमेव यत्नो[६] अवशिष्यते इति अस्मदपेक्षया राजा महान्. अतः तत्पृष्टानुसारेणैव[७] भक्त्युपाये ज्ञाते तत् कर्तव्यम् इति अभिप्रायेण प्रथमं प्रश्नं पृच्छति **इत्यभिव्याहृतः** इति चतुर्भिः.

।। शौनकः उवाच ।।

इत्यभिव्याहृतो राजा निशम्य भरतर्षभः ।।
किमन्यत् पृष्टवान् भूयो वैयासकिम् ऋषिं कविम् ।।१३।।

अभितो व्याहृतः उपदिष्टः इति अर्थः. **निशम्य** तदभिप्रायं ज्ञात्वा. **भरतर्षभ**त्वाद्[८] न व्यामोहः अतः पूर्वोक्तमेव न पृष्टम् इति अर्थः. **अन्यदेव पृष्टवान्**. यद्यपि सर्वम् उत्तरितं तथापि प्रकारान्तरेण तदुपपादकरूपेण वा **किं भूयः पृष्टवान्** इति अर्थः. शुकस्य विरक्तत्वाद् बहुकालस्थित्यभावेन न किञ्चित् पृष्टं भविष्यति इति आशङ्क्य आह **वैयासकिम्** इति, सर्वविस्तारकर्तुः[९] पुत्रोऽपि तादृशः इति. तत्राऽपि भागवतलक्षणं

लेखः

इति इत्यत्र. **इदमेव हि तस्य** इति. **तस्य** शौनकस्य **इदं** वक्ष्यमाणप्रकारक**मेव ज्ञानम्** अभिप्रायः इति अर्थः. **तदा हि** इति. यदा तेषां वैयर्थ्यज्ञानं भवति तदा भक्तिसाधनेषु प्रवृत्तिः इति अर्थः ।।१३।।

---

१. उद्दिश्येति क-घ. २. सूतोपि तथा इति ख. ३. वा नेतीति क.
४. इत्यभिव्याहृतमिति क-घ. ५. यावदध्यायसमाप्ति इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-ग-घपाठानुसारेण -सम्पा. ६. यतोऽशिष्यत इति ख.
७. प्रश्नानुसारेणेति ख. ८. भरतऋषभत्वादिति क-ख-घ. ९. -विस्तरेति ग-घ.

मन्त्राधिष्ठातृ-भगवदभिप्रायं जानाति इति सर्वथा कथयिष्यति इति कीर्त्यभिप्रायेण **ऋषिपदम्**. विशेषकथनसामर्थ्यार्थं **कविपदम्** ॥१३॥

तेन किं भवताम् इति अपेक्षायाम् आह.

एतच्छुश्रूषतां विद्वन् सूत नोऽर्हसि भाषितुम् ॥
कथा हरिकथोदर्काः सतां स्युः सदसि ध्रुवम् ॥१४॥

एतद् इति. **(शुश्रूषतां!)** एतच्छ्रवणे अस्माकं महती इच्छा. त्वं च जानासि, सर्वत्र कथने च तव अधिकारएव इति सम्बोधनद्वयं **विद्वन्, सूत** इति. अतो **नो** अस्मभ्यं **भाषितुम् अर्हसि.** श्रोतृ-वक्तृपरत्वव्यावृत्त्यर्थम् आह **कथाः हरिकथोदर्काः** इति. अन्याअपि **कथाः सतां सदसि** हरिकथोदर्काएव भवन्ति. **हरिकथैव**[1] **उदर्कः**[2] उत्तरफलं यासु. **ध्रुवम्** इति न अत्र सन्देहः ॥१४॥

सत्सभायामेव एवं भवति, सुतराम् अपूर्वसत्सङ्गे. तत्र उभयोः सत्त्वम् उक्त्वा तत्सङ्गे कथावश्यकत्वं वक्तव्यम्. तत्र प्रथमं समागतस्य पृच्छकाधीनत्वात् पृच्छकस्य भगवद्भक्तत्वम् आह **स वै भागवतः** इति.

स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः ॥
बालक्रीडनकैः क्रीडन् कृष्णक्रीडां य आददे ॥१५॥

(वै!) निश्चयेन **राजा**ऽपि **सः भागवत**एव. अथवा **राजा** हि बहु पृच्छति, **भागवतः** च भगवदीयं ; तस्य उभयरूपत्वाद् भगवदीयं बहु पृच्छति[3] इति अर्थः. तस्य भगवदीयत्वे साधनभूतं हेतुद्वयम् आह **पाण्डवेयो महारथः** इति, भगवदीयवंशे अवतीर्णत्वात् स्वधर्मनिष्ठत्वाच्च. फलमुखम् अन्तरङ्गं[4] साधनं तस्य चित्तस्वभावो भगवत्परः इति आह **यस्तु** बाल्ये **बालक्रीडनकैः क्रीडन् (कृष्णक्रीडाम् आददे!)** एकं भगवन्तं स्थापयित्वा तत्सेवकत्वेन राजलीलामिव क्रीडति, वृन्दावनस्थां भगवत्क्रीडां वा अभिनयेन अनुकरोति ॥१५॥

---

१. कथनं चेति क-ख-घ. २. उदर्कमुत्तरफलमिति क-ग.
३. प्रक्ष्यतीत्यर्थ इति ख. ४. फलमुत्तरङ्गमिति ख-घ. उत्तरसाधनम् इति सं-मा.१ पाठयोः -सम्पा.

शुकोऽपि भगवद्भक्तः इति आह.

वैयासकिश्च भगवान् वासुदेवपरायणः ॥
उरुगायगुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे ॥१६॥

वैयासकिश्च इति. श्रोता तु भगवदीयानां वंशजो भगवदीयः, शुकस्तु भगवतः पुत्रो **भगवान्** तथाभूतः सन् **वासुदेवपरायणः**. **च**काराद् अन्येऽपि तादृशाः. अतः सर्वेऽपि सन्तः. तेषां च नूतनः **समागमः**. (**सतां!**) तादृशे कथाः सर्वभक्तानां सम्मताः. (**उरुगायगुणोदाराः!**) सर्वपुरुषार्थानां स्वतन्त्रतया साधनाभावेऽपि दातारो ये भगवद्गुणाः ते यासु. अतः ताः कथय इति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥१६॥

इदानीं विद्यमानानां भक्त्यसाधकत्वे[1] वैफल्यं वक्तुं भक्तिसाधकत्वे सफलत्वं कैमुतिकन्यायेन आह.

आयुर्हरति वै पुंसाम् उद्यन्नस्तं च यन्नसौ ॥
तस्यर्ते यः क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ॥१७॥

आयुः हरति इति. ''यो असौ तपन् उदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादाय उदेति, मा मे प्रजाया मा पशूनां मा मम प्राणानादाय उद्गाः, असौ यो अस्तमेति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदाय अस्तमेति, मा मे प्रजाया मा पशूनाम्'' (तैत्ति.आर. १।१४।१) इत्यादि श्रुतिवाक्ये **असौ** सूर्यः (**पुंसां!**) सर्वेषां प्राणिनाम् **उद्यन् अस्तं**[2] **च यत्** सर्वेषाम् **आयुः हरति** इति उक्तम्. तत्र ''मा मे प्रजायाः'' इति कथनात् कस्यचिद् आयुः न हरति इति ज्ञायते. तत्र को वा इति अपेक्षायाम् आयुर्हरणार्थं स्थापितस्य सूर्यस्य अधिकारिणः लोकन्यायेन अधिकारदातुः अन्तरङ्गस्य न हरति इति ज्ञायते. हृतं च आयुः भगवदीयेभ्यएव[3] प्रयच्छति, विनियोगस्य आवश्यकत्वात्. यद्यपि वाक्ये प्रार्थकस्यैव आयुषो न हरणं तथापि हरणस्य अनित्यत्वज्ञापनेन तथा अवसीयते. **तस्य आयुः**

लेखः

आयुर्हरति इत्यत्र. **वाक्ये** इति, उपदर्शित-श्रुतिवाक्ये इति अर्थः.

---

१. भक्त्यभावसाधकत्वेति क. २. अस्तमयन्निति ख. ३. येभ्यः प्रयच्छतीति ख.

ऋते "शतायुर्वै पुरुषः" (शतपथब्रा. १३।२।१।६) इति पुरुषस्य शतम्[१] आयूंषि भवन्ति. एकेन [२]वत्सरेण सर्वब्रह्माण्डपरिभ्रमणेन एकम् आयुः हरति. तत्र तस्य आयुः ऋत इति यस्मिन् आयुषि सः **क्षणो** भवेत्. **यः**[३] **उत्तमश्लोकवार्तया** भगवत्समीपं **नीतः** तद् आयुः न गृह्णाति इति अर्थः. यत्तदोः नित्यसम्बन्धात् **तच्छब्देन** क्षणएव उच्यते. सम्बन्धित्वं च स्वरूपतएव इति सः यस्मिन् आयुषि[४] भवति इति सिद्ध्यति. वर्षमध्ये एकोऽपि क्षणः उत्तमश्लोकवार्तया स्वार्थं भगवदर्थं वा नीतः चेत्, स्वकार्यं वार्तयैव कृतम् इति शिष्टमपि सैव हरिष्यति इति स्वयं न हरति इति भावः ॥१७॥

एवं क्षणमात्रेऽपि भगवत्कथासम्बन्धे आयुषः कृतार्थता इति उपलक्षणविधया सर्वेषां कृतार्थत्वं निरूप्य तदभावे बह्वपि आयुः प्रार्थनया आहृतमपि[५] व्यर्थम् इति सदृष्टान्तम् आह.

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत ॥
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥१८॥

तरवः इति, वृक्षाः **किं** बहुकालं **न जीवन्ति**? न तेषां स्वार्थे कश्चन उपयोगः, मुक्ताश्च न भवन्ति. अतो बहुकालजीवनं प्रार्थनयाऽपि

लेखः

एकेन संवत्सरेण इति. "अथ च यावद् नभोमण्डलं स ह द्यावापृथिव्योः मण्डलाभ्यां कार्त्स्न्येन सह भुञ्जीत तं कालं संवत्सरं परिवत्सर-मिडावत्सरम् अनुवत्सरम् इति भानोः मान्द्य-शैघ्र्य-सम-गतिभिः समामनन्ति" (भाग.पुरा. ५।२२।७) इति पञ्चमस्कन्धोक्तेः इति भावः. **स्वकार्यम्** इति, अमृतत्व-सम्पादनरूपं भगवत्कार्यम् इति अर्थः. **शिष्टम्** इति, दुःसङ्गादिरूप-प्रतिबन्ध-निवृत्त्यादिकम् इति अर्थः. **सैव** वार्तैव. **स्वयम्** इति, भगवान् इति अर्थः ॥१७॥

सर्वेषाम् इति, आयुःपरिच्छेदकानां क्षणानाम् इति अर्थः.

---

१. शत इति क. २. संवत्सरेण इति लेखे - सम्पा. ३. य इति नास्ति क.
४. -न्नायुषि स क्षणो भवतीति ख-ग. ५. अकृतमपीति घ.

प्राप्तं व्यर्थम् इति अर्थः. ननु तेषाम् आयुः प्राणं धृत्वा न तिष्ठति इति प्राणधारकत्वेन तदुपयोगो भविष्यति इति आशङ्क्य आह **भस्त्राः किं न श्वसन्ति उत** इति. पूर्वमपि नासा चर्मपुटरूपैव, तन्मार्गेण वायुः आगच्छति गच्छति च ; भस्त्रायामपि एवम् इति न प्राणधारणेन कोऽपि उपयोगः सिद्ध्यति. ननु अत्र स्व-परोपकाराणां सिद्धत्वाद् न दृष्टान्ततुल्यता इति आशङ्क्य आह **उत** इति. पुनः तथा कृत्वाऽपि व्यर्थः इति अर्थः. यथा इङ्गालाः भस्त्राश्वासेन[१] तप्ताः भवन्ति, अन्येऽपि तत्सम्बन्धाद् लोहादयः – तप्तानाम् आघातश्च भवति अतः परोपतापाद्युपद्रवकर्तृत्वं – तथा जीवनस्याऽपि इति न कोऽपि विशेषः इति भावः. पुरुषार्थसिद्ध्यभावस्तु उभयत्र तुल्यः. ननु भोगो अस्ति इति चेत्, तत्र आह लोकानां भोगभ्रमो अन्नादिभक्षणे, वस्तुतस्तु एकत्र प्रविष्टो अन्यत्र निर्गच्छति. **(किं ग्रामपशवः न खादन्ति न मेहन्ति!)** यथा स्वशरीराद् निर्गतं शूकरमुखे प्रविश्य पुनः निर्गच्छति तथा भूमि-वृक्षादेः निर्गतं स्वस्याऽपि मुखे प्रविश्य विनिर्गच्छतीति न शूकरादिभ्यः कश्चन विशेषः. तुल्यत्वं यस्य न स्फुरति तं प्रति एतदापादनम् अनिष्टं ; न ब्रह्मविदं प्रति. सहि प्राकृतः[२] स्वात्मानं बहु मन्यते. **अपरे** इत्यनेन अयमपि एकः पशुः, ''तस्मात् त्रयः पशूनां हस्तादाना'' (तैत्ति.संहि. ६।४।५।७) इति श्रुतेः. परं ग्रामपशुत्वेन निन्द्यत्वम् ॥१८॥

प्रकाशः

तरवः इत्यत्र. **हस्तादाना** इति. एतदग्रे ''पुरुषो हस्ती मर्कटः'' इति वाक्यशेषात् तथा इति अर्थः ॥१८॥

लेखः

तरवः इत्यत्र. **तदुपयोगः** इति, जीवनोपयोगः इति अर्थः. **''तस्मात् त्रयः पशूनां हस्तादाना''** इति. ''यत् त्रिरुपांशु हस्तेन विगृह्णाति तस्मात् त्रयः पशूनां हस्तादानाः पुरुषो हस्ती मर्कटः '' इति षष्ठाष्टक-चतुर्थप्रपाठके अस्ति ॥१८॥

---

१. भस्त्राः इति सर्वत्र. २. सहि स्वात्मानमिति ख.

एवं नीचैः सह तुल्यताम् आपाद्य ततोऽपि नीचताम् आह.

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः　संस्तुतः पुरुषः पशुः ॥
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥१९॥

श्व-विड्वराहोष्ट्र-खरैः इति. एते चत्वारः पशवः सर्वलोकेषु निन्दिताः ; तेषां स्तुतिं कोऽपि न करोति. भगवद्विमुखे पुरुषे च दृष्टे लोकाः तानेव स्तुवन्ति इति तैः **(पुरुषः संस्तुतः!)** अयं स्तुतः[१]. भगवद्विमुखे[२] दृष्टे ''एतस्मात् श्वादयः समीचीनाः'' इति लोकाः स्तुवन्ति इति एते जानन्ति— ''अस्मान् अयं स्तावयति समीचीनः''. इत्येवं तैः अयं स्तुतो भवति इति भावः. यद्यपि **श्वा** पुच्छचालनादिना ग्रासमात्रेऽपि स्वलालसतां ज्ञापयति तथा अयमपि गृहस्थः ; परं सः[३] स्वामिहितो भवति अल्पसन्तोषी च, प्राकृतस्तु तद्विपरीतः. एवं **विड्वराहो**ऽपि कुत्सितविषयासक्तो विण्मूत्रस्थाने रमते तथा अयमपि तथापि (सः!) सर्वानुपयुक्तम् उपजीवति, न तत्र केऽपि भागिनः ; अयन्तु सर्वेषां भागं स्वयम् अश्नाति! यद्यपि **उष्ट्राः** कण्टकाद्यतिपरुष-विषयभोक्तारः तथापि स्वामिभारवाहकाः, अयन्तु तद्विपरीतो न भगवतः कार्यं किञ्चित् करोति. यद्यपि **खरः** खरीपादताडितो अपगच्छति पुरुषतुल्यः तथापि न वक्रो न स्वामिकार्ये हठं करोति, अस्य तु तदीयाः दोषाएव, न[४] गुणाः[५] सन्ति इति ततोऽपि निन्दितः इति अर्थः. न एतत् पुरुषमात्रसाधारणम्.

प्रकाशः

श्वविड् इत्यत्र. **न एतद्** इत्यादि. **एतद्** निन्द्यपशुत्वं **न पुरुषमात्रसाधारणम्** इति ज्ञापयितुं **येषां** तत्र **उपयोगो अस्ति तद्व्यावृत्त्यर्थम्**

लेखः

श्वविड् इत्यत्र. **तैः अयं स्तुतः** इति. स्वस्तुतिप्रयोजकत्वात् श्वादिभिः भगवद्विमुखः स्तूयतएव इति भावः. **तदीयाः** इति, खरसम्बन्धिनः इति

---

१. संस्तुत इति घ.　　२. ''भगवद्विमुखे दृष्टे'' इत्यादि ''स्तुतो भवतीति भावः'' इत्यन्ता पङ्क्तिर्नास्ति क-ख-ङ.　　३. स्वस्वामिहितः इति क-ग-ङ.

४. नतु इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.　　५. गुणगणा इति ख-घ-ङ.

येषां पुनः अन्नभक्षणे उपयोगो अस्ति तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह. "मोघम् अन्नं विन्दते अप्रचेताः" (ऋक्संहि. १०।११७।६, तैत्ति.ब्रा. २।८।८।३), "अन्नेन प्राणाः" (महाना.उप. २३।१), "अन्नात् प्राणाः भवन्ति" (तत्रैव) इति च वैयर्थ्यं ज्ञानभक्त्युपयोगौ च अन्नस्य निरूपितौ. तत्र वैयर्थ्यपक्षे तुल्यता, पक्षद्वये तु पुरुषार्थपर्यवसानाद् न इति तद्वैपरीत्यम् आह **न यत्कर्णपथोपेतः** इति. यस्य कर्णमार्गे कदापि **गदाग्रजः** कृष्णः केवलं भक्तिप्रकाशनार्थं प्रकटो यस्य कर्णमार्गं न गतः, "स्वानाम्"

प्रकाशः

आह श्रुतिविशेषम् आह इति अर्थः. तं बोधयितुं श्रुतित्रयं दर्शयन्ति "**मोघम्**" इत्यादि. आद्या तैत्तिरीयब्राह्मण-द्वितीयाष्टके अस्ति. "मोघम् अन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य, नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" (तैत्ति.ब्रा. २।८।८।३) इति भार्यापुत्रादि-मात्र-पोषकस्य कुक्षिम्भरस्य[१] अत्र निन्दा उक्ता. अग्रिमद्वयन्तु बृहन्नारायणीयोपनिषदि. "अन्नेन प्राणाः, प्राणैः बलं, बलेन तपः, तपसा श्रद्धा, श्रद्धया मेधा, मेधया मनीषा, मनीषया मनो, मनसा शान्तिः, शान्त्या चित्तं, चित्तेन स्मृतिः, स्मृत्या स्मारं, स्मारेण विज्ञानं, विज्ञानेन आत्मानं वेदयति. तस्माद् अन्नं ददन् सर्वाण्येतानि ददाति, अन्नात् प्राणाः भवन्ति भूतानां, प्राणैः मनो, मनसश्च विज्ञानं, विज्ञानाद् आनन्दो ब्रह्मयोनिः" (महाना.उप. २३।१) इति एकस्मिन् प्रकरणे द्विवारम् आम्नानाद् उभयोपयोगौ निरूपितौ इति अर्थः. **तत्र** इत्यादि पक्षद्वयमध्ये आद्ये अप्रचेतस्त्वपक्षे तादृशानां पूर्वोक्त-पशुतुल्यता इति अर्थः. **स्वानाम्** इति वाक्यन्तु "प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्" इति वक्ष्यमाणं ज्ञेयम्. शेषम् अतिरोहितार्थम् ॥१९॥

॥ इति श्रीद्वितीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे तृतीयाध्यायविवरणम् ॥

---

१. कुक्षिम्भरेषु इति मुद्रितपाठः. -भरेश्च इति कि.-मा.पाठयोः. स्वारसिकं तु एवं भाति - सम्पा.

(भाग.पुरा. २।८।५) इति वाक्यात्. अयञ्च तदीयो न भवति इति निश्चितम्. अतो भक्तिमार्ग-ज्ञाने[१] निवारिते. गदस्तु माता-पित्रोः दुःखदूरीकरणानन्तरम् उत्पन्नः इति यत्र भगवत्कृत-दुःखदूरीकरणम् अभिप्रेतं तत्र **गदाग्रजः** इति उच्यते ॥१९॥

एवम् आयुषो देहस्य च भोगायतनस्य वैफल्यम् उक्त्वा इन्द्रियाणां वैफल्यम् आह **बिले** इति.

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ॥
जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥२०॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्टम्   अप्युत्तमाङ्गं न नमेन् मुकुन्दम् ॥
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत् काञ्चनकङ्कणौ वा ॥२१॥
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ॥
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नाऽनुव्रजतो हरेर्यौ ॥२२॥
जीवञ्छवो भागवताऽङ्घ्रिरेणुम् न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ॥
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥२३॥

बत इति खेदे— **उरुक्रमस्य** अतिविचित्रचरित्रस्य **विक्रमान् न शृण्वतः (नरस्य!)** पुरुषस्य **ये कर्णपुटे** ते **बिले** इति अर्थः. तत्र स्वाभिप्रेतेन्द्रियाभावाद् अपकारिसर्परूप-प्राकृतेन्द्रियस्य विद्यमानत्वात् शरीररूप-गृहे अपकारिच्छिद्रे. यथा गृहे तादृशे बिले प्रविष्टः सर्पो गृहपतिं खादति तथा प्राकृत्यः कथा एतत्कर्णं प्रविष्टा एनं सर्वतो नाशयन्ति इति अर्थः, ‘‘तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमस्सु हन्त’’ (भाग.पुरा. ३।१५।२३) इति

लेखः

अर्थः. ‘‘**स्वानाम्**’’ **इति वाक्याद्** इति. ‘‘प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहं, धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरद्’’ इति द्वितीयस्कन्ध-अष्टमाध्यायवाक्यात् ॥१९॥

बिले इत्यत्र. ‘‘**तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु**’’ इति. इदं तृतीये सनकादिप्रसङ्गे ब्रह्मवाक्यम् ॥२०॥

---

१. भक्तिमार्गज्ञानमार्गौ निवारितौ इति ग.

वाक्यात्. **जिह्वा च असती.** भगवता हि सर्वेन्द्रियेभ्यो विरला इयं कृता, रक्षिता च ; सर्वदा च दन्तेभ्यो रक्षां करोति. एवमपि सा न भगवत्परा किन्तु व्यभिचारिणीव अन्यस्तोत्रकरणाद् अन्यगामिनी. तत्राऽपि[१] विशेषम् आह **दार्दुरिका इव** भेकजिह्वा इव[२]. तस्याः[३] जिह्वा न भगवता पृथक् कृता, न रक्षकत्वेन दन्ताः दत्ताः ; सा स्वतएव परुषा कीटादीन् भक्षयति. तथा अस्याऽपि जिह्वा नियामकरहिता स्वतएव क्रूरा परघातार्थं प्रवृत्ता इति अर्थः. एवमपि दुष्टा विषयार्थमपि उरुगायगाथाः चेद् गायति तद(/दा!)पि न काचित् चिन्ता, तदपि नास्ति इति आह **नच उपगायति (उरुगायगाथाः!)** इति. पट्टाभिषिक्तस्य शिरः कुत्राऽपि न नमते. तादृशमपि **पट्टकिरीटजुष्टं** पट्टकिरीटाभ्यां प्रीत्या सेवितं **(मुकुन्दं!)** मोक्षदातारं चेद् **न नमेत्** तदा **उत्तमाङ्गमपि भारएव**, सामान्योपयोगस्याऽपि असिद्धत्वात्. भोग-जीवने तु पूर्वमेव निषिद्धे. अतिभारवाहकोऽपि हि न नमति. [४]**शावौ (करौ!)** शवसम्बन्धिनौ अन्तःप्राणरहितौ ; तथा **(हरेः सपर्यां नो कुरुतः!)** अन्तर्भगवत्सेवारहितौ. उपरिशोभाऽपि तत्रापि शवालङ्करणैः क्रियते, अत्राऽपि **(लसत्!) काञ्चनकङ्कणौ! वा** इति अनादरे. **(नराणां!) नयने** पुनः मुखशोभां कुर्वती प्रयोजनान्तराभावाद् मयूरपिच्छनेत्रवद् भगवतो वैचित्र्यं ज्ञापयतः[५], नतु तत्र चैतन्यम्. भगवतो हि द्विविधा[६] सृष्टिः— चेतना अचेतना च भगवत्कार्यरहिता, चैतन्यस्य भगवद्रूपत्वात्. बर्हवद् आचरति इति **बर्हायितम्. (विष्णोः!) लिङ्गानि** इति भक्ताः अधिष्ठानानि च **ये न निरीक्षतः** न पश्यतः. **पादावपि (नृणां!)** जङ्गमस्थाअपि **(हरेः क्षेत्राणि न अनुव्रजतो!) द्रुमजन्मैव भजतः**[७]. द्रुमे जन्म द्रुमजन्म. यद्यपि पानसाधनं न भवतः तथापि भूमिस्थितिमात्रे तदुपयोगात् तत्तुल्यता (यतः!) स्वावयविनम् उच्चतया

---

१. तथापि इति क-ख. २. भेकजिह्वेवेति नास्ति क-ख-घ.

३. तस्य इति ग. ४. शाबौ शबेत्यादि क-ख-ङ.

५. ज्ञापयति इति क-ख-ग-ङ. ६. द्विधा सृष्टिः इति ख.

७. भजन्ति इति ख-ग.

स्थापयतः[१]. **जीवन् शवः** शवो हि द्विविधः – अर्धजले पतितो द्विविधः तिष्ठति – मुमूर्षुः मृतश्च. तत्र **भागवताङ्घ्रिरेणुं यो न लभेत** आतिथ्येन तत्पूजां न कुर्यात्, यस्य वा गृहे ते कदापि न आयान्ति, सतु केवलं मरणार्थमेव जीवति इति अर्थः. यस्तु भगवत्प्रसादं न प्राप्नोति केनाऽपि प्रकारेण तस्यतु जीवनमपि नास्ति, जीवनरूपस्य भगवदीयरसस्याऽभावात्. परं श्वसिति[२], यथा अर्धजले चेतनारहितः केवलं श्वसिति[२], अन्येषामपि कार्यं रुणद्धि. तथा **श्रीविष्णुपद्या** इति, श्रीविष्णुपदैकनिष्ठत्वेनैव या प्रसिद्धा **तुलसी** तस्याः **गन्धं** कदापि **न (वेद!)** आघ्रातवान् भगवच्चरणारविन्दप्रसादत्वेन न गृहीतवान्. घ्राणस्य गन्धग्राहकत्वात्, तुलस्यां गन्धस्य च विद्यमानत्वात्. सर्पपुच्छच्छेदने चलनवद् इन्द्रिय-तदधिष्ठातृदेवतापगमात् केवलं क्रियामात्रम् अस्ति इति आह **(श्वसञ्छवः मनुजः!)** इति ॥२०-२३॥

अन्तःकरणवैफल्यम् आह.

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।।
न विक्रियेताऽथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ।।२४।।

तदश्मसारम् इति. **बत** इति खेदे. यद्यपि धैर्यं गुणः, भगवच्चरित्रमपि श्रुत्वा धीरएव वर्तते, तथापि ''लोहवत् तस्य धैर्यम् **अश्मनां सार**भूतम् इदम्'' इति भक्त्यावेशात् स्वकीयमेव निन्दति. अनेन तत्र भगवच्चरणारविन्दस्थापनसम्भावना निवारिता, अतः तत्प्रक्षालनं व्यर्थम् इति भावः. **यद् हृदयं गृह्यमाणैः** स्वयम् अन्येन वा दुःखाभिनिवेश-व्यावृत्त्यर्थं **हरेः नामधेयैः** वाचकैः पदैः **यदा (न विक्रियेत!)** विकारं न प्राप्नोति. यस्य हि गृहे भगवदागमनं सम्भावितं तत्र हि मार्जन-निषेचनाद्यलङ्काराः भवन्ति, यत्रतु सम्भावनैव नास्ति [३]चाण्डालगृहवत् तत्र विक्रिया न उत्पद्यते. **अथ** विकाराः निरूप्यन्ते परिज्ञानार्थम्. **यदा विकारो** अन्तःकरणे भवेत् तदा द्वयं ज्ञापकं भवेद्— **नेत्रे जलं (गात्ररुहेषु हर्षः!)** रोमाञ्चश्च. **विकारो** हि भगवदीयत्वेन परिणामः ; तदा तदीयानां वैष्णवत्वम्. तत्र रोम्णां

१. स्थापयति इति क-ङ. स्थापयन्ति इति ख-ग.

२. श्वसति इति मा.१ पाठः - सम्पा. ३. चण्डालगृहवदिति क-ख-ग-घ.

वृक्षत्वाद् उन्नतिः वैष्णवत्वाद् युक्ता, रसस्य अन्तःपूरणाद् वा. नेत्रं च कमलं भवति सजलम्, अन्यथा स्वस्थानच्युतं केवलं शुष्कम् इति भावः ॥२४॥

अथाऽभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं प्रभाषसे भागवतप्रधानः ॥
यदाह वैयासकिरात्मविद्याविशारदो नृपतिं साधु पृष्टः ॥२५॥

॥ इति श्रीभागवत-द्वितीयस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥

तस्मात् सर्वेन्द्रियाणां देहादेश्च साफल्यार्थं भगवत्कथाम् अभिधेहि इति आह **अथ अभिधेहि** इति. **अङ्ग** इति कोमलसम्बोधनम्. (**मनोऽनुकूलं प्रभाषसे!**) अर्थाभिप्रायविचार-व्यतिरेकेणाऽपि श्रवणमात्रेणैव त्वद्वाक्ये मनोहरता अनुभूयते. अतः त्वं **भागवतप्रधानः**, त्वद्वाक्ये भगवत्सम्बन्धात्. परं (**आत्मविद्याविशारदो!**) **वैयासकिः यद् आह**. सहि बहिर्मुखां वार्तां न करिष्यति, आत्मविद्यायां निपुणत्वाद् व्यासपुत्रत्वाच्च, (**नृपतिं साधु पृष्टः!**) राजानं प्रति तेनैव प्रश्ने कृते कथकत्वाच्च. अनेन लोक-वेद-भक्त्यविरुद्धं तद्वचनम् इति उक्तं भवति ॥२५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे तृतीयो अध्यायः

लेखः

अथाभिधेहि इत्यत्र. **तेनैव प्रश्ने कृते** इति. राज्ञा प्रश्ने कृतएव श्रीशुकैः राजानं प्रति कथनात् तच्च अस्माभिरपि प्रश्ने कृते अस्मान् प्रति तदुक्तं भवता वक्तव्यम् इति शौनकाभिप्रायः इति भावः ॥२५॥

॥ इति द्वितीये तृतीयाध्यायः ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

साधनं द्विविधं[१] प्रोक्तं क्रियाकर्तृविभेदतः ॥
पूर्वाध्याये क्रियाङ्गानि वर्णितानि द्विरूपतः ॥(१)॥

प्रकाशः

अथ चतुर्थाध्यायविवरणं चिकीर्षवः सङ्गतिं बोधयितुं द्वाभ्यां पूर्वाध्यायार्थम् अनुवदन्ति **साधनम्** इत्यादि. **क्रिये** श्रवण-कीर्तनरूपे, तयोः **कर्तारौ** एकशेषकृतं द्वित्वं, तयोः **विभेदतः** अतिवैराग्यरूपाद् वैलक्षण्याद् अत्र **द्विविधं** दृष्टादृष्टरूपं **साधनं प्रकर्षेण** अस्मिन् प्रकरणे **उक्तम्**. तत्र **पूर्वाध्याये क्रियाङ्गानि** श्रवणाद्यङ्गानि भगवद्रति-भगवदीयसङ्गौ तदुभयसाधिका कथारतिश्च इत्येतानि साक्षात्परम्पराभेदेन **द्विरूपतो वर्णितानि**. नच तानि शुकोक्तावेव सिद्धानि, न शौनकोक्तौ इति शङ्कनीयं,

लेखः

अथ चतुर्थाध्यायं व्याचिख्यासवः सङ्गत्यर्थं पूर्वाध्यायार्थम् अनुवदन्ति **साधनम्** इत्यादि. पूर्वाध्याये **क्रियाकर्तृविभेदतः द्विविधं साधनं प्रोक्तम्** इति अर्थः. **क्रिया** तत्तत्कामनायां तत्तद्देवादिभजन-क्रिया सामान्यानां, तथा ''अकामः सर्वकामो वा'' (भाग.पुरा. २।३।१०) इत्यादिना उक्ता भगवद्भजनक्रिया भगवदीयानां च इति. **कर्ता**पि तत्तत्कामनाविशिष्टो अधिकारी सामान्यो भगवदीयश्च यथायथं बोध्यते. तदेतत् स्पष्टयन्ति **पूर्वाध्याये** इति. **क्रियायाः** भगवद्भजनक्रियायाः अनेकानि **अङ्गानि** इन्द्रियादि-पाटवरूपाणि **वर्णितानि.** तत्र प्रकारद्वयम् अस्ति इति आहुः **द्विरूपतः** इति. ''ब्रह्मवर्चसकामः'' (भाग.पुरा. २।३।२) इत्यादिना देवतान्तरभजन-साधनसाध्यत्वेन साधारणानां, तथा ''अकामः सर्वकामो वा'' (भाग.पुरा. २।३।१०) इत्यादिना भगवद्भजन-साधनसाध्यत्वेन च मुख्यानां च वर्णितानि इति अर्थः (१).

ननु शौनकप्रश्नस्यापि निरूपणे का सङ्गतिः? अतः आहुः

---

१. विविधमिति क-ङ.

प्रश्नेऽप्युत्तरशेषत्वात् क्रियायाश्च निरूपणात् ॥
स्वरूपतो ज्ञानतश्च कार्यसिद्धिर्यतो द्विधा ॥(२)॥
साधनं श्रोतृवक्त्रोश्च विमर्शाधिक्रिया यतः ॥

प्रकाशः

प्रश्नेऽपि शौनककृते **उत्तरशेषत्वाद्** उत्तरं प्रति कारणतया तदङ्गत्वात्[१] **क्रियायाः** तदङ्गभूतायाः सत्सङ्गम-क्रियायाः **निरूपणाच्च.** तानि वर्णितानि **यतः कार्यसिद्धिः** श्रवणसिद्धिः **यतः स्वरूपतो ज्ञानतश्च** द्विप्रकारिका. तथाच एवं श्रवणस्य शब्दग्रहणे अर्थज्ञाने च एतदुक्तसाधनैः उपकाराद् एतस्य पूर्वप्रकरणाङ्गत्व-हेतुतासङ्गतिः इति अर्थः (१-२).

एवं पूर्वाध्यायार्थम् अनूद्य उत्तरप्रकरणं[२] प्रत्यपि येन रूपेण हेतुता तद् बोधयितुं चतुर्थाध्यायार्थं सार्धैः चतुर्भिः आहुः **साधनम्** इत्यादि. **यतो** येन साधनेन **मुख्ययोः श्रोतृ-वक्त्रोः विमर्शाधिक्रिया** विचाराधिकारः

लेखः

प्रश्नेऽपि इत्यादि. शौनकप्रश्नस्य उत्तरदानशेषत्वाद् = उत्तरदानप्रयोजकत्वात् स्वस्य श्रोतृ**स्वरूप**त्व-सिद्धिरूप-**कार्यसिद्धिः** जाता. तथा प्रश्ने ''आयुः हरति वै पुंसाम्'' (भाग.पुरा. २।३।१७) इत्यादिना भजनक्रियायाएव सर्वसारतया निरूपणात् शौनकादीनां भक्त्यतिरिक्तसाधकेषु वैयर्थ्य**ज्ञान**रूपं च कार्यं सिद्धम् इति अर्थः. तथाच एतावता विमर्शप्रकरणीयकथा-श्रवणाधिकारः शौनकस्य प्रतिपादितो भवति इति प्रसङ्गसङ्गत्या हेतुतया वा प्रश्नो निरूपितः इति सिद्ध्यति. तदेतद् उक्तं **स्वरूपतः** इत्यादिना (२).

एवं पूर्वाध्यायार्थम् अनूद्य प्रकृताध्यायार्थं वदन्तः परीक्षित्प्रश्नादि-निरूपणस्य प्रयोजनम् आहुः **साधनम्** इत्यादि. मुख्याधिकारिणोः परीक्षिच्छुकयोः विमर्शप्रकरणस्य श्रवणे कथने च अधिकारिताज्ञानार्थं साधनम् उच्यते. तदेवं प्रतिज्ञाय प्रपञ्चयन्ति **श्रोतृवक्त्रोश्च** इत्यादि. **मुख्ययोः श्रोतृ-वक्त्रोः यतो विमर्शाधिक्रिया** विमर्शाधिकारः सिद्ध्यति **तत्** तस्माद् हेतोः **आद्ये**

१. तदङ्गाद् इति मा.पाठः - सम्पा.

२. उत्तरकरणम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

तदुच्यते मुख्ययोर्हि प्रश्नस्त्वाद्ये ससाधनः ॥(३)॥
ज्ञात्वाऽथ नमनं देवे गुरावपि विशेषतः ॥
सामान्यमुत्तरं यद्धि तद्वक्तुरधिकारकृत् ॥(४)॥
अतोऽध्याये चतुर्थे तु [1]परीक्षिच्छुकयोः क्रमात् ॥
विमर्षणाधिकारो हि विचाराङ्गं निरूप्यते ॥(५)॥

प्रकाशः

तत् साधनम् उच्यते. तत् किं "क्षौमे[2] वाससि उपनह्य निधाय स्तोत्रामण्याः तन्त्रं प्रक्रमयति" (आप.श्रौतसूत्र १९।१।१) इतिवद् उभयकर्तृकम् एकम् उत तत्तत्कर्तृकं पृथग् इति आकाङ्क्षायाम् **आद्ये** श्रोतरि **ससाधनः** सद्बुद्ध्यादिरूप-साधनसहितः **प्रश्नो अधिकारकृत्. अथ** एतादृशप्रश्नानन्तरं **ज्ञात्वा** देव-गुर्वोः स्वरूपम् अवगत्य **देवे गुरावपि विशेषतः यद् नमनं** तद् **हि** यतो हेतोः प्रश्नस्य **सामान्यम् उत्तरम्** अतो **वक्तुः अधिकारकृत्.** तथाच विशेषप्रश्नरूपत्वेन सङ्क्षिप्तोत्तररूपत्वेन च एतस्मिन् उक्तस्य तत्तत्कृतसाधनस्य उत्तरप्रकरणं प्रति हेतुता इति अर्थः. अत्र **ज्ञात्वा** इति पदम् 'प्रचक्रमे' (श्लो. ११) इत्यस्य अर्थसूचकं, "ज्ञात्वा आरम्भ उपक्रमः" (अमरको. २।७।१३) इति कोशात् (३-४).

फलितम् आहुः **अतः** इत्यादि. सूतोक्तिसङ्गतिम् आहुः **व्यवसाय** इत्यादि. तथाच अङ्गनिरूपकत्वात् सङ्गतिः इति अर्थः (५-६ १/२).

लेखः

विमर्शनिरूपणम् अपेक्ष्य आद्ये अस्मिन् तुरीयाध्याये **ससाधनः प्रश्नः उच्यते** इति अर्थः. साधनं "नमः परस्मै" (श्लो. १२) इत्यादिना देव-गुरुनमस्काररूपम् इति ज्ञेयम्. तदेतद् विशिष्टं प्रदर्शयन्ति **ज्ञात्वा** इत्यादि कारिकायाम्. **विचाराङ्गम्** इति. **विचारे** वक्ष्यमाणविमर्शे **अङ्गं** साधनं यथा स्यात् तथा **विमर्शाधिकारो निरूप्यते** इति अर्थः. शिष्टं सुगमम् (३-५).

---

१. पारीक्षिच्छुकयोरिति ङ.

२. क्षौमे वसानावादधीयाताम् इति मुद्रितपाठः. सूत्रस्तु एवम् - सम्पा.

व्यवसायात्मिका बुद्धिर्ममतात्याग एव च ॥
कथायाः श्रवणे श्रद्धा संन्यासो ज्ञानमेव च ॥(६)॥
प्रश्नाच्चतुष्टयं पूर्वं श्रोतुरङ्गमिहोच्यते ॥

एवं पूर्वाध्यायान्ते राज्ञः शुकस्य च[1] सम्बन्धिनी कथा वक्तव्या इति प्रश्नः उक्तः. तत्र उत्तरम् आह **वैयासकेः** इति चतुर्भिः.

॥ सूतः उवाच ॥

वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः ॥
उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात् ॥१॥

प्रथमतो भगवति सती मतिः उत्पन्ना इति आह. (**औत्तरेयः!**) यद्यपि पूर्वं भगवति मतिः स्थितैव तथापि श्रद्धामात्रेण सा जातेति अज्ञानसहिता सा असतीवदेव भवति. इदानीं सामान्यतो भगवन्तं ज्ञात्वा – अस्ति कश्चिद् भगवान् फलरूपो भक्तिसाध्यः श्रवणादिना सेव्यः इति सर्वरूपो अन्तरश्च – तस्मिन् ध्याते तत्सायुज्यं च फलमिति तद्भजनार्थमेव सर्वा कामना कर्तव्या, साधनानि च तत्रैव योजयितव्यानि[2] —**इति वैयासकेः वचः** श्रुत्वा अनेन आत्मतत्त्वं **आत्मनो** भगवतः स्वस्य च **तत्त्वं** याथात्म्यं (**निश्चयं!**) विनिश्चित्य मनसि पुनः विचार्य (**उपधार्य!**) तद् हृदये स्थापयित्वा (**कृष्णे सतीं मतिं व्यधात्!**) आराध्यो भगवान् सर्वदा इति सद्बुद्धिं कृतवान् इति अर्थः ॥१॥

प्रकाशः

एवं व्यासोक्तिसङ्गतिम् उक्त्वा व्याचिख्यासवः सूतोक्ते अवसररूपां सङ्गतिम् आहुः **एवम्** इत्यादि.

वैयासकेः इत्यत्र. **अनेन** इति शुकवचसा. मूले **तत्त्वनिश्चयम्** इत्यत्र तत्त्वस्य निश्चयः इति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः ॥१॥

लेखः

"वैयासकेः" (श्लो. १-४) इत्यादि श्लोकचतुष्टय-प्रतिपाद्यम् अर्थम् आहुः **व्यवसाये**त्यादि. संन्यास-ज्ञाने एकत्र निरूपिते इति ज्ञेयम् (६ १/२).

---

१. चकारो नास्ति क-ख-ङ. २. योजितव्यानि इति क-ग.

पूर्वं सामान्यतो गृहं त्यक्तमपि ममतायाः विद्यमानत्वाद् अत्यक्तमिव भवति. तद् इदानीं वैयासकेः वाक्यात् त्यक्तवान् इति आह.

आत्म-जाया-सुतागार - पशु-द्रविण-बन्धुषु ।।

राज्ये चाऽविकले नित्यनिरूढां ममतां जहौ ।।२।।

आत्मा इति. ममता हि व्याघुट्य[१] भगवति प्रविष्टा, अतो ममतायाः उत्तमं विषयं प्राप्य पूर्वस्थाम् असमीचीनां त्यजति. **आत्मा** देहः **जायासुतागाराः** भार्या-पुत्र-गृहाः **(पशुः!)** गावो **द्रविणं बन्धवश्च** तेषु **राज्ये च (अविकले!)** ससाधने सिंहासनोपवेशनप्रभृति अद्यावधि **नित्यनिरूढां ममतां जहौ** ।।२।।

पूर्वं यथा ममताविषये देहादौ इतिकृत्यचिन्तां करोति तथा इदानीं ममताविषये भगवति इतिकृत्यचिन्ता-ऽपरपर्यायं सन्देहं तदुन्नतिसिद्ध्यर्थं पृष्टवान् इति आह.

प्रपच्छ चेममेवाऽर्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।।

कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानो महामनाः ।।३।।

प्रपच्छ च इति **च**कारस्तु उक्तसमुच्चयार्थः— जहौ पप्रच्छ च. उक्तार्थस्य च साधनतासिद्ध्यर्थं तेन पूर्वम् उत्तरम् उक्तमिति इदानीमपि

प्रकाशः

पप्रच्छ इत्यत्र. **उन्नतिसिद्ध्यर्थम्** इति उन्नतिज्ञानार्थम्. ननु राजप्रश्नानाम् उत्तरं सर्वं शुकेन उक्तमेवेति तदवगतौ पुनः किमिति पृच्छ्यते इति शङ्कायाम् आहुः **उक्तार्थस्य च साधनतासिद्ध्यर्थम्** इति, पूर्वं शुकेन उक्तस्य अर्थस्यापि प्रश्नसाधनतासिद्ध्यर्थम्. तथाच पूर्वोक्तार्थस्य

लेखः

पप्रच्छ इत्यत्र. **जहौ** इति ममताम् इति शेषः. **तेन पूर्वम्** इति. राज्ञा पृष्टेन **तेन** शुकेन **पूर्वं** ‘‘श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र’’ (भाग.पुरा. २।१।२) इत्यादिना **उत्तरम् उक्तम्** अतः तत्र प्रसन्नतां ज्ञात्वैव राज्ञा पुनः पृष्टम् इति भावः ।।३।।

---

१. व्याप्लुत्य इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु कपाठानुसारेण - सम्पा.

पृच्छ्यते. त्वत्पृष्टे तस्य च पृष्टे सरस्वतीसंवादो जातः इति आह हे **सत्तमाः, यद् मां पृच्छथ इममेव अर्थं** सः **(पप्रच्छ!)** पृष्टवान्. शुकवाक्यस्य साधनत्वात् तस्य च भवतां च श्रोतृत्वेन तुल्यत्वाद् यथा भवतां तथा तस्याऽपि पृष्टे बुद्धिः उत्पन्ना युक्ता इति अर्थः. परम् अवान्तरभेदः कश्चिद् अस्ति— भवतान्तु तद्वाक्यप्रकारेण पदार्थज्ञानेच्छा, तस्यतु भगवन्माहात्म्यज्ञानमेव इष्टम् इति. तद् आह **कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानः** इति. भगवन्माहात्म्यश्रवणे तस्य द्वयं जातं— श्रद्धा, **(महामनाः!)** मनसो विपुलता च. श्रद्धया तद्ग्रहणं, विपुलतया अपूर्तिः ॥३॥

शिष्टम् अत्रत्यं कृत्यं कृतवान् इति आह.

संस्थां विज्ञाय संन्यस्य कर्म त्रैवर्गिकं च यत् ॥
वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः ॥४॥

संस्थां विज्ञाय इति, सप्तमे अहनि मृत्युं विज्ञाय **(त्रैवर्गिकं!)** धर्मार्थकामोपयोगि **कर्म (संन्यस्य!)** त्यक्त्वा **(च!)** तत्साधनान्यपि त्यक्त्वा मोक्षदातरि **भगवति वासुदेवे आत्मनः** अन्तःकरणस्य **भावं** रतिं स्नेहं **दृढं (गतः!)** प्राप्य **पप्रच्छ** इति सम्बन्धः. **आत्मनः** स्वरूपस्य वा **(भावं!)** सत्ताम् अग्रे स्थितिरूपाम्, आत्मत्वं वा ॥४॥

एवं प्रश्नसाधनानि उक्त्वा प्रश्नं वक्तुम् अभिनन्दनम् आह.

प्रकाशः

आपाततो अवगमाद् भवद्वाक्यस्यैव सन्देहजनकता इति शुकबोधनार्थं पुनः पृच्छ्यते इति अर्थः. **साधनत्वाद्** इति दुर्ज्ञेयत्वेन प्रश्नप्रयोजकत्वात् ॥३॥

संस्थाम् इत्यत्र. "पुनश्च भूयाद्" (भाग.पुरा. १।१९।१६) इति प्रार्थनावाक्येनैव रतिदार्ढ्यस्य उक्तत्वेन अत्र पुनः कथनप्रयोजनाभावाद् **आत्म**पदवैयर्थ्याच्च न इदं युक्तम् इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **आत्मनः** इत्यादि. **अग्रे स्थितिरूपाम्** इति भावविकाराद् भिन्नाम्. अस्मिन् पक्षे **गतः** इत्यत्र आदिकर्मणि क्तः. अस्य क्लिष्टत्वात् पक्षान्तरम् आहुः **आत्मत्वं वा** इति. अहंग्रहेण तदभेदम् इति अर्थः ॥४॥

समीचीनम् इत्यत्र. **अभिनन्दनम्** इति, राजकृतं तद्. अर्थाज्ञाने कथं वाक्यसमीचीनत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् उत्तरार्धस्य अर्थम् आहुः

॥ राजा उवाच ॥

समीचीनं वचो ब्रह्मन् सर्वज्ञस्य तवाऽनघ ॥

तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम् ॥५॥

समीचीनम् (तव वचः!) इति. यद्यपि त्वद्वचनस्य अर्थो न ज्ञायते **सर्वज्ञ**त्वात् तथापि त्वद्वचनं **समीचीनम्**. **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनं वक्तुः दोषाभावाय[१]. **अनघ** इति अभिमानाद्यभावाय[२]. तथापि मम स्वरूपाज्ञानरूपं **तमः** त्वद्वाक्याद् **विशीर्यते.** तत्तु **(मह्यं!)** मदर्थमेव उक्तम्. त्रयन्तु मया विनिश्चितं— त्वद्वाक्येन मम अज्ञानं नष्टं, मदर्थमेव च त्वया उक्तं, **(हरेः कथां कथयतः!)** भगवतश्च कथा कथिता इति ॥५॥

अर्थापरिज्ञानात् सन्देहाद् इदानीं विशेषाः पृच्छ्यन्ते इति आह.

भूय एव विवित्सामि भगवान् आत्ममायया ।

यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यमनीश्वरैः ॥

यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः ॥६॥

भूयएव इति, **विवित्सामि** ज्ञातुम् इच्छामि. तत्र सन्देहपञ्चकम्—

उत्पत्ति-स्थिति-लयेषु आधारे साधनेषु च ॥(७)॥

तत्र उत्पत्तौ सन्देहम् आह **यथा इदम्** इति. **इदं (विश्वं!)** जगद् **यथा (भगवान् आत्ममायया!) सृजते** किं कुम्भकारवद्? आहोस्वित् सिद्धवद् वाङ्मात्रेण? आहोस्विद् योगिवद् मनसा? आहोस्वित्[३] कल्पवृक्षवत् प्रसूते[४]? आहोस्विद् अभिव्यनक्ति? इति उत्पत्तौ पञ्च सन्देहाः. एते एव **(यथा गोपायति यथा संयच्छते!)** रक्षा-प्रलययोः अनुवर्तन्ते.

प्रकाशः

तथापि मम इत्यादि. तथाच कार्यबलात् तथा ज्ञायते इति अर्थः ॥५॥

भूयएव इत्यत्र. **अर्थापरिज्ञानाद्** इति, भूतभव्यव्यवहारविषयत्वाऽनन्तत्वबोधकयोः वाक्ययोः परस्परविरोधेन तत्तात्पर्यापरिज्ञानात्. **आधारे**

---

१. वक्तृदोषाभावायेति ख. २. अभिमानाभावायेति क-ख.

३. वा कल्पवृक्षवत्प्रसूते वा अभिव्यनक्तीति क. ४. अत्र यद्वेति घ.

किञ्च **दुर्विभाव्यम् अनीश्वरैः**[१] इति. ये मया पञ्च प्रश्नाः कृताः ते केऽपि भगवति न सम्भवन्ति यतः उत्पाद्यमानस्य मनसाऽपि आकलयितुम् अशक्यत्वात्. एवम् उत्तरत्राऽपि. तर्हि ''न करोत्येव'' इति किमिति न निश्चीयते, ''न पालयति'' च इति? तत्र आह **विभुः** इति. **पुनः**[२] इति, पुनः पुनः नाशितस्य नाशनम् उत्पादितस्य च उत्पादनम् इति ॥६॥

चतुर्थं प्रश्नम् आह.

यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिरयं[३] **पुमान् ॥**
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च ॥७॥

यां यां शक्तिम् इति. अत्र सृज्यः कः पदार्थः – किं केवल आत्मा, शक्तिसहितो वा? साहित्येऽपि किम् आत्मैव उत्पद्यते, शक्तिरेव वा? – इति सन्देहे, तेष्वपि पक्षेषु कालभेदेन कृतिभेदेन वा व्यवस्थितेषु एकस्यां[४] कृतौ **यां शक्तिम् उपाश्रित्य** पुनः द्वितीयकृतौ **यां शक्तिम्** इति, एवं पञ्चस्वपि. तत्राऽपि अवान्तरभेदाः सन्ति यतः **पुरुशक्तिः**. कालभेदाः च बहवः सन्ति यतः कालादिनियन्ता **अयं पुमान्. आत्मानमेव करोति, (विकरोति!)** विरुद्धमपि[५] करोति, न करोति, विविधं वा करोति. अथवा **आत्मानमेव क्रीडयन्** अन्यदेव किञ्चित् **करोति** इत्यादि सम्बन्धः. अथवा **क्रीडन् आत्मानमेव करोति** इति.

प्रकाशः

इति उपादाने. **नाशितस्य नाशनम्** इत्यादि. नष्टः पुनः उत्पन्नः पुनः नष्टः इतिवद् वा, काष्ठादेः वह्नित्वं ततो भस्मत्वं ततो वायु-जलादिना तस्यापि अभावः इतिवद् वा तथा इति अर्थः ॥६॥

यां याम् इत्यत्र. **अत्र** इति सृष्टिप्रक्रियायां विश्वस्मिन् वा. **पञ्चस्वपि** इति सन्देहेषु. **न करोति** इति, **चकारलभ्यो** अयं पक्षः. **अन्यदेव** इति, इन्द्रजालमिव इति अर्थः. **अन्येऽपि पक्षाः** इति. एकां शक्तिं क्रीडयन्

---

१. मुनीश्वरैरिति ख. मूलव्याख्ययोः. २. पुनरिति नास्ति घ-ङ.

३. परः पुमानिति ख.पाठः. ४. कस्यामिति क-घ-ङ. ५. गपुस्तके नास्ति.

चकारा‌द् अन्येऽपि पक्षाः स्वयम् ऊह्याः ॥७॥

तर्हि एवम् अनेकधा सन्देहे गुरुः प्रश्नं न अर्हति अतिवादाद्, अतो अन्यएव प्रष्टव्यः इति आशङ्क्य आह **नूनम्** इति.

नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुतकर्मणः ॥
दुर्विभाव्यमिवाऽऽभाति कविभिश्चाऽपि चेष्टितम् ॥८॥
तथा[1] गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत् क्रमशोऽपि वा ॥
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः ॥९॥

ब्रह्मन् इति अतिप्रश्नेऽपि अक्षोभाय. **भगवतो हरेः** इति दुःखाभाव-सुखयोः सिद्ध्यर्थम् उक्तम्. किञ्च सामान्यतएव **भगवतः** चरित्रं दुर्बोधं, केन गुणेन करोति इति! तत्रापि **हरेः** अन्यदुःखनिवारणार्थं करोति. तत्रापि (**ब्रह्मन्!**) अन्येषाम् आनन्त्याद् दुःखानां च आनन्त्यात् केन प्रकारेण कृते सर्वेषां दुःखं गच्छति इति न ज्ञायते. तत्राऽपि **अद्भुतकर्मणः**, अन्यत् करोति अन्यत् सम्पद्यते इति! अतएव **कविभिरपि** निपुणैरपि अनेकधा कल्पकैरपि (**चेष्टितं!**) **दुर्विभाव्यम्** (**इव आभाति नूनं!**) अतो न अन्यः प्रश्नम् अर्हति इति अर्थः. किञ्च केन साधनेन भगवान् करोति? गुणैः इति चेत्, तान् **गुणान्** किं **क्रमशो** (**बिभर्ति!**) गृह्णाति **युगपद्** वा? नहि सर्वे युगपद् उत्पद्यन्ते लीयन्ते वा! किञ्च **भूरिशो** वा गृह्णाति ; **प्रकृतेः गुणान्** बहुविधान् कृत्वा **भूरिशो** राशिप्रकारेण

प्रकाशः

आत्मानं विकरोति, शक्त्यन्तरं वा विकरोति, कालादीन् वा आत्मरूपान् करोति इत्येवमादयः ॥७॥

नूनम् इत्यस्य आभासे. **अतः** इति, "अतिवादांस्तितिक्षेत" (भाग.पुरा. १२।६।३४) इति वाक्येन मम अतिवादोपेक्षकत्वात्. विवृतौ **केन गुणेन** इति, ऐश्वर्यादिषट्कमध्ये केन. **अतएव** इति, अद्भुतकर्मत्वादेव. **अतः** इति अब्रह्मरूपत्वात्. **यथा गुणान्** इति श्लोकं व्याकुर्वन्ति **किञ्च केन** इत्यादि ॥८-९॥

---

१. यथेत्यपि पाठः.

गृह्णाति. अथवा **तु** पुनः स्वयम्[१] **एको**ऽपि अनेको भूत्वा **युगपदा**दिभेदेन गृह्णाति इति. किञ्च **कर्माणि जन्मभिः कुर्वन्** नानाजन्मानि कृत्वा कर्माणि कुर्वन् करोति, कर्माधीनतया करोति इति अर्थः ॥८-९॥

एवं पञ्चप्रश्नान् निरूप्य साभिलाषतया प्रश्नान्[२] उपसंहरति.

विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा ॥
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान् खलु ॥१०॥

विचिकित्सितम् एतन्मे इति, मह्यम् एतद् ज्ञातुम्[३] इष्टं **यथा** यथावद् **भगवान् ब्रवीतु** कथयतु. कथने सामर्थ्यम् आह— **शाब्दे परस्मिन् (च!)** अपि **ब्रह्मणि** तत्तत्साधनैः **भवान् निष्णातः. खलु** इति प्रसिद्धे ॥१०॥

शुकोऽपि ससाधनः[४] उत्तरम् आह इति आह.

॥ सूतः उवाच ॥

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः ॥
हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥११॥

इति उपामन्त्रितः इति. उपामन्त्रणं=प्रार्थना. तदा अस्मिन् अर्थे सर्वसन्देहवारको भगवानेव इति **हृषीकेशं** बुद्धिप्रेरकम् **अनुस्मृत्य प्रत्युत्तरं** दातुं **प्रचक्रमे** उपक्रमं कृतवान् इति अर्थः. उपक्रमो नाम देवता-गुरुनमस्कारः. **हरेः गुणानुकथने उपामन्त्रितः** इति स्कन्धादौ अनुपक्रमे हेतुः ॥११॥

सर्वशास्त्रार्थनिर्धारः सप्तभिर्नमनोक्तिभिः ॥
पञ्चभिः प्रार्थनावाक्यैर्माहात्म्यं तस्य वर्ण्यते ॥(८)॥

प्रकाशः

इत्युपामन्त्रितः इत्यत्र. **स्कन्धादौ** इत्यादि. एतेन ''प्रार्थनां विना भगवद्गुणाः न वक्तव्याः'' इति भक्तिमार्गीयः सिद्धान्तः सूच्यते इति अर्थः ॥१०॥

---

१. स्वयमेको भूत्वेति क.पाठः. २. पञ्च प्रश्नानिति ख-ग-घ-ङ.

३. एतत्सन्दिग्धं ज्ञातुमिति ख.

४. ससाधनमिति घ, ससाधने इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

एकेन व्यासनमनम् एतावच्छुकभाषितम् ॥
अन्यत् कथाप्रसङ्गेन परोक्त्या वा निरूपितम् ॥(९)॥
नमनादेव भगवान् सर्वसंशयवारकः ॥
प्रार्थितः कामनां दद्यान्नाऽन्यथेति द्वयेरणम् ॥(१०)॥

यद्यपि तेन पञ्च प्रश्नाः कृताः तथापि सर्वसन्देहनिवारणार्थं भगवान् स्मृतइति तत्तत्सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्तम् अनूद्य नमस्करोति. तत्र आदौ सृष्टिप्रकारे सन्दिहानं प्रति प्रकारं वदन् नमस्यति **नमः** इति.

॥ श्रीशुकः उवाच ॥

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया ॥
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायाऽनुपलभ्यवर्त्मने ॥१२॥

आदौ **परः** असङ्गोदासीनः एकएव इति अर्थः. तदनु सएव **पुरुषः**. अनेन अशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः च[१] आदौ कथितः. तदनु "बहु स्याम्" (छान्दो.उप. ६।२।३) इति वाञ्छया एकएव **भूयान्** (जातः!). तदनु क्रीडार्थं जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहारैः [२]स्वमायागुणभूत-शक्तित्रयस्वीकारम् आह **गृहीतशक्तित्रितयाय** इति. **सद्** इति वचनाद् असतः सत्ता निवारिता. किञ्च तस्य **उद्भवः स्थानं निरोधश्च लीलार्थं,** सद्रूपेण भगवान् उत्पद्यते तिष्ठति लीयते च इत्यनेन क्रमोऽपि दर्शितः—

प्रकाशः

नमः परस्मै इत्यत्र. कारिकासु **एतावद्** इति, **उपक्रम**शब्दवाच्यम् एतावद् इति अर्थः. **अन्यद्** इति, "एतदेव" (श्लो. २५) इति श्लोको अग्रिमञ्च (८-१०). **क्रीडार्थम्** इति क्रीडेच्छया. एतेन **सदुद्भव-स्थान-निरोधलीला**पदे मयूरव्यंसकादि-समासो बोधितः, "सदुद्भव-स्थान-निरोधार्था लीला" इति समासादरणे "स वै नैव रेमे" (बृहदा.उप. १।४।३) इत्यादि पुरुषविध-ब्राह्मणविरोधाद् इति. अत्र श्लोके **भूयसे** इत्यादि विशेषणद्वयेन व्यष्टिरूपनिरूपणं बोध्यम्. इदञ्च पद्यं "कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः" (श्लो. ९) इत्येतद्व्यतिरिक्त-सर्वप्रश्नोत्तररूपं ज्ञेयम् ॥१२॥

---

१. स्वीकार आदौ इति घ-ङ.   २. स्वमायया गुणभूतेति क-घ-ङ.

सदंशस्य व्यापकत्वात् सृज्यमानस्य परिच्छेदाभावाद् युगपदेव देशभेदेन एकत्र क्रमेणैव यथा लीला सम्पद्यते तथा करोति इति अर्थः. तदनु तत्र अन्तर्यामितया प्रविशति इति आह **देहिनाम् अन्तर्भवाय** इति. नहि बहिःस्थितो अन्तःप्रविशति किन्तु अन्तरेव आविर्भवति इति अर्थः. सृष्टेः नाम-रूपभेदेन द्वैरूप्याद् नामसृष्ट्यर्थं – सर्वं सृष्ट्वा सर्वम् अनुप्रविश्य – सर्वैरपि **अनुपलभ्यं वर्त्म यस्य** तादृशो जातः इति अर्थः. तेन गुरु-वेदादिभिरेव तज्ज्ञानम् इति अर्थः. एवं भगवतो मूलरूप-समष्टि-व्यष्ट्यन्तर्यामि-फलरूपाणि[१] पञ्च निरूपितानि सृष्टि-स्थिति-प्रलय-भोग-मोक्षार्थम् ॥१२॥

इदानीम् अवतारप्रयोजनसन्देहं वारयन् नमस्यति.

भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदे सताम् असम्भवायाऽखिलसत्त्वमूर्तये ।।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ।।१३।।

भूयः इति. अन्तर्यामितया करोत्येव पापादिनाशं, बहिरपि करोति इति **भूयः**पदम्. अत्युपकारित्वाद् वा **नम**स्कारविशेषणम्. भगवतो अवतारस्य **सतां (वृजिनच्छिदे!)** दुःखदूरीकरणमेव प्रयोजनम्. यद्यपि प्रकारान्तरेणाऽपि दुःखदूरीकरणं भवति तथापि न सर्वात्मना तन्निवृत्तं भवति ; सा दुःखसन्ततिः भगवद्विनिर्गमनम् आरभ्य पुनः प्रवेशपर्यन्तम् उद्भूतानुद्भूतरूपेण तिष्ठति. तां दूरीकर्तुं भगवत्सम्बन्धएव शक्तः इति मध्ये प्रादुर्भूतः तां[२] छिनत्ति.

प्रकाशः

भूयः इत्यत्र. **इदानीम् अवतारे**त्यादि. एतेन ''कुर्वन् कर्माणि'' (श्लो. ९) इत्यस्य उत्तरम् इदम् इति ज्ञाप्यते. **इति 'भूयः'पदम्** इति. अस्मिन् पक्षे **भूयः सद्वृजिनच्छिदे** इति मूलान्वयः. **दुःखदूरीकरणम्** इति. **वृजिन**पदस्य पापवाचित्वेऽपि दुःखस्य पापजन्यत्वाद् दुःखमूलस्य पापस्य छेदेऽपि दुःखच्छेदनमेव प्रयोजनत्वेन आयातीति तथा उक्तं, दुःखोच्छित्तेरेव पुरुषार्थत्वाद् इति. तदेतत् स्फुटीकुर्वन्ति **यद्यपि** इत्यादि. **भगवद्विनिर्गमनम् आरभ्य** इति, भगवतः सकाशाद् विभागम् आरभ्य इति अर्थः. ननु **भूयः**पदस्य नमस्कार-विशेषणत्व-पक्षे अवतारस्य किं गमकम् इति आकाङ्क्षायां

---

१. अन्तर्यामितया इति क. २. सन् इति मा.१ पाठः -सम्पा.

किञ्च **सताम् असम्भवाय** पुनः उत्पत्त्यभावाय. परब्रह्मणो देहग्रहणे आविर्भावे वा न अन्यद् निमित्तम् अस्ति. सन्तो हि भगवद्धर्मसम्बन्धात् सत्त्वं प्राप्ताः, नतु[१] चिदानन्दत्वम्. पुनः सम्भवे सत्त्वसन्देहोऽपि. साधनानि तु सत्त्वएव उपक्षीणानि. अतो भगवान् स्वयम् आविर्भूतः तेषाम् आविर्भावाभावाय. अतो दुःखच्छेदनम् अल्पं, तदीयो भावोऽपि स्वयम् अङ्गीक्रियते इति. किञ्च **अखिलानि सत्त्वानि** सत्त्वगुणभेदाः **मूर्तौ यस्य** सत्त्वगुणः सर्वांशेन. तेन[२] साधनापेक्षायामपि स्वयमेव सर्वसाधनानि करोति, देवान् वा आविर्भावयति. एतदर्थमेव सत्त्वगुणाविर्भावः इति लोकप्रसिद्धिः. **अखिलानि**[३] **सत्त्वानि** जीवगणाः **मूर्तौ यस्य** इति वा.

प्रकाशः

तत्र कार्यस्यैव गमकत्वम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. **पुनः उत्पत्त्यभावाय** इति. सम्भवः = पुनः उत्पत्तिः, तस्य अभावो यस्माद् इति अर्थः. **देहग्रहणे** इति. इदम् आवेशस्थलम् आदाय उक्तम्. **सत्त्वसन्देहः** इति. उत्पत्त्युत्तरकालीनस्य तस्य भावविकारत्वेन आगन्तुकत्वात् तथा इति अर्थः. **अतः** इति साधनाभावम् आकलय्य. **अतः** इति, **तदीयः** इत्यादिना वक्ष्यमाणाद् हेतोः. ननु साधनानां सत्त्वएव उपक्षये अवतारस्यापि तादर्थ्ये कथं चिदानन्दयोः प्राप्तिः इत्यतः आहुः **किञ्च अखिले**त्यादि. तथाच सत्त्वगुणादेव प्राप्तिः इति अर्थः. **भूयः**पदस्य अवतार-विशेषणत्व-पक्षे कथं दुःखं दूरीकरोति इति प्रकाराकाङ्क्षायां **सताम् असम्भवाय** इति तादर्थ्य-चतुर्थ्यन्तम् **अखिले**त्यादिना अन्वेति इति आशयेन पक्षान्तरम् आहुः

लेखः

भूयो नमः इत्यत्र. **पुनः सम्भवे** इति, पुनरुत्पत्तौ इति अर्थः. **तेषाम्** इति, सतां पुनः संसारे उत्पत्त्यभावाय आविर्भूतः इति अर्थः. एवञ्च **असम्भवाय** इत्यस्य न विद्यते सम्भवो यस्माद् इति अर्थः. **अल्पम्** इति, न बहुकार्यम् इति अर्थः. **तदीयः** इति. सतां **भावः** सत्त्वरूपो यः सोऽपि रक्षकत्वेन अङ्गीकर्तव्यः इति अर्थः.

---

१. ननु इति घ-ङ. २. तेनेति नास्ति ख-घ-ङ. ३. अखिलात्मनि इति घ-ङ.

अनेन अनन्तजन्मसम्भवेऽपि तत्प्रतिनिधितया सर्वविध-सर्वजीवान् उत्पादितवान्. अतः तेषां भगवदवतारेणैव स्वप्रतिनिधितया सर्वावताराद् न एवंविधो [१]अन्यो भक्तवत्सलः इति भजनीयं रूपम् उक्तम्. किञ्च न केवलं भक्तानामेव उद्धारार्थे भगवान् अवतीर्णः किन्तु ज्ञानिनामपि इति आह **पुंसाम्** इति. **पारमहंस्ये आश्रमे व्यवस्थितानां** प्रतिकल्पे संन्यासिरूपेणैव जातानां सनकादीनां ज्ञानेन पदार्थनैकट्यं भासमानानां दूरस्थितत्वेऽपि तथाभानरहितानां तदर्थम्

प्रकाशः

अखिलानि इत्यादि. तद् व्युत्पादयन्ति **अनेन** इत्यादि. **अनेन** इत्यस्य **न एवंविधः** इत्यादिना अन्वयः. उद्धार्याणां सतां प्रारब्धवशेन अनन्तजन्मसम्भवेऽपि मुक्त्यविलम्बार्थं "तस्य पुत्राः दायम् उपयन्ति सुहृदः पुण्यकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" (जैमि.ब्रा. १।५०) इति श्रुत्युक्तन्यायेन उद्धार्यप्रतिनिधितया सर्वविधोत्पादनाद् उत्पादितानां भगवदवतारेणैव सम्मानन-हननाभ्यां स्वप्रतिनिधितया जाते भोगे उद्धार्याणां सर्वप्रारब्धादि-भारावतारात् तेषां पुनः अनुत्पत्तिप्रकारबोधनाद् एवं प्रकारेण तादृशं रूपम् उक्तम् इति अर्थः. ननु तादृशां सनकादितुल्यत्वात् किं मृग्यम् इति आकाङ्क्षायाम् अत्र **पुंसाम्** इति साधारणपदात् तेषां स्वरूपं तन्मृग्यञ्च स्फुटीकुर्वन्ति **सनकादी**त्यादि. ते हि द्विविधाः — पूर्णज्ञानाः अतादृशाश्च. तत्र द्वितीयानां

लेखः

अनेन इति, सकलजीवानां स्वमूर्तित्वोक्त्या स्वांशत्वबोधनेन इति अर्थः. **अनन्ते**ति. अनन्तजन्मन्यपि स्वप्रतिनिधित्वं न अपगमयति किन्तु स्वप्रतिनिधितयैव सर्वविधजीवान् उत्पादितवान् इति भक्तवत्सलत्वम् उक्तम्. तदेव प्रपञ्चयन्ति **अतः तेषाम्** इत्यादि. जीवानां भगवन्मूर्तित्वेन अंशत्वाद् **भगवदवतारेणैव** प्रयोजकेन भगवत्प्रतिनिधितया सर्वजीवानाम् अवतारणाद् **एवंविधो भक्तवत्सलो न अन्यः इति** हेतोः **तेषां** जीवानां **भजनीयरूपम् उक्तम्** इति अर्थः. **व्यवस्थित**पदेन पारमहंस्याश्रमस्य परमावस्था ज्ञापिता तत्सूचितम् अर्थम् आहुः **ज्ञानेन पदार्थनैकट्यम्** इत्यादि.

---

१. नैवंविधो भक्तवत्सल इति क-ग-घ-ङ.

अतिक्लेशं प्राप्नुवतां **मृग्यं, मृग्यम् अनु** क्रममुक्ति-साक्षान्मुक्त्यवान्तरभेदानपि सामीप्यादीनपि **दाशुषे** दात्रे. अनुमृग्यानां दात्रे. **(दाशुषे!)** वैदिकपदप्रयोगात् फलानां केवलवैदिकत्वम्. **अनुमृग्यं** विचार्यं वा. इदानीमपि जन्मकोटिभिः विचारमेव अर्हति. अतः तेषां क्लेशनिराकरणाय स्वात्मदः इति अर्थः. नहि प्रकारान्तरेण भगवान् आत्मा लभ्यते. ज्ञानेनापि आत्मत्वेन भासतएव, बालानां हस्ताग्रस्थ-चन्द्रवत्. **पुनः** इति पुनः पुनः. **पारमहंस्याश्रमे** इति प्रत्यङ्गनिष्ठारूपे आश्रमे, तत्र प्रविष्टाः अबहिर्मुखाएव भवन्ति इति. हंसास्तु मानसेऽपि रमन्ते, परमहंसास्तु ततोऽपि अन्तरतमे आत्मन्येव.

प्रकाशः

दयापात्रत्वात् तेषां क्रममुक्त्यादि-दात्रे इति अर्थः. **अनुमृग्यम्** इत्यत्र ''अनुर्लक्षणे कर्मप्रवचनीयः'' (पाणि.सूत्र १।४।८३-८४), तेन द्वितीया ; **अनुमृग्यानां दात्रे** इति तु अर्थकथनम्. **दाशुषे** इति पदेन सूचितम् अर्थम् आहुः **वैदिके**त्यादि. ननु एवं सति साधारणानामेव अर्थे भगवदवतारो, नतु ज्ञानिनां तस्य उपयोगः इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **विचार्यं वा** इति. **इदानीम्** इति पूर्णज्ञानोत्तरम्. **स्वात्मदः** इति, हंसरूपेण स्वात्मप्रकाशकः इति अर्थः. तदुपपाद्य आहुः **न हि** इत्यादि. **प्रकारान्तरेण** इति अवतीर्य दानव्यतिरिक्तेन. ननु एवं सति ज्ञानस्य वैयर्थ्यमेव स्याद् इत्यतः आहुः **ज्ञानेनापि** इत्यादि. तथाच भानाद् न वैयर्थ्यम् इति अर्थः. **व्यवस्थित**पदसूचितम् अर्थम् आहुः **पुनः पुनः** इति. अन्यथा व्याख्याने **व्यव** इति व्यर्थं स्याद् इति अर्थः. **मानसे** इति. ''मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रम्''

लेखः

शौनकादीनां हि ज्ञानशक्तिप्राबल्याद् अनुमृग्याणां सामीप्यादिमुक्ति-पदार्थानां नैकट्यं भासते इति शेषः. ननु पदार्थानां नैकट्ये सति तान् स्वतः कुतो न प्राप्नुवन्ति इत्यतः आहुः **भासमानानाम्** इति. तथाच ज्ञानेन सहकारियोग्यतासिद्ध्या मुक्त्यादिषु अतिसाभिलाषतया नैकट्यभानेऽपि भक्तिरूप-चरमकारणस्य असिद्धत्वाद् दूरस्थत्वमेव इति भावः. अतएव तदर्थं क्लेशं प्राप्नुवन्ति इति आहुः **तदर्थम्** इति. **मृग्यं मृग्यम् अनु** इति. ... . **वैदिकपदप्रयोगाद्** इति. ''कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रं सश्चसि

आत्माऽनात्मसङ्घाते वा आत्मविमर्शनाद् अनुमृग्यत्वम्. एवम् अवतारसन्देहं वारयन् सर्ववर्णानाम् आवश्यक-भजनीयत्वं निरूपितवान्[१] ॥१३॥

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ॥
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥१४॥

इदानीं प्रयोजनसन्देहं वारयन् भक्त्यैकलभ्यत्वं सोपपत्तिकम् उपपादयन् नमस्यति **नमो नमस्ते अस्तु** इति. अतएव भक्त्युद्रेकेण बहुवारं नमस्यन् तदेव प्रार्थयते. शास्त्रे पूर्णानां भगवद्दर्शने जाते नमस्कारएव कर्तव्यः इति, सदुपशिक्षाविचारेण अन्यस्य स्वतो अकर्तव्यत्वात्, ''किमासनं ते गरुडासनाय'' (गरुडपुरा. ३।७।३६) इत्यादिवाक्यात्. अतः तथाभूतानाम् अस्माकं

प्रकाशः

(महाना.उप. २३।१) इति श्रुत्युक्तेः[२]. ... . एवञ्च मूले **अनुमृग्यपदे** एकशेषमहिम्ना अर्थान्तरलाभाद् न वृत्तिद्वयविरोधः इति बोधितम्. ननु ज्ञाने जाते विचार्यत्वं न युज्यते इति आकाङ्क्षायां प्रकारान्तरेण तद्[३] आहुः **आत्मा** इत्यादि ॥१३॥

नमो नमः इत्यत्र. **इदानीम्** इत्यादि. सन्देहपञ्चक-निवारणोत्तरं नमन-पौनःपुन्यफलस्य वास्तविकफलस्य च सन्देहं निवारयन् इति अर्थः. **अतएव** इति. ''पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यः तु अनन्यया'' (भग.गीता ८।२२) इति वाक्ये अनन्यभक्तिलभ्यत्व-कथनादेव. **तदेव** इति भक्तिमेव ; सामान्ये नपुंसकम्. **सर्वैरेव साधनैः** इति. सर्वसाधनप्रयोजनं

लेखः

दाशुषे'' (वाजस.संहि. ८।२) इत्यादिषु तत्प्रयोगो द्रष्टव्यः. **आत्मानात्मसङ्घाते वा** इति. अनुमृग्यपदार्थस्य अयं विकल्पो, नतु अव्यवहितस्य. तथाच **आत्माऽनात्मसङ्घाते** शरीरे **आत्मनएव** निरन्तरं **विमर्शनाद् अनुमृग्यत्वम्** इति अर्थः ॥१३॥

नमो नमस्ते इत्यत्र. आभासे **प्रयोजनसन्देहं वारयन्** इति,

---

१. निरूपितमिति क-ग-घ-ङ. २. अन्यसंवादप्रतिफलकेऽपि नास्ति इयं पङ्क्तिः. ३. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

भगवत्साक्षात्कारे तथा नमनमेव अस्तु इति प्रार्थनया एतावदेव[१] प्रयोजनम् इति उक्तं सर्वैरेव साधनैः. किञ्च **ते** तुभ्यम् इति प्रत्यक्षतया, नतु 'मह्यम्' इति 'तस्मै' इति वा. इतः परम् अधिकं प्रयोजनम् उद्देश्यं नास्ति इति शास्त्रसङ्ग्रहः. किञ्च **सात्वताम् ऋषभाय** इति सात्प्रत्यययुक्तानाम्. ''तदधीनवचने सातिः'' (पाणि.सूत्र ५।४।५४) इति 'साति'प्रत्ययो व्याकरणे विहितः, ''आत्मसाद्'' इति. तत्र साद्युक्ताः सात्वन्तः = कदाचिदपि न स्वतन्त्राः किन्तु भगवदधीनाएव इति तेषाम् ऋषभः. एवम्भावेन भगवत्स्वामित्वमपि प्रयोजनम्. नमनमात्रेणैव स्वतः पर्यवसाने तदधीनत्वलक्षणे अधिके धर्मे सम्पन्ने स्वसेवामपि कारयति इति वन्दनानन्तरं दास्यं प्रयोजनम् इति निरूपितम्. ये पुनः ''योगादिना तं प्राप्स्यामः'' इति विचारयन्ति ते **कुयोगिनः**, पृथिव्यामेव योगिनः इति. नहि भूमावेव स्थिताः ब्रह्माण्डात् परतः स्थितं वस्तु प्राप्नुवन्ति. अयञ्च कुत्सितो योगः कुत्सितं फलं भूमिष्ठं वा प्रयच्छेद्, अतएव अणिमादयएव तत्फलत्वेन निरूपिताः. योगस्तु स्वाधीनः, भगवांश्च[२] न स्वाधीनो योगेश्वरश्च. अतो योगे व्यवसितमतीनां यस्यां दिशि भगवान् अस्ति सा दिगपि दूरे, साधनान्यपि ततोऽपि दूरे नयन्ति इति **विशेषेण दूरे काष्ठा यस्य**

प्रकाशः

भगवत्साक्षात्कारः ; तस्मिंश्च जाते इदमेव कर्तव्यम् इति सर्वेषां तेषाम् **एतावदेव प्रयोजनम्** इति अर्थः. ननु सामान्यतो नमनापेक्षया अत्र[३] नमने को विशेषः इति अपेक्षायाम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. इदं नमनं न वन्दनमात्रम् इति ज्ञापनाय आहुः **किञ्च सात्त्वतेत्यादि**. **अस्वाधीनः** इति जीवानधीनः. ननु भगवतो व्यापकत्वात् कथं दूरकाष्ठात्वम् इति

लेखः

अवतारप्रयोजनसन्देहं वारयन् इति अर्थः. व्याख्याने **नतु मह्यम्** इति. ''तत् त्वम् असि'' (छान्दो.उप. ६।८।७) इति वाक्यानुसन्धानमात्रेण

---

१. एतदेव इति सं-मा.१ पाठयोः - सम्पा. २. भगवांश्चाऽस्वाधीन इति क-ख-प्रकाशे. भगवांश्च स्वाधीन इति घ-ङ - सम्पा. ३. एतन्नमने इति मा.पाठे - सम्पा.

इति. अनेन न अन्यसाधनसाध्यं प्रयोजनम् इति उक्तम्. सकृत् कुयोगित्वेऽपि उत्तरत्र दिव्यादियोगः चेत्, तदा प्राप्नुयादपि ; **मुहुः** कुयोगित्वे आशाऽपि नास्ति इति अर्थः. प्राप्त्याशाभावएव दूरकाष्ठात्वम्. **मुहुः**पदेन तेषां साधनाभावः सूचितः. अतो भक्त्येकलभ्यत्वं साधितम् अन्वय-व्यतिरेकोक्त्या. किञ्च **निरस्तसाम्येति.** काचिद् भगवतः सिद्धिः अस्ति **राधस्**शब्दवाच्या[1] ; न तादृशी सिद्धिः क्वचिद् अन्यत्र ; न वा ततोऽपि अधिका. तया सिद्ध्या भगवान् **(स्वधामनि!)** स्वगृहएव रमते, तच्च अक्षरात्मकं **ब्रह्म. रंस्यन्** इति, स्वनिष्ठमेव रसं तत्सम्बन्धाद् अभिव्यक्तं करोति इति. एतावता स्वरूपस्थिति-व्यतिरेकेण न अन्यत्र रंस्यति इति भगवदीयो रसः तत्रैव प्राप्तव्यः. गृहं च तस्यैव, तत्साधनं च निरस्तसाम्यातिशया सिद्धिः, अतो अन्येषां सर्वथा तद्रसप्राप्तिः दुर्लभा, गृहसेवकस्यतु सुलभा इति. सहि स्वगृहे तां नीत्वा रंस्यति इत्यनया उपपत्त्या भक्त्येकलभ्यत्वम्. **स्वधामनि** इत्यनेन नहि अन्यः तत्र गन्तुं स्थातुं वा शक्नोति इति सूचितम्. **ब्रह्म**त्वाद् अहेयत्वम्. निरन्तर-रसप्रवाहाद् न सायुज्यापेक्षा. अतः तादृशभक्त्यभावे केवलं नमनं कर्तव्यम् इति तादृशाय नमः इति आह **रंस्यते नमः** इति. एवं ज्ञात्वा नमनमपि प्रयोजनम् इति शुकादीनां तावन्मात्रपर्यवसानं सूचितम् ॥१४॥

प्रकाशः

आशङ्कायां तत्स्वरूपम् आहुः **प्राप्तीत्यादि. अतः** इति विशेषणद्वयोक्त्या. **एतावता** इति पदम् **इति सूचितम्** इत्यनेन अन्वेति. **एतावता** इति उत्तरार्धेन. **अतः** इति गृहसेवकत्वाभावात्. **अनया** इति. नहि कश्चित् कञ्चित् स्नेहव्यतिरेकेण गृहे आनयति इति गृहानयनरूपया इति अर्थः. **अतः** इति, तादृशप्रेम्णः[2] केवलं भगवदेकतन्त्रत्वात् ॥१४॥

लेखः

मानसाभेदस्फूर्त्या मानसानुभवे इति अर्थः. **रंस्यन् इति** इति ... ॥१४॥

---

१. अत्र श्रीहरिरायाणां स्वतन्त्रलेखः प्रथमपरिशिष्टे द्रष्टव्यः (पृ. ६६६) - सम्पा.

२. -प्रेम्णा इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ॥
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः ॥१५॥

एवं प्रेमभक्तिमतो न[१] किञ्चित् कर्तव्यम् इति उक्त्वा बाह्यभक्तेः फलं नियमयन् नमस्यति **यत्कीर्तनम्** इति. **(लोकस्य!)** संसारिणां बाह्य-षड्विधभक्त्या **(सद्यो कल्मषं विधुनोति!)** तत्क्षणं पापक्षयः इति अर्थः. **ईक्षणं** पादसेवनसाध्यम्. अत्र पापक्षयस्य तारतम्यं निरूपयितुं भिन्नः क्रमो निरूपितः. तत्र[२] **कीर्तनस्य** स्वस्य अन्येषाञ्च सर्वपापनिवारकत्वात् श्रवणापेक्षयाऽपि महत्त्वं निरूपयितुं प्रथमं निरूपणम्. तदनु तस्याऽपि मूलभूतस्य तन्निर्वाहकस्य स्वात्ममात्र-निष्ठत्वेऽपि आध्यात्मिकपाप-निराकरणाद् अन्तः-

प्रकाशः

यत्कीर्तनम् इत्यत्र. ननु ईक्षणस्य भक्तिमध्ये गणनाभावेन तत्र अप्रवेशात् कथं तस्याः षड्विधत्वम् इत्यतः आहुः **ईक्षणम्** इत्यादि. तथाच पादसेवनसाध्यता-घटितस्यैव तस्य अत्र विवक्षितत्वात् तेन धर्मेण षड्विधत्वोपपत्तिः[३] इति अर्थः. ननु अत्र बाह्यभक्तिरेव चेद् विवक्षिता स्यात् तदा श्रवणादिक्रमं न जह्याद्, अतो न अयम् आशयः इत्यतः आहुः[४] **अत्र** इत्यादि. **अत्र** इति संसारिकृतेषु. तथाच प्रयोजनभेदात् क्रमभेदइति न दोषः इति अर्थः. तर्हि कीर्तनादिक्रमे को हेतुः इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र** इति पदार्थभेदे विवक्षिते. **स्वस्य** इति कीर्तयितुः.

लेखः

यत्कीर्तनम् इत्यत्र. ननु ईक्षणस्य भक्तिषु अगणनात् कथम् अस्य भक्तित्वम्? अतः आहुः **ईक्षणम्** इति. **भिन्नः क्रमः** इति, "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः" (भाग.पुरा. ७।५।२३) इति वाक्योक्त-क्रमाद् भिन्नक्रमः इति अर्थः. **तदनु तस्यापि** इति. कीर्तनस्यापि मूलभूतं निर्वाहकं च यत् श्रवणं तस्य कीर्तनानन्तरं **निरूपणम्** इति पूर्वेण अन्वयः. कीर्तनेन अस्य गतार्थतां निराकर्तुम् आहुः **स्वात्म-** इत्यादि. कीर्तनेन स्वात्ममात्रनिष्ठत्वे

१. न किञ्चित्कर्तव्यत्वमिति क-घ-ङ. २. अत्रेति क-ग-घ. ३. षड्विधत्वापत्तिः इति मा.पाठे - सम्पा. ४. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

करणशोधकत्वेन **स्मरणं** निरूपितम्. एवं कीर्तन-स्मरणाभ्यां प्रेमोद्गमे जाते **यद्** भगवतः **ईक्षणं** भगवदागमनेन स्वगमनेन वा. सानुभावाधिष्ठानस्य भगवत्प्रतिनिधित्वात् प्रीतेः च अल्पत्वाद् भगवच्चालनाशक्तौ (पादसेवायां!) बहिः त(/य?)दीक्षणम्, अन्तः[१] वा भावनया, तद्दर्शनेन आधिदैविकपाप-निवृत्तिः. "यद् देवानां चक्षुषि आगो अस्ति" (तैत्ति.आर. २।६।२)

प्रकाशः

ननु असति क्रमे विवक्षिते ईक्षणमेव अत्र उच्यते इत्यत्र किं गमकम् इति अपेक्षायाम् ईक्षणान्तरे बाधकम् अनुवदन्तः प्रकृतं साधयन्ति **एवम्** इत्यादि **निवृत्तिः** इत्यन्तम्. **अन्तर्भावनया** इति सानुभावाधिष्ठानस्य अन्तर्भावनया. किं तद् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **यद्** इत्यादि. श्रुतिस्तु तैत्तिरीयारण्यके अस्ति— "यद् अन्नम् अद्मि अनृतेन देवा दास्यन् अदास्यन् उत वा करिष्यन्, यद् देवानां चक्षुषि आगो अस्ति यदेव किञ्चित् प्रतिजग्राहम् अग्निः मा तस्माद् अनृणं कृणोतु, यद् अन्नम् असि बहुधा विरूपं वासो हिरण्यम् उत गाम् अजाम् अधिम्" इत्यादि

लेखः

सत्यपि इति अर्थः. **सानुभावाधिष्ठानस्य** इति. **प्रीतेः च अल्पत्वाद् भगवच्चालनाशक्तौ** भगवत्**सानुभावाधिष्ठानस्य** काञ्ची-मथुरा-श्रीरङ्गादेः **भगवत्प्रतिनिधित्वात्** तत्र गत्वा मूर्त्यादौ **बहिः** भगवन्निरीक्षणम् इति अर्थः. भगवच्चालनं हि भक्त्यादिसाधनैः भगवतो वशीकरणेन स्वेष्टदेशनयनम्. "**यद् देवानां चक्षुषि आगो अस्ति**" इति. "यद् देवानां चक्षुषि आगो अस्ति यदेव किञ्चित् प्रतिजग्राहम् अग्निः मा तस्माद् अनृणं कृणोतु. ... यद् अन्नम् अद्मि अनृतेन देवा दास्यन् अदास्यन् उत वा करिष्यन्, यद् देवानां चक्षुषि आगो अस्ति यदेव किञ्चित् प्रतिजग्राहम् अग्निः मा तस्माद् अनृणं कृणोतु, यद् अन्नम् असि बहुधा विरूपं वासो हिरण्यम् उत गाम् अजाम् अधिम्. यद् देवानां चक्षुषि आगो अस्ति यदेव किञ्च प्रतिजग्राहम्" इत्यादि आरण्यस्वाध्यायब्राह्मणोदितम्.

---

१. तत्सर्वमन्तर्वा भावनयेति ख. -मन्तर्भावनयेति ग-प्रकाशे -सम्पा.

इति श्रुतौ तत्पापं निरूपितम्. तद् भगवद्दृष्टिविषये तेषां क्रूरा दृष्टिः निवर्तते इति तद्दोषनिवृत्तिः. तदनन्तरं **यद् वन्दनं** तद् भगवदीयापराधलक्षण-दोषनिवर्तकम्. वस्तुतो हि जीवो भगवत्सेवको भूत्वा बहुकालं तत्सेवाम् अकृत्वा स्थितः इति स्वधर्मपरित्यागेन अधर्मो भवति ; तद् दर्शनानन्तरं वन्दनेनैव निवर्तते. ततः तदनन्तरं भगवदीयानां मुखाद् **यद्** भगवन्माहात्म्य**श्रवणं** तत् सर्ववस्तुषु याथात्म्यज्ञापकमिति तदज्ञानकृतं पापं मूलभूतमिति निवर्तते. ततो ज्ञाते माहात्म्ये **यद्** अनुक्षणं भगवतः **अर्हणं** पूजनं, सत्कारः इति यावत्, तद् भगवन्मायारूपं तद्व्यामोहनरूपं वा **कल्मषं (विधुनोति!)** निवर्तयति. तदर्हणं हि प्रपत्तिरूपम्[1] ; अनन्यत्वाभावात् तत्त्वेन न[2] व्यपदिष्टम्. अतो भक्तिमार्गानिविष्टानाम् अन्येषामपि एवम्प्रकारेण करणात् तत्तत्पापनिवर्तक-त्वेन सर्वपापनिवृत्तिः फलं भवति. अतो **(सुभद्रश्रवसे!)** भगवत्कीर्तिमूलत्वात् सर्वेषां भगवत्कीर्तिः सुभद्रा भवति. भद्राभद्रयोः तुल्यत्वाद् अभद्रनाशिका

प्रकाशः

''यन्मया मनसा वाचा कृतम् एनः कदाचन, सर्वस्मात् तस्मान्मेलितमोग्धितं हि वेत्थ यथातथम्'' इति. **प्रतिपत्तिरूपम्** इति अवान्तरविनियोगरूपम्. **तत्त्वेन** इति सत्काररूपार्हणत्वेन. अत्र आग्रहेण एवं भक्तीनां भेदनिरूपणे मूलस्थं **लोक**पदं फलकथनञ्च बीजत्वेन बोध्यम्. एवम् एतत्फलकथनेन यत् सिद्धं तद् आहुः **अतः** इत्यादि. मूले **यच्**छब्दावृत्त्या भगवत्सम्बन्धेनैव तेषां फलजनकत्व-बोधनात् सर्वत्र भगवत्कीर्तेरेव तथात्वं पर्यवस्यतीति सा तथा इति सिद्धम् इति अर्थः. ननु तर्हि प्रायश्चित्तवद् भद्रत्वम् अस्तु ; कथं सुभद्रत्वम् इत्यतः आहुः **भद्रे**त्यादि. ''कर्मणा कर्मनिर्हारो न

लेखः

तद् भगवन्मायारूपम् इति. **तद्** अर्हणं भगवन्मायारूपम् इत्यादि **कल्मषविशेषणम्. अनन्यत्वाभावाद्** इति. **लोकस्य** इति साधारणोक्त्या तथा अवसीयते इति अर्थः. **भद्राभद्रयोः तुल्यत्वाद्** इति लौकिक-भद्राऽभद्रयोः

---

१. प्रकृतिरूपमिति क-ख-घ-ङ, प्रतिपत्तिरूपम् इति प्रकाशे. अत्र श्रीहरिरायाणां स्वतन्त्रलेखः द्रष्टव्यः (पृ. ६६८) -सम्पा. २. न नास्ति मा.१-मा.२ पाठयोः -सम्पा.

सुभद्रा भवति. प्रथमश्रवणन्तु तदानीम् अन्तःप्रविश्य[१] आलोडनेन भूतेभ्यो देहादिभ्यः पापनिवर्तनासमर्थम् इति प्रथमं तद् न निर्दिष्टं, कीर्तनन्तु तथात्वाद् निर्दिष्टम् इति विवेकः ॥१५॥

एवं षड्विधभक्तेः षड्विधपापक्षयकर्तृत्वम् उक्त्वा कीर्तेः तावन्मात्र-पर्यवसायित्वे मोक्षपर्यवसानाभावात् शास्त्रविरोधः प्रसज्येत इति तस्याः मुक्तिपर्यवसायित्वं प्रकारान्तरेण वदति.

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात् सङ्गाद् व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः ॥
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमास्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः ॥१६॥

विचक्षणाः इति. अचतुराणाम् एषा षड्विधा भक्तिः उक्ता. एवं षड्विधया चातुर्ये सम्पन्ने पश्चाद् **विचक्षणाः** सन्तो भगवच्च**रणारविन्दएव** अवसन्नाः भवन्ति, न ततः पदार्थान्तरे उपयुक्ताः भवन्ति. तदा तत्रैव

प्रकाशः

ह्यात्यन्तिक इष्यते'' (भाग.पुरा. ६।१।११) इति वाक्यात् प्रायश्चित्तानां बुद्धिस्थ-वासनात्मक-पापनाशकत्वाभावेन, अस्यास्तु भद्रे वासनात्मक-तन्नाशकत्वेन अभद्रे च उभयविध-तन्नाशकत्वेन समीचीनाऽसमीचीनयोः तुल्यत्वाद् इयम् अभद्रस्य अत्यन्तनाशिका अतः तथा इति अर्थः ॥१५॥

विचक्षणाः इत्यत्र. **षड्विधपापे**ति. स्वसमानाधिकरण-स्वव्यधिकरणा-ऽऽधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविक-भगवदपराधजनक- भगवन्माहात्म्यज्ञानप्रति-बन्धक-माया-तत्कार्याऽन्यतरभेदेन षड्विधे पापे इति अर्थः. उपसादनस्य निकटगतौ ज्ञापने च छान्दोग्यादिषु प्रसिद्धत्वात् 'षद्लृ'धातोः विशरण-गत्यवसादने रूढत्वाद् अत्र मूले चरणोपसादनस्य को वा अर्थो विवक्षितः ? इति अपेक्षायां प्रकारविशेषेण सर्वेऽपि अपेक्षिताः इति बोधयन्तो व्याकुर्वन्ति **एवम्** इत्यादि. **अवसन्नाः भवन्ति** इति, वैचक्षण्येन चरणनिकटगताः प्रथमं [२]पूर्वावस्थानुसन्धानेन क्लिष्टाः भवन्ति. तस्यैव फलं **न ततः** इत्यादि.

लेखः

अभद्रत्वेन तुल्यत्वाद् अत्र तद्व्यावृत्त्यै सुभद्रत्वम् उक्तम् इति अर्थः ॥१५॥

---

१. -प्रविश्य लोडनेनेति ख. २. स्व- इत्यधिकम् अत्र मा.पाठे -सम्पा.

अवसन्नाः **उभयतः सङ्गाद् (व्युदस्य !)** निवृत्ताः भवन्ति. अवसादे हि सङ्गानां शैथिल्यं युक्तमेव. तत्राऽपि **(अन्तरात्मनः !)** अन्तःकरणेन भगवति अवसादनाद् अन्तःकरणस्यैव उभयतः सङ्गव्युदासः. तदा पश्चात् कर्षकाणाम् अभावाद् भगवता सह गमनसामर्थ्यं भवति. चरणे हि उपसन्नाः चरणेन सह गन्तुं समर्थाः भवन्ति. अतो **ब्रह्मगतिं (विन्दन्ति !)** प्राप्नुवन्ति. ब्रह्मणा सह गतिः, ब्रह्मणि वा गतिः ; अक्षरस्य चरणत्वे गृहत्वे वा तद् उभयम् उपपद्यते. अतो मार्गान्तरेणाऽपि एवं साधनेन पूर्वतुल्यता भवतीति द्वयोरपि एकएव अर्थः इति वक्ष्यमाणम् उपपन्नं भवति. तस्य हि गतिः ज्ञानरूपा, अतएव ज्ञानस्य क्रियात्वं धात्वर्थत्वञ्च उपपद्यते.

प्रकाशः

तदा इति अनुपयोगदशायाम्. **शैथिल्यम्** इति विशरणरूपम्. **उभयतः सङ्गव्युदासः** इति बहिष्ठोऽन्तरतश्च[1] सङ्गविशरणम्. **उपसन्नाः** इति निकटे प्राप्ताः. **अतः** इति, उक्तप्रकारेण गतिसामर्थ्यलाभात्. समासद्वयस्य तात्पर्यम् आहुः **अक्षरस्य** इत्यादि. एतेन ''ब्रह्मैव गतिः = **ब्रह्मगतिः**'' इति समासे **गति**पदवैयर्थ्यं बोधितम्. सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. ननु अक्षरस्य व्यापकत्वेन गत्यसम्भवात् तेन सह गतिः अनुपपन्ना इति आशङ्कायां तद्गतेः स्वरूपं वदन्तः तस्य गतिम् उपपादयन्ति **तस्य हि** इत्यारभ्य **क्रियास्वरूपम्** इत्यन्तेन. गतेः ज्ञानरूपत्वे गमकम् आहुः **अतएव** इति. अक्षरगतेः ज्ञानरूपत्वादेव **ज्ञानस्य क्रियात्वं** गतिकर्मक-**धात्वर्थत्वञ्च**

लेखः

विचक्षणाः इत्यत्र. **उभयतः सङ्गाद्** इति, ऐहिकामुष्मिकात् सङ्गाद् इति अर्थः. **द्वयोरपि एकएव अर्थः** इति. विचक्षणाऽविचक्षणयोः प्राप्तव्यो अर्थः एकएव इति अर्थः. **वक्ष्यमाणम्** इति, अग्रिमश्लोके ''तपस्विनो'' इत्यादिना भिन्नभिन्नाधिकारिणां विषयत्वेन **वक्ष्यमाणं** भगवत्स्वरूपम् **उपपन्नं भवति** इति अर्थः. **तस्य हि** इति, ब्रह्मणो हि इति अर्थः. **धात्वर्थत्वम्** इति, अवबोधार्थकत्वम् इति अर्थः. ननु नित्यक्रिया यागरूपा प्रसिद्धैव

---

१. -ऽन्तरश्च इति मा.पाठे - सम्पा.

ज्ञानस्य च क्रियात्वं भगवत्क्रियात्वेन. भगवतः इन्द्रियाभावाद् जन्या क्रिया न सम्भवति. नित्या तु क्रिया न प्रसिद्धा. यागानान्तु क्रियारूपेण भगवदाविर्भावात् पदार्थान्तरवत् क्रियाऽपि भवति भगवद्रूपम्. ''तदेजति तन्नैजति'' (ईशावा.उप. ५) इत्यादि तु विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन धर्मरूपेण आविर्भूतरूपं

प्रकाश:

उपपद्यते. अन्यथा ज्ञानस्य क्रियारूपत्वाभावात् तदर्थकानां 'जानात्या'दीनां धातुत्वमेव न स्यात्, क्रियावाचित्वएव तत्सञ्ज्ञाविधानात्. ''ये गत्यर्थकाः[१] ते ज्ञानार्थाः'' इति च. तथाच व्याकरणस्मृतिरेव तत्र गमिका इति अर्थः. ननु क्रियायाः यत्नोत्तरभावित्वात् तत्पूर्वभाविनो ज्ञानस्य कथं क्रियात्वं, व्याकरणस्मृतेस्तु पारिभाषिकत्वाङ्गीकारेऽपि उपपत्तेः इत्यतः आहुः **ज्ञानस्य च** इत्यादि. तथाच पारिभाषिकत्वस्य अगतिक-गतित्वाद् भगवति ज्ञान-प्रयत्नादीनां नित्यत्वेन तत्पूर्वोत्तरभावस्य लौकिकत्वेन च तत्र अदूषणत्वाद् न ज्ञानस्य क्रियात्वाङ्गीकारे कोऽपि दोषः इति अर्थः. अत्र ''अस्य ज्ञानमयं तपः'' (मुण्डकोप. १।१।९) इति श्रुतिरपि अनुग्राहिका ज्ञेया. ननु एवम् आग्रहे किं बीजम्? अतः आहुः **भगवतः** इत्यादि. तथाच असम्भवो अप्रसिद्धिश्च बीजम् इति अर्थः. ननु ''यज्ञो वै विष्णुः'' (तैत्ति.संहि. १।७।४।४) इति श्रुतेः अस्त्येव प्रसिद्धिः इति चेत्, तत्र आहुः **यागानान्तु** इत्यादि. तथाच सापि प्रसिद्धिः आविर्भावोत्तरकालएव, नतु अनाविर्भावइति मोक्षाधिकरणे सा न वक्तुं शक्या इति अर्थः. ननु ''तदेजति'' इत्यादिषु तादृशेऽपि अस्ति प्रसिद्धिः इत्यतः आहुः **तदि**त्यादि. तथाच इदमपि रूपान्तर-प्रतिपादकत्वात् तत्तुल्यमेव इति अर्थः.

लेखः

इति कथं तदप्रसिद्धिः? अतः आहुः **क्रियारूपेण** इति. तथाच यागानां तथात्वेऽपि न भगवत्क्रियात्वं निरूपयितुं शक्यं, तस्याः भगवद्रूपान्तःपातित्वात्. अतएव ''यज्ञो वै विष्णुः'' इति श्रुतिः, ''मां विधत्ते अभिधत्ते माम्'' (भाग.पुरा. ११।२१।४३) इत्यादि च. ननु भगवत्क्रियावत्त्वे कथं ''तदेजति

---

१. गत्यर्थाः इति मा.पाठे - सम्पा.

प्रतिपादयति. तस्मात् सच्चिदानन्दवद् न क्रिया स्वरूपभूता भवति. अतो ज्ञानमेव – तेजःस्वभावं गच्छतीव प्रतिभाति इति "स्मरणेन मनो गच्छति" इतिवद् भगवतो ज्ञानमेव – क्रियारूपम्. तस्माद् भगवतो **गतिं** चैतन्यरूपं

प्रकाशः

सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **तस्माद्** इति उक्तश्रुत्यादीनाम् एवं[1] चारितार्थ्यात्. ननु तथापि विभागपूर्व-संयोगनाशोत्तर-संयोगानां क्रियागमकानाम् अभावात् कथं तथात्वावगतिः इत्यतः आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** इति. अव्यक्ते सच्चिदानन्दातिरिक्ताभावाद् यथा विषयाद् विषयान्तरं गृह्णन् मनः "मनो गच्छति" इति प्रतीतिम् उत्पादयति – नतु हृदयं विहाय गच्छति, हृदयएव तथाभानाद्, गमने अमनःस्कत्वापत्तेश्च – तथा ज्ञानमेव[2] प्रकाशस्वभावम् अव्यक्ते ब्रह्मणि तद्रूपेण वर्तमानान् विषयान् प्रकाशकत्वेन क्रमाद् व्यञ्जयद् गच्छतीव प्रतिभाति. तेन आलोचनात्मकं **ज्ञानमेव भगवतः क्रियारूपम्** इति अर्थः. तथाच यथा आविर्भावदशायां "प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति" (बृहदा.उप. १।४।७) इत्यादि श्रुत्या तत्तत्कार्यकर्तृत्वात् प्राणादिरूपत्वं ब्रह्मणः तथा आविर्भावपूर्वदशायां ज्ञानात्मकस्य तस्यैव क्रियाकार्यकर्तृत्वात् क्रियारूपत्वम् इति भावः. ननु भवतु एवं ज्ञानरूपस्यैव क्रियात्वं, तथापि प्राप्तिः कथं? नहि तदालोचनं जीवः प्राप्नोति, अभिध्यातृत्वस्य भगवदसाधारणत्वाद् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **भगवतो** ज्ञानस्यैव गतिरूपत्वाद् – भगवतो ज्ञानं यथा भगवद्रूपेण भगवति वर्तमान-सर्ववस्तुप्रकाशकत्वेन धर्मेण गतिरूपं तथा सृष्टीच्छावशगो मुख्यजीवोऽपि सृज्यमान-सर्ववस्तुप्रकाशकत्वाद् गतिरूपः – **गतिं चैतन्यरूपं** सृष्टीच्छावशगं मुख्यजीवं **विन्दन्ति** सूत्रोक्तरीत्या तदात्मकाः भवन्ति. तथाच तदात्मकत्वमेव

लेखः

तन्नेजति" इति श्रुतिः सङ्गच्छताम्? अतः आहुः **विरुद्धसर्व** इति. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **न क्रिया स्वरूपभूता** इति. अपितु

---

१. एव इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. ज्ञानमिव इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

विन्दन्ति अलभ्यलाभवत् प्राप्नुवन्ति ''चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वाद्'' (ब्रह्मसूत्र ४।४।६) इति प्रकारेण. अतएव मुख्यसिद्धान्तात् फलेऽपि भेदः. **हि** युक्तः च अयम् अर्थः यतः कीर्तिः मुक्तिपर्यवसायिनी. **गतक्लमाः** इति. मार्गान्तिरेणाऽपि ज्ञानादिना अक्षरोपासनया वा तदेव स्वरूपं प्राप्नुवन्ति, तथापि ''क्लेशो अधिकतरः तेषाम्'' (भग.गीता १२।५) इति वाक्यात् ते[१] क्लेशयुक्ताः भवन्ति. कीर्तनप्रणालिकया तु ये गच्छन्ति ते गतक्लमाएव गच्छन्ति इति साधनान्तराद् वैलक्षण्यम्. अतएव कीर्तिपुरस्सरं तद् नमस्यति **सुभद्रश्रवसे** इति पूर्ववत्. बाह्यभक्त्याऽपि एवम् अनुग्रहं करोति इति आदरेण **(नमोनमः!)** नमनवीप्सा उभयत्र ॥१६॥

एवं ज्ञान-भक्तिमार्गौ सम्यग् उपपाद्य कर्ममार्गेऽपि भजनावश्यकतां वदन् तेषां स्वरूपसन्देहं वारयति.

प्रकाशः

प्राप्तिः इति अर्थः. एतस्य श्लोकस्य अयमेव आशयः इत्यत्र गमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. तथाच मध्यमकक्षात्वादेव – ''नमो नमस्तेऽस्तु'' (श्लो. १४) इति श्लोके उत्तमकक्षारूपा भक्तिः दास्येन भगवद्रसं मुख्यं प्रापयति, ''यत्कीर्तनम्'' (श्लो. १५) इति श्लोके हीनकक्षारूपा पापनाशं करोति, अत्र श्लोके मध्यमकक्षारूपा ब्रह्मरूपतां सम्पादयति इति फलभेदविवेकः – फलभेदः इति सएव गमकः इति अर्थः. ननु एवं सति ज्ञानमार्गात् को विशेषः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **गतक्लमाः** इत्यादि, **वैलक्षण्यम्** इत्यन्तम्. **अतएव** इति, अस्मादेव विशेषात्. **उभयत्र** इति पूर्वश्लोके अत्र च ॥१६॥

तपस्विनः इत्यत्र. **तेषां स्वरूपसन्देहम्** इति. केवलकर्मैकनिष्ठाः शुद्धकर्मिणः उत भगवति कर्मार्पकाः शुद्धकर्मिणः इत्येवं प्रकारकं सन्देहम्

लेखः

धर्मरूपैव भवति इति भावः. ''**चिति तन्मात्रेण**'' इति. अयं न्यायः फलाध्याय- तुर्यचरणे अस्ति. एतदर्थस्तु ... . **मुख्यसिद्धान्ताद्** इति ... ॥१६॥

---

१. वाक्यात्क्लेशयुक्ता इति क-ग-घ.

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ॥
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः ॥१७॥

तपस्विनः (दानपराः मनस्विनः!) इति, **यशस्विनः** कूपारामादि-कर्तारः, **मन्त्रविदो** मन्त्रोपासकाः याज्ञिकाः वा, **सुमङ्गलाः** सदाचाराः —एते हि कर्ममार्गे षड्विधाः उक्ताः. तपो हि सन्तापात्मकं ; तत्तु पाकवत् साधनपर्यवसायि न सुखं प्रयच्छति. नहि देहेन्द्रियाणि क्लिष्टानि

प्रकाशः

इति अर्थः. विवृतौ **कूपारामादि** इति **आदि**पदेन यशोजनकानां काव्यकरणादि-रूपाणां कर्मान्तराणामपि सङ्ग्रहः. ननु "कर्मणैव हि संसिद्धिम् आस्थिताः जनकादयः" (भग.गीता ३।२०) इत्यादि वाक्यैः केवलस्य कर्मणएव संसिद्धिसाधनतावगते समर्पणे को वा विशेषः इति आशङ्कायां समर्पणादेव संसिद्धिः नतु केवलेन कर्मणा इति उपपादयिष्यन्तः प्रथमं तदवान्तरभेदरूपस्य तपसः तथात्वम् आहुः **तपः** इत्यादि. **तपः**शब्दस्य सन्तापार्थक-धातुनिष्पन्नत्वाद् अर्थस्य च कृच्छ्रादि-रूपत्वात् तादृशं तत् **सन्तापात्मकम्**. तपस्तु **पाकवत् साधनपर्यवसायि. पाकः** अन्नादि-विक्लितिः. सा यथा सुखसाधनीभूते भोजने पर्यवस्यति तथा इदमपि देहेन्द्रियाणि पाचयत् सुखसाधनीभूते भोगे पर्यवस्यतीति **न सुखं प्रयच्छति** न सुखदम् इति अर्थः. ननु पाकजन्यस्य तापस्य अन्यनिष्ठत्वेन तपसश्च स्वनिष्ठत्वेन वैलक्षण्याद् अग्रे सुखलाभदर्शनाच्च सुखदत्वम् अङ्गीकार्यम् इत्यतः आहुः **न हि** इत्यादि. सुखानुभवदशायां क्लेशराहित्यदर्शनेन सन्तापात्मकस्य तपसः तदानीम् अभावाद् न तस्य सुखदत्वम् अङ्गीकर्तुं शक्यम् इति अर्थः. ननु "तपसा देवा देवताम् अग्र आयन् तपसर्षयः सुचरन्वविन्दन् तपसा सपत्नान् प्रणुदाम् आरातीः" (तैत्ति.ब्रा. ३।१२।३।१) - "तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात् तपः परमं वदन्ति" (महाना.उप. २२।१) इत्यादि श्रुत्युन्नीत-विधिभिः तपसः फलदातृत्वस्य विहितत्वाद् देवत्वादिद्वारा अस्तु तपः सुखदम् इत्यतः आहुः **विहितत्वाद्** इत्यादि.

लेखः

तपस्विनः इत्यत्र. **साधनपर्यवसायि** इति, नतु फलपर्यवसायि इति

सुखं प्रयच्छन्ति, विहितत्वात् फलदानेऽपि दातुः सम्बन्धाभावाद्, आज्ञामात्रेण तथा करणेऽपि स्वात्मसमर्पकत्वेनैव तद्बोधनाभिप्रायाद्, अदृष्टद्वारा फलजनने

प्रकाशः

उक्तरीत्या **विहितत्वात्** साक्षात्सुखद-देवत्वादिलक्षण-**फलदानेऽपि दातुः** तपसः **सम्बन्धाभावाद्** देवत्वादिकं जनयित्वा उपक्षयेन सुखकरणत्वस्य अशक्यवचनतया सुखेन सह सम्बन्धाभावात् साधनपर्यवसायित्वमेव, नतु सुखदत्वम् इति अर्थः. ननु केवलतपसः सुखसम्बन्धाभावकथने भगवदाज्ञप्त-तपःफलबोधकस्य ''ब्रह्मणे दर्शयन् रूपम्'' (भाग.पुरा. २।९।४) इत्यादिवाक्यस्य विरोधः स्याद् इत्यतः आहुः **आज्ञामात्रे**त्यादि. भगव**दाज्ञामात्रेण तथाकरणेऽपि** भगवद्विचारानुरूप-तपःकरणेऽपि **स्वात्मसमर्पकत्वेनैव तद्-बोधनाभिप्रायात्** 'तपोधन' इत्यादि प्रयोगेण तपोरूपं यत् स्वं धनं तेन सहितः आत्मा स्वात्मा, तत्समर्पकत्वेनैव तस्याः आज्ञायाः बोधने तथा ज्ञापने अभिप्रायात्. ''मदीयः सन् तपः कृत्वा माम् अर्पय'' इत्येवंप्रकारक-भगवत्तात्पर्यात् न केवलतपसा तादृक्फलम् अपितु समर्पिते तपसि भगवतैव तादृशं फलम् अतो न उक्तवाक्यविरोधः इति अर्थः. सच अभिप्रायः सप्तमाध्याये ''तप्तं तपः'' (भाग.पुरा. २।७।५) इत्यत्र, नवमे च ''दुस्तोषः कूटयोगिनाम्'' (भाग.पुरा. २।९।१९) इत्यत्र स्फुटो भावी. ननु दृष्टद्वारा मा अस्तु तपसः सुखसाधनत्वम्, अदृष्टद्वारा तत्कल्पने को दोषः इत्यतः आहुः **अदृष्टे**त्यादि. तथापि **फलजनने मानाभावाद्**

लेखः

अर्थः. **दातुः सम्बन्धाभावाद्** इति. फलदातुः आत्मनो अज्ञानात् तथा इति अर्थः. **आज्ञामात्रेण** इति. विधिबोधित-स्वाज्ञामात्रेण फलदानेऽपि इति अर्थः. **स्वात्मसमर्पकत्वेनैव** इति. यदि विधिरूपाऽऽज्ञाबोधित-फलवत्त्वम् अङ्गीकरणीयं तदा तु विधिबोधितं समर्पणम् उररीकृत्यैव तपआदीनां फलवत्त्वं सिद्ध्यति, फलाधिकारितायाः आत्मसमर्पकत्वेनैव अवच्छेद्यत्वात्. **तद्बोधना-भिप्रायाद्** इति, ''यत् करोषि यद् अश्नासि'' (भग.गीता ९।२७) इत्यादिना फलबोधनाभिप्रायाद् इति अर्थः. ननु किमिति (एवम्!) अङ्गीकरणीयम्, अदृष्टद्वारापि तत्सम्भवाद् इत्यतः आहुः **अदृष्टे**ति. विपरीते

मानाभावात्, ''कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम्'' (भग.गीता १७।६) इति बाधश्रवणाच्च. ''मत्त एव पृथग्विधाः'' (भग.गीता १०।५) इति हेतुव्यपदेशात् परम्पराकल्पनायां मानाभावाद् भगवत्क्रीडौपयिकतां[१] सम्पादयद् देहं भगवद्योग्यं करोति. **(यदर्पणं विना क्षेमं न विन्दन्ति!) (तपस्विनः!)** यत्तु भगवान् सर्वात्मकः क्लेशं दृष्ट्वा फलं प्रयच्छति, अन्यक्लेशनिवृत्त्यर्थं

प्रकाशः

दृष्टेन समर्पणेनैव फलसिद्धौ सम्भवत्याम् अदृष्टकल्पनस्य अन्याय्यत्वात्, तत्कल्पने प्रमाणानुपलम्भात्. ग्रहिलतया अदृष्टाङ्गीकारेऽपि ''**कर्षयन्तः**'' इति वाक्ये भूतग्रामकर्षणरूप-**बाधश्रवणाच्च** न अदृष्टद्वारापि तत् कल्पयितुं शक्यते इति अर्थः. ननु एवं सति ''फलमतः उपपतेः'' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) इति न्यायेन साक्षात् परम्परया वा भगवतएव फलदातृत्वाद् भगवदाज्ञप्तेऽपि तपसि सन्तापात्मकत्व-तौल्येन साधनपर्यवसायित्वस्यापि तौल्यात् केवलतपस्यपि यथाकथञ्चिद् भगवतैव यदाकदाचित् सुखसम्भवः इति को विशेषः समर्पणे इत्यतः आहुः **मत्तः** इत्यादि **करोति** इत्यन्तम्. ''सुखं दुःखम्'' इत्यारभ्य ''मत्तएव पृथग्विधाः'' (भग.गीता १०।४-५) इत्यन्ते वाक्ये स्वस्यैव सुखहेतुत्व-व्यपदेशात्, परम्पराकल्पने मानाभावाद् भगवदाज्ञप्तमपि तपः देहेन्द्रियादि-पाचनेन तेषां **भगवत्क्रीडौपयिकतां सम्पादयद् देहं भगवद्योग्यं करोति** भगवद्विचारित-कार्यकरणक्षमं करोति. तथा सति तदा प्रसन्नः स्वयं साक्षादेव सुखं प्रयच्छतीति अयमेव विशेषः इति अर्थः. ननु फलस्य तौल्ये परम्परयैव तद् अस्तु ; को दोषः इत्यतः आहुः **यत्तु** इत्यारभ्य **अर्हति** इत्यन्तम्. तथाच परम्परादृते अयं दोषः इति अर्थः. ननु एवं दानेन भगवान् किं साधयति इत्यतः आहुः

लेखः

बाधकमपि दर्शयन्ति ''**कर्षयन्तः**'' इति. तथाच बाधकश्रवणाद् विपरीतमेव अदृष्टम् उत्पद्येत, नतु फलानुकूलमपीति अधिकदोषापातः इति अर्थः. तर्हि अदृष्टद्वारा भगवान् ददाति इति मन्तव्यम् इत्यतः आहुः ''**मत्तएव**''

---

१. क्रीडोपयिकतामिति ख-ङ.

वा, तद् न क्षेमात्मकम्. नहि भगवता दत्तं स्पर्धा-ऽसूयादिसहितं भवितुम् अर्हति. एवं बहूनां भागिनां स्वयम् अन्येभ्यः प्रयच्छन् शोषणेन वस्तुशोधनवद् अवशिष्टानि शोधयति. **(दानपराः!)** दत्तद्रव्यस्य तु नानाविनियोगसम्भवाद्[१]

प्रकाशः

एवम् इत्यादि. **एवं** तन्निर्बन्धेन **अवशिष्टानि** भोगे आच्छिन्ने तत्करणार्थम् उर्वरितानि, अकृतभोगानि इति यावत्, तादृशानि आच्छिन्नभोगानि देहेन्द्रियाणि **शोधयति** स्वकार्यकरण-क्षमानि करोति इति अर्थः. एवं सति भगवद्विचारितानुपूर्विक-तपःकरणे भगवदीयत्वं, विहितेन[२] कृत्वा समर्पणे शुद्धकर्मित्वम्, असमर्पणे अशुद्धत्वम्, अविहितकरणे च असुरत्वम् इति तत्स्वरूपविवेकः. इदमेव "यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्" (भग.गीता ९।२७), "अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः ... सात्त्विकं परिचक्षते" (भग.गीता १७।१७), "अभिसन्धाय तु फलं" (भग.गीता १७।१२), "मूढग्राहेण आत्मनो यद्" (भग.गीता १७।१९) इत्यादिवाक्यैः भङ्ग्यन्तरेण उच्यते इति ज्ञेयं, तेन सर्वम् अनवद्यम्.

एवं तपसः साधयित्वा दानस्यापि साधयन्ति **दत्त** इत्यादि **प्राप्तिः** इत्यन्तेन. ननु "दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा लोके दातारं सर्वभूतानि उपजीवन्ति दानेन अरातीः अपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्राः भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद् दानं परमं वदन्ति" (महाना.उप. २७।१) इत्यादि श्रुत्या दानस्य परमत्वबोधनाद् अस्तु [३]केवलक्षेमसाधकत्वम् —इति पूर्वपक्षनिरासे **तुः**. तथाच दानस्य तथात्वेऽपि **दत्तद्रव्यस्य** इत्याद्युक्तरीत्या

लेखः

इत्यादि. एवं तपोव्यवस्थाम् उक्त्वा दानव्यवस्थाम् आहुः **एवं बहूनाम्** इत्यादि. ननु दानेन प्रतिगृहीतुः जीवनादिसिद्ध्या परोपकारात् कुतो न फलसाधकत्वम् अतः आहुः **दत्तद्रव्यस्य तु** इति. तथाच तद्द्रव्येण विकर्मादि-करणस्यापि सम्भवात् प्रत्युत विपरीतफलजनकत्वमेव भवेद् इति

---

१. नानाविधयोगेति क-घ-ङ. नानाविधभोगेति ख. २. विहितत्वेन इति मा.पाठे -सम्पा. ३. केवलस्य क्षेमसाधकत्वम् इति मा.पाठे -सम्पा.

न फलसाधकत्वं निश्चितम्. अतो भगवत्कर्तव्ये[१] तत्पोषणक्रियायाः पर्यवसानात् तदसमर्पणे स्वातन्त्र्ये चौर्यापत्तेः सुतरां न क्षेमप्राप्तिः.

प्रकाशः

द्रव्यस्य तथात्वात् केवलदानस्य **न फलसाधकत्वं निश्चितम्** अपितु द्रव्यविनियोग-सहकृतस्यैव तन्निश्चितम्. अन्यथा ''अर्हानर्हापरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः'' (महाभा. १२।२७।३०), ''अपात्रेभ्यश्च दीयते ... तत् तामसम् उदाहृतं'' (भग.गीता १७।२२), ''सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य'' (तैत्ति.ब्रा. २।८।८।३), ''दीयमानं रुदति अन्नम्'' (व्यासस्मृ. ४।५१) इत्यादीनि वाक्यानि विरुद्ध्येरन्. अतः द्रव्यविनियोग-सहितस्यैव दानस्य फलसाधकत्वात् तद्विनियोगस्य च ज्ञातुम् अशक्यत्वाद् **भगवत्कर्तव्यभूते तस्य** सम्प्रदानस्य **पोषणे** दान**क्रियायाः पर्यवसानात्.** [२](यस्य भक्तादिरूपस्य सम्प्रदानस्य पोषणं भगवता कर्तव्यम् अस्ति तत्रैव दानक्रियायाः फलसाधकत्वं पर्यवस्यति पात्रापात्रविवेक-बोधकशास्त्रे.)[२] **तदसमर्पणे** ''क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः'' (भाग.पुरा. ८।२२।२०) इति वाक्येन सर्वस्य भगवदीयत्वाद् दत्तस्य भगवति असमर्पणे **स्वातन्त्र्ये** दानार्थमपि ततः स्वयं ग्रहणेन स्वातन्त्र्ये **सुतरां न क्षेमप्राप्तिः, चौर्येण** प्रत्युत अनिष्टमिति तपोवद् अस्यापि व्यवस्था इति अर्थः. एतेन ''ददासि यद्'' (भग.गीता ९।२७), ''दातव्यमिति यद् दानम्'' (भग.गीता १७।२०) इत्यादीन्यपि पूर्ववदेव ज्ञेयानि.

एवं दानस्य साधयित्वा यशोजनकेषु कूपारामादिषु अतिदिशन्ति

लेखः

भावः. **अतो भगवत्कर्तव्य-** इति. **भगवता कर्तव्या** या जीव**पोषणक्रिया** तस्याएव दानप्रयोजनत्वेन भगवदभिप्राय-विषयतया **पर्यवसानात्** तथा इति

---

१. भगवत्कर्तव्ये तत्पोषणेत्यादि क-ङ. भगवत्कर्तव्यतत्पोषणेत्यादि ख-प्रकाशे-लेखे. भगवकर्तव्यतच्छोषणेत्यादि घ - सम्पा.

२-२. कि.पाठे इयं पादटिप्पणतया उपलभ्यतइति कोष्ठकं कृतं मया - सम्पा.

(यशस्विनः!) कूपारामादिष्वपि विश्रामजनकत्वेन भगवच्चिकीर्षितकरणाद् दानवदेव तस्य निर्णयः. **मनस्विन**स्तु योगिनएव ; ते कुयोगिविचारेणैव विचारिताः. सर्वेषामेव निरोधने[१] तत्तदधिष्ठातृ-देवद्रोहो भवत्येव, भगवत्समर्पणे तु तद्वचनेन तदुक्तमेव कृतम् इति न कोऽपि दोषः सम्भवति.

प्रकाशः

कूपेत्यादि. **दानवदेव तस्य निर्णयः** इति. कूपादौ पशु-मनुज-पातादिना क्षार-कटुभावादिना वा अपेयत्वे शुष्कीभावे, आरामादौ चौर-जार-मद्यपादिभिः उपद्रुतत्वे तत्कर्तुः पापमेव निमित्तम्, अन्यथा सर्वत्र तथा स्यात्. एवं सति तत्कर्मणोऽपि कूपादिविनियोग-सहितस्यैव फलसाधकत्वाद् विनियोगस्य च ज्ञातुम् अशक्यत्वात् तदसमर्पणे स्वातन्त्र्ये पूर्वोक्तपाप-भागित्वम्[२]. सद्विनियोगेऽपि स्वाम्यस्य करणादेव कुधीत्वम्. समर्पणे तु **विश्रामजनके**त्याद्यु-क्तरीत्या तस्य कूपादिकर्मणो निर्णयः इति अर्थः. काव्येऽपि "न यद्वचश्चित्रपदं" (भाग.पुरा. १।५।१०), "तद्वाग्विसर्गो जनता" (भाग.पुरा. १।५।११) इत्यादिवाक्यैः तथात्वं स्पष्टम्. अत्रापि "यत् करोषि" (भग.गीता ९।२७), "कार्यमित्येव" (भग.गीता १८।९) इत्यादीनि पूर्ववदेव ज्ञेयानि.

अथ योगस्य तथात्वं साधयन्ति **मनस्विनः** इत्यादि. अत्र 'मनस्वि'शब्दो दानशौण्डे युद्धवीरे अन्येषु च तादृशेषु प्रयुज्यते, तत्र योगिपरामर्शे किं बीजम् —इति आशङ्कानिरासे **तुः**. **मनस्वि**शब्दवाच्या **योगिनएव.** तत्र हेतुः **ते** इत्यादि. **विचारिताः** इति. तथाच अग्रे निराकार्यत्वाभावे पूर्वं न ते विचारिताः स्युः, अतो न पुनः निराकार्याः. तथापि अत्र तदुक्तिस्तु "अयं हि परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्" (याज्ञ.स्मृ. १।१।८) इति धर्मप्रकरणे पाठेन प्राकरणिकत्वाद् ज्ञेया. ननु "प्राणायामैः दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्" (भाग.पुरा. ३।२८।११) इत्यादिवाक्यैः योगस्य पापनिवारकत्व-स्मरणात् कुतो न क्षेमप्राप्तिः इत्यतः आहुः **सर्वेषाम्** इत्यादि **सम्भवति** इत्यन्तम्. तथाच एतान्यपि वाक्यानि समर्पणपराण्येव. एवं पूर्वत्रापि यथासम्भवं ज्ञेयानि.

---

१. निरोधेनेति घ. २. -भावित्वम् इति मुद्रितपाठः अशुद्धः. मा.पाठेतु एवम् - सम्पा.

(मन्त्रविदः सुमङ्गलाः!) धर्ममार्गेऽपि ''धर्मः स्खलति कीर्तनाद्'' (आ.रामा. २।९।४) इत्यादिना नाशसम्भवात् समर्पणं युक्तम्. लोकेऽपि महाराजसमर्पणादौ भोगो वा कालनाशो वा सम्भवति. तत्र भगवदीयानां कालनाशाभावाद् भगवद्भोगे पुनः तदीयत्वं वा प्रसादो वा भविष्यतीति पूर्ववदेव ज्ञानमार्गे भक्तिमार्गे वा प्रवेशो भविष्यतीति **सुभद्रश्रवसे** इति

प्रकाशः

एवं योगस्य साधयित्वा श्रौत-स्मार्त-धर्मस्यापि तथात्वं साधयन्ति **धर्ममार्गे** इत्यादि. **आदि**पदेन ''वासिष्ठो ह साप्तहव्य'' (तैत्ति.संहि. ६।६।२।२-३) इति श्रुत्युक्तोपाख्याने भगवदसमर्पणहेतुक-सृञ्जयपराभवोक्तेः सापि स्मार्यते. श्रुतिस्तु ''वासिष्ठो ह साप्तहव्यो देवभागं पप्रच्छ यत् सृञ्जयान् बहुयाजिनोऽपि यजोयज्ञे यज्ञं प्रत्यतिष्ठिपा यज्ञपताविति सहोवाच यज्ञपताविति, सत्याद् वै सृञ्जयाः पराबभूवुरिति होवाच, यज्ञे वा यज्ञः प्रतिष्ठाप्य आसीद् यजमानस्य अपराभावायेति'' इति. सप्तम्यन्तेन 'यज्ञ'पदेन ''यज्ञो वै विष्णुः'' (तैत्ति.संहि. १।७।४।४) इति श्रुत्युक्तो [1]भगवान् उच्यते, 'प्रतिष्ठाप्य' इत्यनेन च समर्प्य इति. अन्यथा [2]स्वरूपेण यज्ञस्य स्वस्मिन् सत्त्वात् को वा प्रतिष्ठा-पदार्थः स्याद् इति! तथाच उक्तवाक्यादिषु कीर्तनाद् असमर्पणादिभिः नाशसम्भवोक्तेः तदभावाय समर्पणं युक्तम् इति अर्थः.

सुमङ्गलपदोक्ताः सदाचारास्तु सर्वानुगाः पूर्वोक्तविचारेणैव विचारित-प्रायाः इति पुनः न विचारिताः. ननु अत्र कीर्तिपुरःसरं नमने किं बीजम् इति आकाङ्क्षायां फलोत्कर्षएव बीजम् इति सदृष्टान्तम् आहुः **लोकेऽपि** इत्यादि. **कालनाशः** कालेन पदार्थनाशः इति अर्थः. **भगवदीयानां** भगवति समर्पितानां तपआदीनाम् इति अर्थः. ननु यत्पुरःसरं नम्यते सा कीर्तिः

लेखः

अर्थः. **लोकेऽपि** इति. यथा लोके धनिनां राजसेवकानां धनादिकं राज्ञि निवेदयित्वा सुखेन भोगः सम्पद्यते भयनाशश्च इति तथा इति अर्थः.

१. वा इत्यधिकम् अत्र मा.पाठे - सम्पा. २. रूपेण इति मा.पाठः - सम्पा.

उक्तम्. मार्गत्रयस्थाअपि भगवदीयाः इति भगवत्कीर्तिः. अन्येषां तु तत्र प्रवेशाभावाद् (**नमोनमः!**) आदरेण वीप्सया नमनम् ॥१७॥

एवं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिनां भगवत्प्रवेशप्रकारम् उक्त्वा साक्षात्सम्बन्ध-रहितानामपि तत्प्रवेशने प्रकारम् आह तृतीयगतिव्यावृत्त्यर्थम्. तद् वक्ष्यति भगवान् "उदासीनोऽरिवद् वर्ज्यः" (भाग.पुरा. १०।२१।५) इति[१]. तद् भगवदाश्रिताः भगवदीयाश्रिताः वा एकत्र, अन्ये द्वितीयकोटौ इति निर्धारो भवति. ततः आह.

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ॥
येऽन्येऽपि पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥१८॥

किरातेति. किरातादयः तत्तद्देश-गिरिवासिनो अन्त्यजाः जातितः

प्रकाशः

का वा इत्यतः आहुः **मार्गत्रयेत्यादि. अन्येषां** पद्यत्रयोक्तविधेभ्यो भिन्नानां **तत्र** भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे वा इति अर्थः ॥१७॥

किरात इत्यस्य आभासे. **तद्** इति तस्माद्, उक्तभगवद्वाक्याद् इति अर्थः. अत्र कोटिद्वयकथनेन "वरं हुतवहज्वाला-पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः, न शौरिचिन्ताविमुख-जनसंवासवैशसम्" (. । ।) इति स्मारितं ज्ञेयम्, अन्यथा **किरातेति** पद्योक्तिः असङ्गता स्याद् इति अर्थः.

लेखः

मार्गत्रयस्थाः इति, भक्ति-ज्ञान-कर्मस्थाः इति अर्थः. **अन्येषाम्** इति, उत्पथ-स्थानाम् इति अर्थः. **तत्र** इति भक्तिमार्गे वैदिकमार्गत्रये इति वा ॥१७॥

किरात इत्यत्र. आभासे **तृतीयेति.** प्रावाहिकगतिव्यावृत्त्यर्थम् इति अर्थः. तथाच उदासीनस्य अरिवद् वर्ज्यत्वोक्त्या अनधिकारित्व-स्फोरणाद् यथाकथञ्चित् समाश्रयणे उदासीनत्वनिवृत्त्या अधिकारित्व-सम्पादनात् किरातादीनपि कृतार्थयति इति अर्थः. **एकत्र** इति, उद्धार्यकोटौ इति अर्थः. **अन्ये** इति. सर्वथा अनाश्रितास्तु अनुद्धार्यकोटौ इति अर्थः.

---

१. इति वचनादिति ख.

कार्यतश्च दुष्टाः **(यदपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति!)** भक्तसमाश्रयणमात्रेण शुद्धाः भवन्ति = भक्ताः इव भगवत्सेवायोग्याः भवन्ति. **अन्येऽपि पापाः** प्रायश्चित्तानधिकृताअपि. एते[१] नवविधाः गणिताः अष्टदिङ्-मध्यविवक्षया. भक्तद्वाराऽपि माहात्म्यात् **प्रभविष्णुत्वम्**. ''अपपरी वर्जने'' (पाणि.सूत्र १।४।८८) इति ज्ञापनाद् **(अपाश्रयाश्रयाः!)** 'अप'उपसर्गो अतिशयार्थेऽपि वर्तते, व्याप्त्यर्थे वा, परितः इति अर्थे वा. तेन विश्वाधारत्वेन दुष्टानामपि दैत्यादीनां तदाश्रयत्वं निवारितम् ॥१८॥

एवं स्वरूपतः प्रमाणतश्च सर्वसन्देहवारणं कृत्वा फलतः साधनतश्च तस्य माहात्म्यम् आह **सः एषः** इति.

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वरस्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ॥
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभिर्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥१९॥

तत्र प्रथमं साधननिर्धारम् आह **प्रसीदताम्** इति. साधनं भगवत्प्रसादएव, फलं **सएव** —उभयोः **एषः** विनिश्चयः. तद् आह **भगवान् प्रसीदताम्**

प्रकाशः

विवृतौ **प्रभविष्णुत्वम्** इति, प्रकर्षेण सत्तासम्पादकत्वम् इति अर्थः. ननु भगवदाश्रितत्वमात्रेण चेत् शुद्धिः तदा भगवतो विश्वाधारत्वेन दुष्टदैत्यानामपि तदाश्रितत्वात् तेऽपि शुद्ध्यन्ताम् इत्यतः आहुः **अप** इत्यादि **निवारितम्** इत्यन्तम्. तथाच 'अप'नाम अतिशयो अधिकः व्याप्तो वा परितो वा आश्रयः = अपाश्रयः. यो = भगवान् अपाश्रयो येषां ते यदपाश्रयाः (भक्ताः!), तान् आश्रयन्ते इति. **यदपाश्रयाश्रयाः** ते **शुद्ध्यन्ति** इति कथनाद् येषां यथाकथञ्चिद् आश्रयः ते न शुद्ध्यन्तीति 'अपो'पसर्गेण आयाति. **तेन** हेतुना तेषां शुद्ध्या आश्रयत्वं निवारितम् इति अर्थः ॥१८॥

लेखः

अष्टदिङ्-मध्यविवक्षया इति. अष्टौ दिशः तन्मध्यञ्च इति विवक्षया नव उक्ता इति अर्थः. **इति ज्ञापनाद्** इति. ... . **निवारितम्** इति. अतिशयत्वादिना आश्रयाभावाद् इति भावः ॥१८॥

---

१. एतेन विविधा इति घ-ङ.

इति. अन्यत्तु साधनं प्रसादोपक्षीणम्. लोकद्वारा स्वानुभवद्वारा च सर्वाणि शास्त्राणि प्रवृत्तानि. वेदस्याऽपि तत्परत्वेन अर्थो निरूप्यते. तत्र

अधिकारी प्रमाणं च सन्तश्च प्रीतिहेतवः ॥
एतेऽप्यापाततः प्रोक्तास्तस्मात् सम्प्रार्थनं वरम् ॥(११)॥

प्रकाशः

सः एषः इत्यत्र. ननु प्रसादस्यैव साधनत्वे **सः एषः भगवान् प्रसीदताम्** इत्येव वक्तव्यं ; विशेषणान्तराणां किं प्रयोजनम् इत्यतः आहुः **अन्यत्तु** इत्यादि. तथाच साधनान्तरोपक्षय-ज्ञापनमेव प्रयोजनम् इति अर्थः. ननु प्रसादे कथं सर्वसाधनोपक्षयः इति अपेक्षायाम् आहुः **लोके**त्यादि. तथाच लोकादेः [१]भ्रान्तत्वात् प्रमाणाकुलीभावे तदुक्त-साधनानामपि तथात्वात् तत्प्रमित्याद्यर्थं प्रमेयप्रसादएव आवश्यकइति तथा इति अर्थः.

ननु कथम् इदं विनिगन्तव्यम् इति आकाङ्क्षायां कारिकाभ्यां श्लोकार्थं सङ्गृह्य विनिगमनोपायम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **एते** 'आत्मा'दिपदोक्ताः **अधिकार्यादयोऽपि आपाततः** प्रसादहेतवः **प्रोक्ताः**. **तस्माद्** आपातप्रतिपन्नाद् निश्चितं **प्रार्थनमेव** श्रेष्ठम्. तत्र हेतुः **सम्प्रार्थने हि** इत्यादि.

लेखः

स एष इत्यत्र. **लोकद्वारा** इति. लोकानां तत्र शास्त्रे प्रवृत्तिद्वारा तेषां तत्तच्छास्त्रीय-साधनजन्य-फलानुभवद्वारा च प्रवृत्तानि इति अर्थः. प्राचीनानां तत्साधनेषु अप्रवृत्तौ साधनसाध्य-फलसंवादाभावे वा शास्त्राणां प्रवृत्तिः कुण्ठितैव स्याद् इति भावः.

विशेषणानां तात्पर्यं कारिकया ग्राहयन्ति **अधिकारी** इत्यादि. **आत्मात्मवताम्** इत्यनेन **अधिकारी** उक्तः. **त्रयीमयः** इत्यादित्रयेण **प्रमाणं, गतव्यलीकैः** इत्यादिना अज-शङ्करादयः **सन्तः** उक्ताः. तएव जीवानां फलसम्पादनद्वारा **प्रीतिहेतवो** भवन्ति. तथापि **आपाततएव एते प्रीतिहेतवः प्रोक्ताः,** तेषामपि भगवत्सम्बन्धाद् भगवत्प्रसादाद् वा तथासामर्थ्यस्य सिद्धत्वाद् इति भावः. तत् **तस्मात्** कारणात् सर्वसामर्थ्यसम्पादक-भगवत्प्रसाद**प्रार्थनमेव**

---

१. भ्रान्तित्वाद् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

सम्प्रार्थने हि सुमहान् साधनं फलमेव वा ॥
कायादिभिः[१] करोत्येव तस्मात् साधननिश्चयः ॥(१२)॥

तत्र अधिकारिणो द्विविधाः – ये हि भगवत्प्रसादयोग्याः ते **आत्मवन्तः**, **आत्म**शब्देन हि अन्तःकरणम् आत्मा च – तत्र ये आत्मवन्तः तेषाम् **आत्म**त्वेन अयं प्रकाशते, ये पुनः अन्तःकरणवन्तः = यथासुखम् अन्तःकरणं कर्तुं सम्भवन्ति तेषाम् **अधीश्वरः** स्वामी अन्तःकरणप्रेरको वा, स्वसेवां कारयति तद्योग्यं वा करोति इति. प्रमाणं च त्रिविधं श्रुति-स्मृति-पुराणाख्यम्. तत्र प्राधान्येन वेदः इति तेनाऽपि यज्ञः प्रतिपादितः इति यज्ञप्रतिपादकत्वेन **त्रयी** प्रमाणम्. स्मृतीनान्तु धर्मप्रतिपादकत्वेन तत्र अर्थ(/धर्म?)स्यैव प्राधान्याद् **धर्म**प्रयोगः. पुराणन्तु **तपः**प्रतिपादकं; यावन्ति हि फलानि निरूपयति, तपसैव तानि निरूपयति. तत् **(त्रयीमयो धर्ममयः तपोमयः!)** त्रितयरूपोऽपि भगवानेव अर्थतः स्वरूप(त!)श्च. ततः किम् अधिकारेण

प्रकाशः

तस्माद् अत्र श्लोके **साधननिश्चय**एव क्रियते, अन्यथा प्रसादातिरिक्तं साधनान्तरमेव प्रार्थयेद् अतः तथा इति अर्थः (११-१२).

अत्र **आत्मवताम्** इति पदे आत्मा च आत्मा च आत्मानौ, तदुभयवताम् इति अर्थो विवक्षितः इति अभिप्रेत्य आहुः **'आत्म'शब्देन** इत्यादि **करोति** इत्यन्तम्. मयड् अत्र प्राचुर्ये इति अभिप्रायं स्फुटीकुर्वन्ति **तत्त्रितय-** इत्यादि. तेन सिद्धम् आहुः **ततः** इत्यादि. तथाच "यमैवेषः"

लेखः

वरम् इति अर्थः. अस्यैव प्रपञ्चः **सम्प्रार्थने** इत्यादि. **सुमहान् भगवत्प्रसादं साधनं फलं च करोत्येव तस्माद्** हेतोः भगवत्प्रसादरूप-**साधननिश्चयः** सिद्धः इति अर्थः (११-१२).

तदेतद् उपपादयन्ति **तत्र** इत्यादिना. **तत्र** इति प्रमाणे. तत्र भगवत्प्रसादे प्रमाणविचारे शब्दात्मकवेदरूपे नानाप्रकारेण व्याख्याने. **तत्र अर्थस्यैव** इति. स्मृतिषु व्यवहारादिनिरूपणे अर्थस्यैव प्रतिपादनाद् अत्र तद्व्यावृत्त्यर्थं **धर्म**पदम्

---

१. कार्यादिभिरिति ग. कामादिभिरिति ङ.

किं वा प्रमाणेन, उभयोरपि फलकोटावेव प्रवेशात्! सताम् आश्रयणेऽपि तथा, यतः **अजशङ्करादिभिरपि वितर्क्यमेव लिङ्गं यस्य. (गतव्यलीकैः!)** सतां हि पराकाष्ठा ब्रह्मा वा महादेवो वा, तच्छिष्याः तत्पुत्राश्च अन्ये ; तैरपि विशेषेण तर्क्यमेव लिङ्गं यस्य, नतु इदमित्थतया ज्ञेयम्. वितर्कितं[१] हि भवति न भवति च. तेऽपि स्वस्य माहात्म्यमेव दृष्ट्वा भगवत्कृपया तज्जनितमिति, भगवत्साक्षात्कारेण च, तत्स्वरूप-प्रसादयोः निर्णयं कल्पयन्ति— "एतादृशो हि भगवान् एवं प्रसन्नो भवति" इति. तत्र प्रमाणे नानाप्रकारेण निरूपणाद् लोकतश्च तथा प्रतीतेः न तावन्मात्रता

प्रकाशः

(कठोप. १।२।२३) इति श्रुत्या "अनुमृग्यदाशुषे" (श्लो. १३) इति पूर्वं निर्धारणेन च दानं विना अधिकार-प्रमाणाभ्यां तत्फलं न लभ्यते इति दानं प्रसादाधीनमिति तत्रैव सर्वसाधनोपक्षयात् सएव साधनम् इति अर्थः. ननु तर्हि उत्तरकाण्डोक्तया गुरूपसत्त्या लभ्यो अस्तु इति चेत्, तत्र आहुः **सताम्** इत्यादि. तत्र हेतुः **यतः** इत्यादि. **तज्जनितम् इति** इत्यत्र **इति** हेतौ. ननु तेषु प्रसन्नः चेत् प्रत्यक्षोऽभूत् तर्हि तत् तर्कितं फलजनकम् इति निश्चितं ; तथा सति तदुपसादनेन तदुक्तं कर्तव्यं, किं प्रार्थनया इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. तथाच यथा तत्र प्रत्यक्षं

लेखः

इति भावः. **ततः किम् अधिकारेण** स्याद् इति. आत्मनिष्ठानाम् आत्मप्रदत्वेन अन्तःकरणप्रेरकत्वेन च अधिकारस्य भगवन्नियम्यत्वेन भगवत्येव प्रवेशात्, तथा त्रयीमयत्वेन च प्रमाणानां तत्र प्रविष्टत्वाच्च किं पार्थक्येन अधिकारसम्पादनेन प्रमाणसम्पादनेन वा प्रयोजनं, किन्तु सर्वसम्पादक-भगवत्प्रसादएव प्रार्थ्यः इति भावः. तदेतद् आहुः **फलकोटौ** इति. फलकोटित्वे तेन अभिमते[२] भगवति प्रवेशाद् इति अर्थः. **तथा** इति. तद्विचारेऽपि प्रसादएव प्रार्थनीयत्वेन सिद्ध्यति इति अर्थः. तद् उपपादयन्ति **यतः** इत्यादि.

---

१. तर्कितमिति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-ङपाठानुसारेण - सम्पा.

२. न.पाठानुसारेण. अभिमतत्वे इति ग.पाठे - सम्पा.

इति निश्चीयते. तेतु ''शब्दात् प्रत्यक्षं बलीयः'' इति विशेषेण तर्कयन्ति. तस्माद् एवम् अवगम्यते— भगवानेव प्रसादं (च!) प्रार्थनीयो, न अन्यद् न अन्योऽपि ॥१९॥

तस्मात् प्रार्थनायां सम्भवन्त्यां[१] न अन्यत् कर्तव्यम् इति सिद्धं, यदि प्रार्थनायां भगवान्[२] न क्रुध्येत्. लोके हि अनधिकारी प्रार्थयन् क्रोधम् उत्पादयति. यद्यपि प्रसादस्य साधारण्याद् अन्यस्य अप्रार्थितत्वात्

प्रकाशः

गमकं, तदतिरिक्तस्वरूप-तत्प्रसादप्रकाराणां शब्दो गमकः इति प्रमाणयोः परस्परविरोधे प्राप्ते – विहितकरणेनैव तेषां तथासामर्थ्यात् तत्प्रत्यक्षस्य शब्दोपजीवकतया न तद्बाधनसामर्थ्यं, तस्य कार्यलिङ्गकानुमान-गृहीतत्वात् शब्दो न तं बाधितुं शक्नोतीति – समानबलतायाम् उभयसामञ्जस्यार्थं स्वरूप-साधनयोः तावन्मात्रत्वाभावो निश्चीयते इति अर्थः. ननु यदि एवं स्यात्, ते तावन्मात्रत्वाभावम् अवगच्छेयुः, ततः च न कल्पयेयुः, अतो न एवम् अतः आहुः **ते तु** इत्यादि. तथाच तेषाम् एकसाधनकत्वाभावात् तद्विकल्पे प्राप्ते [३]व्यवस्थापकत्वाभावाद् ''मम केन साधनेन प्रसादः'' इति अनिश्चये प्रसादप्रार्थनमेव युक्तम् इति अर्थः. तदेतद् हृदिकृत्वा आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **तस्माद्** इति प्रसादसाधनेषु स्वोपकारकत्वेन एकतरस्य अनिश्चयात्. फलितम् आहुः **तस्मात् प्रार्थनायाम्** इत्यादि. **तस्माद्** इति, एवं शास्त्र-तर्काद्यालोचने प्रार्थनायाएव उपकारकत्वनिर्णयात् ॥१९॥

श्रियः पतिः इत्यत्र. प्रसादप्रार्थनायाम् अधिकारिणं निश्चेतुं श्लोकम् अवतारयन्ति **यदि प्रार्थनायाम्** इत्यादि. **साधारण्याद्** इत्येतस्यैव विवरणम्

लेखः

प्रसादं प्रार्थनीयः न अन्यद् इत्यादि. प्रसादातिरिक्तं साधनं, भगवदतिरिक्तः फलदाता च न प्रार्थनीयः इति अर्थः ॥१९॥

साधारण्याद् इति. प्रसादत्वेन प्रसादसामान्यमेव प्रार्थ्यते, नतु

---

१. सम्भवत्यामिति क-ख-घ-ङ. २. भगवान्क्रुध्येदिति क-घ-ङ.

३. व्यवस्थापकाभावाद् इति मा.पाठे - सम्पा.

क्रोधो न सम्भवति तथापि सामान्येऽपि अनधिकारिणं प्रति तद् भवत्येव. अतः तन्निर्णयार्थं प्रार्थनायोग्यं रूपम् आह **श्रियः पतिः** इति.

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।।
पतिर्गतिश्चाऽन्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ।।२०।।

पतिः प्रार्थनीयः इति अविवादं, क्रुध्यतु मा वा. तद् येषां पतिः तैः प्रार्थनीयः. तत्र प्रथमं षड्विधानां पतित्वं निरूपयति. प्रथमं **भगवान् (श्रियः पतिः!)** लक्ष्मीपतिः. ततो लक्ष्म्यंशैः स्त्रीभिः प्रार्थितो न क्रुध्यति. अनेन स्नेहमार्गानुवर्तिभिः अन्यैरपि प्रार्थितो न क्रुध्यति. एवं **यज्ञपतिः** यज्ञपुरुषैः प्रार्थितो न क्रुध्यति. अतएव ‘‘यज्ञे[१] यज्ञे यत् कामयते’’ (. । ।) इति बहुधा वचनं भगवत्पतित्वज्ञापकम्. किञ्च **प्रजापतिः** ये केवलं लौकिकाः प्रजामात्ररूपाः प्रकर्षेण जाताः वा तेषां पतिः ; साधारणैरपि प्रार्थ्यः अल्पविशेषैरपि. किञ्च **धियां पतिः** ये

प्रकाशः

अन्यस्य अप्रार्थितत्वाद् इति. **सामान्येऽपि** इति, प्रसादे इति अर्थः. **रूपम्** इति प्रार्थनीयस्य धर्मम्. **तद् येषाम्** इत्यादि. तथाच ये पतित्वेन भगवन्तं न अनुसन्दधते तएव अनधिकारिणः इति तादृशैरेव प्रसादप्रार्थने क्रोधः, न इतरान् प्रति इति बोधनाय मन्दादीन् त्रिविधाऽनधिकारिणः क्रमेण वदन् तत्र प्रथमं मन्दानां पतिः इति निरूपयति इति अर्थः. **भगवत्पतित्वज्ञापकम्** इति, भगवतः सर्वयज्ञपतित्व-ज्ञापकम्. तथाच एवम् अनुसन्धाय प्रार्थने भगवतो न क्रोधः इति अर्थः. **‘‘यत् कामयेत’’** इति पाठे यत्-तदोः नित्यसम्बन्धात् तद् इत्यस्य अध्याहारः. **अल्पविशेषैः** इति उत्तमकुलोत्पन्नादिरूप-प्रकर्षयुक्तैः. **फलमुखता** इति प्रार्थनायाः फलमुखता.

लेखः

यत्किञ्चित्कामपूर्त्यर्थं तद्विशेषोऽपि इति अर्थः. **अन्यस्य** इति, विशेषणस्य इति अर्थः. **तद्** इति, क्रोधादिकम् इति अर्थः.

---

१. यज्ञे यः कामयेत इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ख-ग-घ-ङपाठानुसारेण - सम्पा.

केचित् कामपि बुद्धिं जानन्ति – क्रियायां ज्ञाने वा, शब्दतो[१] अर्थतो वा – तैरपि प्रार्थनीयः. किञ्च **लोकपतिः** स्वर्गादिलोकानां पतिः अतः तद्गतैरपि प्रार्थनीयः. ततो **धरायाश्च पतिः** अतो भूमिष्ठैरपि प्रार्थनीयः.

स्त्रीभिश्च याज्ञिकैर्लोकैर्बुद्धिमद्भिः स्थितैः क्वचित् ॥
असाधनैरपि ह्येतैः प्रार्थनीयो हरिः पतिः ॥(१३)॥

किञ्च **अन्धक-वृष्णि-सात्वतां पतिः गतिश्च.** पूर्वं भगवत्प्रार्थनायोग्यता निरूपिता, इदानीं फलमुखता निरूप्यते. **पतिः** फलं, **गतिः** स्वनिष्ठं साधनम्. तत् चेत् फलं स्वनिष्ठत्वे सति साधनतां भजते[२] तदा फलोपभोगो भवति. नहि स्वसुखे दूरस्थः असाधनं वा स्वतन्त्रो वा तस्यां क्रियायां हेतुः भवति. तद् भगवान् यादवैः प्रार्थितः पतिः सन् तेषां क्रियारूपोऽपि जातः. अतो अनेन यावत् कर्तुं शक्यते तावत् तेषां भवति. अतः

प्रकाशः

स्वनिष्ठत्वे सति साधनताम् इति, उपभोग्यनिष्ठत्वे[३] सति उपभोगसाधनताम्. तत्र गमकं **न हि** इत्यादि. **स्वतन्त्रः** इति उदासीनः. **क्रियारूपोऽपि जातः** इति. तथाभवनं च वृद्धानां युवत्यादिना भगवदवतारोत्तरं केवलानामपि सात्यकिप्रभृतीनां "सौवीरराजमहिषीं भोजां नामाहरद् बलाद्" (द्रष्ट.महाभा. ७।१०।३३)[४] इत्यादिषु भारतीयवाक्येषु पराक्रमवर्णनाद् ज्ञेयम्. **अतः** इति

लेखः

श्रियः पतिः इत्यत्र. **तत् चेत् फलम्** इत्यादि. पतित्वेन फलरूपोऽपि भगवान् यदि अधिकारि**निष्ठत्वे सति साधनतां भजते तदैव** अधिकारिणः **फलोपभोगो भवति,** अन्यसाधनासाध्यत्वाद् इति भावः. तदेव **स्पष्टम्** आहुः **न हि** इत्यादि. **क्रियारूपो जातः** इति, साधनीभूत-गतिक्रियारूपो जातः इति अर्थः ॥२०॥

---

१. शब्दादर्थतो वा इति ग. शब्दार्थतो इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

२. भजेतेति घ. भजेदिति ङ. ३. उपभोज्य- इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः एवम् - सम्पा. ४. "यस्तु सौवीरराजस्य प्रमथ्य महतीं चमूम्, आदत्त महिषीं भोजां काम्यां सर्वाङ्गशोभनाम्" - सम्पा.

फलमुखपतित्वम् अत्र सिद्धमिति क्रोधसम्भावनाऽपि दूरे. **चकारात्** क्रियासाध्यरूपश्च. त्रिविधाः हि यादवाः गणिताः, तामस-राजस-सात्त्विकपुरुष-भजनीयत्वं निरूपयितुम्. किञ्च यत्र गुणव्याप्तैरपि भगवान् प्राप्यते प्रार्थ्यते च तत्र अस्मदादीनां का चिन्तेति प्रसीदतां मे इति आह **मह्यं प्रसीदताम्** इति. किञ्च **सताम्** अयं **पतिः** ये भगवत्येव सन्ति – गुणेषु प्रविष्टाः गुणद्वारा भगवदाश्रयाः – तेषान्तु पतिरेव. अन्यान् प्रति औपचारिकं पतित्वं ; युक्त्या शास्त्रेण च सतामेव पतिः. अतोऽपि मह्यं प्रसीदताम् इति भावः ॥२०॥

ननु भगवद्गुणेषु पृष्टेषु तत्कथनं परित्यज्य भगवत्प्रार्थना कुत्र उपयुज्यते ? तत्र आह.

यदङ्घ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया धिया नु पश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ॥
वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥२१॥

यदङ्घ्र्यनुध्यानेति, केवलं भगवत्प्रार्थनाव्यतिरेकेणाऽपि अङ्घ्र्यनुध्यान-मात्रेणैव आतपाद्यवस्थानेऽपि **समाधौ (धौतया!)** प्रक्षालनमात्रेणैव **यत्** सर्वप्रमाणैरपि स्पृष्टं[१] न भवति तादृशम् **आत्मतत्त्वं** भगवत्स्वरूप-याथात्म्यं **(धिया!) पश्यन्ति.** बुद्धिः स्वभावतो वस्तुप्रकाशिका. सा स्वावरणाद्

प्रकाशः

एवं कृपाकरणात्. **क्रियासाध्यरूपः** इति जन्यफलरूपः. **गुणेषु** इति, भगवदीयेषु गुणेषु लीलासु च. **औपचारिकम्** इति. दूरस्थतया प्रार्थितदानाद् अक्रोधाच्च तथा इति अर्थः ॥२०॥

यदङ्घ्र्यनुध्यान इत्यत्र. **प्रक्षालनमात्रेण** इति बुद्धिप्रक्षालनमात्रेण. **स्पष्टं[२] न भवति** इति, अधोक्षजत्वेन लौकिकप्रमाणागम्यत्वाद् वेदे च अनिरुक्तत्वश्रावणात् तथा इति अर्थः. बुद्धिः अत्र ज्ञानजनकं पदार्थान्तरम् इति अग्रे स्फुटीभविष्यति. तत्र केन प्रकारेण पश्यन्ति इति आकाङ्क्षायाम् उपपादयन्ति **बुद्धिः** इत्यादि. ननु बुद्धेः वस्तुप्रकाशक-स्वभावत्वे तेनैव विषययाथात्म्यस्फूर्ति-सम्भवाद् बुद्धिक्षालनस्य को वा अत्र उपयोगः इति

---

१. स्पष्टमिति घ-ङ-प्रकाशे - सम्पा. २. स्पृष्टम् इति कि.पाठे - सम्पा.

विषयावरणाद् (वा!) उत्पन्नाऽपि न विषयं प्रकाशयति ; इन्द्रियाणाम् आवरणे न उत्पद्यतएव. विषयमात्रं बुद्ध्युत्पत्तौ कारणत्वेन मृग्यते, नतु[1] यत्प्रकारिका बुद्धिः तद्विशिष्टं, रजतादिभ्रमानुपपत्तेः. अतो विषयमात्रं पुरस्कृत्य सामग्र्यन्तरवशाद् वस्तुनो याथात्म्यम् अयाथात्म्यं वा बोधयति. तत्र शुद्धा वस्तुनो याथात्म्यं गृह्णाति. अत्र भगवच्छास्त्रे सर्वेषां पदार्थानां नित्यत्वात् कारणत्वेन अभिमतैः अभिव्यक्तीक्रियते – एकः च[2] पदार्थो न जाति-व्यक्ति-विभेदकल्पना. एकएव घटो अनेकधा भवति, आविर्भवति, तिरोभवति च – पदार्थानां सर्वेषां भगवत्त्वात्. तथा शब्दानां नित्यतातु

प्रकाशः

आहुः **सा** इत्यादि. **सा उत्पन्नापि** इत्येवं योजना. **स्वावरणाद् विषयावरणाद्** इति, स्वावरणकृताद् विषयावरणात्. बुद्ध्यावरणञ्च मायाकृतव्यामोह-विषयतादिकृतं ज्ञेयं, तत् च नवमाध्याये स्फुटीभविष्यति. तथाच बुद्ध्यावरण-तिरस्कारार्थं क्षालनम् आवश्यकम् इति अर्थः. ननु इन्द्रियाणां बुद्धिजनकत्वात् तान्येव क्षालनीयानि ; किं तस्याः क्षालनेन इत्यतः आहुः **इन्द्रियाणाम्** इत्यादि. तथाच क्षालितेषु तेषु बुद्धिमात्रम् उत्पत्स्यते, नतु यथार्थबुद्धिः इति तत्क्षालनं न अत्र उपयुज्यते इति अर्थः. ननु शुद्धेषु इन्द्रियेषु जाते च विषयसन्निकर्षे तद्विषयक-बुद्धौ उत्पन्नायां कुतो न याथात्म्यस्फूर्तिः इत्यतः आहुः **विषयमात्रम्** इत्यादि. तथाच तादृशभ्रमदर्शनेन बुद्धिक्षालनाभावादेव न याथात्म्यस्फूर्तिरिति तद् आवश्यकम् इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** बुद्धित्वेन विषयत्वेन कार्यकारणभावात्. **सामग्र्यन्तरवशात्** स्वगतेन्द्रियगत[3]-गुणदोषवशात्. **तत्र** शुद्धसामग्री-समवधाने. ननु बुद्धेः त्रिक्षणावस्थायित्व-नियमेन क्षणान्तरे नाशात् कृतमपि क्षालनम् अप्रयोजकम् इत्यतः आहुः **अत्र** इत्यादि. तथाच तस्याः स्थिरत्वाङ्गीकारात् तद् आवश्यकमेव इति अर्थः. ननु जाति-व्यक्त्योः भेदाभावे घटपटाद्यनुगताकारप्रतीति-बाधप्रसङ्गः इत्यतः आहुः **एकएव** इत्यादि. यथा घटानयनाऽपसारण-पौनःपुन्ये एकेनैव प्रतीतिसिद्धिः तथा अनेकधा भवनेऽपि

१. ननु यदिति ख. २. एव इति प्रकाशे - सम्पा. ३. 'गत'स्थाने 'गण'पाठः.

प्रकाशः

इति प्रतीत्यबाधः इति अर्थः. नच विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्व-नियमेन जात्यभावे घटत्व-ज्ञानाभावाद् "घटो अयम्" इति ज्ञानानुदयप्रसङ्गः इति वाच्यम्, इन्द्रियेण पदार्थज्ञानोत्तरं शब्दसंस्कारादि-सहकृतया बुद्ध्या पृथुबुध्नोदराद्याकारे निश्चिते तम् आदाय सुखेन उदयसम्भवात्. नच प्रतीतौ विलम्बाभावाद् न एवम् इति वाच्यम्, अभ्यासादेव सिद्धेः. अतएव प्राथमिकप्रतीतौ विलम्बोऽपि युज्यते. केवलविशिष्टज्ञानस्थले अतीन्द्रियस्य विशेषणज्ञानस्य स्वीकारे मानाभावाद् न तेन अविलम्बसिद्धिः. ननु जात्यभावे सामान्यप्रत्यासत्तेरपि अभावाद् घटत्वेन रूपेण सकलघट-ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः! नच इष्टापत्तिः कर्तुं शक्या, धूमत्वेन वह्नित्वेन (सामान्य) व्याप्तिग्रहे तदुपयोगाद् इति चेद्, न, एकस्यां व्यक्तौ धूम-वह्नि-व्याप्तिग्रहे जाते तस्य ज्ञानस्य स्थिरत्वेन भूयोदर्शनाद् दाढर्ये सति पुनः धूमान्तरेण तद्बोधनाद् निर्वाहे सामान्यव्याप्ति-ग्रहस्य अनावश्यकत्वात्. तदावश्यकत्वेऽपि समानाकार-त्वम् आदायैव सामान्यव्याप्ति-ग्रहसम्भवादपि न जात्यपेक्षा इति. एवञ्च शक्यतावच्छेदकत्वमपि आकारस्यैव ज्ञेयम्. सच आकारो ज्ञाने प्रकाशात्मा, इच्छायाम् आशंसात्मा, सुवर्णे विलक्षणरूपात्मा, घटे पृथुबुध्नोदराद्यात्मा —इत्येवमादिरूपः ऊह्यः. तेनैव च शक्तिग्रहस्मरणम् इति न काचिद् अनुपपत्तिः. एवञ्च 'त्व'प्रत्ययोऽपि आकारमेव वक्ति ; सत्तापि सदाकारएव, पदार्थोऽपि व्यक्त्याकृतीएव इत्याद्यपि ज्ञेयम्. अतएव चित्रकेतूपाख्याने अङ्गिरोवचने "देहदेहिविभागोऽयम् अविवेककृतः पुरा, जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः" (भाग.पुरा. ६।१५।८) इति उक्तम्. ननु शब्दोत्पत्ति-नाशयोः सार्वजनीनत्वात् पदार्थमात्र-नित्यत्वन्तु असम्भवि, तथाच अर्धजरतीयापत्त्या किम् अन्तर्गडुना नित्यत्वेन इत्यतः आहुः **तथा शब्दे**त्यादि. यथा अन्येषाम् एकत्वेऽपि अभिव्यञ्जक-तारतम्येन ह्रस्व-दीर्घ-स्थूल-सूक्ष्म-गुरु-लघ्वादिरूपेण अभिव्यक्तिः तथा शब्दैक्येऽपि शब्दाभिव्यञ्जक-व्यापार-तारतम्येन ह्रस्व-दीर्घादि-क-खाऽऽदिरूपेण अभिव्यक्त्या अन्यतिरोभाववत्

सर्वैरेव अभियुक्तैः कात्यायनादिभिः व्यवस्थापिता इति न अस्माभिः अत्यन्तं निरूप्यते. ''नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे'' (पातं.महाभा. १।१।१) इति, ''नित्ये शब्दे अर्थसम्बन्धे'' इति च विवरणम्. आश्रयाभावे च जाति-सम्बन्धयोः स्थितिकल्पना[१] अत्यन्ताऽप्रामाणिकी. दृष्टस्य पदार्थस्य याथात्म्याज्ञाने शास्त्रतः तद् अवगम्यते. अतः एकएव घटो भगवत्त्वाद् अनेकधा भवति इति ''स एकधा भवति'' (छान्दो.उप. ७।२६।२) इत्यादिश्रुतिबलाद् अनुपपत्तौ निवृत्तायां स्वबुद्धिदोषाद् अन्यथाकल्पनं न प्रामाणिकं, बहुकल्पनापत्तिश्च. अतः एकैव बुद्धिः बहुधा परिमृज्यमाना शोधकद्रव्यसंयोग-सङ्घर्षणेन निर्मला

प्रकाशः

तिरोभावेन[२] च प्रतीत्युपपत्तेः. इदं यथा तथा प्रस्थानरत्नाकरे व्युत्पादितम् अस्माभिः. **शब्दानां** पदार्थान्तरतुल्यानां **नित्यता तु सर्वैरेव अभियुक्तैः** तथा इति ततएव प्रमातव्या इति अर्थः. तदुक्तां सम्मतिम् आहुः **नित्ये**त्यादि. दूषणान्तरम् आहुः **आश्रये**त्यादि. नष्टायां व्यक्तौ जातिः समवायश्च व्यक्त्यन्तरे तिष्ठतः, सर्वव्यक्तिनाशे तु कालादिषु काले वा तिष्ठतः — इत्येतद्गमकस्य प्रमाणस्य अभावाद्, अनुगतप्रतीतेः आकारेणैव निर्वाहाद्, महाप्रलये च ज्ञानसामग्रीलयेन तत्सत्ता-ग्राहकाभावात् तथा इति अर्थः. ननु प्रत्यक्षापेक्षया शब्दस्य दुर्बलत्वात् शब्दमात्रेण प्रत्यक्षविरुद्धं न अङ्गीकर्तुं शक्यम् इत्यतः आहुः **दृष्टे**त्यादि. तथाच यथा दृष्टस्य मण्यादेः पदार्थस्य केवलप्रत्यक्षेण याथात्म्याज्ञाने शास्त्रतः तदवगतेः प्रत्यक्षस्य दौर्बल्यं तथा अत्रापि शब्दापेक्षया प्रत्यक्षस्य दौर्बल्यम् इति अर्थः. फलितम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** प्रमाणान्तराऽनपेक्षस्य शास्त्रस्य बलवत्त्वाद् इति. अस्मिन् अर्थे ''स एकधा भवति त्रिधा च नवधा'' इत्यादि छान्दोग्यश्रुतिबलात् तथा इति अर्थः. अनेकपदार्थकल्पने गौरवरूपं दूषणान्तरमपि आहुः **बहु** इत्यादि. **बहुकल्पना**श्च अनेकव्यक्ति-तत्तद्ध्वंस-प्रागभावादीनां ज्ञेयाः. सिद्धान्तम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** कल्पनालाघवात् प्रामाणिकत्वाच्च. ननु एवं सति शास्त्रेणैव बुद्धिः

---

१. स्थितिकल्पनात्यन्ता प्रामाणिका दृष्टस्येति ग-घ.

२. 'न' इति अत्र अधिकं कि.-मा.पाठयोः - सम्पा.

भवति दर्पणवत्. तथा भगवच्चरणारविन्दद्वयं बुद्धौ संयोज्य सङ्घर्षणे क्रियमाणे शुद्धिविशेषं प्राप्नोति. शोधकद्रव्याणां तारतम्येन मलनिराकरणं शास्त्रसिद्धं, अञ्जनादिषु तथा प्रसिद्धेः. यथा अञ्जनविशेषे गोलकसंयुक्ते ततो निर्गता दृष्टिः देवानपि पश्यति तथा अत्राऽपीति न काऽपि अनुपपत्तिः. अन्या तु वस्तुनो याथात्म्यं न बोधयति, दोषावृतत्वात्. यथा यथा दोषनिवृत्तिः तथा तथा वस्तुयाथात्म्य-स्फूर्तिः. अतएव अभ्यास-सूक्ष्मेक्षिकादीनाम् उपयोगः. विषये तु दोषो नास्त्येव, सुतरां भगवद्विषये आत्मविषये च, "अपहतपाप्मत्वादि[1]" (सुबालोप. ७।१) श्रुतेः. **नु** इति निश्चयेन. **अनुध्यानं** नाम तत्परतया चिन्तनं ; तथा चिन्तनेनाऽपि

प्रकाशः

शुद्ध्यताम्, किं चरणारविन्दानुध्यानेन इत्यतः आहुः **शोधके**त्यादि. **तथा अत्रापि** इति बुद्धावपि. बुद्धिः भगवच्चरणारविन्दानुध्यान-सिद्धा[2] सती भगवत्स्वरूप-याथात्म्यं पश्यति इति अर्थः. **दोषावृतत्वाद्** इति. दोषाश्च काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यादयः आन्तराः ज्ञेयाः. **अतएव** इति, बुद्धिशोधकत्वादेव इति अर्थः. ननु अभ्यासादिना बुद्धिशुद्धावपि विषयदोषेण भ्रमादिदर्शनाद् विषयशोधनं विना केवलधी-शोधनं न अतीव उपयुज्यते इत्यतः आहुः **विषये**त्यादि. **विषये** शुक्त्यादौ **दोषो** भ्रमजनको **नास्त्येव.** यदि सः स्याद्, विशेषदर्शनोत्तरमपि भ्रमम् उत्पादयेत्. विशेषदर्शनोत्तरं भ्रमानुत्पादनाद् न तत्र सः दोषः किन्तु तत्रापि बुद्धिदोषएव भ्रमोत्पादकः इति बुद्धिशोधनम् उपयोग्येव इति अर्थः. एतेन [3]इन्द्रजाल-कौचुमारादयोऽपि व्याख्याताः ज्ञेयाः. ननु "यदेवाप्रतिरूपं पश्यति" (बृहदा.उप. १।३।४) इत्यादि श्रुत्या विषये अप्रतिरूपत्व-बोधनात् कथम् एकान्ततो विषयस्य निर्दुष्टत्वम् इत्यतः आहुः **सुतराम्** इत्यादि. तथाच ज्ञानिदशायाम् इन्द्रियाणां पाप्मविद्धतया अप्रतिरूपत्वं भासतां नाम, तथापि प्रस्तुतविषये तदापि तदसम्भवाद् अदुष्टत्वमेव इति अर्थः. ननु कपिलादिवाक्यादपि

---

१. अपहतपाप्मत्वादिति ख-घ. पाप्मत्वादिति घ-ङ.

२. शुद्धा इति मा.पाठे - सम्पा. ३. कौचुमारयोगः = बहुरूपधारणकौशलम् - सम्पा.

तदात्मकता भवतीति **समाधिः**, नतु योगसम्बन्धी. किञ्च **एतद्** आत्मतत्त्वं **कविभिः (यथारुचं वदन्ति!)** यथाबुद्धि[१] निरूप्यते. **कविपदेन** च उत्प्रेक्षासामर्थ्यं बोधितं ; कश्चित् कथञ्चिद् उत्प्रेक्षते, वदति च तथा. अतो न वाक्याद् लौकिकाद् वस्तुयाथात्म्य-स्फूर्तिः. किञ्च **भगवान् मुकुन्दो** मोक्षदाता, वस्तुयाथात्म्य-स्फूर्तिः मोक्षाङ्गम्. तच्च तदैव सम्पद्यते यदा भगवान् मोक्षं दातुम् इच्छति, इच्छा पुनः अङ्घ्र्यनुध्यानेनैव भवति[२] इति. तस्माद् यः कश्चिद्[३] यत्किञ्चिद् ज्ञातुम् इच्छति तत्र भगवान् प्रार्थनीयः सकलतत्सिद्ध्यर्थम्. गुणाअपि ज्ञाताएव वक्तव्याः, ज्ञानसाधनञ्च अङ्घ्र्यनुध्यानम्. न केवलं तावन्मात्रमेव किन्तु प्रार्थनासहितं ; भगवतः स्वतन्त्रत्वाद् न अनुध्यानमात्रेण तथा कर्तुम् इच्छति[४]. अतः आह **प्रसीदताम्** इति. यद्यपि भागवतनिर्माणे विषयप्रचारार्थं प्रसादो जातएव तथाऽपि **(मे!)** अस्मदर्थं पुनः भवतु, स्वस्याऽपि रससिद्ध्यर्थम् ॥२१॥

इदानीं सामान्यतः प्रसादं प्रार्थयित्वा प्रकृतोपयोगिप्रसादं प्रार्थयितुम् अस्य प्रसादावश्यकत्वम् आह **प्रचोदिता येन** इति.

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताऽजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ॥
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलाऽऽस्यतः
स मे हृषीकेशः हरिः प्रसीदताम् ॥२२॥

प्रकाशः

वस्तुयाथात्म्य-ज्ञानसिद्धेः किम् अङ्घ्र्यनुध्यानेन इत्यतः आहुः **किञ्च** इत्यादि. **अतः** परस्परविरुद्धत्वात्. **तस्माद्** अङ्घ्र्यनुध्यान-प्रतिबन्धनिवृत्तेरपि भगवत्कार्यत्वात् ॥२१॥

---

१. यथाबुद्धिरिति क. २. भविष्यतीति घ-ङ. ३. यः क्वचिदिति क.

४. अत्र "केवलं प्रार्थनाव्यतिरेकेणापि अङ्घ्र्यनुध्यानमात्रेणैव" इति उपक्रमाद् "न केवलं तावन्मात्रमेव किन्तु प्रार्थनासहितम्" इति उपसंहारवाक्ये विरोधाभासो प्रतीयते. तत्र अङ्घ्र्यनुध्यान-प्रतिबन्धक-निवारणं भगवत्प्रार्थनां विना न सम्भवतीति आशयेन भगवत्स्वातन्त्र्यप्रतिपादनम् - सम्पा.

अवश्यम् इन्द्रियव्यापारे कर्तव्ये भगवान् प्रार्थनीयः, तत्रापि वाग्विषये, तत्रापि भगवदीयपदार्थ-वाचके. यतो ब्रह्मणाऽपि **(पुरा!)** पूर्वं भगवद्ध्यानात् प्रार्थितो भगवान् तस्य ब्रह्मणो **(हृदि स्वलक्षणा सरस्वती!)** हृदये प्रविश्य स्वप्रकाशिकां वेदरूपां वाणीम् **आस्यतो (प्रादुरभूत्!)** निष्काशितवान्. अतो भगवद्गुणेषु वक्तव्येषु नित्यवाण्यैव तद् भवतीति प्रकृते भगवत्प्रार्थना आवश्यकी. ननु योगेन पदार्थान् स्मृत्वा तद्वाचकपदानाम् उपनिबन्धने सम्भवति किं भगवद्ध्यानेन? इत्यतः आह **अजस्य**[१] ब्रह्मणः **हृदि सतीं स्मृतिं वितन्वता** इति. वाक्यार्थ-वाक्ययोः नित्यत्वेऽपि पूर्वम्[२] अनुभूतेऽपि स्मरणम् आवश्यकम्. स्मरणमात्रं च न प्रमाणम् इति स्मृतपदार्थानुभवसहिता सा अपेक्षिता, योगवद् भगवद्ध्यानस्याऽपि प्रत्यासत्तित्वात्. अतो अन्तःकरणे प्रथमं **सतीं** भगवदनुभवसहितां **स्मृतिं** पूर्वानुभूतानां भगवदीयानां पदार्थानां निर्माणाय[३] पश्चात् तेनैव **हृदा (प्रचोदिता!)** भगवत्प्रेरितेन अन्तर्वेदप्रादुर्भावात् पुनः **(स्वलक्षणा सरस्वती!)** भगवत्प्रेरिता वाणी **आस्यतो (प्रादुरभूत्!)** निर्गता. नहि भगवद्भार्या स्वतो बहिः निर्गन्तुं शक्नोति ; इयमपि वार्ता वक्तुम् अयुक्ता

प्रकाशः

प्रचोदिता इत्यत्र. **तद् भवति** इति गुणानुकथनं भवति. **आवश्यकम्** इति, तेन विना कार्यजननादर्शनात् तथा इति अर्थः. सर्वपदार्थानां तिरोहितत्वे तद्विषयकानुभवाभावात् तत्स्मृतिः भवतु परन्तु तदानीं भगवतोऽपि अगोचरत्वात् तदनुभवः कथं भवति इति अपेक्षायाम् आहुः **योगवद्** इत्यादि. इदञ्च **वितन्वता** इत्यस्य तात्पर्यं, वितानस्य सजातीयसंवलनएव दर्शनाद् इति. **तेन** इति सानुभवेन स्मरणेन. **हृदा** इति मनसा. तथाच अनुध्यानात् प्रार्थितेन भगवता स्मृतिविताने वाक्प्रेरणे च कृते नित्यवाणी-प्रादुर्भावो ब्रह्मणो अभूद्, न केवलयोगेन, इति भगवद्ध्यानम् आवश्यकम् इति भावः. ननु कथम् एवं भगवतः प्रेरणावश्यकता इत्यतः आहुः **न हि**

---

१. अस्येति क-ग-घ-ङ. २. पूर्वमनुभूतत्वेऽपीति क-ख. ३. निर्मायेति ग-घ-ङ.

इति आशङ्क्य **किल (स्वलक्षणा!)** इति आह. स्वस्य लक्षणमिव लक्षणं यस्याः नित्यत्व-ब्रह्मशब्दवाच्यत्वाऽनन्तत्वादिरूपम्[१]. अथवा स्वयमेव लक्षणं यस्याः, वेदानाम् इदमेव असाधारणचिह्नं यद् भगवानेव वाच्यः इति. अतः पूर्वानुभूतस्मरणे तद्द्वारा निर्गमेऽपि **(हृषीकेशः हरिः!)** सर्वेन्द्रियप्रेरको भगवान् **प्रसीदताम्** ॥२२॥

एवं शब्दानां भगवदधीनत्वेन तत्प्रादुर्भावार्थं भगवत्प्रार्थनाम् उक्त्वा, अर्थोऽपि भगवदधीनइति अस्मन्मुखनिर्गतायां वाचि भगवान् पतिः अलङ्करणरूपेण प्रविशताम् इति प्रार्थयते **भूतैः महद्भिः** इति.

स्थितिर्भोगश्च सर्वत्र भगवत्कर्तृकौ यतः ॥
अतो वाचि स्थितः कृष्णस्तां भुङ्क्तामिति कामना ॥(१४)॥

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभुः
निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः ॥
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे ॥२३॥

यद्यपि विराट्पुरुषएव तथा प्रक्रिया सर्वत्र प्रसिद्धा तथापि – पुरुषत्वाविशेषात्, स्वस्य भगवत्त्वं भगवतैव साधितम् इति ज्ञापनार्थं, भगवतएव इदं शरीरम् इति अभिमानाभावार्थं वा – व्यष्टिष्वपि समष्टिवत् प्रक्रियाम्

प्रकाशः

इत्यादि. अयम् अर्थः **सरस्वतीपदेन** सूच्यते. **किल** इति आश्चर्ये. **अतः** इति, प्रेरणस्य अवश्यम् अपेक्षितत्वाद् इति अर्थः ॥२२॥

भूतैः इत्यत्र. कारिकायां **सर्वत्र** इति, सर्वदेहेषु इति अर्थः (१४). विवृतौ **सर्वत्र** इति श्रुति-पुराणेषु. **स्वस्य** इति शुकस्य. **अतएव** इति

लेखः

भूतैः महद्भिः इत्यत्र. लोकसङ्ग्रहार्थं कारिकया गृह्णन्ति **स्थितिः** इत्यादि. **ताम्** इति. **तां** सकलवैभवरूपां वाचं **कृष्णएव** तत्पतिः भुक्तभोगां कुरुताम् इति अर्थः (१४). **तथा प्रक्रिया** इति, सर्वपदार्थभोगानुकूला

---

१. ब्रह्मशब्दवाच्यानन्तत्वादिरूपमिति क-ग-घ-ङ.

आह. **भूतैः महद्भिः** पञ्चमहाभूतैः स्वनिर्मितैरेव **इमाः** देव-तिर्यङ्-मनुष्यादिरूपाः **(पुरो विभु निर्माय!) अमूषु** पूर्षु[१] **(पूरुषः!)** स्वयमेव **शेते.** अन्यथा स्वस्य पुरुषत्वमेव न स्यात्, "पुरि शेते" (निरुक्त १।४।१२) इति व्युत्पत्त्या हि सः (पुरुषः!). इदं हि शयनं न निद्रारूपं किन्तु सम्भोगार्थमेव[२]. अतएव दक्षिणेऽक्षिण इन्द्र इतरत्र इन्द्राणी इति उपाख्यानम् (द्रष्ट. शतपथब्रा. १०।५।२।९) एतत्परमेव भवति. अत्र च सुप्त्वा न केवलं स्पर्शमात्रम् उपभुङ्क्ते किन्तु **षोडशाऽपि गुणान्** भोगेऽपि **षोडशात्मको** भूत्वा **भुङ्क्ते,** जडे शुष्के रसाभावात्.

प्रकाशः

सम्भोगार्थत्वादेव. **दक्षिणे अक्षिण इन्द्रः** इति उपाख्यानं च वाजसनेयिनां मण्डलब्राह्मणे प्रसिद्धम्. तत्र च "स एष एव इन्द्रो योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषो अथ इयम् इन्द्राणी ताभ्यां देवा एतां विधृतिम् अकुर्वन् नासिकां तस्माज्जायाया अन्ते न अश्नीयाद्" (शतपथब्रा. १०।५।२।९) इत्यादिना वामे अक्षिण इन्द्राणीस्थितिं बोधयित्वा अग्रे "तौ हृदयस्य आकाशं प्रत्यवेत्य मिथुनीभवतस्तौ यदा मिथुनस्यान्तं गच्छतो अथ ह एतत्पुरुषः स्वपिति तद्यथा हैव इदं मानुषस्य मिथुनस्यान्तं गत्वाऽसंविद इव भवत्येवं हैव एतद् संविद इव भवति दैवं हि एतन्मिथुनं परमो ह्येष आनन्दः" (तत्रैव ११) इत्याद्युक्तम्. तत् च **एतत्परमेव** सम्भोगार्थ-[३]शयनपरमेव इति यथा तत्र तद्रूपेण स्थितिः तदर्था तथा भगवतो हृदि स्थितिरपि भोगार्था इति अर्थः. ननु शयनमात्रेण भोगे सम्भवति षोडशात्मकः किमिति भवति इत्यतः आहुः **जडे** इत्यादि. **जडे** नीरसे शब्दादिरूपे विषयपञ्चके.

लेखः

इति अर्थः. **पुरुषत्वाविशेषाद्** इति, अन्तर्यामिणः तथात्वाविशेषाद् इति अर्थः. **समष्टिवद्** इति, विराट्पुरुषवद् इति अर्थः. **सः** इति, पुरुषः इति अर्थः. **इति उपाख्यानम्** इति. इदं मण्डले छान्दोग्ये द्रष्टव्यम्. **षोडशापि** इति. एकादशेन्द्रियाणि पञ्चविषयाः इति षोडश.

---

१. पूरुषु इति क-ख. २. सम्भोगार्थमिवेति घ-ङ. ३. 'शयन'स्थाने 'स्थिति'पाठः.

भगवान् हि[1] व्यापकः आनन्दमयश्च. तत्र स्व-रूपेणैव स्व-रूपानुभवे तथा रसो न भवति, स्त्री-पुरुषाद्यवयवेषु तथा उपलम्भात्. अतः स्वस्थित-रसाविर्भावेन स्पष्टभोगार्थं भेदरूपम् आत्मानं विधाय तस्मिन् स्वस्मिन् प्रविष्टे बहुधा भिन्नः सन् अन्योन्यस्य रसम् अनुभवति. देहधारणाप्रयत्नेन भोगे व्यासङ्गो भविष्यतीति सुप्त्वा तथा भुङ्क्ते. यद्यपि विषयाः पञ्च तथापि त्वचएव स्थानविशेषे सुखविशेषजननाद् इन्द्रियपुरस्सरेण यो विषयः

प्रकाशः

तथाच तदात्मकतया तेषां सारस्य-सम्पादनाय तथा भवति इति अर्थः. सारस्य-सम्पादकं रूपम् आहुः **भगवान्** इत्यादि. तथाच आनन्दमयत्वेन सम्पादयति इति अर्थः. ननु आनन्दमयत्वे कुतो रसेप्सा इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. तत्र हेतुः **स्त्रीत्यादि**. **अतः** इति. "स वै नैव रेमे, तस्माद् एकाकी न रमते" (बृहदा.उप. १।४।३) इत्यादि श्रुतिभिः भेदं विना रसाऽनाविर्भावेन भोगाऽसम्भावात् तेन तथा **भोगार्थं** "स आत्मानमेव द्वेधाऽपातयत् ततः पतिः च पत्नीश्च अभवताम्" (तत्रैव) इति **भेदरूपम् आत्मानं विधाय तस्मिन्** भेदरूपे आत्मनि मूलरूपे[2] **स्वस्मिन् प्रविष्टे बहुधा भिन्नः** इति अर्थः. अतएव तत्र "तिरोसानि" इत्यादि कथनं सङ्गच्छते इति ज्ञेयम्. तर्हि तत्रेव अत्र देहधारणं कुतो न इत्यतः आहुः **देहेत्यादि**. ननु गुणानां कथं षोडशत्वम् इत्यतः आहुः **यद्यपि** इत्यादि. **स्थानविशेषे** नेत्रादि-गोलकरूपे. एवं मनसोऽपि अतीन्द्रियत्वेन तज्जनितमपि विषयध्यानादि-सम्भवं सुखं हृदयरूपे गोलकएव इति त्वचो व्यापकत्वात् तस्याएव सुखजनकत्वम् इति एकादशत्वम् इन्द्रियप्राधान्येन, पञ्चत्वं विषयप्राधान्येन इत्येवं षोडश इति अर्थः. ननु प्राधान्याप्राधान्ययोः कथं निर्णयः इत्यतः आहुः **भोगेत्यादि**. तथाच यथा उष्णकाले बह्वम्बरालङ्कारादि-परिधाने इन्द्रियाणाम् अरुचावपि राज्यसुखानुभवाय महाराजेन तदापि तत् क्रियते सभायां, रहसि च तथा इन्द्रियरुच्युपभोगाः

---

१. हीति नास्ति क-ख. २. मूलरूपेण इति मा.पाठे - सम्पा.

सः भिन्नतया[१] निर्दिष्टइति षोडशत्वम्. यत्र इन्द्रियाणां गौणत्वं तत्र विषयप्राधान्यम्. भोगे क्वचिद् इन्द्रियाणाम् अप्राधान्यं, क्वचिद् इन्द्रियाणामेव प्राधान्यं, महाराजशरीरवत्. अतः उभयविवक्षया **षोडशेति** वचनम्. एवं भगवन्माहात्म्यं सर्वत्र पूर्णमेव ज्ञातं भवति. **(यत् सः!) अलङ्कृषीष्ट मे वचांसि** अलङ्करोतु. (**अलङ्कृषीष्ट** इति!) छान्दसो दीर्घः. ननु एवं नानात्वम् आपन्नः कथम् अलङ्कारार्थं प्रार्थ्यते? तत्र आह **भगवान्** इति. (**वचांसि** इति!) बहुवचनं सप्तार्थाभिप्रायम्[२]. **मे** इति अन्यत्र सप्तार्थाभावो द्योतितः, भागवतएव सप्तार्थाः यतः ॥२३॥

एवं प्रार्थनाम् उक्त्वा स्वगुरुं व्यासं भगवन्तं नमस्यति.

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे ॥
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥२४॥

प्रकाशः

क्रियन्ते, तद्वद् इति अर्थः. **अतः** इति, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तयोः निर्णयात्. एतेन सिद्धम् आहुः **एवम्** इत्यादि. षोडशात्मकत्वेन आनन्दजनकत्वे विषयेन्द्रिययोः सुखोत्पत्तौ "एष ह्येव आनन्दयाति" (तैत्ति.उप. २।७।१) इति श्रुत्युक्तं **भगवन्माहात्म्यं** तथा इति अर्थः. अत्र **अलङ्कृषीष्ट** इति अलङ्काररूपेण भगवत्प्रवेशप्रार्थनया पुरुषरूपत्वादि-कथनेन च भगवतः पुरुषभूषणत्वम् उक्तं भवति. तेनापि "निगमकल्पतरोः" (भाग.पुरा. १।१।३) इति व्यासोक्तौ उपपत्तिः उच्यते, बीजनिष्ठ-रसस्यैव फले सत्त्वेऽपि बीजे तदनभिव्यक्तेः इति दिक् ॥२३॥

लेखः

इन्द्रियाणां गौणत्वम् इत्यादि. यत्र विषयानुकूलतया विषयभोगः तत्र विषयप्राधान्यं, यत्र इन्द्रियानुकूलतया यथेष्टं तद्भोगः तत्र इन्द्रियप्राधान्यं (यथा!) महाराजभोगादौ इति अर्थः ॥२३॥

---

१. भिन्नया इति क-ख. २. समर्थाभिप्रायमिति ग.

नमस्तस्मै भगवते इति **वासुदेव-** इति, सर्वमोक्षदानार्थमेव भगवतो व्यासस्य अवतारः. शब्दरूपां सृष्टिं करोतीति **वेधसे** इति मोक्षोपायकथनम्. व्यासनमस्कारत्वं बोधयति **पपुः** इति. **ज्ञानमयं** सर्ववस्तुयाथात्म्यज्ञान-प्रकाशकं भारतादि. **सौम्या** इति शान्त्या ; ज्ञाननिष्ठयोग्यता सूचिता. **यस्य मुखमेव अम्बुरुहं** कमलं तत्रत्यो मकरन्दएव प्रपञ्चविस्मारकत्वाद् **आसवशब्देन** उच्यते. मोक्षस्य फलत्वाद् वक्तुश्च भगवत्त्वाद् **मुखाऽऽसवपदाभ्यां** पानेच्छाप्रतिबन्धेऽपि पानं सूचितं, कामिनीमुखामोदे तथा उपलम्भात्. तस्मात् सर्वेषां गुरुत्वाद् भगवत्त्वाच्च सभायामपि व्यासनमनं युक्तम् ॥२४॥

एवं देवता-गुरुनमस्कारं कृत्वा महता प्रबन्धेन तन्निरूपयितुं पूर्वप्रश्ने उत्तरम् आह.

एतदेवाऽऽत्मभू राजन् नारदाय विपृच्छते ॥
वेदगर्भोऽभ्यधात् साक्षाद् यदाह हरिरात्मने ॥२५॥

॥ इति श्रीभागवत-द्वितीयस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥

एतदेवेति. यद्[1] भवान् पृष्टवान् **एतदेव (नारदाय विपृच्छते!)** नारदेन पृष्टः. **आत्मभूः** ब्रह्मा प्रमेयबलपुष्टः, **वेदाः गर्भे यस्य** इति प्रमाणबलपुष्टोऽपि ; प्रमेयस्य प्रमाणत्वेन विशिष्टबलपुष्टोऽपि. **यद् आह हरिः** [2]**आत्मने** इति वाक्यात् तादृशमुखेनैव तत्र उत्तरे सन्देहनिवृत्तिः

प्रकाशः

नमस्तस्मै इत्यत्र. **ज्ञाननिष्ठयोग्यता** इति, ज्ञाननिष्ठानां पानयोग्यता इति अर्थः. ननु भारतादेः कथं प्रपञ्चविस्मारकत्वम् अतः आहुः **मोक्षेत्यादि.** ननु मोक्षफलकत्वम् अन्यत्रापि कथ्यतइति कथम् अत्रैव तदाश्वासः इत्यतः आहुः **वक्तुः** इत्यादि. **पानेच्छाप्रतिबन्धेऽपि** इति. अन्तरिन्द्रियनिग्रहस्य 'शान्ति'पदार्थत्वेन सौम्यानां च तद्वत्त्वेन तया पानेच्छाप्रतिबन्धेऽपि इति अर्थः. तथाच दृष्टान्तस्य यथा इच्छोद्बोधकत्वं तथा दार्ष्टान्तिकस्यापि इति हेतुता बोध्यते ॥२४॥

एतदेव इत्यत्र. **तादृशमुखेन** इति, भगवन्मुखेन इति अर्थः.

---

१. यत्त्वं पृष्टवानिति ख-ग. २. हरिरात्मनेति इति ग.

भविष्यतीति पूर्ववत् पुनः सन्देह-प्रश्नाभावाय स्वतो अनिरूपणम्. पूर्वमेव करणानां दोषतारतम्यस्य निरूपितत्वाद् न अत्र पुनरुक्तिः. **साक्षाद्** इति उभयत्र विशेषणम्. **आत्मने** ब्रह्मार्थे. परम्पराकथने तु मध्यवक्तृदोषः[१] प्रसज्येत[२]. अतएव स्वतःकथनमपि निवारितम्. दोषाभावोऽपि प्रार्थनया ज्ञानेन च सूचितः. अनेन उत्पत्त्या उपपत्त्या च विचारद्वयं वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातम् इति सूचितम् ॥२५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे चतुर्थो अध्यायः

प्रकाशः

न अत्र पुनरुक्तिः इति. पुनःकरण-दोषोक्तिः न इति अर्थः. **उभयत्र** इति, **अभ्यधाद् आह** इति क्रियाद्वयेऽपि इति अर्थः. **साक्षात्**पदप्रयोजनम् आहुः **परम्पराकथने** इति. परम्परया कथने इति अर्थः. **अतएव** इति, दोषप्रसङ्गादेव इति अर्थः. ननु काचित् तु परम्परा अत्र सम्पन्ना इति कथं दोषाभावः इत्यतः आहुः **प्रार्थनया** इत्यादि. तथाच यदि दोषः स्याद्, न भगवन्तं प्रार्थयेत्. यथाकथञ्चित् प्रार्थनसम्भवेऽपि ज्ञानन्तु न स्याद् इति अर्थः. **अनेन** इति, ब्रह्मोक्ति-भगवदुक्त्योः उपक्षेपेण इति अर्थः ॥२५॥

॥ इति श्रीद्वितीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे चतुर्थाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

एतदेव इत्यत्र. **प्रमेयस्य प्रमाणत्वेन** इति. ''वेदो नारायणः साक्षाद्'' (भाग.पुरा. ६।१।४०) इत्यादि वाक्याद् भगवतो वेदरूपत्वाद् इति भावः. **पूर्ववद्** इति. ... . **परम्पराकथने** इत्यत्र **अकथने** इति नञ्प्रश्लेषो ज्ञेयः. **प्रार्थनया** इति. ... ॥२५॥

॥ इति द्वितीयस्कन्धे चतुर्थाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

---

१. मध्ये वक्तृदोषः इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-ख-घपाठानुसारेण - सम्पा.

२. प्रसज्जेत इति घ.

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

विमर्शः[१] षड्भिरध्यायैः क्रियते स द्विधा मतः ॥
उत्पत्त्या चोपपत्त्या च तत्राऽद्योऽपि द्विधा मतः ॥(१)॥
स्थूलान्तर्यामिभेदेन मूर्तामूर्तविभेदतः ॥

प्रकाशः

अथ तृतीयप्रकरणं विवरिषवः सङ्गतिमुखेन प्रकरणप्रयोजनस्य पूर्वमेव उक्तत्वात् तत्कथनमात्रम् अत्र प्रतिजानन्तः तदवान्तरप्रकरणार्थम् अध्यायार्थञ्च विवेक्तुं प्रकरणार्थं तद्द्वैविध्यम् अध्याय-सङ्ख्याञ्च निरूपयन्ति **विमर्शः** इत्यादि चरणत्रयेण. तत्र प्रथमप्रकरणार्थ-द्वैविध्यम् आहुः **तत्र आद्यः** इति, विमर्शाख्ये तृतीयप्रकरणे **आद्यः** उत्पत्तिः[२] विमर्श-प्रकरणार्थः **द्विधा स्थूलान्तर्यामिभेदेन** द्विप्रकारको **मतः** इति अर्थः. ननु एवं सति अध्यायद्वयमेव अस्तु इत्यतः आहुः **मूर्ते**त्यादि. तथाच तदवान्तर-प्रकरणार्थस्यापि द्विविधत्वाद् न अध्यायद्वयेन प्रकरणपूर्तिः इति अध्यायत्रयम् अत्र युक्तमेव इति अर्थः.

लेखः

अथ श्रद्धाप्रकरणसमाप्त्यनन्तरं विमर्शप्रकरणं निरूपयन्तः तदर्थम् आहुः **विमर्शः** इत्यादि. **षड्भिः अध्यायैः विमर्शः क्रियते** इत्यादि प्रतिज्ञाय तत्र विभागं बोधयितुम् आहुः **स द्विधा** इति. **सः विमर्शः** उत्पत्त्युपपत्तिरूपं विषयद्वयं प्राप्य **द्विधा मतः** इति अर्थः. एवञ्च अध्यायत्रिकेण उत्पत्त्या विमर्शः, द्वितीय-तत्त्रिकेण उपपत्त्या सः उच्यते इति सिद्ध्यति. तत्र आद्य-त्रिक-व्यवस्थाम् आहुः **तत्र आद्यः** इत्यादिना. **तत्र** उत्पत्त्युपपत्त्योः मध्ये **आद्यः** उत्पत्तिविमर्शः **स्थूलान्तर्यामिभेदेन द्विधा मतः**. **स्थूलोऽपि मूर्तामूर्तविभेदतो द्विविधः**. **तत्र** द्विविधस्थूलमध्ये **उत्पत्त्या स्थूलमूर्तविमर्षणे** उच्यमाने **पञ्चमाध्यायः** सोपपत्तिकं **तन्निरूपको** भवति इति शेषः. अत्र अध्याये स्थूलतत्त्वानां पृथिव्यादीनां मूर्तत्वेन निरूपणात् तथा इति अर्थः. एवञ्च षष्ठाध्याये स्थूलेषु अमूर्तानां देव-जीवादीनाम् उत्पत्त्या निरूपणं,

१. विमर्ष इति ग. २. उत्पत्ति- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

स्थूलोऽपि द्विविधस्तत्र स्थूलमूर्तविमर्शने[१] ॥(२)॥
उत्पत्त्या पञ्चमाध्यायः सोपपत्त्या निरूपकः ॥
पुरुषः क्रमतः शक्तित्रयं गृह्णन् भवादिकृत् ॥(३)॥
इत्युक्त्वा[२] नारदाजाभ्यां जन्मभिर्नेति गद्यते ॥

प्रकाशः

अतः परं प्रस्तुताध्यायार्थम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र** [३]प्रकरणद्वयमध्ये. **स्थूलमूर्तविमर्षणे** स्थूलं यत् मूर्तं पञ्चाशत्कोटि-परिमाणकं ब्रह्माण्डं तस्य **विमर्षणे** याथात्म्यविचारे[४] **सोपपत्त्या उत्पत्त्या** साधकप्रमाणसहितेन विराट्जनेन **पञ्चमाध्यायो निरूपकः** स्थूलमूर्तरूपस्य कार्यस्य कारणात्मकता-ज्ञापकः इति अर्थः (१-२ १/२).

ननु अत्र नारद-ब्रह्मणोः संवादरूपे अध्याये मूर्तस्य ब्रह्मत्वसाधिका का वा उपपत्तिः इत्यतः आहुः **पुरुषः** इत्यादि. **नारदाजाभ्यां** श्रोतृ-वक्तृभ्यां **पुरुषः** क्रमेण सत्त्वादीन् **गृह्णन्** उत्पत्त्यादिकृद् **इति उक्त्वा** निमित्तमात्रत्वशङ्का-व्युदासाय **जन्मभिः** निमित्तत्वमात्र-परिचायकैः **न** तावन्मात्रत्वेन किन्तु अभिन्न-निमित्तोपादानत्वेन क्रियाश्रयत्वरूपमपि कर्तृत्वम्

लेखः

सप्तमे च ''यत्र उद्यतः'' (भाग.पुरा. २।७।१) इत्यादिना अवतारनिरूपणेन उत्पत्त्या अन्तर्यामिनिरूपणम् इति ज्ञेयम्. एतद् उत्पत्तित्रय-स्वरूपम् ''अनित्ये जननम्'' (सुबो.का. २।६।०।१) इत्यादिना निरूपयिष्यते (१-२ १/२).

पुरुषः इति. **पुरुषो** भगवान् सत्वादिरूप-**शक्तित्रयं** काल-कर्म-स्वभावरूपं तत्त्रयं वा **गृह्णन् भवादिकृद्** भवति **इति नारदाजाभ्याम् उक्त्वा** तद् भवादिकं च **जन्मभिः** भगवतः सकाशाद् निमित्तत्वेन जन्ममात्रैरेव **न** किन्तु लोकादीनां भगवदवयवत्वोक्त्या अभिन्न-निमित्तोपादानतयैव **इति निगद्यते** इति अर्थः. ननु नारदस्य ज्ञानिशिरोमणेः अज्ञवत् प्रश्नः कथं घटते? इत्यतः आहुः **एकीभूते** इति. प्रलये भगवदुदरान्तःप्रवेशेन **एकीभूते**

---

१. विमर्षणे इति क-ख-प्रकाशे-लेखे - सम्पा. २. इत्युक्ता इति घ-ङ.
३. 'प्रकारद्वय-' इति मा.पाठः - सम्पा. ४. -विचारणे इति कि.पाठे - सम्पा.

एकीभूते प्रवेशेन निर्गमादपि विह्वलः ॥(४)॥
अथवा दार्ढ्यतासिद्ध्यै नारदः पृच्छति स्फुटम् ॥

प्रकाशः

इति एवं **निगद्यते**[१]. ऊर्णनाभि-दृष्टान्तेन ''स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः'' (श्लो. ३५), ''इति लोकमयः पुमान्'' (श्लो. ४१) इत्यादिना च व्यक्तम् उच्यते —इति एषा उपपत्तिः इति अर्थः. ननु ''भूतं भव्यं भवच्च यद्'' (भाग.पुरा. २।६।१५), ''न यतोऽस्ति किञ्चित्'' (भाग.पुरा. २।१।३८), ''स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः, तं भजेद्'' (भाग.पुरा. २।१।३९) इत्यादि विरुद्धवाक्य-श्रवणे राज्ञः सन्देहात् प्रश्नः उचितः, परं नारदस्य तु सन्देहाभावात् कथं प्रश्नः इत्यतः आहुः **एकीभूते** इत्यादि. प्रलये भगवदुदरान्तः**प्रवेशेन एकीभूते** पदार्थजाते **निर्गमात्** सृष्टौ पुनः यथासंस्थं निःसरणाद् **विह्वलः** किम् अभेदः तात्त्विकः उत भेदः इति संशयव्याकुलः **पृच्छति. अथवा** स्थूणाखननवद् **दार्ढ्यतासिद्ध्यै.** कर्मणि ष्यञ् ; दृढस्य कर्म दार्ढ्यं, तस्य भावो दार्ढ्यता, तत्सिद्ध्यै[२]. एवंप्रकारक-जगदुत्पत्त्यादिकरणं न सामान्यस्य कर्म, किन्तु अतिबलस्येति तादृशत्व-ज्ञापनायेति उभयथापि प्रश्नः उचितः इति अर्थः (३-४ १/२).

लेखः

पदार्थे जाते **निर्गमात्** सृष्टौ पुनः यथासंस्थं निःसरणाद् **विह्वलः** कर्मभेदः स्वको भेदो वा इति संशयव्याकुलः **पृच्छति. अथवा** स्थूणानिखनन-न्यायेन **दार्ढ्यतासिद्ध्यै पृच्छति** (३-४ १/२).

---

१. ''नारदेन ब्रह्मणि ऊर्णनाभि-दृष्टान्तः उक्तः, ब्रह्मणा च अग्रे वाक्यद्वयम् उक्तं ; तेन उभाभ्यामेव अभिन्न-निमित्तोपादानत्वं भगवतो निरूपितं, तेनैव कार्यस्य भगवत्त्वम् इति अर्थः'' —कि.पाठे पादटिप्पणीरूपा इयं पङ्क्तिः प्रमादाद् मुद्रितपाठे अत्र मूले निविष्टा इति भाति -सम्पा. २. सृष्टौ रूप-नाम-कर्मणां जड-जीवेश्वराणां वा उत्पत्तिः ब्रह्मणः सत्ता-चैतन्यानन्देभ्यः असमन्वितत्वे मायिकी वा विकारैकरूपा वा औपाधिकी वा अदृढैव भवेदिति -सम्पा.

प्रश्नत्रयं नारदेन क्रियते तत्त्वनिर्णये ॥(५)॥
आत्मनो जगतश्चाऽपि निर्धारो भजनस्य च ॥
द्वयोर्निर्धारशेषत्वं तेन प्रत्युत्तरं ततम् ॥(६)॥
[१]द्वितीयस्य द्विरूपत्वं बहिरन्तर्व्यवस्थया ॥
विराजोऽन्तर्मुखत्वाद्धि विपरीतेन वर्ण्यते ॥(७)॥

प्रकाशः

ननु प्रत्युत्तरे किमिति विस्तारः इत्यतः आहुः **प्रश्ने**त्यादि. **तत्त्वनिर्णये** कर्तव्ये सति **नारदेन** आत्म-जगद्-भजनानां निर्धारविषयकं **प्रश्नत्रयं क्रियते.** तत्र **द्वयोः** आत्म-जगन्निर्णययोः भजन**निर्धारशेषत्वं, तेन** हेतुना **प्रत्युत्तरं ततं** विस्तृतम् इति अर्थः. यद्यपि त्रयोदशप्रश्नाः तथापि ''तद् विजानीहि'' (श्लो. १) इत्यादि ज्ञापकाद् मुख्यं त्रयमेवेति तथा उक्तम् (५-६).

ननु जगन्निर्णये किमिति अध्यायद्वयम् इत्यतः आहुः **द्वितीयस्य**

लेखः

आत्मनः इति. ''तद् विजानीहि'' (श्लो. १) इत्यनेन आत्मनिर्धारप्रश्नः, ''यद्विज्ञान'' (श्लो. ४) इत्यादिना जगत्तत्त्व-निर्धारणप्रश्नः, ''स भवान् आचरद् घोरम्'' (श्लो. ७) इत्यनेन भजननिर्धारप्रश्नः इति. यद्यपि तत्र भजनप्रश्नः स्फुटं न लभ्यते तथापि ''पराशङ्कां प्रयच्छसि'' इति उक्त्या यः परः तस्य भजनीयत्वं सिद्ध्यति. अग्रे त्रयोदशप्रश्नानां व्यवस्थापयिष्यमाणत्वेऽपि त्रिष्वेव तेषाम् अन्तर्भावात् त्रयाणामेव मुख्यत्वमिति तथा उक्तम्. **द्वयोः** इति, आत्म-जगतोः इति अर्थः. **निर्धारशेषत्वम्** इति, भजननिर्धार-शेषत्वम् इति अर्थः. आत्मज्ञानेन स्नेहस्य, जगज्ज्ञानेन माहात्म्यज्ञानस्य च सिद्ध्या भजनं निर्धारितं भवति इति भावः. अतएव अध्यायद्वयेन जगद्विषयक-प्रश्नोत्तरं, एकेन च आत्मविषयक-प्रश्नोत्तरं च **ततं** विस्तारेण उक्तम् इति अर्थः (५-६).

ननु आत्मविषयक-प्रश्नस्य प्राथम्यात् तदुत्तरं विहाय जगद्विषयक-प्रश्नोत्तरस्य प्राक्कथने किं बीजम्? अतः आहुः **विराजो अन्तर्मुखत्वाद्**

---

१. लेखे इमा कारिका उत्तरपादे ; ''विराजो..'' इति पूर्वपादे - सम्पा.

स्थूललिङ्गविभेदो वा तेनाऽध्यायद्वयं मतम् ॥
प्रथमस्योत्तरं पश्चात् तदन्तर्यामिसम्भवे ॥(८)॥

एवं पूर्वाध्याये परीक्षिच्छुकयोः फलमुखं[१] साधनं निरूप्य पूर्वोक्तस्य[२] च साधनस्य च विचारार्थम् अध्यायषट्कारम्भः. तत्र पञ्चमाध्याये साधनस्य

प्रकाशः

इत्यादि. **हि** इति निश्चयेन **विराजो अन्तर्मुखत्वाद् विपरीतेन** वैपरीत्येन **बहिरन्तर्व्यवस्थया द्वितीयस्य** जगतः **द्विरूपत्वं स्थूललिङ्गविभेदो वा, तेन** हेतुना **अध्यायद्वयं मतम्** इति अर्थः. ननु प्रश्नोत्तरयोः किमिति व्युत्क्रमः इत्यतः आहुः **प्रथमस्य** इत्यादि. **तदन्तर्यामिसम्भवे.** आत्मज्ञानस्य आत्माऽनात्मविवेक-सापेक्षत्वाद् अनात्मानौ विविच्य तदतिरिक्तत्वेन तन्नियामकत्वेन च आत्मबोधने सौकर्येण आत्मज्ञान-सम्भवात् **तद्** आत्मज्ञानम् **अन्तर्यामि**प्राकट्ये सति भवति अतः तथा उच्यते [३]इति अर्थः (७-८).

अध्यायषट्कारम्भ-हेतूक्तौ **पूर्वोक्तस्य साधनस्य विचारार्थम्** इति. भगवच्छ्रवणरूपस्य साधनस्य किंलक्षणको विषयः? कथञ्च तस्य परीक्षा इत्येतदर्थम् इति अर्थः. **तत्र** इत्यादि. **तत्र** श्रवणविषये निश्चेतव्ये, षडध्यायीमध्ये

लेखः

इति. विराट्स्वरूपज्ञानस्य आत्मज्ञानप्रयोजकत्वेन अन्तरङ्गत्वात् ततः प्राङ् निरूपणमिति वैपरीत्येन निरूपणं न दोषः इति भावः. ननु जगतो अध्यायद्वयेन निरूपणे किं बीजम्? अतः आहुः **द्वितीयस्य** इत्यादि. जगतः इति अर्थः. **बहिः** इति. पूर्वाध्यायोक्तानां बहिरङ्गत्वं द्वितीयाध्यायोक्तानां देवादीनाम् अन्तरङ्गत्वमिति **द्विरूपत्वम्** इति. अत्रैव प्रकारान्तरम् आहुः **स्थूललिङ्गविभेदो वा** इति. पूर्वत्र स्थूलप्रपञ्चः, उत्तरत्र लिङ्गात्मकः सूक्ष्मप्रपञ्चो जीवादिरूपः इति विभेदो वा ज्ञेयः. **प्रथमस्य** इति. प्रथमं पृष्टस्य आत्मनः **उत्तरं** जगदुत्तरस्य **पश्चात्** सप्तमाध्याये **अन्तर्यामिसम्भवे** निरूप्यते इति शेषः (७-८).

---

१. साधनमुखमिति ग. २. पूर्वोक्तस्य साधनस्येति क-ख.
३. इति अर्थः इति अधिकं कि.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

स्थूलरूपस्य च उत्पत्त्या निर्णयः उच्यते. तत्र प्रथमं तत्त्वस्य दुर्ज्ञेयत्वं वदन् वक्तारं विशिनष्टि.

॥ श्रीनारदः उवाच ॥

देवदेव नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज ॥
तद्विजानीहि यज्ज्ञानम् आत्मतत्त्वविमर्शनम् ॥१॥

(नमस्ते!) देवदेवेति. अयं नमस्कारः प्रश्नार्थः. नारदो जिज्ञासार्थं प्रवृत्तः कथं देवनमस्कारं न कृतवान् इति आशङ्क्य आह हे देवानां देव! अनेन देवता-गुरुरूपो भवानेव मम इति न पृथग् नमस्कारः कर्तव्यः इति सूचितम्. **अस्तु** इति प्रार्थना प्रमेयसमाप्तिपर्यन्तं मङ्गलानुवृत्त्यर्थम्, आत्मानम् उपदेक्ष्यति निश्चयेन इति. स्वप्रवृत्तौ हेतुज्ञापकं विशेषणम् आह **भूतभावनेति.** भूतानि भावयति = उत्पादयति शोधयति वा. स्वयं वेदान् उदरे दिव्याग्निरूपान् निवेश्य तत्र सर्वान् जीवान् शुद्धान् कृत्वा पश्चाद् निष्काशयति इति शोधकत्वम्. **पूर्वज** इति. हे पितः! सन्देहे पूर्वजएव पृच्छ्यते. अथवा सर्वापेक्षया भवानेव पूर्वम् उत्पन्नः अतः त्वत्तः कोऽपि अन्यो महान् नास्ति इति त्वमेव प्रष्टव्यः इति अर्थः. एवं तं स्तुत्वा प्रष्टव्यम् आह **तद्विजानीहि** इति. तद् विशेषाकारेण त्वं जानीहि, ज्ञापय[१] वा, **ज्ञानं** किम् इति. सर्वे हि वदन्ति ''ज्ञानं–ज्ञानम्'' इति ; तत् किं ज्ञानम् आत्मा वा, आत्मसाक्षात्कारो वा, भगवत्साक्षात्कारो वा, श्रुतिसहितो वा, प्रवेशहेतुः वा, भक्तिजनको वा, परोक्षं वा, स्मृतिरूपं

प्रकाशः

वा **साधनस्य** विषयत्वेन श्रवणजनकस्य **स्थूलरूपस्य उत्पत्त्या** भगवतः सकाशाद् जननेन **निर्णयः** भगवदुपादानकत्व-निर्णयः **उच्यते** इति अर्थः.

देवदेव इत्यत्र. कथं शोधयति इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **स्वयम्** इत्यादि. **विजानीहि** इति ज्ञा-धातुः वेदनार्थको अन्तर्भावित-ण्यर्थो वा इति अभिप्रेत्य आहुः **ज्ञापयत** इति. **श्रुतिसहितः** इति, श्रुतिसहकृतः आत्मादि-साक्षात्कारः. **परोक्षम्** इति, आत्म-भगवदनुमितिरूपं तद्विषयक-

---

१. ज्ञापयत इति प्रकाशे - सम्पा.

वा इति? तत्र निर्धार्य[1] त्वया वक्तव्यम् इति अर्थः. किञ्च (**यद्!**) यत्र **आत्मतत्त्वस्य विमर्शनं** विचारो भवति. अनेन ज्ञाने[2] अङ्गद्वयमपि पृष्टं— कः आत्मा? किं तत्त्वम्? इति. तत्राऽपि लोकप्रसिद्धं[3] तद् न भवति किन्तु विचारसाध्यमिति विचारोऽपि वक्तव्यः इति सूचितम्. एवं[4] चत्वारः प्रश्नाः सम्पन्नाः ॥१॥

किञ्च तत्त्वे भेदान् पृच्छामि इति आह.

यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो ॥
यत्संस्थं यत्परं यच्च तत् तत्त्वं वद तत्त्वतः ॥२॥

यद्रूपम् इति. **तत्त्वम्** अनारोपितं रूपम्. तत् सर्वस्याऽपि जगतो

प्रकाशः

शाब्दरूपं वा. अत्र एको निर्विषयं, पञ्चविधं सविषयं साक्षात्काररूपं, शेषं स्फुटम्. अत्र प्रश्नवाक्ये उक्तविकल्पानां निवेशे ज्ञापकम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. **अनेन** इति विशेषणेन. **अङ्गद्वयम्** इति स्वरूपं विषयश्च. **एवम्** इति. तथाच 'ज्ञानि'पदप्रवृत्ति-निमित्तं ज्ञानं किम् इति सामान्यप्रश्नः एकः. ततः तत्स्वरूपं निर्विषयम् आत्मरूपं चेत् कः आत्मा इति द्वितीयः. सविषयं चेत् किं तस्य विषयरूपं तत्त्वम् इति तृतीयः. **विमर्शन**[5]पदेन च लक्षण-परीक्षे इत्येवम् (चत्वारः!) इति अर्थः ॥१॥

यद्रूपम् इत्यत्र. **किञ्च तत्त्वे** इत्यादि, सविषयपक्षे तत्त्वभेदान्. तद् व्युत्पादयन्ति **तत्त्वम्** इत्यादि. **अतः** इति दुर्ज्ञेयत्वात्. **यदधिष्ठानम्**

लेखः

तद् विजानीहि इत्यत्र. **आत्मा वा** इत्यादि अष्टौ विकल्पाः सम्भवाभिप्रायेण उक्ताः ज्ञेयाः. **एवं चत्वारः प्रश्नाः** इति. वाच्यार्थ-सूचितार्थयोः विचारेण ज्ञानविषयकः, आत्मविषयकः, तत्त्वविषयको, विचारविषयकश्च इति चत्वारः सम्पन्नाः इति अर्थः ॥१॥

---

१. निर्णयम् इति मा.१ पाठे - सम्पा. २. ज्ञानेनेति ग.

३. लोके प्रसिद्धमिति घ-ङ. ४. एते इति ग.

५. विमर्श- इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

जन्यत्वाद् आत्मनोऽपि प्रादुर्भूतत्वात् सर्वस्यैव [१]आरोपविषयत्वात्. अतः तस्य रूपं वक्तव्यं **यद्रूपं** स्वरूपं यस्य. आरोपितत्वानारोपितत्वे हि साधिष्ठाने भवतः अतः तदधिष्ठानमपि वद इति आह **यदधिष्ठानम्** इति. लोकेऽपि जगतः तत्त्वव्यवहारात् तत्त्वानां च तत्त्वव्यवहाराद् मूलतत्त्वाभावे[२] तद् न घटतइति जगतः कारणमपि तत्त्वं वद इति आह **यतः सृष्टम् इदम्** इति, वादिविप्रतिपत्तेश्च कुतो जगद् जातम् इति. किञ्च **यत्संस्थं** यस्मिन् संस्था = स्थितिः यस्य, संस्था = मृत्युः वा. विमर्शशेषत्वेन जगतो वा प्रश्नः ; तदा तत्त्वे प्रश्नद्वयम्. सृष्टौ प्रश्नचतुष्टयं — उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः

प्रकाशः

इति पदं मायावादिवत् पूर्वपक्षस्य ज्ञापकम् इति आशयेन आहुः **आरोपितेत्यादि**. अग्रिमे प्रश्ने बीजम् आहुः **लोके** इत्यादि. **तद् न घटते** इति, तत्त्वव्यवहार-विषयत्वं न युज्यते. कारणे प्रश्ने हेत्वन्तरमपि आहुः **वादीत्यादि**. **कुतः** इति कस्मात् किंरूपाच्च. अत्र ''कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्यं, संयोग एषां न त्वात्मभावाद् आत्मापि अनीशः सुखदुःखहेतोः'' (श्वेताश्व.उप. १।२) इति श्रुतिः अनुसन्धेया. एवञ्च **यतः सृष्टं - यत्संस्थम्** इति उभाभ्यां जगदुत्पत्ति-स्थिति-भङ्गकर्तुः प्रश्नः इति सिद्ध्यति, पूर्वं विवर्त्तोपादानप्रश्नस्य सिद्धत्वाद् इति. अतो अत्र पञ्च प्रश्नाः. पक्षान्तरम् आहुः **विमर्शेत्यादि**. तत्प्रकारम् आहुः **तदा** इत्यादि. **तद्विषयाः** इति तेषां प्रश्नानां विषयाः. तथाच **यद्रूपम्** इत्यादि तत्त्वे प्रश्नद्वयं, **यतः सृष्टम्** इत्यादिना जगतः, तत्रापि **यतः** इत्यनेन उपादानबोधनात् स्वरूपस्य प्रश्नः इत्येवं षड् इति अर्थः. ब्रह्मवादेन विशिष्टाद्वैतवादेन वा अयं प्रश्नः इति आशयेन आहुः **तस्य भावः**

लेखः

यद्रूपम् इत्यत्र. **सर्वस्यैव** इति. ... . **विमर्शशेषत्वेन** इति. ... . **तत्त्वे प्रश्नद्वयम्** इति. **यद्रूपं यदधिष्ठानम्** इति प्रश्नद्वयम् इति अर्थः. शिष्टं चतुष्टयं सृष्टिविषयकम् इति ज्ञेयम्. तदेतद् आहुः

---

१. सर्वस्यैवापरोक्षेत्यादि ग. २. स्थूलतत्त्वाभावेति ग.

स्वरूपञ्च इति तद्विषयाः. तस्य भावः तत्त्वम् इति भगवतो भावो जगदेव, आत्मा तु **तत्**. अथवा सामान्यतः तत्त्वं विचार्यते, तेन एकम् अनेकं वा फलिष्यति. **यत्परम्** इति, यः परो = नियन्ता यस्य. अनेन स्थितिः उक्ता. एकपक्षे तत् तत्त्वं कस्य [१]अपरभूतमिति को वा तस्य तत्त्वस्य ग्राहकः इति अर्थः. रूपं हि द्विविधं— प्रमाणतः स्वरूपतश्च. तत्र **यद्रूपम्** इति प्रमाणतः, **यच्च** इति स्वरूपतः. तत्त्वस्य जगद्रूपत्वे भिन्नत्वे वा षडङ्गानि पृष्टानि. एतेषां भेदानां ज्ञानं यथा **तत्त्वतो** ज्ञातं

प्रकाशः

इत्यादि. अस्मिन् पक्षे **यद्रूपम्** इत्यनेन 'तत्'पदार्थरूपस्य आत्मनः स्वरूपप्रश्नः, शेषैः 'भाव'पदार्थभूतस्य जगतः प्रश्नः. अस्मिन्नपि पक्षे चत्वारः पञ्च वा प्रश्नाः भवन्ति. अत्र [२]अवान्तरवाद-गमकस्य अभावाद् न एवं व्याख्यानं युक्तम् इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. तथाच **यद्** इति सर्वत्र भिन्नं पदम्. तथा सति रूप्यते इति रूपं जगत् तद् वा, तदधिष्ठानं वा, तज्जनकं वा, यद् वा सम्यक् तिष्ठति तत्? एवञ्च एतेषु अन्यतमम् एकं वा सर्वं वा इति प्रश्नः फलिष्यति इति अर्थः. **नियन्ता** इति स्थापकः. पञ्चभिरेव प्रश्नपूर्तेः **यच्च** इति षष्ठस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **रूपम्** इत्यादि. **एतेषाम्** इत्यादि. एतेन **तत्तत्त्वम्** इत्यत्र तेषां तत्त्वं तत्तत्त्वम् इति वा, तत्-तत्-त्वम्[३] इति

लेखः

उत्पत्तीत्यादि. आत्मा तु तद् इति, **तत्त्वम्** इत्यत्र 'तत्'पदवाच्यः आत्मा इत्यादि. **एकम् अनेकं वा** इति. आत्मत्वेन कारणरूपम् एकतत्त्वं, जगद्रूपत्वेन कार्यरूपम् अनेकतत्त्वम् इति अर्थः. **कस्य परिभूतम्** इति. तथाच **यत्परम्** इत्यस्य यतः परम् इति अर्थः. **षडङ्गानि** इति, **यद्रूपम्** इत्यादिभिः पृष्टानि इति अर्थः ॥२॥

---

१. कस्य परभूतमिति मुद्रितपाठः. परिभूतमिति घ-लेखे. गृहीतस्तु क-खपाठानुसारेण - सम्पा. २. अवान्तरवादो विशिष्टाद्वैतवादः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

३. तत् तत् सर्वं त्वं वद इति अर्थः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

भवति तथा **वद** इति अर्थः ॥२॥

यथा त्वं जानासि तथा ज्ञानम् अस्माकं कुरु इति अभिप्रायेण तस्य सर्वज्ञताम् आह.

सर्वं ह्येतद् भवान् वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः ॥
करामलकवद् विश्वं विज्ञानावसितं तव ॥३॥

सर्वं हि एतद् भवान् वेद इति. (**भूतभव्यभवत्प्रभुः !**) अतीतानागतयोः ज्ञानं न भविष्यतीति तस्य कालसाध्यत्वात् कालरूपः तन्नियन्ता वा भवानेव इति आह. यथा रहट्टघटिकायां केचन उद्गताः मज्जन्ति उद्गच्छन्ति च तथा काले जगद् निमज्जति ततः उद्गच्छति. ततो यः काले, बहिरपि तिष्ठति सहि सर्वं जानाति ; यथा जले, बहिरपि स्थितिः. किञ्च योगजधर्मेणाऽपि तव सर्वं प्रत्यक्षम् इति आह **करामलकवद्** इति. **विज्ञानावसितं** विज्ञाने स्थितं, निश्चितम् इति वा. **आवेशितम्** इति पाठे उत्तरकार्यार्थं सर्वमेव ज्ञाने निवेशितम्. करस्थितम् आमलकफलं प्रति न कोऽपि सन्दिग्धे ॥३॥

किञ्च त्वया स्वस्वरूपमपि वक्तव्यम् इति आह.

प्रकाशः

भिन्नं पदत्रयं वा इति बोधितम् ॥२॥

सर्वम् इत्यत्र. **न भविष्यति** इति, इति आशङ्क्य इति शेषः. **आह** इति, **भूतभव्यभवत्प्रभुः** इति विशेषणेन आह इति अर्थः. अत्र कालरूपत्वपक्षे 'भूतादिभिः व्यवहारैः प्रकर्षेण भाति इति भूतभव्यभवत्प्रभुः' इत्येवम् अर्थो ज्ञेयः. नियन्तृपक्षे सर्वज्ञतां व्युत्पादयन्ति **यथा रहट्ट** इत्यादि. तत्र दृष्टान्तः **यथा जले** इत्यादि. शयने जागरणे च यथा तदुभयविषयकं, तव ज्ञानं तथा इति अर्थः ॥३॥

लेखः

सर्वम् इत्यत्र. **भविष्यति इति** तस्य अन्ते आशङ्क्य इति शेषः. **काले बहिरपि** इति. **काले तिष्ठति बहिरपि तिष्ठति** इति अर्थः. **उत्तरकार्यार्थम्** इति, मोक्षोपयोगार्थम् इति अर्थः ॥३॥

यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः ॥
एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवाऽऽत्ममायया ॥४॥
आत्मन् भावयसे तान्येव[1] पराभावयन् स्वयम् ॥
आत्मशक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाऽक्लमः ॥५॥

यद्विज्ञानः इति, यद् यतो वा विज्ञानं यस्य. तव विज्ञानदाता कः इति अर्थः. किञ्च **(यदाधारो यत्परः यदात्मकः!)** तव आधारः कः, तव च नियन्ता, **त्वं** च किमात्मकः इत्येवं चत्वारः प्रश्नाः. साधारणत्वं वारयति "यथा सर्वे तथा अहम्" इति. **एकः सृजसि** त्वम् एकएव **भूतानि** देव-तिर्यङ्-मनुष्यरूपाणि **भूतैः तैरेव** महाभूतैः वा सृजसि अतः त्वयि चत्वारः प्रश्नाः इति अर्थः. **आत्ममायया** इत्याद्यग्रिमश्लोकः स्वातन्त्र्ये हेतुप्रतिपादकः, माहात्म्यबोधको वा पूर्वशेषः. **आत्ममायया** स्वस्य सर्वभवनसामर्थ्येनैव सर्वं **सृजसि. आत्मन्येव भावयसि** पालयसि. **तान्येव** स्वयमेव **पराभावयन्** नाशयन्. **न पराभावयन्** इति पाठे पराभवम् अप्रापयन्, यस्मात् त्वमेव स्वशक्त्यैव जगदुत्पत्ति-स्थिति-नाशं करोषि इति अर्थः. आत्मानं वा पराभवम् अप्रापयन् सृष्टि-स्थिती[2] करोषि इति अर्थः. द्वयोरेव कथनं तथा दर्शनात्. असहायकरणे दृष्टान्तम् आह **आत्मशक्तिम्**

प्रकाशः

यद्विज्ञानः इत्यत्र. **किमात्मकः** इति जीवेश्वरयोः मध्ये कस्यां कोटौ. **आत्मन्** इत्यत्र **स्वयम्** इत्यस्य द्वितीयान्तत्वम् अभिप्रेत्य पक्षान्तरम् आहुः **आत्मानं वा** इत्यादि. **द्वयोः** इति सृष्टि-स्थित्योः. केवलं स्वसामर्थ्यं

लेखः

एकः सृजसि इत्यत्र. **आत्ममायया इत्याद्यग्रिमश्लोकः** इति. "आत्मन् भावयसे" इति अग्रिमश्लोकः इति **आत्ममायया** इति पदविशिष्टाग्रिमश्लोकः इति अर्थः. **पूर्वशेषः** इति, प्रश्नचतुष्टयशेषः इति अर्थः. **आत्मन् भावयसे** इत्यत्र. **इति पाठे** इति. ... . **तथा दर्शनाद्** इति. प्रलयस्य भावित्वेन सृष्टि-स्थित्योरेव दर्शनात् तयोरेव कथनम् इति

---

१. तानि न परेति ख-ग. २. सृष्टिं स्थिरीकरोषीति ग.

इति. स्वस्यैव सामर्थ्यम् अवलम्ब्य आकाशगमने पक्षिणइव. **ऊर्णनाभिः** कीटविशेषः. सहि ऊर्णां सूत्ररूपां स्वमुखतो निष्काश्य तेन विहारस्थानं कृत्वा विहृत्य पुनः ग्रसति[१], तथाऽपि **(अक्लमः!)** क्लमरहितश्च भवति. एवं भवान् इति अर्थः ॥४-५॥

एतादृशं तव सामर्थ्यं स्वतएव, न परतः इति मम मतिः इति आह.

नाऽहं वेद परं त्वस्मान्नापरं न समं विभो ॥
नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिदन्यतः ॥६॥

न अहं वेद इति. अस्मिन् संसारे सर्वं त्वत्तएव भवति इति अहं जाने ; **परम्** उत्कृष्टम्, **अपरं** हीनं, **समं** वा अन्योऽन्यम्. एवं करणे सामर्थ्यम् आह हे **विभो** इति. किञ्च **नाम** वेदाः **रूपं** जगद् **गुणाः** ब्राह्मणादयः[२], तैः **भाव्यम्** उत्पाद्यं **सद्** उत्कृष्टम् **असद्** अपकृष्टं, कार्य-कारणरूपं वा, **किञ्चिदपि अन्यस्मात्** त्वद्व्यतिरिक्ताद् **भाव्यम्** इति **अहं न (वेद!)** जाने ॥६॥

किम् अतो यदि एवम्? तत्र आह.

स भवानचरद् घोरं यत्तपः सुसमाहितः ॥
तेन खेदयसे नस्त्वं पराशङ्कां प्रयच्छसि ॥७॥

सः भवान् अचरद् इति. नहि स्वतन्त्रो घोरं तपः करोति. **घोर**शब्देन भगवत्तपोव्युदासः ; नर-नारायणादिभिः क्रियमाणं शान्तं तपः. **यद्** यस्मात् **सुसमाहितः** इति अतिसावधानः ; स्वाभाविकतपोव्युदासः.

प्रकाशः

कुत्र दृष्टम् इति आशङ्क्य दृष्टान्तम् आहुः **आकाश** इत्यादि. "नाहं वेद" (श्लो. ६) इति श्लोकः उत्तरश्लोकशेषत्वेन ज्ञेयः ॥४-६॥

लेखः

अर्थः ॥४-५॥

स भवान् इत्यत्र. "**तपो मे हृदयम्**" इति. ... . "**यस्य**

---

१. गिलतीति ग. गच्छतीति घ. २. ब्रह्मादय इति ग.

''तपो मे हृदयम्'' (भाग.पुरा. २।९।२२) इति वाक्याद् – ''अस्य ज्ञानमयं तपः'' (मुण्डकोप. १।१।९) इति च[१] – (तत्!) स्वभावतएव भवति ; नहि सः सावधानान्तःकरणः करोति. तेन ज्ञायते ''एतस्माद् अन्यो अस्ति महान्, यम् आराधयितुं तपः करोति'' इति. किञ्च **तेन** तपःकरणेन कर्मणा **(त्वं!) नः** अस्मान् **खेदयसि.** अस्माकम् अयम् अभिमानः स्थितो ''अस्मत्पिता सर्वोत्तमः'' इति ; तपसि क्रियमाणे तद् गच्छति. **परो** अन्योऽपि अस्ति इति **आशङ्काऽपि (प्रयच्छसि!)** उत्पद्यते. अतः सन्देहः— किं त्वत्तो अन्यः कश्चिद् अस्ति न वा इति ।।७।।

एतत् सर्वं कथय इति आह.

एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर ।।
विजानीहि यथैवेदमहं बुद्ध्येऽनुशासितः ।।८।।

एतन्मे (पृच्छतः!) इति. अत्र त्रयोदश प्रश्नाः भवन्ति— ज्ञानप्रश्नः, आत्मप्रश्नः, तत्त्वप्रश्नाः षड्, ब्रह्मविषयकाः चत्वारः, अयम् अन्तिमश्च

प्रकाशः

सः भवान् इत्यत्र. स्वाभाविकं तपः किम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तपो मे** इत्यादि ।।७।।

एतन्मे इत्यत्र. **त्रयोदश प्रश्नाः** इति. यद्यपि पूर्वग्रन्थविचारे पञ्चदश

लेखः

ज्ञानमयं तपः'' इति. ... . **न हि सः** इति. यस्य हृदयरूपं ज्ञानरूपं वा तपः स भगवान् उक्तविधं तपः सावधानान्तःकरणः सन् न करोति किन्तु आनन्दादिवत् स्वाभाविकमेव तद् इति भावः ।।७।।

एतद् मे इत्यत्र. **ज्ञानप्रश्नः** इत्यादि. ''तद् विजानीहि यद् ज्ञानम् आत्मतत्त्वविमर्शनम्'' (श्लो. १) इत्यनेन **ज्ञान**तत्त्वप्रश्नः **आत्मप्रश्न**श्च उक्तः. यद्यपि तत्र प्रश्नचतुष्टयम् उक्तं तथापि अन्ययोः सूचितत्वाद् न पार्थक्येन तदुक्तिः. यद्यपि एवम् आत्मप्रश्नेऽपि सूचितत्वाविशेषः (तथापि!)

---

१. च हीनः ख.पाठः.

इति. **सर्वं विजानीहि** विशेषेण विचार्य वद बोधय वा, **यथा अनुशासितः** सन् शिक्षितः सन् **अहं बुद्ध्ये. सर्वज्ञत्वात्** कथनसामर्थ्यं, **सर्वेश्वरत्वाद्** मद्बोधजनन-सामर्थ्यम्. प्रश्नमात्रेण न वदेदिति तस्य भगवद्भावबोधनम्. अज्ञानाद् अयं प्रश्नो न भवति किन्तु यथा पिता कथयेत् तदर्थम् एवं प्रक्रियया प्रश्नः इति उत्पत्तौ[१] वक्ष्यते. अनेन प्रश्नोत्तरेऽपि अग्रे विचारम् अर्हतः इति ज्ञापितम्. **अहं**[२] **यथा बुद्ध्ये** इति वचनात् सर्वेषां

प्रकाशः

भवन्ति तथापि ''किं तत्त्वम्'' इति सामान्यप्रश्नस्य तद्विशेषप्रश्नेषु[३] अन्तर्भावाद्, विमर्शनस्य च[४] उपकारकत्वेन प्रवेशाद् मुख्याः त्रयोदश इति अर्थः. सम्बुद्धिद्वयतात्पर्यम् आहुः **प्रश्नमात्रेत्यादि. इति उपपत्तौ वक्ष्यते** इति. **इति** इदं ब्रह्मवाक्यगते 'कारुणिक'पदे (श्लो. ९) वक्ष्यते इति अर्थः. **अनेन** इति [५]सर्वज्ञकर्तृकत्वेन. ननु **विजानीहि** इत्यन्तेन प्रश्नेनैव ज्ञानापेक्षा स्वस्य ज्ञापिता भवत्येव इति **यथैव इदम्** इत्यस्य

लेखः

विज्ञानस्वसुखरूपप्रदत्वाद् आत्मनः इति मुख्यतयैव अभिप्रेतइति न दोषः. ''यद्रूपं यदधिष्ठानम्'' (श्लो. २) इत्यनेन **तत्त्वप्रश्नाः षट्**. ''यद्विज्ञानो यदाधारः'' (श्लो. ४) इत्यनेन ब्रह्मा हिरण्यगर्भः तद्**विषयकाः चत्वारः**. तथा ''नाहं वेद'' (श्लो. ६-७) इति द्वाभ्यां कृतः ततः कश्चिद् अन्यो अस्ति न वा इति **अन्तिमप्रश्नः** —इत्येवं **त्रयोदश** इति अर्थः. **तस्य भगवद्भावबोधनम्** इति. **तस्य** ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वादि-भगवद्धर्मबोधनम् इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **अज्ञानाद्** इति. ब्रह्मस्वरूपाज्ञानाद् अयं प्रश्नो न भवति किन्तु तस्य सर्वज्ञत्वादिकं ज्ञात्वैव इति उक्तं भवति इति अर्थः. यद् वा ब्रह्मणि भगवद्भावएव नारदस्य वर्तते इति सम्बोधनद्वयेन बोधनम् इति अर्थः. **तदर्थम् एवं प्रक्रियया** इति. महतोपक्रमेण सर्वोत्कृष्टत्व-बोधनपुरःसरम् इति अर्थः. **वक्ष्यते** इति. ... . **अनेन** इति.

१. इत्युपपत्ताविति क-ग-घ-प्रकाशे - सम्पा. २. यदहमिति ख. ३. -प्रश्ने इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा. ४. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा. ५. सर्वत्र कर्तृत्वेन इति मा.पाठे - सम्पा.

पदार्थानाम् उत्पत्तितः स्वरूपं वक्तव्यम् इति उक्तं भवति, अन्यथा भगवता उत्पत्तेः अनुक्तत्वाद् ब्रह्माऽपि न वदेत्. अतो यथाधिकारं पदार्थाः वक्तव्याः इति निर्धारितम् ॥८॥

इदानीं प्रथमम् अन्तिमप्रश्नोत्तरं वक्तुं सर्वेषां प्रश्नानां एकपरत्वम् आह **सम्यग्** इति.

॥ ब्रह्मा उवाच ॥

सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम् ॥
यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्यदर्शने ॥९॥

सर्वेषां प्रश्नानाम् उत्तरं भगवानेव. सएव ज्ञानादिः. तत्रैव अवान्तरभेदाः द्वादश भवन्ति. तएव स्कन्धार्थत्वेन पर्यवसानं प्राप्स्यन्ति. तत् कथम् इति अपेक्षायाम् आह **यद् अहं (चोदितः!)** प्रेरितः **भगवद्वीर्यस्य दर्शने** ज्ञानार्थम् इति. यदि सर्वैरेव प्रश्नैः भगवानेव उत्तरत्वेन वक्तव्यो भवति तदा एवं सङ्गच्छते, परं केनचित् केनचिद् रूपेण तत्तत्प्रश्नोत्तररूपो भगवान्. तानि रूपाणि अग्रे वक्तव्यानि. अतएव **(सम्यक्!)** तस्य प्रश्नस्य अभिनन्दनम्, अन्यथा कोपः कर्तव्यः स्यात्. भगवद्वीर्याणां

प्रकाशः

किं प्रयोजनम् अतः आहुः **अहम्** इत्यादि. **अन्यथा** इति प्रकाराकाङ्क्षानुक्तौ. ननु तथा ज्ञानस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **अतः** इति, एवम् अधिकारभेदसूचनात् ॥८॥

सम्यग् इत्यत्र. **अन्यथा** इति, अतिवादाद् ज्ञात्वा प्रश्नकरणाच्च ॥९॥

लेखः

... . **उत्पत्तेः अनुक्तत्वाद्** इति. चतुःश्लोक्या संग्रहरूपया ब्रह्माणं प्रति भगवता अनुक्तत्वात् सामान्यरीत्या प्रश्ने तं प्रति **ब्रह्मापि न वदेद्** इति भावः ॥८॥

द्वादश इति. आत्मप्रश्नस्यापि सूचितत्वेन न पृथग् गणना इति अभिप्रेत्य द्वादशत्वम् उक्तं ज्ञेयम्. **तत् कथम्** इति. भगवानेव उत्तरम् इति कथं ज्ञातम् इति अर्थः ॥९॥

वक्तव्यत्वेन उपस्थितत्वाच्च तदभावः. **यत् (ते!)** तव अयं प्रश्नः सः **कारुणिकस्य** तव, अनेन व्याजेन सर्वे संसाराद् मोचनीयाः इति, अहं च कृतार्थः कर्तव्यः इति च. अन्यथा **(सौम्य!)** परमभागवतस्य तव अज्ञानं न सम्भवति इति अभिप्रायः. **वत्स** इति स्नेहेन सम्बोधनं मातुः औधसं पयइव ब्रह्मणो हृदयाद् भगवच्चरित्रम् उद्गतम् अस्ति इति ज्ञापयति. **विचिकित्सितं** विचारितं ज्ञातुम् इष्टं वा ॥९॥

एवं प्रश्नाभिनन्दनम् उक्त्वा सन्तोषेण, वक्तृत्वाधिकारं च निरूप्य, अन्तिमप्रश्नस्य उत्तरम् आह ''नाऽहं वेद'' (श्लो. ६) इत्यस्य.

नाऽनृतं तव तच्चाऽपि यथा मां प्रब्रवीषि भोः ॥
अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे ॥१०॥

न अनृतम् इति. यत् **तव** वचनं ''त्वत्तो अन्यो महान् नास्ति'' इति **तद् अनृतं न** भवति. **अनृतं** नाम अन्यथा ज्ञात्वा[१] अन्यथा वचनं, नतु अज्ञानात्. तद् 'अज्ञवचनम्' इत्येव लोकप्रसिद्धिः. अप्रामाण्यस्य तुल्यत्वेऽपि एवं वचने अनृतवाददोषो नास्ति इति अर्थः. **यथा मां प्रब्रवीषि** ''त्वमेव महान्'' इति. सत्यन्तु न भवति इति आह **अविज्ञाय परं मत्तः** इति. **मत्तः परम्** उत्कृष्टं मन्नियन्तारम् **अविज्ञाय** एतद्वचनम् इति अर्थः. को असौ इति अपेक्षायाम् आह **एतावत्त्वं यतो हि मे** इति, यावन्तः उत्कृष्टाः मयि धर्माः त्वया उदिताः ते हि सर्वे यत्सम्बन्धाद् मयि जाताः सः भगवान् इति अर्थः ॥१०॥

एवम् अन्तिमप्रश्नोत्तरम् उक्त्वा प्रथमप्रश्नोत्तरम् (श्लो. १) आह.

येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम् ॥
यथाऽर्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः ॥११॥

येन इति. भगवान् ज्ञानं भवति येन रूपेण तद्रूपम् उच्यते. ज्ञानं हि स्वप्रकाशं सर्वमेव प्रकाशयति, दीपमपि प्रकाशयति यतः.

प्रकाशः

येन इत्यत्र. **एवम्** इति. भगवतः परत्वोक्त्यैव तपःकरणस्यापि

---

१. ज्ञानाऽन्यथेति ख-घ.

तस्मात् सर्वप्रकाशकं[१] स्वप्रकाशं[२] यत् चैतन्यं भगवद्रूपं तद् ज्ञानम् इति अर्थः. **येन** भगवता **स्वरोचिषा** स्वप्रकाशेन स्वयमेव रोचते. स्वात्मानं वा रोचयति इति **स्वरोचिः**. **विश्वं** तेनैव **रोचितं** प्रकाशितम्. अव्यक्ते लीनं विश्वं तद्रोचिषा प्रकाशितं जातम्. तदा स्थूलतया ब्रह्म अभिव्यनक्ति, तद् आह **रोचयामि अहम्** इति. यथा महाकाष्ठस्थितो वह्निः मथनेन अभिव्यक्तएव तृणादिभिः अभिव्यज्यते, नतु सहसा तृणादिभिः अभिव्यक्तुम् अर्हति. तत्र श्रुतिसिद्धं दृष्टान्तम् आह **यथा अर्को अग्निः** इति. अन्ये तु जडाः न स्वप्रकाशाः, तेजस्तु स्वप्रकाशमेव. तदपि चेद् भगवता प्रकाश्यं तदा कः सन्देहो अन्यस्य तत्प्रकाश्यत्वे! तत्र श्रुतिः— "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं न इमा विद्युतो भान्ति कुतो अयम् अग्निः, तमेव भान्तम् अनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डकोप. २।२।१०) इति. तत्र विद्युतां कादाचित्कत्वाद् न तद्ग्रहणम्. **यथा अर्को** ज्ञानेन प्रकाशितमेव स्वयं प्रकाशयति, स्वयञ्च प्रकाशितः. "यद् आदित्यगतं तेजः" (भग.गीता १५।१२) इति वाक्यात् तत्रापि भगवत्तेजएव प्रकाशकम्. तथा मय्यपि इति अर्थः. एवम् **अग्न्यादयः**, **ऋक्षाणि** अश्विन्यादीनि, **ग्रहाः** बुधादयः, अन्याः **तारकाः** ॥११॥

एवं ज्ञानस्वरूपं भगवन्तं प्रतिपाद्य तत्कर्तव्यान्तराभावाद् भक्त्या नमस्यति.

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम् ॥१२॥

तस्मै नमो भगवते इति. लोकवेदप्रसिद्धः तच्छब्देन उच्यते. **भगवते**

प्रकाशः

उत्तरप्राप्त्या. **तस्मात् सर्वे**त्यादि. एतेन 'ज्ञानि'पदप्रवृत्ति-निमित्तभूतं ज्ञानं चिद्रूपो भगवानेव ; सः येष्वेव स्वेच्छया आविर्भवति केनचित्प्रकारेण तान् माया न व्यामोहयति. तदा ते लब्धात्मानो "ज्ञानिनः" इति उच्यन्ते इति ज्ञापितम् ॥११॥

तस्मै नमः इत्यत्र. **भक्त्या** इति, माहात्म्यज्ञानपूर्वक-स्नेहेन इति

---

१. सर्वप्रकाशस्वप्रकाशमिति ग. २. स्वप्रकाशकमिति घ.

इति तस्य ज्ञानस्य न धर्मत्वं न अंशत्वम्. प्रयोजनन्तु मोक्षः, तद् आह **वासुदेवाय** इति. **(नमो!)** भक्तिः नमनम्. निदिध्यासनम् अन्तरङ्गं साधनं, तद् आह **धीमहि** इति. तत् **नमो** वा. एवं ज्ञानं निरूप्य सर्वेषां तदज्ञानं युक्तमेवेति विरोधाभावाय आह **यन्मायया** इति, यस्य[१] भगवतो ज्ञानरूपस्य वशवर्तिनी काचित् शक्तिः माया इति. सा जगत्कर्तुः[२] मायातो भिन्ना. एतस्याः व्यामोहएव फलं, तस्यास्तु जगतः करणत्वं कर्तृत्वं वा भगवदाज्ञया. तत्र मायायाः सामर्थ्यम् आह **दुर्जयया** इति, तस्याः जयः प्राणिमात्रस्य अशक्यः. इयमेव माया वेदस्तुतौ मारणीयत्वेन वेदैः प्रार्थिता. ते हि ज्ञानं बोधयन्ति, एषा तु मोहयति. तस्याः फलं महत्स्वपि दृश्यते इति आह **मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम्** इति. क्रियाशक्तेः

प्रकाशः

अर्थः. विवृतौ **भक्तिः** इति, बाह्यभक्तिः इति अर्थः. **निदिध्यासनम्** इति, विशिष्टालम्बनरूपं ज्ञानम् इति अर्थः. **तत् नमो वा** इति. **नमो धीमहि** तन्नमनमेव ध्यायेम इति अर्थः. **इति विरोधाभावाय** इति, अस्मिन् अर्थे विरोधाभावाय इति अर्थः. विवृतौ. वेदानुसरणे सा पराजिता भविष्यति इति आशङ्कायाम् आहुः **इयम्** इत्यादि. अत्र **यन्मायया** इति सार्धेन ''दैवी ह्येषा'' (भग.गीता ७।१४) इति व्याकृतं ज्ञेयम्. **महत्स्वपि** इति, त्वादृशेऽपि[३] इति अर्थः. **जगद्गुरुम्** इति ज्ञानदातारं, नतु स्वीयक्रियासम-क्रियादातारम् इति अर्थः. एतेन मयि तादृक्क्रियादान-सामर्थ्याभावं जानतोऽपि ते या मयि परत्वबुद्धिः सा तत्कार्यम् इति ज्ञापितम् ॥१२॥

लेखः

तस्मै इत्यत्र. **इयमेव माया** इति. ''जय जय जहि अजाम् अजित'' (भाग.पुरा. १०।८४।१४) इत्यादिना प्रार्थ्यते इति अर्थः. **ते हि** इति, वेदाः हि इति अर्थः. **क्रियाशक्तेः** इति. जायते गच्छति

---

१. तस्येति क-ख-घ. २. जगत्कर्तृमायात इति क.

३. तादृशेष्वपि इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

अन्याधीनत्वाद् **जगद्गुरुम्** इति उक्तम् ॥१२॥

तर्हि इयं शक्तिः मोहकस्वरूपत्वात् स्वाश्रयमपि व्यामोहयेद् इति आशङ्क्य आह.

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया ॥
विमोहिता विकत्थन्ते ममाऽहमिति दुर्धियः ॥१३॥

विलज्जमानया इति. साहि भगवतो भार्या स्वस्य भगवता सह निरन्तर-रमणार्थम् अन्येषां बुद्धिं मोहयति. तस्याः तथात्वं भगवान् जानाति. अतो **विलज्जमाना (यस्य!) ईक्षापथेऽपि स्थातुं** विलज्जते. अतएव ये तत्सन्मुखाः तान् न व्यामोहयति, पृष्ठतः प्रवृत्तानेव व्यामोहयति! तदेव आह. **अमुया विमोहिताः "मम, अहम्" इति विकत्थन्ते.** मोहने द्वारम् आह **दुर्धियः** इति, यतो धियमेव व्यामोहयति ॥१३॥

एवं ज्ञानं सपरिकरं निरूप्य आत्मनिरूपणार्थं प्रथमतः तत्त्वं निरूपयति **द्रव्यम्** इति.

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ॥
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न चाऽन्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥१४॥

इदं हि तत्त्वं न नाना किन्तु सर्वेषाम् एकमेव तत्त्वम्. तत्र सर्वं पञ्चाङ्गम्. तेषां पञ्चानां यदि भगवानेव तत्त्वं तदा तत्कार्याणां सुतरामेव तदेव तत्त्वं भवति. तानि पञ्च गणयति. **द्रव्यम्** अधिभूतं समवायिकारणं महाभूतादि[१]. **कर्म** जगतो जन्मनिमित्तं साधारणं **च**काराद्

प्रकाशः

अतएव सम्मुखे स्थातुम् अशक्तत्वादेव इति अर्थः ॥१३॥

द्रव्यम् इत्यस्य आभासे. **सपरिकरम्** इति. तादृशज्ञानस्य असार्वत्रिकत्व-समर्थको यो [२]मोहादिरूप-परिकरः तत्सहितम् इति अर्थः.

लेखः

इति जगत्. एवञ्च प्रपञ्चोत्पत्ति-लयक्रिययोः **अन्याधीनत्वाद्** भगवदधीनत्वात् तन्नियामकगुरुत्वेन मायामोहिताः मां कल्पयन्ति इति अर्थः ॥१२॥

---

१. महाभूतानि इति घ. २. मोहादिरूपः इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

भूतसंस्काररूपञ्च. **कालो** गुणक्षोभकः **च**काराद् निमित्तभूतश्च, यस्तु आधारत्वेन सर्वत्र प्रतीयमानः. **स्वभावः** परिणामहेतुः. **जीवो** भोक्ता भगवदंशः **च**कारात् तत्तदभिमानिनी देवता च. तत्र काल-कर्म-स्वभावाः निबन्धे[१] सम्यग् निरूपिताः, जीवोऽपि पृथग् निरूपितः, द्रव्यन्तु अत्रैव. सर्वं प्रकृतिकार्यम् अग्रे निरूपयिष्यते. एते सर्वे **वासुदेवाद् अन्ये न** भवन्ति. एतेषां देवरूपत्वात् सत्त्वमूर्तिः भगवान् निर्दिष्टः तत्त्वनिरूपणे. **तत्त्वतः** इति प्रतीयमानतया अन्यत्वेऽपि परमार्थतो न अन्यत्वं, यतो अस्तित्वं तस्यैव. **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनं निरूपिते अर्थे असम्भावना-व्यावृत्त्यर्थम्. यतः त्वमेव ब्रह्म अतो अन्यस्य ब्रह्मत्वे कः सन्देहः इति भावः. **च**काराद् धर्मभेदोऽपि नास्ति इति अर्थः. **अन्य**त्वेन स्वरूपभेदो निराक्रियते, **पर**त्वेन अधिष्ठातृभेदः.

प्रकाशः

विवृतौ **भूतसंस्काररूपम्** इति, अदृष्टरूपम् इति अर्थः. **एतेषाम्** इत्यादि. अत्र उच्यमानानां कालादीनां देवतारूपत्वात् सात्विकशरीरवत्त्वात् **सत्त्वमूर्तिः** सतो भावो धर्मः सत्त्वं, नतु प्रकृतिगुणभूतं, तन्मूर्तिः शरीरं यस्य तादृशो **भगवान् निर्दिष्टः** कारणतया बोधितो अनागन्तुकाऽनारोपितरूप-**निरूपणे** इति अर्थः. **तस्यैव** इति मूलभूत-सतएव. **त्वमेव ब्रह्म** इति. "ब्रह्मदाशा" (अथर्वपिप्प.संहि. ८।९।११) इत्यादि श्रुतेः इति अर्थः. **धर्मभेदोपि न** इति. उपादानत्व-निमित्तत्व-क्षोभकत्व[२]-वैजात्यजनकत्व-भोक्तृत्वादयो धर्मा-अपि भगवदीयाएवेति धर्मतोपि भेदो न इति अर्थः. ननु अत्र **परा-ऽन्यशब्दयोः** ऐकार्थ्याद् अन्यतरवैयर्थ्यम् आयाति इत्यतः आहुः **अन्यत्वेन** इत्यादि. **अधिष्ठातृभेदः** इति भिन्नाधिष्ठातृकत्वम्. तथाच वासुदेवात् परो न किन्तु अपरः तन्नियम्यः इति अर्थः. एवं सति जीवादीनां भगवदात्मकत्वेऽपि न भगवत्त्वं किन्तु ततो न्यूनत्वम् इति उक्तं भवति. अयम् अर्थो

लेखः

द्रव्यम् इत्यत्र. **निबन्धे सम्यग् निरूपिता** इति. ... ॥१४॥

---

१. द्रष्ट. त.दी.नि. २।१०४-११६ -सम्पा.

२. क्षोभवत्त्व- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् -सम्पा.

अर्थः इति युक्तिः उक्ता— नित्यो हि शब्दार्थसम्बन्धः, तत्र शब्दाः[१] अर्थाश्च नित्याः ; ते यदि भगवद्रूपाएव भवन्ति तदैव सदा एकरूपं नित्यत्वं सिद्ध्यति इति ॥१४॥

एवं "सर्वेषां तत्त्वं भगवान्" इति उत्तरम् उक्त्वा विमर्शनं[२] यत् पृष्टं (श्लो. १) तत्र उत्तरम् आह.

प्रकाशः

दशमाध्याये "यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया" (भाग.पुरा. २।१०।१२) इत्यत्र स्फुटो भावि इति अनवद्यः. ननु अपकृष्टत्वेन भिन्नधर्मकत्वे बोधिते सत्तामात्रं न स्वरूपानन्यत्वसाधकं, "द्रव्यादिकं वासुदेवात्मकं, सद्रूपत्वाद्" इत्यत्र "न तदात्मकं, भिन्नधर्मकत्वाद्" इति सत्प्रतिपक्ष-सत्त्वाद् इति आशङ्क्य अपकृष्टत्वेऽपि स्वरूपानन्यत्वसाधकं युक्त्यन्तरम् आह इति आहुः **'अर्थः' इति युक्तिः उक्ता** इति[३]. **अर्थः** अभिधेयः इति अर्थः. ननु **अर्थ**पदस्य कथं युक्तित्वम् इत्यतः आहुः **नित्यो हि** इत्यादि. **शब्दार्थसम्बन्धः** 'द्रव्यादि'शब्दैः सह अर्थस्य द्रव्यादेः सम्बन्धो वाच्य-वाचकत्वरूपो **हि** यतो हेतोः **नित्यः**. यथा लौकिकैः साङ्केतिकैः 'नरसिंहा'दिशब्दैः पुरुषाः अभिधीयन्ते तथा न किन्तु तत्र नित्यसम्बन्धवादे शब्दाः वाचकाः अर्थाः अभिधेयाश्च नित्याः. अतो "भिन्नधर्माणो द्रव्यादयो भगवदात्मकाः, नित्यत्वात्, नित्याः अर्थत्वाद्, यद् न एवं तद् न एवम्" इति. तथाच "सदेव सौम्य इदम्" (छान्दो.उप. ६।२।१) इति श्रुत्या सर्वस्य सदात्मकतयैव नित्यत्वाद् विकल्पानां वाचारम्भण-मात्रत्वाद् भगवद्रूपत्वेनैव अर्थत्वम् इति **अर्थ**पदस्य युक्तित्वम् इति अर्थः ॥१४॥

नारायण इत्यत्र. **विमर्शनम्** इति, येन विचारेण सर्वेषाम् इदमेव अनारोपितरूपम्[४] इति ज्ञायते तादृशो विचारः ऊहापोहरूपः. ननु वेदादीनां नारायणपरत्वे कथं पूर्वोक्त-तत्त्वज्ञानसिद्धिः इति आकाङ्क्षायां तद् उपपादयितुं

---

१. शब्दार्थाश्चेति क-ग-घ-ङ. २. विमर्षणमिति क-ग-ङ.

३. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

४. अनारोपितं रूपम् इति मा.पाठे - सम्पा.

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः ।।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ।।१५।।
नारायणपरा योगा नारायणपरं तपः ।।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः ।।१६।।

नारायणपराः वेदाः इति. यदि भिन्नार्थत्वं सम्भवति तदा भूयान् विचारः कर्तव्यो भवेत्. तत्र स्वरूपतो अर्थतः फलतः साधनतः परम्पराङ्गतः[1] – द्वितीयकाण्डेऽपि साधनतः कार्यतः फलतश्च – भगवानेवेति कस्मिन्नपि अंशे विवादाभावाद् भगवानेव तत्त्वम् इति विमर्शः. तत्र वेदानां भगवन्निःश्वासाद् निर्गतानां पुनः तत्रैव प्रवेक्ष्यमाणानां (शब्दानां!) तात्पर्यं

प्रकाशः

तर्कम् आहुः **यदीत्यादि**. **भूयान्** इति, अर्थतत्त्वस्य नानात्वेन तद्विषयकतया भूयान्. तथाच श्रुतौ यतो न एवम् अतो भिन्नार्थत्वं न इति अर्थः. सिद्धवत्कारेण आहुः **तत्र स्वरूपतः** इत्यादि. **तत्र** इति पूर्वकाण्डे. **भगवानेव** इति, प्रतिपाद्यः इति शेषः. स्वरूपतो भगवत्परत्वं दर्शयन्ति **तत्र वेदानाम्**

लेखः

नारायण इत्यत्र. विशेषणानां तात्पर्यं वदन्ति **स्वरूपतः** इत्यादि. तत्र आद्यविशेषणे सर्ववेदानां **स्वरूपतो** भगवत्परत्वम् उक्तम्. द्वितीयविशेषणे देवानां वेदार्थभूतानां दुर्गा-गणपति-इन्द्रप्रभृतीनां भगवदवयवत्व-निरूपणाद् **अर्थतो**ऽपि भगवत्परत्वम्. तृतीये च वेदोक्त-कर्म-फलभूतानां लोकानां तत्परत्वोक्त्या **फलतः** तथा. तुरीये साधनभूतानां मखानां तत्त्वनिरूपणात् **(साधनतः!)** तथा. अस्यैव अर्थकथनं **परम्पराङ्गतः** इत्यादि. एतावता पूर्वकाण्डनिर्णयः उक्तो भवति. उत्तरस्य व्यवस्थां वक्तुम् अग्रिमश्लोक-विशेषणार्थं वदन्ति **द्वितीयकाण्डेऽपि** इत्यादि. तत्र योग-तपसोः भगवत्परत्व-प्रतिपादनेन उत्तरकाण्डीय-साधनानां तत्परत्वम् उक्तम्. तथा योग-तपः-कार्यभूत-विज्ञानस्य तत्परत्वोक्त्या कार्यस्य तत्परत्वम् उक्तम्. अन्तिमेन फलतः तदुक्तिः स्पष्टैव. तदेतद् उपपादयन्ति **तत्र वेदानाम्** इत्यादि. **चतुर्विधानि** इति,

---

१. परम्परातः इति मुद्रितपाठः. क-ख-लेखे तु एवम् -सम्पा.

नारायणः इति निर्विवादम्. मध्येऽपि ते स्वार्थं प्रत्याययन्तः तदर्थस्य भगवद्रूपत्वाद् भगवत्पराएव भवन्ति. किञ्च वैदिकानि चतुर्विधान्यपि पदानि भगवद्बुद्ध्यवस्थितम् अर्थं व्याप्नुवन्ति सन्ति, लोके पुरुषप्रयत्नोद्यतास्तम् अर्थम् अभिधाय कृतार्थानि सन्ति निवर्तन्ते. ''भगवद्बुद्ध्यवस्थितान् अर्थान् जानन्तु'' इति हि तेषां प्रयासः. ततो भगवदभिप्रेतार्थ-साधकत्वादपि भगवत्पराएव. एवं शब्दतो अर्थतो अभिधानतश्च भगवत्पराः.

ननु✻ संसर्गरूपो वाक्यार्थः तेषाम् अभिप्रेतो अर्थो भवति. सच

प्रकाशः

इत्यादि. ''एतस्यैव महतो भूतस्य निःश्वसितं यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः'' (बृहदा.उप. २।४।१०) इत्यादि श्रुतेः तादृशानां वेदानां **तात्पर्यं** सः परो = नियन्ता यस्य असौ तत्परः, तस्य भावः तात्पर्यं, नियम्यत्वम् इति यावत्, तथाच तद्बोधितं नियामकत्वं नारायणइति स्वरूपतः तत्प्रतिपादकत्वम् उक्तम्. अर्थतो दर्शयन्ति **मध्येऽपि** इत्यादि. **मध्ये** इति बहिःस्थितिदशायाम्. साधनतो दर्शयन्ति **किञ्च** इत्यादि. **चतुर्विधानि** इति नाम-क्रिया-निपातोपसर्ग-रूपाणि. **व्याप्नुवन्ति** इति वदन्ति. **पुरुषप्रयत्नोद्यतास्तम्** इति, **पुरुषप्रयत्नेन उद्यतम्** आविर्भावः **अस्तं** तिरोभावो यस्य द्रव्य-गुण-क्रियादेः तादृशम्. **एवम्** इति, वेदत्वेन अर्थाभिधायकत्वे च इति अर्थः.

लेखः

नामाख्यातोपसर्ग-निपात (भेद!) भिन्नानि[१] **चतुर्विधानि भगवद्बुद्धिस्थम् अर्थं** व्याप्य स्थितानि **सन्ति, लोके पुरुषप्रयत्नेन उद्यतम्** आविर्भावः **अस्तं** तिरोभावश्च यस्य द्रव्य-गुण-क्रियादेः तादृशम् **अर्थम् अभिधाय कृतार्थानि सन्ति** स्वव्यापाराद् **निवर्तन्ते.** अत्र **व्याप्नुवन्ति** इति **सन्ति** इति च द्वयं प्रथमा बहुवचनान्तं, नतु क्रियापदम्. **तेषां** वेदानाम्. **अभिधानतः** इति, 'ज्योतिष्टोमा'दि-विशेषाभिधानतश्च इति अर्थः.

अत्र आशङ्कते **ननु** इत्यादि. **स च** इति, वाक्यार्थश्च इति

---

१. न.पाठानुसारेण. -निपाताभि- इति ग.पाठे - सम्पा.

चतुर्विधो विध्यर्थवाद-मन्त्र-नामधेयात्मकः[१]. तत्र विध्यर्थस्य[२] पुरुषप्रयत्नप्रेरणा-लक्षणस्य पुरुषप्रयत्ने तात्पर्यं, पुरुषप्रयत्नाभिव्यङ्ग्ये[३] भावे वा. विधेयार्थ-स्तवनेतु अर्थवादाः. मन्त्राअपि याज्याव्यतिरिक्ताः देवताप्रतिपादन-स्तुत्यादौ उपयुक्ताः, याज्यास्तु देवतोद्देश-द्रव्यत्यागे. नामधेयान्यपि धात्वर्थावच्छेदने तात्पर्ययुक्तानि. तस्मात् तत्तदर्थे उपक्षीणानि[४]*कथं भगवति तात्पर्यम् आवहिष्यन्ति? तत्र आह **देवाः नारायणाङ्गजाः, नारायणपराः लोकाः, नारायणपराः मखाः** इति. सर्वो हि वेदः प्रवर्तमानः चतुर्विधोऽपि यागे उपयुज्यते, महावाक्यार्थत्वाद् यागस्य. तत्र हि यागः करणं, स्वर्गादिः साध्यम्. तत्र साम्प्रतं पुरुषप्रयत्नेन अभिव्यक्ताः यागाः स्वव्यापारं देवताप्रीतिं मध्ये जनयन्ति, अन्यथा व्यापाराभावे करणभावादेव प्रच्यवन्ते. अदृष्टादिकन्तु न व्यापारः,

प्रकाशः

परम्पराऽङ्गतः[५] तथात्वं दर्शयन्ति **ननु** इत्यादि. **चतुर्विधः** इति. निषेधानां निवृत्तिविधायकत्वेन विधौ, पर्युदासानां च अर्थव्युदासद्वारा नामधेये पर्यवसानात् तथा इति अर्थः. **भावे** इति धात्वर्थरूपायां क्रियायाम्. **तत्र हि** इति वाक्ये हि. **तत्र** इति स्वर्गसाधने. **अदृष्टादिकम्** इति **आदि**पदेन अपूर्वम्. ननु देवताप्रीतेः व्यापारत्वे किं मानम् इति आकाङ्क्षायां

लेखः

अर्थः. **विध्यर्थवादे**त्यादि. "वायव्यं श्वेतम् आलभेत" (तैत्ति.संहि. २।१।१।३) इत्यादि प्रयोजनवदर्थविधायको विधिः. "वायुः वै क्षेपिष्ठा देवता" (तैत्ति.संहि. २।१।१।१) इत्यादि विधेयार्थस्तावको अर्थवादः. "बर्हिः देवसदनं दामि" (मैत्रा.संहि. १।१।२) इति "अग्ने यशस्विन् यशसे" (.   । ।) इत्याद्युत्तमाः आमन्त्रणाद्यन्ताः प्रयोगसम-वेतार्थ-प्रतिपादकाः मन्त्राः. "उद्भिदा यजेत" (ताण्ड्यमहाब्रा. १९।७।३), "चित्रया यजेत" (तैत्ति.संहि. २।४।६।१) इत्यादिषु उद्भिदादयो नामधेयानि.

१. नामधेयार्थात्मक इति घ-ङ. २. विध्यर्थस्य तु इति ख-ङ.
३. अभिव्यङ्गे इति क-ख-ग-ङ. ४. उपज्ञायमानानीति ग.
५. परम्परागतः इति मा.पाठे - सम्पा.

यागेन अजन्यत्वात्, कल्पनायां मानाभावाद्, दृष्टस्य व्यापारस्य विद्यमानत्वाच्च. ते हि देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागं कुर्वन्तः स्वर्गं साधयन्ति. देवता च अन्यदीयं हविः विधानेन गृहीत्वा किञ्चिद् उपकर्तुम् उचिता भवति, लोके तथा उपलब्धेः, अन्यथा तदुद्देश-द्रव्यत्यागत्वं यागस्य न स्याद्, द्रव्यसंस्कारकत्वेनाऽपि देवतोपयोगस्य वक्तुं शक्यत्वात्[१]. निर्वापाद् आरभ्य तत्सम्बन्धवचनस्य च[२] प्रोक्षणादिवत्[३] संस्कारपरत्वं घटते. यद्यपि 'देवता'पदेषु विद्यमाना

प्रकाशः

"सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा" (भग.गीता ३।१०) इत्यादि गीतास्थ-सन्दर्भस्य प्रमाणत्वेऽपि मीमांसकादीनाम् अपरितोषात् कुतर्कसम्भवः इत्यतः तदुपपादयन्ति **ते हि** इत्यादि. **ते** इति यागकर्तारः. **तथोपलब्धेः** इति, प्रीत्या प्रत्युपकारस्य दर्शनात्. **अन्यथा** इति प्रीतेः व्यापारत्वाभावे. कुतो न स्याद् इत्यतः आहुः **द्रव्ये**त्यादि. तथाच संस्कारकस्य उद्देश्यत्वाभावात् तथा इति अर्थः. ननु संस्कारकत्वेनापि उद्देश्यत्वे बाधकाभावाद् न यागलक्षणस्य[४] प्रीतिसाधकत्वम् इति [५]आकाङ्क्षायां 'देवता'पदेषु श्रूयमाणायाः चतुर्थ्याः तत्साधकत्वं व्युत्पादयन्ति **यद्यपि** इत्यादि. **तत्कल्पनायाम्** इति स्मारक-कल्पनायाम्.

लेखः

यागेन अजन्यत्वाद् इति. वैदिकक्रियायाएव नित्यत्वेन फलस्य विद्यमानत्वाद् मध्ये अदृष्टकल्पनायाः अप्रयोजकत्वाद् इति भावः. ननु तर्हि व्यापारवत्त्वाभावाद् यागस्य करणत्वहानिः इत्यतः आहुः **दृष्टस्य** इति, देवताप्रीतिरूपस्य. **अन्यदीयम्** इति. **विधानेन** विधिप्रकारेण **देवता हविः गृहीत्वा अन्यदीयं** कर्तृसम्बन्धि **किञ्चिद् उपकर्तुम् उचिता भवति** इति अर्थः. **लोके** इति. लोके हि उपकर्तुः प्रत्युपकारः क्रियतएवेति तथा इति अर्थः. **द्रव्यसंस्कारकत्वेन** इति, प्रोक्षणादिसंस्कारः. **तत्सम्बन्धेति**, देवतासम्बन्धेति अर्थः.

---

१. कल्पनायां मानाभावादित्यधिको ग्रन्थः ग. २. चेति नास्ति ग-घ.

३. तत्संस्कारेति ख. ४. देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्य : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

५. अपेक्षायाम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

चतुर्थी तादर्थ्ये न भवति, उपपदविभक्तित्वात् – प्रीतिरपि अनित्या, कालान्तर-स्मारकस्याऽपि अभावात्, तत्कल्पनायां गौरवं – तथापि चतुर्थ्या निरर्थकत्वदोष-निवृत्त्यर्थम् अवश्यम् अर्थो वक्तव्यः. सच अन्यत्र सिद्धत्वात् सम्प्रदानएव भवति, देवतोद्देशप्रसिद्धेश्च. ''यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्याद्'' (ऐत.ब्रा. ११।८।१) इत्यत्र ''अग्नये जुष्टं निर्वपामि'' (तैत्ति.संहि. १।१।४।२) इत्यादौ च चतुर्थ्याः तादर्थ्यार्थत्वम्[१]. नहि तत्र 'नमः'-'स्वस्त्या'दिपदानि सन्ति. यागेतु पुनः स्वर्गः फलत्वेन अभिमतः इति केवलं देवतायाः उद्देश्यत्वाभावाद् अवान्तरव्यापारविवक्षार्थं ''नमः स्वस्ति स्वाहा'' (पाणि.सूत्र २।३।१६) इति उपपद-विभक्त्यनुशासनम्. नच प्रीतिः व्यापारः, तस्याः अन्यधर्मत्वेन स्वर्गजनकत्वाभावात्. देवता तु स्वर्गादौ अधिकृता फलं दातुं शक्नोति, अतो द्रव्येण प्रीता देवता व्यापारः. साच नित्या चेतना

प्रकाशः

सच इत्यादि. **सो** अर्थः **अन्यत्र** ''विप्राय गां ददाति'' इत्यादौ केवलचतुर्थ्यां **सिद्धत्वात् सम्प्रदान**-निष्ठएव **भवति** इति अर्थः. **तादर्थ्यत्वम्** इति तादर्थ्यवाचकत्वम्. ननु एवं निर्वाहे उपपदचतुर्थ्यनुशासन-वैयर्थ्यप्रसक्तेः न इदं युक्तम् इत्यतः तदभिप्रायकथनेन सार्थकत्वं साधयन्ति **यागे तु** इत्यादि. तथाच एवं 'स्वाहा'योगे अनुशिष्टायाः चतुर्थ्या व्यापारविवक्षया सार्थकत्वे सिद्धे व्यापारविवक्षया देवतायाः उद्देश्यत्वसिद्धिः, तया च प्रीतेः व्यापारत्वसिद्धिः इति अर्थः. ननु लोकन्यायेन देवताप्रीतेः व्यापारत्वम् अयुक्तम्, अन्यधर्मकत्वात्, फलजनकस्य करणधर्मस्यैव लोके छिदादौ व्यापारतायाः दृष्टत्वाद् इति शङ्कायां तदुक्तम् उपगच्छन्ति **नच** इत्यादि. मा अस्तु इति अर्थः. तर्हि अन्यथानुपपत्त्या सिद्धम् अदृष्टादिकल्पनम् इत्यतः आहुः **देवता तु** इत्यादि. अतः शक्तत्वेऽपि सर्वेभ्यः तददानात् प्रीतैव सा तथा, नतु

लेखः

कालान्तरेति. कालान्तरे देवतानां तत्प्रीति-स्मारकाभावाद् इति अर्थः. तत्रापि अदृष्टादीनां स्मारकत्वाङ्गीकारे गौरवम् इति अर्थः.

---

१. तादर्थ्यत्वमिति क-ख-ग-ङ-प्रकाशे. तदर्थत्वमिति घ - सम्पा.

च, यथानुरूपं च फलं नियमयितुं[१] शक्ता. परं तस्याः अपुरुषार्थत्वात् पुरुषस्य अभिप्रेता न भवतीति न तावन्मात्रेण यागस्य अन्यथासिद्धिः. अतो मध्ये व्यापाररूप-देवतापरत्वेऽपि भगवत्परत्वं, यतो **देवाः नारायणस्य अङ्गेभ्यो** बाह्वादिभ्यो **जाताः**. नहि अङ्गसेवार्थं प्रवृत्ताः अङ्गे तात्पर्ययुक्ताः भवन्ति किन्तु अङ्गिनि. यद्यपि अङ्गान्येव[२] वक्तव्यानि तथापि तेषां विग्रहस्यैव अङ्गत्वात् तत्र जाताः अङ्गजाः भवन्ति. प्रीतिपक्षेऽपि दृष्टत्वात् प्रामाणिकत्वाच्च पुनःस्मरणादिकल्पनं न गौरवाय.

किञ्च यत्र देवता व्यापारत्वेन गृहीता सः स्वर्गादिः उद्देश्यो भवति. तस्य लोकत्वे सुखत्वे वा भगवदीयत्वं न व्यभिचरति, स्वर्गादिलोकानां

प्रकाशः

उदासीना. तथाच प्रीतेः यागजन्यत्वात् तद्द्वारा प्रीतत्वेन रूपेण देवतायाअपि तथात्वात् फलजननशक्तत्वाच्च व्यापारलक्षण-समन्वये अनुपपत्त्यभावाद् न अदृष्टादिकल्पनं साधीयः, लोकेऽपि प्रत्युपकारादिस्थले तथोपलब्धेः. अतो मध्ये चेतनस्य यत्र प्रवेशः तत्र अन्यधर्मस्य व्यापारत्वं, यत्र च न चेतनप्रवेशः तत्र तु तथैव इति सर्वं समञ्जसम् इति अर्थः. ननु एवं सति यागस्य करणत्वं हीयेत, तथैव फलस्य सम्भवे यागस्य प्रीतिं जनयित्वा उपक्षीणतायाः शक्यवचनत्वाद् इति आशङ्कायाम् आहुः **परम्** इत्यादि. तेन प्रकृतसिद्धिम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** इति एवं यागस्य अनुपक्षयात्. **भगवत्परत्वम्** इति. यागस्य अङ्गं देवता, तस्याः अङ्गं प्रीतिरिति परम्पराङ्गतो भगवत्परत्वम्. तत्र हेतुम् आहुः **यतः** इत्यादि. **तत्र जाताः** इति, विग्रहे समागताः[३] प्रविष्टाः इति यावत्. ननु एवं सति प्रीतिपक्षः पूर्वं किमिति आदृतः इत्यतः आहुः **प्रीती**त्यादि. तथाच देवेषु योगसत्त्वेन योगजधर्मस्य स्मारकत्व-कल्पनेऽपि दोषाभावात् सोऽपि आदृतः इति अर्थः.

फलतः तथात्वं साधयन्ति **किञ्च** इत्यादि.

---

१. नियन्तुमिति घ. नियमितुमिति ख-ङ. २. अङ्गा एव वक्तव्या इति ग.

३. समाहताः इति मा.पाठे - सम्पा.

हृदा स्वर्गादिलोक[१] (द्रष्ट. श्लो. ३८) इत्यादिना तदवयवत्वेन प्रतिपादनात्. "अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि[२] मात्राम् उपजीवन्ति" (बृहदा.उप. ४।३।३२) इति श्रुत्या भगवदानन्दांशत्वात्[३] स्वर्गादीनां यागकर्तुः स्वसम्पादने भगवदानन्दोपजीवकत्वात् फलदातृ-भगवत्क्रिया-निष्पादकत्वाद् भगवत्परत्वं सुखस्याऽपि.

एवम् अवान्तर-महाफलयोः भगवदीयत्वे तदर्थं प्रवृत्ताः मखाअपि भगवत्पराः इति अविवादम्. अतो वाक्यार्थविवक्षायामपि भगवत्परत्वम् अविवादम् इति वेदानां भगवत्परत्वविमर्शः सिद्धः.

अतः परं पुराणानां भगवत्परत्वविमर्शः कर्तव्यः, "पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीयः" इति. तत्र पुराणे अर्थचतुष्टयं – साङ्ख्यं योगः पशुपतिमतं

प्रकाशः

क्रियानिष्पादकत्वाद् इत्यत्र **क्रियानिष्पादितत्वाद्** इति पाठः प्रतिभाति, **क्रियायाः** इति पदभेदपाठो वा.

सिद्धम् आहुः **एवम्** इत्यादि.

अत्र द्वितीयकाण्डस्थ[४]-साधन-कार्य-फलानां तपो-ज्ञान-ब्रह्मगतीनां पुराणविमर्शेनैव भगवत्परत्वसिद्धेः न तस्य पृथङ्निरूपणम् इति ज्ञेयम्. **पाक्षिकोऽपि दोषः** इति. "इतिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्" (छान्दो.उप. ७।१।२) इति श्रुतेः तस्यापि वेदत्वात् तस्य भगवत्परत्वाभावे पाक्षिको[५]

लेखः

अवान्तरेति. यागस्य लोकात्मकं फलम् अवान्तरम्, आत्मसुखन्तु महाफलम् इति विभागः.

नारायणपरा योगाः इत्यत्र. **पाक्षिकोऽपि** इति. पुराणं पञ्चमो वेदः इति वेदार्थविमर्शेणैव तदर्थस्य भगवत्परत्वे सिद्धेऽपि कस्यचिद् अप्रामाणिकस्य शङ्का स्यात् "पुराणार्थस्य न भगवत्परत्वम्" इति,

---

१. स्वर्गलोक इति क. स्वर्गादिर्लोक इति ख. २. भूतानीति नास्ति क-ख.

३. भगवदंशत्वादिति क.

४. -काण्डस्य इति मा.पाठे - सम्पा. ५. आंशिको इति मा.पाठे - सम्पा.

वैष्णवं[1] – प्रतिपाद्यम्. तत्र अन्तिमस्य एतत्प्रवेशाद् न विरोधशङ्का. योगो हि चित्तवृत्तिनिरोधात्मकः स्वतो अपुरुषार्थभूतः पुरुषार्थसाधनं भवितुम् अर्हति. नच वेदविरुद्धार्थं कल्पयितुं शक्नोति, अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात्. नच अणिमादयः तस्य मुख्यं फलं, मोक्षपर्यवसायित्वाभावे अशास्त्रत्वापत्तेः. सिद्धयस्तु अन्तरायरूपाः कालक्षपणहेतवः[2] इति अग्रे वक्ष्यते. अतो मोक्षं साधयन्नपि योगो भगवति चित्तैकाग्र्यं साधयन्नेव साधयति, सबीज-निर्बीजध्यानयोः भगवच्चरणारविन्द-विषयत्वात्. अतः तस्याऽपि अवान्तर-विवक्षया पूर्ववद् भगवत्प्रीतिरेव अवान्तरव्यापारः इति कल्पनीयम्. चित्तसंस्कारपरत्वेऽपि फलं भगवदधीनमेव इति भगवन्मुखनिरीक्षकत्वम् अवश्यं कल्पनीयम्. **योगाः** इति बहुवचनेन सर्वे योगभेदाः भगवत्पराएव. एतस्य भगवत्परत्वम् अग्रे विस्तरेण वक्ष्यते. भगवत्प्राप्त्युपायत्वात् सामान्यतः तत्परत्वम् अविवादम्. **तपस्तु** भगवदुपयोगि-देहेन्द्रियसम्पादकत्वेन तत्परमेव, अन्यथा क्लेशात्मकस्य तस्य पुरुषार्थपर्यवसानं न स्यात्. पशुपतिमतन्तु तपस्येव उपक्षीणम्. **ज्ञानं** द्विविधं— औपनिषदं साङ्ख्यसिद्धञ्च. तच्च यद्यपि परस्परं विरुद्धम् – औपनिषदं हि सर्वस्य आत्मत्वप्रतिपादनेन आत्मत्वेन सर्वविषयकं भवति, इदन्तु सर्वव्यावृत्तत्वेन आत्मविषयकम् – तथापि प्रथमप्रवृत्तस्य आत्माऽनात्मसंस्कारात् पृथक्कृत्य आत्मावगमनं मुख्यम्, अन्यथा

प्रकाशः

दोषः इति अर्थः. **अग्रे** इति तृतीयस्कन्धे. **अतः** इति ध्यानस्य नश्वरत्वात्. **तपस्येव उपक्षीणम्** इति. तत्र चतुर्थाध्याये भस्मना त्रिषवणादेः उक्तत्वात् शैवपुराणेष्वपि तथैव उक्तत्वात् तस्य च तपोरूपत्वात् तथा इति अर्थः ॥१५-१६॥

लेखः

तद्दोषपरिहाराय इति अर्थः. **अन्तिमस्य एतत्प्रवेशाद्** इति. वैष्णवमतस्य तु सर्वसम्मततया वैदिके प्रवेशाद् इति अर्थः. **सबीजनिर्बीजेति.** … ॥१५-१६॥

---

१. वैष्णवप्रतिपाद्यमिति ख.   २. कालक्षेपणहेतव इति क.

सर्वस्य आत्मत्वं प्रतिपाद्यमानम्[1] आत्माज्ञानाद् अशक्यमेव स्यात्! ज्ञानस्य च ज्ञेयएव तात्पर्यं, ज्ञेयस्तु नारायणएव, आत्मत्वात् सर्वत्वाद् ब्रह्मत्वाच्च. **गतिरपि** पूर्वोक्ता भगवत्परैव. साहि ब्रह्मज्ञानफलं भवति. तद् उक्तं "विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिम्" (भाग.पुरा. २।४।१६) इत्यत्र ॥१५-१६॥

एवं विमर्शं निरूप्य – "यद्रूपम्" (श्लो. २) इत्यादि षट्प्रश्नान् अग्रे विस्तरेण निरूपयिष्यन् – "यद्विज्ञानम्(/नः!)" (श्लो. ४) इत्यादि प्रश्नचतुष्टयस्य चतुर्भिः श्लोकैः उत्तरम् आह **तस्याऽपि** इति. तत्र प्रथमं "यद्विज्ञानः" इत्यस्य उत्तरम्.

तस्याऽपि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याऽखिलात्मनः ।।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहम् ईक्षयैवाऽभिचोदितः ।।१७।।

इदं हि ज्ञानं जगत्कार्यौपयिकमिति[2] न पूर्वेण गतार्थता. "यतो विज्ञानं यस्य" इति प्रश्नात् प्रथमं तस्य विज्ञानं वक्तव्यम्. तथाच उपादानगोचराऽपरोक्षज्ञानं तत्साधकप्रकारेण साधनं ज्ञानं[3] च प्रथमं भगवतो अस्ति इति आह, तस्यैव कर्तृत्वात्. **तस्याऽपि** यत् **सृज्यं** तत् तेनैव **अभिचोदितः सृजामि** इति सम्बन्धः. तस्य सृज्यत्वे हेतुः **द्रष्टुः** इति.

प्रकाशः

तस्याऽपि इत्यत्र. **पूर्वेण** इति मोक्षौपयिकेन आत्मरूपेण. **तस्य**

लेखः

तस्यापि इत्यत्र. **न पूर्वेण** इति, "नारायणपरं ज्ञानम्" (श्लो. १६) इत्यत्रोक्तेन न गतार्थता. तस्य ज्ञानस्य फलौपयिकत्वेन एतस्य च कार्योपयोगित्वेन भिन्नत्वात् तस्य भगवत्परत्वसाधनेन न एतस्य तथात्वं सिद्ध्यतीति तेन न अस्य उत्तरस्य गतार्थता इति अर्थः. **तस्य** इति, विज्ञानप्रयोजकस्य इति अर्थः. **उपादानेति**. समवायिकारण-विषयका-ऽपरोक्षज्ञानम् इति अर्थः. **तत्साधकेति**. कार्यसाधकत्व-प्रकारेण **साधनानां** निमित्तकारणानां कालादीनाञ्च **ज्ञानम्** इति अर्थः. **तस्य सृज्यत्वे** इति. **तस्य** इति कर्तरि षष्ठी.

---

१. प्रतिपद्यमानमिति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ग-घ-ङपाठानुसारेण - सम्पा. २. जगत्कार्योपयिकमिति क-ख-घ-ङ. ३. साधनज्ञानं चेति मुद्रितपाठः. घ-ङपाठेतु एवम् - सम्पा.

विश्वं कार्यं भगवतः सृज्यं, तस्यैव द्रष्टृत्वात्. द्रष्ट्रा[१] हि कार्यं कर्तुं शक्यम्. नहि ज्ञानमात्रेण कर्तुं शक्यम् इत्यतः आह **ईशस्य** इति. **ईशः** समर्थः सर्वं कर्तुम् इति. ननु क्रिया-ज्ञानशक्तिमत्त्वेऽपि व्यापारावेशे लौकिकवत् क्लेशसम्भवाद् आत्मनो विकृतत्वापत्तेः भगवतः कर्तृत्वं न सम्भवति इति आशङ्क्य आह **कूटस्थस्य** इति. सहि सर्वं करोति कूटस्थएव, नतु विक्रियते. यथा कामधेनुः कल्पवृक्षः चिन्तामणिः वा ; योगी वा यथा मनसा सृजति. अतः कूटस्थस्यैव कर्तृत्वसम्भवाद् न काऽपि अनुपपत्तिः. ननु* भगवान् सृष्टिं न अर्हति कर्तुं, प्रयोजनविरोधात्. सहि स्वार्थं वा जीवार्थं वा करोति. स्वार्थं करणे जीवानाम् अनुत्पादनं स्यात्. ततो भक्तिमार्गो विरुध्येत, सर्वेऽपि मार्गाः विरुध्येरन् ; बन्ध-मोक्षाद्यभावाद् वैचित्र्यम् अज्ञानञ्च न स्यात्. अतः उभयार्थं जीवार्थं वा कर्तव्यम्

प्रकाशः

इति विज्ञानदातुः. **ततः** इत्यादि. जीवानुत्पादनात् स्मरणाद्यधिकार्यभावेन स्नेहस्यापि आधाराभावाद् अभावेन **भक्तिमार्गो विरुध्येत.** ततएव **सर्वेऽपि विरुद्ध्येरन्** इति अर्थः. **अतः** इति, दृश्यमानानां तेषाम् उपपादनीयत्वात्.

लेखः

भगवत्कर्तृक-सृज्यत्वं जगतो अस्ति इत्यत्र हेतुः इति अर्थः. **ज्ञानमात्रेण** इति **मात्र**पदेन क्रियादि-व्यवच्छेदः उक्तः. **सर्वं कर्तुम्** इति. सर्वविषयक-ज्ञानवत् क्रियामपि सम्पादयितुं शक्तम् इति अर्थः. प्रयोजनं विवृण्वन्ति **स हि स्वार्थम्** इत्यादि. **अनुत्पादनम्** इति. स्वस्यैव भोगकर्तृत्वात् तत्त्वेन पुनः जीवानाम् उत्पादने विरोधम् आपद्येत इति तान् न उत्पादयेद् इति अर्थः. **भक्तीति**. जीवानामेव भक्तौ अधिकारात् तदनुत्पत्तौ तथा इति अर्थः. **बन्धेति**. बद्धजीवमोक्षार्थं मार्गान्तरप्रवृत्तिः ; जीवानाञ्च अनुत्पादे तदभावात् तथा इति अर्थः. **अज्ञानञ्च न स्याद्** इति. तस्य जीवधर्मत्वेन तेषां च अभावात् तथा इति अर्थः. तथा च अविद्यात्मिकायाः निर्विषयत्वमेव आपद्येत इति भावः. **अतः** इति. स्वार्थमात्र-पर्यवसानोक्तौ

---

१. दृष्ट्वा इति ग-घ-ङ.

इति मन्तव्यम्. तत्र स्वांशे[१] स्वस्य आनन्दपूर्णत्वं भज्येत, परार्थत्वे वैषम्य-नैर्घृण्ये प्रसज्ज्येयाताम्! ❊अतः आह **अखिलात्मनः** इति. अखिलानाम् आत्मा. आत्मसृष्टेः न वैषम्यादि. आनन्दादिविरोधस्तु[२] नास्ति, अखिलत्वात्. यथा खिलाः आत्मानो न भवन्ति केनाऽपि अंशेन. तेषाञ्च अर्थे सृष्टिश्च

प्रकाशः

ननु **अखिल**पदस्य वस्तुपरत्वं जीवपरत्वं वा? उभयथापि भगवतो अखिलत्वाभावात् कथं न आनन्दादिविरोधः इति आशङ्कायां तस्य अर्थम् आहुः **यथा खिला** इत्यादि. तथाच 'सर्वा'दिपदानि अनुक्त्वा यद् **अखिल**पदम् उक्तं तेन अयम् अर्थः. 'खिल'पदं न्यूने रूढम्. न्यूनता च द्वेधा— आनन्दाभावात्[३] सर्वत्वाभावाच्च. नञा तदुभयं पर्युदस्यते. तथा सति न खिलं = न्यूनं येषां तेऽखिलाः इति. तथा सति **अखिल**पदस्य वस्तुपरत्वेऽपि अवयवशक्त्या तेषु तथात्वबोधनात्[४] तेषाम् आत्मत्वे स्वस्य अखिलत्वम्

लेखः

उक्तदूषणापाताद्[५] इति अर्थः. **उभयार्थम्** इति, स्वार्थं जीवार्थञ्च इति अर्थः. पक्षद्वयेऽपि अनुपपत्तिं वक्तुम् आद्यपक्षे ताम् आहुः **स्वांशे** इति. उभयभोगपक्षो हि जीवानां भगवदंशत्वे वाच्ये सति सम्भवति. तत्तु असङ्गतं, जीवानाम् अंशत्वे प्रत्येकम् अवयवभूतेषु जीवेषु आनन्दसङ्क्रमाद् ब्राह्म्यानन्दस्य[६] न्यूनता स्याद् इति. द्वितीयपक्षे ताम् आहुः **परार्थत्वे** इति, भोगस्य जीवमात्रार्थत्वे इति अर्थः. **वैषम्येति**. जीवमात्रभोग-पक्षस्तु ब्रह्मणः सकाशाद् जीवानाम् अत्यन्तं भिन्ने सति सङ्गच्छते. तथा सति उच्च-नीचत्वादि-प्राप्त्या इमे प्रसज्ज्येयाताम् इति अर्थः. अंशत्वपक्षे तु आत्मसृष्टेः न वैषम्य-नैर्घृण्ये इति भावः. **आनन्दविरोधः** इति, आनन्दस्य

---

१. स्वार्थे इति क. २. आनन्दविरोध इति ग-घ-ङ-लेखे - सम्पा.

३. 'आनन्दाद्यभावात्' 'सर्वत्वाद्यभावात्' इति पाठौ.

४. ब्रह्मभूतेषु जीवेषु सर्ववस्तुरूपत्वबोधनाद् : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

५. न.पाठानुसारेण. उक्तदूषणाख्यसर्वत्रनिपाताद् इति ग.पाठस्तु अशुद्धः - सम्पा.

६. ब्रह्मदीयानन्दस्य इति ग.-न.पाठयोः. स्वारसिकम् तु एवम् - सम्पा.

क्रियते, उपभोगश्च सम्पाद्यते. एवं स्वस्य यः **(अखिलः!)** पूर्णः आनन्दः तस्याऽपि **आत्मा.** भोगादिना तस्याऽपि उपचयं करोति, तथापि न[१] तस्य अनित्यत्वं न्यूनत्वं वा. तस्माद् उभयविधाऽपि सृष्टिः भगवतः कर्तुं युक्ता, तथापि ईश्वरत्वाद् भक्तिमार्ग-व्यवस्थापनाय **(सृष्टो अहं!)** मां सृष्ट्वा ईक्षयैव आज्ञाप्य मद्रूपेणैव सर्वं सृष्ट्वा स्वयं कूटस्थएव स्थितः. तदा अहं **तत्सृज्यं सृजामि** ततएव ज्ञानशक्तिं क्रियाशक्तिञ्च लब्ध्वा, तद् आह **ईक्षयैव (अभिचोदितः!)** इति. दृष्ट्या प्रेरणाद् उभयप्राप्तिः ॥१७॥

अनेन "सामान्यतः सएव आधारः, सएव नियन्ता, तदात्मकश्च अहम्" इति उक्तमेव. (अतः!) परम् एतस्य हेतुः विचार्यते— कथम् अयं भगवान् त्वाम् अन्यान् वा सृजति? कथं वा एकात्मनि नियम्य-नियामकभावः? तत्र आह **सत्त्वं रजस्तम** इति द्वाभ्याम्.

प्रकाशः

अर्थादेव सिद्धम् अतो न आनन्दादिविरोधः इति अर्थः. तदेतद् अभिसन्धाय आहुः **एवम्** इत्यादि. **दृष्ट्या** इत्यादि. "तदैक्षत" (छान्दो.उप. ६।२।३) इत्यादौ ईक्षायाः आलोचनार्थकत्वाद् अत्र **ईक्षा**पदोक्तायाः दृष्टेः ज्ञानजनकत्वात् प्रेक्षणस्य च क्रियारूपत्वात् तथा इति अर्थः ॥१७॥

सत्त्वम् इत्यस्य आभासे. **अनेन** इति, ईदृशाद् भगवतः स्वज्ञानप्राप्त्यादेः कथनेन. **एतस्य** इति, आधाराधेयभावस्य नियम्य-नियामकभावस्य

लेखः

न्यूनताप्रसक्तिरूपो विरोधः इति अर्थः. **तस्य उपचयम्** इति, आनन्दस्य वृद्धिम् इति अर्थः. **उभयविधा** इति, जड-जीवात्मिका इति अर्थः. **भक्तिमार्गे**ति. चतुर्मुखस्य भक्तत्वात् ततः सृष्ट्या भक्तानां स्वसदृशसामर्थ्य-सूचनाद् भक्तिमार्गस्य व्यवस्थापनम् उक्तं भवति इति अर्थः. **मद्रूपेणैव** इति, करणभूतेन द्वारभूतेन इति यावत्. **उभयप्राप्तिः** इति, शक्तिद्वयप्राप्तिः इति अर्थः ॥१७॥

---

१. नकारो नास्ति ग-घ-ङ.

सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ॥
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः ॥१८॥
कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः ॥
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः ॥१९॥

"अवस्थितेः इति काशकृत्स्नः" (ब्रह्मसूत्र १।४।२२) इति मतम्अत्र सिद्धं भविष्यति. यथा ऊर्णनाभिः सृष्ट्यर्थम् एकाम् ऊर्णाम् उद्वमते तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रीन् गुणान् उद्वमते. गुणरूपत्वाच्च 'गुण'शब्द-व्यवहारः. सद्रूपेण निर्गतं **सत्त्वम्** इति उच्यते, केवलचिद्रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानत्वात् सदानन्दाभावाच्च **रजः** इति उच्यते, आनन्दांशाच्च **तमः**. ते भगवद्रूपाएव भगवता सृष्टाः ; नच भगवति ते पूर्वं स्थिताः. तथा सति भगवदात्मकाः ते न भवेयुः. यथा कार्पासे नहि सूत्रं ; तदेव हि पश्चात् स्वावयवैः पौर्वापर्यम् आपद्यमानं सूत्रताम् आपद्यते. अतएव भगवान् **निर्गुणः**. ते **गुणाः** पुनः **स्थिति-सर्ग-निरोधेषु** उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयार्थत्वेन[१] **गृहीताः**. तेषामपि ग्रहणं **मायया.** एषा हि माया जगत्कर्त्री, नतु व्यामोहिका. तद् आह **विभोः** इति. समर्थस्य

प्रकाशः

तदात्मकत्वस्य च इति अर्थः. विवृतौ **इति मतम्** इति, तत्तदवस्थया अवस्थितं ब्रह्मैव तत्तच्छब्दवाच्यम् इति काशकृत्स्नाचार्यमतम्. एतेन "यथा इदं सृजत" (भाग.पुरा. २।४।६) इत्यस्य व्याख्याने "किं कुम्भकारवद्? उत कामधेन्वादिवद्? अथ योगिवद् मनसा?" (तत्रत्य सुबो.) इत्यादिना उद्भावितेषु पक्षेषु कोऽपि न आदृतः इति बोधितं, दुर्विभाव्यत्वं च समर्थितम्. **कार्पासे न हि** इत्यत्र **कार्पासे** इति सप्तम्यन्तम्. **तद्** इति कार्पासम्. **हिः** हेतौ. **अतएव** इति, पौर्वापर्यावस्थायाः पाश्चात्यत्वादेव. **विभुपदेनैव** कर्तृत्वे प्राप्ते षष्ठ्याः सम्बन्धमात्रमेव[२] अर्थः इति आशयेन

---

१. उत्पत्तिस्थितिप्रलयार्थम् इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु. उत्पत्तिस्थितिलयार्थं ते इति मुद्रितपाठः. गपाठे तु एवम् - सम्पा.

२. -मात्रएव इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

जगत्कर्तुः इति अर्थः. साहि तच्छक्तिः सर्वरूप-भगवत्सम्बन्धात् सर्वप्रतिकृतिरूपा. सा जगत्करणे करणरूपा, अतः करणांशस्य तदीयत्वात् करणरूपेणैव निर्गताः गुणाः इति माययैव गृहीताः. ते मायावशे तिष्ठन्ति तत्पुत्राइव. अतो यएव भगवदंशो जीवः तस्यां रन्तुम् इच्छति तत्कार्ये वा तं ते गुणाः बध्नन्ति इति आह **कार्य-कारण-कर्तृत्वे** इति. **कार्यम्** अधिभूतं देहः, **कारणम्** अध्यात्मम् इन्द्रियाणि, **कर्ता** आधिदैविकः अन्तःकरणम्—एतेषां भावः कार्यकारणकर्तृत्वं, सङ्घातम् इति यावत्, जीवस्य सङ्घातत्वनिमित्तं, यथा केवलो जीवः सङ्घातरूपो भवति. ते हि **मायया गृहीताः** स्वकार्ये स्थापिताः, तद् आह **द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः** इति. **द्रव्यम्** अधिभूतं, **ज्ञानम्** अधिदैवं, **क्रिया** आध्यात्मिकी ; तत् त्रयं, तेषाम् **आश्रयः** प्रत्येकम् एकस्य. अतः स्व-स्वाश्रये ते **(गुणाः !) बध्नन्ति** आध्यात्मिकादिभावं परित्यज्य केवलं भवितुं न प्रयच्छन्ति. **(नित्यदा !)** सर्वदा बध्नन्ति[१]. बन्धने **(मायिनं !)** मायासम्बन्धएव हेतुः. नच सम्बन्धमात्रमेव

प्रकाशः

मूले **विभोः मायया गृहीता** इति समभिव्याहार-सूचितम् अर्थं वदन्तः तस्याः स्वरूपं कार्यञ्च आहुः **सा हि** इत्यादि **गृहीताः** इत्यन्तेन. तथाच भगवतः कूटस्थत्वेन सर्व-स्वरूपत्वेन च प्रयोजकत्वाद् भगवदपेक्षया तस्याः करणत्वेऽपि स्वस्य करणत्वरूपं[२] धर्मं तेषु न्यस्य तद्ग्रहणेन स्वयं कर्त्री जाता इति अर्थः. एवञ्च "सा वा एतस्य सन्द्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका" (भाग.पुरा. ३।५।२५) इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्याः स्वरूपं मूलसदंशभूत-विकृतसदात्मकं सिद्ध्यति इति ज्ञेयम्. गुणानां कार्यान्तरम् आहुः **ते** इत्यादि. **स्वकार्ये** इति द्रव्य-ज्ञान-क्रियारूपे मायायाः कार्ये. **स्वस्वाश्रये ते बध्नन्ति** इति. द्रव्याभिमाने तमो बध्नाति, ज्ञानाभिमाने सत्त्वं, क्रियाभिमाने रजः —इत्येवं बध्नन्ति इति अर्थः. कुतो बध्नन्ति इति अपेक्षायां बन्धनहेतुं स्फुटीकुर्वन्ति **बन्धने** इत्यादि. **अतः** इति,

---

१. न बध्नन्तीति ग.

२. स्वस्वकरणस्वरूपम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

हेतुः, अन्यथा भगवतोऽपि बन्धनं स्यात्! किन्तु तत्र स्वातन्त्र्यं यो अभिमन्यते— ''तस्याः पतिः अहम्'' इति. तद् आह **पुरुषम्** इति. नतु **(मुक्तं!)** तां करणत्वेन कार्यार्थं यो गृह्णाति. अतो गुणबद्धो नियोज्यो, गुणकर्ता नियोजकः इति एकस्मिन्नेव रूपद्वयम् उपपद्यते ॥१८-१९॥

एवं जीव-ब्रह्मभावभेदं निरूप्य सामान्यतः उत्तरितमपि 'यदाधारा'द्युत्तरं (श्लो. ४) विशेषाकारेण आह.

स एष भगवांल्लिङ्गैस्त्रिभिरेतैरधोक्षजः ॥
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः ॥२०॥

सः एषः इति. ''मायातत्कार्याणां द्रव्यादीनां विशेषाधारत्वं, भगवतश्च सामान्याधारत्वम्'' इति तत्र उत्तरम् अनुक्त्वा[१] मायित्वेन विशेषात्मत्वं च बोधितम् इति 'यत्परः' इत्येतदेव शिष्यते. नियामकस्य दर्शने – पूर्वम् आत्मत्वात् तज्ज्ञानेऽपि नियमनं न सम्भविष्यतीति – **त्रिभिरेव एतैः लिङ्गैः** सत्त्वादिभिः **सुष्ठु अलक्षिता गतिः यस्य.** यद्यपि सएव

प्रकाशः

माया-तत्कार्याभिमाना-ऽनभिमानाभ्याम् ॥१८-१९॥

सः एषः इत्यत्र. **एवम्** इति, नियम्य-नियामकभावे हेतुकथनेन. **उत्तरितम्** इति, 'अखिलात्मनः' (श्लो. १७) इत्यनेन उक्तम्. **माया** इत्यादि. एतेन गृहपीठन्यायः उक्तो भवति. गृहे पीठं, तदुपरि आस्तरणं, तत्र उपविष्टस्य यथा गृहं सामान्याधारो अन्यो[२] विशेषाधारः, तथा अत्र भगवति माया, तस्यां द्रव्यादिकं तत्कार्यं, तत्र बद्धो अंशो जीवः इति भगवान्[३] सामान्याधारो मायादिः विशेषाधारो, मुक्तानान्तु साक्षाद् आधारः इति बोधितत्वात् **तत्र उत्तरम् अनुक्त्वा मायित्वेन विशेषात्मत्वं** माया हि करणभूता शक्तिः तद्वत्त्वेन सृष्टिव्यापारविशेष-युक्तात्मत्वं **बोधितम्.** तेन स्वस्य तदात्मकतापि सिद्धा **इति** हेतोः **'यत्परः' इत्येतद्** अनुत्तरितम् अवशिष्यते, तत्र उत्तरम् आह इति अर्थः. तद् उपपादयन्ति **नियामकस्य**

१. उक्त्वेति मुद्रितपाठः. क-ख-प्रकाशे तु एवम् - सम्पा.

२. अन्यद् इति मा.पाठे - सम्पा.

३. भगवत्सामान्याधारो मायादिविशेषाधारः इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

एषः यः स्रष्टा सएव बद्धः तथापि स्रष्टा **भगवान्,** एते च गुणाः भगवतो **लिङ्गभूताः** ज्ञापकाः बहिः निर्गताः धूमवद् दूरादेव पुरुषं ज्ञापयन्ति, नतु तं वेष्टयन्ति. अन्यैः बन्धशङ्कां वारयति **एतैः** इति, एतावन्तएव ते. तर्हि बद्धैः कथं न बद्ध्यते[१]? तत्र आह **अधोक्षजः** इति. ते चेत् तं पश्यन्ति, क्रियया वा प्राप्नुवन्ति, तदा बध्नन्ति ; तत्तु तेषाम् असम्भावितम् इति. अतएव **सुष्ठु अलक्षिता गतिः यस्य. स्वैः** वा बद्धातिरिक्तैः मुक्तैः वा **लक्षिता गतिः यस्य.** वस्तुतस्तु भक्ताः भगवता सह पश्चाद् वा समायान्ति इति सर्वत्र निश्चयः. अतएव हे **ब्रह्मन्,**

प्रकाशः

इत्यादि. दृष्ट्या प्रेरणस्य दर्शनोत्तरभावित्वेन नियामकविषयक[२]-दर्शनदशायां **पूर्वं** तदभिन्नत्वात् प्रथमतः आत्मत्वेन ज्ञानमपि अभेदज्ञानत्वाद् बन्धप्रतिबन्धकमिति **तज्ज्ञानेऽपि नियमनं** बन्धनात्मकं[३] **न सम्भविष्यतीति एतैः** तादृशो जातः = तज्ज्ञानं तिरोधापितवान्. तथाच "एवं यो अंशः तिरोहित-तादृग्ज्ञानः सः नियम्यः इति अहमपि तादृशसाक्षात्कार-तिरोधानाद् नियम्यः, पूर्णज्ञानत्वाद् भगवान् नियामकः" इति 'यत्परः' इत्यस्य उत्तरम् इति अर्थः. तदेतद् आहुः **यद्यपि** इत्यादि. ननु सम्बन्धस्य तुल्यत्वात् ते भगवन्तं कुतो न बध्नन्ति इति आकाङ्क्षायां **लिङ्गपदस्य** अर्थम् आहुः **एते च** इत्यादि. अधः नीचैः अक्षजे इन्द्रियजन्ये ज्ञान-क्रिये यस्माद् इति **अधोक्षजपदनिरुक्त्या** तेनैव तद्विषयकाऽज्ञानप्राप्तेः **स्वलक्षितगतिः** इत्यस्य वैयर्थ्यम् आयातीति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **स्वैः वा** इत्यादि. केवलजीवात्मज्ञान-वतां जीवन्मुक्तानामपि भगवज्ज्ञानाभावात्, परममुक्तानाञ्च विषय-विषयिभावनिवृत्त्या गतिज्ञानाभावात् ते अत्र न युज्यन्ते इत्यतः सिद्धान्तम् आहुः **वस्तुतः** इत्यादि. तथाच अन्ततः[४] तएव गतिज्ञातारः इति अर्थः. एतेन मोचनहेतुरपि **स्वपदेन** ज्ञापितः इत्यपि बोधितम्. **अतएव**

१. बद्धैः स्वांशैः अंशी कुतो न बद्ध्यते इति तात्पर्यम्. बाध्यते इति क. - सम्पा.

२. -विषयस्य इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा. ३. बन्धात्मकम् इति मा.पाठे - सम्पा. ४. अतः इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

त्वं[१] तादृशः तथापि **सर्वेषां मम, च**कारात् तव च[२], **भगवान् ईश्वरो** नियन्ता ॥२०॥

एवं प्रश्नचतुष्टयं परिहृत्य 'यद्रूपम्' (श्लो. २) इत्यादि षट्प्रश्नान् उत्तरयितुम् आरभते **कालं कर्म स्वभावम्** इति. त्रयाणाम् अत्र अध्याये उत्तरं, त्रयाणाम् अग्रिमाध्याये.

कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया ॥
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ॥२१॥

तत्र प्रथमं 'यद्रूपम्' इत्यस्य उत्तरम् आह— स्वभावतो यत् तद् अग्रे वक्ष्यते, परिदृश्यमानरूपतो यत् तद् इदं **काल-कर्म-स्वभाव**रूपम् इति. अधिष्ठानन्तु तत्त्वानि, तत्सहिताद् भगवतः सृष्टिः एषाम् इति. तत्र सर्वस्याऽपि जगतः काल-कर्म-स्वभावत्वे पूर्वं भगवता काल-कर्म-स्वभावानां ग्रहणं हेतुः. एते हि काल-कर्म-स्वभावाः भगवतो रूपविशेषाः अक्षरभेदाः सर्वत्र परिभ्रमन्ति. ते **यदृच्छया (प्राप्तं!)** भगवन्निकटेऽपि समागताः, तदा भगवता ते गृहीताः. तेऽपि[३] पुनः करणकोटावेव निविष्टाः इति **माययैव** गृहीताः. परम् अत्र माया करणं, नतु कर्त्री. साऽपि

प्रकाशः

इति ऐकात्म्यादेव. **तथापि** इति अधोक्षजत्वेन ॥२०॥

कालं कर्म इत्यत्र. **अधिष्ठानम्** इति जगतो अधिष्ठानम्. तत्र हेतुः **तत्सहिताद्** इत्यादि. कालादि-त्रय-सहिताद् भगवतः तत्त्वानां सृष्टिरिति जगत्पूर्ववर्तित्वात् तत्त्वानि तथा इति अर्थः. तर्हि कालादीनां कुतो न तथात्वम् इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. तथाच करणकोटि-निविष्टत्वात् तथा इति अर्थः. **अत्र** इति काल-कर्म-स्वभावानां ग्रहणे. अत्र मायायाः

लेखः

कालं कर्म इत्यत्र. **स्वभावतो यद्** इति. स्वभावतः वस्तुतस्तु विचारेण तु "सर्वं पुरुषएव इदं भूतं भव्यं भवच्च यद्" (भाग.पुरा. २।६।१५) इत्यादिना वक्ष्यते इति अर्थः ॥२१॥

१. त्वमिति नास्ति ख. २. चकारो नास्ति क-ख-ग. ३. अपीति नास्ति घ-ङ.

न व्यामोहिका किन्तु **(स्वया!)** स्वकीया. **(मायेशः!)** मायायाः च अयं नियामको, नतु मायाभावं प्राप्तः. अस्यां सृष्टौ जीवानां बन्धने, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयेषु च, गुणानाम् उपयोगो नतु स्वस्य नानात्वे. अतएव **विशेषेण बुभूषुः** "नानारूपो भविष्यामि" इति **(उपाददे!)** तान् गृहीतवान् ॥२१॥

मायया पुनः गृहीताः तेऽपि नियोज्याः जाताः अतः तेषां नियोगम् आह **कालाद् गुणव्यतिकरः** इति.

कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः ॥
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥२२॥

पूर्वं मायया गुणाः गृहीताः, पश्चात् कालादयः. अतः ते गुणेषु प्रविष्टाः. तत्र **कालाद् गुणानां व्यतिकरो** जातः = सम्पर्को जातः. तदनु **स्वभाव**सम्बन्धात् **(परिणामः!)** सम्पृक्ताः गुणाः परिणताः जाताः. तत्रापि **कर्म** जन्मनिमित्तं तत्र पतितम् इति परिणतं तद्वस्तु गुणत्रयकार्यं कर्मसम्बन्धाद् **जन्म**रूपं जातम्. अनेन त्रैविध्यं सृष्टेः उक्तं— यत्र कालाद् गुणव्यतिकरएव सः भूत-भविष्यद्-वर्तमानात्मकः संवत्सररूपः कालएव जातः. तत्रापि स्वभावे अधिके प्रविष्टे परिणतं सद् जडादिरूपं घटरूपं भवति. ततोऽपि कर्म चेद् अधिकं प्रविशति तदा जीवाधिष्ठित-देहादिसङ्घातस्य जन्म भवति. तद् इदम् आह **जन्म महतः पुरुषाधिष्ठिताद् अभूद्** इति. पुरुषाधिष्ठानं सर्वत्र तथापि परिणतं वस्तु **पुरुषाधिष्ठिताद्** हेतोः **महतो जन्म (अभूद्!)** जातम्. तस्य हि नामान्तराभावात् प्रथमं स्थूलतया उत्पन्नं[१] 'महद्'

प्रकाशः

करणत्वेन उक्त्या कालादिग्रहणे तस्याः न स्वातन्त्र्यम् इति ज्ञाप्यते. **अतएव** इति, अत्र नानात्वे गुणाऽनुपयोगादेव. तथाच अस्यां सृष्टौ यथेच्छं कालेन कर्मणा स्वभावेन भगवान् नाना भवति इति ज्ञापितम् ॥२१॥

कालाद् इत्यत्र. **अतः** इति, पश्चाद् गृहीतत्वादेव. **सर्वत्र** इति, गुणव्यतिकरादावपि हेतुः इति अर्थः. **एवम्** इत्यादि, अत्र एतद् बोध्यं—

---

१. उपपन्नमिति क-ख-घ.

इति उच्यते. एवम् एकस्य जीवस्य काल-कर्म-स्वभावैः देहसम्बन्धो निरूपितः ॥२२॥

इदानीं भगवत्प्रेरणया ते गुणाः महत्तत्वएव लग्नाः इति आह.

महतस्तु विकुर्वाणाद् रजःसत्त्वोपबृंहितात् ॥
तमःप्रधानात् त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ॥२३॥
सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत् त्रिधा ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा ॥
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो ॥२४॥

महतस्तु इति. काल-कर्म-स्वभावैः स्वस्मिन् गुणव्यतिकरादिकार्ये कृते सोऽपि **विकुर्वाणो** जातः. तत्र गुणद्वयं सहायत्वेन[१] प्रविशति, तमस्तु प्राधान्येन. तद् आह **रजःसत्त्वोपबृंहितात् तमःप्रधानाद्** इति. कश्चित् त्रिगुणात्मकः पदार्थो जातः त्रयाणाम् अनुप्रवेशात्, तद् आह **द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः** इति. तस्य[२] नाम आह **सो अहङ्कारः इति प्रोक्तः** इति. पूर्वन्तु स्थूलम् एकं कार्यम् उत्पन्नम् इति भगवता 'महान्' इति सञ्ज्ञा धृता. अस्य तु पिता महान्, सतु विशेषतो नामान्तरम्

प्रकाशः

कालेन गुणानां सम्पर्को अंशतो जायते. ततः सम्पृक्तांशस्य स्वभावेन परिणामे विकृतिः इति विपरिणामाद् विकृतित्वं कार्यत्वञ्च. तस्य च स्वकार्यापेक्षया प्रकृतित्वम् इति साङ्ख्यानां महदादिषु सप्तसु प्रकृतिविकृतित्व-व्यवहारः. ततः तस्य कार्यस्य कर्मणा जन्मनि [३]जायमानोऽपि इन्द्रियाणां मात्रादीनां च अनुत्पन्नत्वात् पिण्डीभूतस्यैव जन्म भवतीति तस्य स्थूलतया उपपत्तिः (/ उत्पत्तिः ?). अनेन प्रकारेण तादृशदेहसम्बन्धः उक्तः इति अर्थः ॥२२॥

महतः इत्यत्र. **ते गुणाः** इति सम्पृक्तशिष्टाः. **त्रयाणाम् अनुप्रवेशाद्** इति पश्चात् पुनःसंवलनात्. अतएव महत्तत्त्वापेक्षया एतद्देहे गुणसम्बन्धाधिक्याद् अस्य स्वकार्यापेक्षया प्रकृतित्वं त्रितयात्मकत्वञ्च इति अर्थः. **सो अहङ्कारः**

१. स्वभावत्वेनेति ग. २. अस्येति घ-ङ. ३. जायमानेऽपि इति मा.पाठः - सम्पा.

अजानन् आत्मानं प्रकृतिञ्च[१] पश्यन् उभयं नामत्वेन निर्दिशति **अहङ्कारः** इति पित्रैव प्रोक्तः. सोऽपि पूर्ववत् कालादिसम्बन्धं प्राप्य **विकुर्वन्**. गुणानां प्रधान-गुणभावे[२] नियामकाभावात् स्वतन्त्राः सन्तः स्वाधिकरणम् अहङ्कारं त्रेधा कृतवन्तः इति आह **समभूत् त्रिधा** इति. तेषां भेदान् आह **वैकारिकः** इति. **वैकारिकः** सात्त्विकः, **तैजसो** राजसः. **च**काराद् अवान्तरभेदाअपि तयोः सन्ति इति उक्तं भवति. एवं **तामसश्च** इत्यत्राऽपि. **यद्भिदा** यस्य अहङ्कारस्य एवं त्रिरूपो भेदः इति अर्थः. एतेषां स्व-स्वकार्यकरणे सामर्थ्यम् आह **द्रव्यशक्तिः** इति. तन्मध्ये तामसो अहङ्कारो द्रव्यजननसामर्थ्ययुक्तः. सः द्रव्यमेव जनयति अतः तस्य गौणं नाम **द्रव्यशक्तिः** इति, द्रव्ये शक्तिः यस्य इति. एवं राजसो अहङ्कारः **क्रियाशक्तिः**, सात्त्विकस्तु **ज्ञानशक्तिः** इति. तत्र **प्रभो** इति सम्बोधनं तव अहङ्कारो ज्ञानशक्तिरूपः इति बोधनार्थम् ॥२३-२४॥

इदानीं त्रयाणामपि कालादिसम्बन्धात्[३] सृष्टिकर्तृत्वात् प्रथमं तामसस्य तथात्वम् आह.

तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः ।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद् दृष्टृदृश्ययोः ॥२५॥

तामसादपि भूतादेः इति. तामसस्य 'भूतादिः' इति अपरं नाम यौगिकम्. पृथिव्याद्याकाशान्तानां सामान्यं नाम 'भूतम्' इति ; जातम् इति अर्थः. भूतानि च तामसानि अतः तामसं यज्जातं तद् 'भूतम्'

प्रकाशः

इत्यत्र **नियामकाभावाद्** इत्यादि. पुरुषाधिष्ठानाभावात् कर्तृत्वाभिमानिनः[४] तं तथा कृतवन्तः **इति** अस्माद् हेतोः तस्य त्रिव्यूहत्वम् **आह** इति अर्थः. **तेषाम्** इति देहानाम्[५]. **द्रव्यशक्तिः** इत्यत्र **एतेषाम्** इति भेदानाम्. **गौणम्** इति गुणकृतं, 'पाचकः-पाठकः' इत्यादि-वत् ॥२३-२४॥

---

१. -न्नात्मानं कृतिं चेति ख-ग. २. -गुणभावेपीति ग.

३. -सम्बन्धत्वादिति मुद्रितपाठः. लोकादिसम्बन्धादिति ग. कपाठे तु एवम् - सम्पा.

४. गुणाः :इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा. ५. देवानाम् इति मा.पाठः - सम्पा.

इति उच्यते. तस्य आदिः = कारणं[१] **भूतादिः** अहङ्कारः. सोऽपि यदा **विकुर्वाणः** कार्यजननार्थम् उद्यतः तदा पूर्ववत् कालादिसम्बन्धाद् **नभो** नाम किञ्चित् कार्यं जातम्, अत्यन्त-तामसत्वात् प्रकाश-प्रवृत्ति-रहितत्वाद् न विद्यते भाः यस्य इति. ''भा दीप्तौ'' (पाणि.धातुपाठ.अदादि. १०७६) इत्यस्य असुप्रत्यये कृते आकारलोपे च कृते **नभः** इति भवति. ननु तस्य सर्वात्मना भानराहित्ये कथं तत्प्रतीतिः? तत्र आह **तस्य मात्रा गुणः** इति. **तस्य शब्दः मात्रा गुणश्च**. मा = निषेधात्मिका माया, तां त्रायते इति **मात्रा**. भगवदावरणरूपां मायां हि (सा!) पालयति; अतएव मात्रासु आसक्तो न भगवन्तं प्राप्नोति. अनेन वर्णात्मकः शब्दो व्युदस्तः. किञ्च **गुणः** सः. आत्मबन्धकः इति अर्थः, पूर्वं गुणानां बन्धकत्वोक्तेः. (अथवा!) मात्रा[२] नाम परिणाम (/परिमाण!) विशेषः;

प्रकाशः

तामसाद् इत्यत्र. **अनेन** इत्यादि. **तस्य मात्रा शब्दः** इति शब्दस्य मात्रात्व-विधानेन वर्णात्मक-शब्दः आकाशगुण-व्यतिरिक्तत्वेन बोधितः इति अर्थः. युक्तञ्च एतत्, सर्वतः पिहित-महाबिलादेः अनुपलब्धस्य भूगर्भगृहादेश्च ''क्व अस्ति'' इति सन्देहे भूमेः उपरि तत्र तत्र पादाद्याघात-करणेन यत्रैव विलक्षणध्वन्युत्पत्तिः तत्रैव तादृशध्वनिना ''शून्यम् इदम्, अवकाशो अत्र'' इति आकाशानुमितिः उत्पद्यते, तेन सः ध्वनिः आकाशगुणरूपः शब्दः. अतएव प्रतिध्वनिरपि आकाशगुणएव, नतु शब्दप्रतिबिम्बः[३]. वर्णस्तु स्वर-व्यञ्जनाऽन्यतमो नित्यः. तेन ''ताल्वोष्ठपुट-व्यापाराभिव्यञ्जित-शब्दत्वं'' न तस्य[४] लक्षणं, कुशलवादक-वादित-वीणा-मृदङ्गादिशब्दे वर्णप्रतीत्यपलापापत्तेः, फूत्कारादौ तदापत्तेश्च. वर्णानाञ्च नित्यत्वं सर्वनिर्णयनिबन्धानुसारेण प्रस्थानरत्नाकरे व्युत्पादितम् अस्माभिः. **मात्रा**शब्दः शब्दादिषु योगरूढः इति ज्ञापयितुं योगम् उक्त्वा मात्रास्वरूपं बोधयन्ति **मात्रा नाम** इत्यादि, भूतपूर्वावस्थारूपः परिणामः इति अर्थः. **परिणामो**

---

१. करणमिति क-ग. २. मात्राणामपरिणामविशेष इति घ.

३. -प्रतिबन्धः इति मा.पाठः - सम्पा. ४. तल्लक्षणम् इति मा.पाठः - सम्पा.

आकाशः सर्वोऽपि व्यवहारे शब्दमात्रो भवतीति शब्दमात्रेण आकाशव्यवहारः. किञ्च **लिङ्गं यद् द्रष्टृ-दृश्ययोः** इति. मात्रात्वं[१] गुणत्वञ्च शब्दगतधर्ममात्रं, नतु असाधारणो धर्मः. तस्मात् शब्दस्य न तत् लक्षणं किन्तु "द्रष्टृ-दृश्यलिङ्गत्वं शब्दत्वम्" इति, 'गजः, गजः' इत्युक्ते स्वरेण गृहस्थितः पुरुषो बहिःस्थितम् अनुमिमीते द्रष्टारं दृश्यञ्च "देवदत्तो गजं पश्यति" इति ॥२५॥

नभसोऽथ विकुर्वाणाद् अभूत् स्पर्शगुणोऽनिलः ॥
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम् ॥२६॥

एवं तामसाहङ्काराद् आकाशोत्पत्तिम् उक्त्वा आकाशाद् वाय्वादीनाम् उत्पत्तिं क्रमेण आह **नभसो**[२] **अथ विकुर्वाणाद्** इति. **स्पर्शो गुणो यस्य. अनिलो** वायुः. वायोः गुणद्वयं— स्वाभाविकः **स्पर्शः**, (**परान्वयात्!**) कारणान्वयात् **शब्दश्च**. कार्यद्वयञ्च[३] तस्य अधिकम्[४] इति आह. **प्राणो** दशविधः, **ओजः** इन्द्रियशक्तिः, **सहो** मनःशक्तिः, **बलं** शरीरशक्तिः[५]. यद्यपि प्राणो राजसाहङ्कारकार्यम् इति वक्ष्यते (श्लो. ३१)

प्रकाशः

नाम उपादान-समसत्ताक-कार्यापत्तिः. शब्दादिपञ्चके मात्रात्वस्य तौल्येऽपि अत्रैव तदुक्तेः तत्सूचितम् अर्थम् आहुः **आकाशः** इत्यादि. तथाच आकाशे स्थूलावस्थापेक्षया सूक्ष्मावस्थायाः[६] प्राधान्यज्ञापनाय **मात्रा**पदम् अत्र प्रयुक्तम् इति अर्थः. एवं "शब्दमात्रगुणम् आकाशम्" इति आकाशलक्षणं सूचयित्वा शब्दस्य बोधाय तल्लक्षणं व्याकुर्वन्ति **किञ्च** इत्यादि. तथाच स्वरस्य ध्वन्यात्मकत्वाद् "ध्वनिरूपः शब्दः आकाशगुणः" इत्येवं लक्षणकस्य शब्दस्य प्रत्यक्षत्वात् तल्लक्षणकः आकाशोपि तदवयववान् अस्ति इति सः विरलावयवो, नतु निरवयवः इति अर्थः ॥२५॥

---

१. मात्रत्वमिति ख-घ. २. नभसस्तु विकुर्वाणादिति ख.

३. कार्यत्रयमिति ख. ४. अधिकारमिति क.

५. कार्यद्वयम् अनुगताकाशत्वाद् अतिदिष्टं, कार्यद्वयञ्च वायोः अधिकमिति संहत्य चत्वारि कार्याणि गणितानि - सम्पा.

६. आकाशे स्थूलावस्थायाः इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

तथापि घ्राणेन्द्रियसहकारी गन्धग्राहकः प्राणो अत्र गृहीतः. बुद्धिः प्राणश्च तैजसाद् इति मतान्तरं वा. प्राणादिरूपो वायुः इति अर्थः. यत्राऽपि ''कालकर्मस्वभावतः[१]'' (श्लो. २७) इति न उच्यते तत्रापि अनुषङ्गः कर्तव्यः. अथवा अहङ्काराकाशयोः काल-कर्मकार्यत्वाभावाद् लोकप्रतीत्या तद् न उक्तम् ॥२६॥

प्रकाशः

नभसः इत्यत्र. **अत्र गृहीतः** इति वायुत्वेन उक्तः. शब्दस्य तुल्यत्वात् सएव गृह्यते इति निर्णेतुं न शक्यतइति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **बुद्धिः** इत्यादि. तथाच आकारतौल्येऽपि प्राणाऽपान-समानोदान-व्यान-नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जयाख्य-भेदभिन्नस्य अध्यात्मपवनस्य कार्यभेदात् सो अतिरिक्तः इति कार्यभेदम् आदाय तन्मतं[२], स्वरूपतौल्यम् आदाय इदं मतम् इति अर्थः. **कर्तव्यः** इति. 'यद्रूपम्' (श्लो. २) इत्येतदुत्तरत्वेन अस्य ग्रन्थस्य प्रवृत्तत्वात् तदनुषङ्गाभावे एतयोः तत्र प्रवेशाभावः आपद्येत इत्यतः कर्तव्यः इति अर्थः. ननु एवं सति अग्रिमश्लोके तदुक्ति-वैयर्थ्यं स्याद् इति आशङ्क्य पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. अहङ्कारोत्पत्तौ कालकार्ये गुणव्यतिकरे सति अहङ्कारस्य त्रिव्यूहत्वं न स्याद् अतः तत्र कालस्य न कारणता. नभसोऽपि [३]अप्रकाशमानतया तामसत्वेन व्यतिकरस्य अनुपलम्भात् तत्रापि तथा. लोके अहङ्कारस्य सिद्धवदेव अहम्बुद्ध्या प्रतीतेः जन्माऽप्रतीत्या, आकाशस्यापि जन्माऽप्रतीत्या उभयत्र कर्मणोपि न कारणता प्रतीयतइति **लोकप्रतीत्या** तयोः तथाभावाद् मुखतः **तद् न उक्तम्**. वस्तुतस्तु अहङ्कारोत्पत्तौ गुणानां [४]प्राधान्योपसर्जनभाव-कथनादेव अल्पव्यतिकरस्य अहङ्कारे सिद्धत्वात्, सात्त्विकाहङ्कारकार्ये मनसि ''गुणैश्च आशयसम्भवैः'' (भाग.पुरा. ११।२५।३६) इति गुणत्रयजनन-कथनात्, तत्प्रेर्याणाम् इन्द्रियाणामपि त्रिविधकार्यदर्शनाद्; नभसोऽपि वायुरूप-

---

१. कालकर्मस्वभाव इति क. २. तन्मत- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

३. अत्र प्रकाश- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

४. प्रधानोपसर्जन- मा.पाठः - सम्पा.

वायोस्तु साधनविजातीयं कार्यम् उत्पद्यतइति निमित्तमात्रं मा भवत्विति विशेषेण निरूपयति.

वायोरपि विकुर्वाणात् कालकर्मस्वभावतः ।।
उदपद्यत तेजो वै रूपवत् स्पर्शशब्दवत् ।।२७।।

वायोरपि इति. **(कालकर्मस्वभावतः विकुर्वाणात् तेजो !) उदपद्यत** उत्पन्नम्. **वै**शब्देन न अत्र सन्देहः कर्तव्यः. गुणाधिक्यादेव वैलक्षण्यप्रतीतिः नतु वायोः कार्यं न भवति इति[१], "वायोः अग्निः" (तैत्ति.उप. २।१) इति श्रुतेः. तेजसो गुणत्रयम् आह— **रूपवत् स्पर्शवत् शब्दवत्.** त्रयोऽपि गुणाः तत्र प्रतीयन्ते. येषां कार्य-कारणभावो नास्ति तेषां परं

प्रकाशः

चञ्चलकार्यजनन-दर्शनाद् रजोव्यतिकराभावे तदसम्भवाद् अल्पव्यतिकरस्य तत्रापि सिद्धत्वात्, **'समभूद्'** इत्यनेन[२] उत्पत्तेः कण्ठतः उक्तत्वाच्च काल-कर्मकार्यत्वं तत्रापि निर्बाधं, परिणामस्तु प्रतिपादितएवेति सर्वत्र त्रितयकार्यत्वम् इति अर्थः ।।२६।।

वायोरपि इत्यत्र. ननु अनुषङ्गेन त्रितयात्मकत्व-सिद्धौ पुनः तत्कथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **वायोः** इत्यादि. **निमित्तमात्रम्** इति, कालः कर्म च इति शेषः. तथाच विपरिणामेन स्वभावस्य उपादानतया प्रवेशो भवतु, नतु काल-कर्मणोः इति आशङ्कानिवृत्त्यर्थं पुनः त्रितयग्रहणम् इति अर्थः. **येषाम्** इति नैयायिकादीनाम्. ननु वायोः निमित्तत्वाङ्गीकारेऽपि

लेखः

वायोरपि विकुर्वाणाद् इत्यत्र. **ननु वायोः कार्यं न भवति** इति. **वायोः कार्यं न भवति** इत्यतः तेजसि **वैलक्षण्यप्रतीतिः इति न** किन्तु वायुकार्यत्वेऽपि गुणाधिक्यादिना तत्प्रतीतिः इति अर्थः. अत्र प्रमाणम् आहुः **वायोः** इति. **नियामकाभावाद्** इति. मृत्पिण्डादावपि

१. "गुणाधिक्यादेव वैलक्षण्यप्रतीतिः ; (तेजः !) वायोः कार्यं न भवति" इति तु न (वक्तव्यं !), "वायोः अग्निः" इति श्रुतेः —इति अन्वयः - सम्पा.

२. इत्यादिना इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

विवादः ; सच श्रुतिविरोधात् सिद्धान्ते उपेक्षणीयः. यत्तु ''विजातीयं न विजातीयस्य आरम्भकम्'' इति तत्तु तन्तु-पटयोरेव व्यभिचारि. नहि तन्तु-पटयोः एका जातिः, तन्तुत्वं पटत्वं वा एकम्. नाऽपि पृथिवीत्वादयो अत्र जातयो विवक्ष्यन्ते, नियामकाभावात्. स्थूलाग्नौ कारणत्वेन वायोरेव उपलम्भात्. नच तदवयवाः तत्र उपलभ्यन्ते, पटे तन्तवः इव.

प्रकाशः

श्रुतेः उपपद्यमानत्वेन अविरोधात् कथम् उपेक्षणीयम् इत्यतः तन्मतम् अनुवदन्ति **यत्तु** इत्यादि. **इति** इति, एवं नियमाक्रान्तं मतम्. तद् दूषयन्ति **तत्तु** इत्यादि. ननु कथं व्यभिचारि इत्यतः आहुः **न हि** इत्यादि. अतो व्यभिचारः इति अर्थः. ननु अवान्तरजातिविचारेण व्यभिचार-शङ्कायामपि पृथ्वीत्वादीनां व्यापकजातीनां नियामकत्वाद् न व्यभिचारः इत्यतः आहुः **नाऽपि** इत्यादि. **अत्र** इति व्यभिचारभङ्गे. **विवक्ष्यन्ते** इति, नियामकत्वेन विवक्ष्यन्ते. **नियामकाभावाद्** इति, पृथिवीत्वस्य घटादावपि सत्त्वेन[१] तादृशविवक्षा-नियामकस्य अनुपलम्भात्[२]. तथाच सूक्ष्माग्नेः स्थूलाग्न्युत्पत्तौ वायोरेव कारणत्वेन उपलम्भात्, वायोः सूक्ष्मवह्न्यवयवाङ्गीकारस्य प्रत्यक्षविरुद्धत्वेन असङ्गतत्वाच्च न व्यभिचारभङ्गः इति अर्थः. नच पार्थिवात् पार्थिवस्य, तैजसात् तैजसस्य, कार्पासात् कार्पासस्य इति सजातीयादेव सजातीयोत्पत्ति-दर्शनाद् विजातीयाद् विजातीयोत्पत्त्यदर्शनाच्च स्थूलाग्निस्थलेऽपि

लेखः

पृथ्वीत्वसत्त्वेन तथा इति भावः. ननु वायावेव सूक्ष्माग्निपरिच्छेदाः सन्ति इति वायुद्वारा भूयसाम् अग्न्यवयवानां सम्बन्धाद् महतो अग्नेः उत्पत्तौ न एकान्ततो वायुकारणत्वं सिद्ध्यति इति आशङ्कां निरस्यन्ति **न च** इति. **तदवयवाः** इति. अग्न्यवयवाः वायौ न उपलभ्यन्ते इति प्रत्यक्षविरोधाद् मानान्तराभावाच्च तदसम्बद्धमेव इति भावः ॥२७॥

---

१. 'सिद्धत्वेन' पाठः. २. तन्तुषु, पटे, मृत्पिण्डे, घटे च नियामकत्वेन विवक्षितस्य पृथिवीत्वस्य विद्यमानत्वात् तन्तुभ्यो घटस्य, मृत्पिण्डात् पटस्य उत्पत्तिप्रसङ्गाद् इति भावः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

तस्मात् श्रुति-प्रत्यक्षाभ्यां बाधितं शास्त्रम् उपेक्षणीयम् ॥२७॥

तेजसस्तु विकुर्वाणाद् आसीदम्भो रसात्मकम् ॥
रूपवत् स्पर्शवच्चाऽम्भो घोषवच्च परान्वयात् ॥२८॥
विशेषस्तु विकुर्वाणाद् अम्भसो गन्धवानभूत् ॥
परान्वयाद् रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः ॥२९॥

(अम्भो!) रसात्मकं रसतन्मात्रायुक्तं, **परान्वयाद् रूपवत् स्पर्शवद् घोषवच्च. घोषो** ध्वन्यात्मकः शब्दः. **अम्भसो विकुर्वाणाद् विशेषस्तु अभूत्. विशेषः** पृथिवी. **तु**शब्देन सर्ववैलक्षण्यम् अस्याः, **गन्धवान्** इति. गन्धो मुख्यो गुणः, **परान्वयाद् (रस-स्पर्श-शब्द-रूपगुणान्वितः!)** अन्येऽपि चत्वारः ॥२८-२९॥

एवं तामसाहङ्कारसृष्टिम् उक्त्वा सात्त्विकाहङ्कारसृष्टिम् आह.

वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश ॥
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ॥३०॥

वैकारिकाद् इति. सत्त्वलक्षणो गुणः सद्रूपस्य प्रथमविकारभूतः इति तस्य **वैकारिक**सञ्ज्ञा. **वैकारिकात्** सात्त्विकाहङ्काराद् **मनः दश**[१] इन्द्रियाधिष्ठातारो **देवा**श्च **(जज्ञे!)** जाताः. अस्मिन् सिद्धान्ते मनसो देवता न अपेक्ष्यते[२] ; आत्मनैकट्याद् आत्मैव देवता. ते **देवाः दिगादयः.** अग्रे श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि वक्ष्यति ; तेषाम् एते क्रमेण देवाः. **अश्वि**शब्देन

प्रकाशः

नियामकः कश्चिद् जातिविशेषः कल्प्यः इति वाच्यं, प्रत्यक्षविरोधेन निर्वक्तुम् अशक्यत्वाद् ; गोमयाद् वृश्चिकस्य, देवाद् मनुष्यस्य, वासराद् ऋक्षस्य (?) च उत्पत्तेः लोकशास्त्र-सिद्धत्वेन नियमस्य अप्रयोजकत्वाच्च. नच एवम् अतिप्रसङ्गः, पटत्वेन तन्तुत्वेन घटत्वेन कपालत्वेन —इत्येवं विशेष-कार्यकारणभावेनैव तद्वारणाद् इति. फलितम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **तस्माद्** इति नियमस्य अप्रयोजकत्वात् ॥२७॥

---

१. दशेन्द्रियेति ख. २. नापेक्षिता इति घ.

अश्विनीकुमारौ. **मित्रश्च**[१] **कश्च** ॥३०॥

राजसाहङ्कारकार्यम् आह **तैजसाद्** इति.

तैजसात्तु विकुर्वाणाद् इन्द्रियाणि दशाऽभवन् ।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ ॥
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा वाग्दोर्मेण्ढ्राऽङ्घ्रिपायवः ॥३१॥

इन्द्रियाणि – इन्द्र = आत्मा ईयते अनेन इति इन्द्रियम्. आत्मा हि न चाक्षुषः नाऽपि अन्येन्द्रियग्राह्यः. व्यवह्रियते च "देवदत्तः त्वं, यज्ञदत्तः त्वम्" इति. सच पश्यति, शृणोति इत्येव प्रतीयते. तानि इन्द्रियाणि – **दश (अभवन्!)**. ननु ज्ञानेन्द्रियाणि ज्ञानप्राधान्यात् सात्त्विकानि भवितुम् अर्हन्ति, कर्मेन्द्रियाणि च जडपर्यवसानात् तामसानि भवितुम् अर्हन्ति ; तत्कथम् उभयं परित्यज्य दशाऽपि इन्द्रियाणि "राजसानि" इति उच्यन्ते? इत्यतः आह **ज्ञानशक्तिः** इति. अत्र इन्द्रियाणां राजसत्वे निमित्तम् अन्यद् अस्ति— **बुद्धिः प्राणश्च (तैजसौ!)** राजसाहङ्कारकार्यौ. ननु एतदपि

प्रकाशः

तैजसाद् इत्यत्र. **ईयते** इति अनुमीयते. कथं अनुमीयते इति आकाङ्क्षायां तद् व्युत्पादयन्ति **आत्मा हि** इत्यादि. तथाच "देवदत्तदेहः आत्मवान्, इन्द्रियवत्त्वाद् ; इन्द्रियवान्, तत्तदिन्द्रिय-कार्यकारित्वाद्, यद् एवं तद् एवं मद्देहवत्, यद् न एवं तद् न एवं मृतकवद्" इति अनुमानात् तथा इति अर्थः. **जडपर्यवसानाद्** इति, वाय्वादौ[१] जडेऽपि क्रियादर्शनात् कर्मेन्द्रियजन्य-क्रियायाअपि जडे तामसे पर्यवसानात्. **अन्यद्** इति बुद्धिप्राणाधीनत्वम्. तद् व्युत्पादयितुम् आहुः **बुद्धिः** इत्यादि. अत्र आशङ्कते **ननु** इत्यादि. तथाच "बुद्धिः सात्त्विकी, ज्ञानरूपत्वात्, यद् न एवं तद् न एवं क्रियादिवत् – प्राणः तामसो, वायुत्वाद्, बहिर्वायुवद्" इति अनुमानाभ्यां तयोः तथात्व-सिद्धे राजसत्वम् असङ्गतम् इति अर्थः.

---

१. मित्रः कश्चेति ख. मित्रकश्चेति क-घ-ङ. १. वाद्यादौ इति मा.पाठे - सम्पा.

असङ्गतं – बुद्धिः ज्ञानरूपा ''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'' (भग.गीता १४।१७) इति सात्त्विकी भवितुम् अर्हति. प्राणश्च वायुरेव, श्वासोच्छ्वासाभ्यां वायुत्वप्रतीतेः – तत्र आह **ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः** इति. नहि अस्मिन् मते **बुद्धिः** ज्ञानं किन्तु **ज्ञानशक्तिः** ज्ञानजनिका शक्तिः यस्य इति. ''यो बुद्धिमान् तस्य पदार्थज्ञानं भवति'' इति, ''सुबुद्धिः अयं पदार्थान् जानाति'' इति च ज्ञानकारणत्वेन बुद्धिः व्यपदिश्यते. कार्य-कारणयोः अभेदोपचाराच्च बुद्धि-ज्ञानयोः पर्यायत्वव्यवहारः. अन्यथा बुद्ध्यभावे बालस्य न पदार्थज्ञानं भवति ; सम्यक् तद् न स्यात्. प्राणोऽपि वायोः भिन्नएव ; ''अथ ह एनम् आसन्यं प्राणम् ऊचुः'' (बृहदा.उप. १।३।७) इति प्राणरूपां देवतां विलक्षणाम् आह श्रुतिः. ''यो वायुः सः प्राणः'' (तैत्ति.ब्रा. २।२।२।४ सायणभाष्य) इति तु भगवत्प्राणस्य वायुत्वात् तत्परम्. तस्माद्

प्रकाशः

अत्र समादधते **न हि** इत्यादि. ज्ञानजनिका शक्तिः यस्य इति ज्ञाने शक्तिः यस्य इति व्यधिकरणपदे बहुव्रीहौ **ज्ञान**पदगतायाः सप्तम्याः अर्थो वैषयिकाधारता. साच जनने पर्यवस्यतीति तथा इति अर्थः. बुद्धेः कथं ज्ञानजनकत्वम् इति अपेक्षायां तद् व्युत्पादयन्ति **यः** इत्यादि. अभेदे बाधकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. बुद्धेः ज्ञानकारणत्वाभावे कारणान्तर-समवधानस्य विद्यमानत्वात् सुबुद्धेरिव तस्यापि ज्ञानं स्यात्. तत् च न जायते इति अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां कार्य-कारणभावे निश्चिते ज्ञान-बुद्ध्योः भेदो निर्बाधः इति अर्थः. ननु वायु-प्राणयोः स्वरूपतौल्ये कार्यादिभेदो न स्वरूपभेदापादकः इति आशङ्कायां तस्य भिन्नत्वे प्रमाणम् आहुः **अथ** इत्यादि. **विलक्षणाम्** इति, अपहतपाप्मत्वेन वायुदेवतातो विलक्षणाम्. श्रुत्यन्तरविरोधं[१] परिहरन्ति **यः** इत्यादि. तथाच अत्रापि अनूद्यो वायुः न भूतरूपः इति न तस्याअपि विरोधः इति सिद्धे आसन्यस्य वायुभेदे कार्यभेदेन प्राणान्तरस्यापि वायुभेदो निर्बाधः इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. ''बुद्धिः न सात्त्विकी, ज्ञानभिन्नत्वात्, क्रियादिवत् – प्राणो न तामसः, वायुभिन्नत्वेन श्रुतिसिद्धत्वात्,

१. श्रुत्यन्तर्विरोधम् इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

ज्ञानजननसामर्थ्यवत्त्वाद् ज्ञानाद् बुद्धिः भिन्ना. नच सा सात्त्विकी, इन्द्रियमात्रासाध्यत्वात्[१]. सा हि बुद्धिः ज्ञानेन्द्रियोपष्टम्भकत्वेन मृग्यते, यत् सात्त्विकम् अद्रव्यं तद् इन्द्रियसाध्यम् इति व्याप्तेः. अतो ज्ञानजनने शक्तिः यस्य, क्रियाजनने शक्तिः यस्य इति च तयोः भिन्नधर्मत्वात् तौ उभौ राजसाहङ्कारकार्यौ. अतः ताभ्यां परिगृहीतानि द्विविधान्यपि इन्द्रियाणि

प्रकाशः

वायुभिन्नो भिन्नकार्यकत्वाद्, यद् न एवं तद् न एवं वायुवद्'' इति प्रतिसाधनाभ्यां बुद्धि-प्राणयोः तथात्वस्य निरासे समानाकारत्वस्य अप्रयोजकत्वात् तथा इति अर्थः. ननु अस्तु ज्ञान-बुद्ध्योः भेदः तथापि ज्ञानेन्द्रियजन्यत्वात् तस्याः सात्त्विकत्वे किं बाधकम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **नच** इत्यादि. तथाच ''सात्त्विकी, ज्ञानेन्द्रियजन्यत्वाद्, ज्ञानवद्'' इत्यत्रापि ''न सात्त्विकी, ज्ञानेन्द्रिय-मात्राऽसाध्यत्वात्, यद् न एवं तद् न एवं ज्ञानवद्'' इति प्रत्यनुमानमेव बाधकम् इति अर्थः. तद् उपपादयन्ति **सा हि** इत्यादि. तथाच यदि ज्ञानेन्द्रियमात्रसाध्या स्याद्, ज्ञानेन्द्रियोपष्टम्भकत्वेन मृग्या न स्यादिति तर्केण तथा निश्चीयते इति अर्थः. तर्के मूलशैथिल्यं परिहर्तुं व्याप्तिं प्रदर्शयन्ति **यद्** इत्यादि. अतो ज्ञानक्रिययोरेव इन्द्रियमात्रसाध्यत्वं, न[२] इतरस्य. नच[३] शब्दादीनाम् अद्रव्याणाम् इन्द्रियसाध्यत्वाभावाद् व्यभिचारः शङ्क्यः, तेषां द्रव्यसूक्ष्मावस्था-रूपत्वेन तद्विशेषाणामपि द्रव्यान्तःपातित्वेन अदोषात्. अतः सा क्वचिद् औत्पत्तिकी क्वचित् च अभ्यास-सूक्ष्मेक्षिकादि-जन्या, नतु ज्ञानेन्द्रियमात्रसाध्या इति अर्थः. **अतः** इति उक्तानुमानेभ्यः. ननु कैश्चिद् आकाशादि-पञ्च-सात्त्विकांशेभ्यो बुद्ध्युत्पत्तिः इष्यते,

लेखः

तैजसात्तु विकुर्वाणाद् इत्यत्र. **इन्द्रियमात्रासाध्यत्वाद्** इति. ... . **श्रोत्रम्** इत्यत्र. ... ॥३१॥

---

१. इन्द्रियमात्रत्वासाध्यत्वादिति घ. इन्द्रियमात्रसाध्यत्वादिति ग.

२. -साध्यत्वेन इतरस्य इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

३. च इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

राजसाहङ्कारकार्याण्येव. **तु**शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति. तानि इन्द्रियाणि गणयति **श्रोत्रम्** इति. **मेण्ढ्राङ्घ्र्योः** कोपेन्द्रौ देवते, मित्रश्च **पायोः**, अन्येतु क्रमेणैव. तत्र दिग्वातौ **श्रोत्र-त्वचोः**, **घ्राण-दृशोः**[1] वैपरीत्यं, इन्द्रो बाह्वोः, वह्निः **वाचः**, अश्विनौ नासिकयोः, प्रचेताः **जिह्वायाः**, अर्को **दृशोः** —एवं क्रमः ॥३१॥

एवं सर्वेषां सृष्टिम् उक्त्वा तदधिष्ठानत्वं[2] वदन् तत्त्वानां कार्यसृष्टिम् आह.

यदैतेऽसंहता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः ॥
यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम ॥३२॥
तदा संहत्य चाऽन्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः ॥
सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः ॥३३॥

यदा एते इति. **यदा एते असंहताः**, गुणत्रयकार्यत्वात्. नहि तामसादयो भिन्नस्वभावाः एकत्र मिलन्ति. अतएव **यदा आयतननिर्माणे**[3] **न शेकुः** न समर्थाः जाताः तदा (**भगवच्छक्तिचोदिताः !**) भगवत्प्रेरिताः अण्डं **ससृजुः** इति सम्बन्धः. **भूतानि**, **इन्द्रियाणि**, **मनो**, **गुणाश्च**. **गुणाः** देवाः शब्दादयो वा. तामसानाम् आद्यन्तनिवेशनं भूयस्त्वाय. **आयतनं** भगवच्छरीरं ब्रह्माण्डम्. **ब्रह्मवित्तम** इति अस्मिन् अर्थे सर्वज्ञत्वात् संवादार्थं सम्बोधनम्. **तमप्प्रत्ययस्तु** भगवदुत्कर्षज्ञानार्थम्. **अन्योन्यं संहत्य** मिलित्वा **चकाराद्** गुणभावमपि आश्रित्य **भगवच्छक्तिः** आज्ञाशक्तिः तया **चोदिताः** प्रेरिताः. **सदसत्त्वम्** उच्च-नीचत्वं कार्य-कारणभावं वा. **सद्** ब्रह्म **असद्** जगत् ; प्रकाशा-ऽप्रकाशभावं वा. **चकाराद्** अन्यान् जीवगणांश्च. तद् अदृष्टानि वा तत्संस्कृतभूतानि वा. **उभयं** समष्टि-व्यष्ट्यात्मकं,

---

प्रकाशः

तथा सति कथं न सात्त्विकत्वम् अतः आहुः **तुः** इत्यादि. तथाच तद् यदि प्रामाणिकं तदा कल्पान्तराभिप्रायम् इति अर्थः ॥३१॥

---

१. प्राणदृशोरिति ग. घ्राणदृश्योरिति घ.

२. यदधिष्ठानत्वमिति क-ग-घ. ३. -निर्माणैरिति घ.

स्थूल-लिङ्गशरीरे वा. **अदः** तत् प्रसिद्धम्. **हि** युक्तो अयम् अर्थः. अस्मिन् अर्थे तृतीयस्कन्धे उपपत्तिः वक्ष्यते ॥३२-३३॥

"तैः अण्डं सृष्टं ; तस्य भगवदायतनत्वार्थं भगवान् आगतः" इति वक्तव्यम्. तत् कस्य हेतोः इति आकाङ्क्षायाम् आह.

वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ॥
कालकर्मस्वभावस्थोऽजीवोऽजीवमजीवयत् ॥३४॥
स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः ॥
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ॥३५॥

वर्षपूगसहस्रान्ते इति. **वर्षपूगानां सहस्रं** पञ्चविधाअपि वर्षाः सहस्रं जाताः तेषाम् **अन्ते** सहस्रवर्षपर्यन्तम् **उदकएव (शयं!)** स्थितम् **अण्डम् अजीवञ्च**. जीवः तत्र भोक्ता न कोऽपि प्रविष्टः. एतदर्थमेव भगवता विलम्बः कृतः. अतः परम् उदके स्थितं विलीनं भविष्यतीति **अजीवो** जीवव्यतिरिक्तो भगवान् **अजीवं** जीवरहितं **अजीवयद्** जीवयुक्तं कृतवान् ; स्वयं प्रविश्य प्राणानपि तत्र योजितवान् इति अर्थः. तदा भगवता प्राणेन च अधिष्ठितो विराट् **पुरुषशब्दवाच्यो जातः**. तदा **सएव पुरुषः तस्मादेव** हेतोः, जलाद् वा, **अण्डं निर्भिद्य.** 'कटाहं भित्त्वा' इति केचित्. केचित् तत्रैव कटाहाद् गोलकं पृथक्कृत्य निर्गतः अण्डकटाहम् आत्मानञ्च

प्रकाशः

सएव पुरुषः इत्यत्र. **तस्माद्** इति पुरि शयनात्. अत्र तालव्य-'श'कारापत्तिः इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **जलाद् वा** इति. प्रथमपक्षे 'पुरुषः' इति परोक्षेण कथनं निघण्टवः इत्यादिवद्, द्वितीये रूढम् इति विशेषः. अत्र **अण्डम्** इत्यादिना उक्तयोः पक्षयोः आद्ये अण्डस्य जले विलयादिकल्पनया, द्वितीये पुरुषस्य नारायणत्वे क्लेशः, "आत्मनोऽयनम् अन्विच्छन्" (भाग.पुरा. २।१०।१०) इति अग्रिमवाक्य-

लेखः

तदा संहृत्य इत्यत्र. **तृतीयस्कन्धे** इति. ... ॥३३॥

वर्षपूग- इत्यत्र. **पञ्चविधा अपि** इति ... . **एतदर्थमेव** इति. ... ॥३४-३५॥

पृथक् कृतवान् इति अर्थः इति[1]. वस्तुतो अण्डभावं परित्यज्य पुरुषो भूत्वा यथासुखं परिवर्तते इति युक्तम्. तस्य तद्रूपं वर्णयति **सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः** इति. सहस्रं ऊरवः अङ्घ्रयः बाहवः अक्षीणि[2] च यस्य. **सहस्रम् आननानि येषु** तादृशशीर्षयुक्तः. ''सहस्रशीर्षा पुरुषः'' (ऋक्संहि. १०।९०।१) इति अर्धर्चस्य अर्थरूपः सः सम्पन्नः ॥३४-३५॥

तस्य सर्वाधारत्वम् आह **यस्य इह अवयवैः** इति. एतावता 'यतः सृष्टं, यद्रूपम्' (श्लो. २) इति द्वयस्य उत्तरम् उक्तम्.

यस्येहाऽवयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ॥
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥३६॥

यस्य अवयवैः पादादिभिः **लोकान्** पातालादीन् **(कल्पयन्ति!) मनीषिणः** इति ध्यानार्थम् एषा कल्पना. **कट्यादिभिः** पश्चाद्भागव्यवस्थया अधः अधोभागे **सप्तः** अतलादयः. **(सप्तोर्ध्वं!) जघनादिभिः** अग्रिमभागाद् आरम्भः. अधोभागस्तु उपरिभागाद् विमुखः अतः कट्यादेः जघनादेश्च न विरोधः ॥३६॥

एवं सामान्यतः उद्देशम् उक्त्वा भगवतो बाहु-मुखादीनाम् अवयवमध्यपातेऽपि मुख्यत्वात् तान् अग्रे निरूपयति **पुरुषस्य मुखं ब्रह्म** इति.

प्रकाशः

विरोधश्चेति अरुच्या तृतीयं पक्षम् आहुः **वस्तुतः** इत्यादि ॥३५॥

यस्य इत्यत्र. **एतावता** इत्यादि. ''यदैते'' (श्लो. ३२) इति आरभ्य अन्तेन सन्दर्भेण ''आयतनार्थं सृष्टं पुरुषरूपम्'' इति उत्तरम् उक्तम् इति अर्थः ॥३६॥

लेखः

यस्येहावयववैः इत्यत्र. **अधोभागे** इति, पश्चाद् भागे इति अर्थः. तद् उक्तं शारीरे ॥३६॥

॥ इति द्वितीयस्कन्धे पञ्चमाध्यायविवरणम् ॥

---

१. इतीति नास्ति क-ग-घ-ङ. २. अक्षाणीति ख-ग-ङ.

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ॥
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रो व्यजायत ॥३७॥

ऊर्वोः इति भेदेन निर्देशो भगवद्भावापत्तिनिषेधार्थः वैश्य-शूद्रयोः मुक्त्यभावाय. **पद्भ्यां शूद्रः**. **पद्भ्याम्** इति पञ्चमी. एते ब्राह्मणादयो अधिकारिपुरुषाः तत्तज्जात्यधिष्ठातृ-देवतारूपाः ॥३७॥

इदानीं लोककल्पनाम् आह **भूर्लोकः** इति.

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ॥
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ॥३८॥
ग्रीवया जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात् ॥
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ॥३९॥

पद्भ्यां सप्तलोकपक्षः उच्यते. पादादि-कटिपर्यन्तं **भूर्लोकः**. **भुवर्लोकस्तु अस्य नाभितः**. **हृदयं** गर्तस्थानम्, **उरः** तदुपरि उच्चस्थानम्. **महात्मनः** इति ततः परं ज्ञानिनामेव वासात्, महान्तः आत्मानो[१] यत्र इति. **स्तनद्वयाद्** नासिकाद्वयात् "'स्तन' शब्दे" (पाणि.धा.पा. चुरादि. १८८३) इति व्युत्पत्त्या. **मूर्धभिः सत्यलोकः**. तुशब्देन मतान्तरे तत्र अन्ये लोकाः उक्ताः ते निवारिताः ॥३८-३९॥

इदानीं चतुर्दशलोकपक्षं वक्तुं पूर्वोक्ताएव एते उपरितनाः लोकाः. अधस्तनान्[२] सप्त आह.

तत्कट्यां चाऽतलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः ॥
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम् ॥४०॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम् ॥
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान् ॥४१॥

तत्कट्याम् इति. उपरितनलोकानाम् उत्तमत्वाद् भगवदवयवानां कारणत्वम् उक्तम्, **अतलस्य** तु मयपुत्रनिवासाद् मोहकबाहुल्याच्च[३]

प्रकाशः

भूर्लोकः इत्यत्र. **पद्भ्याम्** इत्यादि. तथाच अयं चरणएव सप्तलोकपक्षज्ञापकः इति अर्थः ॥३८॥

१. आत्मा यत्रेति इति क. २. अधस्तनादिति क-ग. ३. मोहबाहुल्यादिति ख.

भगवदवयवस्य आधारत्वमात्रम्. **क्लृप्तम्** इति पूर्वमेव, तामसत्वाद् विशेषध्याने तस्य अनुपयोगात्. **वितले** महादेवस्य विद्यमानत्वाद् भगवतो महत्त्वम् आह **विभोः** इति. यस्तु महादेवस्याऽपि सुखप्रदः इति अर्थः. **सुतलं शुद्धं** भगवतो विद्यमानत्वात्. **लोकमयः** इति. अवयवैः क्लृप्तानां लोकानां तत्रैव विद्यमानत्वाद् लोकमयत्वम्. **पुमान्** इति. न इदम् उपासनार्थम् उक्तं किन्तु पुमानेव तादृशः ॥४०-४१॥

त्रिलोकपक्षम् आह.

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ॥
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना ॥४२॥

॥ इति श्रीभागवत-द्वितीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥

भूर्लोकः इति. **पद्भ्यां** कटिपर्यन्ताभ्यां, **नाभितः** कट्यादि-ग्रीवापर्यन्तात्, **मूर्ध्ना** ग्रीवादि-ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तेन **इति वा लोककल्पना** इति. कल्पना हि अत्र त्रिविधा— गुणतः, विद्यातः, यज्ञतश्च इति. यथाधिकारं व्यवस्था— सात्त्विकानां चतुर्दशलोकपक्षः, राजसानां सप्त, तामसानां त्रिलोकपक्षः इति ॥४२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे पञ्चमो अध्यायः

प्रकाशः

पक्षत्रयस्यापि काल्पनिकत्वे वस्तुयाथात्म्यज्ञानं केनापि न स्याद् इति तन्निवारणम् आहुः **पुमान्** इत्यादि ॥४१॥

इति वा लोके इत्यत्र. **गुणतः** इत्यादि. गुणाः त्रयो, विद्याः चतुर्दश, यज्ञाः सप्तसंस्थाकाः (/सङ्ख्याकाः?) इति तत्तदर्थं तथा इति अर्थः ॥४२॥

॥ इति श्रीद्वितीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे पञ्चमाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ॥
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा ॥(१)॥
उत्पत्तिः[१] स्थानसम्बन्धरूपा षष्ठे निरूप्यते ॥

प्रकाशः

अथ षष्ठाध्यायं विवरिषवः पूर्वापरभावनियामिकाम् अध्यायसङ्गतिं वक्तुं प्रकरणार्थरूपाम् उत्पत्तिं विभजन्तः तां वदन्ति **अनित्ये** इत्यादि सार्धेन. तथाच समागमस्य स्थानसापेक्षत्वात् तज्जननं समागमस्य उपजीव्यमिति तत् पूर्वं निरूप्य समागमेन स्थानसम्बन्धः आधेयानाम् अत्र निरूप्यतइति उपजीव्योपजीवकभावः पौर्वापर्यनियामकः इति अर्थः. ननु पूर्वत्र स्थानजननं सप्तदशश्लोकोत्तरम् उक्तम्, अत्र च तत्सम्बन्धो नवभिरेव उच्यते नतु

लेखः

अथ षष्ठाध्यायं व्याकरिष्यमाणः. अत्र अध्याये स्थूलेषु अमूर्तानां जीवानाम् उत्पत्तेः निरूपयिष्यमाणत्वात् तस्याश्च स्थानसापेक्षत्वात् पूर्वाध्याये स्थानं निरूप्यैव अत्र सा निरूप्यतइति उपजीव्योपजीवकत्वमेव सङ्गतिः इति आशयेन आहुः **अनित्ये** इत्यादि. **सा** इति, उत्पत्तिः इति अर्थः. **अनित्ये** पृथिव्यादि-जडसमूहे या उत्पत्तिः सा **जनन**पदवाच्याः. अतएव स्थूलदेहादौ 'जन्य'पदप्रयोगः. तथा ''न जायते म्रियते वा कदाचिद्'' (भग.गीता २।२०) इति, ''नित्यः सर्वगतः स्थाणुः'' (भग.गीता २।२४) इत्यादिना नित्येऽपि सूक्ष्माणामपि ''अहं जीवः'' इति वाक्याद् अतिसूक्ष्मत्वेन परिच्छिन्ने जीवे या उत्पत्तिः सा **समागम**पदवाच्या इति, अनित्ये स्थूलदेहे अंशभूतस्यैव तस्य अन्नादिद्वारा समागमनात्. तथा **नित्यापरिच्छिन्नतनौ** भगवति **सा प्राकट्य**पदवाच्या इति **सा** उत्पत्तिः **त्रिधा** इति अर्थः (१).

उत्पत्तिः इति. **स्थानानि** देहेन्द्रियगोलकरूपाणि पूर्वाध्याये निरूपितानि,

१. उत्पत्तिस्थानेति क-ग-घ-ङ.

स्थूलस्याऽमूर्तरूपस्य तदभेददृशिः फलम् ॥(२)॥
''नारायणपरा वेदा'' इत्यनेन निरूपितम् ॥
सामान्येन तदेवाऽत्र विस्तरेण निरूप्यते ॥(३)॥
पौरुषेण च सूक्तेन निर्धारितमिहोदितम् ॥
कार्यस्य वस्त्वभेदोऽपि माहात्म्यं परतस्तथा ॥(४)॥

प्रकाशः

सर्वत्रेति कथं जनन-समागमयोः अध्यायार्थत्वम् इत्यतः आहुः **स्थूलेत्यादि** सार्धम्. तथाच तेषु फलार्थं विचाररूप-शेषिबोधनेन अध्यायार्थस्य शेषता स्फुटीक्रियते इति सर्वत्र तादर्थ्यात् तयोः अध्यायार्थत्वं निर्बाधम् इति अर्थः (१-३).

कथं निरूप्यते इति आकाङ्क्षायां तत्प्रकारं स्फुटीकुर्वन्ति **पौरुषेण** इत्यादि. **चकारात्** छान्दोग्य-सौबालादिभिः मुण्डाकादिभिश्च. **परतः** इति परत्वाद् ; भावप्रधानो निर्देशः. तथाच सर्ववेदान्तविचारपूर्वकं तन्निर्धारितप्रकारेण निरूप्यते इति अर्थः (४).

लेखः

तेषु **स्थूलस्य अमूर्तरूपस्य** जीवस्य **सम्बन्धरूपा** याः **उत्पत्तिः** सा **षष्ठे निरूप्यते** इति अर्थः. जीवस्य स्थूलत्व-व्यपदेशस्तु स्थूलब्रह्माण्ड-मध्यपातादेव इति ज्ञेयम्. एतावता नित्ये परिच्छिन्ने समागमरूपा उत्पत्तिः अत्र अध्याये उच्यते इति उक्तम्. तृतीया तु सप्तमाध्याये स्फुटीभविष्यति इत्यपि ज्ञेयम्. **तदभेदेति.** ''नारायणपराः वेदाः'' (भाग.पुरा. २।५।१५) इत्यादिना मूर्तामूर्तानां वेद-लोक-देवादीनां **भगवदभेद-दर्शनात्मकं फलं सामान्यन्यायेन निरूपितमपि अत्र विस्तरेण निरूप्यते** इति अर्थः (२-३).

एतस्यैव प्रपञ्चः **पौरुषेण** इत्यादि. **कार्यस्य वस्तुना** कारणात्मना सह **अभेदोऽपि** उदितः इति लिङ्गविपरिणामेन योजनीयम्. **तथा परत्वाद्** भगवतो **माहात्म्यं** च उदितम् इति (४).

अत्र विराड्रूपे सर्वत्र भगवत्सम्बन्धः, अधिकारिभेदेन फलं, साधनं, माहात्म्यं च इति चत्वारो अर्थाः प्रतिपाद्याः. तेषाम् अत्र अध्यायनिरूपणे

अमूर्तरूपं साधर्म्यं सर्वत्रैव हरेर्बृहत् ॥
तेन सिद्धो वस्त्वभेदः स्थूलं ध्यानं च सिद्ध्यति ॥(५)॥

पूर्वाध्याये पूर्वम् उद्दिष्टानां पदार्थानां मूर्तानां जननरूपा उत्पत्तिः निरूपिता. अनुद्दिष्टानामपि कालादीनां भगवत्त्वं स्पष्टतयैव उक्तम्. इदानीम्

प्रकाशः

ननु वस्त्वभेदमात्रनिरूपणम्[१] आवश्यकं, प्रस्तुतत्वात् ; श्रुतिनिर्धारितो अर्थो माहात्म्यञ्च अपृष्टत्वाद् न अत्यावश्यकमिति तत् किमिति उच्यते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अमूर्तेत्यादि**. **सर्वत्र** अत्र निरूप्यमाणेषु **हरेः** सम्बन्धिषु सर्वेषु पदार्थेषु **अमूर्तत्वरूपं बृहत्साधर्म्यं** तेन **वस्त्वभेदः सिद्धो** भवति. तथाच तदुपपादकत्वेन ब्रह्मणा निरूप्यते, शुकेन च स्थूल-ध्यानोपपादनार्थं निरूप्यतइति इदमपि आवश्यकम् इति अर्थः (५).

एवं सङ्गत्यादिकं निरूप्य मूर्तामूर्तपदार्थं विवेक्तुम् एतदेव व्याकुर्वन्ति

लेखः

बीजम् आहुः **अमूर्तरूपेति**. **सर्वत्रैव** चतुर्ष्वपि अर्थेषु **अमूर्तरूप-बृहद्** अक्षरं ब्रह्म **साधर्म्यम्** अतः साजात्येन चत्वारो अत्र षष्ठाध्याये उदिताः इति अर्थः. अत्र[२] **अमूर्तपदेन** अवयवसंस्थानविशेष-राहित्यमेव विवक्षितं, तद्धि सम्बन्धादि-चतुष्टयेऽपि समानमिति सिद्धम् आहुः **तेन** इति. मूर्तामूर्त-स्थूलरूपस्य भगवत्स्वरूपएव सन्निवेशकथनेन इति अर्थः. **सिद्ध्यति** इति. अस्थूलस्य भगवद्रूपत्वाभावे तु उपदिश्यमानं तद् ध्यानं न उपपद्येत इति भावः (५).

कारिकोक्तमेव अर्थं सप्रपञ्चम् आहुः **पूर्वाध्याये** इत्यादि. **पूर्वम्** इति प्रथमाध्याये ''पातालमेतस्य हि'' (भाग.पुरा. २।१।२६) इत्यादिना **उद्दिष्टानां पदार्थानां जननरूपा उत्पत्तिः** इतः पूर्वस्मिन् पञ्चमाध्याये **निरूपिता** इति अर्थः. ननु देवादीनां ''दिग्वातार्कप्रचेतोश्वि'' (भाग.पुरा. २।५।३०) इत्यादिना निरूपणाद् अमूर्तनिरूपणम् इति प्रसक्तम् इत्यतः

---

१. वस्त्वभेदमात्रत्वनिरूपणमात्रावश्यकप्रस्तुतत्वाद् इति अशुद्धः मुद्रितपाठः कि.-मा.पाठानुसारेण शोधितः - सम्पा. २. न.पाठानुसारेण. अन्यत्र इति ग.पाठे - सम्पा.

अमूर्तानां जीवानां मूर्तेन सह सम्बन्धो निरूप्यते(१). येऽपि पूर्वं "देवादयः उत्पन्नाः" इति उक्ताः तेऽपि विशिष्टाएव उत्पन्नाइति तत्र यद् अमूर्तं रूपं तद् इदानीं पृथक्कृत्य स्थूलरूपे भगवति अमूर्ते सर्वत्र विराजि प्रविष्टरूपे सम्बन्धो निरूप्यते(२). जीवप्रकरणत्वाद् अस्य साधनं फलञ्च उत्पत्त्या निरूपणीयम्(३). माहात्म्यञ्च भगवतः अमूर्तमिति तदपि अत्र निरूप्यते(४). ततः च चत्वारो(१-४) अत्र पदार्थाः निरूप्याः[१] ; अमूर्तत्वसाधर्म्याद् एकस्मिन्

प्रकाशः

पूर्वेत्यादि. **विशिष्टाः** इति देहादिविशिष्टाः. **पृथक्कृत्य** इति देहात् पृथक्कृत्य. **सम्बन्धः** इति आधेयत्वरूपः. तेन मूर्तत्वं नाम अनित्यत्वे सति परिच्छिन्नपरिमाणत्वम्, नतु परिच्छिन्न-परिमाणमात्रम्[२]. अमूर्तत्वञ्च नित्यत्वे सति परिच्छिन्नत्वम्. इदमेव मूर्तामूर्तब्राह्मणे[३] सिद्ध्यति. इदं साधर्म्यं यत्र तानि आहुः **जीवे**त्यादि. **अस्य जीवप्रकरणत्वाद्** इति योजना. **साधनम्** इति अधिकारिस्वरूपं, **फलम्** इति चतुर्विध-सुखात्मकम्. **माहात्म्यम्** इति विरुद्धधर्माश्रयत्वादि-रूपम्. **चत्वारः** इति, सम्बन्धः साधनं फलं

लेखः

आहुः **येऽपि** इत्यादि. **विशिष्टाएव** इति, देहादिविशिष्टाएव इति अर्थः. **चत्वारः** इति, सम्बन्धः साधनं फलं माहात्म्यं च इति चत्वारः. तत्र "वाचां वह्नेः" (श्लो. १) इत्यादिना विराड्रूपे जीवसम्बन्धः, "पादेषु सर्वभूतानि" (श्लो. १८) इत्यादिना अधिकारिभेदेन फलं, "यदा अस्य नाभ्यान्नलिनाद्" (श्लो. २२) इत्यादिना साधनं, "न भारती मे अङ्ग मृषा उपलक्ष्यते" (श्लो. ३३) इत्यादिना भगवन्माहात्म्यं च निरूप्यते इति ज्ञेयम् ॥१॥

---

१. निरूपिता इति क-ख-ग.   २. -परिणामत्वमात्रम् इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु पादटिप्पणीपाठः - सम्पा.   ३. "अथ अमूर्तं वायुश्च अन्तरिक्षं च. एतद् अमृतम् (नित्यं) एतद् यद् (चलं) एतत् त्यद् (अचक्षुग्राह्यम्)" (बृहदा.उप. २।३।१) इति श्रुतेः नित्यत्वे सति अस्थिरत्वे सति अचक्षुग्राह्यत्वम् इति अर्थः प्रतिभाति. प्रकाशपाठो अयं अनुलिपिकृत्-प्रामादिको वा अन्यथा वा इति न बुध्यते - सम्पा.

अध्याये निरूपणम्. प्रथमतः सर्वेषां जीवानां लिङ्गशरीरसामग्री भगवतो लिङ्गशरीरे सम्बद्धा इति निरूप्यते.

।। ब्रह्मा उवाच ।।

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्तधातवः ।।
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च ।।१।।

तत्र **वाचाम्** अस्मदादि-वागिन्द्रियाणां तदधिष्ठातुः **वह्नेश्च** भगवतो **मुखं** विवरात्मकं **क्षेत्रं** स्थानम्. भगवतो हि मुखद्वयं— इन्द्रियरूपं गोलकरूपञ्च. तत्र गोलकरूपे ब्राह्मणरूपत्वं पूर्वं निरूपितं [१]तत्त्वोत्पादितत्व-निरूपणाय[२]. तथा पातालादीनामपि भगवदवयवेभ्यः उत्पत्तिः, भगवति च स्थितिः अतः पातालादिरूपो भगवान् इति निरूपितम्. अत्र तु तद्विपरीतं जगद् उद्दिश्य भगवत्त्वं विधीयते, तत्र तु भगवन्तम् उद्दिश्य जगत्त्वं विहितम्. आधारत्वेन च निरूप्यते इति अमूर्तानां छन्दसां ये[३] भगवदवयवाः अमूर्ताः[४] आधिदैविकाः ते छन्दसां स्थानम् इति आह **छन्दसाम्** इति. गायत्री, जगती, उष्णिक्, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, पङ्क्तिः, बृहती च **सप्तधातवः** त्वङ्-मांस-रुधिर-मेदो-मज्जा-स्नाय्वस्थिदेवतारूपाः. एवं भगवन्मुखे मुख-सम्बन्धि-सर्वपदार्थानां शब्दार्थरूपाणां सम्बन्धं निरूप्य तत्र रसनेन्द्रियस्य विद्यमानत्वात् [५]तत्सम्बन्धिनामपि तत्र सम्बन्धम् आह **हव्येति**. हव्यं देवानाम्

प्रकाशः

माहात्म्यं च इति अर्थः.

वाचाम् इत्यत्र. **पूर्वम्** इति, ‘‘पुरुषस्य मुखं ब्रह्म’’ (भाग.पुरा. २।५।३७) इत्यत्र पूर्वाध्याये. **विधीयते** इति, ‘‘अहं भवान्’’ (श्लो. १२) इत्यादि-सार्धपद्यत्रयेण विधीयते. **विहितम्** इति, ‘‘इति लोकमयः पुमान्’’ (भाग.पुरा. २।५।४१) इत्यनेन विहितम्. **इति** इति, एवंप्रकारेण विरुद्धधर्माश्रयत्वात्. **देवतारूपाः** इति अस्मदाद्ये तद्धातु-देवतारूपाः, मुखम् उपक्रम्य अत्र सप्तधातूनाम् उक्तत्वात्. तत्सूचितम् अर्थम् आहुः **एवम्**

---

१. तत्रेति क-ख-ङ. २. तत्त्वोपपादिततत्त्वेति क-घ-ङ. ३. येन इति ङ. ये इति नास्ति घ. ४. ये अमूर्ता इति घ. ५. तदिति नास्ति घ.

अन्नम्. अस्मिन्नेव अन्ने मन्त्रेण तद्धव्यम् आरोप्यते तदा पुरोडाशादीनां लौकिकानां हव्यत्वं भवति. एवं **कव्यं** पितॄणाम् अन्नम्, **अमृतम्** अतिथ्याद्यन्नम्, अयाचितप्राप्तं वा व्रतहेतुभूतम्, **अन्नं** ब्राह्मणभुक्तशेषं, प्राणादिद्वारा ज्ञानसाधनं वा ; तेषां भगवतो **जिह्वा (सर्वरसस्य!)** रसानाञ्च षड्विधानां हव्यादिषु सर्वत्र विद्यमानानां, **च**काराद् अस्मद्रसनेन्द्रिय-तदधिष्ठात्रोश्च, स्थानम्. अनेन हव्यादिव्यतिरिक्त-रसानां भगवज्जिहवा स्थानं न भवति इति विमर्शः, **सर्व**पदप्रयोगाद् भवति इति अन्ये ॥१॥

सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने ।।
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणे मोदप्रमोदयोः ।।२।।

तथा **सर्वेषाम्** अस्मदादीनाम् **असूनां** प्राणानां, तदधिष्ठातुः **वायोः, च**काराद् घ्राणसम्बन्धिनां सर्वेषां **नासे** नासापुटे आधिदैविके – **परम**त्वम् आधिदैविकत्वमेव – **अयनं** स्थानम्. पुटद्वयमपि सर्वेषां स्थानम्. तत्र घ्राणेन्द्रियन्तु **अश्विनादीनां**[1] स्थानम्, **ओषधीनां च** व्रीह्यादिरूपाणां, ''तस्माल्लोमशा अन्तरतः प्राणाः'' (तैत्ति.संहि. ६।२।११।३) इति श्रुतेः, बर्हिस्तुल्यत्वाच्च ओषधीनाम्. भगवतो घ्राणे 'घ्राणम्' इति वक्तव्ये आध्यात्ममपि घ्राणम् अन्तर्निवेश्य **घ्राणे** इति (उक्तम्!). **मोद-प्रमोदौ**

प्रकाशः

इत्यादि. **आरोप्यते** इति आवाह्य स्थाप्यते, नतु प्रसज्यते. **प्राणादिद्वारा** इत्यादि, ''तस्माद् अन्नं ददत् सर्वाणि एतानि ददाति'' (महाना.उप. २३।१) इत्यादि श्रुत्युक्तम्. यद्यपि हव्य-कव्य-व्यतिरिक्तेषु मन्त्रेण न आरोपः तथापि अभिसन्धिना तेषु बोध्यः. **अन्ये** इति. हव्य-व्यतिरिक्त-रसस्यापि स्थानत्वाङ्गीकारे तुल्यन्यायेन लौकिकान्नस्यापि तत्स्थानत्वस्य सम्भवदुक्तिक-त्वात् परिसङ्ख्या-वैयर्थ्यापत्तिः इति **सर्व**पदे अर्थसङ्कोचाभावो न युक्तः इति अस्वरसबीजं बोध्यम् ॥१॥

आधिदैविकत्वं न स्फुटम् इत्यतः स्फुटीकुर्वन्ति **परमत्वम्** इत्यादि. **ओषधीनाम्** इति. अत्रापि प्रोक्षणसंस्कृताएव ते बोध्याः ॥२॥

१. आश्विनादीनामिति क-ख-घ.

सुगन्धविशेषौ. **मोदो** हि दूराद् यो वाति सुगन्धः, **प्रमोदो** हि सर्वगन्धाभिभावकः ॥२॥

रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाऽक्षिणी ॥
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः ॥३॥
तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम् ॥
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि ॥४॥

रूपाणाम् अनेकविधानां **तेजसां** नक्षत्रादीनां भगवतः **चक्षुः** गोलकरूपं, **दिवः** स्वर्गस्य **सूर्यस्य च** – **च**कारात् तत्सम्बन्धिनाम् – **अक्षिणी** पूर्ववत्. गोलकभेदेन इन्द्रियांशभेदो वा. **कर्णौ** गोलकरूपौ. **दिशाम्** अस्मदादि-श्रोत्रेन्द्रिय-देवतानां, **च**काराद् इन्द्रियाणाञ्च, **तीर्थानां** गङ्गादीनां **कर्णौ** स्थानम् इति अर्थः. **श्रोत्रम्** इन्द्रियम् ; **आकाश-शब्दयोः** कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ने नभसि उत्पन्नानां शब्दानां श्रोत्रेण ग्रहणाद् विषयाधारयोः भगवदिन्द्रियं स्थानम्. **वस्तूनां** मध्ये ये **सारभूताः** सुवर्णादयः, उत्कृष्टरूपाः वा देवता परमार्थरूपाः, **सौभगस्य** सौन्दर्यस्य **च** तत्सम्बन्धिनाम् अन्येषाञ्च **(तद्!)** भगवद्**गात्रं** शरीरं स्थानम्. **भाजनम्** इति सर्वदा स्थानरूपं व्यवहारदशायामपि. **अस्य** भगवतः **त्वक् स्पर्शा**दीनां स्थानम्. **मेधस्य** पावित्र्यस्य. **सर्वेषामेव** पावित्र्यं भगवत्त्वगिन्द्रिये वर्तते. लोके हि जलात् शुद्धिः भवति ; तद् अत्र भगवतः प्रस्वेदरूपम्! अतो मेधस्य भगवत्त्वचोऽधिष्ठानत्वे सन्देहो न कर्तव्यः इति आह **चैव हि** इति. **च**कारेण मेधाश्रयाः गृहीताः. **एव**कारेण च त्वगेव स्थानं न अन्यद्[१] इति. **हि** इति युक्तत्वम् ॥३-४॥

प्रकाशः

पूर्ववद् इति, आध्यात्मिकम् अन्तर्निवेश्य द्विवचनम् उक्तम् इति अर्थः. क्लिष्टत्वात् पक्षान्तरम् आहुः **गोलके**त्यादि. **तत्सम्बन्धिनाम्** इति सुन्दराणाम् ॥३॥

लोमान्युद्भिज्जजातीनाम् इत्यत्र. **जाति**पदं व्यवहारम् आलम्ब्य उक्तं प्रकरणाद् इति ज्ञापनाय आहुः **जातयः** इति ॥५॥

---

१. अन्यः इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

लोमान्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञः सुसम्भृतः ।
केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम् ॥
बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम् ॥५॥

तत्र **लोमानि** सन्ति तानि **उद्भिज्जा**दीनां स्थानानि. ऊर्ध्वं भिनत्ति इति उद्भिद् = अङ्कुरादि[1], तस्माद् जाताः **उद्भिज्जाः** वृक्षादयः, तेषां **जातयः** अवान्तराः धव-खदिरत्वादयः,. सर्वे वृक्षाः इति यावत्. अथवा ये पापवृक्षाः बिभीतकादयः[2] तेषां न तानि स्थानानि इति आह **यैः वा** इति. **यैः** पलाशादिभिः **यज्ञः सम्भृतो** निष्पादितः, सम्भारहेतवो वा अश्वत्थादयः. भगवतः **केश-श्मश्रु-नखानि शिला-लोहाभ्र-विद्युतां** स्थानानि. तत्र शिलायाः नखानि, लोहस्य च अभ्राणां केशाः, विद्युतां श्मश्रूणि हिरण्यश्मश्रुत्वात्. **बाहवो** भगवतः इन्द्रियरूपाः **(लोकपालानां!)** पालनकर्तारो देवाः इन्द्रादयः तेषां स्थानानि. अन्येषामपि **(क्षेमकर्मणां!)** धर्मकर्तॄणां भगवद्**बाहवः** स्थानं, जगद्रक्षकत्वात्, ''सप्तभिर्धार्यते मही'' (स्कन्दपुरा. ४।१।२।९०) इति वाक्यात्. **प्रायशः** इति सकामधर्मकर्तृ-व्युदासार्थम् उक्तम् ॥५॥

विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च ॥
सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् ॥६॥

भगवतो **विक्रमः** पादविक्षेपो **भूरादीनां** स्थानम्. **भूरादिशब्दाः** अव्ययानि, तेन षष्ठ्यन्तेऽपि एतदेव रूपम्. लोके **क्षेम**पदार्थस्य लब्धपरिपालनात्मकस्य, **शरण**पदार्थस्य च आश्रितरक्षणरूपस्य[3], **चकारात्** प्रपत्ति-भक्त्योश्च, भगवद्**विक्रमः** स्थानम्. यद्यपि पादावेव स्थानं तथापि क्रियासहितौ इति **विक्रमः** उक्तः. **सर्वकामवरस्य** सर्वेषां कामानाम्[4]

लेखः

बाहवो लोकपालानाम् इत्यत्र. **''सप्तभिः धार्यते मही'' इति वाक्याद्** इति. ... ॥५॥

---

१. अङ्कुरादिः तस्मादिति क. २. बिभीतक = बहेडा हिन्दीभाषायाम् - सम्पा.
३. -रूपणस्येति क-ख. ४. कामनानामिति क-ख-ग-ङ.

आशिषां वरस्य च देवप्रसादनिरूपकस्य, **अपि**शब्दाद् अणिमादीनां मोक्षस्य च, **हरेः चरणः आस्पदं** स्थानम् ॥६॥

अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः ॥
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः ॥७॥

अपां जलानां, **वीर्यस्य** रेतसः, **सर्गस्य** सृष्टेः, **पर्जन्यस्य** मेघस्य, **प्रजापतेः** ब्रह्मणः (**पुंसः !**) तस्य[१] वक्तुः – इदानीं सृष्ट्यभिनिवेशाभावाद् 'मम' इति न उक्तं – **शिश्नो** गोलकम्. **उपस्थः** इन्द्रियम्. **तु**शब्दः पूर्वव्यावृत्त्यर्थो, लोकप्रसिद्धव्यावृत्त्यर्थो वा. **प्रजातिनिमित्तो यः आनन्दः** स्वभार्यायां ऋतुकाले सम्भोगजनितो यः आनन्दः, **निर्वृतिः**[२] कामस्य, उभयोः – अथवा **प्रजातिः** सेकः, **आनन्दः** सुखं स्पर्शनिमित्तं, **निर्वृतिः** कामशान्तिः ; त्रयाणां – भगवदिन्द्रियं स्थानम् ॥७॥

पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद[३] ॥
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः ॥८॥

भगवतः **पायुः** स्थानं यमादीनाम्. **यमः** पितृराजः, **मित्रः** [४]पाय्वधिष्ठातृ-देवता[५]. **परिमोक्षस्य** मलत्यागलक्षणस्य सव्यापारस्य इन्द्रियस्य. **नारद** इति सम्बोधनं ये ये कलहकर्तारः तेषामपि तत्स्थानम् इति सूचनार्थम्.

प्रकाशः

इदानीम् इति. सृष्टिकरणाभिनिवेशे यद्यपि तदेव स्थानं तथापि अभिनिवेशाभावाद् न उक्तम् इति अर्थः. **लोकप्रसिद्धव्यावृत्त्यर्थो वा** इति. उपशब्दोक्त्यैव पूर्वव्यावृत्तेः सम्भवाद् अयं पक्षः उक्तः ॥७॥

लेखः

अपां वीर्यस्य इत्यत्र. **तस्य वक्तुः** इति, उपदर्शितप्रमेयस्य वक्तुः इति अर्थः. **इदानीम्** इति. ... . **निर्वृतिः** इति कस्य इति अपेक्षायाम् आहुः **कामस्य** इति. **उभयोः** इत्यादि. प्रजात्यानन्द-निर्वृत्योः उपस्थः स्थानम् इति अर्थः ॥७॥

---

१. स्वस्येति घ. २. निर्वृतेरिति घ-ङ. ३. नारदः इत्यपि पाठः गृहीतः -सम्पा.
४. पायोरिति घ-ङ. ५. अधिष्ठात्री इति ग-ङ.

अथवा **नारदः** हरीतकीरूपः[१], अनुद्भूतकलहानां कलहम् उद्भाव्य तद्द्वारा तेषां निवारकत्वात्. **हिंसायाः** प्राणिवधस्य, **निर्ऋतेः** दिक्पतिरूपायाः, **मृत्योः** मारकस्य, **निरयस्य** नरकस्य भगवतो **गुदः** स्थानम्. असमीचीनानां तत्स्थानं वदन् भीतः सन् आह **स्मृतः** इति, एवं हि स्मर्यते. पायु-गुदयोः गोलकेन्द्रियरूपत्वम् ॥८॥

पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः ॥
नाड्यो नदनदीनां च गोत्राणाम् अस्थिसंहतिः ॥९॥

पराभूतेः पराजयस्य, **अधर्मस्य** पापस्य, **तमसः** अज्ञानस्य, अन्धकारस्य वा, **पश्चिमः** पृष्ठिभागः[२] आश्रयः ; **चकारात्** संसारस्याऽपि. भगवतो **नाड्यः नद-नदीनाम्** आश्रयाः. **नदाः** शोणभद्रादयः, **नद्यो** यमुनाद्याः. **गोत्राणां** पर्वतानाम् **अस्थिसंहतिः** अस्थिसङ्घातः आश्रयः ॥९॥

अव्यक्तं रससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च ॥
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम् ॥॥१०॥

अव्यक्तं प्रकृतिः **रससिन्धूनां** क्षारादिसमुद्राणां, **भूतानां** पृथिव्यादि-पञ्चभूतानाम् अस्मदादीनाञ्च **निधनस्य** प्रलये प्रवेशस्य – **चकारात्** प्रलयानाम् – **उदरं** (**पुंसः!**) भगवतः स्थानम्. तथात्वे प्रमाणं **विदितम्** इति. **पुंसः उदरम्** इति सम्बन्धः. अग्रेऽपि (**पुंसः!**) भगवतो **हृदयम्** अस्मदादीनां **मनसः पदं** स्थानम् ॥१०॥

धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च ॥
विज्ञानस्य च तत्त्वस्य परमात्मा परायणम् ॥११॥

प्रकाशः

नारदस्य अग्रे स्थानान्तरकथनात् पक्षान्तरम्[३] आहुः. **अथवा नारदेत्यादि** ॥८॥

---

१. हरीतकी रेचकौषधिरूपा आपाततो विरेचनात् कष्टप्रदापि अन्ते कोष्ठशोधिका. नारदोऽपि कलहं कारयित्वा अन्ते कल्याणकरो भवति - सम्पा. २. पृष्ठभाग इति घ.

३. अथवेति असम्बोधनार्थे प्रथमेति 'नारदः' सविसर्गः पठितः :एवमपि पङ्क्तियोजना शक्या - सम्पा.

धर्मस्य ब्रह्मणः[१] स्तनाद् जातस्य, **मम** वक्तुः चतुर्मुखस्य, **तुभ्यं** तव, अथवा तव यत् प्रयोजनं रूपं भक्तिजनकं तस्य, **च**काराद् अन्येषां भक्तानां, **कुमाराणां** सनकादीनां, **भवस्य** महादेवस्य, **च**काराद् ज्ञानिनां शुकादीनां, **विज्ञानस्य, तत्त्वस्य** महत्तत्त्वस्य, **च**कारात् सूत्रस्य **परमात्मा** परमस्य आत्मा = अन्तःकरणं **परायणं** स्थानम् इति अर्थः ॥११॥

एवं सर्वेषां परिच्छिन्नानाम् उत्पत्तिम् उक्त्वा यदर्थम् एतद् उक्तं तद् आह **अहम्** इति सार्धैः त्रिभिः. ब्रह्मादयः सर्वे भगवत्स्वरूपाः, समुदायो भगवान्. प्रत्येकं तएव इति अपरे. अतः परं फलनिरूपणार्थम् अधिकारिणं साधनञ्च[२] निरूपयन् पुरुषसूक्ते तन्निरूपितत्वात् तत्प्रकारेणैव निरूपयति. ''पुरुष एव इदं सर्वम्[३]'' (ऋक्संहि. १०।९०।२) इति

प्रकाशः

सम्बन्धसामान्ये चतुर्थी न सङ्गता इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **तव यत् प्रयोजनं रूपम्** इत्येतस्यैव विवरणं **भक्तिजनकम्** इति ॥११॥

अहं भवान् इत्यस्य आभासे. **एवम्** इत्यादि. 'यत्संस्थम्' (भाग.पुरा. २।५।२) इत्यस्य उत्तरभूतेन ''वाचाम्'' (श्लो. १-९) इत्यादि श्लोक-नवकोक्तप्रकारेण **सर्वेषां** नित्य-**परिच्छिन्नानाम् उत्पत्तिं** समागमरूपाम् **उक्त्वा यदर्थम् एतत्** सर्वेषां स्थानविभजनम् **उक्तं तद्** 'यच्च' (भाग.पुरा. २।५।२) इति प्रश्नस्य उत्तरम् **आह** इति अर्थः. विवृतौ. सार्धत्रिपद्यसिद्धम् अर्थम् आहुः **भगवत्स्वरूपाः** इति. मतान्तरम् आहुः **समुदायः** इत्यादि. अत्र अस्वरसबीजन्तु ''अहमेव आसमेव'' (भाग.पुरा. २।९।३२) इति पद्यविरोधो ज्ञेयः. **अतः परम्** इत्यादि. 'यत्संस्थम्' (भाग.पुरा. २।५।२) इत्यस्य उत्तरनिरूपणानन्तरं त्रिविधसुखात्मक-फलनिरूपणार्थम् अधिकार्यादिकं वदन् पुरुषसूक्ते तयोः निरूपितत्वात् तथा इति अर्थः. ननु पुरुषसूक्ते ''अहं भवान्'' (श्लो. १२) इति प्रकारेण अनिरूपितत्वात् कथं तथा

---

१. ब्रह्मणस्तनादित्यविसर्गः पाठः सर्वेषु पुस्तकेषु. २. चकारो नास्ति घ.

३. सर्वमितीति इति ग-घ-ङ.

वाक्ये इदं गुणत्रयकार्यं श्लोकत्रयेण उच्यते.

अहं भवान् भवश्चैव य इमे मुनयोऽग्रजाः ॥
सुरासुरनगा नागाः खगा मृगसरीसृपाः ॥१२॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः ॥
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः ॥१३॥
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः ॥
ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितः स्तनयित्नवः ॥१४॥
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥

तत्र **अहं** ब्रह्मा, **भवान्** नारदः, **भवो** महादेवः, **च**काराद्[1] ये सम्बन्धिनः. **एव**कारेण[2] तेषु सन्देहाभावः उक्तः ; विशेषरूपेणाऽपि ते भगवन्तः इति अर्थः. **ये इमे** मरीच्यादयः, अन्येऽपि **मुनयः** ते **अग्रजाः** तव ज्येष्ठभ्रातरः सनकादयः. एते शुद्धसत्त्वकार्याः. **सुराः** मिश्रसत्त्वकार्याः, **असुराः** रजोमिश्रकार्याः, **नगादयः** तमोमिश्रकार्याः. **नगाः** पर्वताः, **नागाः** गजाः, **खगाः** पक्षिणः. **मृगाः** हरिणादयः, **सरीसृपाः** सर्पाः —एते शुद्धतामसाः. **गन्धर्वाप्सरसो** रजोमिश्राः, **यक्ष-रक्ष**आदयः[3] तमोमिश्राः. **उरगाः** जातिसर्पाः, पशुप्रभृतयः सत्त्वमिश्राः. **पशवो** गवादयः, **सिद्धादयः** त्रयः अन्तरिक्षे सत्त्वादिगुणप्रधानाः. **द्रुमाः** केवलतामसाः. तामसान् आह **अन्ये च** इति. **विविधाः** मत्स्यादयः **जलौकसः स्थलौकसो नभौकसश्च. ग्रहाः** बुधादयः, **ऋक्षाः** अश्विन्यादयः, **केतवो** धूमकेतुप्रभृतयः, **ताराः** अन्यानि नक्षत्राणि, **तडितो** विद्युतः, **स्तनयित्नवो** गर्जितानि. सर्वान् उद्देशतो निरूप्य तेषां पुरुषत्वम् आह **सर्वं पुरुषएव** इति. पूर्वोक्तं निरूपितं

प्रकाशः

इत्यतः आहुः **पुरुषः** इति. **इदम्** इति, उक्तश्रुतौ ''इदं''पदेन उक्तम्. तथाच तस्यैव इदं विवरणम् इति न प्रकारभेदः इति अर्थः. **अन्तरिक्षे** इत्यादि. एतेन इतः पूर्वोक्ताः दिव्याः तादृशाः इति बोधितम्.

---

१. चकारात्त्रयसंबन्धिन इति क. २. एवं कारेणेति ग-ङ.

३. यक्षरक्षादय इति ग-घ.

सर्वं पुरुषएव. इदमपि परिदृश्यमानं जडात्मकं **सर्वं पुरुषएव.** कालत्रयाधीनस्य पुरुषत्वाभावम् आशङ्क्य आह **भूतं भव्यं भवद्** इति. **चकारात्** तत्र उत्पन्नानामपि ग्रहणम्. **यद्** इति प्रसिद्धं, तेन श्रुतिसिद्धत्वाद् न अत्र युक्तिः वक्तव्या इति अर्थः. अनेन "पुरुष एव इदं सर्वम्" (ऋक्संहि. १०।९०।२) इति[१] अर्धर्चार्थः कथितः. ॥१२-१४ १/२॥

भगवतो विश्वमात्रत्वे तेन परिच्छेदसम्भवाद् अपरिच्छिन्नताव्याहतिः इति आशङ्क्य आह **तेन इदम्** इति.

तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥१५॥
स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ ॥
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥१६॥

विश्वेन न भगवान् आवृतः परिच्छिन्नः किन्तु **(इदं!) विश्वमेव तेन आवृतं** परिच्छिन्नम्. जातिवत् परिच्छेदं वारयति **वितस्तिम् अधितिष्ठति**[२] इति. जातिर्हि तावन्मात्रे स्थिता तं व्याप्नोति, अयन्तु वितस्तिम् अधितिष्ठति. "अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" (ऋक्संहि. १०।९०।१) इति सूक्ते दशाङ्गुलम् उक्तं, वितस्तिस्तु द्वादशाङ्गुलं, तथापि क्षुद्राङ्गुलिमानेन तद् उपपद्यते.

प्रकाशः

अनेन इति सार्धपद्यत्रयेण ॥१२-१४ १/२॥

तेन इदम् इत्यत्र. **आह** इति, परत्वं बोधयितुम् अपरिच्छेदम् आह इति अर्थः. **जातिर्हि** इत्यादि. इदम् अत्र परप्रसिद्ध्या तद्बोधनाय उक्तं, सिद्धान्ते जातेः पदार्थान्तरत्वाभावात्[३]. **अधितिष्ठति** इति, अधिकं यथा स्यात् तथा तिष्ठति इति अर्थः. एतेन अधिकस्थितौ विश्वस्य कर्तृताभ्रमो[४] वारितः. सूक्ते "स भूमिं विश्वतो वृत्त्वा" इत्यत्र 'तच्'छब्द-परामृष्टस्य सहस्रशिरसादि[५]-गुणकस्य पुरुषस्यैव कर्तृत्वबोधनात्

---

१. सर्वमर्द्धर्चार्थ इति क-ग-घ. २. -मधितिष्ठतेति ख. ३. पदार्थान्तराभावाद् इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् -सम्पा. ४. परिच्छेदकर्तृताभ्रमः. विश्वं न भगवतः परिच्छेदकर्तृ किन्तु भगवान् विश्वस्य परिच्छेदकर्ता : इति मा.पाठे पादटिप्पणी -सम्पा. ५. '-स्त्वादि' पाठः. -शीर्षादि- इति मा.पाठे -सम्पा.

दशाङ्गुला वा वितस्तिः ; अङ्गुष्ठदेशिनीमध्यं तावदेव. अनेन उभयध्याने सम्पूर्णो भगवान् ज्ञातो भवति. अतो **विश्वात्मकः** स्थूलः, **वितस्त्यात्मको** अतिरिक्तः. तुल्यश्च प्रमाणतोऽपि भवति अष्टवितस्त्यात्मकः पुरुषः. ततः सर्वतो वितस्त्यात्मको अष्टवितस्त्यात्मकोऽपि[१] भवति, अधिकोऽपि भवति. तस्माद् यावान् भगवान् सर्वं तावान् अधिकः, ततोऽपि अधिकः, इति न परिच्छेदः सम्भवति. किञ्च न अयं **वितस्तिमात्रे** तिष्ठति किन्तु ततोऽपि **अधिकं तिष्ठति,** अतः सुतरां न[२] परिच्छेदः. तत्र स्थितस्य ततोऽपि अधिकव्याप्तौ दृष्टान्तम् आह **स्वधिष्ण्यम्** इति. यथा **प्राणः**

प्रकाशः

तेन इदं भिन्नं वाक्यम् इति बोधितम्. परिमाणांशे[३] सूक्तविरोधं परिहरन्ति **अतीत्यादि.** रूपद्वय-कथनप्रयोजनम् आहुः **अनेन** इत्यादि. **अनेन** इति विश्वात्मक-तदतिरिक्त-रूपयोः कथनेन. **अतः** इति, उभयरूपत्वाद् विरुद्धधर्माश्रयत्वाच्च. अतिरेकेऽपि यथा तुल्यत्वं तथा व्यक्तीकुर्वन्ति **अष्टेत्यादि.** श्रुतौ अत्र च वितस्त्यधिकत्व-कथनात् सप्तवितस्त्यात्मक-विश्वपुरुषापेक्षया वितस्तिमात्रम् अधिकइति अष्टवितस्त्यात्मकः. तादृशस्य सर्वतः तद्व्याप्ति-कथनाच्च तावन्मात्रएव सर्वतो वितस्त्यधिकः. अन्यथा न्यूनाधिक-परिमाणापत्त्या[४] 'दशाङ्गुल'शब्द-सर्वतोव्याप्त्योः अन्यतरद् उपरुध्येत इति तथा इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **तस्माद्** इति शब्दबलात्. **ततः** इति अधिकात्. ननु एवमपि वितस्तिमात्रतया परिच्छेदएव आपतति इति शङ्कायां तदपि निवारयन्ति **किञ्च** इत्यादि. तथाच श्रुतौ दशाङ्गुलाधिक्य-बोधनं स्थितिप्रकारबोधनार्थं, नतु ततो अधिकव्याप्ति-निवारणार्थम् इति अर्थः. **स्वधिष्ण्यम्** इत्यत्र. **प्राणः सूर्यः** इति. सूर्यस्य

लेखः

तेनेदमावृतम् इत्यत्र. **अष्टवितस्तिरूपात्मकोऽपि** इति. वितस्तिमात्रत्वे कः सम्बन्धसन्देहः, शते पञ्चाशद् इतिवद् इति भावः ॥१५-१६॥

---

१. अष्टवितस्तिरूपात्मकोऽपि इति लेखे - सम्पा. २. अपरिच्छेद इति ग-घ-ङ. ३. 'परिणामांशे' पाठ. ४. 'परिणामा-' पाठः.

सूर्यः **स्वधिष्ण्यं** मण्डलं **प्रतपन् बहिः (च!)** अपि सम्पूर्णं ब्रह्माण्डं **प्रतपति. प्राणो** वा आसन्यः **स्वधिष्ण्यं** शरीरं **प्रतपन्** सजीवं कुर्वन् **बहिः च** फूत्कार-निःश्वासैः **प्रतपति** काष्ठादीन् अग्नियुक्तान् करोति. **एवं (पुमान्!)** पुरुषोऽपि **विराजं प्रतपन्** तद्बहिरपि **तपति.** प्राणादीनां मध्यप्रकाशकत्वाभावात् – सङ्घट्टिततया तत्र विवराभावाद् – मण्डलमध्यं न प्रकाशयति, अयन्तु ब्रह्माण्डमध्यमपि[१] प्रकाशयति. तद् आह **अन्तः** इति. पुरुषो हि स्त्रियं सर्वतः प्रकाशयति! ॥१५-१६॥

एवम् अपरिच्छेदं स्वप्रकाशत्वञ्च[२] उक्त्वा तेन ब्रह्मत्वं साधयित्वा तस्य प्रपञ्च-निःप्रपञ्च-फलदातृत्वं साधयितुम् उभयस्वामित्वम्[३] आह.

सोऽमृतस्याऽभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ॥
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः ॥१७॥

सो अमृतस्य इति. सहि पुरुषः **अमृतस्य** नित्यसुखस्य **अभयस्य** मोक्षसुखस्य च **ईशः** स्वामी ; उभयं दातुं शक्तः इति अर्थः. उभयदाने सामर्थ्यम् आह **मर्त्यम् अन्नम्** इति. **मर्त्यं** मरणात्मकं विराट्शरीरं **यद्** यस्माद् **अत्यगाद्** अतिक्रम्य स्थितः अतो अमृतं दातुं शक्तः. **अन्नम्** "अद्यते अत्ति च भूतानि" (तैत्ति.उप. २।२) इति मृत्युं कर्मफलं वा **(यद् अत्यगाद्!)** यस्माद् अतिक्रम्य स्थितः तस्माद् अभयस्य

प्रकाशः

'प्राण'पदवाच्यत्वं न प्रकाशयति इति अर्थात् प्राणः. प्रकाशे प्रकारं वदन्तः **पुमान्** इति पदस्य तात्पर्यम् आहुः **पुरुषः** इत्यादि. "सएव वासुदेवोऽयं साक्षात् 'पुरुषः' उच्यते, स्त्रीप्रायम् इतरत् सर्वं जगद् ब्रह्मपुरःसरम्" (नृसिंह.पुरा. । ।) इति नृसिंहपुराणाद् भगवानेव पुरुषः. अतः प्राकृतत्वाद् विराडपि स्त्रीप्रायइति तथा इति अर्थः ॥१५-१६॥

सो अमृतस्य इत्यत्र. **उभयस्वामित्वम् आह** इति, 'यत्परम्' (भाग.पुरा. २।५।२) इत्यस्य उत्तरत्वेन आह इति अर्थः. **इति** इति,

---

१. ब्रह्माण्डस्य मध्यमिति क-ख. २. स्वप्रकाशकत्वमिति ख-ग-घ-ङ.

३. -स्वाम्यमिति ग-घ.

ईशः. अनेन "उत अमृतत्वस्य ईशानः" (ऋक्संहि. १०।९०।२) इति अर्धर्चार्थः कथितः. तत्र "अन्नेनाऽतिरोहति" इति अन्नेन हेतुना तिरोभावं न[१] प्राप्नोति. सर्वे हि मृत्युना कर्मणा वा तिरोभावं प्राप्नुवन्ति, अयन्तु न तथा इति अर्थः. ननु✻ यः सर्वो न सः सर्वातिरिक्तः. यो वा असर्वः यो वा अतिरिक्तः सः न सर्वः. प्रपञ्चस्य [२]ऊर्ध्वम् अपरिच्छेदकत्वं नास्ति, तथा सति निजानन्दस्य ईशो न भवेत्. तस्माद् अविरोधप्रकारेण समर्थनानुपपत्तेः परस्पर-विरुद्धधर्माश्रयत्वेन अभेदो न स्याद् ✻इति आशङ्क्य आह **महिमा एष ततो ब्रह्मन्** इति. **ततो** विरुद्धोभय-धर्माश्रयत्वाद् **(पुरुषस्य!)** भगवतो **महिमा.** नहि विरुद्धधर्माभ्यां[३] स्वाश्रयभेदः कर्तुं शक्यते, एकस्मिन्नेव आश्रये उभयोः जातत्वात्. किन्तु धर्माणां परस्परं विरोधो लोकवत् कार्यं कर्तुम् असमर्थः स्वाश्रयस्य महिमानं बोधयति. सर्वत्र समर्थः तत्र चेद् असमर्थः तदा तस्मिन् कश्चिद् महिमा वर्तते येन प्रतिबद्धः स्वकार्यं कर्तुं न शक्नोति इति सिद्धम्. तस्माद् **एष**एव

प्रकाशः

अनया श्रुत्या बोधितम्. कथं कथितः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र** इति अर्धर्चे[४]. तथाच श्रौतस्य 'उत'शब्दस्य अप्यर्थकत्वेन तद्बोधितस्य अर्थस्य कण्ठोक्तस्य च हेतुपूर्वकं बोधनात् कथितः इति भावः. पूर्वार्धे यद् उक्तं तत्र आशङ्कते **ननु** इत्यादि. **तथा सति** इति प्रपञ्चरूपत्वेन ऊर्ध्वाऽपरिच्छेदकत्वे सति. **तस्माद्** इति प्रपञ्चापेक्षया ऊर्ध्वस्य स्वानन्दस्य ईशत्वकथनात्. **न स्याद्** इति, न युज्येत[५] इति अर्थः. **लोकवत् कार्यम्** इति लोकइव आश्रयभेदः. **इति सिद्धम्** इति, **इति** हेतोः महिमवत्त्वं सिद्धम्. एवम् एतेन "अतो ज्यायांश्च पुरुषः" (ऋक्संहि. १०।९०।३) इति व्याख्यातम्. अतः परम् "एतावान् अस्य महिमा" (तत्रैव) इति भागं व्याकुर्वन्ति **तस्माद् एष** इत्यादि. एतस्य

---

१. नाप्नोतीति इति ग-ङ. २. प्रपञ्चस्य अर्धपरिच्छेदकत्वमिति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-ख-प्रकाशपाठानुरोधात् - सम्पा. ३. विरुद्धो धर्माभ्यामिति ख-ङ. ४. अर्धर्चि इति मा.पाठे - सम्पा. ५. युज्यते इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

महिमा यद् विरुद्धधर्माश्रयत्वम् इति. तस्य धर्मस्य अनन्यसिद्धस्य कार्यसाधकत्वं न क्वचित् सिद्धम् इति महिम्नः प्रतिबन्धकता न युक्ता, असमोर्ध्वत्वाच्च धर्मस्य. न वा अविरोधः, उक्तिमात्रविरुद्धत्वात्. अतो विरुद्धधर्माश्रयत्वमेव महिमा, अलौकिकत्वात्. सच **महिमा दुरत्ययः** केनाऽपि अतिक्रान्तुम् अशक्यो बुद्ध्या कृत्या वा. अविरोधं वा, एकधर्मनिराकरणं वा, देशकालादिभेदेन व्यवस्थां वा ; न[१] कश्चिदपि कर्तुं शक्तः, लोके उभयकार्यदर्शनात्. **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनं भगवन्माहात्म्यबोधनार्थम्[२]. सूक्ते तु महिम्नः एतावत्त्वं प्रतिपाद्य तेन पुरुषमाहात्म्यम् आह, महत्त्वेन[३] हि माहात्म्यम् अतिशयितं भवति (इति!). सएव हि **दुरत्ययार्थः** ॥१७॥

एवं भगवतो अपरिच्छेदनिरूपणेन माहात्म्यं निरूप्य उभयफलेशत्वं निरूपितम्. लोके तस्य अप्रकटने कृते व्यर्थं भवेदिति तत्प्रकटनार्थं पुरुषभेदं फलभेदञ्च निरूपयति.

प्रकाशः

महिमत्वं व्युत्पादयन्ति **तस्य** इत्यादि. **महिम्नः प्रतिबन्धकता न युक्ता** इति, विरुद्धधर्माश्रयत्व-कृतस्य महिम्नो विरोधप्रतिबन्धकता न युक्ता. **असमोर्ध्वत्वाद्** इति. यथा कमलमुकुलं मूले विस्तीर्णं प्रान्ते स्वल्पं, यथा चन्द्रज्योत्स्ना अग्रे स्वल्पा मूले विस्तीर्णा, तथा विरुद्धधर्माश्रयत्वमपि प्रापञ्चिकेषु स्वल्पं, तदुपरि ततो अधिकं, तदुपरि ततोऽपि महद् इति तथात्वात्. तथाच नीचैः भागे धर्मस्य विरुद्धत्वाभावेन तत्कृत-महिम्नो अभावादपि तथा इति अर्थः. **उक्तिमात्रविरुद्धत्वाद्** इति, उक्तिमात्रेणैव विरुद्धत्वाद् इति अर्थः. **अतः** इति, अविरोधस्य अशक्यवचनत्वात्. **उभयकार्यदर्शनाद्** इति. 'सद्' इति [४]ज्ञानविषयत्वस्य सर्वरूपत्व-कार्यस्य, ध्यानादिभिः फलप्राप्तिरूपस्य अतिरिक्तरूपत्व-कार्यस्य च सर्वानुभवगोचर-त्वात्. **सएव इति.** अपरिच्छेदाऽनिर्वाच्यत्वादि महत्स्वरूपम् एतावत्त्वमेव इति अर्थः ॥१७॥

---

१. नकारो नास्ति क-ग-घ-ङ. २. -बोधार्थमिति ङ. ३. महित्वेनेति ङ. महिमत्वे इति सम्भावितः पाठः - सम्पा. ४. विषयज्ञानविषयत्वस्य इति मा.पाठे - सम्पा.

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ॥
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु ॥१८॥

पादेषु सर्वभूतानि इति, **पादेषु** भूरादिलोकेषु सर्वाणि भूतानि इति अर्थः. अनेन स्थानभेदात् फलभेदो भविष्यति इति सूचितम्. ननु सर्वावयवेषु लोकत्वनिरूपणात् कथं पादेष्वेव सर्वे लोकाः इत्यतः आह **पुंसः स्थितिपदः** इति. तिष्ठन्ति अस्मिन् इति स्थाः = भूरादिलोकाः **स्थिति**शब्दवाच्याः भवन्ति. स्थितयः पादाः यस्य इति स्थितिपात्. सर्वे हि लोकाः अवयवाअपि अवयविनं[१] भगवन्तं प्रति पादाएव, तत्तत्स्थानम् अधिष्ठाय यतो भगवान् तिष्ठति इति. अत्र प्रमाणम् आह **विदुः** इति. ''पादो अस्य विश्वा[२] भूतानि'' (ऋक्संहि. १०।९०।३) इति भगवन्माहात्म्यार्थं सर्वाण्यपि भूतानि एकः पादः इति उक्तम्. अथवा पादाः पादस्थिताः पुरुषाश्च ; ''तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः'' (पातं.महाभा. ४।१।४८) इति न्यायेन पादाएव सर्वाणि भूतानि, एकवचनन्तु जात्यभिप्रायम्. एवं भगवदवयवेषु सर्वेषां जीवानां

प्रकाशः

पादेषु इत्यत्र. **सर्वे लोकाः** इति सर्वे प्राणिनः. **स्थाः** इत्यत्र अधिकरणे घ्यञ्. **'स्थिति'शब्दवाच्याः भवन्ति** इति. तेन **स्थिति**शब्दो लोकेषु रूढः इति बोधितम्. **अवयवाअपि अवयविनः** इत्यादि. पुंसः सर्वरूपस्य **अवयविनः** तत्तदवयवरूपाअपि **भगवन्तम्** अतिरिक्तं **प्रति पादाः** इति अर्थः. ननु अत्र भूतानां पादाधिकरणकत्वम् उच्यते, प्रमाणे तु भूतानामेव पादत्वम् उक्तम् इति विरोधः इति आशङ्कायां तत्तात्पर्यम् आहुः **भगवन्माहात्म्ये**त्यादि. विरुद्धधर्माश्रयत्व-बोधनार्थं तत्र भूतानां पादत्वम् उच्यते, अन्यथा ''पादः'' इति एकवचनं न वदेद्, अतो न विरोधः इति अर्थः. ननु मन्त्रवर्णाद् इत्यस्य विषयवाक्यम् इदं, तत्र जीवानाम् अंशत्वाय पादत्वम् अङ्गीकृतमिति तद् विरुध्यते इति अरुच्या व्याख्यानान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. तथाच पादस्थानां रेखादीनामिव अंशत्वस्य

---

१. अवयविनः इति क-ख-ग-प्रकाशे - सम्पा.

२. सर्वा भूतानीति मुद्रितपाठः उद्धृतवचनानुसारेण शोधितः - सम्पा.

स्थितिम् उक्त्वा तद्भोग्यस्य फलस्य स्थितिम् आह **अमृतम्** इति. भगवति सुखचतुष्टयम् अस्ति ; अनित्यम् एकं, नित्यं त्रिविधम् इति. तस्य त्रिविधस्याऽपि **अमृतं क्षेमम् अभयम्** इति नामत्रयम्. तेषां स्थानम् आह **त्रिमूर्ध्नो**[१] **अधायि मूर्धसु** इति. त्रयाणां लोकानां मूर्धा = महर्लोकः, तस्य मूर्धसु = जनस्तपः-सत्यलोकेषु त्रिविधमपि सुखं स्थापितम् इति अर्थः. अत्र एवं व्यवस्था — त्रिलोक्याम् अनित्यमेव सुखं, महर्लोकेऽपि स्थानत्यागलक्षणस्य दुःखस्य विद्यमानत्वात्. "यान्ति ऊष्मणा महर्लोकाद्" (भाग.पुरा. ३।११।२९) इति वाक्यात् तत्राऽपि अनित्यप्रायं सुखम्. अतो जनलोके[२] **अमृतं** सुखं, तस्य स्वरूपतः स्थानतश्च नाशाभावात्. तपोलोकेतु **क्षेमम्**, अक्षेमदर्शनाभावात्. जनलोके तु महर्लोकात् पलाय्य आगतानां दुःखितानां दर्शनरूपम् अक्षेमदर्शनम् अस्ति. जनलोकस्थितास्तु नैव तपोलोके गच्छन्तीति तत्रत्यं सुखं क्षेममेव. सत्यलोके तु **अभयं** सुखं, मोक्षप्रत्यासन्नत्वात्. अतो नित्यं सुखं त्रिष्वेव लोकेषु. इदमेव अभयं सुखं ज्ञानिनः प्राप्नुवन्ति न्यासिनः[३], तद् अग्रे वक्ष्यते. "त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" (ऋक्संहि. १०।९०।३) इत्यस्यापि अयमेव अर्थः. "अस्य त्रिपाद् अमृतं दिवि" उपरितनलोकेषु इति अर्थः. त्रिलोकपक्षाभिप्रायेण "दिवि" इति उक्तम् ॥१८॥

एतेषां सुखानां भोक्तॄन् आह.

प्रकाशः

अविरुद्धत्वाद्, वक्ष्यमाणरीत्या तान् अधिष्ठाय भगवतः स्थितत्वाच्च लक्षणया योगेन गौण्या च देहविशिष्ट-जीवानामपि पादत्वम् अतो न विरोधः इति अर्थः. उक्तार्थस्य परोक्षत्वाद् अत्र लक्षणा न दोषाय, स्वार्थत्यागाभावाच्च. **त्रिपाद् अमृतम्** इति. त्रिभिः पद्यते = प्राप्यते इति **त्रिपाद्**. न विद्यते मृतं = नाशो यस्य इति **अमृतम्** ॥१८॥

पादाः इत्यत्र "त्रिपादूर्ध्वम्" (ऋक्संहि. १०।९०।४) इति अर्धर्चं विवृणोति इति आहुः **एतेषाम्** इत्यादि. **ते** इति आश्रमविशिष्टाः जीवाः.

---

१. त्रिमूर्ध्नोऽधायीति ग. २. जनलोको अमृतमिति ख. ३. संन्यासिन इति ग-घ.

पादास्त्रयो बहिश्चाऽऽसन्नप्रजानां य आश्रमाः ॥
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः ॥१९॥

पादाः त्रयो बहिश्च आसन् इति. चत्वारो वर्णाः भगवतः चत्वारः पादाः, यतो भगवान् तान् अधितिष्ठति. तत्र त्रयः पादाः ब्रह्मचारी वानप्रस्थः संन्यासी च, ते **त्रयोऽपि त्रिलोक्याः बहिश्च आसन्, चकारात्** स्वेच्छया अन्तरपि[१]. तेषां व्युत्क्रान्तानां त्रयाणाम् एकं साधर्म्यम् आह **अप्रजानां ये आश्रमाः** इति. न प्रजायन्ते पुत्रादिरूपेण इति **अप्रजाः** गृहस्थव्यतिरिक्ताः, तेषां **ये आश्रमाः**. आश्रमधर्मत्वेन ते न प्रजायन्ते, नतु वन्ध्याः. अर्थात् ते सुखत्रयस्य भोक्तारः. अनित्यसुख-भोक्तारम् आह **अन्तः त्रिलोक्यास्तु अपरः** इति. **त्रिलोक्याः अन्तः अपरो** हीनः सः गृहस्थः. **गृहएव मेधा** बुद्धिः यस्य इति बाह्यो दोषः, **अबृहद्व्रतः** इति आन्तरः. बृहत् = स्थूलम् ऊर्ध्वरेतोरूपं व्रतं यस्य नास्ति सः तथा उक्तः ॥१९॥

एवं [२]वर्णचतुष्टयस्य स्वरूपं फलञ्च उक्त्वा तेषां वैलक्षण्ये[३] हेतुम् आह.

सृती विचक्रमे विष्वङ्[४] साशनानशने उभे ॥
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः ॥२०॥

प्रकाशः

व्युत्क्रान्तानाम् इति त्यक्त-भौतिकशरीराणाम्. तथाच 'त्रिपाद्' आश्रमत्रयात्मकः पुरुषः 'ऊर्ध्वे' उपरितनाऽमृतसुखार्थम् 'उदैद्' उपरितनेषु जनस्तपःसत्येषु गतवान् ; 'अस्य पादः' गृहस्थाश्रमी 'इह' त्रिलोकीसुखार्थं 'पुनः अभवत्' पुनः पुनः उत्पन्नः[५] इति श्रुत्यर्थः ॥१९॥

सृती इत्यत्र. **वैलक्षण्ये हेतुम् आह** इति. "ततो विश्वं व्यक्रामत् साशनानशने अभि" (ऋक्संहि. १०।९०।४) इति अर्धर्चं व्याकुर्वन् सर्वेषां जीवानां चिदंशत्वेन तौल्येऽपि फलभेदहेतुभूत-स्वभाववैलक्षण्ये प्रयोजकम्

---

१. अन्तरेऽपीति ग-घ. २. आश्रमवर्ण- इति सं-मा.१ पाठयोः - सम्पा.

३. वैलक्षण्यहेतुमिति क-प्रकाशे - सम्पा. ४. विष्वक् इति ग-ङ.

५. उत्पद्यते इति मा.पाठे - सम्पा.

सृती विचक्रमे विष्वङ्ङ्[१] इति. नहि स्वभावतएव ते तथा जाताः किन्तु भगवानेव मार्गद्वयेन गच्छति, तदनुरोधेन तेऽपि लोकाः तम् अनुगच्छन्ति. तद् आह **सृती** मार्गौ **विचक्रमे** विशेषेण आक्रान्तवान्. **विष्वङ्** परितः ; एकस्मिन्नपि मार्गे एकोऽपि अंशो अनाक्रान्तो नास्ति इति अर्थः. तत्र भेदकम् आह **साशनानशने उभे** इति. एकः साशनमार्गः – अशनेन सहितं साशनं = कर्मफलभोग-सहितम् – एकस्तु अनशनमार्गः कर्मफलभोग- रहितः, ते **उभे ;** नतु अन्ययोः अत्र निरूपणम्. ननु भगवान्[२] किमिति मार्गद्वयेन गच्छति? तत्र आह **यद् अविद्या च विद्या च** इति. भगवतो गमने शक्तिद्वयम्— अविद्या विद्या च. तत्र अविद्या साशनमार्गएव चलति, विद्या तु अनशनमार्गे. **(पुरुषः!)** भगवांस्तु **उभयाश्रितः** तदनुरोधेन उभयत्र चलति, अन्यथा भगवच्छक्तित्वं तयोः न स्यात्. **चकारात्** तत्तत्कार्यं सामग्री च न मार्गान्तरे गच्छति इति अर्थः ॥२०॥

एवं मार्गभेदेन भोक्तृभेदात् फलभेदं निरूप्य तस्मात् पुरुषाद् अयं विराट्पुरुषो भिन्नः इति वक्तुं ततः उत्पन्नत्वम् आह.

तस्मादण्डं[३] **विराट् जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः ॥**
तद्द्रव्यम् अत्यगाद् विश्वं गोभिः सूर्य इवाऽतपन् ॥२१॥

प्रकाशः

आह इति अर्थः. **ते उभे** इत्यादि. श्रौतस्य "अभि"पदस्य अयम् अर्थः. **तत्र आह** इति. ईदृश्याम् आशङ्कायां श्रौतस्य "ततः" इति पदस्य अर्थम् आह इति अर्थः. **उभयाश्रितः** इति. उभयम् आश्रितं यत्र सः तथा इति अर्थः. एतेन अविद्याविद्ययोः चरणशक्तित्वं बोधितम्. तेन च जीवानां चरणांशत्वाद् एतन्नैकट्येन "एकस्यैव ममांशस्य" (भाग.पुरा. ११।११।४) इति भगवद्वाक्योक्त-बन्ध-मोक्षयोः उपपत्तिरपि सूचिता. **अन्यथा** इति भगवदनाश्रितत्वे इति अर्थः ॥२०॥

तस्माद् इत्यत्र. **आह** इति, "तस्माद् विराड् अजायते" (ऋक्संहि.

---

१. विष्वङिति सर्वत्र पुस्तकेषु पाठः.   २. भवानिति ख.

३. तस्मादण्डादिति क्वाचित्कः पाठः.

तस्माद् इति. **तस्मात्** परमपुरुषाद् नारायणाद् **अण्डं** ब्रह्माण्डं जातम्. तस्माद् अधिदैवाद् इदम् आध्यात्मिकम् अण्डं जातम् इति अर्थः. **तस्माद् अण्डाद् विराड् जज्ञे.** सच **भूतेन्द्रियगुणात्मकः**. **भूतानि** अधिभूतं द्रव्यम्, **इन्द्रियाणि** अध्यात्मं, **गुणाः** अधिदैवम् इति. अथवा महाभूतानि, इन्द्रियाणि, शब्दादयश्च विषयाः ; शरीरेन्द्रियैः विषयभोगकर्ता इति अर्थः. सोऽपि पितृवद् आक्रमणं कृतवान् इति आह **तद्द्रव्यम् अत्यगाद्** इति. **तद् विश्वात्मकं द्रव्यं** ब्रह्माण्डरूपं स्वशरीरम् **अत्यगाद्** अतिक्रम्य दशाङ्गुलवृद्ध्या स्थितः इति अर्थः. न केवलम् अपरिच्छेदसाम्यं किन्तु स्वप्रकाशकमपि इति आह **गोभिः सूर्यइव अतपन्** इति. **गोभिः** स्वकिरणैः यथा **सूर्यः** स्वधिष्ण्यमपि तपति बहिरपि, तद्वद् अयमपि स्वशरीरं बहिरपि प्रकाशितवान् इति अर्थः ॥२१॥

एवं द्विविधं विश्वं प्रतिपाद्य, नियम्य-नियामकभावार्थं पुरुषद्वयञ्च प्रतिपाद्य, अमूर्तानां समागमम् उक्त्वा, यज्ञरूपस्याऽपि भगवतः

प्रकाशः

१०।९०।५) इति ऋचं व्याकुर्वन् आह इति अर्थः. **तस्माद् अण्डम्** इत्येतेन सुबालादि-श्रुत्यर्थोऽपि सङ्गृहीतः, तत्र हि "किं तदासीत् तस्मै स होवाच न सन्नासन्न सदसदिति. तस्मात् तमः सञ्जायते, तमसो भूतादिः, भूतादेः आकाशम्, आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथिवी तदण्डं समभवद्" (सुबालोप. १) इति श्रावणात्, तदग्रे च मध्ये "पुरुषो दिव्यः सहस्रशीर्षा" (तत्रैव) इत्यादि श्रावणाच्च. **गुणाः** इति दिगादयो देवाः. अशनमार्ग-विक्रमणेन कर्मफलभोक्तृत्वं भगवतो वक्तव्यं तत् केन रूपेण इति आकाङ्क्षायां तद्रूपम् अत्र उच्यते इति आशयेन व्याख्यानान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **सोऽपि** इति विराट्पुरुषोऽपि ॥२१॥

यदा अस्य इत्यत्र. **द्विविधम्** इति अण्डात्मकं [1]विराडात्मकञ्च. **पुरुषद्वयम्** इति विराड्रूपम् अतिरिक्तञ्च. **अमूर्तानाम्** इति नित्य-

---

१. विराजात्मकञ्च इति मा.पाठे - सम्पा.

सर्वपदार्थसम्बन्ध-श्रवणात् तत्साधनभूतानां पदार्थानां भगवद्भिन्नत्वे पूर्वोक्त-सर्वत्वं विरुध्येत इति आशङ्क्य, तदीयपदार्थानामपि भगवानेव तत्त्वम् इति आह **यदा अस्य नाभ्याद् नलिनाद्** इति. यदा(/दि!) एतद् न निरूप्यते तदा जैमिनिसिद्धान्त-न्यायेन पदार्थक्लृप्तौ पूर्वोक्त-भगवत्स्वरूपवाचकानां वाक्यानाम् अर्थवादत्वं स्याद्, अतो महता कष्टेन निरूपितमपि अनिरूपितं भवेत्! तस्माद् यज्ञोपयोगिपदार्थानां भगवदवयवत्वं निरूपयति.

यदाऽस्य नाभ्यान्नलिनाद्[१] अहमासं महात्मनः ।।
नाऽविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवादृते ।।२२।।

तत्र ब्रह्मा स्वयम् आह **यदा**[२] अहम् **अस्य नाभ्याः यन्नलिनं** कमलं तस्माद् **अहम् आसं** तदा मया विचारितम् "अयम् आराधनीयः"

प्रकाशः

परिच्छिन्नानाम् आधिदैविकानां वागाद्यभिमानि-जीवानाम्. **यज्ञरूपस्य** इत्यादि. अयम् अर्थः— यज्ञो हि द्रव्यादिनिष्पाद्यः. तस्य च प्रोक्षणादि-व्यतिरेकेण तत्तत्स्मारक-मन्त्रादि-व्यतिरेकेणापि सिद्धौ ते संस्काराः मन्त्राश्च न उक्ताः स्युः, अतो ज्ञायते "तैः अतीन्द्रियः पदार्थः कश्चित् सिद्ध्यति" इति. सः चेद् जन्यः स्याद् मीमांसकप्रतिपन्नाऽपूर्ववत् तदा तत्साध्यस्य यज्ञस्यापि जन्यत्वाद् "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.संहि. १।७।४।४) इति तस्य भगवत्त्वं न उच्येत. अतः श्रुत-विष्णुत्वाऽर्थापत्त्या "तस्य तत्साधकानाञ्च नित्यत्वं, तेन प्रकारेण आविर्भावमात्रं च यज्ञस्य" इति वाच्यम्. ते पदार्थाश्च यदि पूर्वोक्तपुरुषाद् भिन्नाः स्युः तदा "पुरुष एवेदं सर्वम्" (ऋक्संहि. १०।९०।२) इति पूर्वं श्रावितं पुरुषस्य सर्वत्वं विरुद्ध्येत इति आशङ्क्य प्रोक्षणमन्त्रादिभिः सन्निधाप्यमानानां [३]यज्ञीयपदार्थानामपि भगवानेव अनारोपिता-ऽनागन्तुकरूपम् इति आह इति अर्थः. एतदेव विवृण्वन्ति **यदा एतद्** इत्यादि. अत्र **अहम् आसम्** इत्यनेन यजमानस्य भगवदवयवत्वं सूचितम्.

---

१. नाभ्यानलिनादिति क.   २. यदाहेति ख-ङ.
३. यज्ञिय- इति मा.पाठे - सम्पा.

इति – यतो अयं महान् ; **महान् आत्मा** स्वरूपम् अन्तःकरणं वा यस्य – अयं हि आराधितो महत्फलं दास्यति इति. तदा केन आराधनीयः इति जिज्ञासायां योगजधर्मेण यज्ञम् अपश्यम्. सः कथं कर्तव्यः इति आकाङ्क्षायां वेदपर्यालोचनेन सम्भारैः = पशु-पुरोडाशादिभिः कर्तव्यः इति ज्ञातम्. तत्र क्व ते पशु-पुरोडाशादयः इति जिज्ञासायां यद् योगजधर्मेण ज्ञातवान् तद् आह **न अविदं यज्ञसम्भारान्** इति. (**पुरुषावयवाद् ऋते!**) पुरुषावयवव्यतिरेकेण अहं **यज्ञस्य सम्भारान् न अविदं** न ज्ञातवान् अस्मि. तदा सएव पुरुषो यज्ञरूपेण प्रादुर्भूतः इति अर्थः. अनेन साधनरूपः सः इति उक्तं भवति ॥२२॥

तत्र के के सम्भाराः तेषु अवयवेषु दृष्टाः इति आकाङ्क्षायाम् आह.

तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः ॥
इदं च देवयजनं कालश्चोरुगुणान्वितः ॥२३॥
वस्तून्योषधयः स्नेहा रसलोहमृदो जलम् ॥
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम ॥२४॥
नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च ॥
देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पः सूत्रमेव च ॥२५॥
गतयो मतयश्चैव प्रायश्चित्तं समर्पणम् ॥
पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया ॥२६॥

तेषु इति. तेषु अवयवेषु **यज्ञस्य** सम्बन्धिनः **पशवः** अजादयः, **सवनस्पतयो** वनस्पतिसहिताः यूपसहिताः. **सवनस्पतयः कुशाः** इति वा सम्बन्धः ; तदा **वनस्पतयो** अश्वत्थादयः, **कुशाः** बर्हीरूपाः. **इदञ्च**

प्रकाशः

अतएव अच्छिद्रे श्राव्यते "यएव अस्मि स सन् यज" (तैत्ति.ब्रा. ३।७।५।५) इति. एवम् अग्रेऽपि सर्वत्र बोध्यम्. महत्त्वं विवृण्वन्ति **महान् आत्मा** इत्यादि. **सएव** इति. सहस्रशीर्षा मूलपुरुषएव यज्ञरूपेण दर्शनगोचरो अभवद् इति अर्थः. ॥२२॥

तेषु यज्ञस्य इत्यादेः विवृतौ. **बर्हीरूपाः** इति असंस्कृतरूपाः,

देवयजनम्. देवाः इज्यन्ते अस्मिन् इति यज्ञभूमिः **देवयजनम्**. **इदम्** इति अङ्गुल्या प्रदर्शितम् ; अनेन यज्ञभूमौ स्थित्वा भागवतं कथयति इति ज्ञापितम्. **चकाराद्** देवयजनान्तरमपि. **कालो** वसन्तादिः. **चकाराद्** योगविशेषो नैमित्तिकः. **उरुगुणान्वितः** इति. यदि तस्मिन् काले सूर्यो न आविः स्यात्, पुरस्तात् चन्द्रमा अभ्युदियात्, सस्यसम्पत्तिः भवेत्. अन्येऽपि गुणाः कालस्य बहवो वेदे उक्ताः, सः **उरुगुणान्वितः कालः**. **वस्तूनि** पात्रादीनि. **ओषधयो** व्रीहि-यवादयः. **स्नेहाः** घृतादयः. **रसाः** दधि-मध्वादयः. **लोहाः** स्वधित्यादयः. **मृदो** महावीराद्यर्थाः. **जलं** वसतीवरी-प्रभृतयः. **ऋचो यजूंषि सामानि** वेदत्रयमन्त्राः. **चातुर्होत्रं** होत्रादि-चतुर्गुणसाध्यं कर्म, चतुर्होतृनिदानकं वा. अत्र **सत्तम** इति सम्बोधनम् उक्तार्थविश्वासाय. **नामधेयानि** ज्योतिष्टोमादीनि. **मन्त्राः** स्वाहाकारादयः, **चकाराद्**[१] निगदाः. **दक्षिणाः** गावः. **चकाराद्** वराः. **व्रतानि** दीक्षादयः, **चकाराद्** मांसभक्षणादि-निषेधादयः. **देवतानुक्रमः** इज्यानां देवतानाम् आनुपूर्वी, आग्नेयः कृष्णग्रीवः इत्यादिरूपाः[२] **कल्पः** कल्पसूत्रम्. **सङ्कल्पः** कामनाविषयः. **सूत्रं** न्यायसूत्रं, पद्धतिः वा. **गतयो** विष्णुक्रमाद्याः.

प्रकाशः

बर्हिराज्याधिकरणे (जैमि.पूर्वमी.सूत्र १।४।८।१०) तथा सिद्धत्वात्. **महावीराद्यर्थाः** इति. **महावीरो** धर्मपात्रम् **आदि**पदेन द्रोण-कलशादयः तदर्थाः इति अर्थः. **वसतीवरीति** प्रोक्षणविशेषोपयोगि जलम्. **चतुर्होतृनिदानकम्** इति. ''पृथिवी होता'' (तैत्ति.आर. ३।२) इत्यादिः ''उपवक्ता'' (तत्रैव ३।३) इत्यन्तो मन्त्रः चतुर्होताख्यः, स एव सर्वयज्ञनिदानं ''चतुर्होतृभ्यो यज्ञो निर्मितः'' (तैत्ति.ब्रा. २।३।५।५) इति ब्राह्मणे श्रावणाद्, अतः तथा इति अर्थः ॥२३-२६॥

लेखः

उरुगुणान्वितः इत्यत्र. **यदि तस्मिन् काले** इत्यादि. ... ॥२३॥

---

१. चकारान्निविन्निगदा इति क.

२. इत्यादिरूपा इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ग-ङपाठानुरोधात् - सम्पा.

मतयो देवताध्यानानि. **चकाराद्** आचतुर्थात् कर्मणो अभिसमीक्षणादि. **प्रायश्चित्तम्** अनाज्ञातम् इत्यादि. **समर्पणं** संस्था, निवेदनं वा. एतावन्तो हि यज्ञे सम्भाराः. ते पुरुषावयवैरेव कृताः इति आह **पुरुषावयवैः** इति. अत्र अवयवादिव्यवस्था तृतीयस्कन्धे वक्ष्यते. **एते सम्भाराः पुरुषावयवैरेव सम्भृताः. मया** इति, साधारणाधिकारिणा न एवं कर्तुं शक्यते इति सूचितम् ॥२३-२६॥

ततः किम् अतः आह.

इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैरहम् ॥
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवाऽयजमीश्वरम् ॥२७॥

इति सम्भृतसम्भारः इति. **इति** अमुना प्रकारेण **पुरुषावयवैरेव सम्भृतसम्भारो** भूत्वा **तेन** यज्ञेन (**अहं!**) **तमेव पुरुषम् अयजम्**. फलार्थं न यागः किन्तु ईश्वरार्थम् इति, तद् आह **ईश्वरम्** इति. यथा मया यागः कृतः एवमेव करणम् उचितं— यज्ञीयान् पदार्थान् भक्त्या भगवदवयवाविर्भावं कृत्वा ततः उत्पाद्य भगवत्प्रीत्यर्थमेव तैः भगवत्कर्मकरणम्. भगवतो हि अस्ति किञ्चित् कार्यं स्वार्थं ; यथा पुरुषस्य स्वप्रयोजनार्थं सर्वाणि कर्माणि तथा भगवतः प्रयोजनार्थं सर्वे यागाः. ततः च ते यदि भगवदवयवैरेव उत्पादितैः पश्वादिभिः भगवत्कार्यं कुर्युः तदा भगवदर्थं तत्फलं भवति, न अन्यथा.[१] यद्यपि लौकिकाअपि

प्रकाशः

इति सम्भृत इत्यत्र. **फलार्थं न** इति. आराधनविचारदशायां फलार्थं तद्विचारेऽपि सम्भारदर्शनोत्तरं तादृशबुद्धिनिवृत्तेः तथा इति अर्थः. एवं प्रकारेण करणस्य मुख्यत्वं विशदयन्ति **यथा** इत्यादि. अन्यथा **ईश्वरपदं** न वदेद् इति भावः. उचितप्रकारमेव विशदयन्ति **यज्ञीयान्** इत्यादि. **पदार्थान्** इत्यन्तम् **उत्पाद्य** इत्यनेन सम्बद्ध्यते. **अस्ति किञ्चित् कार्यम्** इति. तत् किम् इति आकाङ्क्षायां स्वावयवरूप-देवाप्यायनेन सकलजगदाप्यायनम् इति प्रतिभाति, ''सर्गादौ कल्पितो देवैः यज्ञभुग् भगवान् हरिः, यज्ञभागभुजो देवाः ततः तेनैव कल्पिताः'' (. । ।) इत्यादि वाक्येभ्यः. **ते** इति जीवाः. द्वितीयं प्रकारम् आहुः

पदार्थाः तथैव उत्पन्नाः तथापि ते सर्वार्थाइति न एकान्ततो यागफलसाधकत्वम्. मध्यमाधिकारिणस्तु यज्ञार्थमेव तथा ज्ञात्वा तान् पदार्थान् सम्पाद्य यज्ञकरणे फलं भवति. परं तत्फलं समर्पणीयम्(२). यदा पुनः तथाऽज्ञानात् तैः पदार्थैः यागं करोति तदा तत्फलं भगवान् न गृह्णाति(३) ; नहि अन्यदीयैः कृतं भगवान् गृह्णाति[१]. यत् पुनः यागार्थमेव न पदार्थाः सम्पादिताः किन्तु साधारणाः ते, तैस्तु फलमेव न उत्पद्यते ; उत्पद्यमानं वा काकतालीय-न्यायेन उत्पद्यते[२] चेत् ते पदार्थाः तदर्थं भवेयुः(४). एवं यागः चतुर्धा निष्पद्यते[३] (१-४)उत्तम-मध्यम-निकृष्ट-निष्फलभेदेन. तत्र पशवो भगवतः ऊरुदेशाद् उत्पन्नाः, लोमभ्यो वृक्षाः, स्वेदसहितेभ्यः कुशाः, देवयजनं पद्भ्यां, कालः पक्ष्मभ्यः, वस्तूनि ओष्ठादिभिः, स्नेहाः दृष्ट्या, रसाः जिह्वातः, मृदो घ्राणाद्, जलानि नाडीभ्यः, ऋचो यजूंषि सामानि कर्णाभ्यां मस्तकाच्च, चातुर्होत्रं कर्म बाहुभ्यः, नामधेयानि मुखात्, मन्त्राश्च शिरोऽवयवेभ्यः, दक्षिणाः गावो वामोरुप्रदेशात्, व्रतानि मनसः, देवतानुक्रमः पर्वभ्यः, कल्पो बलात्, सङ्कल्पो बुद्धेः, सूत्रं प्राणात्, विहारयोगरूपं वा, गतयो विक्रमात्, मतयो ज्ञानेन्द्रियेभ्यः, प्रायश्चित्तं कर्मेन्द्रियेभ्यः, समर्पणम् आत्मनः. अन्येऽपि यज्ञियाः[४] पदार्थाः यथायथम् ऊह्याः. अतएव वेदे सर्वे यज्ञियाः[४] पदार्थाः भक्तिमद्भिः साक्षात्क्रियन्ते, पश्चात् ततो

प्रकाशः

मध्यमाधिकारिणः इति. षष्ठ्यन्तः प्रयोगो अयम्. **तथा ज्ञात्वा** इति पदार्थनिर्माणं ज्ञात्वा. तृतीयं प्रकारम् आहुः **यदा पुनः** इत्यादि. **तथाऽज्ञानाद्** इति पदार्थानां यज्ञार्थत्वाद्यज्ञानात्. चतुर्थं प्रकारम् आहुः **यत्पुनः** इत्यादि. एवं चतुरः प्रकारान् उक्त्वा साधारणपदार्थेभ्यो यज्ञीयानां भेदं दर्शयितुं श्रुति-पुराणान्तरानुसारेण तेषां स्थानभेदं निर्दिशन्ति **तत्र** इत्यादि. **यथायथम् ऊह्याः** इति, उक्तप्रकारम् अवगत्य ये यतः उचिताः ते ततः ऊह्याः इति अर्थः. अत्र मुख्यप्रकारस्य श्रौतत्वबोधनाय आहुः **अतएव** इत्यादि

---

१. गृह्णातीति इति क-ख-ङ. २. उत्पद्यतेति ङ.

३. निष्पाद्यते इति ग. ४. यज्ञीया इति ख-घ.

अवयवात् तेषां पदार्थानाम् आहरणं क्रियते, तदनन्तरं यागः. अन्यथा "अपश्यत्, आहरत्, अयजत" इति वैयर्थ्यापत्तिः ॥२७॥

ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव ॥
अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः ॥२८॥

एवं यथा मया कृतं तथैव **(ततः!)** तत्करणानन्तरं **ते इमे भ्रातरो** मरीच्यादयः **प्रजानां पतयः (नव!)** नवविधप्रजानां नवविधाः स्वयम् **अयजन्**[१]. ततः सात्त्विक-सात्त्विकेषु व्यक्तो भगवान्, तामस-तामसेषु अव्यक्तः, मध्यमेषु द्वयम्. तद् आह **(पुरुषं!) व्यक्तम् अव्यक्तम्** इति. **सुसमाहिताः** सावधानाः अन्यार्थपदार्थैः अमेलनार्थं ज्ञानार्थम् उत्पादनार्थं वा ॥२८॥

ततश्च मनवः काले ईजिरे ऋषयोऽपरे ॥
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम् ॥२९॥

(ततः काले!) तदनन्तरं बहुकालव्यवधानेन **मनवः** केवलम् **ईजिरे, ऋषयः** च **अपरे** च. एते सत्त्वादिभेदाः द्वितीयकक्षायाम्. ततः तृतीयकक्षायां **पितरो विबुधाः दैत्याः** राजसाः सात्त्विकाः तामसाश्च. **मनुष्यास्तु** चतुर्थकक्षायाम् अतः ते सन्निपातरूपाः एकविधाएव. तथापि भ्रमादपि कुर्वाणाः कामिकं किञ्चित् फलं प्राप्नुवन्ति, समर्थत्वाद् भगवतः. तद्

प्रकाशः

वैयर्थ्यापत्तिः इत्यन्तम्. अत्र उदाहरणं संहितां दृष्ट्वा लेख्यम् अस्ति[२]. तथाच श्रुतार्थापत्तिसिद्धो अयं प्रकारः इति अर्थः ॥२७॥

ततः ते इत्यत्र. एतेषां प्रकाराणां परम्परया प्रचारम् आहुः **एवम्** इत्यादि. **अन्यार्थ** इत्यादि. इदमपि त्रयं क्रमेण सात्त्विकादिषु बोध्यम् ॥२८॥

द्वितीयकक्षाप्रचारम्[३] आहुः **तदनन्तरम्** इत्यादि ॥२९॥

---

१. अजयन्निति क-ख-ग. २. इयं पङ्क्तिः ग्रन्थकर्तुः अन्वेषणमनु लेख्या इति स्वस्मारिका व्याख्यानभागे आपतिता! - सम्पा.

३. -प्रकारम् इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

आह **विभुम्** इति. **क्रतुभिः** इति द्वादशाहादिभिः ॥२९॥

एवं सर्वपदार्थानाम् उत्पत्तिं भगवतः सकाशाद् उक्त्वा स्थितिम् आह.

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ॥
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥३०॥

नारायणे इति. विश्वाधारत्वेन भगवदाधारत्व-व्युदासार्थं **नारायणे** इति उक्तम्. "आपो नारा इति प्रोक्ता" (मनुस्मृ. १।१०) इति प्रकारेण पुरुषएव नारायणः. **तद् इदम्** इति लौकिकं वैदिकञ्च (**विश्वम्!**) **आहितं** स्थापितम् ॥३०॥

ननु भगवतैव चेद् उत्पत्ति-स्थिती क्रियेते, अर्थात् प्रलयश्च, तदा भवतां क्व उपयोगः? तत्र आह.

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ॥
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥३१॥

सृजामि तन्नियुक्तो अहम् इति. भगवान् हि प्रकारप्रदर्शनार्थं सर्वानेव पदार्थान् कृतवान्. ततः (**तन्नियुक्तो अहं सृजामि, हरो हरति!**) परम्परानिष्पत्त्यर्थं माम् आज्ञापयति, संहारार्थञ्च महादेवम्. अतो ये भगवता उत्पादिताः तद्वंश्याः वा ते भगवतैव मारणीयाः; न महादेवादिशक्त्या[१]. अतो भगवदवतारः. पालनन्तु भगवानेव करोति इति आह **विश्वम्** इति. सहि **पुरुषरूपेण विश्वं परि**पालयति. अतएव

प्रकाशः

नारायणे इत्यत्र. ननु उपादानत्वे भगवतः सम्यग् उक्ते तत्रैव सर्वस्य स्थितिः अर्थादेव सिद्धेति पुनः स्थितिकथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **विश्वे**त्यादि. तथाच स्वतो विश्वं निर्माय तदन्तः स्वयं प्रविश्य तत्स्थापकः इति प्रकारान्तरबोधनं प्रयोजनम् इति अर्थः. अत्र यद्यपि उत्तरार्धं न व्याख्यातं तथापि **ननु भगवता** इत्यादिना अग्रिमाभासेन तदस्ति इति निश्चीयते इति बोध्यम् ॥३०॥

---

१. -शक्याः इति मुद्रितपाठः. घपाठे तु एवम् - सम्पा.

तदनुरोधेनैव हरः संहरति इति **तद्वशत्वम्** उक्तम्. यद्यपि[१] एतौ उत्पत्ति-प्रलयौ कुरुतः तथापि[२] तत्करणसामर्थ्यं भगवदधीनमेव इति आह **त्रिशक्तिधृग्** इति ॥३१॥

एवम् अंशत्रयं निरूप्य माहात्म्यं वक्तुं पूर्वोक्तम् उपसंहरति.

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि ॥
नाऽन्यद् भगवतः किञ्चिद् भाव्यं सदसदात्मकम् ॥३२॥

(यथा इदम् अनुपृच्छसि!) इति (ते अभिहितम्!) इति, पृष्टन्तु त्वया एतावदेव. माहात्म्यकथनन्तु अर्थाद् आयाति, तद् अग्रे कथयिष्यामि इति भावः. किम् उक्तम् इति अपेक्षायाम् आह **न अन्यद् भगवतः (किञ्चिद्!)** इति. यावन्तः प्रश्नाः कृताः स्वरूपतः प्रकारतो वा तत्र सर्वत्र उत्तरं भगवानेव, यतो भगवद्व्यतिरिक्तं किमपि नास्ति. ननु सर्वाधारत्वेन वस्तुतत्त्वरूपेण[३] च मतान्तरस्थैरपि "सर्वं भगवान्" इति अङ्गीक्रियते, ततो अस्मिन् मार्गे को विशेषः इति आकाङ्क्षायाम् आह **भाव्यम्** इति. यत् क्रियया निष्पाद्यं, यत्र हि क्रिया व्यापृता भवति, तद् भगवान् इति अर्थः. ननु ब्रह्मवादेऽपि सर्वं ब्रह्म, ततो

प्रकाशः

इति ते इत्यस्य आभासे. **अंशत्रयम्** इति गुणावतार-त्रयात्मकं तत्त्रयम्. विवृतौ. **मतान्तरस्थैः** इति भेदवादिभिः विशिष्टाद्वैतवादिभिश्च. अत्र यथायथं पूर्वोक्तं हेतुद्वयं योजनीयम्. **अस्मिन् मार्गे** इति विवक्षिते भक्तिमार्गे. **यत्र हि** इत्यादि. तथाच भेदवादिमते "अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः" (भग.गीता ११।४०) इति वाक्यस्वारस्यात् पारिभाषिकं सर्वत्वम्. विशिष्टाद्वैतवादिमते "यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद" (सुबालोप. ७।१) इति आरभ्य अप्तेजोवाय्वाकाश-मनोबुद्ध्यहङ्कार-चित्ताऽव्यक्ताऽक्षरममृतत्वान्तान् शरीर-त्वेन पूर्ववद् उक्त्वा "स एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" (तत्रैव) इति सुबालोपनिषदि श्रावणेन तत्स्वारस्यात्

---

१. यदापीति क-ख-ङ.　　२. तदापीति ख.　　३. वस्तुत्वरूपेणेति घ-ङ.

अस्मिन् मार्गे को विशेषः ? तत्र आह **सदसदात्मकम्** इति. सदसद्व्यवहारयोग्यं घटादिकं, शशशृङ्गादिकमपि, भ्रमविषयश्च[१]. तस्माद् यत्राऽपि मिथ्याप्रत्ययः तद्विषयोऽपि भगवान्, अन्यथा तस्य भानं ज्ञानञ्च न उत्पद्येत, अनुव्यवसायश्च न भवेत् ॥३२॥

एवं पूर्वोक्तम् उपसंहृत्य तस्य माहात्म्यं वदन् तद्धर्माणां माहात्म्यं प्रथमम् आह **न भारती मे अङ्ग** इति.

प्रकाशः

शरीरित्वेन सर्वत्वम्. अत्र तु उपादेयस्य अवयवस्य च उपादानावयवि-भेदाऽभेदात् तद्रूपेणापि सर्वत्वम् इति विशेषः इति अर्थः. नच पूर्वश्रुतिविरोधः✲, तत्रैव पूर्वं प्रलयप्रकरणे "पृथिव्यप्सु प्रलीयते" (सुबालोप. २।४) इति आरभ्य "आपः तेजसि, तेजो वायौ, वायुः आकाशे, आकाशम् इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ, भूतादिर्महति, महान् अव्यक्ते, अव्यक्तम् अक्षरे, अक्षरं तमसि विलीयते" (तत्रैव) इत्यन्तं शब्दाभ्यासेन लयम् उक्त्वा अग्रे "तम ... एकीभवति परस्मिन्, परस्तात् न सद् न असद् न सदसद् इत्येतन्निर्वाणम् अनुशासनमिति वेदानुशासनम्" (तत्रैव) इति पृथिव्याद्यक्षरान्तानां सूक्ष्मरूपतापत्त्या कारणेन सह श्लेषः तमस्त्वे एकीभावेन कारणभूत-परात्मत्वे सदसद्विलक्षण-ब्रह्ममात्र-सत्ताबोधनेन तमआदि-पृथिव्यन्तानां सञ्चरक्रमेण ब्रह्मोपादेयता तत्रापि सिद्ध्यति ✲इति अविरोधात्. ब्रह्मवादाद् अत्र विशेषं व्युत्पादयन्ति **तस्माद्** इत्यादि. **भानं** शुक्तिरजतादेः, **ज्ञानं** शशशृङ्गादेः. तथाच प्रतिभासरूपेण वचनरूपेण अनुव्यवसाय-विषयरूपेण च या तत्सत्ता सा तेषां ब्रह्मरूपत्वं विना न उपपद्यते इति तेषामपि तेन रूपेण ब्रह्मत्वम् इति एषः ब्रह्मवादादपि विशेषः इति अर्थः. ब्रह्मवादे हि "तदनन्यत्व-" (ब्रह्मसूत्र २।१।१४) सूत्रोक्तरीत्या कारणरूपेण, "उभयव्यपदेश-" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२७) सूत्रोक्तरीत्या व्यवहारयोग्यसद्रूपेण च ब्रह्मरूपत्व-बोधनेन सदसद्व्यवहारयोग्य-रूपेण तथात्वाऽबोधनाद् इति ॥३२॥

---

१. भ्रमविषयं चेति ग.

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ॥
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥३३॥

हृदये तिरोहितो भगवान् असद्बुद्धिम् उत्पादयति. अतो **(मे!)** मया **औत्कण्ठ्यवता** प्रेमोद्गमवता **हृदा (हरिः!)** भगवान् **धृतः**. तत्र च **भारती** वर्तते. साहि भगवन्तम् आलिङ्ग्य मन्मुखात् तेन सह निःसरतीति कदाचिदपि **मृषा न उपलक्ष्यते** भाविनापि[१] न बाधितविषयाः[२] भवति इति अर्थः. तथा मनोव्यापारोऽपि न, यः पदार्थो भावी तद्विषयको न भवति इति आह **न वै क्वचिद् मे मनसः (मृषा गतिः!)** इति. परम्परासम्बन्धेऽपि माहात्म्यं; भगवता सह अहं सम्बद्धः, मम च अभिमानमात्रेण मनःप्रभृतयः सम्बद्धाः इति ज्ञापनार्थं सर्वत्र **मे** इति उक्तम्. **हृषीकाणि** इन्द्रियाणि **(न पतन्ति!) असत्पथे** निन्दितमार्गे. वाक्सम्बन्धे तु भगवान् न हृदये स्थापितइति न तेन व्यभिचारः. ननु धृतो भगवान् कथम् इष्टं कृतवान्? तत्र आह **हरिः** इति. **औत्कण्ठ्यवता हृदा** इत्यनेन अयम् अर्थो निरूपितः— चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयम्. ततः प्रेमसंवलितं चित्तं सर्वत्र विद्यमानं भगवन्तं विषयीकरिष्यति[३]. यथा रसनेन्द्रियसहिता जिह्वा द्रव्येषु विद्यमानान् रसान् स्वयमेव गृह्णाति, ननु

प्रकाशः

न भारती इत्यत्र. **भावेन** इत्यत्र 'भाविना' इति पाठः प्रतिभाति. ननु ब्राह्मे नीतिशास्त्रे हिंस्रप्रयोगानां, कामशास्त्रे च पारदारिकसुख-सुरतादीनां ब्रह्मणा कथनस्य भारते वात्स्यायनीये च अनुवादाद् ब्रह्मवाचां[४] निन्दितमार्गे पातइति **न मे हृषीकाणि** इत्युक्तिः कथं सङ्गच्छते इत्यतः आहुः **वाक्सम्बन्धे** इत्यादि. इदं मनःसम्बन्धस्यापि उपलक्षकम्. तथाच तयोः सम्बन्धेऽपि चेद् भगवदविस्मरणं स्यात् तदा **न भारती** इति अर्धेन सत्य-निर्गमनरूप-मात्रमेव कार्यं न वदेत्. अतो निर्गमएव अविस्मरणं, नतु तयोः सम्बन्धेऽपीति न तेन व्यभिचारः इति अर्थः. **धृतः** इति,

१. भावेनाऽपीति ख-घ-ङ-प्रकाशे - सम्पा. २. बाधितविषय इति ग-घ-ङ.

३. विषयीकरोतीति ग. विषयीकरिष्यतीति इति ख-ङ.

४. ब्रह्मवाचो इति मा.पाठे - सम्पा.

तद्रसज्ञानं पूर्वम् अपेक्षते[१], तथा भक्त्याविष्टं चित्तं स्वयमेव भगवन्तं गृह्णाति. प्रतिनियतेन्द्रियवद् भगवद्भक्तिः ॥३३॥

भगवान् केवलभक्त्यैकलभ्यः, नच तत्र प्रमाणान्तरम् अस्ति इति बोधयितुम् आह **सो अहम्** इति.

सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः ।।
आस्थाय योगं निपुणं समाहितस्तं नाऽध्यगच्छन् यत आत्मसम्भवः ।।३४।।

भगवज्ज्ञाने प्रथमं वेदाः प्रमाणम्. साधनं तपः. प्रमाणाभिज्ञानं मनन-निदिध्यासनरूपम्. अन्तरङ्गं साधनं योगः, तत्फलं चित्तैकाग्र्यम्. तस्मिन् जाते उत्तमाधिकारिणो भगवत्साक्षात्कारो भवति इति न मन्तव्यम् इति आह **सो अहम्** इति. **समाम्नायः** पुनः पुनः आवर्त्यमानो वेदः – समाऽऽङुपसर्गाभ्यां[२] सहितो म्ना-धातुः अभ्यासार्थो अर्थविधानसहितं वेदाभ्यासं बोधयति – **तन्मयः** तद्विकारः तद्व्याप्तो वा. **तपोमयः** इति साधनपरता ; सहजं तपः इति ज्ञापनार्थम् उक्तम्. **प्रजापतीनाम् अभिवन्दितः** इति सर्वोपदेष्टृत्वेन अर्थविचारः उक्तः. **प्रजापति**शब्देन च तस्य ज्ञानस्य परम्पराऽपि सूचिता. ते च न प्रतारिताः इति आह **पतिः** इति ; नहि प्रजापतीनां पतिः तान् वञ्चयति. एवं साङ्गं प्रमाणं निरूपितम्.

प्रकाशः

प्रेम्णा बद्धः इति अर्थः. **प्रतिनियतेन्द्रियवद् भक्तिः** इति. मनसा रूप-रसादि-ग्रहणे चक्षु-रसनादि-वद् मनसा भगवद्ग्रहणे भक्तिः इति अर्थः ॥३३॥

सो अहम् इत्यत्र. **तत्र** इति भगवज्ज्ञाने. **प्रमाणाभिज्ञानम्** इति वेदतात्पर्यज्ञानम्. **अन्तरङ्गम्** इति निदिध्यासन-जनकम्. **सो अहम्** इति उत्तमाधिकारी. साधनसम्पत्तिं विशदयन्ति **समाम्नाय** इत्यादि. **उक्तम्** इति मयडन्तम् उक्तम्. एतेन "तं तु औपनिषदं पुरुषम्" (बृहदा.उप. ३।९।२६) इति, "मनसैव अनुद्रष्टव्यः" (बृहदा.उप. ४।४।१९) इत्येवंजातीयकानां

---

१. अपेक्षिते इति ख-घ. अपेक्ष्यते इति ग.

२. समामुपसर्गाभ्यामिति क-ख-ङ. समोपसर्गाभ्यामिति ग.

प्रमाणं हि भगवत्साक्षात्कारे मनसः सहकारि, अतो मनसोऽपि भगवद्ग्रहणयोग्यताम्[१] आह **आस्थाय योगम्** इति. **निपुणम्** इति, न सिद्ध्यादिभिः भ्रामकम् इति अर्थः. एवं **(समाहितः!)** साधनसहितोऽपि **तं न अध्यगच्छन् यतः आत्मसम्भवः** इति स्वस्य अधिकारः उत्कृष्टो निरूपितः. तस्माद् भक्त्यैव वशो भवति ज्ञातः च, न अन्यथा इति निश्चयः ॥३४॥

तर्हि तत्र किं विधेयं भक्त्यर्थं सर्वैः इति आकाङ्क्षायाम् आह.

नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम् ।
यो ह्यात्ममायाविभवं स्म पर्यगाद् यथा नभः स्वान्तमथाऽपरे कुतः ॥३५॥

नतो अस्मि अहम् इति. **तच्चरणम् अहं नतो अस्मि** नमनातिरिक्तं मयाऽपि साधनं न ज्ञायते ; **कुतो (अपरे!)** अन्ये ज्ञास्यन्ति इति भावः. ननु नमनेन किं स्यात्? तत्र आह **समीयुषां भवच्छिदम्** इति. **तच्चरणं** ये **सं** सम्यग् **ईयुषः** तत्प्राप्त्यर्थं कामपि तत्रत्यां क्रियां कुर्वाणाः, तेषां संसारं दूरीकरोति. पुनः संसारप्राप्त्यभावाय भवं छिनत्ति इति उक्तम्. मूलतः छिन्ने [२]प्रवाहे अग्रे निवृत्तिः स्वतएव इति तथा उक्तम्. न केवलं दुःखमेव दूरीकरोति किन्तु कल्याणमपि प्रयच्छति इति आह **स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम्** इति. **स्वस्ति** कल्याणस्य ऐहिकस्य **अयनं** स्थानम्, आमुष्मिकस्याऽपि सूचकं **सुमङ्गलम्**. अतः चरणनमनमेव कर्तव्यं, तेनैव अर्थसिद्धिः. ननु[३] भगवान् भगवद्गुणाः वा इदमित्थतया ज्ञातुं शक्याः! तत्र गुणानां ज्ञाने अशक्यताम् आह **यो हि** इति. **यो** भगवान् **आत्मनो मायायाः** साधनभूतायाः **विभवम्** ऐश्वर्यं स्वयमेव **पर्यगात्**. **परि** इति

प्रकाशः

तात्पर्यं निर्धारयन्ति[४] इति आहुः **प्रमाणं हि** इत्यादि ॥३४॥

नतोऽस्मि इत्यत्र. **आह** इति, श्लोकत्रयेण उत्तरम् आह इति अर्थः. **अर्थसिद्धिः** इति भगवद्विचारित-रीतिकाऽभीष्टसिद्धिः ॥३५॥

१. भगवद्ग्रहणेऽयोग्यतामिति क-ख. २. छिन्ने वा प्रग्रहे निवृत्तिरिति ङ.

३. नन्विति मुद्रितपाठः. ग-ङपाठे तु एवम् - सम्पा.

४. निर्धारयति इति मा.पाठे - सम्पा.

निषेधार्थे ; न ज्ञातवान् इति अर्थः. **स्म** इति प्रसिद्धे, अनेन तथा वचने[१] स्वस्य दोषो निराकृतः[२]. ननु मायायाः विभवं भगवदीयमेव इति कथं भगवान् स्वसम्बन्धिनं पदार्थं न जानाति? तत्र दृष्टान्तम् आह **यथा नभः स्वान्तम्** इति. विद्यमाने अन्ते यस्तु अन्तं न जानाति सः न सर्वज्ञः, नतु अविद्यमानेऽपि. नहि शशशृङ्गाज्ञानं सार्वज्ञ्यप्रतिबन्धकम्. **यथा नभः स्वान्तं** न जानाति व्यापकत्वाद् अन्ताभावाच्च तथा भगवानपि इति अर्थः ॥३५॥

एवं गुणानाम् अज्ञानं निरूप्य स्वरूपस्याऽपि अज्ञानं निरूपयति **न अहम्** इति.

नाऽहं न यूयं यदृतां गतिं विदुर्न वामदेवः किमुताऽपरे सुराः ॥
यन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं विनिर्मितं चाऽऽत्मसमं विचक्ष्महे ॥३६॥

भगवन्तं कश्चिद् ज्ञास्यति इति न मन्तव्यं, यतो वयमेव महान्तो अधिकारिणः सर्वप्रकारेण चेद् न जानीमः, **(किम् उत!)** कथम् अन्यो ज्ञास्यति इति! तत्र **अहं** ब्रह्मा, **यूयं** सनकाद्यन्ताः सर्वे मत्पुत्राः **यस्य ऋतां** सत्यरूपां **गतिं न विद्मः** भगवज्ज्ञानं दूरे किन्तु येन मार्गेण भगवान् गच्छति तां गतिमपि न जानीमः! यथा देवानां मनुष्याः न जानन्ति तथा वयमपि भगवतः इति अर्थः. (ननु!) महादेवस्तु गुणावतारः सर्वगुरुः, ''ईश्वराद् ज्ञानम् अन्विच्छेद्'' (ब्रह्मपुरा. १३९।११) इति वाक्याच्च सः ज्ञास्यति इति आशङ्क्य आह **न वामदेवः** इति. **वामदेवो** महादेवः. **अपरे (सुराः!)** ततो हीनाः. अज्ञाने उपपत्तिम् आह **यन्मायया (मोहितबुद्धयः!)** इति, पूर्ववद् ज्ञानसम्बन्धिन्या मायया मोहिता बुद्धिः येषाम्. बुद्ध्या गृहीतानि ज्ञानेन्द्रियाणि हि ज्ञानं जनयन्ति. तत्र बुद्धिः चेद् मुग्धा, ज्ञानवार्ता दूरे! तर्हि इन्द्रियाणां वैफल्यं स्यात्! तत्र आह **इदं विनिर्मितम् आत्मसमं विचक्ष्महे** इति. भगवतैव **विनिर्मितम् इदं**

प्रकाशः

न अहम् इत्यत्र. **ज्ञानसम्बन्धिन्या** इति चिदंशशक्त्या.

---

१. वचनेनेति ग. २. निवारित इति ङ.

कार्यं जगद्रूपं स्वबुद्ध्यनुसारेण **विचक्ष्महे.** अनेन कार्यस्य प्रदर्शितत्वाद् भगवान् नास्ति इति पक्षो निराकृतः. **आत्मसमम्** इति वचनात् तदपि न सम्यग् ज्ञायते! अन्यथा विशेषानुमानैः भगवतः सर्वे विशेषाः ज्ञाताः भवेयुः, सर्वगुणप्रसिद्धिरूपत्वाद् जगतः ॥३६॥

एवं ज्ञानमार्गस्य दुर्ज्ञेयत्वम् उक्त्वा भक्तिमार्गस्याऽपि अशक्यताम् आह **यस्य अवतारकर्माणि** इति.

यस्याऽवतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः ॥
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥३७॥

साक्षाद्भक्तिः नास्त्येव ; परम्पराभक्तिः कथमपि केनचित् कर्तव्या! तत्र परम्पराभक्तिमध्ये गुणकीर्तनम् उत्तमम् इति **अस्मदादयो (यस्य!) अवतारकर्माणि गायन्ति. (यं न विदन्ति!) अवतार**पदेन तस्य कर्माण्यपि न जानन्ति इति सूचितम्. **कर्म**पदेन गुणास्तु न ज्ञायन्तएव. गुणाः हि उत्कर्षाधायकाः. के वा भगवतो धर्माः भगवतः सर्वोत्तमत्वम् अन्यं वा उत्कर्षं साधयन्ति इति ज्ञानं दुर्लभम्. **अवतार**पदेन च शरीरेण आकृत्या वा गूढो भगवानिति कार्यज्ञानवद् भक्तिरपि सोपाधिका निरूपिता. तर्हि किमर्थं कथयन्ति इति आशङ्क्य आह **गायन्ति** इति. गानेन सुखं जायतइति इतरगानापेक्षया भगवद्गुणगाने सुखाभिव्यक्तेः दृष्टत्वात् तदेव कुर्वन्ति इति अर्थः. **हि**शब्दस्तु इममेव अर्थम् आह. **तत्त्वम्** इदम् इत्थम् एवं रूपम्. तथापि ज्ञानाऽज्ञानाभ्याम् उपलक्षितो भगवान् कश्चिद् अस्ति इति विनिश्चित्य, मार्गद्वयेऽपि तत्र कर्तव्यान्तराभावाद् नमनमेव कर्तव्यम् इति आह **तस्मै** इति. यद्यपि सर्वप्रमाणातीतः तथापि सर्वत्र प्रसिद्धः, तत्र

प्रकाशः

अनेन इति **विनिर्मित**पदेन. **तदपि** इति कार्यरूपं जगदपि. **अन्यथा** इति कार्यस्य सम्यक्परिच्छेदे ॥३६॥

यस्य अवतार इत्यत्र. **तस्य** इति मूलरूपस्य पुरुषोत्तमस्य. एवं श्लोकत्रयेण इदं सिद्धं— ज्ञान-भक्ती दुर्लभे ; केवलं दैन्यमेव तोषसाधनम् इति तेन भगवद्विचारानुरूपा जीवाऽभीष्टसिद्धिः इति नमनमेव कर्तव्यम् इति ॥३७॥

च नमनमेव कर्तव्यं, न अन्यद् इति. नमनञ्च ''यादृशोऽसि हरे कृष्ण तादृशाय नमो नमः'' (सुबो. ३।६।४०) इति ॥३७॥

एवं भगवतो माहात्म्यं निरूप्य पूर्वोक्तां सृष्टिम् उपसंहरन् तत्त्वम् उपसंहरति.

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः ॥
आत्माऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च ॥३८॥

सः एषः इति. यो अस्माभिः न ज्ञायते सएव एषः इदानीम् अस्मद्बुद्धौ स्थित्वा सर्वं करोति इति. तस्यैव स्रष्टृत्वे हेतुः **आद्यः** इति. **पुरुषः** इति साधनम्. **कल्पे कल्पे (सृजति !)** इति सकृत्सृष्टिः निवारिता. **अजः** इति स्वस्य सदा एकरूपत्वम्. उपादानत्वं करणत्वं कर्तृत्वं स्वस्यैव इति आह **आत्मा** स्वयमेव कर्ता **आत्मनि** स्वस्मिन्नेव अधिकरणे **आत्मना** स्वेनैव करणेन **आत्मानं** विश्वरूपं स्वयमेव कर्म. अनेन अन्येऽपि विभक्त्यर्थाः ज्ञातव्याः. न केवलम् उत्पादयति अपितु **संयच्छति** मारयति, **पाति** रक्षति[१]. **चकारौ** तु भिन्नविषयत्व-व्युदासकौ. यदाऽपि हरति तदाऽपि उत्पादयति. एवम् अन्यस्मिन्नपि अन्यसम्बन्धनिरूपणार्थं वा. युक्तिस्तु अत्र महायोगसिद्धो बाह्यसाधनव्यतिरेकेणैव स्वेच्छया बहुरूपो[२] भवति. भगवति तु योगादिकमपि न अपेक्ष्यते, सर्वसामर्थ्ययुक्तं स्वरूपमेव तथाभूतं यतः ॥३८॥

ननु न अयं भगवन्मार्गः साधीयान् ; एतदपेक्षया ज्ञानमार्गएव

प्रकाशः

सः एषः इत्यत्र. **अन्यस्मिन्** इत्यादि. उत्पादकेऽपि मारकेऽपि स्थापकत्वम् —एवं निरूपणार्थम्[३] इति अर्थः. **तथाभूतम्** इति साधनभूतम्. तथाच वस्तुस्वभावएव युक्तिः इति अर्थः. एवं विरुद्धधर्माश्रयत्व-निगमनेन माहात्म्यं भगवतो निरूपितम् ॥३८॥

---

१. रक्षति चेति घ-ङ.

२. तावद्रूप इति क-ग. च तद्रूप इति घ.

३. निरूपणम् इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

ब्रह्मात्मस्वरूपभूतः उत्तमः, सहि ज्ञातुं शक्यते इति आशङ्क्य तं पक्षम् अनूद्य दूषयति **विशुद्धम्** इति द्वाभ्याम्.

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ॥
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥३९॥

एते हि द्वादश धर्माः देहाद् आत्मनो वैलक्षण्यप्रतिपादकाः. तैः ज्ञातैः "'अहं'-'मम' इति असद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेद्" इति फलिष्यति. तत्र देहस्तु अत्यन्तं मलिनो मलमूत्रादि-पूर्णत्वाद् अशुद्धश्च, आत्मा तु **विशेषेण शुद्धः**. नहि शुद्धाशुद्धयोः ऐक्यम्. अनेन आत्मनः संस्काराः केऽपि न अपेक्ष्यन्ते इति उक्तं भवति. देहे कृतः[१] संस्कारो व्यर्थएव. अनेन प्रथमं सर्वसाधनपरित्यागः सूचितः. किञ्च **केवलो** अयम् आत्मा एकएव असहायः, देहस्तु पुत्रादिसर्वसहितः. आत्मनस्तु एकत्वे ज्ञाते पुत्रादिचिन्ता दूरे गच्छति. तेन वैराग्यं सिद्धं भवति. एवं परित्यागो वैराग्यञ्च निरूपितम्. किञ्च अयम् आत्मा **ज्ञान**रूपः, देहस्तु ज्ञेयः. अनेन ज्ञानार्थमपि यत्नो निराकृतः. नहि आत्मा ज्ञेयो भवति. शास्त्राणि तु दूरात् परिचायकानि. तेन आत्मना स्वयं ज्ञाताः[२] लब्धसत्ताकाः भवन्ति. अतः तानि प्रमाणानि स्वात्मानमेव तत्सम्बन्धात् प्रमाणम् इति बोधयन्तः[३]

प्रकाशः

विशुद्धम् इत्यत्र. **ब्रह्मात्मस्वरूपभूतः** इति, ब्रह्म आत्मनः स्वरूपभूतं यत्र तादृशः इति अर्थः. **फलिष्यति** इति. तथाच एवं फलिते ज्ञाते स्वाश्रया मुक्तिः सिद्धैवेति सुगमम् उपायम् अपहाय दुर्गमो भगवन्मार्गः किमर्थम् अन्वेषणीयः इति अर्थः. एतस्य प्रतिपत्ति-साधनाभ्यां सुकरत्वं व्याख्यानेन व्युत्पादयन्ति **तत्र** इत्यादि. **ज्ञानार्थम्** इति आत्मज्ञानार्थम्. ननु ज्ञानार्थप्रयत्न-वैयर्थ्याङ्गीकारे शास्त्रेषु आत्मबोधकत्व-प्रसिद्धिः व्याहन्येत इत्यतः आहुः **शास्त्राणि** इत्यादि. **त्यक्तव्यः** इति. तथाच कपिलादिवत्

१. देहकृत इति क-ख. २. ज्ञातानि लब्धसत्ताकानि इति मुद्रितपाठः. गृहीतः पुम्प्रयोगः क-ग-घ-ङपाठानुसारेण - सम्पा.

३. बोधयन्ति इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु घ-ङपाठानुसारेण - सम्पा.

'आत्मबोधकानि' इति उपचर्यन्ते. तस्माद् एवम्भावे आत्मनो ज्ञाते ज्ञानार्थमपि प्रयत्नः त्यक्तव्यः इति उक्तं भवति. किञ्च अयम् आत्मा **प्रत्यक्** प्रत्यक्त्वेन वेद्यः, देहस्तु पराक्. अतः आत्मनः एवम्भावे ज्ञाते योगोऽपि व्यर्थः. तेन हि स्ववृत्तौ[१] आत्मस्फूर्तिं कृत्वा पराक्त्वं सम्पाद्यते आत्मनः, यथा मथनेन अग्नेः बाह्यत्वम्. ननु गूढं प्रकटीक्रियते इति योगोपयोगो अस्ति इत्यतः आह **सम्यग्** इति. यथा आत्मा वर्तते तथैव **सम्यक्** नतु प्रकटितः. देहवैलक्षण्यं च ; देहस्तु असम्यक्. नहि यादृशो अस्ति तादृशएव स्थापनीयः किन्तु संस्कारैः उत्तमः कर्तव्यः. किञ्च अयम् आत्मा **अवस्थितः** अचलः. तस्मात् तत्स्थिरीकरणार्थम् आवापोद्वापनरूपं मननं न[२] कर्तव्यम् (यद्!) अनवस्थितस्य हि युक्त्या अवस्थापनम्. देहवैलक्षण्यं च सिद्धमेव, देहस्य सर्वथा अनवस्थितत्वात्. अनेन नाडीशोधनादिना देहसिद्धिप्रयासोऽपि व्यर्थः इति उक्तम्. किञ्च अयम् आत्मा **सत्यः** सदा एकरूपः, देहस्तु न तथा इति स्पष्टमेव (वैलक्षण्यम्!). अनेन कालान्तरे आत्मनो अन्यथाभावो भविष्यति इति शङ्कया योगादिभिः प्रयत्नकरणं निवारितम्. किञ्च अयम् आत्मा **पूर्णः**, देहस्तु परिच्छिन्नः.

प्रकाशः

सिद्धतया स्थातव्यम् इति अर्थः. **प्रत्यक्-सम्यग्** इति विशेषणद्वयेन योगपक्षं निराचक्षते **किञ्च** इत्यादि. **न हि** इत्यादि. एतेन इदं बोधितम्— इयं देहस्य असम्यक्ता पराक्त्वप्रयुक्ता. तथा सति स्ववृत्तौ आत्मस्फोरणेन आत्मनि पराक्त्व-सम्पादकस्य योगस्यापि आत्मनि असम्यक्त्व-सम्पादकत्वमेवेति तस्यापि अनुपयोगः इति अर्थः. **अवस्थितम्** इति विशेषणेन श्रौतं साधनं मननात्मकं निराचक्षते **किञ्च** इत्यादि. एतस्य [३]प्रकृतोपयोगम् आहुः **देहे**त्यादि. तात्त्विकोपाधिवादिमतीय-साधननिराकरणाय आहुः

लेखः

विशुद्धम् इत्यत्र. **तेन हि स्ववृत्तौ वा** इति. ... .

---

१. स्ववृत्तौ वा इति ग-घ-ङ-लेखे - सम्पा. २. नकारो नास्ति ग-घ-ङ.

३. प्रवृतोपयोगम् इति अशुद्धः मुद्रितपाठः कि.-मा.पाठानुरोधेन शोधितः - सम्पा.

अनेन आत्मनो न्यूनतापरिहारार्थमपि यत्नो न कर्तव्यः इति सूचितं, स्वतएव पूर्णत्वात्. ननु पूर्णस्याऽपि सदा एकरूपस्याऽपि आकाशादेः आवरणनिराकरणेन विशालता सम्पाद्यते, तथा आत्मनोऽपि उपाधिनिराकरणार्थं यत्नः कर्तव्यः इति आशङ्क्य निराकरोति **अनाद्यन्तम्** इति. यस्य हि **आद्यन्तौ** उत्पत्ति-प्रलयौ स्तः सहि सजातीये घट-पटादौ अन्वेतीति तस्य उपाधयः सम्भवन्ति. नहि अन्तःकरणं शरीरम् अन्यद् वा आत्मनः आवरकं सम्भवति, अविकारित्वाद्[१] असङ्गत्वाद् अव्यवहार्यत्वाच्च. तस्मात् केनाऽपि अंशेन उत्पत्ति-प्रलययोः अभावाद् उपाधिनिराकरणार्थमपि न यत्नः कर्तव्यः. देहादयस्तु तत्प्रकाशेन भासन्ते, नतु तदुपाधयः. अतः आत्मनः एवम्भावे अवगते देहनिराकरणार्थमपि प्रयत्नो व्यर्थः. ननु गुणैः क्षोभसम्भवाद् एवम्भावस्थित्यनुपपत्तेः सर्वदा तथास्थित्यर्थं गुणक्षोभनिराकरणाय यत्नः कर्तव्यः इति आशङ्क्य आह **निर्गुणम्** इति. नहि आत्मनो गुणाः सन्ति. एते हि सत्त्वादयः प्रकृतेः

प्रकाशः

ननु पूर्णेत्यादि. ननु उक्तम् आकाशस्येव सम्भवति इति आकाङ्क्षायां तद्वैलक्षण्याय उक्तविशेषणसूचितं हेतुत्रयम् आहुः **अविकारित्वाद्** इत्यादि. आकाशो हि शब्दरूपेण[२] विक्रियतइति तेन रूपेण आद्यन्तवान्, आत्मा तु "अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा" (बृहदा.उप. ४।५।१४) इति श्रुतेः तद्विलक्षणः. अर्धवैनाशिकमते यद्यपि विकारो न अङ्गीक्रियते तथापि घटाद्यवयवकर्मज-संयोगो अङ्गीक्रियते इति संयोगात्मकः सङ्गस्तु अस्ति. आत्मा तु "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृहदा.उप. ४।३।१५) इति श्रुतेः सङ्गराहित्यात् तद्विलक्षणः. यन्मते संयोगः स्पर्शभेदः तन्मते आकाशे तदभावेऽपि अवकाशरूपेण व्यवहार्यत्वम् अस्त्येव. आत्मा तु "यन्न स्पृशन्ति न विदुः" (भाग.पुरा. ६।१६।३२) इति वाक्याद् दुर्ज्ञेयत्वेन अव्यवहार्यइति तद्विलक्षणः इति अर्थः. **केनापि अंशेन** इति, विकारांशेन कार्यांशेन व्यवहारांशेन च इति अर्थः. ननु तर्हि देहादीनाम् उपाधित्व-प्रसिद्धिः कथम् इत्यतः आहुः **देहादयः** इत्यादि. तथाच तत्प्रकाश्यतया तेषु तथा

---

१. अधिकारित्वादिति घ-ङ.   २. शब्दतन्मात्राजनित-भूतरूपेण इति अभिप्रायः - सम्पा.

गुणाः. नहि अन्यदीयैः असम्बद्धैः आत्मनः क्षोभो भवितुम् अर्हति. तस्मात् तदर्थमपि न यत्नः कर्तव्यः. किञ्च [१]एतादृशस्वभावः[२] आत्मा सर्वदा, नतु कदाचिद् इति आह **नित्यम्** इति. यावन्तः आत्मनो धर्माः निरूपिताः परिचायकत्वेन तैः सहितः आत्मा नित्यो, नतु ते तत्र उत्पाद्यन्ते. तस्मात् तादृशत्वसिद्ध्यर्थमपि न यत्नः. किञ्च यदि अयम् आत्मा न आनन्दमयो[३] भवेत् तदा भगवत्सायुज्यं ब्रह्मता वा सम्पादनीया स्यात्. किन्तु अयमेव ब्रह्म भगवान् इति, ''अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः'' (बृहदा.उप. ४।४।५) इति श्रुतेः, ''अहमात्मा गुडाकेश'' (भग.गीता १०।२०) इति च. तस्माद् भगवत्सायुज्यार्थं ब्रह्मभावार्थं वा न यत्नः कर्तव्यः इति आह **अद्वयम्** इति. न(/स!) हि आत्मा अद्वयरूपः. ''पुरुषेश्वरयोः अत्र न वैलक्षण्यम् अण्वपि'' (भाग.पुरा. ११।२२।११), ''मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति'' (कठोप. २।१।१०) इति, ''अन्यो असौ अन्यो

प्रकाशः

व्यवहारः इति अर्थः. **यावन्तः** इत्यादि. तथाच पूर्वं स्वरूप-नित्यत्वं **सत्**पदेन उक्तम्, इदानीम् ''अनुच्छित्तिधर्मा'' (बृहदा.उप. ४।५।१४) इत्यादि श्रुत्यनुसारेण धर्म-नित्यत्वम् उच्यते इति अर्थः. ब्रह्मत्वोपपादनाय भगवान् इति उक्तं, तत्र कथं भगवान् इति अपेक्षायां श्रुतिः गीतावाक्यञ्च उच्यते. तत्र श्रुतौ ''विज्ञानमयः'' इति ब्रह्मत्वोपपादकं ; गीतावाक्ये च ''सर्वभूताशयस्थितः'' इति अन्तःस्थितिः भगवत्त्वोपपादिका, ''उत्तमः पुरुषः तु अन्यः'' (भग.गीता १५।१७) इति पुरुषोत्तम-लक्षणवाक्ये ''यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्ति'' इति लक्षणत्वेन कथनाद्, इति आशयेन आहुः **अयम् आत्मा** इत्यादि. इदञ्च साङ्ख्याभिमतम् इति ज्ञापनाय आहुः **पुरुषेश्वरयोः** इत्यादि. एतान् द्वादशानपि धर्मान् निगमयितुं प्रातिलोम्येन वदन्तः अद्वयत्वस्य व्याख्यातत्वेन नैकट्याद् नित्यत्वादीनाम् अर्थं स्मारयन्ति **सर्वत्र** इत्यादि ॥३९॥

---

१. एतादृशः इति क. २. स्वभावात्मेति क-घ.

३. अनाऽऽनन्दमय इति मुद्रितपाठः. गपाठे तु एवम् - सम्पा.

अहम् अस्मि'' (बृहदा.उप. १।४।१०) इति निन्दाश्रवणात्. नहि आत्मनि नानात्वम् अस्ति, वैलक्षण्यन्तु दूरे. सर्वत्र च[१] एकरूपः, सर्वत्र अक्षोभ्यः, सर्वत्र उत्पत्ति-विनाशधर्मरहितः, सर्वत्र परिच्छेदरहितः, सर्वत्र एकरूपः, सर्वत्र निश्चलः, सर्वत्र समीचीनः, सर्वत्र प्रत्यक्स्फूर्तिरूपः, सर्वत्र ज्ञानरूपः, सर्वत्र असङ्गोदासीनः, शुद्धश्च इति परिचायकप्रकारेण आत्मनि अवगते कृतार्थो भवति. न किञ्चित्कृत्यम् इति ॥३९॥

एवम् आत्मज्ञानमार्गं निरूप्य तं पक्षं दूषयति **ऋषे** इति.

ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः ॥
यदा तदेवाऽसत्तर्कैस्तिरोभूयेत विप्लुतम् ॥४०॥

हे **ऋषे** नारद, त्वं हि मन्त्रद्रष्टा सर्वसिद्धान्तं जानासि, किम् एतावता आत्मा एतादृशः इति? प्रतीयमानस्य अनर्थस्य निवृत्तिः अपेक्ष्यते. यदि आत्मनि एतादृशेऽपि संसारः[२] स्यात् तदा अनिर्मोक्षः. भ्रमात् प्रतीतावपि

प्रकाशः

ऋषे इत्यत्र. **दूषयति** इति, अभ्युपगम्य दूषयति इति अर्थः. तदेव स्फुटीकुर्वन्ति **किम् एतावता** इत्यादिना. **भ्रमो निवर्तनीयः** इति.

लेखः

परिचायकप्रकारेण इति. ''शाखायाम् अरुन्धती'' इत्यत्र अरुन्धती-परिचायकत्वं यथा शाखायाः तथा इति अर्थः ॥३९॥

ऋषे विदन्ति इत्यत्र. **किम् एतावता** इति. आत्मा विशुद्ध-केवलत्वादि-गुणकः इति शाब्दज्ञानेऽपि किम् एतावता, आत्मनः एतावत्त्वज्ञानेऽपि मोक्षार्थिनो अपेक्ष्यमाणायाः प्रतीयमानस्य अनर्थरूपस्य संसारस्य निवृत्तेः अभावात्. ननु मा अस्तु आत्मज्ञानेन तन्निवृत्तिः, तदर्थं साधनान्तरमेव मृग्यताम् इत्यतः आहुः **यदि** इत्यादि. आत्मस्वरूपज्ञानेऽपि यदि संसारदुःखं न निवृत्तं तर्हि मोक्षोच्छेदापत्तिः, ''तरति शोकम् आत्मविद्'' (छान्दो.उप. ७।१।३) इति, ''भिद्यते हृदयग्रन्थिः'' (मुण्डकोप. २।२।८) इत्यादिषु आत्मज्ञानस्यैव संसारदुःखनिवृत्तौ मुख्यत्वेन कारणत्वश्रावणात् तदतिरिक्तस्य

१. सर्वत्र स चैकरूप इत्यादि ग.   २. यदि संसार इति ग-घ-ङ.

भ्रमो निवर्तनीयः. एवम्भावज्ञानादेव निवर्तनपक्षेऽपि ज्ञानं प्रमाणतः सम्पादनीयम्. तत् प्रमाणं वेदो भवितुं न अर्हति, बहुवादि-विप्रतिपन्नत्वात्. किन्तु प्रमाणसहितं योगयुक्तं मनएव आत्मनः तथात्वं बोधयति. तं पक्षम् अङ्गीकृत्य दूषयति. **मुनयः यदा**[१] मननशीलाः. **प्रशान्ताः**[२] **आत्मा इन्द्रियाणि** च येषां, शुद्धान्तःकरणाः जितेन्द्रियाः. तैः मनने[३] क्रियमाणएव[४] **(विदन्ति!)** आत्मा भासते. **तदेव** गुणस्वरूपम् **असत्तर्कैः** कुयुक्तिभिः **विप्लुतं** सत् **तिरोभूयेत** तिरोभावं प्राप्नुयात्! सर्वदा एतादृशः आत्मानुसन्धाने कदाचिदपि संसारस्फूर्तिः न स्यात्; तथात्वे वा संसारस्फूर्तौ अनिर्मोक्षप्रसङ्गः शास्त्रवैफल्यञ्च. तस्माद् दृष्टानुपपत्त्या एतद् अभ्युपगन्तव्यम्— ये मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः तेषाम् आत्मा तथाविधः स्फुरति तदा न संसारः,

---

प्रकाशः

तथाच तन्निवृत्तेः विशेषदर्शन-सापेक्षत्वेन तदर्थं यत्ने अवश्यं कार्ये आगतएव ज्ञानार्थं प्रयासः इति ''आत्मश्रवणमात्राद् ज्ञानम्'' इति पक्षो न युक्तः इति अर्थः. मननपक्षं मनसि निधाय योगपक्षं दूषयितुम् उपक्षिपति **एवम्** इत्यादि. **क्रियमाणे** इति मनने क्रियमाणे. **तदेव गुणस्वरूपम्** इति मननसाधितं गुणात्मक-वृत्तिस्वरूपम्. एतत्तिरोधायकयुक्तीः आहुः **सर्वदा** इत्यादि. **तस्माद्** इति एतद्दूषणपरिहारस्य आवश्यकत्वात्. व्यवस्थायाम् इष्टापादने दोषम्

लेखः

मोक्षासाधकत्वाद् इति अर्थः. ननु संसारो नास्त्येव, यस्तु प्रतीयते सः भ्रममात्रम्, अतो वस्तुनः प्रतियोगिनएव अभावात् तन्निवृत्त्यर्थं न उपायापेक्षा इत्यतः आहुः **भ्रमाद्** इति. **एवम्भाव** इति. पूर्वोक्तात्मज्ञानादेव भ्रमो निवर्तनीयः इति पक्षे इति अर्थः. **तथात्वे वा** इति, तादृशात्मज्ञानवत्त्वेऽपि इति अर्थः. **शास्त्रवैफल्यम्** इति. शास्त्राणि तावद् आत्मज्ञान-सम्पादनद्वारा मोक्षम् उत्पाद्य चरितार्थानि भवन्ति; आत्मज्ञानस्य मोक्षासाधकत्वे तु तद्वैफल्यम् इति भावः. **एतद्** इति, वक्ष्यमाणम् इति अर्थः.

---

१. सदेति ग. २. प्रशान्तः इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-ख-घपाठानुसारेण - सम्पा. ३. प्रकाशे नास्ति - सम्पा. ४. एवमात्मेति क-ख.

अन्यान् प्रति न स्फुरति तदा तेषां संसारः इति. एवम् अपरोक्षकथा-परोक्षकथायामपि प्रमाणेन वेदादिना सत्तर्कसहितेन तत् स्फुरति, असत्तर्कैः विप्लुतं सत् तिरोभवति इति. अतः परम् एतन्नियमनार्थं किञ्चिद् अङ्गीकर्तव्यं, यस्मिन् क्रियमाणे असत्तर्कादिकमपि अभिभूय ज्ञानम् उदेति इति. प्रशमादयस्तु प्रथमतो न सम्भवन्ति, तेषां साधनाभावात्. साधनाऽभावेऽपि यदि जायेरन् तदा सर्वदैव स्युः! तस्मात् तादृशम् एकं साधनं वक्तव्यं यद् अव्यभिचारि भवति. भक्तिः चेत्, कृतम् आत्मनिरूपणेन, भक्तेः स्वातन्त्र्येणैव मोक्षदानाद्, भगवतः तादृशस्य आत्मत्वाच्च[१]. अतो भक्तिरहितः

प्रकाशः

आहुः **एवम्** इत्यादि. **तिरोभवति** इति. स्फुरितमपि तादृशरूपं साधनदौर्बल्यात् प्रतिहन्यमानं तिरोभवतीति पुनः संसारपातः इति अर्थः. **अतः परम् एतन्नियमनार्थम्** इति, साधनदौर्बल्यानुसन्धानोत्तरम् असत्तर्ककृत-प्रतिघात-वारणार्थम्. **साधनाभावाद्** इति नित्याऽनित्यवस्तुविवेक-वैराग्याद्यभावात्. **तस्माद्** इति साधनासम्भवेन ज्ञानस्य दौर्घट्यात्. **कृतम् आत्मनिरूपणेन** इति, व्यर्थं तद् इति अर्थः. तृतीयान्तसहितः 'कृत'शब्दः समभिव्याहृत-वैयर्थ्यबोधकतया लोके प्रसिद्धः. **अतः** इति तर्कविप्लुतत्वात्. **अतः** इति आवश्यकत्वाभावात्. ननु यदि एवं तदा "अयमात्मा ब्रह्म" (बृहदा.उप. ४।४।५) इत्यादौ आत्मनो ब्रह्मत्वं गीतायां च स्वस्य सर्वात्मत्वं यद्

लेखः

एवम् अपरोक्षेत्यादि. आत्मनः परोक्षत्वाऽपरोक्षत्व-कथायामपि किञ्चित् कारणत्वेन अङ्गीकरणीयम् इति अर्थः. ननु प्रशमादिकमेव तत्त्वेन अङ्गीकरणीयम् इत्यतः आहुः **प्रशमादयः** इति. **प्रथमतः** इति आत्मज्ञानात् प्रथमतः, "रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" (भग.गीता २।५९) इति न्यायाद् इति. **भगवतः तादृशस्य** इति, भक्तिविषयस्य भगवतः इति अर्थः ।।४०।।

।। इति श्रीद्वितीयस्कन्धे षष्ठाध्यायविवरणम् ।।

१. आत्मतत्त्वाच्चेति क-घ-ङ.

सः मार्गो न सिद्ध्यति, भक्तौ च जातायां किं तेन मार्गेण? अतः उभयथाऽपि अप्रयोजकं तत्. तस्माद् भगवतः तदेकं रूपम् आत्मभूतम् इति भगवन्माहात्म्यम् एतद्, विभूतिः वा. तस्माद् बालानां हस्ताग्रे चन्द्रबुद्धिवद् आत्मबुद्धिरिति न तच्छ्रवणमात्रेण कार्यसिद्धिः इति भावः ॥४०॥

एवं मतान्तरं परिहृत्य ''अवतारकर्माणि गायन्ति'' (श्लो. ३७) इति उक्तत्वात् के ते अवताराः इति अपेक्षायाम् आह.

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ॥
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु[१] चरिष्णु भूम्नः ॥४१॥

आद्यो अवतारः इति. **परस्य** ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य **आद्यो अवतारः पुरुषः** प्रकृतिभर्ता, द्वितीयः **कालः**, तृतीयः **स्वभावः**, **सदसत्** कर्म प्रकृतिः वा, **मनश्च**. इदं मनः आधिदैविकं, यत् सङ्कल्पद्वारा कामजनकं, यतः सृष्टिः. तदनन्तरम् अन्येऽपि अवताराः इति आह. **द्रव्यं** पञ्चमहाभूतानि, **विकारः** अहङ्कारः, **गुणाः** त्रयः, पञ्च वा तन्मात्राः, **इन्द्रियाणि** दश, **विराड्** ब्रह्माण्डदेहः, **स्वराट्** तदभिमानी, **स्थास्नु**[२] स्थावरं, **चरिष्णु** जङ्गमम्. एतत् सर्वं **भूम्नः** अतिसमर्थस्य एते सर्वे अवताराः. अवतारो नाम अवतरणं = मूलस्थानाद् इह आगमनम्. तत् परमार्थतो भगवान् एकएव

प्रकाशः

उच्यते तस्य विरोधः कथं निवर्तेत इत्यतः आहुः **तस्माद्** इत्यादि. तस्य मतस्य अप्रयोजकत्वेऽपि विरोधपरिहारस्य आवश्यकत्वात् शारीरब्राह्मणस्थ-श्रुतौ उक्तं भगवतः एकं रूपं भोक्तृभूतम् इति विरुद्धधर्माधारत्वरूप-माहात्म्यबोधनाय उच्यते, गीतायां प्रश्नानुरोधाद् विभूतिरूपं तदर्थम् उच्यते इति तेन चन्द्रदृष्टान्त-न्यायेन परोक्षज्ञानस्यैव उत्पादनाय तथा कथनम् अतो न विरोधः इति अर्थः ॥४०॥

आद्यो अवतारः इत्यत्र. **आधिदैविकम्** इति, ''असतोऽधि मनो सृज्यत मनः प्रजापतिम् असृजत'' (तैत्ति.ब्रा. २।२।९।१०) इत्यादि श्रुत्युक्तम् ॥४१॥

---

१. स्थाष्ण्वित्यपि ख. पाठः. २. स्थाष्ण्विति क-ख-ग.

तत्र स्थितः सर्वरूपेण इह आगतः इति सर्वमेव अवताररूपम् ॥४१॥

अथ पुरुषोत्तमत्वाद् भगवतः सजातीयेभ्यः उत्कर्षलक्षण-गुणवत्त्वं चेत् तदा इमे अग्रे वक्ष्यमाणाः (भगवदवताराः!) इति तान् गणयति **अहम्** इति.

अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा दक्षादयो ये भवदादयश्च ॥
भूलोकपाला भुवर्लोकपालाः स्वर्लोकपालास्तललोकपालाः ॥४२॥
गन्धर्वविद्याधरचारणेशाः ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः ।
ये वा ऋषीणामृषभाः पितृणां दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः ॥
अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूत-कूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः[१] **॥४३॥**
यत् किञ्च लोके भगवन्महस्वदोजःसहस्वद् बलवत् क्षमावत् ॥
श्रीह्रीर्विभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम् ॥४४॥

स्वहीनेभ्यः स्वसेवकेभ्यः उत्कर्षो बहूनां वर्ततइति ते सर्वे भगवदवताराः. तत्र प्रथमम् **अहं** ब्रह्मा. **भवो** महादेवः. **यज्ञो** यज्ञनारायणः. **इमे प्रजेशाः** मरीच्यादयः. तत्र दक्षो मुख्यः कल्पान्तरे अतो **दक्षादयः**. भवान् आदिः येषां ते **भवदादयो** भक्ताः, **च**कारात् सनकादयः. एवं स्वभावतः उत्कृष्टान् उक्त्वा अधिकारेण उत्कृष्टान् आह **भूलोकपालाः** इति. पाठान्तरे **भूर्लोकपालाः**, तदा भूः इत्यादि अव्ययम्. **भूलोकपालाः** पृथिवीलोकपालाः. **भुवर्लोकपालाः**[२] अन्तरिक्षलोकपालाः. **स्वर्लोकपालाः** उपरितन-लोकपालाः. **तललोकपालाः** अधस्तन-लोकपालाः. **गन्धर्वादीनां ये ईशाः**. **यक्षादीनां ये नाथाः**. **रक्षोरग** इति सन्धिः आर्षः. गन्धर्वादयो राजसाः, यक्षादयः तामसाः, **ऋषीणाम् ऋषभाः** सात्त्विकाः. **पितृणां** सन्निपाताः, एवं पूर्वत्राऽपि[३].

प्रकाशः

अहम् इत्यत्र. **चेद्** इति, लोकप्रसिद्ध्या अवतारस्य लक्षणान्तरं चेद् इति अर्थः. **ते सर्वे** इति. तथाच लक्ष्यकुक्षौ तेषां निवेशाद् न अतिव्याप्तिः इति अर्थः ॥४२॥

॥ इति श्रीद्वितीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे षष्ठाध्यायविवरणम् ॥

---

१. पश्वधीशा इत्यपि पाठः. २. भुवलोकपाला इति क-ख. ३. सर्वत्राऽपीति ग.

दैत्येन्द्रादयो राजस-सात्त्विक-तामसाः. इदानीं तमोमिश्र-तामसान् आह **प्रेतपिशाच** इति. एतेषां स्वरूपं तृतीयस्कन्धे वक्ष्यते. **प्रेतादीनां ये अधीशाः**. **किञ्च यः (लोके!)** कश्चन उत्कृष्टधर्मो भगादिः[१] भाग्यम् ऐश्वर्यादि वा तद्युक्तं यत्किञ्चिद् वस्तुमात्रं प्राणिमात्रं वा. **महः** तेजः. **ओजः** इन्द्रियशक्तिः, **सहो**[२] मनःशक्तिः ; ओजसा सहितं सहः – मनसः च इन्द्रियाणाञ्च अन्योन्योपकारात् तच्छक्तिद्वयम् एकत्वेन उक्तम् – **ओजःसहस्वद्** इति. **बलं** देहशक्तिः. **क्षमा** सहिष्णुता. एते भगादयः पदार्थाः[३] उत्कृष्टाएव अत्र विवक्षिताः. **श्रीः** शोभा. **ह्रीः** लज्जा. **विभूतिः** लक्ष्मीः. **आत्मा** बुद्धिः. श्रिया (/श्र्या ?) द्यात्मपर्यन्तं चतुष्टयं यस्य अस्ति सः तथा उक्तः. किञ्च **अद्भुतार्णम्** अद्भुतवर्णरूपं विचित्ररूपं गवादिकं[४] वा. किं बहुना, यत्किञ्चिद् **रूपवद्** मूर्तं, प्रकाशमानम् इति यावत्, तत् सर्वं **परमेव तत्त्वम्**. यदपि **अस्वरूपम्** अमूर्तम् आकाशादि तदपि **(परं!) तत्त्वम्** इति अर्थः, अस्वरूपत्वेन रूपवत्त्वेन[५] च तस्याऽपि प्रसिद्धेः ॥४२-४४॥

एवम् उत्कृष्टधर्मवत्त्वेन यदेव किञ्चिद् लोके प्रसिद्धं तदेव भगवदवताररूपम् इति उक्त्वा यत् साक्षात्सच्चिदानन्दरूपम् ऐश्वर्यादि-सर्वगुणसहितं[६] तन्मुख्यं भगवदवताररूपं ते कथयिष्यामि इति आह.

प्राधान्यतो यान् ऋष आमनन्ति लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः ॥
आपीयतां कर्णकषायशोषान् अनुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान् ॥४५॥

॥ इति श्रीभागवत-द्वितीयस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥

प्राधान्यतः इति. **ऋषे** इति सम्बोधनं तादृशश्रवणे अधिकारिद्योतकम्. यद्यपि भगवत्सृष्टौ सर्वमेव अवताररूपम् इति मुख्यः पक्षः तथापि तादृशस्य अवतारत्वेन लोकप्रसिद्ध्यभावाद् लोके **यान्** अवतारान् **प्राधान्येन (आमनन्ति!)** मुख्यतया वदन्ति तेषां **लीलावतार** इति नाम. ते च

---

१. भगादीत्यविसर्गः पाठः क-ख. २. सह इत्याद्यंशो नास्ति ख-घ.

३. पादार्था इति ख. ४. गद्यादिकमिति क-ख-ग-घ.

५. अमूर्तरूपवत्वेनेति ग. रूपत्वेनेति घ-ङ. ६. सर्वेति नास्ति क-ख.

पुनः अवताराः कस्य इति अपेक्षायां यस्तु **भूमा पुरुषो** ब्रह्माण्डाद् अधिको अन्तर्यामिरूपो द्वितीयध्याने (श्लो. १५ ?) उक्तः तस्य अवताराः. सच्चिदानन्दरूपाः हि देह-जीवा-ऽन्तर्यामिणः ; तत्र क्रमेण देह-जीवरूपाः उक्ताः, इदानीम् अन्तर्यामिरूपाः उच्यन्ते इति. **आपीयतां** ते हि न बहिःस्थापनयोग्याः नाऽपि मध्ये किन्तु सर्वान्तराः कर्तव्याः इति आसमन्तात् पीयताम् इति अर्थः. तेषां श्रवणस्य विशेषफलम् आह **कर्णकषायशोषान्** इति. यद्यपि सर्वं चरित्रं भगवतः तथापि लौकिकदोषेण कर्णयोः दुष्टत्वाद् भगवच्चरित्रे न रुचिः उत्पद्यते. तत्र एतद् विशेषचरित्रं कर्णमलनिवारकम् इति अस्मिन् श्रुते सर्वत्र रुचिः उत्पत्स्यते इति अर्थः. अतएव **अनुक्रमिष्ये** आनुपूर्व्येण कथयिष्यामि **ते** तुभ्यं, विशेषेण त्वमेव अधिकारी इति. **इमान्** बुद्धिस्थितान्. महता आडम्बरेण कथने हेतुः **सुपेशान्** इति, अतिसुन्दरान् मनोहरान्. कथनप्रतिज्ञा भिन्नप्रक्रमेण कथने हेतुः ॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे षष्ठो अध्यायः

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

एवमात्मातिरिक्तानामुत्पत्त्या निर्णयः कृतः ॥
आत्मनोऽपि हरेरत्र[१] निर्णयो विनिरूप्यते ॥(१)॥
सूक्ष्मध्यानं पूर्वमुक्तं तस्याऽत्र विवृतिः स्फुटा ॥

प्रकाशः

अथ सप्तमाध्यायं विवरिषवः पूर्वप्रकरणसङ्गतिं[२] वक्तुं पूर्वोक्तार्थ-सङ्ग्रहपूर्वकं प्रस्तुताध्यायार्थम् आहुः **एवम्** इत्यादि. अतति व्याप्नोति इति **आत्मा** भगवान्, **तदतिरिक्तानां** अनित्य-नित्यपरिच्छिन्न-भेदभिन्नानां सर्वेषाम् उद्दिष्ट-पृष्ट-पदार्थानां **उत्पत्त्या** जनन-समागमरूपया **एवं** वस्तुतः ऐक्येऽपि नियम्यते इति **निर्णयः** पूर्वाध्यायद्वयेन **कृतः**. **अत्र** अस्मिन् अध्याये **आत्मनो** व्यापकस्य **अपि हरेः निर्णयः** तत्तद्धर्मरूपेण मूलरूपेण च प्राकट्यरूपोत्पत्तिनिर्णयो **विनिरूप्यते** सोपपत्तिकः उच्यते. तथाच नारदेन मुख्यतया आत्मनएव पृष्टत्वात् तन्निर्धारार्थमेव तद्व्यतिरिक्त-निर्णयोक्तेः स्थूल-सूक्ष्मोत्पत्ति-प्रकरणयोः शेष-शेषिभावः सङ्गतिः इति अर्थः (१).

ननु स्थूलप्रकरणे उद्दिष्टविमर्शस्य स्फुटत्वाद् अत्र च अवतारकथामात्र-दर्शनाद् अस्य कथं विमर्शे अन्तर्भावः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **सूक्ष्मे**त्यादि.

लेखः

अथ सप्तमाध्यायं व्याचिख्यासवः प्रसङ्गसङ्गतिं बोधयितुं पूर्वाध्यायार्थम् अनुवदन्तः प्रस्तुताध्यायार्थम् आहुः **एवम्** इत्यादिना. **आत्मा** भगवान् **तदतिरिक्तानां** जड-जीवानां जननरूपया समागमरूपया च **उत्पत्त्या** पूर्वाध्यायद्वयेन **निर्णयः कृतः**. **आत्मनो हरेः** प्राकट्यरूपया **उत्पत्त्या**[३] **निर्णयो अत्र निरूप्यते** इति अर्थः (१).

सूक्ष्मध्यानम् इति. ''केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे'' (भाग.पुरा. २।२।८) इत्यादिना यत् **सूक्ष्मस्य** प्रादेशमात्रस्य **ध्यानम् उक्तं तस्य**

---

१. हरेस्तत्रेति घ.   २. '-प्रकार-' इति पाठः.

३. न.पाठानुसारेण. अनुत्पत्त्या इति ग.पाठस्तु अशुद्धः -सम्पा.

सप्तमे क्रियते येन तद्धर्माः वस्तुतो मताः ॥(२)॥
उपासनायां सर्वस्य हरेर्धर्मस्य निर्णयः ॥
स्वरूपगुणभेदेन बोधनार्थमिहोच्यते ॥(३)॥
मुख्यस्य च फलं त्वत्र निर्णीतं विनिरूप्यते ॥

प्रकाशः

तथाच विवृतिस्फुटीकरणाद् विमर्शे अन्तर्भावः इति अर्थः. ननु जड-जीवयोः ब्रह्मस्वभाववैलक्षण्येन तयोः तद्भिन्नत्वभ्रमात् तद्वारणाय उत्पत्त्या निर्णयः उचितः, सूक्ष्मध्याने तु भगवतो गुणाभरणादयो भगवदविनाभूताएव उक्ताइति तन्निर्णयस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **येन** इत्यादि. **वस्तुतः** इति. वास्तवाः अनागन्तुकाः. तथाच तेषाम् अनागन्तुकत्वेन अभेदाय निर्णयः आवश्यकः इति अर्थः (२).

ननु कथामात्रेण कथं तद्धर्मविवृतित्वावगमः इत्यतः आहुः **उपासनायाम्** इत्यादि द्वाभ्याम्. **उपासनायां** निदिध्यासने **सर्वस्य हरेः धर्मस्य स्वरूप-गुणभेदेन बोधनार्थं निर्णयः** यथावस्थित-स्वरूपनिश्चयः **इह** अस्मिन् अध्याये **उच्यते** श्रुतौ तावत्पर्यन्तस्यैव[१] साधनस्य कथनाद् उच्यते. **तु** पुनः **मुख्यस्य** ''वासुदेवे भगवति'' (भाग.पुरा. २।२।३३) इत्यादिना

लेखः

अत्र विवृत्तिः क्रियते. तस्य विवरणेन सिद्धं प्रयोजनम् आहुः **तद्धर्माः** इति. ध्यानविषयीभूतस्य प्रादेशमात्रत्वादयो **धर्माः वस्तुतएव सम्मताः**, नतु कल्पिताः इति सिद्धम् इति अर्थः (२).

अत्र अवतारस्य स्वरूपं तद्गुणाश्च निरूप्यते, तत्तात्पर्यम् आहुः **उपासनायाम्** इति. स्वरूपं धर्मञ्च ज्ञात्वा हि उपासना कर्तव्या. अतो **हरेः धर्म**रूपस्य अंशस्य अवतारस्य **स्वरूप-गुणभेदेन निर्णयो बोधनार्थम् इह उच्यते** इति अर्थः. एतावता मुख्यभक्तिमार्गे तु स्नेहस्यैव प्रयोजकत्वमिति न गुणाद्यपेक्षा इति सूचितम् (३).

अवतारनिरूपणेन सिद्धं प्रयोजनम् आहुः **मुख्यस्य** इति. **अत्र**

---

१. निदिध्यासनपर्यन्तस्य : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

माहात्म्यादि तदङ्गं च विशिष्टं तेन सिद्ध्यति ॥(४)॥

प्रकाशः

द्वितीयाध्यायोक्तस्य आत्मादिनिरूपण-शेषिणो भक्तिमार्गस्य **निर्णीतं** ''भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येन'' (भाग.पुरा. २।२।३४) इत्यनेन निर्धारितं **फलं** प्रेमभक्तिरूपं **विनिरूप्यते** सोपपत्तिकम् उच्यते. **तदङ्गं** प्रेमभक्त्यङ्गं **माहात्म्यादि च** सोपपत्तिकम् उच्यते. **तेन** हेतुत्रयेण **विशिष्टं** तत्तद्धर्मविशिष्टम् अन्तर्यामिस्वरूपं **सिद्ध्यति** इति योजना. अत्र अयम् अर्थः— स्थूल-सूक्ष्मध्यान-श्रवणोत्तरं राज्ञा ''भूय एव विवित्सामि'' (भाग.पुरा. २।४।६) इत्यादिना कृतेषु प्रश्नेषु श्रीशुकैः उत्तरस्य प्रमाणत्वाय ''एतदेव आत्मभूः राजन्'' (भाग.पुरा. २।४।२५) इत्यादिना ब्रह्म-नारदसंवादः उपक्षिप्तः. तेन द्वयोः[१] प्रश्नयोः तदुत्तरयोः च एकविषयकत्वं ज्ञायते. तत्र च उत्तरे स्थूलध्यानोद्दिष्टाः पदार्थाः विवृत्य उत्तरिताइति विवरणरूपता स्फुटा. अतः ''कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः'' (भाग.पुरा. २।४।९) इति अवतारप्रयोजन-सन्देहगर्भः प्रश्नो अनुत्तरितो यो अवशिष्टः तं नारदानुयुक्तात्मतत्त्व-प्रश्नोत्तरभूतेन अनेन अध्यायेन सूक्ष्मध्यानोद्दिष्ट-पदार्थविवरणरूपतया अवतारकथां वदन् उत्तरयति इति ज्ञायते. अन्यथा ''विशुद्धं केवलम्'' (भाग.पुरा. २।६।३९) इत्यादि श्लोकद्वयेन मतान्तरनिरासपर्यन्तम् आत्मस्वरूपं निश्चाय्य ''आद्यो अवतारः'' (भाग.पुरा. २।६।४१) इत्यादिना ''रूपवदस्वरूपम्'' (भाग.पुरा. २।६।४४) इत्यन्तेन तदवताराणाम् उक्तत्वाद् ब्रह्मा न लीलावतारान् स्मरेत्. तेन ज्ञायते ''अतिरिक्तात्मस्वरूपम् इदानीम् एतेन पूर्णं ज्ञापितं भविष्यति'' इति. तथैव शुकोक्तम् अन्तर्यामिस्वरूपमपीति अन्तर्यामिणः अतिरिक्तात्मनः च

लेखः

अवतारमाहात्म्यनिरूपणेन **मुख्यस्य** अवतारिणएव **फलत्वं निर्णीतं,** तन्माहात्म्यरूपं फलं वा निर्णीतम् अस्ति. तदर्थम् अवतार**माहात्म्यादि तदङ्गभूतं निरूप्यते. तेन** अवतारविशिष्टस्य अवतारिणो **विशिष्टं** माहात्म्यं **सिद्ध्यति** इति अर्थः (४).

१. राज-नारदकृतप्रश्नयोः शुक-ब्रह्मोक्तयोः उत्तरयोः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

एवं जड-जीवयोः उत्पत्त्या निर्णयम् उक्त्वा अन्तर्यामिणोऽपि सर्वधर्मसहितस्य खण्डशः उत्पत्तिः उच्यते, तथा सति एकैकस्य धर्मस्य तादृशमाहात्म्यावगतौ विशिष्टस्य परममाहात्म्यं सेत्स्यति इति. अन्तर्यामिस्वरूपे "प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्" (भाग.पुरा. २।२।८) इत्यादिपदैः यन्निरूपितं भगवत्स्वरूपं तस्य अत्र पदशो अवताराः उच्यन्ते. तत्र प्रथमं प्रादेशमात्रत्वधर्मस्य उत्पत्त्या यद् रूपं तत् प्रथमम् आह.

॥ ब्रह्मा उवाच ॥

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीम् अनन्तः ॥
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाऽद्रिमिव वज्रधरो ददार ॥१॥

यत्र उद्यतः इति. ब्रह्मणो हि भूम्युद्धारे चिन्ता काचिद् उत्पन्ना "कथम् एनां समुन्नेष्ये" इति. तदा भगवद्ध्यानाद् अन्तर्यामी भगवान् यः प्रादेशमात्रः सः आविर्भूतः. सः प्रादेशमात्रोऽपि नासापुटनिर्गमनार्थम् अङ्गुष्ठशिरोमात्रो भूत्वा पश्चात् स्थूलो जातः इति प्रादेशमात्रत्वं

प्रकाशः

ऐक्ये अतिरिक्तात्मावताराः अन्तर्यामिणएव स्वरूपविमर्शयेति द्वितीयाध्यायोक्तं भक्त्यादिकञ्च विमृष्टम् अतो अस्य तद्विवरणरूपता इति (३-४).

एवं कारिकाभिः अर्थं सङ्गृह्य तदनु व्याकुर्वन्ति **एवम्** इत्यादि. **यत्रोद्यतः** इत्यत्र **आह** इति ब्रह्मोक्तिमुखेन शुकः आह. एवं सर्वत्र बोध्यम्. अन्तर्याम्यवतारत्वे गमकम् अत्र वदन्तो विवरणत्वं स्फुटीकुर्वन्ति **ब्रह्मणः** इत्यादि. तथाच प्रेरकस्यैव अयम् अवतारः अतोऽपि ज्ञायते तस्यैव इदं विवरणम् इति. ननु परिमाणविरोधात् कथम् एवम् अतः आहुः **सः प्रादेश** इत्यादि. तथाच अस्वाभाविकत्वाद् न विरोधो दोषाय इत्यतः तस्य तद्धर्मावतारत्व-व्युत्पत्तिः इति अर्थः. **प्रादेशमात्रत्वम्** इत्यत्र 'अङ्गुष्ठशिरोमात्रत्वम्' इति पाठः प्रतिभाति, (जाबाल) श्रुत्या निबन्धेन च तथा निश्चयाद् इति. मूलस्थस्य **यत्र** इति पदस्य तात्पर्यम् आहुः

स्थानसापेक्षं[१] नतु स्वाभाविकम् इति व्याख्यातम्. **यत्रैव** स्थितो भगवान् **अनन्तो** देशकालाद्यपरिच्छिन्नः **क्षितितलोद्धरणाय उद्यतः** यदैव भगवान् इति विचारितवान् ''भूमिम् उन्नेष्यामि'' इति तदैव[२] रूपम् अबिभ्रत्. नहि तस्य रूपग्रहणे देशकालवस्त्वाद्यपेक्षा, यतो अन्तःकरणएव ब्रह्मणः स्थित्वा भूम्युद्धारेच्छयैव तत्रैव[३] रूपं गृहीतवान्. अतो अन्तर्यामिणो रूपग्रहणे न काऽपि अपेक्षा इति सूचनार्थं प्रथममेव वराहावतारः उक्तः[४]. **यत्रैव**[५] **उद्यतः** तत्रैव **बिभ्रद्** धृतवान् इति योजना. क्षितितलस्य उद्धरणम्. **तल**पदेन कृत्रिमा भूमिः उक्ता, समा च. पूर्वं हि ब्रह्मा पुष्करपर्णे स्थितो वराहरूपं कृत्वा काञ्चिद् मृत्तिकां ततः उद्धृत्य पुष्करपर्णे प्रथनं[६] कृतवान्. सा पृथिवी पुनः निमग्ना तदा तदुद्धारार्थम् उद्यतः तदेव रूपं धृतवान्, ''सोऽपश्यत् पुष्करपर्णं तिष्ठत्. सोऽमन्यत— अस्ति वै तद् यस्मिन् इदम् अधितिष्ठतीति. स वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत्. स पृथिविम् अध[७]

प्रकाशः

यदैव इत्यादि **गृहीतवान्** इत्यन्तम्. ''**सोऽपश्यद्**'' इति

लेखः

यत्र इत्यत्र. **स्थानसापेक्षम्** इति, हृदयादिस्थानसापेक्षम् इति अर्थः. **व्याख्यातम्** इति, ''केचित् स्वदेह-'' (भाग.पुरा. २।२।८) इति श्लोके व्याख्यातम्. **कृत्रिमा** इति. ब्रह्मणा निर्मिता कार्यरूपा भूः इयं, नतु कारणरूपा आधिदैविकी इति अर्थः. तदेतत् प्रपञ्चयन्ति **पूर्वं हि** इत्यादि. ननु ब्रह्मणो वराहरूपादिग्रहण-प्रक्रिया क्व प्रसिद्धा इत्यतः श्रुतिं पठन्ति ''**सो अपश्यद्**'' इत्यादि. **सः** ब्रह्मा **पुष्करपर्णं तिष्ठत्** तत्र स्थितः सन् **अपश्यत्** सर्वतो दृष्टिं प्रसारितवान्. ततः सः ब्रह्मा **यस्मिन् इदं** पुष्करपर्णम् **अधितिष्ठति तदेतत्** किञ्चिद् मूलम् **अस्ति इति अमन्यत** विचारेण निश्चितवान्. ततः तन्मूलदर्शनार्थं प्रवृत्तः **सः वराहाभिन्नं रूपं**

१. स्थानसापेक्ष्यमिति घ-ङ. २. तदैवं रूपं बिभ्रदिति घ-ङ. ३. तत्रैवमिति ग.
४. उच्यत इति क-ख-ग. ५. हृदय एवेति क-ख-ग. ६. प्रथममिति ख-ग-ङ.
७. अधार्च्छदिति क. अध्यर्च्छदिति ग. अध आर्च्छदिति ङ.

आर्च्छत्. तस्याः[१] उपहत्य उदमज्जत्. तत् पुष्करपर्णे अप्रथयत्. यद् अप्रथयत् तत् पृथिव्यै[२] पृथिवित्वम्'' (तैत्ति.ब्रा. १।१।३।६-७) इति श्रुतेः. अतो भगवताऽपि **(क्रौडीं तनुं!)** क्रोडसम्बन्धिनी = वराहसम्बन्धिनी तनुः कृता, जलात् पदार्थोद्धरणे तस्यैव सामर्थ्यात्. किञ्च **सकलयज्ञमयीम्** इति. यज्ञो हि मृगः, सः वनगोचरः. स्रुगादिपदार्थानां तत्तुण्डरूपतुल्यत्वाद् मृगत्वेऽपि वराहत्वम्. 'मन्यु'शब्दवाच्यत्वाच्च. यतः शतमन्युः इन्द्रः. अत्राऽपि ''पशूनां वा एष मन्युः यद् वराहः'' (तैत्ति.ब्रा. १।७।९।४) इति श्रुतेः वराहस्य मन्युत्वात् सकलयज्ञमयी तनुः सा भवति. यथा इयं तनुः सकलयज्ञमयी तथा उत्तरत्र वक्ष्यते. अत्र रूपग्रहणेनैव तत्कार्यस्य उक्तत्वात् कार्यान्तरम्[३] अस्ति इति तस्य निरूपकम् आह. यज्ञे हि त्रयीद्विषो हन्तव्याः. भूमिश्च तैरेव तत्र नीता, ''असुरा वा उत्तरतः पृथिवीं पर्याचिकीर्षन्'' (तैत्ति.संहि. ६।५।२।२) इति श्रुतेः. अतः तद्वधे कर्तव्ये ''मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः'' (परिभाषेन्दुशेखर परिभा. १५) इति न्यायेन आदौ दैत्यत्वं प्राप्तम् **आदिदैत्यं तं** प्रसिद्धं **ददार** विदीर्णं कृतवान्. तस्य विदारणे[४] हेतुरूपो दृष्टान्तः **अद्रिमिव वज्रधरः** इति. यथा पर्वताः पक्षैः उद्यताः

प्रकाशः

''**पशूनां वा**'' इति च श्रुतिद्वयं तैत्तिरीयब्राह्मणस्थम्. **उत्तरत्र** इति तृतीयस्कन्धे. **तत्कार्यस्य** इति जलाद् वस्तूद्धारस्य. ''**असुरा वा**'' इति श्रुतिः तैत्तिरीयसंहिता-षष्ठाष्टकस्था. **विदीर्णते** इत्यत्र 'विदारणे' इति पाठः

लेखः

कृत्वा नाभ्याः अधस्मात् गतवान्. ततः **सः पृथ्वीम् आर्च्छत्** दृष्टवान्. ततः **तस्याः** पृथ्वीतः **उपहत्य** काञ्चित् मृत्तिकाम् उद्धृत्य **उदमज्जद्** ऊर्ध्वं यथास्थानम् आगमत्. अन्यत् स्पष्टम्. **सः वनगोचरः** इति. ग्रामाद् बहिरेव भूमौ शुद्धक्षेत्रस्य यागार्थत्वेन स्मरणात् वनगोचरः इति भावः. **उत्तरत्र** इति. तृतीये वाराहवर्णने ''स्रुक्तुण्ड आसीद्'' (भाग.पुरा. ३।१३।३६)

---

१. तस्याम् इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा. २. तत् पृथिवीत्वमिति क-ख-ङ.

३. कार्यान्तरं तस्येति क. ४. विदीर्णने इति क-ग-ङ. विदीर्णते इति प्रकाशे - सम्पा.

सर्वामेव पृथिवीं नाशयन्ति तत्प्रतिपक्षतया इन्द्रेण च ते च्छिन्नपक्षाः कृताः तथा भगवता हिरण्याक्षोऽपि भूम्यनिष्टकर्ता हतः इति अर्थः. तस्य च हननं समुद्रएव, तद् आह **अन्तर्महार्णवे (उपागतम्!)** इति. आगतमात्रत्वं वा. **दंष्ट्रया** इति तस्य न मुक्तिः, यमत्वाद् दंष्ट्रायाः. यद् अग्रे करेण हतवान् इत्यादि तद् न विदारणरूपम् ॥१॥

एवं प्रादेशमात्रस्य अवतारम् उक्त्वा पुरुषरूपस्य अवतारम् आह **जातो रुचेः** इति.

जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ
आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायाम् ॥
लोकत्रयस्य महतीमहरद् यदार्तिं
स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः ॥२॥

भगवतो हि यज्ञस्य ध्यानरूप-कर्माधिष्ठातृ[१] रूपम् एकत्र, नाम च एकत्र. तत्र रूपं वराहे, नाम यज्ञनारायणे. सहि पुरुषरूपः. भगवान् पुरुषरूपाणि स्वरुच्या कृतवान् इति **रुचिनाम्नो** ब्रह्मपुत्राद् **जातः**. तस्य

प्रकाशः

प्रतिभाति. **यद् अग्रे** इति. यत् तृतीयस्कन्धे तेन सा कल्पान्तरकथा इति प्रतिभाति. अथवा करेण तत्पराजयमात्रं, मारणं तु दंष्ट्रया इति ॥१॥

जातः इत्यत्र. पुरुषधर्मावतारत्वं व्युत्पादयन्ति **स हि** इत्यादि. तथाच रूपादेव अत्र तद्व्युत्पत्तिः इति अर्थः. **स्वरुच्या कृतवान्** इति. अत्र

लेखः

इत्यादिना वक्ष्यते इति अर्थः. **आगतमात्रत्वं वा** इति. महार्णवमार्गेण दैत्यस्य आगतमात्रत्वं, नतु तत्रैव हननमपि इति अर्थः. **यद् अग्रे** इति. ... ॥१॥

जातः इत्यत्र. **ध्यानरूपेति**. ध्यानेन रूप्यते निरूप्यते तद् ध्यानरूपं, ध्यानास्पदम् इति यावत्, तादृशं यद् वैदिकं **कर्म तदधिष्ठातुः** भगवतो **रूपम् एकत्र** इति अर्थः. **दैत्योपद्रवेण** इति. दैत्योपद्रवेण या आर्तिः

---

१. ध्यानरूपकर्माधिष्ठानरूपमिति क-घ-ङ.

भगवदवतारत्वे नियामकं रूपम् आह **अजनयत् सुयमान्** इति. अन्यो हि जातः कियता कालेन भार्यया सम्बद्धः पुत्रान् जनयति ; सहि दक्षिणया भार्यया सहितएव जातः **सुयमान्** देवान् तन्मन्वन्तराधिकारिणो **अजनयत्**. **सुयज्ञः** इति नाम यस्य ; शोभनाः यज्ञाः यस्मात्. वराहो हि यज्ञरूपः, अयं देवतारूपः. **आकूतिः** इति मनोः ज्येष्ठकन्या. आकूतिः = बाह्यः प्रयत्नः ; यज्ञो हि तेनैव अभिव्यज्यते. **अमरान् अथ दक्षिणायाम्** इति. पूर्वं यज्ञभुजो देवान् सृष्ट्वा पुनः अधिकारिणोऽपि देवान् सृष्टवान् इति **अथ**शब्दाद् अवगम्यते. अथ[१] अमरान् देवान् सृष्टवान् स्वतएव, अथ दक्षिणायां बाह्यान् देवान् इति अर्थः. अवतारस्य प्रयोजनम् आह **लोकत्रयस्य** इति. **महती आर्तिः** वृष्टि-यज्ञ-कर्माभावेन, तत्त्रितयसम्पादनेन **अहरत्**. दैत्योपद्रवेण वा तद्धननेन. तस्मिन् मन्वन्तरे इन्द्राधिकारिणो अन्यस्य अभावात् स्वयमेव इन्द्रो जातः इति आह **स्वायम्भुवेन** इति. सहि स्वायम्भुवमनोः पुत्रिकापुत्रः एको हि ब्राह्मणरूपः क्षत्रियरूपोऽपि जातः. नहि भगवदवतारव्यतिरेकेण द्वयं भवति कश्चित्. अतएव **स्वायम्भुवेन** ब्रह्मपुत्रेण तन्मातामहेन **मनुना** पूर्वं यज्ञः इति उक्तोऽपि **अनु** पश्चाद् **हरिः इति** इन्द्रः इति **उक्तः**. नहि एको अधिकारद्वयं कर्तुं शक्तः. तस्माद् **यज्ञ**शब्दप्रयोगाद् **हरि**शब्दप्रयोगाच्च पुरुषद्वयरूपो भगवान् निरूपितः, अलौकिको हि यज्ञः सर्वलोकात्मको हरिः इति ॥२॥

प्रकाशः

च "तासां मे पौरुषी प्रिया" (भाग.पुरा. ११।७।२२) इति वाक्यं ज्ञापकं बोध्यम्. **द्वयम्** इति युगपद् द्वयम्. एतेन विश्वामित्रादिवैलक्षण्यं ज्ञापितम् ॥२॥

लेखः

तां वा दैत्यहननेन अहरद् इति अर्थः. **इन्द्राधिकारिणः** इति, इन्द्रत्वाधिकारिणः इति अर्थः. **एको हि** इति. एकएव अवतारो यज्ञत्वेन ब्राह्मणरूपोऽपि प्रजापालनरूप-क्षत्रियकार्यकरणात् क्षत्रियरूपो जातः इति अर्थः ॥२॥

---

१. अथेति नास्ति घ.

''वसन्तम्'' (भाग.पुरा. २।२।८) इति भगवद्ध्याने भगवद्विशेषणम् उक्तम्. तस्य स्वरूपं निर्धार्यते केवलवासलक्षणम्. नहि कश्चिदपि किञ्चिदपि अकृत्वा क्वचिदपि स्थातुं शक्नोति, ''न हि कश्चित् क्षणमपि'' (भग.गीता ३।५) इति वाक्यात्. अतः केवलस्थित्यर्थं स्वयं तथा स्थितः अन्यान् शिक्षयितुम् एकं साङ्ख्यलक्षणं शास्त्रं कृतवान्. तद् आह.

जज्ञे च कर्दमगृहे द्विज देवहूत्यां
स्त्रीभिः समं नवभिरात्मगतिं स्वमात्रे ।।
ऊचे ययाऽऽत्मशमलं गुणसङ्गपङ्कं[१]
तस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे ।।३।।

जज्ञे च कर्दमगृहे इति. केवलस्थितिनिरूपणार्थम् आविर्भूतो जातोऽपि यथा सर्वं कुर्वन्नपि न करोति इति बोधयिष्यति, तथा सर्वत्र जातोऽपि

प्रकाशः

जज्ञे च इत्यत्र. **अतः** इत्यादि. तथाच तादृशशास्त्रप्रणयनात् तस्य तदवतारत्वनिश्चयः इति अर्थः. **क्विप्प्रत्यये** इत्यत्र 'विच्प्रत्यये' इति

लेखः

जज्ञे च इत्यत्र. आभासे. **वसन्तम्** इति, ''प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्'' इत्यत्र इति अर्थः. **वासलक्षणम्** इति. वासो हृदयदेशादौ स्थितिः, तदेव लक्षणं=धर्मो यस्य तादृशं **केवलं** स्वरूपं निर्धार्यते इति अर्थः. तथाच अत्र स्थितिप्रयोजनं निर्धार्यते इति सम्पन्नम्. **इति वाक्याद्** इति. तथाच एतद्वाक्याद् जीवमात्रस्य इन्द्रियादि-व्यापारव्यतिरेकेण स्थित्यभावएव (यद्यपि!) सिद्ध्यति तथापि स्वेन्द्रियव्यापारं कुर्वन्नेव यथा विक्रिया न उत्पद्यते, केवला स्थितिश्च सङ्गच्छते तथा साङ्ख्यं प्रदर्शितवान् इति अर्थः. अतएव ''पश्यन् शृण्वन्'' (भग.गीता ५।८) इत्यादि ''लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिव अम्भसा'' (तत्रैव १०) इत्यन्तं वाक्यम् अनुसन्धेयम्. **तथा स्थितः** इति, साङ्ख्यम् अवलम्ब्य स्थितः इति अर्थः.

---

१. गुणसङ्गपङ्कम् अस्मिन् इत्यपि वैकल्पिकः पाठः - सम्पा.

न जातः इति ज्ञापनार्थं **जज्ञे च** इति उक्तम्. **कर्दमस्य गृहे** "छायायाः कर्दमो जज्ञे" (भाग.पुरा. ३।१२।२७) इति ब्रह्मणः छायातः उत्पन्नोऽपि अनुत्पन्नप्रायः इति तद्गृहे (**जज्ञे!**) जातः तथा प्रदर्शनार्थम्. किञ्च कर्दमस्य गृहं जलं भवति इति अतिशुद्धे उत्पत्तिः उक्ता, पुष्करपलाशवद् निर्लेपत्वज्ञापनार्थं वा. 'कृ'धातोः कर्त्रर्थे 'विच्'प्रत्यये[१] कृते गुणे लोपे च कृते **कर्** इति भवति. कृतिकर्ता भूत्वा यो **दमरूपः**. **दमस्तु** इन्द्रियसंयमः ; तेन करोति न करोति च इति तस्य स्वरूपमेव. तादृशे हि जातः साङ्ख्यप्रवर्तको भवति. **द्विज** इति सम्बोधनं तथात्वाभावाद् नारदस्य [२]अधिक्षेपबोधकम्. **देवहूत्यां** मनोः द्वितीयकन्यायाम्. देवानां हूतिः यस्याम् इति सर्वदेवतामयी सा निरूपिता. अनेन अतिसौन्दर्यं तस्याः निरूपितम्. **स्त्रीभिः समं नवभिः** इति. प्रकृतेः गुणत्रयाभिमानिन्यो[३] देवताः कर्तृत्वनिमित्तं सहैव आनीताः, स्वयम् अकर्ता ताः कर्त्र्यः इति. तासां भगिनीत्वख्यापनात् ताः यत्र सम्बध्यन्ते सएव कर्ता, नतु सर्वथा असम्बद्धः इति साङ्ख्यसिद्धान्ते नियमो द्योतितः. अवतारस्य प्रयोजनम् आह **आत्मगतिम्** (**ऊचे!**) इत्यादिना. यस्य[४] हृदयात् साङ्ख्यशास्त्रम् उत्पद्यते सएव हि तत्र मुख्यो

लेखः

व्याख्याने. **'जज्ञे च' इति उक्तम्** इति. इममेव विरुद्धं धर्मं बोधयितुं सावधारणार्थः **च**कारः उक्तः इति भावः. **तथा प्रदर्शनार्थम्** इति, जातोऽपि अजातएव इति प्रदर्शनार्थं तादृशधर्मविशिष्ट-कर्दमगृहे जातः इति अर्थः. **कर्दमस्य** इति, पङ्कस्य जलमूलकत्वाद् इति भावः. **अतिशुद्धे** इति, कर्दमस्य गृहे जलवद् अतिशुद्धता उक्ता इति अर्थः. **पुष्करे**ति. यथा वा पुष्करं कर्दमस्थले उत्पन्नमपि ततः निर्लेपः तथा इति अर्थः. **तथात्वाभावाद्** इति. द्विजत्वोक्त्या जन्मनो दृढीकरणे कपिलवद् अजातत्वस्य अभावसूचनाद् नारदस्य अवतारत्वेऽपि न्यूनता सूचिता इति भावः.

---

१. क्विप्प्रत्यये इति क-ग-ङ-प्रकाशे - सम्पा. २. अविक्षेप- इति क-ङ.

३. गुणाभिमानिन्य इति ख. ४. यस्य हीति क-ख-ग.

अधिकारी. [१]स्वोत्पादकत्व-बुद्धिनिवृत्त्यर्थं च **(आत्मगतिं!)** आत्मतत्त्वरूपं साङ्ख्यं **मात्रे (ऊचे!)** उक्तवान्. आसुरिरपि साङ्ख्यं पठितवान्, तथापि तस्य प्रचारकत्वेन उपयोगाद् न मुख्याधिकारित्वम्. इयन्तु मुख्याधिकारिणी, यतः तदैव **आत्मशमलं गुणसङ्गपङ्क**लक्षणं **तस्मिन्नेव** क्षणे[२] **विधूय (कपिलस्य गतिं प्रपेदे!)** यथा कपिलः तथैव जाता. अतः स्त्रीजातिमत्त्वेऽपि मातृत्वेऽपि आत्मोपदेशः. **आत्मनो गतिः** ज्ञानम्. **स्वमात्रे** इति उपदेशावश्यकता. भगवदवतारत्वाच्च न गुरुभ्यः उपदेशो दोषाय. इदं हि ज्ञानं नित्यसिद्धं किन्तु अन्तःकरणदोषाद् न भासते, अतो अन्तःकरणस्य **शमलं** मोहजनकं पापम्. **अस्मिन्नेव** उपदेशे वा **कपिलस्य गतिं** साङ्ख्यसिद्धान्त-सिद्धानुभवं **प्रपेदे** प्राप्तवती ॥३॥

एवं भगवतो निश्चलस्थितिरूपं कपिलं निरूप्य चतुर्भुजत्वं भगवतो निरूपयति.

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद् भगवान् स दत्तः ॥
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः ॥४॥

प्रकाशः

पाठः प्रतिभाति. **स्वोत्पादकबुद्धिनिवृत्त्यर्थम्** इति स्वस्याम् [३]उत्पादकत्वबुद्धि-निवृत्त्यर्थम्. **अतः** इति अधिकारोत्कर्षात्. पाठान्तरम् अभिप्रेत्य आहुः **अस्मिन्** इति ॥३॥

लेखः

स्वोत्पादकेति. ... . **अस्मिन्नेव उपदेशे वा** इति, अस्मिन्नेव जन्मनि उपदेशे वा इति अर्थः ॥३॥

अत्रेः इत्यत्र. आभासे. **चतुर्भुजत्वम्** इति. ''केचित् स्वदेह-'' (भाग.पुरा. २।२।८) इति श्लोके भगवतः चत्वारो ये भुजाः उक्ताः

---

१. स उत्पादकेति क. स्वोत्पादकबुद्धि- इति प्रकाशे -सम्पा. २. लक्षण इति घ-ङ. ३. उत्पादकबुद्धि- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् -सम्पा.

अत्रेः इति. न विद्यन्ते त्रयो यस्य. पुत्रत्रयम् अवश्यभाव्यं ; तदभावाद्[१] भगवत्प्रार्थना. अथवा (अ-त्रिः = !) भार्या स्वयञ्च ; पुत्राभावाद् अत्रित्वम्. तस्य हि पुत्रत्रयसहिते स्वस्मिन् सम्पन्ने चतुर्भुजत्वं भवति, चतस्रः क्रियाशक्तयो भवन्ति उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः तपश्च इति.

योगस्तपश्च वंशश्च भगवद्भक्तिरेव च ॥
एताः क्रियाश्चतस्रो हि भगवद्बाहुषु स्थिताः ॥(५)॥
अथवा [२]दातृदेयत्वमात्मनो बोधयत्यसौ ॥
अतः आत्मप्रदः कृष्णश्चतुर्भुज इतीरितः ॥(६)॥

प्रकाशः

अत्रेः इत्यत्र. पुत्रत्रयस्य अवश्यभाव्यत्वेऽपि त्रितयाकाङ्क्षायाः अत्र चतुर्थस्कन्धे च अस्फुटत्वात् न अत्र बहुव्रीहिः युक्तइति अरुच्या नञ्समासेन व्याख्यानान्तरम् आहुः **अथवा** इति. **तस्य** इति भगवतः. **स्वस्मिन्** इति अत्रौ. अयञ्च न सङ्ख्यामात्रस्य अवतारः किन्तु तत्सहितानां बाहूनाम् इति ज्ञापनम् आहुः **चतस्रः** इत्यादि. ब्रह्म-विष्णु-शिवांशैः अवताराद् अत्रेः तपःपरत्वाच्च तथा इति अर्थः.

अवतारेषु एता न स्फुटेति अरुच्या पक्षान्तरं कारिकया आहुः **योगः** इत्यादि. तपो दुर्वाससि, भगवद्भक्तिः अत्रौ. ननु सोम-दुर्वाससोः अत्रेश्च परम्परितत्वाद् भगवदवतारत्वाऽप्रसिद्धेश्च न इदमपि युक्तम् इति अरुच्या कारिकान्तरेण मुख्यं पक्षम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **बोधयति** इति चतुर्भिः भुजैः बोधयति. **अतः** इति अवस्थाद्वयभेदेन तथात्वात्. तथाच क्रियाशक्तयो न अत्र प्रधानाः किन्तु स्वरूपधर्मस्यैव प्राधान्यं ; तेनैव [३]तत्र तदवतारत्वव्युत्पत्तिः इति अर्थः (५-६).

लेखः

तद्रूपत्वम् इति अर्थः. व्याख्याने. **पुत्रत्रयम्** इति. तदुक्तं तुरीये ''सोमो अभूद् ब्रह्मणो अंशेन दत्तो विष्णोस्तु योगविद्, दुर्वासाः शङ्करस्य अंशः''

---

१. तद्भावादिति क-ग. २. मातृदेयत्वमिति ख. ३. तत्तदवतारत्वव्युत्पत्तिः इति मा.पाठे. तत्र तदवतारव्युत्पत्तिः इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु कि.पाठानुरोधात् - सम्पा.

तद् आह **अपत्यम् अभिकाङ्क्षतः**. अपगतिं त्याजयति इति **अपत्यं** दुर्गतिनिवारकम्. तत्र [१]पुत्रान्तरेण तेन वा पितृलोकप्रापणे परमार्थतो दुर्गतिरेव भवति. अतो भगवान् एवं विचारितवान्— ''अयम् अपत्यं वाञ्छति, तस्य अपत्यार्थसिद्ध्यर्थम् अहम् आत्मानमेव दास्यामि ; न अन्यथा अपत्यत्वसिद्धिः''. **अभितः काङ्क्षणम्** एकेनैव अभ्युदय-निःश्रेयसोभय-जननाय. अतएव स्वयमेव **आह अत्रेः तुष्टः** सन्. भगवतो **दत्त**नामनिरुक्तिः न दत्तः[२] पुत्रत्वेन किन्तु आत्मप्रदत्वेन इति. तद् आह **दत्तो मया अहम् इति**. मया अहमेव दत्तः. एकस्य कर्म-कर्तृभावो न भगवद्व्यतिरिक्तस्य भवति. (ननु!) धर्मशास्त्रे अदेयत्वेन आत्मादयो गणिताः, ''धर्मदासो ज्येष्ठपुत्रो भार्या स्वात्मा तथैव च, सर्वस्वं गुरुवर्गश्च नैव देयमिति स्थितिः'' (. । ।) इति वाक्याद्, अतः कथं भगवान् आत्मानं दत्तवान् इति आशङ्क्य आह **यद् भगवान्** इति, यस्माद् अयं भगवान्. जीवधर्माएव एते, भगवांस्तु आत्मप्रदः, अन्यथा भजनीयएव न स्यात्! अतएव **सः दत्तः** दत्तनामा जातः. 'दत्तात्रेयः' इति पितृनाम्ना सह नाम. अवतारप्रयोजनम् आह **यत्पादपङ्कज-** इति. पूर्ववत् **पादपङ्कजपराग**-संस्कृतानि[३] भगवदीयदेहजनकानि भूतानि, तैः

प्रकाशः

पूर्ववद् इत्यादि. तथाच यथा भगवान् अदेयमपि ददाति तथा संस्कृतभूतरूपं तच्च रजः साधनाभावेऽपि देहं पवित्रयतीति तथा इति अर्थः. अणिमादीनां योगर्द्धित्वाङ्गीकारे तस्याः क्रममुक्तावेव सत्त्वेन **उभयी**

लेखः

(भाग.पुरा. ४।१।३३) इति. **तत्र पुत्रान्तरे** इति. **पुत्रान्तरे** सति **तेन** पुत्रेण **पितृलोकप्रापणे वा** सत्यपि पुनः संसार-तादवस्थ्याद् **दुर्गतिरेव** इति अर्थः. **स्वयमेव** इति. **अत्रेः तुष्टः सन् ''मया अहमेव दत्तः''** इति स्वयमेव आह इति अर्थः. **पूर्ववद्** इति. ... . **यदुगुरुः** इति.

---

१. पुत्रान्तरे इति क-ग-ङ-लेखे -सम्पा. २. दत्तपुत्रत्वेनेति घ-ङ.

३. परागः संस्कृतानीति क-ख-ङ.

(पवित्रदेहाः!) शुद्धो देहो येषाम्. अतएव **उभयीं योगर्द्धिम् आपुः** सद्योमुक्ति-क्रममुक्तिरूपाम् – अणिमादयस्तु क्रममुक्तावेव – ज्ञान-भक्तिरूपां वा. **यदुगुरुः** अवधूतो अयम्. **हैहयः** सहस्रार्जुनः, सहि यादवः. तेन हि ऐहिकी सिद्धिः सहस्रबाहुरूपा प्राप्ता, मोक्षश्च. एतेषां पुष्टिमार्गनिष्ठत्वाद् न मर्यादाविरोधो दोषाय. **आदिशब्देन** प्रह्लादादयः. अतो भगवद्बाहूनां सङ्ख्यायाम् एवंरूपत्वम् इति उक्तम् ।।४।।

"कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरम्" (भाग.पुरा. २।२।८) इत्यस्य विशेषणस्य स्वरूपम् आह.

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे
आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत् ।।
प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं
सम्यग्जगाद मुनयो यदचक्षताऽऽत्मन् ।।५।।

तप्तम् इति. एते हि सनकादयः चत्वारो भगवदायुधरूपाः. ते[१] हि

प्रकाशः

इति विशेषणं न सामञ्जस्येन युज्यतइति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **ज्ञान-भक्तिरूपां वा** इति. तथाच उभयत्र **योगपदप्रयोगाद्** एतदेव युक्तम् इति अर्थः. **मर्यादाविरोधः** इति. पितृनिदेशाऽग्रहण-हविर्धानीग्रहणकृतः सः इति अर्थः ।।४।।

तप्तम् इत्यत्र. **ते** इति कञ्जादयो अर्थाः. **मुख्यतत्त्वम्** इति

लेखः

एकादशे अवधूतप्रसङ्गो द्रष्टव्यः. **एतेषाम्** इति यदु-सहस्रार्जुनादीनाम्. **मर्यादाविरोधः** इति, पित्राज्ञाद्युल्लङ्घन-हविर्धानीहरणादिना सः ।।४।।

ते हि इति, चत्वारः आयुधविशेषाः हि इति अर्थः. **मुख्यतत्त्वम्** इति. "ओजः सहो बलयुतं मुख्यं तत्त्वं गदां दधद्" (भाग.पुरा. १२।११।१४) इति वाक्याद् इति भावः. **कार्यतत्त्वम्** इति. "धर्मज्ञानादिभिः युक्तं सत्वं परम् इह उच्यते" (तत्रैव १३) इति वचनाद् धर्मादिकार्यजातविशिष्टं

१. तर्हि यद्यपीति ख.

यद्यपि तत्त्वरूपाः – मुख्यतत्त्वं गदा, अपां तत्त्वं शङ्खः, तेजस्तत्त्वं सुदर्शनः[१], कार्यतत्त्वं पद्मम् इति तेजोऽबन्नानि प्राणाश्च इति उक्तं भवति ; तेषां स्वरूपेणैव तत्त्वता – (तथापि!) कार्यवत्त्वेन[२] यद् रूपं तद् इह उच्यते. न केवलं तत्त्वमात्रेण कार्याऽऽवेशरहितेन आयुधभावः सम्पद्यते. ते हि येन तथा भवन्ति तद् उच्यते. ''तपो मे हृदयं साक्षाद्'' (भाग.पुरा. २।९।२२) इति वाक्याद् भगवतः साधनं तपएव. तद्धि क्रियया व्यापृतम् इति हस्तैः पद्मादिधारणम्. तपसोऽपि[३] वैलक्षण्यम् आह (मे!) मया पूर्वं (**विविधलोकसिसृक्षया!**) चतुर्विधभूतनिकाय-सृष्ट्यर्थं **तप्तं तपः आदौ** सृष्टेः पूर्वम्. ततोऽपि न किञ्चिद् जातं यदा तदा तत् तपो भगवते दत्तं समर्पितम्. तस्य **तपसः सनात्** दानात् ; ''षणु[४] दाने'' (पाणि.धा.पा. तनादि १४८९). अतो दानाद्

प्रकाशः

आसन्यतत्त्वम्. **तथा भवन्ति** इति कार्याविष्टाः भवन्ति. ननु प्रथमस्कन्धे एतेषां भगवदवतारत्वम् उक्तमिति आयुधावतारत्वं कथं युज्यते इत्यतः

लेखः

भुवनात्मकत्वात् कमलस्य इति तथा इति अर्थः. **तेषाम्** इति, आयुधानाम् इति अर्थः. **इह** इति, सनकाद्यवतार-वर्णनकाले इति अर्थः. अस्यैव प्रपञ्चः **न केवलम्** इत्यादि. **आयुधभावः** इति, सनकादीनाम् आयुधत्वम् इति अर्थः. **ते हि** इति, आयुधभावम् आपन्नाः सनकादयः इति अर्थः. **तथा भवन्ति** इति, कार्यावेशं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. **भगवतः** कार्यकरणे **साधनम्** इति अर्थः. **तद्धि** इति. तपो हि क्रियाव्यापृतमेव साधनतां भजते इति सनकादीनां तपःप्रधानकत्वेऽपि क्रियाशक्तिप्रधान-भुजाधिष्ठितायुधरूपत्वम् उच्यते इति भावः. अवतारस्य चतुष्टयत्वे गमकम् आहुः **मया पूर्वं चतुर्विधेति**. एतेषाम् आयुधावतारत्वेन सूचितम् अर्थम्

१. सुदर्शनम् इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु खपाठानुरोधात् - सम्पा.

२. कार्यत्वेनेति ख. कार्यत इति ग. ३. तपसो वैलक्षण्यमिति ख. तपस्तोपि ग.

४. षन दान इति क. षण् दान इति ख-ग.

हेतोः **सः** भगवानेव **चतुःसनो (अभूत्!)** जातः सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमाररूपेण. आवेशपक्षेऽपि एतद् उपपद्यते, मूर्तिचतुष्टये एकएव भगवान् आविष्टः इति. अवतारप्रयोजनम् आह **प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टम्** इति.

यज्ञः साङ्ख्यञ्च योगश्च ज्ञानं त्वत्र निरूप्यते ॥

पूर्वकल्पे **(आत्मतत्त्वं!)** आत्मज्ञानस्य **सम्प्लवो**[१] नाशो जातः, तत् पुनः **इह** अस्मिन् कल्पे **सम्यग् जगाद** अनुभवपर्यन्तं यथा भवति येनैव सनकाद्युक्तेन. **मुनयो** मननशीलाः श्रौतप्रकारेण मननमपि कुर्वाणाः न तेन मार्गेण आत्मानं दृष्टवन्तः, किन्तु सनकोक्तमार्गेण **(यद्!)** यस्माद् **आत्मानमेव अचक्षत** दृष्टवन्तः. **आत्मन्** इति द्वितीयायाः लोपः. सप्तम्याः वा, तदा स्वात्मनि भगवन्तं दृष्टवन्तः इति अर्थः. साधारणाः भक्तिमार्गाधिकारिणो "ये ये हताः चक्रधरेण राजन्" (. । ।) इति न्यायेन अनेन मार्गेण मुक्ताः भवन्ति इति उक्तं भवति. ते हि

प्रकाशः

आहुः **आवेशेत्यादि**. **एतद्** इति आयुधरूपत्वम्. तथाच आयुधेषु धरणस्य उद्देशे बोधितत्वाद् धरणार्थम् आवेशस्य अपेक्षितत्वात् तस्मिन्नपि पक्षे आयुधावतारत्वम् उपपद्यते इति अर्थः. **यज्ञः साङ्ख्यञ्च योगश्च** इति. पूर्वश्लोकचतुष्टये एतत्त्रयम् उक्तम् इति शेषः. **पूर्वकल्पे आत्मज्ञानस्य** इति पूर्वकल्पीयात्मज्ञानस्य. मूलस्थ-**यत्**पदस्य अर्थम् आहुः **यस्माद्** इति. ननु अत्र सनकाद्युक्तमार्गेण स्वात्मदर्शनं स्वस्मिन् भगवद्दर्शनं वा अवतारकार्यत्वेन उक्तं, नतु शत्रुहननादिकं, तथा सति आयुधावतारत्वं कथम् अवगन्तुं शक्यते इत्यतः आहुः **साधारणाः** इत्यादि. तथाच देहत्याजनेन मुक्तिसम्प्रापणात् तथात्वम् इति अर्थः. ननु आयुधानि शत्रून् तथा सम्पादयन्ति, एते तु भक्तानिति कथं तथात्वम् अतः आहुः **ते हि** इत्यादि. तथाच

लेखः

आहुः **साधारणाः** इत्यादि. **ते हि** इति, ये भगवदायुधैः वध्याः ते इति अर्थः. **स्मरणार्थोऽपि** इति. ... ॥५॥

१. सम्प्लवे इति क-घ.

पूर्वमपि भगवद्वैकुण्ठस्थितियोग्याः तस्मात् प्रच्युताइति पुनः तत्र नयनम्. अनेन [१]स्मरणार्थोऽपि कथितः ॥५॥

''प्रसन्नवक्त्रम्'' (भाग.पुरा. २।२।९) इति भगवद्धर्मम् उत्पत्त्या निरूपयति **धर्मस्य** इति द्वाभ्यां प्रसाद-वक्त्रधर्मभेदात्. कीदृशो हि भगवत्प्रसादः, कीदृशं वक्त्रम् इति तद् उभयम् अत्र ज्ञातं भविष्यति.

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर इति स्वतपःप्रभावः ॥
दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो नियमावलोपं
देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः ॥६॥

भगवतः प्रसादो मुखञ्च धर्मएव प्रकटीभवति. तत्रापि पितुः अंशः प्रसादो, यज्ञांशो मुखम्. तद् आह **धर्मस्य दक्षदुहितरि मूर्तिनाम्न्याम्**

प्रकाशः

बुद्धिप्रकारभेदेऽपि साधारणानाञ्च शत्रूणाञ्च स्थानप्रच्युतत्वरूपात् सामान्यात् तेषां तथात्वसम्पादने यष्ट्यादिवद् आयुधत्वं सुघटमेव इति अर्थः. **स्मरणार्थः** इति, **मुनि**पदोक्तं तन्मार्गीय-स्मरणस्वरूपम् ॥५॥

धर्मस्य इत्यत्र. **प्रसादवक्त्रधर्मभेदाद्** इति, प्रसादस्य वक्त्रस्य च यो धर्मः तद्भेदात्. **यज्ञांशो मुखम्** इति, भोजनक्रियारूपत्वाद् यज्ञस्य

लेखः

धर्मस्य इत्यत्र. **प्रसादेति**. प्रसादधर्मो वक्तृधर्मश्च इति भेदाद् द्वयम् इति अर्थः. **धर्मएव** इति. यज्ञात्मा भगवत्प्रसादश्च धर्मे सत्येव प्रकटीभवतीति धर्मतएव नर-नारायणोत्पत्तिः उक्ता इति अर्थः. **तत्रापि** इति, अंशद्वयमध्येऽपि इति अर्थः. **पितुः** इति. धर्मो हि नर-नारायणपिता. तस्मिन् च सत्येव प्रसादो भवति इति अवतारे यः पितुः अंशः तेन भगवत्प्रसादरूपो अंशः उक्तो भवति इति अर्थः. अतएव **धर्मस्य** पत्न्यां **मूर्त्याम्** अवतीर्णः इति पितृनिर्देशपूर्वकत्वम् उक्तम् इति भावः. **यज्ञांशः** इति. दक्षो हि यज्ञप्रधानः ; तद्दुहितरि उत्पन्नत्वेन भगवन्मुखरूपो यज्ञांशः उक्तो भवति

१. ''स्मरन्ति'' (भाग.पुरा. २।२।८) इत्यस्य अर्थः - सम्पा.

(अजनिष्टः!) अवतीर्णः इति. दक्षो हि यज्ञे, तत्र हि या क्रियाशक्तिः श्रद्धादिभ्यो अतिरिक्ता साक्षाद् मूर्तिभूता सा **मूर्तिः**. तत्र तस्य रूपद्वयम् आह **नारायणो नरः** इति. "आपो नारा" (मनुस्मृ. १।१०) इति व्युत्पत्त्या **(नारायणः!)** भगवन्मुखं जले प्रतिष्ठितं, **नरः** इति सूत्रात्मा [१]जलपिता. एकस्यैव नामद्वयं जलाधारत्वेन जलजनकत्वेन च. मुखञ्च तद्विधम्[२] अतो जलाधारत्वेन सर्वरसग्रहणं, सूत्रत्वेन च वाग्व्यवहारः. एवम् उभयात्मकं वक्त्रं नर-नारायणरूपेण प्रकटं जातम्. वक्त्रस्य एवं प्रकटने यो गुणः तम् आह **स्वतपःप्रभावः** इति. तपो हि वक्त्रस्यैव तपः इति, "तपो नाऽनशनात् परम्" (महाना.उप. २१।१) इति श्रुतेः. अतो अवयवान्तरेण कृतं तपो न उत्कृष्टं भवति. वाक्कृतम् अनशनकृतञ्च

प्रकाशः

तद्विशेषांशो मुखम् इति अर्थः. यज्ञांशत्वं व्युत्पादयन्ति **दक्षः** इत्यादि. **तत्र** इति मूर्त्याम्. तथाच एतदर्थमेव पदद्वयम्, अन्यथा **दक्षदुहितरि** इति न वदेद् इति अर्थः. **तद्विधम्** इति, जलाधारं जलजनकञ्च. **सूत्रत्वेन वाग्व्यवहारः** इति. "स एष जीवो विवरप्रसूतिः" (भाग.पुरा. ११।१२।१७) इति एकादशस्कन्धे वाग्व्यवहारस्य तत्कार्यत्वेन उक्तत्वात् तथा इति अर्थः. **तपो हि** इति. तापजनकाऽऽन्तरक्रियात्मकं, पूर्वश्लोके

लेखः

इति अर्थः. अतएव दक्षनिर्देशपूर्वकोक्तिरपि इति भावः. यज्ञद्वारैव भगवता पदार्थभोगात् तस्य मुखत्वम् अतिरोहितमेव. तदेतद् उपपादयन्ति **दक्षो हि** इति. **यज्ञे** इत्यस्य अनन्तरं 'प्रतिष्ठितः' इति शेषो ज्ञेयः. **श्रद्धादिभ्यः** इति. श्रद्धादयो हि दक्षदुहितरः, ताभ्यो अतिरिक्ता इति अर्थः. **जले प्रतिष्ठितम्** इति. 'नारा अयनं यस्य' इति व्युत्पत्त्या तथा इति भावः. **सूत्रात्मा जलपिता** इति. ... . **जलाधारत्वेन** इति, जलाधारकत्वेन इति अर्थः. **वाक्कृतम्** इति, सत्यत्वादिरूपं तद् इति अर्थः. **तत्संसर्गी**

१. जीवः इति मुद्रितपाठे अत्र अधिकम् प्रामादिकः प्रतिभाति - सम्पा.

२. तद्विविधं चेति ख.

तपः तस्य वक्त्रस्य **(प्रभावः!)** अनुभावो यत्र. एको गुणः तपः, द्वितीयः तत्संसर्गी [१]अनुभावः. सच सहजदोषाभावरूपः. तपसो हि सहभावी औत्पत्तिको दोषः क्रोधः ; तस्य अत्यन्ताभावसाहित्यं तपसो अनुभावः. सकामत्वं बाह्यो दोषः ; तदभावस्तु गुणएव, नतु अनुभावः. तत्र हि प्रसादो दोषकर्तृषु वरदानं, तद् एकादशस्कन्धे विस्तरेण वक्ष्यते ; इह दोषाभावमात्रम् आह. तत्र प्रथमं बाह्यदोषाभावं वदति **दृष्ट्वा आत्मनः** इति. अयं हि भगवान् आत्मा. नहि स्वस्य स्वदर्शने कामो भवति. अतः **आत्मनएव भगवतः** सकाशाद् **नियमस्य** स्वसहजधर्मस्य **अवलोपं दृष्ट्वा**. विपरीततया नाशो **अवलोपः**. आत्मनः सकाशादेव सहजबन्धकान्यपि

प्रकाशः

तु आलोचनात्मकम् उक्तम् इति भेदः. अनुभावद्वितीयत्वं गुणविजातीयत्वेन इति ज्ञापनाय आहुः **स च** इत्यादि. **गुणएव** इति. अनशनवद् बाह्यदोषाभावरूपत्वाद् निष्कामत्वमपि तपोरूपमेव इति तपः-प्रभावाभ्यां धर्माभ्यां तयोः मुखत्वनिश्चयः इति अर्थः. **तत्र** इति मुखरूपे नारायणे. दोषाभावे प्रयोजकं स्फुटीकुर्वन्ति **अयम्** इत्यादि. एवञ्च **दृष्ट्वा** दर्शनेन **(आत्मनः!)** आत्मरूपस्य **भगवतो नियमावलोपं घटितुं न शेकुः** इति मूलयोजना. भगवत्त्वादेव आत्मत्वस्य अर्थसिद्धत्वाद् **आत्म**पदस्य स्वार्थकत्वम् अभिप्रेत्य तत्सिद्धं प्रयोजनान्तरम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** इति भगवतो विविक्तदृष्टित्वात्. **स्वसहजधर्मस्य** इति इतरमोहकत्व-रूपस्य. **विपरीततया**

लेखः

इति, तपःसंसर्गाद् जातः इति अर्थः. ननु नर-नारायणे क्रोधजयवत् कामजयस्यापि सत्त्वात् सएव प्रभावः कुतो न स्याद्? अतः आहुः **सकामत्वम्** इत्यादि. अंशद्वये प्रसादांशं दर्शयन्ति **तत्र हि** इति. **एकादशेति**. ... . **अतः आत्मनएव** इति. अप्सरसो हि भगवतः सकाशाद् आत्मनो नियमस्य तपआदि-त्याजनरूपस्य अवलोपं दृष्ट्वापि इति अर्थः. विपरीतनाशमेव प्रपञ्चयन्ति **आत्मनः** इत्यादि. सहजबन्धकान्यपि कामादीनि भगवत्सम्बन्धं

---

१. संसर्ग्यननुभाव इति ख.

कर्माणि मोक्षप्रदानि भवन्ति, तथापि एताः अप्सरसो भगवत्सान्निध्यात् स्वात्मन्येव चरितदोषाः मोहिताः[१] क्रुद्धाश्च जाताः, अतः एतासां सङ्कल्पो नष्टः. ननु एताः अप्रयोजकाः किन्तु **देव्यः** देवतारूपाअपि एताः व्रतत्यागिन्यो जाताः, दूरे एतासाम् उपासनया व्रतसिद्धिः! एतासां क्रियाशक्तिम् आह **अनङ्गपृतना** इति. तुशब्देन स्त्रियो अबलाः अप्रयोजकाः इति पक्षो निराकृतः. अङ्गरहितस्य **पृतनाः** सेनाः ; न[२] तस्य शरीरनाशाद् बिभ्यति,

---

प्रकाशः

नाशः इति. उक्तस्य धर्मस्य स्वमोहकत्वं विपरीतता ; तथात्वापत्त्या पुनः पूर्ववद् दर्शनाभावो नाशः. तथाच तेन कृत्वा पुनः संस्रष्टुं न शेकुः इति अर्थः. ननु भगवतः आत्मत्वाद् अस्तु नियमाऽनवलोपः, परम् एतासां स्वनियमलोपे को हेतुः इत्यतः आहुः **आत्मनः** इत्यादि. **तथापि एताः** इति, तथा एताअपि इति योजना. तथाच अत्रापि सएव हेतुः इति अर्थः. **व्रतत्यागिन्यः** इति सत्यवाक्त्वरूप-देवव्रतत्यागिन्यः. इन्द्रसन्निधौ "कार्यं वा साधयिष्यामः, शरीरं वा पातयिष्यामः" इत्युक्त्वा आगताः तद् न कृतवत्यः इति अर्थः. तथाच आत्मसन्निधानेन स्वभावपरावर्तनाद् व्रतत्यागरूपाद् दोषाच्च एतासां गीतरूप-भगवदुपासनयापि व्रतसिद्ध्यभावाद्

लेखः

प्राप्य मोक्षदानि भवन्ति. तथाच एतासां तदेव मोक्षो ; लौकिकावेशाद् इन्द्रनिर्देशमात्रेण प्रवृत्ताः भगवद्भावं न प्राप्तवत्यो अपितु **भगवत्सान्निध्यात् स्वात्मन्येव चरितः** सम्पादितो **दोषो** उपाधिः तादृशाः **मोहिताः क्रुद्धाश्च जाताः** इति. **दूरे** इति. तथाच एवं भगवत्मायामोहिताः व्रतत्यागार्थमेव प्रवृत्ताः इति **एतासाम् उपासनया व्रतसिद्धिः दूरे** इति अर्थः. यद् वा देवानां व्रतं सत्यसङ्कल्पत्वम्. एताश्च "वयं कार्यं साधयामः, देहं वा पातयामः" इति इन्द्राय प्रतिश्रुत्य समागताअपि न किमपि कृतवत्यइति तथा इति ॥६॥

---

१. मोहिकाः इति मुद्रितपाठः. लेखे तु एवम् - सम्पा.

२. न त्वस्येति ख. न स्वशरीर- इति ग.

अमूर्तप्रकारेण च घातयन्ति. [१]तादृश्योऽपि **(घटितुं!)** सम्बन्धपात्रमपि[२] प्राप्तुं **न शेकुः** स्त्रीकृतो भगवति न कोऽपि क्षोभो जातः इति अर्थः ॥६॥

एवं बाह्यदोषं परिहृत्य आन्तरिकं[३] दोषं कैमुतिकन्यायेन निराकरोति.

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तम् उत ते न दहन्त्यसह्यम् ॥
सोऽयं यदन्तरमलं [४]निविशन् बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत ॥७॥

कामं दहन्ति इति. एताः स्त्रियो "देहं वा पातयामः, कार्यं वा साधयामः" इति समागताः. आद्ये अनङ्गपृतनात्वं सेत्स्यति, द्वितीये पृतनात्वम् इति. तद् उभयमपि न जातम्. तत्र आश्चर्ये जाते ब्रह्मा स्वयं समाधत्ते. मया एवं ज्ञायते— कामादीनां जेतारो न अन्ये किन्तु कामादयएव. तत्र यथा यथा तेषु कनिष्ठाः तथा तथा पूर्वजेतारः. अतएव ये **कामं दहन्ति** ते **रोषदृष्ट्या दहन्ति.** [५]रोषेणैव तु कामो दह्यते नतु तैः.

प्रकाशः

तल्लोपः इति वा. **तादृशाः** इति "वष्टिभागुरिरल्लोपम्" (सिद्धा.कौमु.अव्य.प्र. ६११) इति वैकल्पिकः आप्. तादृश्योऽपि भगवतः स्त्रीत्वेनापि न भाताः इति अर्थः ॥६॥

कामम् इत्यत्र. **आन्तरिकदोषम्** इति. आन्तरं मनः तदीयं दोषम्. **तैः** इति. क्रोधपूर्वभाविभिः सङ्कल्पादिभिः कामेन वा क्रोधो न[६] दह्यते

लेखः

कामम् इत्यत्र. **आद्ये** इति. देहपातनपक्षे एतासाम् अङ्गराहित्ये सम्पन्ने अनङ्गसेनात्वं सेत्स्यति इति भावः. **पृतनात्वम्** इति, कामपृतनात्वम् इति अर्थः. **कनिष्ठाः** इति. "सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधो

१. तादृशाअपीति मुद्रितः प्रकाशकाराणां च पाठः. तादृश्येपीति ख-ग. प्रतिभाति तु एवम् - सम्पा. २. -मात्रमपि इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.
३. आन्तरिकशेषमिति क-घ. आन्तरिकदोषम् इति प्रकाशे - सम्पा. ४. प्रविशन् ख.
५. रोषेण त्विति ख. ६. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

कृतिनः इति साभिप्रायं वचनम्. कामस्य स्थानम् अदत्वा क्रोधस्य हि स्थानं दत्तवन्तः. **ननु** इति सम्बोधनं सम्मत्यर्थम्. रोषसहितया दृष्ट्या. कामस्तु हृदयं व्याप्नोति, क्रोधस्तु ज्ञानम्. अतो ज्ञाननाशे महती[1] क्षतिः इति तेषां न[2] कृतित्वम्. उभयोः परलोकनाशकत्वे तुल्येऽपि क्रोधस्तु आत्मानं दहति. अतो दाहकं **न दहन्ति,** अदाहकं दहन्ति इति अतिभ्रान्ताः ते. दाहोऽपि न स्वल्पः. **सः** कामविजयी क्रोधो **यस्य अन्तरं निविशन् बिभेति** ''अहमपि कामवद् अशरीरो भविष्यामि'' इति. तत्र **कामः कथं (मनः!)** तस्य हृदयं **श्रयेत!** क्रोधस्तु मलयुक्ते प्रविशति, भगवतस्तु **अन्तरमलम्**[3], अतएव **निविशन् बिभेति** ''सहि मल्लक्षणमपि मलं नाशयिष्यति'' इति. अनेन काम-क्रोधकृताः पदार्थाः न भगवन्मुखं प्रविशन्ति, न प्रसादहेतवो भवन्ति इति निरूपितम्. किं बहुना, यावान् अर्थो नर-नारायणयोः तावान् मुख-प्रसादयोः इति ज्ञातव्यम् ॥७॥

एवं प्रसन्नवक्त्रे[4] निरूप्य नलिनायतेक्षणे[5] निरूपयति.

विद्ध सपत्न्युदितपत्त्रिभिरन्ति राज्ञो
बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि ॥

प्रकाशः

इति अर्थः. **न स्वल्पः** इति, किन्तु तच्छरीरनाशकः. **अलम्**पदस्य अर्थम् आहुः **अहम्** इत्यादि. प्रकारान्तरेण व्याकुर्वते **क्रोधस्तु** इत्यादि. तयोः तदवतारत्व-गमकम् आहुः **अनेन** इत्यादि. तथाच एवं तयोः प्रसादावतारत्व-निश्चयः इति अर्थः ॥७॥

लेखः

अभिजायते'' (भग.गीता २।६२) इति सन्दर्भे क्रोधादीनां तत्तदुत्तरभाविनां तत्तत्पूर्वजेतृत्वम्, अतएव क्रोधदृष्ट्या कामं दहन्ति इति अर्थः. **साभिप्रायम्** इति, विपरीतलक्षणया वस्तुतो अकृतित्वाभिप्रायज्ञापकं वचनम् इति अर्थः. **दाहोऽपि** इति. क्रोधेन आत्मदाहो न स्वल्पः, अतएव असह्यत्वं निरूपितम्

---

१. महाक्षतिरिति ख. २. न नास्ति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

३. -स्त्वन्तरममलमिति ख-ग. ४. वक्त्रमिति ख-ग.

५. -यतेक्षणमिति ख-ग.

तस्मा अदाद् ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो
दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात् ॥८॥

विद्धः इति. नलिनवद् आयते ईक्षणे यस्य इति सदृष्टान्तं दीर्घत्वं, नेत्रे च निरूपणीये. तत्र वैकुण्ठस्थितो भगवान् नेत्रं, तस्य दीर्घता ज्योतिश्चक्रं ; सहि तत्र स्थितः सर्वान् पश्यति. तस्य हि नलिनवद् आयतत्वं विचारणीयम्. तद्धि विकसितमेव आयतं भवति. तत्र विकासः तपसइव[१]— यथा जलस्थितमेव कमलं सूर्येण विकासम् एति तथा उत्तमाधिकारिणि वनएव

प्रकाशः

विद्ध इत्यत्र. तदवताररूपतां व्युत्पादयन्ति **सहि** इत्यादि. **सहि तत्र स्थितः** इति वैकुण्ठवासी ज्योतिश्चक्रे स्थितः. **तपस इव** इति. यथा तपसो विकासः उपभोगजनकः तथा इति अर्थः. **विकाशयति** इति.

लेखः

इति भावः ॥७॥

वैकुण्ठस्थितो भगवान् इति, ध्रुवलोकस्थितो भगवान् ध्रुवाविष्टो **नेत्रम्** इति अर्थः. ध्रुवलोकस्य वैकुण्ठत्वं भगवत्स्थानत्वात्. चतुर्थे तदुक्तं— ''ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम्, उपरिष्टाद् ऋषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः'' (भाग.पुरा. ४।९।२५) इति, ''यद् ध्रुवगतिः विष्णोः पदम् अथ अभ्यगाद्'' (भाग.पुरा. ४।१२।३५) इति च. अतएव सर्वनिर्णये ''कृत्रिमं च ध्रुवस्थानं श्वेतद्वीपं तथैव च'' (त.दी.नि. २।१३३) इति वैकुण्ठगणनायां ध्रुवलोकोऽपि उक्तः. **तस्य दीर्घता** इति. ज्योतिश्चक्रं व्याप्य स्थितत्वात् तथा इति भावः. **सहि तत्र स्थितः** इति, ध्रुवस्थानवासि-ज्योतिश्चक्रस्थः इति अर्थः. **तस्य हि** इति. ज्योतिश्चक्रस्थस्य भगवतः सर्वदर्शित्वेन नेत्रत्वे सिद्धेऽपि शिष्टं विचारणीयम् इति अर्थः. **तद्धि** इति नेत्रं हि. **तपसएव** इति, तपसः सकाशादेव भवति. अतएव मूलसाधनत्वेन तपसो उक्तिः इति भावः. **उत्तमाधिकारिणि वनएव** इति. उत्तमाधिकारो यत्र सिद्ध्यति तादृशे वने सर्वगुणाढ्य-मधुवनादावेव स्थितं भगवन्नेत्रं तथा इति अर्थः. अतो मूले **वन**पदोक्तिः इति भावः. **तदा**

१. तपस एवेति ख-ग-लेखे - सम्पा.

स्थितं भगवन्नेत्रं विकाशयति[१]. तदा हि सः पश्यति इति अर्थः. तत्रापि भगवदिच्छया तथाभूतं सकाममेव बहिः पश्यति. कामोऽपि क्लेशकृतः चेत् तपोऽपि जगत्प्रकाशकं चेत् तदा एवंरूपता इति ध्रुवकथा निरूप्यते. **सपत्न्युदितपत्त्रिभिः** इति [२]तत्र असह्यवेदना निरूपिता. मातुः सपत्नी, तया राज्ञः समीपे वाग्लक्षणाः बाणाः प्रयुक्ताः "न वत्स नृपतेः धिष्ण्यम्" (भाग.पुरा. ४।८।११) इत्यादयः. तैः च अयं **विद्धः**. मर्मभेदिनो हि बाणाः विध्यन्ति, **पत्त्रि**पदाच्च अप्रतीकाराः उड्डीय विध्यन्ति इति बोधितम्. अनेन विवेकादिना[३] तस्य प्रतीकाराभावः उक्तः. बाह्योपायाभावम् आह **राज्ञः अन्ति** इति. अतः परं राजाऽपि न वक्तव्यः, वेधस्य तेनैव दृष्टत्वात्. अनेन दीनत्वम्[४] उक्तं ; इदं हि भगवद्दर्शने बीजम्. द्वितीयं बीजम् आह **बालः** इति. **तपसे** तपःकरणार्थं **वनानि उपगतः** इति अधिकारः. **वनानि** इति बहुवचनं "फलसिद्ध्यर्थं सर्वेष्वेव वनेषु तपः

प्रकाशः

नामधातुप्रयोगो अयं ; विकाशं करोति इति अर्थः. **तत्रापि भगवदिच्छया तथाभूतम्** इति, वनस्थितावपि तथा क्लिष्टं सकामम्. **एवंरूपता** इति

लेखः

हि इति. यदा पूर्वोक्तरीत्या विकासम् एति तदैव सः भगवान् पश्यति इति अर्थः. अतएव तपःसिद्धावेव ध्रुवं भगवान् दृष्टवान् इति भावः. ननु सः भगवान् ध्याने स्थितोऽपि बहिः आगत्य किमिति ध्रुवं दृष्टवान्? इत्यतः आहुः **तत्रापि** इत्यादि. **तथाभूतम्** इति, सपत्निबाणैः क्लिष्टं सकामञ्च ध्रुवम् इति अर्थः. नहि तादृशस्य बहिःदर्शनं विना अन्तराधिः शाम्यति इति तथैव इति भावः. तदेतद् उक्तं **कामोऽपि** इति. कामोऽपि क्लेशप्रयुक्तः चेत् तदा तं क्लेशनिवारणार्थं बहिः पश्यति इति अर्थः. अतएव मूले **सपत्न्युदित** इत्यादि क्लेशपूर्वकत्वम् उक्तम् इति भावः. **तपोपि** इति. सूर्यवद् जगत्प्रकाशकं चेत् तदा नलिनायतेक्षणरूपो उपपद्यत

---

१. विकासम् एति इति सं-मा.१ पाठयोः -सम्पा.

२. इत्यसह्येति ख-ग. ३. विवेकिनेति ख. ४. निदानमिति ग.

करिष्यामि'' इति दृढप्रतिज्ञा-ज्ञापनार्थम्. **तस्मै अदाद्** इति दृष्टिविकासः. **ध्रुवगतिम्** इति फलस्य निश्चलता. **गृणते प्रसन्नः** इति किरणानाम् अन्तःप्रवेशनम्. सहि तपसा न सन्तुष्टः किन्तु बालः स्तोत्रं करोतीति. अन्यथा ''निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम'' (भाग.पुरा. ४।८।८२) इति वचनम् अनुपपन्नं स्यात्. नहि भगवान् अन्यथा निवर्तयितुं न शक्नोति इति, किन्तु शक्तएव स्तोत्रेण सन्तुष्टो बालाय ध्रुवगतिं दत्तवान्. ननु स्तोत्रस्य ध्रुवगतेश्च कः सम्बन्धः? तपस्तु भोगफलत्वात् तथा भवितुमपि अर्हति इति आशङ्क्य आह **दिव्याः स्तुवन्ति** इति. सहि निन्दावचनेन खिन्नः तथा कृतवानिति सर्वदा स्तोत्रस्थानं दत्तवान्, **यत्** स्थानं **दिव्याः (मुनयः!)** सप्तर्षयोऽपि **उपरिस्थितम्** **अधः**स्थिताः सन्तः **स्तुवन्ति.** यद्(/यदि!) इदं स्थानं प्रसादेन न प्राप्तं स्यात्, तपसा निर्बन्धेन वा प्राप्तं स्यात्, तदा भगवदीयैः स्तोत्रं न क्रियेत! तत्रापि मुनयः स्तुवन्ति! तत्राऽपि उपरिस्थितं स्वयं च अधःस्थिताः = ईर्ष्यामेव कर्तुं योग्याः! [१]प्रसादकरणएव ध्रुवस्य पश्चात्तापोऽपि (सङ्गच्छते!) ॥८॥

प्रकाशः

नलिनायतेक्षण-प्राकट्यसमर्थता. **किरणानाम्** इति. अत्र प्रसादः किरणस्थानीयो बोध्यः. **अन्यथा** इति तपसएव प्रसादहेतुत्वे. **दत्तवान्** इति. तथाच तादृश-स्थानदानम् एतद्दातुः तदवतारत्व-गमकम् इति अर्थः. **प्रसादकारणः**

लेखः

इति भावः. **किरणानाम्** इति. **किरणानां** प्रसादरूप-किरणानां ध्रुवान्तःप्रवेशनम् इति अर्थः. तेनैव सर्वाभिष्टदानाद् दृष्टिविकासोऽपि व्याख्यातः. **अन्यथा** इति, तपसएव प्रसादहेतुत्वाङ्गीकारे इति अर्थः. **अनुपपन्नम्** इति. उक्तवाक्ये देवादीनां प्रार्थनया समागतो, नतु तपसा सन्तुष्टः समागतः इति उक्तं भवति. तथाङ्गीकारे तु तद् अनुपपन्नं स्याद् इति भावः. **भोगफलत्वाद्** इति, बहुव्रीहिः अयम्. **तथा भवितुम्** इति, ध्रुवगतिसाधनं भवितुम् इति अर्थः. **तथा कृतवान्** इति स्तोत्रं कृतवान्. **प्रसादकारणे** इति.

---

१. -कारण एवेति क-ग-प्रकाशे. -कारणमेवेति ख - सम्पा.

एवं नलिनायतेक्षणं[१] निरूप्य कदम्बकिञ्जल्क-पिशङ्गवाससं निरूपयति.

यद्वेनमुत्पथगतं द्विजवाक्यवज्र-
निप्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम् ।।
त्रात्वार्थितो जगति पुत्रपदं च लेभे
दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन ।।९।।

अत्र हि पीताम्बरं, कदम्बतुल्यता च निरूपणीया. कदम्बस्य वर्षाकाले हि किञ्जल्काः भवन्ति, वर्षा च भूमिसन्तापे. यथा सन्तप्ते वृष्टिः भवति, यथा वृष्टिः सर्वसन्तापहारिका, एवं पृथुकृतो दोहः सर्वसन्तापहारकः. पृथुश्च छन्दोमयः सर्ववेदार्थप्रतिपादकः पीताम्बररूपः. राजा हि स्वभावतो भूमेः आच्छादको भवति, तदाज्ञया भूमिः गुप्ता तिष्ठति. किन्तु अयं यथास्थित-भूमिगोप्ता न भवतीति भूमेः विच्छायकरणात् पीतत्वम्. अयं[२*] पृथुः **पुत्रपदं लेभे**. ''पुन्नाम्नो[३] नरकाद् हि अस्माद् पितरं त्रायते सुतः''

प्रकाशः

इति. प्रसादः कारणं यस्य इति अर्थः ।।८।।

यद्वेनम् इत्यत्र. पृथोः पीताम्बरावतारत्वं व्युत्पादयन्ति **कदम्बस्य** इत्यादि. तथाच दोहरूपकार्ये पृथुना कृते तदुत्तरं यद् दोहान्तरं तत् कदम्बकिञ्जल्कसमं, तज्जन्यत्वाद् बहुत्वाच्च. तथा राज्ञः स्वभावो जनरञ्जनं, तेन आरक्तत्वम्. **पीतत्वम्** इति पृथोः पीतत्वम्. यदा आच्छादके पीतत्वं न स्यात् तदा आच्छाद्ये भूरूपे जघने तत्कृतं विच्छायत्वमपि न स्याद्, अतः तस्य तदवतारत्वं कार्यात् निश्चेयम् इति अर्थः. एवं

लेखः

प्रसादरूप-कारणे सत्येव ''अहो बत अनात्म्यं मे मन्दभाग्यस्य पश्यतः'' (भाग.पुरा. ४।९।३१) इत्यादिना **पश्चात्तापोऽपि** सङ्गच्छते इति अर्थः ।।८।।

यद्वेनम् इत्यत्र. **विच्छायकरणाद्** इति. ... . **वसूनि दुग्धा**

१. -क्षणत्वमिति ख. २*-२*. अयमित्यारभ्य पीताम्बरत्वमित्यन्तं नास्ति क-घ.
३. पुत्रो हि पुन्नाम्न इति क-ग.

(रामा. २।१०७।१२) इति 'पुत्र'शब्दो व्युत्पाद्यते. तत्र अन्ये नरकात् त्रायन्ते न वा इति सन्देहो भवति अदृष्टत्वाद्, अयन्तु [१]नरकात् त्रायतएव. नरकाणां पायुस्थानत्वात् तदाच्छादकत्वेनैव अस्य पीताम्बरत्वम्[२*]. रक्षणं हि प्राप्ते दुःखे, तदर्थम् अस्य पितुः दुःखप्राप्तिम् आह **यद्वेनम् उत्पथगतम्** अन्यायिनां मार्गे प्रवृत्तम्. अतएव (**द्विजानां!**) ब्राह्मणानाम् अपकारित्वात् **तद्वाक्यवज्रेण नितरां प्लुष्टं पौरुषं भाग्यञ्च**[२] यस्य. अतो भाग्येन पौरुषेण [३]च अनिस्तारः. नवा प्रजापालनलक्षण-धर्मेण[४], उत्पथगतत्वात्. तस्माद् गुणाभावाद् दोषस्य च विद्यमानत्वाद् (**निरये पतन्तं!**) नरके पतति. तस्मिन् समये तस्य कराद् मथनेन निर्गतः (**त्रात्वा!**) तं पालितवान्, तैरेव ब्राह्मणैः **अभ्यर्थितः**. अतएव (**पुत्रपदं लेभे!**) पुत्रो जातः. अवतारचरित्रम् आह **दुग्धा वसूनि** (**सकलानि!**) सर्ववसूनि दुग्धा. **वसूनि** वस्तूनि. **वसुधा** पृथिवी. अनेन **वसूनि वसुधा दुग्धा.** यद्यपि अन्यानि वस्तूनि अन्यैरेव दुग्धानि तथापि एतन्मूलकत्वात् **सकलानि येन** इति उक्तम्. अनेन वेदरूपस्य पीताम्बरस्य एवं सर्वकामपूरकत्वं, नरकात् पालकत्वञ्च निरूपितं, पीतत्वेन च सर्वदुःखनिवृत्तिः प्रासङ्गिकी, [५]प्रजनन-गोपनन्तु स्वभावादेव. तस्य[६] रेखाकारत्वं सर्वगुणसद्भावात् ॥९॥

प्रकाशः

व्युत्पाद्य श्लोकं व्याकुर्वते **रक्षणम्** इत्यादि. **स्वभावादेव** इति. ''मातृबुद्धिः परस्त्रीषु'' (द्रष्ट. गरुडपुरा. १।१११।१२) इति वाक्येन जितेन्द्रियत्व-स्वभावादेव इति अर्थः. प्रजापतीनामपि गोपनाद् वा ॥९॥

लेखः

इति. ... . **स्वभावादेव** इति, राजस्वभावादेव इति अर्थः. **तस्य रेखाकारत्वम्** इति. कदम्ब-किञ्जल्कस्य दृष्टान्तीकरणेन पीताम्बरे रेखाकारत्वम् उक्तम्, अत्र तु गुणगणसत्तैव तदाकाररूपेति तथा इति अर्थः ॥९॥

---

१. अयंतु त्रायत एवेति क. २. चकारो नास्ति ख.

३. पौरुषेण वा न निस्तारः ख-ग. ४. -पालनरक्षणेति ग-घ.

५. सर्वजनगोपनन्तु इति सं-मा.१ पाठयोः - सम्पा. ६. तस्या रेखेति ख-ग.

एवं पीताम्बरत्वं निरूप्य लसन्महारत्न-हिरण्मयाङ्गदत्वं निरूपयति.

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु-
र्यो वै चचार समदृग्जडयोगचर्याम् ॥
यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः ॥१०॥

नाभेः असौ इति. नाभिः ब्राह्मणान् प्रार्थयित्वा यज्ञे आविर्भूतं भगवन्तं प्रार्थयित्वा भगवन्तं पुत्रत्वेन प्रार्थितवान्. **नाभेः** भार्या **सुदेविसञ्ज्ञा**, तस्याः **सूनुः असौ** इति बुद्धिस्थः **ऋषभः** इति नाम. अवतारस्य प्रयोजनं **यो वै चचार** इति, **जडानां** सम्बन्धिनी **योगचर्या** लोके प्रदर्शिता. **समदृग्** इति ब्रह्मदृष्टिः. तस्याः जडयोगचर्यायाः सद्ग्राह्यं रूपम् आह **यत्पारमहंस्यं पदम् (ऋषयः !) आमनन्ति.** तस्य मार्गस्य निर्वाहकावश्यक-साधनानि उपदिशन् स्वयं तादृशो जातः इति आह. प्रथमं **परिमुक्तसङ्गः** सर्वसङ्गपरित्यागं कृतवान्. तेन **प्रशान्तकरणः** प्रशान्तानि करणानि इन्द्रियाणि यस्य. तेन **स्वस्थः** स्वरूपस्थितइति दोषनिवृत्तिः कथिता. गुणस्तु **समदृग्** इति, सर्वत्र गुण-दोषदृग्रहितः. सर्वभूतेषु वासुदेवदृष्टिः वा. देवता-क्रियामध्ये हि अङ्गदनिवेशनं, तत्रापि देवताभागे ; अयञ्च ब्रह्मवित् कर्माणि त्यक्तवान्.

प्रकाशः

नाभेः इत्यत्र. विवक्षिताङ्गदावतारत्वं व्युत्पादयन्ति **देवतेत्यादि. देवताभागे** इति प्रगण्डे. कपोलोपरिभागः[१] प्रगण्डः. बाहुदेवता इन्द्रः, तस्य भागो बलाधारभागः, तत्र इति अर्थः. **अयञ्च** इत्यादि. तथाच

लेखः

नाभेः इत्यत्र. अङ्गदत्वं व्युत्पादयन्ति **देवताक्रियामध्ये** इत्यादि. इन्द्रादिदेवताधिष्ठित-क्रियाशक्तिप्रधान-बाहुमध्ये इति अर्थः. **तत्रापि** इति. बाहुमध्येऽपि यत्र देवताधिष्ठितभागः तत्रैव अङ्गदनिवेशनम् इति अर्थः. **अयम्** इति ऋषभः. **त्यक्तवान्** इति. तथाच अङ्गदोऽपि क्रियारहितएव बाहौ तिष्ठति नतु कङ्कणवत् सक्रियइति युक्तमेव तादृशस्य अङ्गदत्वम्

---

१. कपोणेः उपरि- इति प्रामादिकः मुद्रितपाठः स्वारस्यात् शोधितः - सम्पा.

हिरण्मयत्वं नाभिपुत्रत्वात्. महारत्नानि तु तत्पुत्राः. सहि ज्ञान-कर्ममध्ये स्थितः अतो अङ्गदत्वम्. स्वस्थत्वादयो वा रत्नानि, समदृक् सुवर्णं, जडयोगचर्या आकृतिः. इदं हि परमहंसानां पदम्. रत्नानि तु ते. अतः ऋषभस्य यत्किञ्चित्कार्यं तदेव अङ्गदस्य इति ज्ञातव्यम्. अध्यायत्रयेण च तच्चरित्रं वक्ष्यते. तत्र शोभा प्रथमाध्यायार्थः, महारत्नानि तद्वाक्यानि

प्रकाशः

क्रियात्यागाद् उपरिभागोक्तिः[१]. **नाभिपुत्रत्वाद्** इति, नाभियज्ञे हिरण्मयरूपेण प्रादुर्भूतत्वाद् इति, "अथ ह तम् आविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषम्" (भाग.पुरा. ५।३।३) इति पञ्चमस्कन्धवाक्यात्. **तत्पुत्राः** इति नव योगेश्वराः. **अतो अङ्गदत्वम्** इति. "दो अवखण्डने" (पाणि.धा.पा. दिवा. १३). तथाच मर्यादागिरिवद् उभयविभाजकत्वाद् अङ्गदत्वम् इति अर्थः. इदञ्च पञ्चमस्कन्धानुसारेण उक्तं ; व्याख्येय-श्लोकानुसारेण प्रकारान्तरम् आहुः **स्वस्थे**त्यादि. अयमपि प्रकारो न पञ्चमस्कन्धाद् विरुध्यते इति ज्ञापयन्ति **अध्याये**त्यादि ॥१०॥

लेखः

इति भावः. **नाभिपुत्रत्वाद्** इति. नाभियज्ञे हिरण्मयरूपेण प्रादुर्भावात् तथा इति भावः. तदुक्तं पञ्चमे "अथ तया आविष्कृतं भुजयुगलं हिरण्मयं पुरुषम्" इत्यादि. **तत्पुत्राः** इति भरत-कुशावर्तादयो नव, कवि-हर्यन्तरिक्षादयो नव योगीश्वरा वा. **सहि** इति, ऋषभो हि इति अर्थः. **ज्ञानकर्ममध्ये** इति. कर्मप्रधानो नाभिः पिता, ज्ञानप्रधानो भरतो योगीश्वराश्च पुत्राः, तन्मध्ये यः स्थितः इति बाहुमध्ये स्थिताङ्गदत्वम् एतस्य सूपपादम् इति भावः. प्रकारान्तरेणापि तत्त्वं व्युत्पादयन्ति **स्वस्थत्वादयः** इत्यादि. **आकृतिः** इति अङ्गदस्य आकारः. **रत्नानि तु** इति. 'तु' अप्यर्थे ते परमहंसाअपि रत्नानि इति अर्थः, ऋषभमार्गप्रकाशकत्वाद् इति भावः. अयम् अर्थो निरूप्यमाणो वक्ष्यमाणकथया विरुद्धः इति आशयेन आहुः **अध्यायत्रयेण** इति. चतुर्थादित्रयेण ॥१०॥

---

१. उपरिभागावगतिः इति मा.पाठे - सम्पा.

द्वितीयाध्यायार्थः, हिरण्मयत्वं ब्रह्मभावः तृतीयाध्यायार्थः ॥१०॥

एवम् अङ्गदं निरूप्य स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलं निरूपयति.

सत्रे ममास भगवान् हयशीर्षनामा
साक्षात् स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः ।
छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा
वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः ॥११॥

सत्रे ममास इति. हयग्रीवो हि किरीट-कुण्डलात्मकः. सहि उभयात्मको भवति, ब्रह्मविद्याप्रवर्तकत्वात्. किरीटं हयशिरः, कुण्डले देहः प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपः. साङ्ख्य-योगयोः आधारभूतो नृदेहः. सहि कर्मणि प्रादुर्भूतो अग्निसाध्ये[1] ; कुण्डलादिकमपि तथा. तदेव आह रूपत्रयं— **छन्दोमयो मखमयः** इति कुण्डले, **अखिलदेवतात्मा** मुकुटः[2]. **अखिलाः** न न्यूनाः ये **देवाः** ब्रह्मादयः ते भगवन्मस्तके पारमेष्ठ्ये स्थिताः. यद् हयग्रीवेण क्रियते[3] तत् सर्वं कुण्डल-मुकुटकार्यम्. तस्य स्वरूपं ब्रह्मा निरूपयति— **मम सत्रे** यागे **आस** आविर्भूतः **सः** प्रसिद्धो **(हयशीर्षनामा!)** हयग्रीवो **भगवानेव**. दैत्यहयग्रीव-निराकरणार्थं **भगवान्** इति, किंपुरुषादिरूप-व्युदासार्थं[4]

प्रकाशः

सत्रे इत्यत्र. हयग्रीवे किरीटाद्यवतारत्वं व्युत्पादयन्ति **हयग्रीवः** इत्यादि. **उभयात्मकः** इति हयनरात्मकः. **अखिलाः** इत्यादि. तथाच अखिलदेवतानाम् आत्मत्वेन तत्स्वरूपत्वे तत्फलभूतत्वे तेषां तादृशां तत्र स्थितेरपि सत्त्वात् सा किरीटत्वबोधिका इति अर्थः. अत्रापि **तपनीयवर्णः** इति हिरण्मयत्वं कण्ठोक्तं, रत्नानि तु अग्रे वाच्यानि, तेन तथात्वम् इति अर्थः ॥११॥

लेखः

सत्रे इत्यत्र. **उभयात्मकः** इति हयनरात्मकः. **नृदेहः** इति. हयशीर्षो, नराकारो देहः इति अर्थः. **सहि** इति, हयग्रीवो हि इति अर्थः. **तथा** इति, अग्निसाध्ये कर्मणि प्रादुर्भवति इति अर्थः. **दैत्येति.** 'हयग्रीव'नामा

१. प्रादुर्भूतः. तच्च अग्निसाध्यम् इति मा.१ पाठः -सम्पा. २. मुकुटमिति ख.
३. क्रियेतेति ख. ४. पुरुषादिव्युदासार्थमिति ख.

च. नहि अन्यः सत्रे आविर्भावम् अर्हति, यतो हयशीर्षएव **साक्षाद् यज्ञपुरुषः** सर्वयज्ञाधिष्ठात्री देवता. यतः **तपनीयवर्णः** तपनीयवद्[१] वर्णो यस्य. **तपनीयं** सुवर्णं ; यज्ञोऽपि अग्निसाध्यइति तपनीयो वर्णो यस्य. **छन्दोमयो** वेदात्मकः, **मखमयो** यज्ञात्मकः, **अखिलदेवतात्मा.** प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलभूतः इति अर्थः, अखिलदेवताः साधनं आत्मा फलम् इति. अवतारप्रयोजनम् आह **वाचो बभूवुः** इति. **उशतीः वाचो** वेदलक्षणाः **अस्य नस्तो** नासिकातः **श्वसतः** श्वासं विमुञ्चतः **अस्य** भगवतो **(बभूवुः !)** जाताः. स्फुरन्महारत्नान्येव उशतीः वाचः ॥११॥

एवं मुकुट-कुण्डले निरूप्य उन्निद्रहृत्पङ्कज-कर्णिकालये योगेश्वरास्थापित-पादपल्लवं रूपं (द्रष्ट. भाग.पुरा. २।२।१०) निरूपयति.

मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः
क्षोणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः ॥
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे
आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान् ॥१२॥

मत्स्यः इति. मत्स्यो हि [२]पल्लवरूपः. सत्यव्रतादीनां शिष्यत्वाद् गुरोः तस्य भगवतः पादपल्लवं ज्ञानात्मकं हृदये स्थापितमेव. **युगान्तसमये** प्रलये **मनुना** सत्यव्रतेन द्रविडेश्वरेण – **मनुना** इति भाविनी सञ्ज्ञा, तत्कृपयैव मनुत्वस्य भावित्वात्, तेन – **लब्धः** प्रथमं तदञ्जलिजले प्रादुर्भूतः. तस्य मत्स्यस्य उत्पत्तेः अनिरूपितत्वाद् दृष्टः इति उक्तम्. तस्य पादत्वार्थम् आह **क्षोणीमयः** इति. सहि पृथिवीमयः, अतएव आध्यात्मिकीं पृथिवीं

प्रकाशः

मत्स्यः इत्यत्र. मत्स्यस्य चरणरूपत्वं क्षोणीमयत्वात् स्फुटम् इति तस्य पल्लवरूपत्वम् आकारसाम्याद् आहुः **मत्स्यो हि** इत्यादि. निष्क्रान्ताः

लेखः

कश्चिद् दैत्यः, तद्व्यावृत्त्यर्थं 'भगवत्'पदम् उक्तम् इति अर्थः. **किंपुरुषेति.** घोटकग्रीवाः केचन किंपुरुषाअपि भवन्तीति तथा इति अर्थः ॥११॥

---

१. तपनीयवर्ण इति ख.   २. पादपल्लवरूपः इति सं.पाठः -सम्पा.

वहति. नौकारूपा हि पृथिवी तारिका, अतएव चरणः पोतः. किञ्च भगवच्चरणो हि सर्वेषां भक्तानाम् आश्रयः. तद् आह **निखिलजीवनिकायकेतः** इति. **निखिलाः** ये **जीवाः** सम्पूर्णाः जीवाः न विषयैः खण्डिताः तेषां **निकायः** समूहः तस्य **केतः** स्थानं, सर्वाणि बीजानि ऋषयश्च तदा नौकायां स्थिताः इति. एतदेव हि रूपं चरणस्य, अतएव संसारसमुद्रतरणे पोतः. तस्य अवतारचरित्रम् आह **उरुभये विस्रंसितान्** ब्रह्मणो भयाद् **मुखाद्** विगलितान् वेदान् 'हयग्रीवो' नाम दानवेन्द्रः अन्तिके अहरत् ; तं हत्वा ततः **आदाय तत्र** जले **विजहार ह. वेदमार्गान्** इति, अन्येऽपि ज्ञान-भक्तिप्रतिपादकाः वेदाः ततएव उद्गताः. **ह** इति प्रसिद्धे, आश्चर्ये वा. अतएव शिष्याणां हृदयानि वेदमार्गैः कृत्वा विकसितानि भवन्ति. यज्ञोपयोगिवेदाः हयग्रीवेण उद्धृताः, सर्वोपयोगिनस्तु मत्स्येन इति विशेषः ॥१२॥

श्रीलक्ष्मणं निरूपयति.

क्षीरोदधावमर-दानवयूथपानाम्
उन्मथ्नताममृतलब्धये आदिदेवः ।।
पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार गोत्रं
निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्त-कषाणकण्डूः ।।१३।।

क्षीरोदधौ इति. कूर्मेण हि सुधया सह लक्ष्मीः निष्पादिता. यावत्

प्रकाशः

खिलेभ्यो **निखिलाः** इति मूलार्थं बोधयन्ति **न विषयैः खण्डिताः** इति. **विकसितानि भवन्ति** इति. तथाच तच्चरित्रम् उन्निद्रत्वगमकम् इति अर्थः. **सर्वोपयोगिनः** इति. तथाच **वेदमार्गान्** इति बहुत्वबोधित-मार्गसम्बन्धि-बहुत्वं कर्णिकागमकम् इति मत्स्यस्य तादृशधर्मविशिष्ट-चरणावतारत्वम् इति अर्थः ॥१२॥

क्षीरोदधौ इत्यत्र. कूर्मस्य श्रीवत्सावतारत्वं कार्येण व्युत्पादयन्ति **कूर्मेण** इत्यादि. स्पष्टम् अन्यत् ॥१३॥

कार्यं कूर्मस्य तावत् श्रीवत्सस्य. यथा ब्राह्मणपादस्य[१] स्पर्शः तथा मन्दरस्य. यथा सर्वैः ब्राह्मणैः विचार्य सः निरूपितः तथा सर्वैः देव-दानवैः मन्दरः कूर्मे निरूपितः. यथा घर्षणं तथा शास्त्रार्थनिर्णयः. **क्षीरोदधौ** ये **अमर-दानवानां यूथपाः** [२]मथनं कुर्वन्ति तेषाम् **उन्मथ्नताम्** अमृतप्राप्त्यर्थम् **आदिदेवः** आधिदैविको देवो[३] देवपक्षपाती **कच्छपवपुः**[४] कूर्मावतारो भगवान् **पृष्ठेन गोत्रं** मन्दरं **दधार.** ननु किमिति मन्दरं स्थूलं भाररूपं धृतवान्? तत्र आह **निद्राक्षणः** निद्रायां क्षणो यस्य. निद्रार्थं धृतवान् इति अर्थः. ननु विपरीतम् इदम् उच्यते ; निद्रालुर्हि सर्वमेव भारं दूरीकरोति[५]! तत्र आह **अद्रिपरिवर्त-कषाणकण्डूः** इति, **अद्रेः परिवर्तनेन कषाणा** घर्षिता **कण्डूः** यस्य. अतो घर्षणार्थम् अद्रिं धृतवान् इति अर्थः. घर्षणेन हि सुखे जाते निद्रा भवति. यथा पर्वतधारणं सर्वेषां देवानाम् अमृतपानसिद्ध्यर्थम् एवं सर्वेषां भ्रान्तानां प्राणिनां सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं परीक्षकब्राह्मण-चरणधारणम् ॥१३॥

कौस्तुभरत्नकन्धरं निरूपयति **त्रैविष्टपोरुभयहा** इति.

त्रैविष्टपोरुभयहा स नृसिंहरूपं
कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रम् ॥
दैत्येन्द्रमाशु गदयाऽभिपतन्तमाराद्
ऊरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम् ॥१४॥

लेखः

क्षीर- इत्यत्र. **ब्राह्मणपादस्य** इति, भृगुपादस्पर्शः इति अर्थः. **शास्त्रेति.** यथा "त्रिषु अधीशेषु को महान्?" इति संशये भृगुपादस्पर्शानन्तरं भगवत्येव सर्वोत्कृष्टत्व-निर्धारः तथा अत्रापि मन्दरघर्षणेन अप्रमेयत्वादि इति निर्णयरूप-शास्त्रार्थनिर्धारः इति अर्थः. **सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थम्** इति. "अज्ञश्च अश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति" (भग.गीता ४।४०) इति अज्ञानादीनां पुरुषार्थनाशकत्वात् तन्निवृत्त्या तत्सिद्धिः इति भावः ॥१३॥

---

१. भृगोः. द्रष्ट. भाग.पुरा. १०।८६।७ - सम्पा.

२. मन्थनम् इति सं-मा.१ पाठयोः - सम्पा.   ३. देव इति नास्ति ख.

४. कच्छपरूप इति ख.   ५. दूरीकरोतीति इति क-घ.

नृसिंहः कौस्तुभरत्नकन्धरो भवति. यथा कौस्तुभस्य कण्ठे स्थापितस्य रश्मयः स्कन्धे निर्गताः केसरप्रायाः भवन्ति एवमेव हि नृसिंहो भगवत्कौस्तुभरूपः. कौस्तुभं यद् भगवान् कण्ठे बिभर्ति तद् दैत्यानां वधार्थे, भक्तजनोद्धारार्थे. सर्वे हि भगवदीयाः जीवाः कौस्तुभरूपं, ''चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे'' (भाग.पुरा. ३।२८।२८) इति वाक्यात्. अतो भगवान् तान् चेद् हृदये न स्थापयेत् तदा मृत्युसाधनैः कर्मभिः मृत्युग्रस्ताएव भवेयुः! अतो मृत्युगज-निवारको नृसिंहः प्रह्लादरक्षकः तत्प्रतिपक्ष-हिरण्यकशिपु-घाती. **त्रैविष्टपाः** देवाः तेषां यद् **उरुभयं** तद् हन्ति इति तथा, **सः** भगवान् **नृसिंहरूपं कृतवान्**. ग्रामा-ऽरण्यवासिनो हि द्विविधाः भक्ताः ; उभयेषाम् उद्धरणार्थम् उभयरूपम्[१]. कौस्तुभोऽपि तथा. **भ्रमयुक्ते** ये **भ्रुकुटी** तत्सहिताः **दंष्ट्राः** ताभिः[२] **करालं वक्त्रं** यस्य. भ्रुकुटिपरिभ्रमणं (नाम!) ग्रासार्थम् आगतस्य कालस्य वक्रीकरणम्. तत्सहिता यदि दंष्ट्रा, यमोऽपि पराभूतः. अतएव करालं वक्त्रम्. अनेन ये केचिद् [३]भक्तप्रतिपक्षाः ते तादृशं मुखं दृष्ट्वा सर्वथा न स्वकार्यं करिष्यन्ति इति सूचितम्. अतएव [४]भक्तप्रतिपक्षं **दैत्येन्द्रम् आशु** शीघ्रम् अन्यस्य सावधानताभावाय **आभिमुख्येन पतन्तं गदया** प्रहारसमर्थया **आराद्** दूरादेव **ऊरौ निपात्य स्फुरन्तं** तं **नखैः**

प्रकाशः

त्रैविष्टपेत्यत्र. एवमेव इति. रश्मि-केसरयोः स्कन्ध-निर्गमतौल्येनैव. एवं कन्धरयोः तौल्येऽपि कार्यं विना न तस्य तदवतारत्वं सम्भवति इत्यतः तद् व्युत्पादयन्ति **कौस्तुभम्** इत्यादि. **न स्थापयेद्** इति कण्ठे धारणोपायेन न स्थापयेत्. **तथा** इति. एतस्मिन् प्रकरणे ''चैत्यस्य'' इति ''कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थम्'' इति वाक्यद्वयसत्त्वाद् उभयरूपः इति अर्थः. **भ्रमयुक्ते** इत्यादि. इदं न विग्रहवाक्यम्. तेन तादृशी दंष्ट्रा यस्मिन्, तादृशञ्च तत् करालञ्च इति विग्रहः ॥१४॥

---

१. नृ + सिंहरूपम् - सम्पा. २. तैः करालमिति क-घ.

३. केचिद्भगवत्प्रतीति ख. ४. भक्तिप्रतीति क.

विददार. नखैः विदारणं मुक्त्यभावाय, ऊरौ निपातनं कामोद्भवाय ; एवमेव हि कौस्तुभो भक्तप्रतिपक्षं संसारे कामे वा योजयति! **स्फुरन्तम्** इतस्ततः सर्पन्तम् ॥१४॥

अम्लानलक्ष्म्या वनमालयाञ्चितं निरूपयति **अन्तःसरस्युरुबलेन** इति द्वाभ्याम्.

अन्तःसरस्युरुबलेन पदे गृहीतो
ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः ॥
आहेदमादिपुरुषाऽखिललोकनाथ
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ॥१५॥
श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेयः
चक्रायुधः पतगराजभुजाधिरूढः ॥
चक्रेण नक्रवदनं परिपाट्य तस्माद्
हस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार ॥१६॥

यो हरिः सः वनमाला. भक्ताः हि गजेन्द्रमोक्षणरूपां भगवत्कीर्तिं श्रुत्वा सर्वथा प्रवर्तन्ते, वनमाला च कीर्तिमयी. अम्लाना हि तस्य कान्तिः ; न तत्र देवादीनां सहायो वरो वा. गजेन्द्रः[१] केवलं भगवतैव मोचितः. न वा देवादीनां प्रार्थना, न वा तस्य लौकिकाः गुणाः भगवत्प्रीतियोग्याः. तस्मात् केवलकृपयैव मोचितः इति अम्लानत्वम्. विलम्बासहिष्णुत्वाय

प्रकाशः

अन्तःसरसीत्यत्र. हरेः वनमालावतारत्वं व्युत्पादयन्ति **भक्ताः हि** इत्यादि. **विशेषणानि** इति, गजेन्द्रविशेषणानि द्वितीये (पादे!). ननु मास्तु दृष्टं प्रतिबन्धकं तथापि ब्रह्मदण्डस्य दुरत्ययत्वाद् गजदेहसत्त्वे अन्धन्तमःप्रवेशस्य

लेखः

त्रैविष्टपेत्यत्र. मुक्त्यभावाय इति. अन्यथा चक्रादिनैव मारणं स्याद् इति भावः. **कामोद्भवाय** इति. जङ्घयोः पञ्चमस्कन्धत्वेन तस्मिंश्च नरकवर्णनेन कामोद्भवाय, कामस्यैव नरकमुख्यत्वाद् इति अर्थः ॥१४॥

---

१. गजेन्द्रे. केवलम् इति क-ख.

विशेषणानि. **अन्तःसरसि** सरोमध्ये **उरुबलेन** [१]देवलशापेन – तादृशरूपस्य देवलकृपयैव महाबलत्वं – **पदे गृहीतः** इति क्रियाशक्तिः कुण्ठिता. **ग्राहपदेन**[२] च अनिवार्य-प्रतिबन्धकत्वम्. **यूथपतिः** इति तस्मिन् मृते सर्वएव मरिष्यन्ति इति, अन्येषाम् असमर्थता वा. **अम्बुजहस्तः** इति पूर्वक्रूरभावो निवारितः, भगवदाभिमुख्यार्थञ्च. भगवत्पूजार्थं वा **अम्बुजग्रहणम्**. **आर्तत्वेन** सर्वसाधनाभावः ; नहि अन्ये तादृशे कृपां कुर्वन्ति. **इदञ्च आह— हे आदिपुरुष.** अनेन तव अवश्यपालनीयो[३] अहं, मूलपुरुषत्वात्. अन्यो वा न वक्तव्यः. **अखिललोकनाथ** इति सर्वलोकपालने त्वमेव अधिकृतः अतो न अन्यो वक्तव्योऽपि[४]. ननु तव दुःखानुभवहेतु-प्रत्यग्रपापस्य विद्यमानत्वाद् मया किं कर्तव्यम् इति आशङ्कायाम्[५] आह हे **तीर्थश्रवः!** तीर्थरूपं श्रवः = कीर्तिः यस्य. तव कीर्तिस्मरणेनैव वयं धौतपापाः. ननु केवलमोचने न कश्चित् पुरुषार्थः किन्तु वैकुण्ठयोग्यो देहः सम्पादनीयः, तदर्थञ्च शुभाऽदृष्टाभावात् किं मया विधेयम् इति आशङ्क्य आह हे **श्रवणमङ्गलनामधेय** इति. श्रवणमात्रेणैव मङ्गलं = सर्वशुभदायि नामधेयं यस्य. अनेन त्वन्नाममात्रेणैव सर्वशुभहेतु भाग्यं सिद्धम्. एवं पदचतुष्टये निरूपिते **(हरिः!)** वैकुण्ठस्थितो भगवान् **श्रुत्वा** दूरादेव **तं शरणार्थिनं** ज्ञात्वा. केनाऽपि न ज्ञातः "अयं गजेन्द्रोद्धारार्थं गच्छति" इति – तथा सति कश्चिद् देवो अन्यो वा स्वप्रतिष्ठार्थं हस्ते तं धृत्वा बहिः क्षिपेद् अतः – आह **अप्रमेयः** इति. **चक्रायुधः** इति मुक्तिदानार्थम्. **पतगराजभुजाद्**

लेखः

अन्तःसरसि इत्यत्र. **देवलशापेन** इति. तदुक्तम् अष्टमे "यो असौ ग्राहः सः वै सद्यः परमाश्चर्यरूपधृक्, मुक्तो देवलशापेन हूहूर्गन्धर्वसत्तमः" (भाग.पुरा. ८।४।३) इति. **श्रुत्वा** इत्यत्र. **अनेन** इति, कालात्मक-गरुड-

---

१. देवलात् शापेनेति मुद्रितपाठः. कपाठे शोधः, लेखे च, एवम् - सम्पा.

२. ग्राहबलेनेति घ. ३. अवश्यं पालनीय इति ख.

४. वक्तव्येतीति ख. ५. इत्याकाङ्क्षायामिति ख.

अधिरूढः उत्तीर्णः. अनेन तस्य कालग्रासानन्तरं मुक्तिदानं निवारितम्. नहि गजेन्द्रो देहत्यागं ज्ञातवान्. ''कालात्मकः सोऽथ सुपर्णः'' (महाभा.ता.नि. ३।१३) इति वाक्याद् गरुडस्य कालत्वम्. आगतस्य कृत्यम् आह **चक्रेण नक्रवदनम् (परिपाट्य!)** इति. प्रतिबन्धकाभावं कृत्वा इति अर्थः ; [1]नतु तेन सह उद्धरणम्. **तस्मात्** सङ्कटाद् **हस्ते** शुण्डादण्डे **प्रकर्षेण गृहीत्वा** स्पर्शमात्रेणैव[1] चतुर्भुजं रूपं संपाद्य तं गृहीत्वा इति अर्थः. **भगवता** उद्धृतत्वाद् ब्राह्मणानां शापलक्षणः प्रतिबन्धको अकिञ्चित्करः. **कृपया उज्जहार** इति जीवस्य साधनाभावो निरूपितः. परदुःखप्रहाणेच्छा **कृपा.** एवं हि भगवत्कीर्तिः भक्तान् उद्धरति! इदमेव चरित्रम् उत्तरत्र भक्तिहेतुत्वेन विचारयिष्यते प्रह्लादवाक्येषु. ततः कीर्त्यैव प्रेम इति सिद्धं भविष्यति ॥१५-१६॥

एवं वनमालां निरूप्य तेन अञ्चितत्वञ्च प्रेमजनकत्वेन सूचयित्वा ''विभूषितं मेखलया'' (भाग.पुरा. २।२।११) इति निरूपयति **ज्यायान् गुणैः** इति द्वाभ्याम्.

प्रकाशः

अनिवार्यत्वं, शापजन्य-दुरदृष्टनाशकस्य अत्र अनुक्तत्वाद् इति शङ्कायाम् आहुः **भगवता** इत्यादि. तथाच तत्सत्त्वेऽपि उद्धरणम् अम्लानत्वपोषकम् इति अर्थः. **परदुःखे**त्यादि. अत्र इच्छाविशेषस्य कृपात्वं कार्याभेदोपचाराद् बोध्यम्. एतदेव ज्ञापयितुम् आहुः **इदमेव** इत्यादि ॥१५-१६॥

लेखः

त्यागकथनेन इति अर्थः. **तस्य** गजेन्द्रस्य **कालग्रासानन्तरं मुक्तिदानं निवारितं** किन्तु ततः पूर्वमेव इति अर्थः. कालग्रासाभाव-ज्ञापकं रूपम् आहुः **नहि** इति. **प्रतिबन्धकाभावम्** इति. उद्धरणप्रतिबन्धकं नक्रं त्याजितवान् इति अर्थः. **उत्तरत्र** इति. सप्तमे ''मन्ये धनाभिजनरूप-'' (भाग.पुरा. ७।९।९) इत्यादिना निरूपयिष्यते इति अर्थः ॥१५-१६॥

१-१. नत्वित्यारभ्य स्पर्शमात्रेणैवेत्यन्तं नास्ति ख.

ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां
लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः ॥
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन
याच्ञामृते पथि चरन् विभुभिर्न चाल्यः ॥१७॥

वामनो हि भगवतो मेखलारूपः. मेखला हि कटिस्थानबन्धिका भवति. ''स जघनाद् असुरान् असृजत'' (तैत्ति.ब्रा. २।२।९।५) इति श्रुतेः, ''जघने आत्ममुख्यान्'' (भाग.पुरा. ८।२०।२४) इति च वाक्याद् दैत्यबन्धकत्वेन, मायामपि अन्तः पातयित्वा शोभां जनयति इति आकुञ्चन-प्रसारणधर्मवत्त्वाच्च, वामनः कटिसूत्रमेव. अतएव गुणप्राधान्येन

प्रकाशः

ज्यायान् इत्यत्र. वामनस्य मेखलावतारत्वं धर्मत्रयेण व्युत्पादयन्ति **मेखला हि** इत्यादि. **इति च वाक्याद्** इति, दैत्यानां जघनस्थतया इति शेषः. **मायाम्** इति तदुपास्य-देवतारूपाम्. एवं तत्सिद्धि-सारूप्याभ्यां तथात्वं साधयित्वा समानशब्दादपि बोधयन्ति **अतएव** इत्यादि. ''तद् वामनं रूपम् अवर्धताद्भुतं हरेः अनन्तस्य गुणत्रयात्मकम्'' (भाग.पुरा. ८।२०।२१) इति वाक्येन तथात्वादेव प्रकृतश्लोकेऽपि **गुण**पदोक्त्या तत्प्राधान्येनैव कथनम् इति अर्थः. ननु अत्र उत्कर्षाधायकाः धर्माएव गुणत्वेन विवक्षिताः,

लेखः

ज्यायान् इत्यत्र. **''जघने आत्ममुख्यान्''** इति. आत्मा = बलिः, तन्मुख्यान् इति अर्थः. इदं वाक्यम् अष्टमे द्वाविंशाध्याये अस्ति. **मायामपि अन्तः पातयित्वा** इति, मायारूप-पीताम्बरम् अन्तःकृत्वा तदुपरि स्थिता काञ्ची शोभां जनयति इति अर्थः. भगवत्स्वरूपाच्छादकत्वात् पीताम्बरस्य मायात्वम्. **आकुञ्चने**ति. वटुरूपोऽपि विराड्रूपो भूत्वा पुनः यथापूर्वरूपमेव स्थितः इति तथा इति अर्थः. कटिसूत्रमपि घुर्घुरुघण्टिकादि-विलासगत्याऽऽगतिभ्यां तथा भवति इति तथा इति भावः. **अतएव** इति, कटिसूत्ररूपत्वस्यैव अभिप्रेतत्वादेव इति अर्थः. **गुणप्राधान्येन** इति. मूले **ज्यायान् गुणैः** इति उक्त्या तथा इति भावः. **भूमिरूपा** इति, इयं

निरूपणम्. **अदितेः सुतानां** मध्ये **अवरजोऽपि.** अदितिर्हि भूमिरूपा. यद्यपि सर्वरूपत्वेन निरूप्यते तथापि तस्याः स्तुतिपरत्वाद् इयं वा अदितिः इत्येव मुख्या. तस्याः सुताः तत्कीर्तिं रक्षां वा जनयन्ति. अतो रक्षा-कीर्तिरूपं पीताम्बरं भवति, ताञ्च दृढां करोति मेखला. **गुणैः ज्यायान्** पुष्टः स्थूलो महान् इति अर्थः. तस्य गुणानेव आह. (ननु!) गुणाः हि उत्कर्षाधायकाः ; भगवतो जगत्कर्तुः सर्वप्रेरकस्य सर्वनियन्तुः कालचेष्टारूपस्य के वा ते धर्माः ये उत्कर्षम् आदधति इति आशङ्क्य वामनस्य गुणाः तथा भवन्ति इति मेखलागुणप्रस्तावे तान् निरूपयति **लोकान् विचक्रमे** इति. भगवतो ब्रह्माण्डरूपस्य उरः-कण्ठादिरूपेण उपरितनलोकानां निरूपणात्

प्रकाशः

ननु प्राकृताः इति शङ्कायाम् आहुः **अदितेः** इत्यादि. **अवरजः** इति. मैत्रावरुणीयोपनिषदि ''तमो वा इदमग्रे आसीद्'' (मैत्रायण्युप. ५।२) इति उपक्रम्य ''तद्रससंस्रवाद् रजः तस्यापि रसः सत्त्वम्'' (तत्रैव) इति श्रावणाद् शुद्धसत्त्वावतारात् **तेषामपि अवरजः** इति अर्थः. एतेन एकं गुणप्राधान्यम् उक्तम्. आच्छादक-विक्षेपक-दृढीकर्तृत्वेन इतरयोरपि आहुः **अदितिः** इत्यादि. ननु तत्र सर्वरूपत्वं ब्रह्मधर्मो निरूप्यतइति कथम् एवम्? अतः आहुः **यद्यपि** इत्यादि. **इत्येव मुख्या** इति, एतच्छ्रुतिनिरूपितत्वात् सैव मुख्या. **ताम्** इति रक्षां कीर्तिञ्च. तथाच रजस्तमसोरपि प्राधान्यम् इति अर्थः. तर्हि तत्र प्राकृतत्वमेव स्यात्, न ब्रह्मता इति मायायाः अन्तःपातनम् असङ्गतम् इति शङ्कायां ब्रह्मप्राधान्याय गुणैः ज्यायस्त्वं व्याकुर्वन्ति **गुणैः** इत्यादि. **के** इति. जगत्कर्तृत्वादि-धर्मवैशिष्ट्येनैव सिद्धे

लेखः

वा अदितिः इति. **अतो रक्षा-कीर्तिरूपम्** इति. अङ्गाच्छादकत्वेन रक्षकत्वं, दाहोत्तीर्ण-सुवर्णस्य यत्र तत्र दृष्टान्तीकरणाद् अमलबोधनात् कीर्तेश्च तथात्वाद् अस्यापि तत्त्वम् इति भावः. छन्दोमयत्वाद् वा कीर्तिरूपत्वम्. **ताञ्च** इति, रक्षां कीर्तिञ्च इति अर्थः. **के वा ते धर्माः** इति. तथाच जगत्कर्तृत्वाद्यनन्तोत्कृष्ट-धर्मवतो भगवतः तदपेक्षया के वै अधिकाः गुणाः उत्कर्षम् आदधत इति आशङ्क्य ततोऽपि उत्कर्षसिद्ध्यर्थं पूर्णस्य भगवतः

तत्र स्वेनैव आक्रमणं न [१]युक्तिसहितां बुद्धिम् आरोढुम् अर्हति. अतो भगवतो अन्ये धर्माः बुद्ध्या परिकलितुं[२] शक्यन्ते. सर्वरूपेणैव भगवतः स्वाक्रमणं न बुद्धिगम्यम् इति गुणत्वम्. बलिं प्रति पादस्य अग्रे [३]नयनप्रदर्शनं ''मम इच्छयैव भवन्तः स्वर्गादिलोक-भोक्तारो जाताः, वस्तुतस्तु चरणावयव-लोक[४]-भोक्तारः'' (इति ज्ञापनार्थम्!). तेषाम् उपरि आक्रमणं न नित्यम्. मेखला हि उभयपरिच्छेदकर्त्री. ''ऊर्ध्वं वै पुरुषस्य नाभ्यै[५] मेध्यम् अवाचीनम् अमेध्यं यन्मध्यतः संनह्यति मेध्यं चैवाऽस्य अमेध्यं

प्रकाशः

उत्कर्षे तादृशस्य ततो अतिरिक्ताः के इति अर्थः. **अतः** इति **अन्ये** इत्यनेन सम्बन्धः. स्वेन स्वाक्रमणाद् इतरे इति अर्थः. **गुणत्वम्** इति. सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीयमानत्वाद् गुणत्वं, नतु उत्कर्षाधायकत्वमपि इति अर्थः. ननु रूपवर्धनेनैव सर्वलोकाक्रमणे बलिसम्बन्धि-पदार्थस्य अवशिष्टस्य अभावात् ततएव कार्यसिद्धेः लोकविक्रमणस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **बलिं प्रति** इत्यादि. **न नित्यम्** इति न स्वाभाविकम्. तथाच तेषां स्वरूपं स्वेच्छाञ्च बोधनमेव प्रयोजनम् इति अर्थः. वामनावतारेणैव एतत्करणे प्रयोजनम् आहुः **मेखला** इत्यादि. ननु मेखलारूपत्वाद् अस्तु वामनावतारेण

लेखः

कटिमेखलायाः गुणान् निरूपयति इति अर्थः. **अतो भगवतो अन्ये** इति. आक्रमणधर्मतो **अन्ये** कर्तृत्वादयो **धर्मास्तु बुद्ध्या परिकल्पयितुं शक्यन्ते** इति अर्थः. **इति गुणत्वम्** इति, अत्युत्कर्षाधायक-गुणत्वम् इति अर्थः. स्वरूपे इति शेषः. ननु स्वरूपेणैव सर्वलोकाक्रमणे सिद्धे चरणविक्रमस्य किं प्रयोजनम्? अतः आहुः **बलिं प्रति** इति. **बलिं प्रति पादस्य** यद् **अग्रे** ऊर्ध्वं **नयनेन प्रदर्शनं** तत्तु वक्ष्यमाणाभिप्रायं ज्ञापयितुम् इति शेषः. तम् आहुः **मम इच्छयैव** इत्यादि. **चरणावयवेति,**

१. युक्तिसाध्यां ग. २. परिकल्पितुमिति क-घ. परिकल्पयितुम् इति लेखे - सम्पा.
३. नमनमिति ग. ४. -लोकानाम्- इति मा.१-मा.२ पाठयोः - सम्पा.
५. नाभेर्मेध्यं ग.

च व्यावर्तयति'' (तैत्ति.संहि. ६।१।३।४) इति श्रुतेः मेखलायाः तदुभयपरिच्छेदकत्वम्. ततो दैत्यानां स्वर्गाऽऽक्रमणं न युक्तमिति व्यावर्तकेन व्यावृत्तिः क्रियते. अतो युक्त्या परमार्थतश्च आक्रमणं न [1]सम्भावितम्. किञ्च **विशेषेण चङ्क्रमणं** सुतराम् असम्भावितम्. **विशेषो** हि विक्रमणेन पततां लोकानां तेनैव स्तम्भनम्. पातिकैव क्रिया पातयन्ती[2] पालयति इति आश्चर्यम्. किञ्च अतः परम् अन्यो विशेषः उच्यते भिन्नक्रमेण इति आह **अथ** इति. लोक-परमार्थाभ्यां पूर्वम् अलौकिकं निरूपितम्, अधुना स्वयं यज्ञरूपो यज्ञस्थापनां कुर्वन् यज्ञविघ्नं करोति इति वेदेऽपि

प्रकाशः

एतत्करणं, तावता उत्कर्षाधायकत्वस्य कथं सिद्धिः इत्यतः आहुः **अतः** इत्यादि. तथाच लोकतः परमार्थतश्च असम्भावितस्य करणाद् उत्कर्षाधायकत्वसिद्धिः इति अर्थः. उत्कर्षान्तरस्यापि सिद्धिम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. अत्र एवं बोध्यं— उपरि उत्क्षिप्तः चरणः स्वर्लोकं व्याप्य वेगेन उपरितनान् लोकान् पातयन् तेनैव स्थापयन् ब्रह्माण्डपर्यन्तं गतइति तेन तथा इति अर्थः. ततोऽपि अन्यम् आहुः **किञ्च अतः** इत्यादि.

लेखः

सुतलादि इति अर्थः. **व्यावर्तकेन व्यावृत्तिः** इति. **व्यावर्तकेन** मेखलारूपेण उभयविध-लोकव्यावृत्तिः क्रियते इति अर्थः. **विचक्रमे** इति विशेषचङ्क्रमणम् उक्तम् ज्ञेयम्. तत्र वैशिष्ट्यपदार्थं विवृण्वन्ति **विशेषो हि** इत्यादि. **पातिकैव** इति. पादस्थित-लोकानां हि पादस्य उर्ध्वम् आक्रमणे यद्यपि पातः सम्भाव्यः तथापि सैव क्रिया पालयति इति अयमेव विशेषः इति अर्थः. **लोक-परमार्थाभ्याम्** इति. पादेन सर्वलोकाक्रमणेन लोकदृष्ट्या अलौकिकत्वं, पातनानुकूल-क्रिययापि सर्वलोकानाम् उपष्टम्भेन परमार्थतो अलौकिकत्वं निरूपितम् इति अर्थः. **यज्ञविघ्नम्** इति. सोमाभिष्टावद् इष्टेनैव तस्य बन्धनादिना तथा इति अर्थः. प्रकारान्तरेणापि रूपविरुद्धकरणम् आहुः

---

१. न संभवतीति ख. २. पातयन्तीति नास्ति ग. पातिकयैव क्रियया पातयति इति मा.१-मा.२ पाठयोः -सम्पा.

अलौकिकम्. तद् आह **यद् अथाधियज्ञः** इति, यस्माद् अयम् अधियज्ञः. एवं सर्वप्रकारेण बुद्ध्यगोचरत्वं विनिरूप्य रूप-स्वभावविरुद्धं करोति इति आह **क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन** इति. वामनो हि स्वल्पामपि भूमिं देहेनाऽपि न आक्रमति ; तेन सर्वभूमिग्रहणं सुतराम् अयुक्तम्! नमनेनैव हि मेखलया कटिः आक्रम्यते. किञ्च **त्रिपदच्छलेन** इति, नहि भगवतः पदत्रयम् अस्ति. छलं हि भ्रमजनकम्. मानं हि तत्र

प्रकाशः

ततोऽपि अन्यम् आहुः **एवम्** इत्यादि. एतेनापि मेखलात्वं दृढीभवति इति आहुः **नमनेन** इत्यादि. ततोऽपि अन्यद् आहुः **किञ्च त्रिपदच्छलेन** इति. भगवता हि ''तस्मात् त्वत्तो महीम् ईषद् वृणे अहं वरदर्षभात्, पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम'' (भाग.पुरा. ८।१९।१६) इति उक्तं, तत्र 'त्रीणि' इत्यादि पदेषु यत् छलं[१] तेन इति अर्थः. कथम् अत्र छलम् इति आकाङ्क्षायां तं व्युत्पादयन्ति **नहि** इत्यादि. तथाच तदभावेऽपि तादृशपदोच्चारणं भ्रमजनकम् अतः तत् छलरूपम् इति अर्थः. ननु तत्र 'पदानि' इत्यनेन क्रमात्मकं मानम् उक्तं, तत्र च त्रित्वं सङ्गतमेव इति कथं छलत्वम् अतः आहुः **मानम्** इत्यादि. **मानं** वितस्ति-हस्तादिकं **हि** यतो हेतोः **तत्र** वस्तुनि **व्याप्तमेव** वृत्तिमदेव

लेखः

वामनेन इति. मेखलया कटिमेखलारूपेण वामनेन कटिमात्रम् आक्रम्यते. तथाच मेखलास्वरूप-विचारे कटिप्रदेशस्थानं तलमेव आक्रमणीयं नतु सर्वापि भूमिमिति रूपविरुद्धकरणं समर्थितं भवति इति भावः. स्वभावविरुद्धकरणम् आहुः **किञ्च** इति. **नहि** इत्यादि. अयम् अर्थः— विराट्स्वरूपवर्णने हि भगवत्पादद्वयएव लोकसन्निवेशस्य उक्तत्वाद् अत्र प्रदर्शित-वामनरूपस्यापि द्विपात्त्वात् पादत्रयकथनमेव छलम् इति अर्थः. ननु पादत्रयाभावेऽपि मानार्थं पादत्रयोक्तिः इति का वा अनुपपत्तिः इत्यतः आहुः **मानं हि** इत्यादि.

---

१. अत्र सर्वत्र लेखे च छलः इति पुल्लिङ्गपाठः छलम् इति नपुंसकलिङ्गः शोधितः मया - सम्पा.

व्याप्तमेव तद् गृह्णाति. [१]नहि भगवान् बुद्ध्या मानम् उक्तवान्. चरणस्तु निष्काशितो न मानं भवति. अतो भगवता[२] तृतीयः पादः कल्पनीयः इति ज्ञातव्यम्. वामनवाक्यानुसन्धानेन[३] तद्भ्रामकपदैः लोके अन्यथाप्रतीति-

प्रकाशः

भूत्वा **तद्** वस्तु **गृह्णाति ;** स्व-मितत्वेन ज्ञापयति इति मानस्वभावः. **हि** निश्चयेन **भगवान्** 'क्रम'पदम् अनुच्चारयन् क्रमरूपं **मानं न उक्तवान्. निष्काशितः** स्थितिस्थानाद् अन्यत्र निक्षिप्तः **चरणस्तु** निष्काशनधर्मेण मानस्वभावं विरुन्धन् **मानं न भवति. अतो** हेतोः उक्तवाक्यस्य न तद्बोधने[४] तात्पर्यं किन्तु 'पदा' पातालात्मकेन[५] 'सम्मितानि' समानानि 'मम त्रीणि पदानि' मानसाचलमिता-भूः रसातलं नाकपृष्टञ्च इति स्थानानि 'तस्माद्' हेतोः 'ईषन्मही त्वत्तो अहं वृणे' वाञ्छामि इति. तथा सति तस्माद् वाक्याद् **भगवता** वामनपादाभ्याम् अन्यः **तृतीयः पादः कल्पनीयः इति ज्ञातव्यम्.** तच्च बलिना वाक्याननुसन्धाने[६] सति न ज्ञातं, **तत्** तस्माद् हेतोः **भ्रामकपदैः** तथा इति अर्थः. ननु भगवता कुतो वाक्यार्थो न प्रत्यायितः? क्लिष्टं कुतः कृतवान्? इत्यतः आहुः **मायेत्यादि.** तथाच

लेखः

हस्त-वितस्त्यादिकं **मानं हि** मेये **व्याप्तमेव तद्** मेयं **गृह्णाति** मितत्वेन गृह्णाति इति अर्थः. एवञ्च भगवतस्तु पादं ब्रह्माण्डमपि अतिक्रम्य तिष्ठतीति कथं मानं स्याद्! अतः पादत्रयकथनमेव छलम् इति भावः. तदेतद् आहुः **न भगवान्** इति. **चरणस्तु** इति. भगवता **चरणो निष्काशितो** ब्रह्माण्डं भित्त्वा ऊर्ध्वं नीतो **मानं न भवति** इति अर्थः. **तृतीयः** इति. पूर्वोक्तरीत्या भगवतः पादयोः मानत्वासम्भवाद् ग्रहिलतया तथात्वाङ्गीकारे परिच्छिन्नः तृतीयः पादः कल्पनीयः स्याद् इति अर्थः. **वामनेत्यादि.**

१. न भगवानिति ख-लेखे - सम्पा. २. भगवतस्तृतीय ग.

३. वाक्यार्थानुसंधानेनेति ख. ४. पादक्रमबोधने : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

५. पातालात्मकत्वेन इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

६. वाक्यानुसन्धाने इति मा.पाठे - सम्पा.

जनकैः भूमियाचनं छलं[१] भवति. ''मायेत्यसुराः'' (मुद्गलोप. ३) इति तेषां मायारूपेणैव भगवान् भवतीति भगवता सत्यतया निरूपितमपि छलत्वेन पर्यवसितमिति तथा उच्यते. एवं भगवतो महद्गुणान् विनिरूप्य तत्र जातं दोषं याचनलक्षणं निराकरोति **याच्ञामृते** इति. याच्ञा हि द्विविधा, सेवककर्तृका प्रभुकर्तृका च. तत्र सेवककर्तृका प्रभोः दोषावहा, न प्रभुकर्तृका. वस्तुतस्तु इयं याच्ञा प्रभुकर्तृका. वस्तुतः प्रभोरपि धनम् अन्येषु स्थापितं, नीतिमार्गेण तस्य याचनमेव उचितम्. स्वेनैव तत्र स्थापितत्वात् **पथि चरणम्**. अनङ्गीकारएव हि बलाद् ग्रहणम्. **न चाल्यः** इति, स्थानाद् न निष्कासनीयः. याच्ञां कृत्वा तु निष्कासनीयः तदनङ्गीकारे. **क्ष्माम्** इति भूमिमेव गृहीतवान् याच्ञयाऽपि. **(विभुभिः!)** दैत्यानां हि तत्र

प्रकाशः

तज्जातिदोषादेव तथा इति न क्लिष्टत्वलेशोऽपीति अस्यापि गुणत्वं निर्बाधम् इति अर्थः. याच्ञारूपे दोषे अत्र प्रसक्ते अस्य गुणस्य उत्कर्षाधायकता न स्याद् इत्यतः आहुः **एवम्** इत्यादि. कथं प्रभुकर्तृकता इत्यतः[२] आहुः **वस्तुतः प्रभोः** इत्यादि. ननु ऐन्द्रं पदं बलेन गृहीतम् अतः कथं मार्गवर्तित्वम् इत्यतः आहुः **स्वेन** इत्यादि. ''यज्ञो वै विष्णुः'' (तैत्ति.संहि. १।७।४।४) इति श्रुतेः यज्ञात्मना **स्वेनैव स्थापितत्वात्** तथा इति अर्थः. **तदनङ्गीकारे** इति, याच्ञानङ्गीकारे चाल्यः[३] इति अर्थः. ननु तथापि बन्धनं क्लिष्टकर्मत्वम् आदधाति इति चेत्, तत्र आहुः **दैत्यानाम्** इत्यादि. तत्र जघनरूपायां भूमौ उत्पन्नानां तत्स्वामित्वं वास्तवं, भूमिः वस्तुतो दैत्यानां यावदासीनः परापश्यति तावद् देवानाम् (द्रष्ट.तैत्ति.ब्रा. ३।२।९।६) इति श्रुतेः.

लेखः

... . ननु वटुरूपेण कृतायाः याचनायाः कथं प्रभुकर्तृकत्वम्? इत्यतः आहुः **वस्तुतस्तु** इति. इदमेव व्युत्पादयन्ति **वस्तुतः** इत्यादिना. **अतो**

---

१. छलः इति मुद्रितपाठः. खपाठे तु एवम् - सम्पा.

२. इति इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

३. च अस्य इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

उत्पन्नानां तत्स्वामित्वमेव, अतो हि बन्धनम्, अन्यथा पातालादिषु क्वचिदपि तत्स्वामित्वे ग्रहणं न स्यात्. अबद्धश्च स्वाम्यं सर्वथा करिष्यत्येव इति बन्धनम्. अनेनाऽपि च्छलं[१] समर्थितं भवति. एकस्य अंशस्य याचनम् अंशद्वयस्य (च!) त्याजनं (न छलं!), त्रयाणान्तु याचनं च्छलम्[२]. सन्नियोगशिष्टत्वात् त्रयाणां याचनम्, अन्यथा शेषाभ्यनुज्ञा स्यात्

प्रकाशः

अतो हेतोः **बन्धनम्** इति अर्थः. एतदेव स्फुटीकुर्वन्ति **अन्यथा** इत्यादि. **अन्यथा** इति वास्तव-स्वामित्वाभावे. **ग्रहणम्** इति याच्ञया ग्रहणम्. **करिष्यत्येव** इति मनसा करिष्यति. तथाच "क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः" (भाग.पुरा. ८।२२।२०) इति वाक्यात् कुधीत्वे पूर्णा कृपा न स्यादिति न तेन क्लिष्टकर्मत्वम् इति अर्थः. एतस्य आनुषङ्गिकं प्रयोजनान्तरम् आहुः **अनेन** इत्यादि. **अनेन** इति बन्धनेन. तद् व्युत्पादयन्ति **एकस्य** इत्यादि. ननु एवं दोषापादकं छलेन याचनं कुतः कृतवान् इत्यतः आहुः **सन्नियोगे**त्यादि. सहि लोकत्रयम् इष्टे अतः तथा इति अर्थः. ननु "नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् यावदर्थपरिग्रहः" (भाग.पुरा. ८।१९।१७) इति भगवता वामनेन उक्तत्वाद् भगवतः स्वापेक्षित-याचनमेव युक्तम्; [३]एतच्छलप्रयोजनं न पश्यामः इति शङ्कायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. एकमात्रयाचने शेषाभ्यनुज्ञापत्तौ

लेखः

हि बन्धनम् इति, स्वामित्व-निवृत्त्यर्थम् बन्धनम् इति अर्थः. **एकस्य अंशस्य** इत्यादि. पादत्रययाचनेन भूर्भुवः-स्वर्लोकानां याचनम् अभिप्रेतम्. तत्र क्ष्मा-रूपकस्यैव अंशस्य याचनेन ग्रहणम्, अंशद्वयं तु त्याज्यम् इति अर्थः. तर्हि किमिति त्रयाणां याचनम् इत्यतः आहुः **सन्नियोगे**ति. लोकत्रयस्य सन्नियोगशिष्टत्वाद् बलेः तन्ममताम् एकहेलयैव त्याजितवान्.

---

१. छलः समर्थितः इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ख-गपाठानुसारेण - सम्पा.

२. छलः इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ख-गपाठानुसारेण - सम्पा.

३. अतः छल- इति मा.पाठे - सम्पा.

क्रियाद्वयं वा आपद्येत. तस्माद् मेखलया भूमिग्रहणम् उचितमेव ॥१७॥

ननु भगवान् भक्तिमार्गविरुद्धं कथं कृतवान्? गुणाः हि भक्तिजनकाः भक्तैरेव ग्राह्याः आदरणीयाश्च. नच ''भगवान् भक्तिविरुद्धमपि करोति'' इति शास्त्रार्थो भवति. तस्माद् अस्य चरित्रस्य गुणत्वेऽपि न प्रकृतोपयोगिगुणत्वम् इति आशङ्क्य आह **न अर्थो बलेः अयम्** इति.

नाऽर्थो बलेरयमुरुक्रमपादशौचम्
अम्भः शिखाधृतवतो विबुधाधिपत्यम् ॥
यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्यद्
आत्मानमङ्ग शिरसा हरयेऽभिमेने ॥१८॥

भक्तिविरोधः तदा आपतति यदि भक्त्यनभिप्रेतः[१] स्यात्. नहि मेखलया कटिबन्धनं कटिस्थानस्य अनभिप्रेतं भवति. नहि भक्तस्य धनं भगवता उपभुज्यमानं तस्य दुःखाय भवति, तदीयस्य सर्वस्याऽपि तदर्थत्वात्. लोकप्रतीत्या[२]तु यो विरोधः सः गुणएव. भक्तैः चेद् विरोधो मतः स्यात् तदापि

प्रकाशः

कुधीत्वं पुनः प्रसज्येत! पुनः तदर्थे यत्ने कर्तव्ये पुनः याचनञ्च आपद्येत! अतः कृपार्थं क्रियासौकर्यार्थं तत्परीक्षार्थं तत्सत्यख्यापनार्थञ्च छलम् इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि ॥१७॥

नार्थ इत्यत्र. **भक्तिमार्गविरुद्धम्** इति भक्तबन्धनादिकम्. **कटिस्थानस्य** इति, कटिः स्थानं यस्य इति अर्थः. ननु धनग्रहणं तु तथा भविष्यति

लेखः

अन्यथा एकस्य अंशस्यैव याचने शेषस्य ममता न्यायप्राप्ता स्यात्, ततः तन्ममतानिवृत्त्यर्थं भगवत्क्रियान्तरमपि सम्पद्येतेति तथैव उचितमेव इति ॥१७॥

नार्थ इत्यत्र. **भक्तिविरुद्धम्** इति, भक्तबन्धनादिकम् इति अर्थः. **कटिस्थानस्य** इति. ''जघने आत्ममुख्यान्'' (भाग.पुरा. ८।२०।२४) इति वाक्याद् बलेः कटिसमीपतरवर्ति-जघनस्थत्वाद् मेखला जघनम् आरभ्य कटिम् आक्रम्य तिष्ठतीति युक्तमेव उक्तम् इति भावः. **भक्तैः चेद्**

१. भक्तानभीति क. भक्त्यनभिप्रेतं इति घ. २. -प्रतीत्या य इति ख.

परिहरणीयः — अभिमानवतामपि[१] भक्तानाम् अनभिप्रेतत्याजनं सुखकरमेव. तद् आह अस्य भक्तस्य **बलेः** भगवत्पूजारूपस्य **विबुधाधिपत्यम् अर्थः** फलं पुरुषार्थो वा **न** भवति. पूजा हि असम्बद्धा न भगवत्प्रीतिं जनयतीति दैत्यानां सम्बन्धनिराकरणार्थं मन्त्रैः तत्परिच्छेदकरणं युक्तमेव. **अयञ्च** लोकत्रयात्मको विषयो **बलेः न अर्थः**. तर्हि कथं पूर्वं तेन गृहीतम् इति आशङ्क्य आह **उरुक्रमपादशौचम्** इति. सहि भगवच्चरणारविन्दे समर्पणार्थं पूर्वं गृहीतवान्. अधुना चरणप्रक्षालनं कृत्वा तत् तस्मिन् निवेद्य **(अम्भः!)** तच्चरणारविन्दोदकं **शिखायां धृतवतो** भगवदीयत्वं प्राप्तः, तादृशशरीरप्राप्ति-योग्यतां वा प्राप्तः. कक्षात्रयम् उपरि गतः तादृशस्य प्रथमकक्षा न पुरुषार्थाय. नहि भगवता बलाद् अयं कक्षात्रये नीतः,

---

प्रकाशः

इत्यतः आहुः **नहि** इत्यादि **युक्तमेव** इत्यन्तम्. **मन्त्रैः** इति, अदितिं प्रति बलिं प्रति वा गुप्तभाषणरूपैः भगवद्वाक्यैः. **अयम्** इति पुल्लिङ्गप्रयोगानुसारेण आहुः **अयञ्च** इत्यादि. **कक्षात्रयम्** इति, प्रथमेऽध्याये केवलतमो - रजस्तमः - केवलरजः इत्यादिना प्रतिपादितं पातालादि-स्वर्लोकपर्यन्तं भागत्रयम्. ननु एवं सति भगवता किमिति सुतले स्थापितो, अग्रे भावि इन्द्रत्वञ्च किमिति कृतम् इति शङ्कायाम् आहुः **नहि** इत्यादि. तथाच यदि उपरितनकक्षासु अयोग्यः स्यात्, प्रसादेन कक्षात्रये न नीतः स्यात्. यदि वा प्रत्याक्रमणेच्छुः स्यात्, "नूनं बताऽयं भगवान् अर्थेषु न निष्णातो यो असौ इन्द्रः" (भाग.पुरा. ५।२४।२४) इत्यादीनि भगवद्दासस्य प्रशंसावाक्यानि न वदेत्. अतो न तथेति तदुभयं प्रसादरूपमेव

लेखः

इति. ... . **असम्बद्धा** इति, बहिर्मुखैः दैत्यैः असम्बद्धा इति अर्थः. **मन्त्रैः** इति. यागाङ्गैः तैः दैत्यादि-बहिर्मुखानां **परिच्छेदकरणं** भिन्नकरणं दूरीकरणं **युक्तमेव** इति अर्थः. **कक्षात्रयम्** इति, दानव-मनुष्य-देव-कक्षातः **उपरि** परमभक्तत्वं **गतः** इति अर्थः. "न किंकरो न अयम् ऋणी

---

१. -मानवतां भक्तानां ग.

नहि अयं प्रत्याक्रमणेच्छुः. भगवांस्तु बलिस्थाने स्थितः श्रुत्यर्थपरिपालनाय[१], "स त्वै[२] विष्णुक्रमान् क्रमेत य इमान् लोकान् भ्रातृव्यस्य संविद्य[३] पुनरिमं लोकं प्रत्यवरोहेद्" (तैत्ति.संहि. १।७।६।२) इति श्रुतेः, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" (भग.गीता ४।११) इति वाक्याद्, दानस्य साफल्याच्च ; अनन्तगुणं हि पात्रे दत्तं[४] भवति. अतो अनन्तब्रह्माण्डाधारो भगवान् तस्य सिद्धः. अतः पूर्वस्वीकृतत्रैलोक्यं **न अर्थः**. किञ्च पूर्वं महादेवाय त्रैलोक्यं दत्तं भगवतैव. पश्चात् चरणोदकं मस्तके स्थापयित्वा ऐश्वर्यादौ विरक्तः सन् पुनः चरणमेव ध्यायति. अयञ्च तथा. **उरुक्रमस्यैव पादशौचं** चरणारविन्दोदकं महादेवस्य[५] अस्यापि तुल्यम्. **विबुधाधिपत्य**ञ्च अस्य

प्रकाशः

तत्स्वरूपज्ञापनाय भगवता दत्तम् इति अर्थः. ननु निर्बन्धेन न नीतः स्यात् तत्र भगवान् किमिति तिष्ठेत् तत्र आहुः **भगवान्** इत्यादि. तथाच तत्र अस्थितौ प्रत्यवरोह-श्रुतिः विरुध्येत इति तदर्थपरिपालनाय तथा इति अर्थः. हेत्वन्तरम् आहुः **ये यथा** इत्यादि. यथा सः भगवदधीनो जातः तथा भगवानपि इति प्रतिज्ञापूर्तयेऽपि तथा इति अर्थः. तृतीयो हेतुस्तु व्याख्यायतएव. **उरुक्रमे**त्यादेः तात्पर्यान्तरम् आहुः **किञ्च पूर्वम्** इत्यादि.

लेखः

च राजन्" (भाग.पुरा. ११।५।४१) इति वाक्याद् इति भावः. **प्रत्याक्रमणेच्छुः** इति. दाने फलत्वेन पुनः स्वर्गादि-लोकाक्रमणेच्छुः न इति अर्थः. **भगवांस्तु** इति. यः इमान् लोकान् शत्रवे याचकान् यद् अविभज्य ददाति सः विष्णुक्रमान् उत्तमान् लोकान् आक्रम्य पुनः क्रमाद् उत्तमान् लोकान् आक्रम्य पुनः इमम् लोकं प्राप्नोति इति श्रुत्यर्थ-परिपालनाय सकललोकमय-ब्रह्माण्डाधारो भगवान् बलिस्थाने सुतले स्थितः इति अर्थः. अत्र ... इति वाक्यम् अनुसन्धेयम्. **पूर्वं महादेवाय** इति. ... . दैत्यत्वत्याजनं स्फुटयन्ति

१. श्रुत्यर्थश्च पालनीय इति ग.

२. स वै विष्णुरिति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-ख-घ पाठानुसारेण - सम्पा.

३. संविध्य क. संवियुज्य ग. संविज्य इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु संहितापाठः - सम्पा.

४. पात्रे दत्ते इति ग. ५. महादेवस्यापीति ख.

न अर्थो यथा महादेवस्य. दास्यार्थं हि एवं कृतवान् इति ज्ञापनार्थं चरणारविन्दोदक-धारणमेव हेतुत्वेन उक्तं नतु दानादि, अन्यशेषत्वात्. किञ्च **यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षद् अन्यद्** इति. यस्तु स्वसङ्कल्पनिर्वाहार्थं बहु विचारितवान् पश्चात् तृतीयपादार्थं स्वशिरो दत्तवान् नहि एतादृशः पूर्वदत्तं कामयते. भगवतस्तु एवं करणं दैत्यत्व-त्याजनार्थम्. देवेषु सत्यं दैत्येषु च अनृतं प्रतिष्ठितम्. तद् अशक्यमपि प्रतिश्रुतम् अनेन सत्यं चेत् कृतं तदा सत्ये प्रतिष्ठितो भगवद्धर्ममेव प्राप्तवान्. **अन्यद्** इति रूपभेदोऽपि निवारितः. **आत्मानं** देहम्. **अङ्ग** इति स्नेहसम्बोधनं तस्मिन् भगवतः स्नेहसूचनार्थम्. **शिरसा** इति, प्रधानेन सह आत्मसमर्पणं ब्रह्मज्ञानेन सहितं कृतम् इति सूचितं भवति. अयम् **आत्मानं शिरसा** सह **हरये अभितो मेने.** ''अनेन शरीरेण भगवतएव कार्यं ; न वा मम न अन्येषाम्'' इति **अभि**शब्दार्थः. यथा हि तस्य मनोरथः तथैव च सिद्धिः. यथा भगवते दत्तं वस्तु तदर्थं बध्वा स्थाप्यते तथा बलिः स्थापितः इति न भक्तिविरोधः. अतएव [१]तेषां गुणत्वात् तस्य महती भक्तिः जाता, अन्यथा मात्सर्यादिकम् उत्पद्येत जय-विजयवत्. तस्माद् एतेषां

प्रकाशः

रूपभेदः इति भावभेदः ॥१८॥

लेखः

देवेषु इत्यादि. **रूपभेदोपि** इति. साक्षाद्दानाऽसम्भवे तदनुकल्परूपं दानं विहितं, तद् न कृतम् इति अर्थः. **तस्मिन्** इति. बलौ इति अर्थः. **तथा बलिः स्थापितः** इति, बद्ध्वा भगवता स्थापितः इति अर्थः. **न भक्तिविरोधः** इति, बलिबन्धनेन भक्तिविरोधो न इति अर्थः. **अतएव तेषाम्** इति. यतो वामनस्वरूपे वर्तमानानां धर्माणां बलेः बन्धनेन स्वाधीनीकरणम् अतः तेषां धर्माणां गुणसादृश्याद् गुणरूपत्वम्. तस्माद् बन्धनेनापि बलेः महती भक्तिः जाता इति अर्थः. **अन्यथा** इति, एतद्धर्माणां गुणत्वाभावे इति अर्थः. गुणानाम् अनुरञ्जकत्वाद् बन्धनादिनापि मात्सर्यं न इति

१. एतेषाम् इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

गुणत्वाद् वामनो मेखला, तेन च[१] विभूषितत्वं, सर्वत्र भक्तौ उपयोगात्—माहात्म्यज्ञाने स्नेहे च फले च इति ॥१८॥

अङ्गुलीयकैः विभूषितत्वम् आह **तुभ्यं च नारद** इति.

तुभ्यं च नारद भृशं भगवान् प्रवृद्ध[२]-
भावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम् ॥
ज्ञानं च भागवतमात्मसतत्त्वदीपं
यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव ॥१९॥

अङ्गुलीयकानि दशः विंशतिः वा भवन्ति. तावन्ति हि भगवद्रूपाणि यावन्ति नारदेन दृष्टानि अन्यैरपि. नारदं प्रति भगवदवताराः ''दर्शनं याति चेतसि'' (भाग.पुरा. १।६।३३) इति वाक्याद् अनन्ताएव. अङ्गुलयः चतुर्भुजे विंशतिः भवन्ति, अनन्तभुजत्वे[३] अनन्ताः. नारदेन तत्सदृशैः अन्यैश्च

प्रकाशः

तुभ्यम् इत्यत्र. अङ्गुलीयावतारत्वं नारदादि-दृष्टेषु व्युत्पादयन्ति **अङ्गुलीयके**त्यादि. ननु मूले गुरुत्वेन एकएव भगवान् निर्दिष्टइति सएव दृष्टः, तथा सति कथं बहुत्वम् इत्यतः आहुः **नारदं प्रति** इत्यादि. तत्तद्गुण-क्रिया-विशिष्ट-रूपाणां बहुत्वं ''बहूनि सन्ति नामानि'' (भाग.पुरा. १०।८।१५) इत्यत्र 'सन्ति' इति प्रयोगाद् व्युत्पादयिष्यते ; तद्रीत्या अनन्तत्वम् उपपन्नम् इति अर्थः. ननु दशादिसङ्ख्या उक्ता इति अनन्तत्वे कथम् अङ्गुलीयकत्वम् इत्यतः आहुः **अङ्गुलयः** इत्यादि. अन्यदृष्टानां सङ्ग्रहे

लेखः

भावः. **जयविजयवद्** इति. तथाच सनकादिष्वपि अवतारत्वाविशेषेऽपि गुणत्वाभावात् तद् ईषदतिक्रममात्रेण जय-विजययोः मात्सर्यमेव उत्पन्नं, नतु भक्त्यादिरपि इति तथा इति भावः. वामनचरित्रस्य भक्त्युपयोगित्वं विस्पष्टम् आहुः **माहात्म्यज्ञाने** इत्यादि. **उपयोगाद्** इति पूर्वोक्तम् अनुकृष्यते ॥१८॥

---

१. चो नास्ति ख.   २. विवृद्धेति पाठः ख-ग.   ३. -भुजे त्वनन्ताः क-घ.

परिदृश्यमानाः हि मूर्तयो भगवतो अनन्ताः, अतएव **तुभ्यं च** इति **च**कारः. तेषाम् अङ्गुलीयकत्वम् अवयवान्तोपयोगात्. ते हि भक्ताः संसारान्ते भवन्ति. अनेन सर्वात्मकस्य भगवतो भक्ताः अङ्गुलयः इति निरूपितम्. ते हि सर्वशरीरोपकारिणः सर्वक्रियाहेतवः. ''महाधनैः'' (भाग.पुरा. २।२।११) इति विशेषणात् तेषु बहुधनम् अस्ति इति ज्ञापितम्. तानि धनानि अग्रे वक्ष्यामः. **तुभ्यं** नारदाय त्वदुपयोगार्थं **च**काराद् अन्योपयोगार्थं च **योगम् उवाच** इति सम्बन्धः. तत्र **साधुपरितुष्टः** इति हेतुः, तस्य योगस्य मूल्यरूपत्वात्. नहि केनाऽपि अंशेन अपरितुष्टः स्वमूल्यं वदति.

प्रकाशः

मानम् आहुः **अतएव** इति. भक्तानाम् अङ्गुलित्वं साधर्म्येण गमयन्ति **ते** इत्यादि. **तेषु** इति दृष्टेषु स्वरूपेषु. **मूल्यरूपत्वाद्** प्राप्त्युपायरूपत्वात्.

लेखः

तुभ्यम् इत्यत्र. अत्र नाम्ना अवतारविशेषस्य अनिर्दिष्टत्वाद् ''न उद्धवो अण्वपि मन्न्यूनः'' (भाग.पुरा. ३।४।३१) इत्यादिषु भक्तानां भगवदभिन्नत्व-निरूपणाद् भक्ताअपि लीलावताराएव इति आशयेन अत्र भक्तानां निरूपणं ज्ञेयम्. तत्रापि एषः विशेषः— अङ्गुलीयाभूषणं हि भूषणीयावयव-निर्देशपूर्वकं निर्दिश्यते, नतु मेखलादिवत् केवलम्. तेन भक्तानाम् अङ्गुलीत्वं तदाभरणरूपत्वञ्च सिद्ध्यति इति. तत्र आदौ भूषणत्वं व्युत्पादयन्ति **तेषाम् अङ्गुलीयकत्वम्** इत्यादि. **तेषाम्** अङ्गुलीयकानां हस्त-स्वरूपावयवस्य अन्तःभूताः ये अङ्गुलयः तत्र **उपयोगाद् अङ्गुलीयकत्वम्** उच्यते. एवम् अत्रापि सङ्घाते विद्यमानो अन्यथाज्ञानरूपो यः संसारः तदन्तेषु भक्तानाम् उपयोगाद् धर्मसाम्याद् अङ्गुलीयत्वम् इति भावः. अङ्गुलीत्वं व्युत्पादयन्ति **अनेन** इति. **ते हि** इत्यादिना वक्ष्यमाणहेतुना इति अर्थः. **ते हि** इति. **ते** अङ्गुलीरूपावयवाः **सर्वशरीरोपकारिणः** इति. एवमेव भक्ताअपि सर्वोपकारित्वाद् अङ्गुलयः इति भावः. **तेषु** इति, अङ्गुलीरूप-भावापन्न-भक्तेषु इति अर्थः. **अग्रे** इति, अनुपदमेव अत्रैव वक्ष्यामः इति अर्थः. **मूल्यरूपत्वाद्** इति, भगवत्प्राप्त्युपाय-साधनत्वाद् इति अर्थः. भक्त-भगवतोः अभेदविवक्षया इदम् उक्तं ज्ञेयम्. तेषु धनम्

चतस्रो हि अङ्गुलयः एकश्च अङ्गुष्ठः ; सच [१]समानवीर्यो भवति ताभिः. साहि भक्तिः अङ्गुष्ठमूल्यं भवति, तेन परितुष्टो वा भगवान्. योगो, ज्ञानं, परिचर्या[२], शारीरज्ञानं[३] च अङ्गुलीस्थानीयाः ; चतुर्भिरपि भक्तहितो भगवान् प्राप्यते, भक्त्या च. तद् आह **भृशम्** अत्यर्थं **प्रवृद्धभावेन.** निरन्तर-श्रवणादिना तत्तन्मार्गे उत्पन्ना प्रीतिः सर्वं[४] हृदयं पूर्णं विधाय यदा उच्छलिता भवति, यथा[५] बहिः स्पष्टतया प्रेम अनुभूयते, सः

प्रकाशः

[६]तदेव व्युत्पादयन्तो धनानि वदन्ति **चतस्रः** इत्यादि **भक्त्या च** इत्यन्तम्. तथाच लीलावताराणामेव अनुक्रान्तत्वाद् अत्र उपदेष्टृभूतं मूलरूपं न

लेखः

उपपादयितुम् आह **चतस्रो हि** इत्यादि. **समानवीर्यः** इति. क्वचित् च 'समानवद्वीर्य' इति पाठभेदो दृश्यते. वस्तुतस्तु **समानवीर्यः** इति पाठः प्रतिभाति. ताभिः अङ्गुलीभिः समानं वीर्यं यस्य इति तदर्थः. ताभिः समानवीर्यत्वम् उपपादयितुम् आहुः **साहि** इत्यादिना. **साहि** प्रसिद्धा योगादिसाध्या **भक्तिः अङ्गुष्ठमूल्यं भवति** अङ्गुष्ठाश्रितं भवति. तथाच भक्तिरूपं धनम् अङ्गुष्ठाश्रितं भवति इति भावः. **तेन** इति, भक्तिरूपधर्मेण **परितुष्टो भगवान् वा** धनम् इति अर्थः. **योगः** इत्यादि. एतावता "वैराग्यं साङ्ख्य-योगौ च तपो भक्तिश्च केशवे" (त.दी.नि. १।४५) इति विद्यायाः पञ्चपर्वाणि, तत्तुष्टो भगवांश्च धनानि इति उक्तं भवति इति भावः. तत्र भगवज्ज्ञानस्य वैराग्यसाधकत्वात् साध्य-साधनयोः ऐक्यविवक्षया **ज्ञान**पदेन वैराग्यम् उक्तम्. **परिचर्या**पदेन तपः. साङ्ख्यस्तु आत्माऽनात्मविवेकः **शारीरज्ञानाद्** उक्तम्. शेषं स्पष्टम्. **उच्छलिता भवति** इत्यस्यैव व्याख्यानं **यदा बहिः** इत्यादि. **अपरितोषेति.** अपरितोषेण सह अभावो = असंमिश्रत्वं

---

१. समावद्वीर्यो इति मुद्रितपाठः. समानवद्वीर्यो इति ख-ग. गृहीतस्तु लेखानुरोधात् - सम्पा.

२. परिज्ञानम् इति मा.१ पाठः - सम्पा. ३. शरीरेति घ. ४. सर्वहृदयमिति ख.

५. यदा बहिरिति ख-ग-लेखे - सम्पा. ६. एतदेव इति मा.पाठे - सम्पा.

प्रवृद्धो भावः. तेनैव **भगवान् परितुष्यति,** गुणानां भगवतः च अवगाहनयोग्यत्वात्. अतएव **साधुपरितुष्टः**. परितोषानन्तरमपि भक्तिपूरस्य विद्यमानत्वात् परितोषस्य साधुत्वम् = अपरितोषासहभावः स्वनित्यता च. परितस्त्वन्तु तदीयानामपि उद्धारकत्वेन. तदा हि **योगम् (उवाच!)** आह. तथा उपायम् उक्तवान् येन उपायेन भगवान् दृश्यतएव. बहिर्दर्शने भक्तिरेव हेतुः, अन्तर्दर्शने योगः. विद्यमानस्य दर्शने द्वयं भगवतो **ज्ञानं,** जीवानाम् **(आत्मसतत्त्वदीपं!)** आत्मतत्त्वप्रदर्शनञ्च, **चकाराद्** ब्रह्मज्ञानञ्च स्वरूपं ज्ञानञ्च[१] ब्रह्ममीमांसायां निरूपितं, निर्धर्मकः सर्वधर्मादिरूपेण स्वयमेव आविर्भवति इति. **भागवतं** पुरुषोत्तमज्ञानम्. **आत्मनो** जीवस्य **तत्त्वं** शुद्धचैतन्यरूपं, तत्प्रकाशो = वृत्तिफलनेन स्वतो वा आविर्भाविन तज्ज्ञानं **दीपः**, तेन सहितम् **आत्मसतत्त्वदीपम्**. ब्रह्मात्मत्वज्ञानं वा. **चकारात्**

प्रकाशः

अङ्गुलीयकत्वेन विवक्षितं किन्तु परितुष्टोक्त-साधनदृश्यानि रूपाणि. अतएव अत्र अवतारनाम न उक्तमिति तस्मात् तथा इति अर्थः. ननु "भक्त्या तु अनन्यया" (भग.गीता ११।५४) इति वाक्ये दर्शनस्य भक्तिसाध्यत्वम् अतः कथं योगदर्शनम् इत्यतः आहुः **बहिः** इत्यादि. **तत्प्रकाशो वृत्तिफलनेन** इत्यादि. ज्ञानप्रसादेन श्रुतौ "ध्यायमानः" (मुण्डकोप. ३।१।८) इति पदात् तादृशप्रत्यग्वृत्तौ आत्मनः प्रतिफलनेन, "कश्चिद् धीरः" (कठोप. २।१।१) इति श्रुत्युक्तेन **स्वतो आविर्भावेन वा** इति अर्थः. **तज्ज्ञानम्** इति आत्मविषयक-प्रकाशरूपं ज्ञानम्. तथाच आत्मयुक्तं सतत्त्वदीपम् **आत्मसतत्त्वदीपम्** इति समासः इति अर्थः. एतस्य पक्षस्य क्लिष्टत्वात् पक्षान्तरम् आहुः **ब्रह्मात्मत्वज्ञानं वा** इति. **सतत्त्वशब्दएव** अनागन्तुकरूप-वाचकत्वे प्राग्भिः आद्रियते, तथा सति आत्मनः सतत्त्वदीपम् इति समासः

लेखः

परितोषनित्यता च **साधुत्वम्** इति पूर्वान्वयि. **तदीयानाम्** इति, भक्तसम्बन्ध-सम्बन्धिनाम् इति अर्थः. **द्वयम्** इति, तदेव आहुः **भगवतः**

---

१. ब्रह्मस्वरूपज्ञानम् इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-घपाठानुसारेण - सम्पा.

क्रियायोगः, तस्य फलं भक्तिः इति अग्रे वक्ष्यते. ननु योग-यज्ञ-ज्ञानादीनां[१] पूर्वमेव सिद्धत्वाद् बहुभिश्च प्रकाशितत्वात् तदर्थं किं भगवदवतारेण इत्यतः आह **यद्वासुदेवशरणाः** इति. **यस्माद्** नारदार्थं प्रोक्त-पञ्चरात्रादेः **वासुदेवशरणाः** मोक्षदातुः [२]सत्त्वाधिष्ठात्री-देवतारूपस्य शरणगमनमात्रेणैव तपआदीनाम् अभावेऽपि **अञ्जसा** सामस्त्येनैव सुगममार्गेणैव **विदुः** ज्ञानवन्तः. आश्रयमात्रेणैव सुगमतया परिज्ञानं पुनःकथने हेतुः. अथवा भगवद्भक्ताः भगवत्पराः कर्म वा योगं वा ज्ञानानि वा न मन्यन्तएवेति तदर्थं भगवता एतानि उक्तानि. अतः परं भगवदुक्तानीति परमश्रद्धया तेषु प्रवर्तन्ते, मार्गगताश्च[३] भवन्ति, कृतार्थाश्च. अन्यथा उत्पथाः [४]उन्मदाश्च भवेयुः, भक्तेः मादकत्वात्. एतदर्थं भगवान् भक्तिसाधकानि[५] उक्तवान् इति अर्थः ॥१९॥

नुपूर-कङ्कणादिभिः विभूषितं निरूपयति[६] **चक्रं च** इति. अत्र 'आदि'शब्देन द्वादशाङ्गोपयोग्याभरणानि उच्यन्ते. तत्र पादयोः हस्तानाञ्च नुपूर-कङ्कणादिभिः

प्रकाशः

इति अर्थः. परिचर्यासङ्ग्रहाय आहुः **चकाराद्** इत्यादि. **अग्रे** इति, "भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्" (भाग.पुरा. ११।२७।५३) इति एकादशस्कन्धे ॥१९॥

चक्रञ्च इत्यत्र. अत्रापि अवताराणाम् अस्फुटत्वात् सङ्ख्यादिविरोधस्य प्रसज्यमानत्वाच्च तान् विशदीकुर्वन्तः उपपादयन्ति **अत्र आदि** इत्यादि.

लेखः

इत्यादि. **तस्य** इति, भगवत्पूजात्मक-क्रियायोगस्य इति अर्थः. **अग्रे** इति. "भक्तियोगं सः लभते एवं यः पूजयेत माम्" इत्यादिना एकादशे वक्ष्यते इति अर्थः ॥१९॥

---

१. योगज्ञानादीनां ख. २. सर्वाधिष्ठातृदेवतेति ख. ३. शरणं गताश्चेति ग.

४. उन्मादाश्च इति मुद्रितपाठः प्रामादिको भाति - सम्पा.

५. -साधनान्येतान्युक्तवान् इति क-ख-ग. -कान्येतान्यु- इति मा.१-मा.२ पाठयोः - सम्पा. ६. वर्णयतीति ख-ग.

ध्येयत्वम्, एवं कण्ठाभरणानि, मुकुटादीनि च. सर्वाणि एतानि द्वादशाङ्गविभागेन द्वादशविधानि. तानि मन्वन्तरावतारेण उच्यन्ते. यद्यपि मेखलायाः वनमालायाश्च एतन्मध्यएव वचनम् उचितं – तथा सति चतुर्दशत्वं, मन्वन्तरावतारसङ्ख्या च उपपद्यते – तथापि तयोः विशेषप्रयोजनस्य विद्यमानत्वात् पृथग् निरूपणम् उक्तम्. एतेषामपि विशेषणं ''महाधनानि'' (/''महाधनैः'' -भाग.पुरा. २।२।११!) इति सर्वमन्वन्तरेषु[१] भगवान् योगादिकम् उपदिशति इति सूचितम्. तद् आह.

चक्रं च दिक्ष्ववविहितं दशसु स्वतेजो
मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्ति ॥
दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्वकीर्तिं
सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः ॥२०॥

चक्रम् इति. **मन्वन्तरेषु** भगवान् **स्वतेजो बिभर्ति** पालनसामर्थ्यं बिभर्ति, सर्वं[२] मन्वन्तरं साङ्गं परिपालयति इति अर्थः. ननु मनुवंश्यानां विद्यमानत्वात् सर्वांशेन भगवत्परिपालनं किमर्थम् इति आशङ्क्य[३] आह **मनुवंशधरः** इति. मनोः वंशम् अयमेव बिभर्ति. मन्वन्तरम् एकसप्तति-युगात्मकम्. तत्र कलौ सर्वेषां नाशः शूद्रादिभावाद्, अतो भगवतैव परिपाल्यन्ते, यथा देवापिमनू. ननु ऋष्यादीनां विद्यमानत्वात् तेषां नाशशङ्काभावात्

प्रकाशः

एवम् इति, [४]नूपुरादिवद् अवयवध्यानोपयोगीनि[४]. **उचितम्** इति. हरेः वामनस्य च मन्वन्तरावतारत्वाद् उचितम्. **महाधनानि इति. इति** हेतौ. **इत्याह** इति, इति आशङ्कायाम् आह. कथं बिभर्ति इत्यतः आहुः **मन्वन्तरम्** इत्यादि. **सर्वेषाम्** इति मनुवंश्यानाम्. **तदंशकार्यम्** इति

लेखः

चक्रम् इत्यत्र. **देवापिमनू** इति. ''देवापिः शन्तनोः भ्राता मरुश्च

---

१. सर्वत्रेति क. २. सर्वमन्वन्तरं क. सर्वमेवेति ख-ग.

३. किमर्थमित्याह क-घ-प्रकाशे - सम्पा.

४-४. कि.पाठानुसारेण अत्र आनीतम्. मुद्रितपाठे महाधनानि इत्यस्य पूर्वम् अस्ति - सम्पा.

किं भगवता तदंशकार्यं कर्तव्यं? तत्र आह **चक्रम्** इति. ते हि चतुर्विधाः मन्वृषि-देवतेन्द्ररूपाः. ते स्वरूपतो विद्यमानाअपि आज्ञारूपेण न वर्तन्ते, तदर्थम् आह **चक्रं बिभर्ति** इति. तानेव ऋषीन् आज्ञारूपान् कृत्वा बिभर्ति इति अर्थः, "सर्वे पुरुषशासना" (भाग.पुरा. ८।१४।२) इति वाक्यात्. **चकारात्** स्वतन्त्रतया आज्ञां सेनां च बिभर्ति नियमनार्थं सहायार्थञ्च. तेषाम् आज्ञाकरणे हेतुः **दिक्षु अवहितम्** इति. **दशसु दिक्षु अवहितं** स्थापितं, सावधानं वा. यथा यो यत्र स्थापनीयः तं तथा स्थापयति इति अर्थः. विशेषकार्यम् आह **दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात्**. पालकानां दुष्टत्वे तद्दण्डकरणं विशेषकार्यम्. अनेन लोकरक्षा निरूपिता. एवं वेदलोकरक्षां[1] निरूप्य भक्तिरक्षां निरूपयति **स्वकीर्तिं सत्ये त्रिपृष्ठे (चरित्रैः!) प्रथयन्** इति. यथा पातालाद् उद्धृत्य भूमिः पुष्करपर्णे प्रथिता एवं त्रैलोक्ये स्थितां कीर्तिं त्रयाणां लोकानां पृष्ठभूते सत्यलोके स्थापितवान्. इतः उद्धरणेन तत्र स्थापने हेतुः **उशतीम्** इति, कमनीयाम्. अत्र हि प्राकृतधर्मैः प्राकृतबुद्धिभिश्च सम्बद्धा जलमग्नेव कीर्तिः. साहि वस्तुतः शुद्धा भवति. तां सत्यलोके प्रथितवान्. सत्यलोकस्थानाम् उपकारजननाद् ज्ञान-भक्त्यर्थं[2] भगवच्चरित्राणि तत्र गीयन्ते. ततः तत्र स्थिताः सर्वएव भगवन्तं जानन्ति इति सर्वलोकविख्यातो

प्रकाशः

मन्वन्तरांशकार्यम्. **ते** इति मन्वन्तराख्य-सद्धर्मांशाः. **सेनापदं चक्रपदस्य** व्याख्यानं, "चक्रञ्चानीकम् अस्त्रियाम्" (अमरको. २।८।७८) इति

लेखः

इक्ष्वाकुवंशजः, कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ, तौ इह एत्य कलेः अन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ, वर्णाश्रमयुतं सर्वं पूर्ववत् पृथयिष्यतः" (भाग.पुरा. १२।२।३७-३८). **चतुर्विधाः** इति, "मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते, इन्द्राः सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनाः" (भाग.पुरा. ८।१४।२) इति वाक्याद् इति ॥२०॥

---

१. लोकवेदरक्षामिति मुद्रितपाठः क-खपाठानुरोधेन संशोधितः - सम्पा.

२. भक्त्यर्थे इति ग.

भगवान् तत्तदवयवाभरणभूतः इति अर्थः. 'आदि'शब्दस्य अपरिच्छिन्नत्वाद् मन्वन्तरेषु बहूनि अवान्तरावतरणानि[१] सूचयति ॥२०॥

स्निग्धामलैः कुञ्चित-नीलकुन्तलैः विरोचमानानन-हासपेशलं भगवन्तं निरूपयति **धन्वन्तरिः** इत्यादि पञ्चभिः. कुन्तलानां धर्मैः कुन्तलैश्च विरोचमानम् आननं, तादृशे आनने हासेन पेशलो भवति भगवान्. तत्र हासपेशलो रघुनाथो हास्यरूपो भवति सर्वमोहनरूपः परमसुन्दरः. तस्य कार्यं गूढम् इति अग्रे वक्ष्यते. कुञ्चित-नीलकुन्तलरूपः परशुरामः. बहुधा चरित्रकरणाद् अनेकरूपत्वं तस्य. तद्गतधर्मः स्निग्धामलरूपो धन्वन्तरिः ; तेन हि अमृतेन शास्त्रेण च सर्वे स्निग्धाः अमलाश्च कृताः. देवाः हि रूक्षाः अमृतेन भगवति स्निग्धाः कृताः. वैद्यकशास्त्रेण च अमलाः भवन्तीति अविवादम्. उभयोः कार्ये भूमौ विद्यमानएव रघुनाथो अवतीर्णः इति तादृशे मुखारविन्दे हास्यरूपत्वं[२] भगवतः, यद्[३] भगवद्धास्येन कार्यं तद् रघुनाथेन कार्यम् इति. तत्र आननं भगवतो धर्माधार-ब्राह्मणाः. तत्र

आरोग्ये धर्मसिद्धिः स्याद् रक्षा च धनुषो भवेत् ॥(७)॥

अतो धर्मसिद्ध्यर्थं धन्वन्तरिः अवतीर्णः इति तच्चरित्रम् आह **धन्वन्तरिः च** इति.

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्ति-
र्नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुजमाशु हन्ति ॥

प्रकाशः

कोशात्. **भगवान्** इति मन्वन्तरावताररूपः. **'आदि'शब्दस्य** इति, "नूपुरकङ्कणादिभिः" (भाग.पुरा. २।२।११) इत्यत्र उक्तस्य ॥२०॥

लेखः

धन्वन्तरिः इत्यत्र. **कुन्तलानां धर्मैः** इति स्निग्धत्वादिभिः. **उभयोः कार्ये** इति. दुष्टक्षत्रवधरूपे स्निग्धत्वादि-सम्पादनरूपे च कार्ये भूमौ स्थापिते सति इति अर्थः. **तादृशे** इति. स्निग्धामलैः कुञ्चितनीलकुन्तलैः विरोचमाने इति अर्थः. **भगवतः** इति, श्रीरघुनाथस्य इति अर्थः. **शास्त्रम्** इति,

---

१. -न्तरावरणानीति ख. -वताराणि ग. २. हासरूपत्वं ख. ३. यद्वदिति ख.

यज्ञे च भागममृतायुरवाप रुद्धम्
आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके ॥२१॥

दृष्टोपकारत्वात्[१] सः **स्वयमेव कीर्तिभूतः चकारात्** स्त्रीरूपञ्च. उभयमपि **भगवान्.** तस्य धर्मः कीर्तिः भवत्येव तथापि कीर्तिरूपताऽपि उच्यते. तत्र हेतुः **नाम्नैव पुरुरुजां** महारोगग्रस्तानां **रुजम्**[२] **आशु हन्ति.** धन्वन्तरिनाम-स्मरणेनैव सर्वे रोगाः गच्छन्ति इति अर्थः. **नृणाम्** इति रोगसम्भावनया उक्तं, नामोच्चारयितृत्वाद् वा. वस्तुतस्तु शास्त्रद्वारा सर्वेषामेव रोगान् हन्ति, नाम च तस्य शास्त्रम्. सर्वेषाम् उपकारिणां यज्ञे भागाः निरूपिताः वाय्वादीनां, तथा अनेनाऽपि आरोग्यलक्षणं धर्मं विधाय **यज्ञे भागं च (अवाप!)** प्राप्तवान्. ''बर्हिः अनुप्रहरतीति वाचि स्वाहा'' (भार.श्रौतसूत्र ३।१२।३) इति मन्त्रेण समिष्टयजुषि बर्हिषो अनुप्रहरणं क्रियते. तत्र वाचो देवतात्वं शान्त्या इति फलाद् न सम्भवति इति सर्वशान्तिकरी[३] या वाग् धन्वन्तरिप्रोक्ता सा भागम् अर्हतीति यज्ञे धन्वन्तरिभागः. **रुद्धम्** इति पूर्वं बर्हिषो अनुप्रहरणाभावः प्रायेण सूचितः. ''न बर्हिः अनुप्रहरेद्'' (आप.श्रौतसूत्र ६।१४।४) इति अग्निहोत्रे[४] तस्य निषेधात् संस्थायामेव बर्हिषो अनुप्रहरणम्. सम्यक् स्थितिः च आरोग्यकार्यम् इति

प्रकाशः

धन्वन्तरिः इत्यत्र. **शास्त्रद्वारा** इति पक्षे शास्त्रलाभप्रकारम् आहुः **नाम** इत्यादि. तथाच नाम्ना = नामसृष्ट्यात्मकेन वैद्यकशास्त्रेण इति अर्थः. **अनेन** इति, नाम्ना इति अर्थः. **न सम्भवति** इति, शान्ताशान्तत्व-युक्तत्वात्

लेखः

वैद्यकम् इति अर्थः. **''बर्हिः अनुप्रहरति''** इति. ... . **न सम्भवति** इति. शान्तिरूपफलेनैव वाचो देवत्वात् तस्य श्रावणाद् अन्येषां **वाचः शान्त्याः** शान्तिरूपत्वाद् **देवतात्वं न सम्भवति इति सर्वशान्तिकरा** धन्वन्तरीवाक् तथा भवति इति **भागम् अर्हति** इति अर्थः. **अग्निहोत्रोत्तरम्**

---

१. दृष्टोपायत्वादिति ग. २. रुज आश्विति ग. ३. शान्तिकरेति घ-लेखे - सम्पा.
४. -होत्रेतरनिषेधात् ख-ग. -होत्रोत्तरम् इति लेखे - सम्पा.

बर्हिरेव तस्य भागः. अन्यद् वा चिन्त्यं, शाखान्तरीये वा स्पष्टम्. किञ्च आयुर्वेदं च कृतवान्. पूर्वं मथने प्रादुर्भूतः तत्रैव तिरोहितः पुनः च **(लोके!)** काशिराजगृहे **अवतीर्य** "धन्वन्तरिर्दैर्घ्यतमस्[1]" (भाग.पुरा. ९।१७।४) इति वाक्याद् **आयुर्वेदं (अनुशास्ति!)** प्रवर्तितवान्, **चकाराद्** अन्यदपि. अस्य अवतारस्य धर्मरूपत्वमेव, न धर्मिरूपत्वम्. तेन[2] औषधादिद्वारा परम्परोपयोगः ॥२१॥

कुन्तलानां स्वरूपम् आह **क्षत्रम्** इति.

क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा
ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु ॥
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्यः
त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन ॥२२॥

कुञ्चित-नीलत्वं धर्मः. कुञ्चितत्वं कुटिलता, नीलत्वं च श्यामता. क्षत्रियहन्तृत्वात् कुटिलता, भूमिकण्टकोद्धारकत्वात् श्यामता इति. अथवा चतुर्भिः विशेषणैः सहिताः[3] कुन्तलाः धन्वन्तरिः, अमृतोद्गमत्वात् स्त्रीत्वाद्

प्रकाशः

न सम्भवति. **शाखान्तरीये** इति, यागे इति शेषः ॥२१॥

क्षत्रम् इत्यत्र. ब्राह्मणानां विराडाननत्वेन लीलावतारेषु प्रवेशस्य अघटमानतया तदसम्बद्ध-केवलनिराधारस्य धर्मस्य अवतारो न सम्भवति इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **"भवाय"** इति. इदं

लेखः

इति. ... . **अन्यद् वा** इति, भागान्तरम् इति अर्थः. **शाखान्तरीये** इति, शाखान्तरीये वा यागे भागान्तरं स्पष्टम् इति अर्थः. **"धन्वतरीदीर्घतमस्" इति वाक्याद्** इति. ... ॥२१॥

क्षत्रम् इत्यत्र. **भूमिकण्टके**ति. भूमेः श्यामत्वात् तत्कण्टकस्यापि तथात्वात् कण्टकेन कण्टकोद्धारवत् स्वयमपि श्यामो जातः इति अर्थः.

---

१. दैर्घ्यतम इति मुद्रितपाठः. ख-गपाठः गृहीतः -सम्पा. २. तेन तु औषधेति ग.
३. सहितानि कुन्तलानि इति मुद्रितपाठः. खपाठे तु एवम् -सम्पा.

यज्ञभागभुक्त्वाद् अवतीर्णत्वाच्च. तत्र श्यामत्वं मथनाद् निर्गतस्य, कुटिलत्वं स्त्रीरूपस्य, अमलत्वं यज्ञभुजः, आयुर्वेदकरणात् सर्वस्निग्धत्वम्. स्वस्य[१] अवतारबाहुल्याद् बहुवचनम्[२]. मुखत्वं परशुरामस्य. सहि वैश्वानरस्य अवतारः, अतएव सर्वक्षत्रियभक्षकः[३]. विशेषेण रोचमानत्वं धर्मरक्षाकरणात्. **क्षत्रं** क्षत्रियाः **क्षयायैव विधिना उपभृतं** वृद्धम्. **उप** समीपे **धृतं** वा, यथा पशुः ध्रियते, ''भवाय नाशाय'' (भाग.पुरा. ५।१।१३) इति वाक्यात्. वधे हेतुः **ब्रह्मध्रुग्** इति. ननु क्षत्रस्य कथं ब्रह्मद्रोहजनकत्वम्? तत्र आह **उज्झितपथम्** इति. उज्झितः पन्थाः येन, सन्मार्ग-परित्यागाद् ब्रह्मद्रोहे मतिः. तर्हि सन्मार्गबोधनेन कथं[४] न व्यावर्त्यते[५]? तत्र आह **नरकार्तिलिप्सु** इति, नरकलक्षणामेव आर्तिं वाञ्छति. परलोकदुःखम् अङ्गीकृत्य उत्पथेन प्रवृत्तम् अतो न बोधनेन निवर्तते. अतएव **उद्धन्ति** ऊर्ध्वम् उत्क्षिप्य तान् दूरीकरोति. अनेन यदेव अस्य[६] अमेध्यं तद् अपहन्ति इति सूचितम्. **महात्मा** इति अल्पद्रोहः प्रयोजनार्थं क्रियमाणो न तद्धृदयं बाधते. मूढाएव हि दृष्टप्रत्ययाः, महात्मानस्तु पर्यवसानबुद्धयः. **असौ** इति यज्ञकर्ता[७], उद्धननं हि तेनैव क्रियते. किञ्च एतत् **क्षत्रं (क्षयाय!)** मारणीयमेव, **अवनिकण्टकत्**वात्. भूमिर्हि भगवतः पादौ. सर्वो हि स्वपादकण्टकोद्धारं करोति. यद्यपि सर्वात्मत्वात् तस्य व्यथा भवति तथापि **उग्रवीर्यः**. नहि

प्रकाशः

पञ्चमस्कन्धे प्रियव्रतं प्रति ब्रह्मवाक्यम्. **अल्पद्रोहः** इत्यादि. नरकार्तिनिवारको मारणलक्षणो द्रोहो न निर्दयतां जनयति इति अर्थः ॥२२॥

लेखः

अवतारबाहुल्याद् इति. मथनावसरे काशीराजगृहे च अन्यत्रापि प्रादुर्भावात् तथा इति अर्थः. **''भवाय नाशाय'' इति वाक्याद्** इति. ... . **अस्याः** इति, क्षत्रियजातेः इति अर्थः. **तद्धृदयम्** इति, महात्महृदयम् इति अर्थः. **सर्वात्मत्वाद्** इति. सर्वात्मत्वात् शुद्धेन नीच-क्षत्रियात्मकत्वमपि

१. तस्येति ख.　२. बहुत्वं ग.　३. सर्वत्रेति क.　४. कथं तेनेति ख.
५. व्यावर्त्यन्ते घ.　६. अस्याः इति लेखे - सम्पा.　७. यज्ञहर्ता ख.

क्रौर्यावलम्बनव्यतिरेकेण कण्टकोद्धारो भवति. अनेन नैर्घृण्यमपि निवारितम्. **त्रिःसप्तकृत्व** इति. सप्तधा हननेन एकवारं भूमेः निष्कण्टकता जाता, पुनः ब्राह्मणाद् उत्पन्नाः सप्तधा हताः, पुनः एवम् इति त्रिः. **उरुधार-परश्वधेन** इति. शस्त्रेण हननं परलोकार्थम्. **परश्वधः** परशुः. **उरुधारत्वाद्** बहुधा हननेऽपि न कुण्ठता. अनेन वधे क्लेशाभावो निरूपितः ॥२२॥

हासपेशलत्वं निरूपयति **अस्मत्प्रसादसुमुखः** इति.

अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश
इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे ।।
तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश
यस्मिन् विरुध्य दशकन्धर आर्तिमार्च्छत् ॥२३॥

हासो हि त्रिविधः— इतरगर्वनिवारकः, इतरव्यामोहकः, प्रसादहेतुश्च. तत्र प्रथमं प्रसादहेतुम् आह. यद्यपि रघुनाथचरित्रस्य अनन्तत्वं तथापि हासत्वमात्रोपयोगाद् गुणत्रयकार्यं चरित्रत्रयमेव उपलक्षणत्वेन निरूप्यते. तत्र प्रथमं सात्त्विकं चरित्रम् आह **अस्मत्प्रसादसुमुखः** ब्रह्मादीनां प्रसादार्थं सुमुखः = प्रसन्नवदनः. अनेन ब्रह्मप्रार्थनया भगवान् अवतीर्णः इति उक्तम्. **कलया** परमकान्त्या सीतया वा कलया वा **कलेशः**. यस्तु सर्वकलानिधिः वैकुण्ठवासी विष्णुः सः यस्य **कलया**. हासो हि कार्यस्य अल्पत्वे भवति. तस्माद् रक्षा अल्पं कार्यम्. तदर्थं भगवतः काचित् कला या

प्रकाशः

अस्मत्प्रसाद- इत्यत्र. पेशलत्वं व्युत्पादयन्ति **कलया** इत्यादि. अत्र सर्वेषां पक्षाणां समुच्चयएव, नतु विकल्पः. **वाशब्दस्तु** एवकारार्थो वाक्यालङ्कारे. **यस्तु** इत्यादि. इदं ब्रह्मवैवर्ते स्फुटम्. **पालयति** इति.

लेखः

अस्त्येव इति तथा इति भावः. **अनेन** इति. ... ॥२२॥

सः यस्य कलया इति, श्रीरामचन्द्रकलया इति अर्थः. अनेन अस्य अवतारस्य पूर्णत्वम् उक्तम्. श्वेतद्वीपे रमाप्रार्थिते वा वैकुण्ठे स्थिते वा. वैकुण्ठे स्थितस्य गुणावतारत्वं च. **तदर्थम्** इति, पालनार्थम् इति अर्थः. कर्मविभक्तिः, प्रवेशक्रियया ईप्सितत्वाद् इति भावः.

वैकुण्ठे[१] स्थिता (तया!) पालयति. अनेन भगवान् पूर्णएव रघुनाथो अवतीर्णः इति सूचितम्. **कला** वा ऋष्यादयः, अतः तेषां सङ्कटे **(कलेशः!)** तत्पतित्वाद् अनेनैव निस्तारः कर्तव्यः इति सूचितम्. **कलानां** वा सङ्कर्षणादीनाम् **ईशो** वासुदेवः. सर्वकलानिपुणो वा लक्ष्म्या सह [२]अवतीर्णः ; तदैव पेशलो भवति. सः भगवान् **इक्ष्वाकुवंशे अवतीर्य.** इक्ष्वाकुः भक्तः इति नृसिंहपुराणे प्रसिद्धिः, यदर्थं श्रीरङ्गो ब्रह्मसदनात् समानीतः. तस्य उद्धारार्थं तद्वंशे अवतीर्णः. देवहितकार्यकर्तृत्वं, धर्म-ज्ञानादिसाहित्यं, स्वावतरणेन[३] भक्तोद्धारो, गुर्वाज्ञाकरणं, वनवासः — एतावत् सात्त्विककार्यम्. अनुभावस्तु विरोधेन दशकन्धरार्तिः. सत्त्वविरोधे[४] तमसो लयो युक्तएव. **गुरोः (निदेशे तिष्ठन्!)** दशरथस्य आज्ञा तस्यां स्थितः, व्रतमिव तत्पालनं[५] कृतवान् इति अर्थः. **वनम् आविवेश.** नतु वने तस्य किञ्चित् कार्यम् अपितु [६]वासएव कार्यम् इति वनस्य कर्मता. **दयिता** सीता, **अनुजो** लक्ष्मणः, ताभ्यां **सहितः**. अनेन **कलया कलेशः** इति यावान् आगतः तावान् वनं गतः इति सूचितम्. इतरसहायाभावार्थं वा. आसमन्तात् प्रवेशो बहुकालस्थित्यर्थः. अतएव **यस्मिन्** रघुनाथे – विरोधनिमित्तत्वमेव भगवतो, नतु विरोधहेतुत्वं – **विरुध्य** विरोधं कृत्वा

प्रकाशः

एतेन गुणावतारत्वं वैकुण्ठवासिनः सूचितम्. तेन सिद्धम् आहुः **अनेन** इत्यादि. **स्थितः** इति, **तिष्ठन्** इत्यस्य इदं विवरणम् ; आदिकर्मणि क्तः. **निमित्तत्वम्** इति आधारतया प्रयोजकत्वम्. त्रयाणां वनवासे हेतुम्

लेखः

अतएव यस्मिन् इति. यतः कारणाद् वनवासो अनेककार्यार्थं बहुकालस्थितौ **अतएव यस्मिन् रघुनाथे विरोधं कृत्वा आर्तिम् आच्छेद्** इति अर्थः. **यस्मिन्** इत्यस्य निमित्तसप्तमीम् अभिप्रेत्य आहुः **विरोधनिमित्तत्वमेव** इति.

१. वैकुण्ठस्थितेति ख-ग. २. यो अवतीर्णः इति मा.१ पाठः - सम्पा.
३. स्वावतारणेन क-घ. ४. सत्त्वविरोधेन इति सं.पाठः - सम्पा.
५. तत्परिपालनं ख-ग. ६. वनवास इति ग-घ.

दशकन्धरो रावणः – अनेन महत्त्वं वा बहुत्वं वा न निस्तारहेतुः इति सूचितं – **आर्तिं** पीडां चिन्ता-शोकादिकम् **(आर्च्छत्!).** त्रयाणां वनवासः आरब्धः. देवानां कामनया तथा सङ्कल्पः कृतः. तत्र भार्यया सह स्थितस्य न मुख्यो वनवासो भवति, न भर्तृसहितायाः स्त्रियः. अतः उभयोः वियोगेन वनवासः प्रदर्शितः. वियोगजननादि-रूपमेव[1] विरोधः. प्रथमाऽऽर्तिस्तु खरादिमारणेन ॥२३॥

एवं सात्त्विकचरित्रं भगवतः उक्त्वा राजसम् आह.

यस्मा अदाद् उदधिरूढभयाङ्गवेगो
मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद् दिधक्षोः ॥
दूरे सुहृन्मथितरोषसुशोणदृष्ट्या
तातप्यमान-मकरोरगनक्रचक्रः ॥२४॥

यस्मै अदाद् इति. उदधिः समुद्रः **यस्मै मार्गम् अदात्. ऊढभयाङ्गवेगः** ऊढं भयं येन – समुद्रशरीरस्य भयं भार्येव हृदये[2] निविष्टं – तादृशाङ्गस्य अङ्गे वा वेगः = कम्पो यस्य. अथवा ऊढं यद् भयं मृत्युरूपं तस्य अङ्गानि शोषणादीनि तेषां वेगो यस्य, मृतप्रायो जातः इति अर्थः.

प्रकाशः

आहुः **देवानाम्** इति. ‘‘सपरिवारो रावणो नश्यतु’’ इति हि देवानां कामना. सा तदैव पूर्यते यदा विरोधे प्रयोजको, वधे सहायश्च भवति इत्यतः विरोधप्रयोजकतया दयितानयनस्य, इन्द्रजिद्वधार्थञ्च अनुजनयनस्य सङ्कल्पः —इति अर्थः प्रतिभाति ॥२३॥

लेखः

विरोधे उद्देश्यत्वेन निमित्तत्वमात्रं[3] भगवतो, नतु साक्षाद्धेतुत्वमपि इति अर्थः. **अनेन** इति. बहुत्वबोधक-**दशकन्धर**पदोपादानेन इति अर्थः. **देवानां कामनया** इति. ... . **विरोधपदार्थम्** आहुः **वियोगेत्यादि** ॥२३॥

यस्मै इत्यत्र. **ऊढ**पदसूचितम् आहुः **भार्येव** इति. **अङ्गानि**

---

१. -दिकरूपमेव ग. २. हृदयनिविष्टं ख-ग.

३. न.पाठानुसारेण. -त्वं मात्रम् इति ग.पाठे - सम्पा.

सपदि तत्क्षणमेव **अरिपुरं** लङ्कां **हरवत्** हरस्येव[१], महादेवसहितं[२] वा पुरं **दिधक्षोः**[३] दग्धुम् इच्छोः. **दूरे सुहृद्** भार्या यस्य, भ्राता वा भरतो, अन्ये वा सुहृदः. **मथितो** यो **रोषः** तेन **सुशोणा** या **दृष्टिः** तया **तातप्यमानाः** अतिशयेन तप्यमानाः **मकरादयः** तेषां **चक्रं** यस्मिन्.

एवं हि आख्यायिका— रावणेन सीतायां हृतायां दशकन्धर-वधार्थं प्रवृत्तस्य रघुनाथस्य मध्ये अन्तरायभूतः समुद्रः स्थितः. सः स्वकीयैः पुरुषैः कृतः इति तत्र पदाक्रमणम्[४] अकृत्वा प्रायोपवेशनं कृतवान्. सहि "अस्मदीयवंशे अवतीर्णो अस्मदवतारणेऽपि उपायं न जानाति सः कथं रक्षांसि हन्याद् इति! परम् अत्रैव अयं तिष्ठतु!" इति मार्गं न दत्तवान्. तदा भगवान् स्वबाणं सन्धितवान्. तदा तस्य नेत्रयोः आरक्तिमा जाता, तेन समुद्रस्य क्षोभो जातः इति – मार्गदानं न प्रीत्या इति – भगवन्माहात्म्य-ज्ञापनार्थं भयादयः तस्मिन् प्रविष्टाः. तदा मार्गं दत्तवान् इति.

यदि महादेवः सहायमपि कुर्यात् स्वभक्तस्य, स्वयं वा पुरे तिष्ठेत्, तदा तेन सह पुरं ज्वालनीयम् इति. रावणवधस्तु अल्पः, पुरमेव ज्वालनीयम् इति इच्छा, यस्मिन् पुरे दुःखिता सीता तिष्ठतीति! भगवतो रोषे दूरे स्थितानां सुहृदां दुःखं हेतुः. अमथिते हि दधनि[५] क्वचिद् दृढता, क्वचिद् जलं, क्वचिद् मध्यभावो भवति ; मथिते तु एकरूपता. तथा परीक्षार्थं

प्रकाशः

यस्मै इत्यत्र. **अस्मदीयवंशे** इति अस्मत्कर्तृवंशे ॥२४॥

लेखः

शोषणादीनि इति. अङ्गानि चिह्नानि इति अर्थः. **सः स्वकीयैः** इति. **सः** समुद्रो रामचन्द्रवंश्यैः सगरैः कृतः इति तथा इति अर्थः. एवं श्रीरामाभिप्रायः. **सः** श्रीरघुनाथो **अस्मदीयवंशे** सूर्यवंशे **अवतीर्णः** इत्यादि

---

१. कामदहनमिव. तुल्यार्थे वतिप्रत्ययार्थः आद्यः, मतुप्प्रत्ययार्थः द्वितीयः - सम्पा.

२. -संज्ञितं वा ख. ३. दिधिक्षोरिति क-घ.

४. -क्रममकृत्वा ख-ग. ५. दधिनीति क-घ.

हितार्थं परमार्थतो वा विघ्ने कृते पूर्वं बहुधा विचारितत्वात् सीतोद्धारस्य अवश्यं कर्तव्यत्वाद् न रोषप्रतिबन्धको विवेकादिः जातः इति सूचनार्थं **मथित**पदम्. दृष्टिमात्रेणैव समुद्रतापः इति माहात्म्यम्. राजसचरित्रत्वाद् रोषकथा ॥२४॥

एवं राजसचरित्रम् उक्त्वा तामसम् आह **वक्षःस्थलस्पर्शे**ति.

वक्षःस्थल-स्पर्शभग्न-महेन्द्रवाह-
दन्तैर्विडम्बित-ककुब्जय-रूढहासम् ॥
सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दारहर्तु-
र्विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये ॥२५॥

सः भगवान् रघुनाथः तस्य रावणस्य **असुभिः** प्राणैः **सह हासं** गर्वं **विनेष्यति** दूरीकरिष्यति. दूरीकरणे हेतुः **दारहर्तुः** इति. प्राणहरणेऽपि एतदेव हेतुः, आततायित्वात्[१]. नहि तन्मारणार्थे बाणाः अपेक्ष्यन्ते किन्तु **धनुषो विस्फूर्जितै**रेव. धनुषो विशेषणम् **अधिसैन्ये उच्चरतः** इति. ऊर्ध्वं चरतः, बाणरूपं मलं वा त्यजतः. अनेन तस्य गतिः निवारिता. धनुषो माहात्म्यार्थं हासं विशिनष्टि— **वक्षःस्थलस्पर्शेन भग्नाः** ये **महेन्द्रवाहस्य** ऐरावतस्य **दन्ताः** तैः **विडम्बितो** यः **ककुब्जयो** दिग्जयः तेन **रूढो** यो **हासः**. तस्य हि सामर्थ्यद्वयं— रावणस्य शारीरं, शत्रुजयकृतञ्च.

प्रकाशः

वक्षःस्थल इत्यत्र. **उच्चरतः** इति उभयार्थप्रयोग-तात्पर्यम् आहुः **अनेन तस्य गतिः निवारिता** इति. धनुषो मलत्यागनिरूपणेन रावणस्य मोक्षप्राप्तिः निवारिता इति अर्थः ॥२५॥

लेखः

समुद्राशयो वर्णितः. **'मथित'पदम्** इति. तथाच स्वरोषमय्येव एकरूपा दृष्टिः जाता इति भावः ॥२४॥

वक्षेत्यत्र. **अनेन** इति, उच्चरितबाणानां मलत्वसूचनेन इति अर्थः ॥२५॥

---

१. "...क्षेत्रदारहरश्चैव षड् एते आततायिनः" (पद्मपुरा. १।४८।५८) - सम्पा.

तत्र शारीरेण सामर्थ्येन शत्रुजयः उपहस्यते, यतः तस्य वक्षःस्थल-स्पर्शमात्रेणैव[१] ऐरावतदन्ताः भग्नाः तादृशस्य दिग्विजयो न उत्कर्षहेतुः. तेन दिग्विजयिनां सामर्थ्यादपि अस्य महत्सामर्थ्यमिति महान् गर्वः. सः गर्वो गच्छन् महाभिमानिनः प्राणैः सह गतः. नहि भगवतो हासस्य अग्रे अन्यो हसति. तस्मात् तदपगमनम् उचितमेव इति भावः. एवं रघुनाथचरित्रम् उपलक्षणविधया निरूप्य हासत्वं समर्थितम् ॥२५॥

एवं हासपेशलं निरूप्य अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्-भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहं (भाग.पुरा. २।२।१२) निरूपयति **भूमेः सुरेतरेति** दशभिः. यद्यपि एकैकस्मिन् अवतारे अपरिमितानि[२] चरित्राणि सन्ति तथापि विमर्शे[३] येषाम् उपयोगः ते निरूप्यन्ते[४], यतः उद्देशे दशैव पदार्थाः निरूपिताः — अदीनत्वं, लीलात्वं, हसितत्वम्, ईक्षणत्वम्, उल्लसत्त्वं, भ्रूत्वं, भङ्गत्वं, संसूचितत्वं, भूरित्वम्, अनुग्रहत्वञ्च इति. अनेन दशविधाअपि लीलाः[५] अस्मिन् अवतारे सन्ति इति यावान् वा अयम् आत्मा तावान् अयम् इति सूचितम्. अनेन दशविधलीलानाम् एकमुखत्वेन एकार्थत्वञ्च सूचितं, तदुपपत्त्या निरूपणे उद्देशतो निरूपयिष्यति. तत्र अदीनत्वं सर्गः. दीनो हि वस्त्वभावात् ; यथासुखं वस्तुरूपेण स्वयमेव प्रादुर्भावाद् अदीनत्वम्.

प्रकाशः

भूमेः इत्यत्र. **ते** इति धर्माः. **एकार्थत्वम्** इति एकप्रयोजनकत्वम्. **तद्** इत्यादि. **तद्** दशविधलीलानाम् एकार्थत्वं दशमाध्याये ''अत्र सर्गो विसर्गश्च'' (भाग.पुरा. २।१०।१) इत्यादिना **उद्देशतो निरूपयिष्यति** इति अर्थः. तत्र को धर्मः केन रूपेण अस्ति इति अपेक्षायाम् आहुः **तत्र** इत्यादि. ननु इदम् अदीनत्वं परार्थसृष्टौ न आयातीति तत्सङ्ग्रहाय

१. स्पर्शेन स्पर्शमात्रेण ख. २. अपरिमितान्येवेति क-ख-ग.

३. विमर्शोपयोगित्वेन दशधर्मा इति ग.

४. अत्र ''तथा कृष्णावतारेऽप्यपरिमितानि चरित्राणि सन्ति तथापि विमर्शोपयोगित्वेन दश धर्मा निरूप्यन्ते'' इत्यधिकः पाठः ख.

५. लीला निरूपिता अस्मिन् ख-ग.

अभिलषितवस्तु-प्राप्तौ दीनत्वं गच्छति. न विद्यन्ते दीनाः यस्माद् इति परार्थसृष्टावपि जीवानां दीनत्वं गच्छति सृष्टावेव. विसर्गो हि लीला स्पष्टा. हसितं स्थानं ; सहि भगवान् नाट्यइव प्रहसनरूपेण तत्तन्मर्यादया तान् तान् स्थापयति स्वस्य हासार्थमेव, अन्यथा परमार्थे भगवत्स्वरूपे का मर्यादा! ईक्षणं पुष्टिः ; भगवदीक्षिताएव हि पुष्टा भवन्ति[१]. भ्रूरूपा ऊतिः ; यथा अन्तःकरणे वासना तथा भ्रुवोः चलनम्. भङ्गो हि सद्धर्मः, सहि सर्वान् स्वस्थानाद् भञ्जयति, तद् अग्रे विस्तारयिष्यामः. उल्लसत्त्वम् ईशानुकथा ; सहि वंशो भगवदुल्लासो भवति. यथाक्रमो वा. तदा ऊतिः उल्लासः, यथा प्रह्लादो धर्मश्च प्रमेय-प्रमाणोल्लासौ. तदा सद्धर्मो भ्रूरूपो भवति. भङ्गश्च वंशः ; आत्मा हि तत्र भग्नो भवति. संसूचनं निरोधः, तद् अग्रे उपपादयिष्यामः. भूरित्वं मुक्तिः, एको हि भगवानेव मुक्तः अन्येऽपि तथा भवन्ति इति. अनुग्रहः आश्रयः ; नहि सर्वथा अननुगृही इतः[२] स्वस्मिन् कमपि स्थापयति. इयञ्च दशविधलीला[३] कृष्णस्यैवेति अवतारोऽपि अयं भगवान् अवतारी. अतः सर्गरूपम् अदीनत्वं प्रथमतो निरूपयति.

प्रकाशः

आहुः **अभिलषिते**त्यादि. **यथा** इति यथाक्रमम्. अत्र प्रह्लादस्य भगवत्स्मृतित्वेन वासनाजन्यत्वाद् ऊतित्वं, जय-विजयपातनप्रयुक्त-सनकादिजन्मान्तर-रूपत्वाद् वा. तस्य च उल्लासत्वं भगवत्प्रादुर्भावहेतुत्वाद् इति सेत्स्यति. स्मृतिधर्मस्य तथात्वं तु स्फुटम्. **अननुगृहीतः** इति. **अननुगृही इतः** इति पदच्छेदः. **इतः** संसारात् निष्कास्य इति अर्थः. **अशरीरस्य**

लेखः

यथा प्रह्लादः इत्यादि. सप्तमे प्रह्लादचरित्रवर्णने भगवन्माहात्म्य-प्रतिपादनात् प्रमेयरूप-भगवत्स्वरूप-प्रकाशः, अन्ते च सद्धर्माणां निरूपणात् प्रमाणोल्लासः. अनयोः ऊतिरूपत्वं श्रीपुरुषोत्तम-व्याख्यानोक्ति-दिशा

---

१. भवतीति ख. २. अनुग्रहः स्वस्मिन्निति ख. अननुगृहीतम् इति पाठोऽपि सम्भाव्यते - सम्पा. ३. दशविधा ख.

भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः ॥
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः
कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥२६॥

सर्गो हि अशरीरस्य शरीरस्वीकारः. तत्र न दीनो यस्माद् इति द्वितीयो अर्थो हेतुत्वेन प्रविशति. तत्र त्रिविधाः भक्ताः दीनाः भगवदवतारे हेतवः, तद् आह. **भूमेः** पृथिव्याः. **सुरेतराः** दैत्याः दानवाः राक्षसाश्च. सुरेतरत्वेनैव धर्मप्रतिपक्षाः क्रोडीकृताः. तैः **विमर्दितायाः**[१].

प्रकटः परमानन्दो यदा भूमेस्तदैव हि ॥
मर्दनक्लेशहानिः स्यादित्यानन्दः समागतः ॥(८)॥

प्रकाशः

इत्यादि. प्राकृतशरीररहितस्य प्राकृतशरीरस्वीकारः. तथाच एतेन अवतारत्वं[२], शेषैः अवतारित्वम् इति अर्थः. **त्रिविधाः** इति. ''भूमिर्माता तथाचान्ये दुःखभाजो हरिप्रियाः'' (सुबो. अत्रैव का. ९) इति निरोधविवृतौ वक्ष्यमाणाः इति अर्थः. ननु अत्र पूर्णस्य प्रादुर्भावे किं मानम् अतः आहुः **प्रकटः** इत्यादि. तथाच प्रादुर्भावमात्रेण भूमिक्लेशनिवारकत्वं, स्वविचारित-भक्तमात्रनिष्ठ-यावत्क्लेशनिवारकत्वञ्च न अन्येषु अवतारेषु दृष्टमिति तदेतदुभयं

लेखः

अवगन्तव्यम्. **भूमेः** इत्यत्र. **द्वितीयो अर्थः** इति. विषयालाभाद् दीनो भवति इति उक्तम्. यस्तु अनुकूलविषयसम्पादनेन अन्येषां भक्तानां दीनत्वं त्याजयति सो अदीनो भवत्येवेति भगवतो अदीनत्वे **हेतुत्वेन** उक्तः इति अर्थः. **वक्ष्यते** इति. ''बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः'' (भाग.पुरा. १०।१७।४८) इत्यत्र वक्ष्यते इति अर्थः. **मर्दनक्लेशेति.** प्राकट्यमात्रेण दैत्यमर्दनक्लेश-दूरीकरणम् अंशमात्रेण अशक्यमिति सर्वांशविशिष्टो अवतारी पूर्णानन्दएव प्रादुर्भूतः इति अर्थः. **वाक्यविरोधाद्** इति. ... .

---

१. विमर्दिता इति मुद्रितपाठः. गपाठे तु एवम् - सम्पा.

२. अवतारता इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

तस्याः **क्लेशव्ययाय कलया** बलभद्रेण सह **सित-कृष्णौ केशौ** यस्य सः वैकुण्ठस्थितएव **(जातः!)** समागतः इति कश्चित्. वस्तुतस्तु यः सित-कृष्णकेशः सः गोविन्दस्य कलया, सङ्कर्षणरूपत्वात्. संहाररूप-तामसशक्त्या सित-कृष्णरूपस्य सङ्कर्षणस्य, कलया कृष्णकेशरूपेणापि इति वक्ष्यते. इदमपि एकं प्रयोजनं, कृष्णः केशो यथा अवतीर्णो भवति इति. नतु तावन्मात्रं, मर्दनक्लेश-दूरीकरणासमर्थत्वात्, ''तौ इमौ वै भगवतो हरेः अंशौ इहाऽऽगतौ'' (भाग.पुरा. ४।१।५९) इति वाक्यविरोधात्,

---

प्रकाशः

पूर्णत्वानुमापकम् इति अर्थः. एवञ्च अस्य पद्यस्य सर्गलीलानिरूपकत्वाद् अस्मिन् पद्ये **जात**पदमेव विशेष्यसमर्पकं ज्ञेयं, **क्लेशः** इति पूर्वानुषङ्गश्च. मतान्तरम् अनूद्य सिद्धान्तम् आहुः **वस्तुतः** इत्यादि. **सङ्कर्षणरूपत्वाद्** इति. एतेन पूर्वोक्ते मते अस्वरसं सूचितं ज्ञेयम्. यदि सितकृष्णकेशएव पूर्णः स्यात् तदा वक्ष्यमाणोपयोगी स धर्मः स्निग्धामलैः[१] कुञ्चितनीलकुन्तलैः इतिवद् [२]उद्देश्यनिरूपितोऽपि स्यादिति न तावन्मात्रावतारो अत्र इति अर्थः. वैकुण्ठस्थितस्य च अंशत्वं ब्रह्मवैवर्ते स्फुटम्. ननु यदि एवं तदा प्रकृते अस्य विशेषणस्य किं प्रयोजनं, कथं च सङ्कर्षणस्य तादृशत्वम् अतः आहुः **संहारे**त्यादि. **वक्ष्यते** इति निरोधस्कन्धे वक्ष्यते. तथाच एतदुभयं ततः स्फुटीभविष्यति इति अर्थः. सङ्कर्षणस्य उभयरूपत्वं ''गुणेन तमसाच्छन्नो विष्णुः सत्त्वगुणं बुधाः, अधिष्ठाय भवेत् सर्वजगतः पालकः प्रभुः'' (सूतसंहि. १।८।३१) इति सूतसंहितादि-वाक्याद् ज्ञेयम्. ननु तावन्मात्रस्य प्रयोजनत्वाभावे किं गमकम् इति आकाङ्क्षायां वासुदेवानिरुद्ध-प्रद्युम्नांशानां गमकं हेतुत्रयम् आहुः **मर्दने**त्यादि. तथाच एवं तत्र तत्र उच्यमानस्य कार्यभेदस्य अग्रे स्फुटत्वात् केवलं सङ्कर्षणत्वं न वक्तुं युक्तम् इति अर्थः. फलितम्

---

१. यथा स्निग्धामलत्व-नीलत्व-कुञ्चितत्व-धर्मसहिताः कुन्तलाः वक्ष्यमाण-धन्वन्तर्यवतारोपयोगित्वेन उद्देशे निरूपिताः तथा सितकृष्णकेशोपि सितकृष्णकेशात्मक-धर्मसहितः उद्देशे निरूपितः स्यात् पूर्णत्वे. यतः उद्देशे न निरूपितो अतो न पूर्णत्वम् इति अर्थः : इति कि.-मा.पाठयोः पादटिप्पणी. २. उद्देशे इति मा.पाठः -सम्पा.

"तदा वां परितुष्टोऽहम् अमुना वपुषा" (भाग.पुरा. १०।३।३७) इति वाक्यविरोधश्च. तस्माद् मर्दनक्लेशाभावार्थं साक्षाद् आनन्दमयः, पुत्रत्वेन वंशजननार्थं प्रद्युम्नः, धर्मरक्षार्थम् अनिरुद्धो नारायणांशः, भूमिभारनिराकरणार्थं सितकृष्णकेशांशः. **जनानुपलक्ष्यमार्गः** इति प्रद्युम्नो वंशकृत्. **कर्माणि करिष्यति** इति अनिरुद्धः. चतुर्णामपि कार्यचतुष्टयं भारव्ययाय च इति **च**कारेण सूचितम्. तेन एकरूपेणैव[1] चतुर्मूर्तेरपि चरित्रं निरूप्यते. एकमेव चरित्रं मोक्ष-भक्ती निरूपयति, भूमिभारहरणं वसुदेव-देवकीकामनापूरणं धर्मरक्षा चेति विस्तरे तु प्रकरणभेदेन वक्ष्यति. एवं चतुर्मूर्तिः भगवान् **जातः**. अनेन सर्वाण्येव वाक्यानि यथाश्रुतं समर्थितानि, अन्यथा प्रत्येकवाक्यानि "तयोः एको बलदेवो[2] बभूव" (महाभा. १।१९७।३७) इत्यादीनि विरुद्धानि भवेयुः. जन्म कर्म च स्वस्य सम्पादयिष्यति त्रिविधदुःख-दूरीकरणाय.

प्रकाशः

आहुः **तस्माद्** इत्यादि. विद्यमानेऽपि मर्दने तज्जन्य-क्लेशाभावार्थम् इति अर्थः. ननु अयम् अत्र अर्थो विवक्षितः इत्यत्र किं गमकम् अतः आहुः **जने**त्यादि. ननु **जने**त्यादि विशेषणेन प्रद्युम्नादि-परामर्शे किं गमकम् अतः आहुः **चतुर्णाम्** इत्यादि. तथाच चतुर्थस्कन्धीय-वाक्यस्थ-चकारेण एकस्मिन्नेव रूपे सूचितं तच्च कार्यचतुष्टयम् अत्र अग्रिमश्लोके स्फुटम् अतः तदेव गमकम् इति अर्थः. ननु वासुदेवादिव्यूह-गमकस्य अत्र अभावात् कथं तदवधृतिः इत्यतः आहुः **एकमेव** इत्यादि. तथाच मूलचरित्रमेव तद्गमकम् इति अर्थः. ननु एकरूपेण एकचरित्रेणैव कार्यद्वयकरणे तथैव कार्यान्तरस्यापि सिद्धेः न चतुर्मूर्त्यवतारनिश्चयः इत्यतः आहुः **विस्तरे तु** इत्यादि. सिद्धम् आहुः **एवम्** इत्यादि. एवं निर्बन्धेन चतुर्व्यूहसहित-पूर्णप्राकट्याङ्गीकारे साधकं, वैपरीत्ये बाधकं च तर्कम् आहुः **अनेन** इत्यादि **अन्यथा** इत्यादि च. ननु मूलरूपजन्म-मात्रेणैव भूमिदुःखनिवृत्तौ किमिति व्यूह-जन्म-कर्मकथनम् इत्यतः आहुः **जन्म** इत्यादि. **त्रिविधदुःख-** इति, त्रिविधानां त्रिविधदुःख- इति अर्थः. **वक्ष्यते** इति, दशमे वक्ष्यते.

---

१. नैजरूपेणैवेति ग. २. बलभद्रो इति मुद्रितपाठः. नीलकण्ठपाठः तु एवम् - सम्पा.

भूमिर्माता तथा चाऽन्ये दुःखभाजो हरिप्रियाः ॥
कंसादेः कालतो ज्ञानात् त्रिधा दुःखं च तद्गतम् ॥(९)॥

इति वक्ष्यते. भूमिस्तु कार्यरूपापि भवतीति विचारे सैव उक्ता. अदितिः मातेति तस्याः भूमित्वं स्पष्टमेव. अन्येऽपि भूमिसम्बन्धादेव दुःखिताः. **जनैः अनुपलक्ष्यो मार्गो** यस्य. जनाः साधारणाः, भगवन्मार्गस्य उपलक्षणमपि ते न जानन्ति मार्गे एवंप्रकारेण भगवदागमनम्. **कर्माणि च करिष्यति** इति **च**काराद् ज्ञानं भक्तिञ्च कथयिष्यति. कर्माणि अनिरुद्धचरित्रत्वाय विशिनष्टि **आत्ममहिम्नः**[१] **उपनिबन्धनं** येषु. **आत्म**त्वाद् ज्ञानजनकत्वं, **महिम**पदाद् भक्तिः, **उप** समीपे **नितरां बन्धनाद्** धर्मः ; त्रिभिः त्रिविधं दुःखं गच्छति. एवं भगवच्चरित्रं भगवन्माहात्म्यमेव सूचयति. एतावता सर्वे अदीनाः भवन्ति ॥२६॥

लीलां निरूपयन् पूर्वोक्तस्य हेतुमपि निरूपयति विमर्शमध्यपातात्.

प्रकाशः

ननु त्रिविधानां दुःखनिवारणाय भगवत्प्रादुर्भावाङ्गीकारे मूलस्थं **भूमेः** इति एकवचनं कुप्येतेति तदभावाय आहुः **भूमिः** इत्यादि. **कार्यरूपा** इति शरीररूपा. तथाच **भूमि**पदेन त्रयाणां सङ्ग्रहाद् न तथात्वाङ्गीकारेऽपि एकत्वविरोधः इति अर्थः ॥२६॥

लेखः

वाक्यविरोधश्च इति. ... . त्रिविधभक्त-दुःखस्य निराकार्यत्वेऽपि यद् भूमिमात्रस्य उक्तिः तत्तात्पर्यम् आहुः **भूमिस्तु कार्यरूपापि भवति** इति. भगवत्कार्यरूपत्वेन तस्याः मुख्यत्वात् तदुक्तिः इति भावः. **अपि**शब्दाद् भक्तत्वं, भूमिग्रहणेनैव अन्ययोरपि ग्रहणं सम्भावयन्ति. **अदितिः माता** इति. ... . **अन्येऽपि** इति. ... . **त्रिविधम्** इति. ... . **एतावता** इति, पूर्वोक्त-माहात्म्यज्ञानेन इति अर्थः ॥२६॥

तोकेन इत्यत्र. आभासे. **लीलां निरूपयन्** इति, "अदीनलीला-" (भाग.पुरा. २।२।१२) इत्यत्र उक्तां[२] ताम् इति अर्थः. **पूर्वोक्तस्य**

---

१. आत्मनो महिम्न इति ग. २. न.पाठानुसारेण. उक्तम् इति ग.पाठे - सम्पा.

तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायाः
त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः ॥
यद् रिङ्गताऽन्तरगतेन दिवस्पृशोर्वा
उन्मूलनं त्वितरथाऽर्जुनयोर्न भाव्यम् ॥२७॥

तोकेन जीवहरणम् इति. यदि अयं भगवान् चतुर्मूर्तिः न भवेत् तदैव[१] तच्चरित्र-चतुष्टयं न सङ्गच्छेत— पूतनाऽसुपयःपानेन तन्मोक्षः, शकटोपमर्दः, यमलार्जुन-मध्यगमनं, तदुन्मूलनञ्च. नहि वासुदेवाद् अन्यो मोक्षं दातुं शक्तः, नहि सङ्कर्षणाद् अन्यः स्पर्शमात्रेण नाशकः, नहि अनिरुद्धाद् अन्यो नारदशापविमोक्षार्थं सान्निध्यनिरूपणेन वृक्षयोः अन्तरा गच्छति, नहि प्रद्युम्नाद् अन्यः शापजन्म-मूलोच्छेदपूर्वकं पूर्वस्थित-देवताजन्म सम्पादयति. भगवत्त्वं च एतैरेव स्थाप्यते. **यतः तोकेन** बालकेन **उलूकिकायाः** पूतनायाः **जीवहरणम्**. यत्र हि कार्यं तत्र साधनम् अवश्यं भावि ; यत्र पुनः साधनव्यतिरेकेणैव साध्यम् उत्पद्यते तत् परब्रह्मस्वरूपम् इत्येव अवगन्तव्यं, सर्वभवनसमर्थरूपत्वात् तस्य. किञ्च उलूकस्य भार्या **उलूकिका,** उलूकदुहिता वा. उलूकरूपैव[२] वा. साहि दिवाभीतरूपा भवति, सन्मार्गविमुखा

प्रकाशः

तोकेन इत्यत्र. **जीवपदेन** यथा भगवत्त्वं स्थाप्यते तद् आहुः

लेखः

इति, मूर्तिचतुष्टय-वैशिष्ट्यस्य इति अर्थः. **निरूपयति** इति. **तोकेन** इत्यत्र निरूपयति, विमर्षे हेतुनिरूपणस्यापि लीलानिश्चायकत्वेन **विमर्षमध्यपाताद्** इति अर्थः. तदेतद् उपपादयन्ति व्याख्याने **यदि अयम्** इत्यादि. **सान्निध्यनिरूपणेन** इति. ''वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते'' (भाग.पुरा. १०।१०।२२) इति. भगवत्सान्निध्यनिरूपक-धर्मप्रतिपादक-नारदवाक्यरक्षणाद् धर्मरक्षारूपम् अनिरुद्धचरित्रम् उक्तम् इति भावः. **देवताजन्म** इत्यनेन जननसम्बन्ध-प्रतिपादनेन प्रद्युम्नचरित्रम् उक्तम् इति भावः. **एतैः** इति, वासुदेवादि-चतुरंशैः इति अर्थः. **उलूकदुहिता** इति. ... .

---

१. तदैतच्चरित्रेति ख-ग. २. -रूपेव वेति ख.

प्रतिपक्षा च. अनेन प्रमाणबलं तस्याः[१] मुक्तौ निवारितम्. तस्याः **जीवानां हरणं** स्वस्मिन् लयप्रापणम्. हृतं हि स्वस्मिन् आनीयते, "इहैव समवनीयन्ते प्राणाः" (बृहदा.उप. ४।४।६) इति मुक्तिः च एषा. तस्मात् प्रमेयबलेन सा मुक्ता इति मन्तव्यम्. प्रमेयं च शुद्धं परब्रह्म, न केनाऽपि अंशेन न्यूनं ; तथा सति तादृशस्य मुक्तिदान-समर्थत्वं न सम्भवति. अतः साधनव्यतिरेकेणैव साध्यकरणाद् मुक्तिदानाच्च साक्षात् पुरुषोत्तमः कृष्णः. किञ्च **त्रैमासिकस्य** इति. मासत्रयपरिमितः ; कालावयवाः त्रयएव भगवतः परिच्छेदकाः[२] जाताः. ते हि स्वभावतो असमर्थाः मूर्तिभेदं सम्पादयन्ति. तेन शकटं निर्माय शकटे विहृत्य शकटं नाशितवान् इति त्रिमूर्तिः उक्तो भवति. त्रयाणामपि नाशने हेतुत्वव्युदासाय **पदा** इति उक्तं, सङ्कर्षणेन

प्रकाशः

तस्याः जीवेत्यादि. अयम् अर्थः — 'जीव'शब्दो हि चिदंशस्य जीवोपाधेरपि वाचकः, "भागो जीवः स विज्ञेयः" (श्वेताश्व.उप. ५।९) इतिवद् "जीवो जीवं विहाय माम्" (भाग.पुरा. ११।२५।३५) इत्यादौ तदुपाधावपि तत्प्रयोगदर्शनात्. जीवोपाधिश्च मनः, तच्च प्राणबन्धनम्. तथा सति प्राणस्य स्वस्मिन् नयने सर्वविशेषवत् कृते ते जीवाअपि तद्द्वारा तत्र आगताइति तस्याः सकाशात् तेषां ग्रहणमपि तथा इति अर्थः. **तादृशस्य**

लेखः

तथा सति इति. केनापि अंशेन न्यूनत्वे सति **तादृशस्य** अपूर्णस्य सर्वथा अनधिकारिण्याः **मुक्तिदानसमर्थत्वं न सम्भवति** इति अर्थः. **साध्यकरणाद्** इति. मारणरूपं साध्यम्. **ते हि** इति. मासाः हि स्वभावतो भगवत्स्वरूपभेद-सम्पादने असमर्थाः प्रद्युम्नानिरुद्ध-सङ्कर्षणात्मक-मूर्तित्रयवैशिष्ट्यं ज्ञापयति इति अर्थः. त्रयाणां कार्यम् उपक्षिपन्ति **तेन** इत्यादि. ल्यबन्तद्वयेन सृष्टि-पालने प्रद्युम्ना-ऽनिरुद्धकार्ये उक्ते, शिष्टेन शिष्टम्. **पदा** इत्यस्यैव[३] व्याख्यानं **सङ्कर्षणेन** इति. अत्र हेतुः

---

१. तस्य मुक्ताविति ख. २. इव इति अधिकम् अत्र सं-मा.२ पाठयोः - सम्पा.

३. न.पाठानुसारेण. इत्यस्यैवम् इति ग.पाठे - सम्पा.

योग्यत्वात्. **अपवर्तो** विरुद्धतया पतनम्, अनेन महाबलनिरूपणेन पूर्णा क्रियाशक्तिः उक्ता. ''प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतम्'' (भाग.पुरा. १०।७।७) इति वाक्यात् साधनाभावः सूचितः. पूर्ववत् [1]परब्रह्मत्वं पूर्णक्रियाशक्तिञ्च सूचयति. एवं ज्ञान-क्रियाशक्ती प्रतिपाद्य भक्तिमार्गसमर्थनाय अचिन्त्यसामर्थ्यं प्रतिपादयति **यद् रिङ्गताऽन्तरगतेन** इति. **यद्** एतत्त्रयम् **इतरथा न सम्भाव्यम्** इति अर्थः. **रिङ्गता** हस्त-पादैः[2] चलता तयोः **अन्तरगतेन** तयोः **उन्मूलनं** परब्रह्मत्वबोधकम्. पूतनायां मुखसम्बन्धोऽपि स्थितः, शकटे पादाग्रमात्रम् ; अर्जुनयोः तदपि न किन्तु परम्परया दूरसम्बन्धः— उलूखलेन वृक्षयोः सम्बन्धः, रज्ज्वा च उलूखलस्य, भगवता च रज्ज्वाः. यदि बलेन कृतं स्याद्, रज्जुत्रोटनं प्रथमं भवेद्, अल्पबलत्वाद्, उलूखलस्य वा, भगवत्सम्बन्धे विचारिते सर्वेषां वा. तत्राऽपि **उन्मूलनं न** सम्भावितं, तिर्यगञ्चनस्य दृढभूमौ मध्यभङ्गहेतुत्वात्. इदमपि पूर्ववत् परब्रह्मत्वसाधकम् इच्छाशक्तिसाधकञ्च. एषा हि भगवतो लीला ज्ञान-क्रिये इच्छा च. **इतरथा न भाव्यम्** इति सर्वत्र अग्रिमश्लोकेषु केचिद् योजयन्ति. वस्तुतस्तु अत्रैव, अग्रे सम्बन्धबोधक-पदाभावात् ॥२७॥

एवं लीलां विनिरूप्य हसितं निरूपयति.

यद्वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीथान्
[3]बालानजीवयदनुग्रह-दृष्टिवृष्ट्या ॥

प्रकाशः

इति न्यूनस्य बालस्य वा. **सूचयति** इति, ''प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतम्'' इति वाक्यमेव सूचयति ॥२७॥

लेखः

योग्यत्वाद् इति. **एवं ज्ञान-क्रियाशक्ती** इति. ''विबुध्यतां बालकमारिका-ग्रहम्'' (भाग.पुरा. १०।६।८) इति वाक्यात् पूतनामारणेन ज्ञानशक्तिः प्रतिपादिता भवति, पदा शकटोपवर्तनेन क्रियाशक्तिः इति अर्थः. **सम्बन्धबोधकपदाभावाद्** इति. ... ॥२७॥

---

१. पूर्ववद्ब्रह्मपरत्वं ख. २. हस्तपादाभ्यां ख.

३. पालान् इति वैकल्पिकः पाठः - सम्पा.

तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोलजिह्वम्

उच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम् ॥२८॥

यद्वै व्रजे व्रजपशून् इति. **यद्** यस्मात् कारणाद् **व्रजे** गोष्ठे **व्रजपशून् (बालान्!)** व्रजरूपान् बालकान् पशूंश्च स्वकीयान् वा **विषतोयपीथान्** विषतोयस्य पीथं = पानं येषां – यथा सोमपीथेन मृत्युग्रस्ताः अमराः भवन्ति तथा विषतोयपीथानपि – **अजीवयत्**. पशून् बालांश्च अजीवयद् इति एकः पक्षः. **अनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या** इति साधनम्. **तस्याः** यमुनायाः **शुद्धये अतिविषवीर्येण विलोला जिह्वा** यस्य तं **(उरगं!)** कालियं[१] **(ह्रदिन्यां!) विहरन्नेव** उच्चाटयिष्यत्. अत्र इकारलोपः छान्दसः ; उच्चाटयिष्यति इति अर्थः. नुमभावो वा (छान्दसः!) ; **विहरन्** उच्चाटयिष्यन्[२] **अजीवयद्** इति सम्बन्धः. अत्र पशुपालजीवनम् अनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या साधनेन कार्यं निरूपितम्. इदन्तु अल्पालौकिकं ; विहरणञ्च गरुडादिभिरपि सिद्धं भवति, योगिनोऽपि [३]हि दृष्ट्या जीवयन्ति. उपसर्ग-निपातसहिताद् 'अट'धातोः वा **आटयिष्यद्** इति लृङ् क्रियातिपत्तौ ; यदा तं दूरीकरिष्यति तदा अजीवयद्, अन्यथा जीवितमपि अजीवितमेव. हास्यार्थम् इदं चरित्रं भवति. ''वयं कृष्णं पालयिष्यामः'' इति एषां बुद्धिः. तद् अद्य स्पष्टमेव तान् पालयित्वा स्वयं तत्र प्रविष्टः, ''कथम् एते पालयिष्यन्ति!'' इति. पश्चात्

लेखः

यद् वै इत्यत्र. **व्रजरूपान् बालकान्** इति. व्रजन्ति = भगवन्तम् अनुगच्छन्ति तादृशान् स्ववयस्यान् **बालकान् पशूंश्च** इति अर्थः. **नुमभावो वा** इति. ''लृटः सद् वा'' (पाणि.सूत्र ३।३।१४) इति शतृप्रत्यये नुमभावः छान्दसः[४] इति भावः. **गरुडादिभिः** इति. गरुडस्य कालियोपमर्दकत्वात् विषजले तदादीनामपि विहरणं सिद्धमिति न इदमपि अत्यलौकिकम् इति अर्थः. **गरुडादिभिः** साधनभूतैः वा. **लृङ् क्रियातिपत्तौ** इति. ... . **तत्र प्रविष्टः** इति, विषतोये प्रविष्टः इति अर्थः. **अथवा पशून् पालान्**

---

१. कालीयं घ. २. -नुच्चाटयन्निति ख-ग. ३. -पि दृष्ट्येति ख-ग.

४. इत्यधिकं न.पाठानुसारेण. ग.पाठे नास्ति - सम्पा.

तान् अकिञ्चित्करान् दृष्ट्वा हसतीति. अथवा **पशून् पालान्** इति ये पशुरूपाः पालाः आधिदैविकाः तान् **अजीवयत्**. ते हि अपराधिनः[१] कालेन हताः, भगवद्भक्तानां विषपानहेतुत्वाद्, विषतोयस्य पीथं = पानं येभ्यः इति. कालः तानेव ग्रसति, नतु भगवदीयान् निरपराधिनः. मण्डूकादयो[२] मृतप्रायाः वृष्ट्या उद्गच्छन्ति इति दृष्टेः वृष्टित्वम्. तेषु अनुग्रहो ब्रह्मत्वबोधकः ; नहि अन्यः आधिदैविकेषु अनुग्रहकरणसमर्थः. ''यद् एतद् न भाव्यम्'' (श्लो. २७) इति च संयोजना सङ्गच्छते[३]. लौकिकसाधनेषु मन्त्रादिना विषं दूरीकृत्य पश्चाद् जीवनं प्रसिद्धम् ; अत्र सविषाणामेव जीवनं भगवत्कार्यम् इति कश्चित्. हास्यमात्रत्वे न काचित् चिन्ता! ॥२८॥

हसितं निरूप्य ईक्षणं निरूपयति.

प्रकाशः

यद् वै व्रज इत्यत्र. **आधिदैविकाः** इति पश्वाधिदैविकाः. **भगवद्भक्तानाम्** इति गवादीनाम्. **सङ्गच्छते** इति, तद्बोधक-पदाभावेऽपि भगवदेक-कर्तृकत्वस्य बुबोधयिषितत्वात् सङ्गच्छते इति अर्थः. **न काचित् चिन्ता** इति, कापि अनुपपत्तिरूपा सा न इति अर्थः ॥२८॥

लेखः

इति. **पशुरूपाः** भूत्वा ये **पालाः** पश्वाधिदैविकाः इति अर्थः. **विषपानहेतुत्वाद्** इति. आधिदैविकप्रेरणयैव विषपाने प्रवृत्तत्वाद् इति तथा इति भावः. **तानेव** इति, प्रयोजकभूतान् आधिदैविकान् इति अर्थः. अतएव ''दैवोपहतचेतसः'' (भाग.पुरा. १०।१२।४९) इति विशेषणम् उक्तम् इति ज्ञेयम्. **योजना सङ्गच्छते** इति, आधिदैविकरक्षण-पक्षे सङ्गच्छते इति अर्थः. अत्र श्लोके लौकिकचरित्राभावाद् ''इतरथा न भाव्यम्'' (श्लो. २७) इति वाक्यं न युज्यते इति आशयेन आहुः. **अत्र** इत्यादि. ननु एतादृशं लोक-भक्तिविरुद्धचरित्रं किमिति कृतवान् इति आशङ्कां निराकर्तुं हास्यरूपत्वं समर्थयन्ति **हास्यमात्रत्वे** इति ॥२८॥

---

१. अपराधिना कालेन घ. २. मण्डूकादयो हीति ख-ग. ३. सङ्गच्छन्ते ख-ग.

तत्कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं
दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने ॥
उन्नेष्यति व्रजमितोऽवसितान्तकालं
नेत्रे पिधाय्य सबलोऽनधिगम्यवीर्यः ॥२९॥

तत्कर्म दिव्यमिव इति. **तस्य** भगवतः **कर्म दिव्यमिव.** दिवि भवं दिव्यम् = अलौकिकम्. **इव** इति इन्द्रादीनामपि अशक्यम्. **यद् दावाग्निना (शुचि!)** ग्रीष्मसम्बन्धिनि **वने परिदह्यमाने** सति तन्मध्ये **निशि निःशयानं व्रजम् (सबलः!) उन्नेष्यति** ततो अन्यत्र[१] स्थापयिष्यति **इतः** अस्मात् स्थानाद्, **इतो** हेतोः वा. **अवसितः अन्तकालो** येन, ''अस्माकम् अयम् अन्तकालः'' इति व्रजस्थैः विचारितम्. इदं हि चरित्रं दावाग्निविमोचकं वारद्वयनिष्पन्नं — कालियह्रदसमीपे, मुञ्जाटव्याञ्च. तत्र [२]एकत्र **नेत्रे पिधाय्य** मुञ्जाटवीं त्याजयित्वा समानीताः, अन्यत्र तु **निशि निःशयानम्** इति. अन्यानि [३]साधारणपदानि उभयत्र. ईक्षणमपि द्विरूपं नेत्रद्वयेन जन्यते. तस्मात् सङ्कटाद् उन्नेष्यतीति उभयत्र साधारणम्. उन्नयनं हि देवार्थं पृथक् करणं, तथा एते स्वार्थं रक्षिताः. अग्निपानं ब्रह्मधर्मः, अन्यत्र नयनञ्च. यद् अत्र अग्निपानं न निर्दिष्टं [४]तत् पुनःप्रश्नव्यावृत्त्यर्थम्, अन्यथा ''कथम्

प्रकाशः

तत्कर्म इत्यत्र. एकजातीययोः विभिन्नकालयोः द्वयोः लीलयोः यौगपद्येन कथने बीजम् आहुः **ईक्षणम्** इत्यादि. तथाच दर्शनरूपत्व-ज्ञापनार्थं यौगपद्यम् इति अर्थः. ननु पुनः प्रश्ने को दोषः इत्यतः आहुः **देवगुह्यं च एतद्** इति ॥२९॥

लेखः

तद् इत्यत्र. चरित्रद्वयम् एकश्लोके उपन्यस्तं तत्तात्पर्यं वदन्तो अत्र आभासोक्तम् ईक्षणरूपत्वं समर्थयन्ति **ईक्षणमपि द्विरूपम्** इति. **देवार्थम्** इति क्रीडार्थम् इति प्रतिभाति ॥२९॥

---

१. तान्यत्र घ. २. तत्रैव नेत्रे क-घ.

३. साधारणानि पदानि ख. साधारणानुभयत्र ग. ४. निर्दिष्टं पुनः ख-ग.

अग्निं पीतवान्?'' इति प्रश्नः स्यात्. अतएव **दिव्यमिव** इति उक्तवान्, नतु स्वरूपम्. (**अनधिगम्यवीर्यः!**) देवगुह्यञ्च एतत् ॥२९॥

एवम् ईक्षणं विनिरूप्य उल्लसत्त्वं निरूपयति **गृह्णीत** इति.

गृह्णीत यद्यदुपबन्धममुष्य माता
शुल्बं सुतस्य न तु तत्तदमुष्य माति ॥
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी
संवीक्ष्य शङ्कितमना प्रतिबोधिताऽऽसीत् ॥३०॥

इदं हि चरित्रं भगवतो ब्रह्मत्वबोधकम्, अन्यत्तु योग-मन्त्र-मण्यादिभिरपि सिद्ध्यतीति[१] न ऐकान्तिकं भगवत्त्वसाधकम्. यथा एतच्चरित्रद्वयं भगवत्त्वं साधयति तथा भाष्ये निरूपितम् अधिकरणद्वयेन. नहि यः सर्वात्मको न भवति येन रूपेण स हि तेन बन्धनं न अर्हति इति युक्तम्. **यदेव** बन्धनार्थम् (**शुल्बम्!**) **उपबन्धं** रज्जुं (**माता!**) **गृह्णीत** गृह्णाति **तत्तदेव अमुष्य** बन्धने **न माति** भगवतएव आद्यन्तयोः[२] विद्यमानत्वाद् बहवोऽपि योजिताः एकमिव[३] भवन्ति! तस्य च परिदृश्यमानम् उदरं सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपमेव, आद्यन्तयोः च विद्यमानम्, तस्माद् अमानं युक्तम्. किञ्च **यस्य** भगवतो (**जृम्भतो वदने!**) जृम्भमाणस्य मुखे

प्रकाशः

गृह्णीत इत्यत्र. **अधिकरणद्वयेन** इति. ''वैश्वानरः साधारणशब्दः विशेषाद्'' (ब्रह्मसूत्र १।२।२४) इत्यनेन ''आमन्ति चैनमस्मिन्'' (ब्रह्मसूत्र १।२।३२) इत्यनेन च. **येन रूपेण** इति, **न भवति** इति पूर्वेण अस्यापि

लेखः

गृह्णीत इत्यत्र. **नहि** इत्यादि. **येन** रज्ज्वादि**रूपेण यः सर्वात्मको न भवति स तेन** रज्ज्वादिना **बन्धनं न अर्हति इति न युक्तम्** अपितु बन्धनम् अर्हति इत्येव युक्तम् इति अर्थः. एवञ्च अत्र रज्ज्वादि-सर्वरूपत्वात् तेन बन्धनम् न अर्हति इति युक्तमेव इति भावः.

---

१. सिद्ध्यति नैकान्तिकं ख-ग. २. आद्यन्तयोर्वा विद्येति क-ग-घ.

३. एकमेवेति ख-ग.

(गोपी!) भुवनानि संवीक्ष्य शङ्कितमना प्रतिबोधिताऽपि आसीत्. इदं हि चरित्रद्वयं— विश्वाधारत्वम् अनुभवमोहकत्वञ्च. यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वाणि भूतानि अन्तरयति इति अन्तरः ; सहि गोकुले तिष्ठन् गोकुलम् अन्तः स्थापयति! नच एतद् मायिकं, श्रुतिसिद्धत्वात्, यशोदायाश्च तत्राऽपि अनुभवात्. विचारेणाऽपि "अथो अमुष्यैव ममाऽर्भकस्य" (भाग.पुरा. १०।८।४०) इति वाक्याद् ब्रह्मधर्मएव अयम्. अस्तु वा तत्. तदानीमेव शङ्किता **प्रतिबोधिता**ऽपि **आसीत्** "पुत्रएव अयं मम" इति ज्ञातवती. नहि अनुभवस्य स्मृतिसंस्काराजनकत्वं भगवन्मायाव्यतिरेकेण सम्भवति.

प्रकाशः

अन्वयः. **इदम्** इति उत्तरार्धोक्तं चरित्रद्वयम्. **अनुभवमोहकत्वञ्च** इति, बोधयति इति शेषः. 'मोहकद्वयम्' इति तु न पाठः इति[१] प्रतिभाति. अन्तःस्थितस्य अन्तःस्थापकत्वे अन्तर्यामिब्राह्मणं प्रमाणत्वेन वदन्तो दामबन्धनादि-लीलायाः तदनुमापकत्वं स्फुटीकुर्वन्ति **यः** इत्यादि. उत्तरार्धोक्त-व्यादानलीलासिद्ध-दर्शनादेः अमायिकत्वे हेत्वन्तरम् आहुः **विचारेण** इत्यादि. ननु व्यादानलीलायाम् अग्रे "वैष्णवीं व्यतनोत् मायाम्" (भाग.पुरा. १०।८।४३) इत्यनेन मायावितानस्य उक्तत्वात् तत्र दृष्टस्य मायिकत्वे कथं ब्रह्मत्व-बोधकत्वम् इति आशङ्कायां तदुपगम्यापि तथात्वं साधयन्ति **अस्तु वा** इत्यादि. अत्र **शङ्कितमना** इति कथनेन तत्रत्यो विचारः सर्वः स्मारितः. तथा सति तादृग्विचार-दृढीकृतस्य अनुभवस्य उपेक्षान्य-संशयान्यत्वात् तेन स्मृतिः वा संस्कारो वा आवश्यकः. स चेत् न, तथा सति कारणसद्भावे कार्याजननं भगवन्मायया. माया च सामर्थ्यरूपा, शक्तित्वात्.

लेखः

विचारेणापि इति. "अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य, यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः" इति भगवत्स्वभाव-शिष्टत्वनिरूपणाद् न मायिकत्वम् इति अर्थः. **अस्तु वा** इति. **तद्** रज्जुन्यूनतारूपं माहात्म्यं तावद् आस्तां परन्तु **तदानीमेव** जगद्रूपदर्शनेन **शङ्कितापि** तदैव **प्रतिबोधिता आसीद्**

---

१. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

अयमेव हि भगवतः उल्लासः ! जृम्भा च भगवतैव जनिता मुखविकास-हेत्वर्थम्,

---

प्रकाशः

तथाच अत्र अकर्तुंसामर्थ्यमेव ब्रह्मत्वबोधकम् इति अर्थः. एवं लीलात्रयस्य ब्रह्म(त्व)बोधकत्वं समर्थयित्वा तस्य उल्लासत्वाय आहुः **अयम्** इत्यादि. [१]तत्र पूर्वार्धोक्त-'बन्ध'नामानस्य भावाद्वैत-प्रतिपादकत्वात् तस्य च ऊतिलीला-समाप्तौ उक्तत्वात् तेन च सूक्ष्मस्य व्यापकत्वं स्फुटीक्रियते इति प्रमाणोल्लासत्वम्. एवञ्च कर्मवासनारूपायाः ऊतेः भावाद्वैतादिजनकत्वे एव भगवल्लक्षणत्वम् इति विमृष्टं भवति इति ज्ञाप्यते. उत्तरार्धोक्त-व्यादानादेस्तु विकासरूपत्वात् प्रमेयोल्लासत्वं स्फुटम् इति ज्ञापनाय **अयम्** इति उक्तम्. न हि अनुल्लसितः प्रार्थनादिव्यतिरेकेऽपि एवं प्रदर्शयेद् अतो अयमेव सः इति अर्थः. एतस्य ऊतित्वं बोधयितुं कर्मजत्वं[२] स्फुटीकुर्वन्ति **जृम्भा** इत्यादि. **विकासहेत्वर्थम्** इति विकासजनक-कर्मोत्पादनाय. **अतः** उल्लासेन

---

१. ''तत्र पूर्व-'' इत्यारभ्य ''उल्लासत्वगमकम्'' इत्यन्तस्य अयम् अर्थः— सप्तमस्कन्धे प्रमाणप्रमेयोल्लासौ द्विधा निरूपितौ ; उल्लासरूपायाः ऊतिलीलायाः भगवल्लक्षणत्वेन मोचकत्वज्ञापनार्थं प्रमेयोल्लासः पूर्वप्रकरणद्वयेन, प्रमाणोल्लासस्तु तृतीयप्रकरणेन. तत्र प्रमेयोल्लासो नाम प्रमेयं=कारणरूपो भगवान् वासनारूपोल्लासेन स्वात्मानं कार्यरूपताम् आपादयति. तत्र असद्वासनारूपोल्लासेन वैकुण्ठस्थितौ मुक्तौ जय-विजयौ दैत्यताम् आपन्नौ, सद्वासनारूपोल्लासेन तु मुक्तः सनत्कुमारः प्रह्लादो जातः, भगवानपि नृकेसरी जातः —इति कारणं कार्यरूपताम् आपन्नम्. अथ कार्यस्य कारणतापत्त्यर्थं प्रमाणोल्लासः. प्रमाणं वेदादिः, तस्य मिश्रवासनारूपः उल्लासः कर्म-तपो-योग-ज्ञान-भक्तिरूपः. सतु कार्यजातं सर्वं भावाद्वैतादिप्रकारेण कारणरूपताम् आपादयति. अत्र तु न इदानीमेव मोचनं किन्तु अग्रे लीला कर्तव्या अस्तीति वैपरीत्येन – प्रमाणोल्लासः पूर्वं प्रमेयोल्लासश्च पश्चाद् इति – निरूपितम्. 'बन्ध'नामा अनेन कार्यरूपस्य दाम्नः स्वरूपाभिन्नत्वं प्रमाणोल्लासकार्यं, मुखे जगत्प्रदर्शनेन कारणस्य कार्यरूपत्वं प्रमेयोल्लासकार्यं प्रदर्शितम् इति अर्थः. : एतावती कि.-मा.पाठयोः पादटिप्पणी.

२. कर्मजन्यत्वम् इति मा.पाठे - सम्पा.

अतो निमित्तान्तरेऽपि मुखविकासे जगत्प्रदर्शनं तदैव[१] हि प्रतिबोधनम्[२]. [३]प्रथमप्रदर्शने तु ''सुविस्मिता'' (भाग.पुरा. १०।७।३९) इत्येव अध्यायसमाप्तिः, ''वैष्णवीं व्यतनोत् मायाम्'' (भाग.पुरा. १०।८।४३) इति तत्रैव उक्तत्वात्. एवं चतुर्भिः श्लोकैः चतुर्मूर्तेः भगवतः

प्रकाशः

भगवत्कृतत्वात् **निमित्तान्तरे** मृत्स्नाभक्षणसामयिक-व्यादानेऽपि **जगत्प्रदर्शनं तदैव** उल्लास**प्रबोधनम्**. तथाच इदमपि तस्य चरित्रस्य उल्लासत्व-गमकम् इति अर्थः. **तत्रैव** इति द्वितीयदर्शनएव. एवञ्च जगद्रूपस्य स्वसन्तानस्य प्रदर्शनाद् वंशस्यापि उल्लासत्वं स्फुटीकृतं बोध्यम्. **एवम्** इत्यादि. अत्र प्रथमश्लोके जीवहरणापवर्तोन्मूलनानां[४] सङ्कर्षणकार्यत्वस्य स्पष्टत्वात् प्रथमः पक्षः. द्वितीयस्तु स्वयमेव व्याख्यातः. एवं द्वितीयश्लोके पशूनां पालानाञ्च जीवनेन धर्मरक्षायाः, उरगोच्चाटनेन जीवरक्षायाः च अनिरुद्धकार्यत्वस्य स्पष्टत्वात् प्रथमः पक्षः. अनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या तथाभूतानां निःसाधनानां जीवनं वासुदेवस्य, ह्रदिनीशुद्धिः प्रद्युम्नस्य, उरगोच्चाटनं सङ्कर्षणस्य इति द्वितीयः पक्षः. तृतीयश्लोकेऽपि उन्नयनं स्थापकत्वात् प्रद्युम्नकार्यत्वात् प्रथमः पक्षः. दावाग्नेः नाशः सङ्कर्षणस्य, मृत्युवारणसामर्थ्यं वा वासुदेवस्य इति, तद्वारणं तस्य

लेखः

इति ततोऽपि अधिकम् इति अर्थः. **निमित्तान्तरेऽपि** इति. मुखे मृत्तिकाभाव-दर्शनार्थं हि मुखव्यादानम्. **अतो मुखविकासे निमित्तान्तरेऽपि** सत्यपि **जगत्प्रदर्शनं तदैव प्रबोधनं** च अत्यलौकिकम् इति शेषः. अत्रापि जृम्भाद्वयचरित्रं सङ्गृहीतम् इति ज्ञापयन्ति. **प्रथमेति**, स्तनपानसामयिकेति अर्थः. **चतुर्मूर्तेः** इति. तत्र आद्ये पूतनामारण-शकटोच्चाटन-यमुलार्जुनोत्पाटनानि सङ्कर्षणकार्याणि. द्वितीये च व्रजपशूनां धर्महेतुत्वात् तदुपजीवनेन, कालिन्दीविषनिवृत्तिपूर्वक-तच्छुद्धिसम्पादनेन अनेकेषां रक्षणात्, तत्र स्नानादिना धर्मातिशयजननाच्च धर्मरक्षात्मकम् अनिरुद्धकार्यम्. दावाग्निरक्षायाञ्च

---

१. तदेव इति प्रकाशे - सम्पा. २. प्रबोधनम् इति प्रकाशे-लेखे - सम्पा.

३. प्रथमदर्शने ख. ४. -हरणोपवर्तो- इति मुद्रितपाठः. प्रतिभाति तु एवम् - सम्पा.

सङ्कर्षणा-ऽनिरुद्ध-प्रद्युम्न-वासुदेवनिर्णयः उक्तः. सर्वे वा सर्वत्र ॥३०॥

एवम् उल्लासं निरूप्य भ्रुवं निरूपयति. 'भ्रू'शब्देन हि भगवत्कृतं फलम् उच्यते, "तद्भ्रूविजृम्भः [१]परमेष्ठिधिष्ण्यम्" (भाग.पुरा. २।१।३०) इति वाक्यात्. तत्फलं दुःखाभाव-सुखरूपम्. दुःखस्य परमा सीमा नरकादिः, सुखस्य परमा सीमा वैकुण्ठाख्यं ; तद् उभयं भगवान् साधनरहितेभ्यः करोति इति विचारेण भगवत्त्वम्. तत्र दुःखाभावद्वयम् आह.

नन्दं च मोक्ष्यति भयाद् वरुणस्य पाशाद्
गोपान् बिलेषु पिहितान् मयसूनुना च ॥
अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण
लोके विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्वम् ॥३१॥

प्रकाशः

नेत्रपिधाने[२] तत्करणं तेषां धर्मरक्षणाय[३] इति तद् अनिरुद्धस्य इति द्वितीयः पक्षः. चतुर्थश्लोके वासुदेवचरित्रस्य[४] स्फुटत्वात् प्रथमः पक्षः. पुत्रत्वबुद्ध्युत्पादनं प्रद्युम्नस्य, मनःशङ्का-वेपथुजननं सङ्कर्षणस्य, व्यादानेन मात्राज्ञाकरणम् अनिरुद्धस्य इति द्वितीयः पक्षः. "येनैव त्रिविधाः जीवाः (/भक्ताः!)" (सुबो. १०।५।०।का. १०) इति न्यायेन तत्तच्चरित्रस्य भक्तिजनकत्वात् सर्वस्यापि पुरुषोत्तमकार्यत्वम् इति सर्वं सुस्थम् ॥३०॥

लेखः

प्रार्थनावचने वंशसम्बन्धस्फोरणात् प्रद्युम्नचरित्रम्. जृम्भालीलायाञ्च मातुः शुद्धसत्त्वावस्था-सम्पादनं वासुदेवकार्यम् —इति क्रमेण चतुर्व्यूहकार्याणि निरूपितानि. **सर्वे वा सर्वत्र** इति पक्षस्तु व्याख्याने उक्तएव ; अनुक्तोपि स्वयम् ऊह्यः ॥३०॥

---

१. परमेष्ठ्येति क-घ. २. नेत्रपिधानेन इति मा.पाठे - सम्पा.

३. भक्तानां भगवच्छुभदर्शने धर्मो नश्यतीति तदभावाय नेत्रपिधानम् अनिरुद्धकार्यम् :इति कि.-मा.पाठयोः पादटिप्पणी - सम्पा.

४. स्वस्य बन्धनाभावेन मुक्तत्वबोधनं, स्वान्तःस्थित-जगत्प्रदर्शनं, मोहनार्थं मायाविततिश्च इति :इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

नन्दं च मोक्ष्यति इति, **भयात्** सर्परूपाद् **वरुणस्य पाशाच्च.** उभयत्राऽपि नन्दो रक्षितो व्रते[१] यात्रायां प्रवृत्तः. अनेन अन्ये धर्माः अस्वधर्माः, भगवद्धर्माएव स्वधर्माः, अतो भगवान् आत्मा तस्मात् परब्रह्म इति अविवादम्. **नन्दं च** इति **च**कारो यशोदायाः उद्धारं कृत्वा नन्दस्यापि समुद्धारं कृतवान् इति उक्तसमुच्चयार्थः, नन्दएव वा[२] वारद्वयं मोचितः इति. वरुणस्य पाशाद् यद् भयं तस्मात्. अन्येषामपि दुःखदूरीकरणम् आह **गोपान् बिलेषु पिहितान् मयसूनुना च** इति. **मयसूनुः** व्योमासुरः. सहि गोपरूपः समागतो बालकान् मेषायितान् नीत्वा गुहायां स्थापितवान्. तत्र च तेनैव मार्गेण पातालगमने बिलानि सन्ति, ततः उक्तं **बिलेषु पिहितान्** इति. सर्पादयो वा तत्र निहितान् नयेयुः इति **बिलपदम्**. **च**काराद् अन्येऽपि उपद्रवाः अनुक्ताः स्वयम् ऊह्याः. एवं दुःखाभावम् उक्त्वा परमसुखम् आह **अह्नि आपृतम्** इति. **अह्नि** दिवसे **(लोके!) आपृतं** लौकिकक्रियया[३] व्याप्तं, **निशि शयानम् अतिश्रमेण** इति निर्भरनिद्रया रात्रौ व्याप्तम्. एवम् **(गोकुलम्!)** अहोरात्रं परलोकसाधनरहितं **स्वमेव वैकुण्ठं** व्यापिवैकुण्ठम् **उप** समीपएव **नेष्यति** स्वनिकटएव मायाजवनिकां

प्रकाशः

नन्दञ्च इत्यत्र. पूर्वार्धे सद्धर्मरूपा[४] उत्तरार्धे ऊतिरूपा च भ्रूः निरूपिता ज्ञेया ॥३१॥

---

१. व्रतयात्रेति ख-ग. २. वा नास्ति ख. ३. -क्रियाव्याप्तं ख-ग.

४. प्रकटे तु भगवति तत्सेवनात्मकाः भगवद्धर्माएव स्वधर्माः इति ज्ञापनार्थं प्रकटं भगवन्तं परित्यज्य व्रत-यात्रयोः प्रवृत्तस्य न ताभ्यां फलं किन्तु दुःखमेवेति दुःखं निरूप्य भ्रूरूपेण भगवतैव निःसाधनस्य निस्तारनिरूपणात्, "गोकुलं मदीयम्" इति वासनावतो भगवतएव निःसाधनानां वैकुण्ठनयनात्मकं कर्म इति निरूपणात्, अष्टमस्कन्धे भगवता मत्स्येन प्रोक्तानां त्रिविधानां सद्धर्मत्वनिरूपणात्, सप्तमस्कन्धेऽपि पुष्टिसहकार्यूति-निरूपके पूर्वप्रकरणद्वये पिता-पुत्रयोः वासनाजन्य-कर्मनिरूपणात्, मर्यादासहकार्यूतिनिरूपके तृतीयप्रकरणे कर्मजन्य-वासनानिरूपणम् इति विभेदाद् अत्र वासनाजन्य-कर्मनिरूपणात् पुष्टिसहकार्यूतिरूपा भ्रूः निरूपिता इति अर्थः. : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

दूरीकृत्य तत्रैव वैकुण्ठे नीतवान्. इदं चरित्रं न योगस्य, न मायायाः, न कालस्य, न मण्यादीनाम्. अतो ब्रह्मचरित्रमेव एतत्. नयने हेतुः **स्वम्** इति, आत्मत्वेन भगवान् तत् परिगृहीतवान् ॥३१॥

एवं ध्रुवं निरूप्य भङ्गं निरूपयति **गोपैः मखे प्रतिहते** इति.

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय
देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः ॥
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्त-
वर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम् ॥३२॥

पूर्वसिद्ध-फलस्य भङ्गो [१]अत्र निरूप्यते. मखेन रक्षा, मखभङ्गेन क्लेशः. देवताप्रीतिश्च मखफलम्. नियतफलत्वं च तस्य निरूप्य तत्प्रतिघातः उच्यते. गोपाः सर्वदा मखं कुर्वन्ति तैरेव कृत्वा भगवान् तं मखं दूरीकृतवान्. तस्मिन् **मखे प्रतिहते** रक्षकत्वात् तदभावे **देवे अभिवर्षति (व्रजविप्लवाय !)** व्रजनाशः आरब्धः. अनेन देवताप्रीतिः यागफलम् इति निश्चितम्. समर्थावलम्बनएव मर्यादा त्यक्तव्या इति सूचितम्. तदा **कृपया रिरक्षुः** भगवान् जातः. तदा **सप्तवर्षः सप्तदिनानि महीध्रं** गोवर्धनम् **एककरे सलीलं** धृतवान्. **अनघ** इति सम्बोधनम् उक्तविश्वासाय. **धर्ता** धरिष्यति. **उच्छिलीन्ध्रमिव** इति भाराभावाय. वर्षाकाले हि[२] उच्छिलीन्ध्रोद्गमः ; अलौकिकवर्षात्वाद् अलौकिकोच्छिलीन्ध्रोद्गमः इति इन्द्रो बोधितः.

प्रकाशः

गोपैः इत्यत्र. **भङ्गम्** इति चाञ्चल्यम्. **रक्षकत्वात् तदभावे** इति, मखस्य रक्षकत्वात् मखाभावे. **अनेन** इति मखप्रतिघाते देवकृताऽतिवर्षाकथनेन. सूचने हेतुं स्फुटम् आहुः **तदा कृपया** इत्यादि. तथाच भगवत्कृत-रक्षाकथनेन इति अर्थः. **तदा** इति रिरक्षुत्वे. **इति इन्द्रो बोधितः** इति, एवं प्रकारेण अवस्था-साधनादिविरुद्ध-कार्यकरणेन इन्द्रः स्वसामर्थ्येन ईश्वरत्वादि-ज्ञानशाली कृतः इति अर्थः. तथा सति ‘‘वर्षादावपि अहमेव प्रयोजकः, त्वं तु मिथ्या अभिमन्यसे’’ इति बोधयित्वा

---

१. भङ्गो निरूप्यते घ.   २. हि नास्ति ख.

सप्तदिनानि इति. सप्ततन्तुः यज्ञो बाधितः (चेत्!) सप्तदिनानि दुःखं प्रयच्छति इति यत्रैव धर्मबाधो दृश्यते तत्रैव सप्तदिनानि उच्यन्ते. निवर्त्यं[१] चेद् दुःखं तदा सप्तदिनानि निरन्तरं दुःखं भवति, अग्रे निवर्तते. अनिवर्त्यं चेत्, सप्तमएव दिवसे भवति. स्वयमपि **सप्तवर्षः** सप्तधा परिच्छिन्नं कालम् अतिक्रान्तवान्. अतएव सप्ततन्तुमखभङ्गः, अन्यथाफलञ्च. मर्यादा हि साङ्गेन वेदेन जन्यते. अङ्गानि षट्, आत्मा च एकः. अयञ्च संवत्सरः प्रजापतिः. सः साङ्गवेदप्रवर्तकः[२] इति तम् अतिक्रम्य पश्चात्

प्रकाशः

दिवससङ्ख्यया अन्यदपि बोधितवान् इति आहुः **सप्तदिनानि** इत्यादि. एतस्यैव प्रकारम् आहुः **यत्र** इत्यादि. वर्षसङ्ख्या-तात्पर्यम् आहुः **स्वयमपि** इत्यादि. **अतएव** तावत्सङ्ख्याक-कालातिक्रमादेव. **अन्यथाफलम्** इति कालमर्यादातिक्रमेण फलम्. ननु एवं[३] सति [४]प्रथमवर्षएव कुर्याद्, एतावत्सङ्ख्याक-कालातिक्रमस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **मर्यादा** इत्यादि. तथाच प्रमाणबलात् प्रमेयबलस्य आधिक्यज्ञापनाय तदतिक्रमः इति अर्थः. ननु एवं सति प्रमाणमेव अतिक्रमेत्, किं कालातिक्रमेण इत्यतः आहुः **अयम्** इति. कालात्मक-भगवतः कथं सप्तवर्षत्वम् इत्यतः

लेखः

गौपैः इत्यत्र. **सप्ततन्तुः** इति. ... . **सप्तमएव दिवसे भवति** इति. अतएव परीक्षितः ब्राह्मणातिक्रमजन्यं मृत्युरूपं दुःखं सप्तमे दिवसे जातम् इति भावः. **सप्तधा परिच्छिन्नम्** इति. सप्ततन्तुयागेन उपाधिना सप्तधा परिच्छिन्नं कालम् इति अर्थः. **अन्यथा** इति. मखभङ्गेऽपि **अन्यथा** गोवर्धनयागप्रकारेण **फलञ्च** दत्तवान् इति अर्थः. **षड्** इति देशादीनि षट्. **तम् अतिक्रम्य** इति, सप्ताङ्गसहित-वेदप्रवर्तक-संवत्सरम्

---

१. निवर्त्यते चेदिति ख. २. प्रवर्तित इतीति क-घ.

३. कालमर्यादातिक्रमे सति : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

४. सप्तम- इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवं शोधनम् - सम्पा.

सप्ततन्तुम् अतिक्रान्तवान्. कालस्य भगवदवच्छेदकत्वाभावात् [१] सप्तधर्मवेष्टन-मेव सप्तवर्षत्वम्. अयञ्च धर्मः सप्तमो भङ्गात्मकः. **एककरे** इति एकां क्रियाशक्तिं स्थापितवान्, ''तैः अयं साध्यतां मखः'' (भाग.पुरा. १०।२४।२५) इति वचनात्. अन्यथा तथैव गोवर्धनं स्थापयेत् [२]. **सलीलम्** इति. वस्तुतस्तु यागस्य तथात्वाभावाद् भगवतैव तथासम्पादनाद् भगवदिच्छयैव गोवर्धनः स्थितः, हस्तस्तु केवलं शास्त्रार्थत्वाय प्रदर्शितः. तथापि निरोधोपवासैः

प्रकाशः

आहुः **कालस्य** इत्यादि. तथाच वेदनगतम् अवच्छेदनं भगवति उपचर्यते इति तथा इति अर्थः. **सप्तधर्मवेष्टनम्** इति पाठे सप्तधर्माङ्गीकरणम् इति अर्थः. सप्तवर्षत्व-कथनस्य प्रकृतेऽपि उपयोगम् आहुः **अयञ्च** इत्यादि. तथाच एतावत् प्रमेयं बोधयितुं सप्तवर्षोक्तिः इति अर्थः. एककरेण धरणस्य तात्पर्यम् आहुः **एकाम्** इत्यादि. वाम-दक्षिणभेदेन द्विधा [३] क्रियाशक्तिः. तयोः आद्या केवलप्रमेयोपयोगिनी, द्वितीया प्रमाणानुरोधि-प्रमेयोपयोगिनी. तत्र उक्तवाक्येन क्रियाशक्तिरक्षायाः अभिप्रेतत्वाद् आद्यां रक्षितवान्. यदि तद्रक्षामपि न अभिप्रेयात् तदा इच्छामात्रेणैव गोवर्धनं स्थापयेत्. अतः तादृशक्रियाशक्ति-रक्षणाय एककरेण धरणम् इति अर्थः. **तथात्वाभावाद्** इति रक्षकत्वाभावात्. **शास्त्रार्थत्वाय** इति, क्रियाशक्त्यैव रक्षति एवंरूप-शास्त्रमर्यादा-पालनाय. एवम् अत्र सद्धर्मरूपो भङ्गः अनन्यत्वरूपः उक्तः. तेन सद्धर्मस्य प्रकारान्तरस्थितिरेव भङ्गः इति सिद्ध्यति. वंशरूपं भङ्गं बोधयिष्यन्तः श्रीगोवर्धनेनैव रक्षायाः सिद्धौ लीलायाः कुत्र उपयोगः

लेखः

अतिक्रम्य इति अर्थः. **सप्तवर्षेति,** साङ्गवेदप्रतिपादक-सप्तवर्षेति अर्थः. **अयञ्च धर्मः सप्तमः** इति, अदीनत्वादि-धर्मेषु अयं सप्तमः इतोऽपि तथा इति भावः. **इति वचनाद्** इति. ''अयम्'' इति एकवचनेन तथा इति अर्थः. शिष्टन्तु श्रीपुरुषोत्तमीय-व्याख्यानदिशा अवगन्तव्यम्.

---

१. सप्तवर्षवेदनमेवेति क-प्रकाशे - सम्पा. २. स्थापयेत्. अत्र तैरयं साध्यतामिति वाच्यमिति विशेषः ख-ग. ३. द्विविधा इति कि.-मा.पाठयोः - सम्पा.

दुःखावश्यकत्वं मत्वा तन्निराकरणाय लीलां कृतवान्. सा[१] हि वेणुवादनरूपा भवति ; सप्तरन्ध्रैः अमृतपूरकः. तथा सति प्राणाभ्युदय-निःश्रेयसफलसिद्धिः. अतो निरोधदुःखम् उपवासदुःखं वा न जातम् इति अर्थः ॥३२॥

एवं भङ्गं [२]विनिरूप्य संसूचनं निरूपयति **क्रीडन् वने निशि** इति.

क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां
रासोत्सुकः कलपदायतमूर्छितेन ॥
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां
हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुजस्य ॥३३॥

भगवतो हि इदं संसूचनं स्वरूपफलार्थे, सम्यक्त्वञ्च अनिष्टनिवृत्तिमपि करोति इति. गोप्यो हि तत्र निदर्शनं ; ताएव हि भगवन्तं प्राप्तवत्यः,

---

प्रकाशः

इति आकाङ्क्षायां वंशरूप-भङ्गस्य सप्तमत्वात् तस्यैव अभिप्रेतत्वाय आहुः **तथापि** इत्यादि. वेणुवादनलीलैव तदा कृता इत्यत्र गमकम् आहुः **सप्त** इत्यादि. तथाच भङ्गस्य सप्तमत्वेन वेणोश्च सप्तरन्ध्रत्वेन तत्र तद्वादनस्य लीलायाः एव औचित्यात् ; ईशानुकथायाः प्रलयलीलात्वेन वंशस्यापि आत्मभञ्जकत्वेन वेणुवादनस्यापि अमृतपूरकतया मर्त्यामृत-लौकिकामृत-परमामृत-फलसाधकत्वात् प्रकारान्तरापादकत्वम् इति तथा[३] इति अर्थः. एवञ्च अदीनत्वादि-धर्माणां सर्गाद्याधिदैविक-रूपत्वम् अतः सर्वं सुस्थम् इति तदीयैः विभावनीयम् ॥३२॥

क्रीडन् इत्यत्र. **इदम्** इति. गोपिकासम्बन्धिचरित्रं स्वरूपात्मकं यत्फलं तन्निमित्तं सम्यक् सूचनम् इति अर्थः. **वन-निशा**पदयोः क्रमेण तात्पर्यम्

लेखः

प्राणाभ्युदयनिःश्रेयसेति. पञ्च**प्राणाः, अभ्युदयो** लोकोत्कर्षो, **निःश्रेयसं** स्वरूपानन्ददानम् इत्येवम् इष्टसप्तकं सप्तरन्ध्रैः अमृतपूरणेन सम्पादितम् इति अर्थः ॥३२॥

---

१. स हि वेणुवादनरूपो ग. २. भङ्गं निरूप्येति ग.

३. प्रलयलीलात्वम् : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

तत्सम्बन्धि चरित्रमेव भगवन्मार्गे फलसूचकम्. **वने** वृन्दावने, **निशि** रात्र्यां ; लौकिक-वैदिकक्रियायां निवृत्तायां लोकेऽपि विनिवृत्ते तदा क्रीडति. तद् आह **क्रीडन् वने निशि** इति. तन्निवर्तिका भक्तिरेव, अतएव **निशाकरः**. तस्य **रश्मयो** भक्तिप्रकाराः = मनोरूपत्वाद् अस्य [१]चन्द्रस्य तदिच्छाविशेषाः. तैः **रश्मिभिः गौरी** रञ्जिता = सर्वनिवृत्तिः. तादृश्येव निवृत्तिः भगवत्क्रीडाहेतुः. अतएव भगवान् **रासोत्सुकः**. **रासो** नाम रसेन पूर्णः पदार्थो अन्यसम्बन्धरहितः. सहि विचार्यमाणे प्रिया-बहुस्त्री-कर्तृको नृत्यविशेषो भवति, तत्र भोगो वा. **(रासोत्सुकः !)** केवलं शृङ्गार-रसाभिनिविष्टः यथा (तथा!) भक्तगुणसौन्दर्याभिनिविष्टः. तदा अन्तःरसेन पूर्णः तद्रसाविर्भावार्थं **कलपदायतमूर्छनां** कृतवान्. साहि मूर्छना अन्येषां हृदये रसार्थं विवरं करोति. तस्मिंश्च विवरे भगवत्सम्बन्धाभावेन रसपूरणाभावात् तदर्थं भगवत्स्मरणात्मकः **स्मरः** प्रविष्टः. सहि विषयाभावाद् **रोगत्वेन** पर्यवसितः.

प्रकाशः

आहुः **लौकिकेत्यादि**. **तदा** इति अवैयग्र्येण जीवानां भगवदेकतानतायाम्. लौकिक-वैदिक-क्रियानिवृत्तिरपि भगवदिच्छाविशेषेण चेत् तदैव [२]भक्तिफलभूत-स्वरूपानुभवहेतुः भवति इति ज्ञापयितुं **निशाविशेषणतात्पर्यम्** आहुः **तन्निवर्तिका** इत्यादि. **अतएव** इति भक्तिबोधनार्थत्वादेव. **रञ्जिता सर्वनिवृत्तिः** इति, रञ्जनं पूर्वोक्तनिवृत्तिरूपम् इति अर्थः. **अतएव** इति भक्तिप्रयुक्तेच्छाविशेष-वैशिष्ट्यादेव. **तत्र** इति तादृशीषु. **उत्सुकपदतात्पर्यम्** आहुः **केवलम्** इत्यादि. तथाच रासेन उत्सुकः इति समासः. औत्सुक्यकार्यं विवृण्वन्ति **तदा** इत्यादि. **तद्रसाविर्भावार्थम्** इति तासु तदर्थम्. **विषयाभावाद्** इति भगवत्सम्बन्धाभावात्. ननु भगवत्सम्बन्धस्य कथं रोगत्वेन पर्यवसानम्?

लेखः

क्रीडन् इत्यत्र. **तन्निवर्तिका** इति, लौकिक-वैदिक-क्रियानिवर्तिका

---

१. -रूपत्वादस्य तदिच्छेति ग.

२. तदेव इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

सर्वो हि रसपूरकः स्वविषयम् अप्राप्य बुभुक्षादिवद् रोगताम् आपद्यते, अन्यथा देहनाशं मृत्युं वा न कुर्यात्. अनेन तासां मुख्यो अधिकारो निवारितः, भगवद्विषयकस्य कामस्य भगवद्धर्म-प्रवेशाभावात्. अतएव तादृशीनां भगवत्सम्बन्ध-प्रतिबन्धकः कामाधिष्ठातृ-देवतारूपः[१] अर्थाधिष्ठात्रीदेवतायाः[२] **धनद**रूपायाः भ्राता – **अनुज**त्वात् सोऽपि तादृशः – सः तासां प्रतिबन्धको जातः. एवमपि सति भगवान् स्वेच्छया प्रवृत्तः इति **व्रजभृद्वधूनां हर्तुः** शङ्खचूडस्य **शिरो हरिष्यति.** गुणत्रयाविष्टानामेव तादृशरोगरूप-कामसद्भावे तत्प्रतिबन्धो भवति, नतु गुणत्रयातीते भगवति आसक्तानाम्. अतः तस्य शिरो हृतवान्. **कलाः** अव्यक्त-मधुराः अनभिव्यक्त-परमानन्द-प्रतिपादकाः शब्दब्रह्मरूपाः स्वराः, तेषां **पदं** स्थानं गीतादि. तथाभूतानि वा **पदानि,**

प्रकाशः

तत्र आहुः **सर्वो हि** इत्यादि. **देहनाशम्** इति, उपचयाभावं, तनुताम् इति यावत्. एतेन भ्रमरगीते "धारयन्ति अतिकृच्छ्रेण" (भाग.पुरा. १०।४३।६) इत्यत्र "काश्चन मृता" (तत्रत्य सुबो.) इति याः व्याख्याताः ताः एताः इति प्रतिभाति. **अनेन** इत्यादि, स्मरणस्य रोगत्वकथनेन. **तासां** फलप्रकरणीय-षष्ठाध्यायोक्तानाम्. **भगवद्धर्मप्रवेशाभावाद्** इति भगवद्धर्मेषु प्रवेशाभावात्. तत्र गमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. **तादृशीनाम्** इति लौकिक-कामवतीनाम्. **तादृशः** इति कामाधिष्ठातृरूपः. यदि तस्य कामस्य न भगवद्धर्मत्वं तदा भगवता किमिति प्रतिबन्धकनिवृत्तिः कृता इत्यतः आहुः **एवमपि** इत्यादि. ननु हीने अधिकारे भगवान् किमिति स्वेच्छया प्रवर्तेत अतो न एवम् इति शङ्कायाम् आहुः **गुणत्रये**त्यादि. गुणत्रये तत्कार्ये वा आसक्तानाम्. तथाच इच्छायामपि आसक्तिरेव बीजम् इति

लेखः

इति अर्थः. **भगवद्धर्मप्रवेशाभावाद्** इति. कामोपाधिक-स्नेहस्य भगवद्धर्मे प्रवेशाभावाद् न आसां मुख्याधिकारित्वम् इति अर्थः. **नतु गुणत्रयातीते** इति. तादृशास्तु फलप्रकरणोक्ताः एव इति भावः ॥३३॥

---

१. -धिष्ठात्री देवतेति ख. २. -देवतारूपाया इति ख-ग.

वाक्यार्थस्य तत्र अप्रयोजकत्वात् पदानामेव तत्र स्वातन्त्र्यम्. **आयतमूर्छनं** दीर्घमूर्छनम्. मूर्छना हि सङ्गीते प्रसिद्धा स्वराणां, तस्य आयतत्वं = सर्वचित्तप्रवेश-योग्यरूपता. **मूर्छित**शब्दाच्च रसान्तरम् अविवेकादिकं वा न उत्पत्स्यते इति सूचितम्. उद्दीपितो यथा[१] अग्निः दहति तथा स्मरेण ताः तथाभूताइव जाताः, अतएव स्मरस्य रोगत्वम्. व्रजमेव बिभ्रतीति न तद्भर्तॄणां रक्षकत्वम्. वधूत्वात् तासामेव अतिस्त्रीभावेन प्रतिबन्धक-निवृत्त्यभावः सूचितः, अतएव सः हर्ता जातः. एवं भगवान् मुख्याधिकाराभावेऽपि स्वलक्षणं फलं प्रयच्छतीति गोपिकासम्बन्धिचरित्रं संसूचकं भवति ॥३३॥

एवं संसूचनं[२] निरूप्य भूरिभावं निरूपयति, भूर्यनुग्रहं वा, द्वाभ्यां **ये च प्रलम्बेति.**

प्रकाशः

अर्थः. **'मूर्छित'शब्दाद्** इत्यादि. ''मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः'' (पाणि.धा.पा. भ्वादि. २१२) इति धात्वर्थात् ततः तथा इति अर्थः. **अतएव** इति, एवम् अतितापजनकत्वादेव. **प्रतिबन्धकनिवृत्त्यभावः** इति, मुख्यभक्ति-प्रतिबन्धकीभूतो यः कामः तन्निवृत्त्यभावः. **मुख्याधिकाराभावे** इति, मुख्यो अधिकारः सर्वात्मभावरूपः तदभावे. तथाच निरोधस्कन्धे अविहितभक्तेरेव नानाप्रकारिकायाः निरूपितत्वात् काम-लोभादि-प्रतिबन्धकानपि भगवान् एवम्भावे दूरीकृत्य फलं प्रयच्छति इत्येतस्य संसूचनं स्कन्धार्थः. तेनापि मुख्याधिकारे किं वाच्यम् इत्यपि संसूच्यते इति अर्थः ॥३३॥

ये च इत्यत्र. प्राप्तिक्रियायाः कर्मणश्च प्रथमश्लोके असत्त्वाद् भूरित्वस्य नान्तरीयक-लक्षणत्वाच्च द्वाभ्यां मिश्रीकृत्य उभयनिरूपणेऽपि अदोषः इत्याशयेन पक्षान्तरम् आहुः **भूर्यनुग्रहं वा** इति. भूरित्वं मुक्तिः, सा च रूपान्तरत्यागपूर्वकं स्वरूपावस्थानम्. वैकुण्ठम् अक्षरं, तत्र स्वरूपावस्थानं सङ्घातानभिमाने जीवन्मुक्तानामपि भवति, तद्वत्प्रकृतिलीनानामपि सुषुप्तौ इव. एतावान् परं विशेषो यद् वासनाराहित्यम्. अक्षरैक्याभावेन च नानात्वस्य विद्यमानत्वात् तस्य भूरित्वम्. अनुगृहीतानां तु अक्षराभेदाद् आश्रयत्वमेव, नतु

---

१. -पितोऽग्निर्यथेति ख.   २. संसूचनामिति ख.

ये च प्रलम्ब-खर-दर्दुर-केश्यरिष्ट-
मल्लेभ-कंस-यवनाः कुज-पौण्ड्रकाद्याः ॥
अन्ये च [१]शाल्व-कपि-शम्बर-दन्तवक्त्र-
सप्तोक्ष-बल्वल-विदूरथ-रुक्मिमुख्याः ॥३४॥
ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः
काम्बोज-मत्स्य-कुरु-कैकय-सृञ्जयार्णाः ॥
यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीम-
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम् ॥३५॥

एते सर्वे दैत्याः दैत्यांशराजानश्च भगवता हताः **तदीयं निलयं (यास्यन्ति!)** वैकुण्ठं गताः. **ये च** पुनः **प्रलम्बा**दयो बलभद्रादिभिः हताः – तत्रापि ये भगवन्मुखारविन्दं पश्यन्तः प्राणान् जहुः पार्थास्त्रपूताः धर्मयुद्धेन हताः तेऽपि वैकुण्ठमेव गताः, अन्ये ये प्रलम्बादयः – ते **अदर्शनं (यास्यन्ति!)** गताः = अव्यक्ते प्रकृतौ लीनाः इति अर्थः. अथवा प्रथमश्लोकोक्ताः भूरिरूपं प्रकृतिमेव गताः – तस्याः व्यापकत्वाद् भूरित्वं –

प्रकाशः

कृपात्मक-धर्मान्तरत्वं, तस्य [२]पूर्वोक्तधर्मविशिष्टे क्षणएव निवेशात्. किन्तु अनु = भूरित्वोत्तरं गृह्णाति = आधेयत्वेन स्वीकरोति इति अनुग्रहः इति योगेन आश्रयएव तथा[३] इति. तदिदं हृदि कृत्वा विभजन्ते **एते** इत्यादि. श्लोकक्रमविरोधे एवं भवतीति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **गताः** इति, तमोभिभवेन भेदस्यापि ज्ञानाविषयत्वात् तद्भावं[४] प्राप्ताः इति अर्थः. तथा सति कथं भूरित्वम् इत्यतः आहुः **तस्याः** इत्यादि. ''आकाशवद् भूयान्'' इत्यादौ व्यापकेऽपि तथा[५] प्रयोगात् तथा इति अर्थः. एवं

---

१. वैकल्पिकपाठे शम्बर-बल्वलयोः व्यत्यासः - सम्पा.
२. देवगुह्यत्वं पूर्वोक्तो धर्मः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.
३. अनुग्रहरूपः इति अर्थः : इति कि.-मा.पाठयोः पादटिप्पणी - सम्पा.
४. भूरिभावम् : इति कि.-मा.पाठयोः पादटिप्पणी - सम्पा.
५. 'भूरि'पदप्रयोगाद् : इति कि.-मा.पाठयोः पादटिप्पणी - सम्पा.

द्वितीयोक्ताः भगवन्तं गताः इति. अथवा उभये एते आवेशिनः प्रकृतिं गताः, अभिमानिनस्तु तदीयं निलयं गताः इति अर्थः. **खरो** धेनुकः. **दर्दुरः** कश्चिद् अन्यो ; यथा बकः तथा सोऽपि. बकएव वा, जलवासात्. **बकदर्दु**रेति पाठे अघासुरो वा दर्दुरः इति केचित्. **अरिष्टो** वृषभासुरः. **मल्लाः** चाणूरादयः. **इभः** कुवलयापीडः. **यवनः** कालयवनः, यवनाः वा मुचुकुन्दात् समागत्य ये मथुरायां हताः. **कुजो** नरकासुरः. **पौण्ड्रको** मिथ्यावासुदेवः. **आदि**शब्देन काशिराजप्रभृतयः. एते स्वभावतएव हताः, नतु देवान्तरवर-पुष्टाः. अतो वरपुष्टत्व-विशेषणेन **अन्यत्वम्**. ते च **शाल्वादयः**. **कपिः** द्विविदः, सः रघुनाथभक्तोऽपि तद्भक्तसङ्ग्यपि दुःसङ्गाद् हतः. **शम्बरस्तु** मायाशतवित्. अत्रैव वा **बल्वलः**. सोऽपि यज्ञविघ्नकर्तृत्वाद् ऋषीणामपि अशक्यत्वाद् वरसिद्धः इति ज्ञातव्यम्. **सप्तोक्षाः** बलीवर्देषु प्रविष्टाः दैत्याः. ते हि भगवत्स्पर्शमात्रेण[1] हताः, अतएव तदर्थं सप्तरूपाणि कृतवान्, ते हि त्रिपुरवद् एकक्षणे वध्याः अन्यथा[2] अवध्याः इति. बलीवर्दाएव, पश्चाद् वा मृताः इति. अन्ये वा सप्त बलीवर्दाः.

प्रकाशः

यद्यपि क्रमस्वीकारो भवति तथापि "यतः एतद् विमुच्यते" (भाग.पुरा. १०।२६।१६) इति "तदेव रूपं दुरवापम् आप" (भाग.पुरा. १०।४४।३९) इत्यादि बहुवाक्यविरोधात् तदपेक्षया क्रमात्मक-धर्ममात्रविरोधस्य स्वल्पत्वात् पूर्वोक्तानुसृतमेव पक्षान्तरम् आहुः **अथवा उभये** इत्यादि. अस्मिन् पक्षे माध्ववद् जीवद्वयस्वीकारः प्रथमपक्षाद् विशेषः, सहजासुराणामपि असुरत्वं प्रमेयबलेन निवर्त्य स्वनिलयप्रापणं माध्वमतादपि विशेषः इति बोध्यम्. न च आवेश्यभिमानिनोः फलवैपरीत्यं शङ्कनीयम्, अन्यथाकरणसमर्थस्य निष्प्रत्यूहस्य भगवतः स्वतःसिद्धत्वाद् इति ॥३४॥

लेखः

ये च प्रलम्ब इत्यत्र. ननु बलीवर्दानां नसि प्रोतनमात्रं वक्ष्यते इति कथं तददर्शनोक्तिः इत्यतः आहुः **पश्चाद् वा मृताः** इति. यदा

१. -मात्रेणैवेति ख. २. तु इति अधिकम् अत्र सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

विदूरथो दन्तवक्त्रभ्राता. **रुक्मी** शालकः सः **मुख्यो** येषां बिन्दानुबिन्दादीनाम्. एते हि एकैकशो भगवता सह युद्धे, तद्भ्रातृ-पुत्रैः वा, हताः. अतः परं निमित्तान्तरेण भगवत्सारथ्ये युद्धे हतान् आह **ये वा** इति. एतेषां भगवतैव सह युध्यमानत्वाद् द्वेषभावाच्च मुक्तिः युक्तापि, अन्ये तु निमित्तान्तरेण हताः इति **ये वा** इति अनादरः. **समितिशालिनो** युद्धे पराक्रमवन्तः, सप्तम्याः अलुक्. अतएव **मृधे** सङ्ग्रामे **आत्तचापाः**. धर्मनिष्ठता सूचिता. **काम्बोजादयो अर्णान्ताः** तत्तद्देशक्षत्रियाः. दशार्णाः वा **अर्णाः**. **सृञ्जयाः** पाञ्चालाः. **सृञ्जयाद्याः** इति पाठे धृष्टद्युम्न-प्रभृतयः. एकैकशः उभयपक्षेऽपि हताः, अन्यथा पाण्डवानाम् अर्थे मृतानां मुक्तिः न स्यात्. प्रथमतः **(अलम्!) अदर्शनं** गताः. यावद् भगवान् अत्र स्थितः तावद् अदृष्टा भूत्वा अत्रैव स्थित्वा (पश्चाद्!) भगवता सह गताः इति अर्थः. अत्र प्रलम्बो बलभद्रेण हतः, खरश्च, मल्ल-यवनाः यथायथं, शम्बरः प्रद्युम्नेन, रुक्मी च[१] बलभद्रेण, काम्बोजादयो भीमादिभिः. अत्र सर्वत्र **बल-पार्थ-भीमा** इति **(हरिणा!)** तेषु आविष्टस्य भगवतएव नाम, परं व्याजेन. **बलपार्थभीम** इति **व्याजाह्वयानि**[२] यस्य. एतद्धननं भगवच्चरित्रम्, आत्मत्वात्. अतएव हननादिकम् अनुक्त्वैव तद्गृहे[३] गमनं निरूपितम्.

प्रकाशः

ये वा इत्यत्र. **अन्यथा** इति मुक्तिहेतुभूतस्य द्वेषादेः अभावे. क्रमे तेषां मुक्तिबोधकप्रमाणानि च अनुरुध्य अदर्शनस्य अर्थान्तरम् आहुः **प्रथमतः** इत्यादि. **आत्मत्वाद्** इति आदायकत्वात्, "यदाप्नोति यदादत्ते यच्चातिविषयान् अयं, यच्चास्य सततं भावः तस्माद् आत्मा निरुच्यते" (लिङ्गपुरा. १।७०।९६) इति तन्निर्वचनात्. ननु मूले आदायकत्वमेव अत्र अभिप्रेतम् इत्यत्र किं गमकम् इत्यतः आहुः **अतएव** इत्यादि. अत्र एतद् बोध्यम्— एते अदीनत्वादयः परस्परनिरपेक्षतयैव परामृष्टाः[४], सापेक्षास्तु फलिष्यन्ति इति ॥३५॥

---

१. च नास्ति ख. २. -ह्वया यस्येति ख-ग. ३. तद्गृहगमनमिति ग.
४. विमृष्टाः इति कि.-मा.पाठयोः - सम्पा.

"जातः कंसवधार्थाय" (जन्माष्टमीव्रतोद्यापनप्रयोगे अर्घ्यमन्त्रः) इत्यादि तु दृश्यमानाभिप्रायं कल्पान्तराभिप्रायं वा ॥३४-३५॥

एवं भूर्यनुग्रहं निरूप्य चिन्तामयं निरूपयति **कालेन** इति.

कालेन मीलितदृशाम्[१] **अवमृश्य नृणां**
स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपारः ॥
आविर्हितस्त्वनुयुगं सहि सत्यवत्यां
वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म ॥३६॥

भगवतो हि चिन्ता व्यासरूपा[२]. व्यासो हि चिन्तया सर्ववेदार्थं विनिश्चित्य भगवत्स्वरूपं लोकेभ्यः उपदिशति. **कालेन** द्वापरादिना **मीलिता** आच्छादिता **दृष्टिः** येषाम् एतादृशानां **(स्तोकायुषां!) नृणां स्वनिगमो (बत!) दूरपारः** आकलयितुम् अशक्यः इति **(अवमृश्य स हि सत्यवत्यां!)** स्वयम् आविर्भूतः. **अनुयुगम्** इति **वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति** इत्यनेन सम्बध्यते. प्रतिद्वापरान्तं वेदविभागः, अतः पुराणान्यपि एकस्य चतुर्युगस्य व्यवस्थां कथयन्ति इति सूचितम्. **विटपशः** इति वेदानां विभागे कृत्रिमत्व-शङ्कानिवृत्त्यर्थम्. शाखास्वरूपन्तु निबन्धे[३] निरूपितम्— एकस्याः भगवन्मूर्तेः स्वरूपप्रतिपादको वेदराशिः शाखा इति. वेदस्य द्रुमत्वमपि पूर्वं[४] निरूपितम्. **स्म** इति प्रसिद्धे, तस्माद् अत्र बहु न वक्तव्यम् इति भावः ॥३६॥

प्रकाशः

कालेन इत्यत्र. व्यासस्य चिन्तारूपत्व-विचारेण **चिन्तामयम्** इत्यत्र प्राचुर्ये मयड् बोधितः ॥३६॥

लेखः

मृताः तदा निलयं गताः इति अर्थः. "जातः कंसवधार्थाय" इत्यत्र वाक्ये वधोक्तिः लोकदृष्ट्यनुरोधाद् अतो न एतद्वाक्यविरोधोऽपि इति तथा इति भावः ॥३४॥

---

१. -धियामिति पाठः ख-ग. २. -रूपा चिन्तयेति ग.

३. द्रष्ट. त.दी.नि. २।२४-२८ - सम्पा. ४. द्रष्ट. भाग.पुरा. १।१।३ - सम्पा.

इदानीम् एतं निरूपयति **देवद्विषाम्** इति.

देवद्विषां निगमवर्त्मनि धिष्ठितानां
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यमूर्भिः ॥
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ॥३७॥

एषो बुद्धः, साम्प्रतं विद्यमानत्वात्. तस्य स्वरूपम् इदमेव यद् इदानीं वर्तते. अनेन ब्रह्मणोऽपि[१] निरूपणसमयः कलिरेव इति.

वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि ॥
ते हि पाषण्डिनो ज्ञेया वेदार्थस्य विनिन्दकाः ॥(१०)॥

देवद्विषां दैत्यानाम्. ते हि देवान् द्विषन्ति. अनेन देवप्रार्थनया दैत्यमोहनार्थं बुद्धावतारः इति सूचितम्. **निगमवर्त्मनि धिष्ठितानां** वेदप्रतिपादितमार्गे व्यवस्थितानाम्. यद्यपि वेदएव दैत्यव्यामोहनार्थं बहवः उपायाः निरूपिताः तथापि सामान्यतएव वेदवैमुख्यार्थम् अयम् अवतारः. **धिष्ठिताः** अधिष्ठाय स्थिताः. ‘‘वयमेव वेदप्रवर्तकाः’’ इति लोकानां व्यामोहार्थे आत्मानं वैदिकत्वेन ज्ञापयित्वा समागतान् व्यामोहयन्ति इति अर्थः. **पूर्भिः** त्रिपुररूपाभिः **अदृश्यमूर्भिः** मूर् = मायाः. अतएव ‘‘स्त्रियां क्तिन्’’ (पाणि.सूत्र ३।३।९४) इति **मूर्भिः**[२] इति भवति. मायाकार्यं किञ्चिद् इति अर्थः. अदृश्याः

प्रकाशः

देवद्विषाम् इत्यत्र. **अनेन** इति, एतत्पदविमर्शावसरे कलिकालोत्पन्न-बुद्धावतार-निरूपणेन प्रतिभाति इति शेषः. **कलिः** इति अष्टाविंशतितम-द्वापरात् पूर्वः कलिः, अन्यथा पूर्वश्लोकेषु उक्तानां ‘‘करिष्यति’’ इत्यादीनां भविष्यत्प्रयोगाणां विरोधापत्तेः इति. के देवद्विषः इति अपेक्षायां तत्स्वरूपं कारिकायाम्[३] आहुः **वेदे**त्यादि. अणुविरोधः प्रमादादपि भवति इति तद्वारणार्थं विशिंषन्ति **वेदार्थस्य विनिन्दकाः** इति. निन्दायां विशेषो = बुद्धिपूर्वकं मिथ्या इति प्रतिपादनम्. तेन न कोपि क्वापि विरोधः. **अतएव** इति मोहनार्थकात्

---

१. ब्रह्मणापीति ख. २. मूर्तिरिति ख. ३. कारिकया इति मा.पाठे - सम्पा.

मूः यासु ताः अदृश्यमुरः[१], ताभिः पूर्भिः त्रिपुरैः. ताएव हि **मयेन विहिताः** कृताः प्रेरिताः वा. (**लोकान् घ्नतां!**) अनेन मार्गद्वयमपि[२] ते नाशयन्ति इति सूचितं, वैदिकं लौकिकञ्च. अनेन सर्वथा तन्नाशः कर्तव्यः इति भगवदवतारहेतुः निरूपितः. किञ्च न केवलं लोकहननमेव देवद्रोहाचरणं ; यज्ञाद्यकरणबोधनेन आत्मनएव वैदिकत्वेन देवत्वसम्पादकत्वञ्च. तथाच अयथासृष्टिः निरूपिता भवति. तयोः स्वरूपतो अनाशे[३] पुनः तथैव भवन्ति इति बुद्धिव्यामोहएव कर्तव्यः अतो **मतिविमोहं**[४] कृतवान्. **अत्यन्तं प्रलोभो** यत्र ; अल्पेनैव साधनेन (**बहु भाष्यते!**) बहुफलनिरूपकं शास्त्रं कृतवान्. (**विधाय!**) **वेषं** बुद्धवेषम्. "अहं सर्वज्ञः" इति आत्मानं ख्यापयित्वा तेषां हृदयवार्ताम् उक्त्वा विश्वासम् उत्पाद्य विपरीतोपदेशनं = मतिविमोहनम्. **मतिविमोहनेन**[५] सहितो **मतिप्रलोभो** वा. तथा सति विद्यमानायाः मतेः विमोहो = अन्यथाकरणम्[६], अविद्यमानायाः च (मतेः प्रलोभः!) अमार्गभूतायाः[७] उत्पादनम् इति. **औपधर्म्यं** पाषण्डधर्मान् ॥३७॥

एवम् एतं निरूप्य ईश्वरं निरूपयति.

प्रकाशः

'मुह'धातोरेव. **अनेन मार्गेण** इति पुरविशेषणद्वयेन. ननु एवं सति नृसिंहादिवद् बुद्धावतारेणापि ते कुतो न हताः इत्यतः आहुः **तयोः** इत्यादि. **तयोः** लोक-वेदनाशरूप-कार्ययोः अर्थे तेषां हनने क्रोधेन हननाभावाद् अमुक्तौ कालनेम्यादिवत् **पुनः तथैव भवन्ति इति** तदभावाय तथा इति अर्थः ॥३७॥

लेखः

देवद्विषाम् इत्यत्र. **तयोः** इति, देवद्रोहाचरण-देवत्व-सम्पादनयोः इति अर्थः. **स्वरूपतोनाशे** इत्यत्र **अनाशे** इति छेदः ॥३७॥

---

१. अदृश्यमूर इति ख.   २. मार्गेण इति प्रकाशे - सम्पा.

३. नाशे इति मुद्रितपाठः. लेखकाराभिमतः पाठः गृहीतः - सम्पा.

४. -व्यामोहमिति ख-ग.   ५. -विमोहेनेति क-ख.

६. -न्यथाकरणे अविद्येति ख.   ७. -श्च मार्ग- इति ख.

यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः
पाषण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः ॥
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते ॥३८॥

यर्हि आलयेष्वपि इति. बहिः सर्वत्र भगवत्कथा युगान्तरेषु स्थिताः, ततो द्वापरादिषु सताम् आलयेषु. **(यर्हि!)** कलिप्राचुर्ये **सतामपि आलयेषु हरेः कथाः न (स्युः!)** भविष्यन्ति तदा **(कलेः!) शास्ता** कल्किरूपेण **भविष्यति** इति. कलियुगस्य आरम्भएव परीक्षिति भगवान् आविष्टः कलिनिग्रहं कृतवान्. तथापि तथा न निगृहीतः कलिः, भगवद्धर्माणां प्रवर्तमानत्वात्. ते हि कलिमल-संहतिकलनाः. न केवलं भगवद्धर्माभावएव किन्तु वैदिकोऽपि धर्मो गतः इति निरूपयति. धर्मो हि जन्यते ब्राह्मणैः, पाल्यते राजभिः ; ते उभये नष्टाः. **पाषण्डिनो द्विजजनाः** जाताः ; पाषण्डधर्मानेव कुर्वन्ति बोधयन्ति च. **नृदेवाः** राजानश्च शूद्राएव जाताः. तत्रापि वृषमेव लान्ति आददत इति **वृषलाः**, म्लेच्छाः इति यावत्. धर्ममेव स्वयं गृह्णन्ति नाशनार्थं, कुर्वन्ति वा प्रमाणनाशनाय ; ते[१] हि नृणां देवाः = पूज्याः ! अनेन पाल्याः पालकाश्च[२] उभये दुष्टाः इति ज्ञापितम्. किञ्च धर्माभासोऽपि गतः. सर्वत्र विधिच्छलरूपेण अनुकरणेन धर्माभासानेव कुर्वन्ति तत्र देवादीनां सान्निध्याभावाद् यागाभावेऽपि 'स्वाहा'दिशब्दाः श्रूयन्ते. तेऽपि यदा न श्रूयन्ते तदा भगवान् अवतीर्णः इति आह **स्वाहा स्वधा (वषड् इति गिरो न यत्र!)** इति. **स्वाहा** इति होमाः, **स्वधा** इति श्राद्धानि, **वषडिति** यागाः ; राजस-तामस-सात्विकाः एते. **स्म** इति प्रसिद्धाः. **गिरः** इति अर्थाभावः. **यत्र** गृहेषु देशे वा. एवं कल्क्यवतारे हेतुत्रयं— भक्त्यभावः,

प्रकाशः

यर्ह्यालयेषु इत्यत्र. **विधिच्छलरूपेण** इति. शास्त्रस्य जीवपरत्वम् अङ्गीकृत्य धूममार्गेण करणे विधेः तात्पर्यकथनं तच्छलरूपं, तेन इति अर्थः ॥३८॥

१. ते नृणामिति ग. २. च नास्ति क-ख.

धर्माभावः, आभासधर्माभावो वेदाभावो वा. अनेन सत्ययुगे त्रयं प्रवर्तयिष्यति इति ज्ञापितम्. **युगान्ते** चतुर्युगसमाप्तौ. **भगवान्** इति तस्मिन् अवतारे सर्वभगवद्धर्माविर्भावः ॥३८॥

एवं सर्वमेव अन्तर्यामिणं सर्वधर्मसहितम् उत्पत्त्या विचार्य ''यावन्मनो धारणया अवतिष्ठत'' (भाग.पुरा. २।२।१२) इत्यंशं विचारयिष्यन् भगवतो माहात्म्यम् आह **सर्गे तपोऽहम्** इति त्रिभिः. एतादृश-भगवन्मूर्तिध्यानेन[1] मनसो अवस्थाने हेतुः भगवन्माहात्म्यम्. नहि महान् बहुकालं तिष्ठति, अव्यवस्थितमनसा[2] वा महान् चिन्तनीयो भवति सम्यक्स्फुरणाभावेन अपराधप्रसङ्गात्, महतश्च धारणाद् वैक्लव्यं भवतीति प्रकारत्रयेण निरूपणम्. तत्र प्रथमं महान् सर्वदा न तिष्ठति इत्यत्र को हेतुः इति आकाङ्क्षायां

प्रकाशः

सर्ग इत्यत्र. **एवं सर्वम्** इत्यादि. अत्र अन्तर्यामिणः सर्वधर्मसहितस्य उत्पत्त्या विचारे तत्तदवतारादिवाचकानां पदानां तत्तदङ्गादिवाचकत्वं, वाक्यानाञ्च तत्तदङ्गादितात्पर्यकत्वं, तद्द्वारा च भगवत्परत्वम् इत्येवं ज्ञानं[3] श्रवणम् इत्यादि सिद्ध्यति. ततश्च तादृशस्य सर्वाङ्गेक्षणम् अशक्यम् इत्यतो धारणायाः प्रकारं बोधयिष्यन् माहात्म्यम् आह इति अर्थः. ननु उक्तांशे विचारणीये माहात्म्यकथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **एतादृश** इत्यादि. **अवस्थाने** इति स्थैर्ये. ननु एवं सति सर्वदा भगवति मनः कुतो न तिष्ठति इति आकाङ्क्षायां श्लोकत्रयतात्पर्यम् आहुः **नहि** इत्यादि. **अव्यवसितमनसा** इत्यत्र कर्मधारयः. **वैक्लव्यम्** इति धारणासामर्थ्याभावेन विक्षेपः. **निरूपणम्** इति, धारणाविघटक-हेतुसत्तायामपि यो धारणायाः सम्भवः सः केवलं माहात्म्यहेतुकएव इति ज्ञापनाय मनोव्यवस्थापक-

लेखः

यर्हि इत्यत्र. **सत्ययुगे त्रयम्** इति, **स्वाहा स्वधा वषड्** इति शब्दप्रतिपाद्यं त्रयम् इति अर्थः ॥३८॥

---

१. -ध्याने मनस इति ख. २. अव्यवसितमनसा इति प्रकाशे - सम्पा.

३. ज्ञानश्रवणम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

स[1] हि न सर्वदा एकरूपः ; स्वगुणैः कालभेदेन नानाविधो भवतीति सर्वदा तस्य न एकरूपेण अवस्थानम्. तद् आह.

सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः
स्थानेऽथ धर्ममखमन्वमरावनीशाः ॥
अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या
मायाविभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः ॥३९॥

सर्गे सृष्टिनिमित्तं भगवान् एतावन्ति रूपाणि करोति इति आह. **तपः**, अहं ब्रह्मा, **ऋषयो नव** मरीच्यादयः **ये प्रजेशाः** प्रजोत्पादने समर्थाः. गुणत्रयेण सृष्टिः इति त्रयो निरूपिताः. **ऋषयः** इति वेदाः वा, तथा सति चतुर्मूर्तिः[2] सृष्टिं करोति इति. तत्र **तपो** वासुदेवः, ''अस्य ज्ञानमयं तपः'' (मुण्डकोप. १।१।९) इति. **प्रजेशाः** सङ्कर्षणरूपाः, ऐश्वर्यं हि तत्र प्रतिष्ठितम् इति. सृष्ट्यपेक्षया स्थाने बहुकार्यमिति तत्र पञ्च रूपाणि निरूपयति. **स्थाने** मर्यादापालनार्थम् **अथ** इति भिन्नक्रमे **धर्मः** प्रथमो अनिरुद्धः. **मखो** यज्ञः. धर्मो हि अत्र आचाररूपः प्रमाणशब्द-श्रवणानन्तर-भाविनी प्रवृत्तिः, मखस्तु प्रयत्नव्यङ्ग्यो भगवद्रूपो अनन्तमूर्तिः. उत्पत्तौ यो वेदो गृहीतः तदर्थो अत्र साङ्गो गृहीतः. **मनुः** धर्मप्रवर्तकः, तदन्तरस्य सद्धर्मत्वात्. **अमराः** देवाः, ते स्वर्गपरिपालकाः. **अवनीशाः** राजानो

प्रकाशः

माहात्म्यनिरूपणम्. तथाच विमर्षणीयग्रन्थे **यावद्** इत्यादिपदैः कालकरण-मनोव्यवस्थिति-रूपार्थत्रय-निरूपणात् तद्विमर्शार्थं त्रयः श्लोकाः इति भावः. **स्वगुणैः** इति स्वोत्पन्नैः सत्त्वादिभिः. **तत्र** इति चतुर्मूर्तिपक्षे. अत्र ब्रह्मा प्रद्युम्नो, वेदाः अनिरुद्धो बोध्यः. पालनं केवलानिरुद्धकार्यमेव इति आशयेन आहुः **धर्मः प्रथम** इत्यादि. **प्रवृत्तिः** इति मानसव्यापारविशेषः. **उत्पत्तौ** इति पञ्चमाध्याये ''नारायणपराः वेदाः'' (भाग.पुरा. २।५।१५) इत्यत्र. **भूमौ नाशकाः** इति, अवनीशानां ते प्रतिपक्षाः इति अर्थः. ननु पूर्वं मायाद्वयं निरूपितमिति तयोः मध्ये का इयम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः

---

१. स न हि सर्वदेति ग. २. चतुर्मूर्तिं सृष्टिं ग.

भूमिपालकाः[१]. संहारे ततोऽपि अधिकापेक्षायामपि अनादरेण निरूपयति **अन्ते** इति. संहारार्थम् **अधर्मः, हरो** यज्ञप्रतिपक्षः, **मन्युवशाः**[२] सर्पादयो मनुप्रतिपक्षाः, असद्रूपाः **असुराः** देवप्रतिपक्षाः, **आदि**शब्देन भूमौ नाशकाः [३]चोर-व्याघ्रादयः. तेषाम् असुरपक्षपातित्वात् तदादित्वम्. ननु कथम् एवम् अनेकरूपत्वं भगवतः? तत्र आह **(इमाः!) मायाविभूतयः** इति. मायायै विभूतयः, मायायां[४], मायायाः, मायया वा. माया हि पूर्वं निरूपिता. इयं जगत्कारणभूता. [५]सहि यदा जगद्रूपेण भवति – भगवतो वा निमित्तत्वम् आपद्यते तथा आकृतिसमर्पणाय, भगवतो वा सेवार्थम् उत्कृष्टानि साधनानि सम्पादयति, भगवत्कर्तृके वा जगति करणत्वम् आपद्यते – तदा तन्निमित्तम् एतावन्ति रूपाणि भगवान् करोति. अन्यथा तस्याः[६] करणत्वादयो न उपपद्येरन्. ननु एतेषु समागतेषु तस्याः कार्यं न उपपद्यते! तत्र आह **पुरुशक्तिभाजः** इति. सर्वभवनसमर्थायाः मायायाः एकस्मिन्नपि कार्ये सर्वसामग्र्याः विद्यमानत्वात् सर्वं कार्यम् एकदैव स्यात्, विलम्बे कारणाभावात्.

प्रकाशः

इयम् इत्यादि. समासचतुष्टयम् अत्र कल्पभेदेन सृष्टिभेदाद् विवक्षितम् इति तदर्थम् उपपादयन्तो विभजन्ति **सा हि** इत्यादि. तथाच प्रथमपक्षे "प्रकृतिर्ह्यस्योपादानम्" (भाग.पुरा. ११।२४।१९) इति एकादशीयवाक्याद् **जगद्रूपेण भवति.** तदा मायायै मायाकार्यं सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूपं निमित्ततया निर्वाहयितुं इमाः भगवद्रूपाः विभूतयः. द्वितीयपक्षे तस्यां निमित्तभूतायां सहकारिण्यो भगवद्रूपाः विभूतयः. तृतीयपक्षे सा कर्त्री तदा करणभूताः. चतुर्थपक्षे सा करणभूता तदा एताः व्यापारभूताः इति अर्थः. एवम्

लेखः

सर्ग इत्यत्र. **अनादरेण** इति. **आदि**पदेन अनेकेषां तथात्वेन सङ्ग्रहाद् इति अर्थः. **पुरुशक्तिभाजः** इत्यत्र. **ननु एतेषु** इत्यादि. ... ॥३९॥

१. -परिपालकाः इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा. २. मन्युवंशा इति ख.
३. चौरेति क-ग. ४. मायायां नास्ति ग.
५. साहि इति प्रकाशे - सम्पा. ६. तस्येति ग.

भगवदिच्छायाः निमित्तत्वेऽपि तस्याः अदृष्टरूपायाः नियामकानि एतानि रूपाणि, बोधकानि वा. एतेषां नियतसामर्थ्याद् न पूर्वोक्तदोषः. एवं भगवतः प्रतिक्षणं नानारूपत्वाद् एकविधा धारणा न तिष्ठति इति ''यावद्'' (भाग.पुरा. २।२।१२) इति उक्तम्. एवं महान् बहुकालं न तिष्ठति इति निरूपितम् ॥३९॥

इदानीम् अव्यवस्थितमनसा वा महान् न चिन्तनीयो भवति इति इमं पक्षं विशदयति **विष्णोः नु वीर्यगणनाम्** इति.

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ॥
चस्कम्भ यः स्वरंहसाऽस्खलताऽऽत्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम् ॥४०॥

सर्वेषामेव अव्यवस्थित-मनस्त्वात् को वा **अर्हति** इति उक्तम्. मनसएव

प्रकाशः

अत्र सृष्टेः तत्परिकरस्य च यत् चतुर्धा निरूपणं तद् ''आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च'' (भाग.पुरा. २।४।७) इति राजप्रश्ने यावन्तः पक्षाः राज्ञा उद्भाविताः तेषां सङ्ग्रहाय इति बोध्यं, सर्वेषां पक्षाणां प्रमाणसिद्धत्वाद् इति. **नियामकानि** इति दृष्टद्वाररूपाणि. **बोधकानि** इति द्वारान्तरस्यापि सद्भावबोधकानि. **प्रतिक्षणं नानारूपत्वाद्** इति. यद्यपि एतानि सृष्ट्यादिकाले प्रसिद्धानि तथापि प्रतियोगिभेदेन युगपदेव अवान्तराणां नानाविधकार्याणां भवनाद् ब्रह्मपुराणोपान्त्ये मायानुकीर्तनाध्याये घटिकामात्रेण षष्टिवर्षात्मक-कालातिक्रमस्य जलमग्नचाण्डाली-ब्राह्मणजन्मोपाख्यानेन (द्रष्ट.-ब्रह्मपुरा. २२९।१-८२) प्रतिपादनाच्च तथात्वाद् इति अर्थः ॥३९॥

विष्णोर्नु वीर्य इत्यत्र. **अव्यस्थितमनसा** इति, अव्यवस्थितेन मनसा इति अर्थः. अत्र कतमस्य भगवद्वीर्यगणनायां योग्यतायाः तर्कितत्वाद् इतरेषाम् अयोग्यतायाः कैमुतिकन्यायेन अर्थादेव सिद्धिः इति वक्तुं **कतम**शब्दस्य विकल्पने रूढत्वाद् अतिशयिते, प्रजापतौ योगाच्च **कतम**शब्दं पक्षद्वयेन व्याचिख्यासवः प्रथमपक्षतात्पर्यम् आहुः **सर्वेषाम्** इत्यादि. **उक्तम्** इति **कतम**पदप्रयोगेण उक्तम्. तेनापि सूचितम् अर्थम् आहुः **मनसएव** इत्यादि.

तत्र असामर्थ्याद् योग्यताऽपि नास्ति इति उक्तम्. जीवस्य तपो-योगादिभिः सामर्थ्यवृद्धावपि मनसो वा सहायबाहुल्ये स्वाभाविकधर्मस्य अनिवृत्तत्वाद् अत्यन्तं ब्रह्माऽपि न समर्थः इति **तमप्**प्रत्ययः. जगदाद्यर्थे सामर्थ्ये वर्तमानेऽपि अत्र भगवतः सर्वांशधारणे न सामर्थ्यम् इति आह **इह** इति. ननु एवंरूपेण मनसा ज्ञानजननाद् निश्चितपदार्थ-बोधकत्वे तत्रापि सामर्थ्यं भविष्यति इति आशङ्क्य आह **नु** इति. एतदपि वितर्केण उच्यते, नतु निश्चितम्. सामर्थ्ये हेतुम् आह **यः पार्थिवानि** इति. कार्यसृष्टौ समर्थजीवानां गणनायां **यः** सृष्ट्यभिमानी ब्रह्मा यत्र सहायताम् आपन्नानि तत्त्वानि ब्रह्माण्डं जनयन्ति सः रजोगुणाधिष्ठाता[१] **कतमः? (पार्थिवानि रजांसि विममे!)**

प्रकाशः

उक्तम् इति **अर्हति**पदम् उक्तम्, अन्यथा पदान्तरमेव वदेद् इति अर्थः. द्वितीयपक्षतात्पर्यम् आहुः **जीवस्य** इत्यादि. **स्वाभाविकधर्मस्य** इति, जीवत्वस्य मनश्चाञ्चल्यस्य च. **अत्यन्तं ब्रह्मापि** इति, **कतम**पदवाच्यो रजोगुणस्य महत्तत्त्वस्य वा अभिमान्यपि इति अर्थः. वीर्यगणनायाम् असामर्थ्ये हेतुम् आहुः **जगदादि** इत्यादि. तथा सति **इह कतमो अर्हति** इति आवृत्त्या अन्वयः. तथाच वीर्यगणनायां ज्ञानस्य हेतुत्वात् तस्मिन्[२] च धारणायाः हेतुत्वात् तत्तदभावे तदभावः इति असामर्थ्यम् इति अर्थः. तर्हि सम्भावनायां किं बीजम्? तत्र आहुः **ननु एवं रूपेण** इति. जगदुपादानगोचरापरोक्षज्ञान-करणभूततया वक्ष्यमाणरूपेण. **तत्रापि** इति सर्वांशधारणायामपि. **एतद्** इति सम्भावनाबीजरूपं सामर्थ्यम्. सम्भावनाबीजं स्फुटीकुर्वन्ति **सामर्थ्ये**त्यादि. अत्र **रजांसि** इति पदेन अवान्तरसृष्टिः सूक्ष्मात् स्थूला भवति इति बोध्यते.

लेखः

विष्णोः इत्यत्र. **स्वाभाविकधर्मस्य** इति. ... . **सर्वांशधारणे** इति. भगवत्सम्बन्धि-सकलवीर्यधारणे इयत्ताकरणं ब्रह्मादीनां **न सामर्थ्यम्** इति अर्थः. **एवंरूपेण मनसा** इति, तपो-योगादिसाधितेन इति अर्थः ।।४०।।

---

१. रजोगुणोधिष्ठातेति ख. २. ज्ञाने : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

तेन हि पूर्वम् अस्मिन् ब्रह्माण्डे ये जीवाः उत्पाद्यन्ते तेषां भोगादृष्टेन संस्कृतान् परमाणून् महाराशेः उद्धृत्य ब्रह्माण्डोपादानाऽपरोक्षज्ञानेन भगवदिच्छयैव तादृशसामर्थ्येन ब्रह्माण्डम् उत्पाद्यते इति परमाणुगणन-सामर्थ्याद्[१] वैलक्षण्य-ज्ञानाच्च तं तथात्वेन आशङ्क्य निराकरोति. विवेचनार्थं **कविपदम्. रजांसि** इति दुर्लक्ष्यं, सूक्ष्मत्वात्[२]. तादृशस्याऽपि असामर्थ्ये हेतुः **चस्कम्भ** इति. इयत्तापरिमाण-वन्तो हि गुणाः गणयितुं शक्यन्ते विवेचयितुं वा, भगवतस्तु एकोऽपि गुणः इयत्तारहितः. मनसोऽपि स्थूलत्वाद्, निरवयवत्वाच्च असङ्गित्वाच्च. तद् आह **(यस्माद्!) आत्रिपृष्ठं** ब्रह्मलोकम् अभिव्याप्य **अस्खलता स्वरंहसा** असाधारणवेगेन सर्वागम्येन वा **उरुकम्पो यानेषु** यस्मिन् तादृशं त्रिपृष्ठं सर्वञ्च. ततः **त्रिसाम्यसदनाद्** गुणत्रयसाम्यावस्थ-सत्यलोकात् सर्वम् इति अर्थाद्, **उरुकम्पयानं**[३] वा, **चस्कम्भ** उपर्येव स्तम्भितवान्. तस्मात् पातकेन गुणेन रक्षणम् अशक्यम् इति मनसोऽपि आकलनाभावाद् इयत्ताभावः. सङ्ख्यापरिच्छेदाभावस्तु अग्रे वक्ष्यते. एवं

प्रकाशः

ननु एवं सामर्थ्ये विद्यमाने किमिति धारणादिसामर्थ्यं निराक्रियते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तादृशस्य** इत्यादि. तत्र मनसो जीवस्य च असामर्थ्ये हेतुत्वेन **विष्णु**पदस्य अर्थम् आहुः **मनसोपि** इत्यादि. **मनसः** इति पञ्चमी. यद्यपि तद् अणु तथापि तत्त्वरूपं तद् व्यापकम्. तस्य च व्यापकत्वं छान्दोग्ये सनत्कुमार-नारदसंवादे प्रसिद्धं, तदपेक्षयापि भगवतो बृहत्त्वात्. तथाच एतेषु प्रथमे विचारिते मनसः तद्ग्रहणसामर्थ्याभावः. तृतीये विचारिते "यन्न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासवः" (भाग.पुरा. ६।१६।२३) इति वाक्यात् तत्संसर्गस्यैव अभावः. आद्ये द्वितीये च विचारिते वेगस्यैव अशक्यवचनत्वम् इति आशयेन इयत्तावच्छेद-राहित्यम् आह इति अर्थः. मूले 'सर्व'पदस्य अभावात् सर्वस्य ग्रहणे बीजम् आहुः **ततः** इत्यादि. **अर्थाद्** इति अवधिरूपाद् आङर्थात्. ननु तथापि गुणेषु सङ्ख्यायोगाद् इयत्ता भविष्यति इति शङ्कायाम् आहुः **सङ्ख्येत्यादि. अग्रे** इति अग्रिमश्लोके.

१. -गणकेति घ. २. सूत्रत्वादिति घ. ३. -कम्पमानं क.

महद्गुणाः अव्यवस्थितमनसा[१] आकलयितुम् अशक्याः इति ''धारणया'' (भाग.पुरा. २।२।१२) इति उक्तं, धारणा हि यथाकथञ्चिद् मनसा परिकल्प्य क्रियते इति ॥४०॥

महतश्च धारणाद् वैक्लव्यं भवतीति ''अवतिष्ठते'' (भाग.पुरा. २।२।१२) इति यद् उक्तं तदर्थं महत्त्वं निरूपयति **न अन्तं विदामि** इति.

नाऽन्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये ॥
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः
शेषोऽधुनाऽपि समवस्यति नास्य पारम् ॥४१॥

अहं ब्रह्मा सर्वदा भगवद्गुणानामेव अभिव्यञ्जक-जगत्कर्ता यावज्जन्म कार्याणि कुर्वन्नपि पुत्रद्वारा कारयन्नपि स्वतिरोभावे स्वस्य वा अन्यस्य वा विनियोगाद् **अन्तं न विदामि** इति अर्थः. **मुनयो**ऽपि तथा, योगोऽपि मदन्तर्गतमेव[२] फलं साधयति इति. सुतरां **(ते!) त्वदग्रजाः** मत्पुत्राः सनकादयो मरीच्यादयो वा, ते हि मदंशभूताः मदपेक्षया अल्पमेव विषयीकुर्वन्तीति. तेषां गणनेच्छानिवृत्तौ हेतुम् आह **मायाबलस्य** इति, क्षणमात्रेण ब्रह्माण्डकोटिजनन-समर्थायाः मायायाअपि बलं यस्मात्. किञ्च **पुरुषस्य** मायाभर्तुः, भगवदाहितमेव हि तेजः सा जनयति इति. **कुतः**

प्रकाशः

एवम् अत्र मनोनिग्रहस्य आवश्यकत्व-स्थापनेन धारणा साधिता. अत्र **नु** इति पदेन परोक्षत्वस्य मूलाभिप्रेतत्वाद् जहत्स्वार्था अत्र न दोषाय ॥४०॥

नान्तम् इत्यत्र. **स्वस्य** इति भगवतः. ननु योगजधर्मेण सर्वगुणज्ञानं मुनीनां भविष्यति इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **योगोपि** इत्यादि. ननु 'मायया बलं यस्य' इति षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिः भवतु इति आशङ्कायाम्

लेखः

न अन्तम् इत्यत्र. **स्वतिरोभावे** इति ... . **मदङ्गीकृतम्** इति,

---

१. अव्यवसितेति ख. २. मदन्तमेवेति ख. मदङ्गीकृतम् इति लेखे - सम्पा.

अपरे कालादयः, तेषामपि भगवच्चेष्टारूपत्वात्. **(अपरे!)** अस्मदादयो वा. पुरुषापेक्षया अपरत्वे कालादयः, स्वापेक्षया तु अस्मदादयः. अस्मदादीनां प्रथमतएव अनन्तत्व-ज्ञानाद् निवृत्तावपि **शेषो** वेदाभिमानिनी देवता **(दशशताननः!)** सहस्रवदनः, सहस्रप्रकारेण एकं पदार्थं वक्तुं शक्तः. अतएव **आदिदेवः** तत्प्रतिपाद्याएव हि सर्वे देवाः[१]. यावान् भगवान् तद्व्यतिरिक्तसर्वरूपः शेषः. सृष्टेः अनादित्वात् ततः आरभ्य गणनायामपि **(अधुना!)** अद्याऽपि **न अन्तं समवस्यति** ''एतावन्तो अग्रे गणनीयाः'' इति, अनन्तत्वात् सृष्टेः अग्रेऽपि. अतः आह **न अस्य पारम्** इति. **अस्य** गुणस्य, भगवतो वा. बहून् **गुणान्** गणयितुं प्रवृत्तः एकस्याऽपि **पारं न** गतवान् इति वा. एवं सर्वथा भगवतो महत्त्वं निरूप्य धारणायाः अशक्यत्वाद् ''यावद्'' (भाग.पुरा. २।२।१२) इति निरूपितम् ॥४१॥

ननु एतादृशत्वे भगवतः क्षणमपि[२] धारणा न स्याद् इति आशङ्क्य आह.

येषां स एव भगवान् दययेद् अनन्तः
सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् ॥

प्रकाशः

आहुः **किञ्च** इत्यादि. **''यावद्'' इति निरूपितम्** इति. तेन ''विद्यमानेऽपि माहात्म्ये भगवतः एवंगुणकत्वात् सर्वदा मनः कुतो न तिष्ठति?'' इति आशङ्का वारिता इति अर्थः ॥४१॥

लेखः

मया अनुमोदितम् इति अर्थः. **पुरुषापेक्षया** इति. अव्यवहितं पूर्वं पुरुषस्य निर्देशात् तदपेक्षया **अपरत्वे** विवक्षिते कालादयः, तेषां तदपेक्षया व्याप्यकोटित्वात्. कालापेक्षत्वे विवक्षिते तु तद्व्याप्यकोटित्वाद् **अस्मदादयो** ब्रह्मादयः इति अर्थः. **अतिरिक्तसर्वरूपः** इति, अतएव 'शेष'सञ्ज्ञः इति भावः. **एतावन्तः** इति, ब्रह्मादयः इति अर्थः. **अग्रेऽपि** इति. सृष्टेः अनादित्वात् तथा इति भावः ॥४१॥

---

१. वेदा इति ख. २. क्षणमात्रमपीति ख.

ते दुस्तरामतितरन्त्यथ देवमायां
नैषां ममाऽहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये ॥४२॥

येषाम् इति. सर्वमार्गप्रवर्तकत्वाद् भगवतो मोक्षदातुः अवश्यं धारणा[१] प्रवर्तनीयेति यान् पुरुषविशेषान् आत्मीयत्वेन गृह्णाति तेषां धारणायोग्यता इति आह **दययेद्** इति. तेषामपि न साधनत्वेन तथात्वसम्पादनं किन्तु दययैव. **सएव भगवान्** इति यः सर्वमार्गप्रवर्तकः, नतु गुर्वादीनामपि क्रिया[२]. **भगवत्त्वात्** स्वेच्छया तथा करणम्. अनियमेन करणप्राप्तौ [३]अतिदुःखित्वेन दीनत्वे दयया तानेव योजयतीति दयायाः करणत्वम्. सर्वेषु च दयाभावः **अनन्तत्वात्**. तथा सति अन्येषां गुणानाम् उपमर्दात् सर्वमुक्त्या सृष्टेः अन्तवत्त्वे[४] भगवतो अनन्तत्वं भज्येत! ननु तथाविधानां किं धारणामात्रेण[५]? स्वयमेव तथा फलं प्रयच्छतु[६]! इति आशङ्क्य

प्रकाशः

येषाम् इत्यत्र. **न साधनत्वेन तथात्वसम्पादनम्** इति, मार्गप्रवृत्तिसाधनत्वेन न आत्मीयतया ग्रहणम्. **क्रिया** इति प्रार्थनादिक्रिया. तथाच यथा पुरुषाणां नियोज्यानां सत्त्वेऽपि राज्ञा मृगया स्वयं क्रियते तथा सर्वमार्गप्रवर्तकत्वाद् भगवत्त्वाच्च स्वतएव दयाकरणम् इति अर्थः. ननु इच्छायाः करणत्वे दयायाः किमिति तथात्वम् उच्यते इत्यतः आहुः **अनियमेन** इत्यादि. धारणायाः कार्तार्थ्यहेतुत्वज्ञानेन तत्करणावश्यकस्फूर्तावपि भगवतो गुणानन्त्यज्ञानेन तस्याः अशक्यत्वस्फूर्तौ नियमतः तत्करणं न प्राप्नोति इति तेषां तथात्वे तथा इति तस्याः तथात्वम् इति अर्थः. ननु एवं सति सर्वेषु कुतो न दययति इत्यतः आहुः **सर्वेषु** इत्यादि. तथाच अत्रापि इच्छैव कारणम् इति अर्थः. **तथाविधानाम्** इति दयाविषयाणाम्.

लेखः

येषाम् इत्यत्र. **अनियमेन** इति. साधनानाम् अनन्तत्वाद् अनियमेन तत्सम्पादने च जीवानाम् अतिदुःखितत्वेन दीनत्वमिति तथा इति अर्थः.

१. धारणीया ख. २. कृपा इति ख. ३. -प्राप्तावपीति ख.
४. सृष्टेरन्तत्वे इति घ. ५. धारणमात्रेणेति घ. ६. प्रयच्छतीति ख.

साधनेनैव सर्वं भगवान् करोतीति साधनम् उपदिशति **सर्वात्मनाश्रितपदः** इति. भगवद्दयायाः ज्ञापकं धारणम्. तस्मिन् सति भगवदिच्छानुगुण्याद् अन्यानि साधनानि सिद्धिं प्राप्स्यन्तीति सर्वभावेन भगवत्प्रपत्तिः[१] कर्तव्या. तद् आह **सर्वात्मना आश्रितः पादो**[२] **यैः**. व्यलीकं = कापट्यं फलसम्बन्धो[३] वा ; सर्वात्मत्वेन फलार्थस्याऽपि[४] भजनस्य प्राप्तत्वाद् **निर्व्यलीकमिति** तन्निषेधः. तेषां फलसिद्धिम् आह **ते दुस्तराम्** इति. **अथ** आश्रयणानन्तरम्. पूर्वमेव दुस्तरत्वाद् **अथ**शब्दो मध्ये निरूपितः. अथवा **ते दुस्तरां** मोहिकां मायां **तरन्ति** तदा भगवद्भक्तिः ज्ञानसिद्धिः भवति, **अथ** तदनन्तरं **देवमायां** देवरूपस्य[५] भगवतो द्योतनात् कारणाद् वा क्रीडाद्यर्थं वा या माया ताम् आधिदैविकीं पश्चात् **तरन्ति** भगवति सायुज्यं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. तेषां तरणे अभिज्ञानम् इदानीम् आह **न एषाम्** इति. **एषां श्व-शृगालभक्ष्ये ''न मम'' इति (धीः!)** इदम् अभिज्ञानं तरणे सएव तरिष्यति इति ज्ञातव्यम्. ''अहं-मम'' इति दौर्जन्यं न यस्य देहादौ. सर्वत्रैव हि महत्कार्ये अभिज्ञानेनैव प्रवृत्तिः ''अध्वां विधान्याम्'' (तैत्ति.संहि.

प्रकाशः

साधनम् उपदिशति इति, फलसाधनं ब्रह्मा स्वयम् उपदिशति इति अर्थः. **सर्वात्मना आश्रितः पादौ यैः** इति न विग्रहवाक्यं किन्तु तात्पर्यकथनम्. विग्रहस्तु आश्रितः पादो यस्य इति आश्रितपात्, तस्य आश्रितपदः इति. तथा सति **येषां दययेत् ते सर्वात्मना आश्रितपदः**[६] **अथ दुस्तरां देवमायाम् अतितरन्ति** इत्यादि योजना. अभिज्ञानस्य प्रयोजनं शास्त्राभिप्रेतत्वञ्च आहुः **सर्वत्र** इत्यादि. **हेतुः** इति निर्व्यलीकाश्रये. **तादृशस्य**

लेखः

पूर्वमेव दुस्तरत्वाद् इति. ... . **अथवा ते** इति, **ते** तव इति अर्थः. **''अह्नां विधान्याम्''** इत्यादि. ... **तादृशस्य न अपमृत्युसम्भावना**

---

१. -प्रतिपत्तिः ख. २. पादौ इति प्रकाशे - सम्पा. ३. फलं वेति ख.

४. फलस्यार्थस्यापि ख. ५. देवरूपां देवस्येति घ.

६. आश्रितपदो भगवतो मायां तरन्ति : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

३।३।७।४) इत्यत्र उक्तम्. **श्व-शृगालभक्ष्ये** इति पर्यवसानेन अन्यदीयत्व-निश्चयार्थम् उक्तम्. तत् तस्य पर्यवसितं फलम्, अन्यानि तु अवान्तरफलानि. तथा देहस्य स्वोपयोगो अवान्तरफलमेव. तस्मात् स्वोपयोगोऽपि देहादेः न मुख्यं फलम्. अतः फलार्थे[१] यत्नो न कर्तव्यः इति हेतुरपि सूचितः. **श्व-शृगाले**ति ग्रामा-ऽरण्ययोः भक्षकाः उपलक्षिताः. तेन यत्र अयं देहः तिष्ठति तदाश्रयाः सर्वएव गृह्यन्ते. तेन मत्स्यादीनामपि परिग्रहः. अथवा तादृशस्य न अपमृत्यु-सम्भावनेति ग्रामा-ऽरण्यभेदेन तावेव भक्षकौ. ताभ्याम् उपरोधाद् न काकादीनां प्रवेशः. बहुधा विनियोगसम्भवाद् उपलक्षणमेव इति निश्चयः. एवं ''यावन्मनोधारणया अवतिष्ठते'' (भाग.पुरा. २।२।१२) इति सुनिरूपितम् ॥४२॥

प्रकाशः

इति उक्तधारणाधारयितुः. अनेनैव प्रथमपक्षे अस्वरसोऽपि दर्शितः. **बहुधा** इत्यादि. ''देहः किम् अन्नदातुः स्वम्'' (भाग.पुरा. १०।१०।११) इत्यादि वाक्यात् तथा इत्येव युक्तम् इति अर्थः. **सुनिरूपितम्** इति. येषु भगवतो दयया निर्व्यलीको भगवदाश्रयः ते सर्वत्र निर्ममाः निरहङ्काराः सुव्यवस्थितमनसो भगवन्माहात्म्येनैव सर्वाङ्गधारणां कुर्वन्ति इति मनोनैश्चल्यं सर्वात्मना आश्रयश्च प्रकारो, भगवन्माहात्म्यमेव तत्र साधनम्. निदानं तु भगवद्दया. तत्र सहकारिणी तु भगवदिच्छा. सा यथा तथा तावत्कालं धारणा सिद्ध्यति. तस्याः अन्यादृशत्वे तु मनोवैक्लव्यं भगवतः अनियम्यत्वात्. अतः तादृशभावे स्वदैन्यमेव सदा भावनीयम् इति श्लोकत्रयेण सम्यङ् निरूपितम् इति अर्थः ॥४२॥

लेखः

इति. वस्तुतस्तु ''देहः किम् अन्नदातुः स्वम्'' इत्यादि-स्मृतिषु भक्षकाणाम् अनियतत्वनिरूपणाद् उपलक्षणपक्षएव मुख्यः इति आशयेन आहुः. **बहुधा** इति ॥४२॥

---

१. परार्थे इति ख.

''एकैकशो अङ्गानि धिया अनुधारयेद्'' (भाग.पुरा. २।२।१३) इति निरूपयति **वेदाऽहमङ्गे**ति चतुर्भिः. तत्र त्रिविधाः भक्ताः श्लोकत्रयेण सङ्गृहीताः, भक्तभक्तास्तु एकेन. एते हि भगवदंशधारकाः. एतादृशत्वे एकांशधारणासिद्धिः, पूर्वाधिकारे सम्पन्ने उत्तराधिकारार्थं प्रयत्नः कर्तव्यः इति. प्रथमं ब्रह्मा, अन्तिमः शुकः पक्षी. तत्र प्रथमं शुकाधिकारे सम्पन्ने तदनन्तरं क्रमेण ब्रह्मपर्यन्तम् अधिकाराः भवन्ति. इदमेव ''पादादि''त्वेन उच्यते. अथवा चरणसेवा ब्रह्मणएव सिद्धा ; सएव हि तच्चरण-क्षालनादिना पूजां विधाय गङ्गाम् उत्पादितवान्. ''हसितं'' शुकादयो भगवतः चित्ररूपाः. तत्र प्रथमं परमसात्त्विकाः निरूपिताः, तदनु राजसाः तामसाश्च. भगवज्ज्ञाने भक्तिमार्गस्य मुख्यत्वाद् भक्ताएव गण्यन्ते.

प्रकाशः

वेदाहम् इत्यत्र. **एकैके**त्यादि. पूर्वोक्ताधिकाराभावे एकैकाङ्गधारणाधिकारिणां निरूपणमुखेन तत्प्रकारं निरूपयति इति अर्थः. **तत्र** इति सर्वात्मना आश्रयेऽपि[1] साहङ्कार-ममकार-वत्त्वेन जघन्याधिकारत्वे[2]. **भगवतः चित्ररूपा** इति, ''शुकाश्च हरितीकृता मयूराश्चित्रिता येन'' (नारदपञ्चरात्र १।३।१५) इति वाक्यात् ते तद्रूपाः ; ''वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रम्'' (भाग.पुरा. २।१।३६) इति वाक्यात् च मुखधर्मरूपा इति हसितात्मकाः इति अर्थः. एतेन ''आरुह्य ये द्रुमभुजान्'' (भाग.पुरा. १०।१८।१४) इत्यत्र उक्तानाम् ईदृशो अधिकारः इति प्रतिभाति. किञ्च एतद्धारणायाः सञ्जातभक्त्यधिकारकत्वेन[3] तादृशस्य एवं भावसम्पत्तौ ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा'' (सि.मुक्ता. २) इति मानसीसेवा सिद्ध्यति. तत्रापि मुख्याधिकाराभावे ''सेवौपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिषु'' (सेवाफल.विवृ. १) इत्यनेन बोधितं फलं यथाधिकारं भवति इत्यपि प्रतिभाति ॥४३-४५॥

लेखः

वेदाहम् इत्यत्र. **अन्तिमः शुकः पक्षी** इति. ... .

---

१. आश्रयत्वेऽपि इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा. २. '-वत्त्वे' पाठः.

३. -कारत्वेन इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

वेदाऽहमङ्ग परमस्य हि योगमायां
यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः ॥
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च
प्राचीनबर्हि ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च ॥४३॥
इक्ष्वाकुरैल-मुचुकुन्द-विदेहगाधि-
रघ्वम्बरीष-सगरा गय-नाहुषाद्याः ॥
मान्धात्रलर्क-शतधन्वनु-रन्तिदेव-
देवव्रतो बलिरमूर्तरयो दिलीपः ॥४४॥
सौभर्युतङ्क-शिबि-देवल-पिप्पलादाः
सारस्वतोद्धव-पराशर-भूरिषेणाः ॥
येऽन्ये विभीषण-हनूमदुपेन्द्रदत्त-
पार्थार्ष्टिषेण-विदुर-श्रुतदेववर्याः ॥४५॥

तत्र आपाततः किञ्चित्स्वरूपम् **अहं वेद. परमस्य** पुरुषोत्तमस्य **योगमायां** जगज्जननार्थम् आज्ञापितां मायाम्. साहि प्रथमतो हि आज्ञाकारिणी. तस्याः स्वरूपे ज्ञाते भगवान् ज्ञातो भवति, तद्द्वारैव हि लोके भगवदाविर्भावात्. ब्रह्मा जानाति इत्यत्र – गुणानां सृष्टिहेतुत्वात् सर्वगुणप्रसिद्धये[1] – ब्रह्मा सर्वं करोति इति हेतुः **हि**शब्देन सूचितः. मायायाः आधिदैविकत्व-ज्ञापनार्थं **योग**पदम्. आध्यात्मिकत्वम् इति केचित्. **यूयं** नारदेन सहिताः मरीच्यादयः, **भवश्च (भगवान्!)** महादेवः. एते त्रयः सात्त्विकादयः. भवस्य भगवत्त्वं भक्तिविरुद्धाचारस्य अभक्तत्वबोधन-व्यावृत्त्यर्थम्. ज्ञाननिष्ठान् सनकादीन् गणयति एकरूपेण **अथ दैत्यवर्यः** इति. अनेन दैत्यवर्यः सनकादिरेव इति विचारितम्, अन्यथा राजसेषु गणनीयः स्यात्. **दैत्यवर्यः** प्रह्लादः. **अथ** इति भिन्नप्रक्रमं[2] प्राप्तः, भक्तमुख्यत्वात्. **मनोः पत्नी** शतरूपा निरूपिता, "कायम्" (भाग.पुरा. ३।२।४९) इत्यत्र स्त्रीलिङ्गस्य

लेखः

दैत्यवर्यः सनकादिरेव इति. ... . **स्त्रीलिङ्गस्य** इति. ... ॥४३-४५॥

१. -गुणसिद्धये इति मुद्रितपाठः. खपाठे तु एवम् - सम्पा. २. भिन्नक्रममिति ख.

प्रथमनिर्देशात्. सर्वत्र **चकाराः** तदीयानां सङ्ग्राहकाः. **तदात्मजाः** प्रियव्रतोत्तानपादौ आकूति-देवहूतिप्रसूतयः. **ऋभुः** विष्णुपुराणे प्रसिद्धः. **अङ्गो** वेन-पिता. **उत** इति **ध्रुव**सिद्धिः[१] स्पष्टा इति. **इक्ष्वाकु**प्रभृतयो राजसाः. **नाहुषो** ययातिः. यदुप्रभृतयः **आदि**शब्देन उच्यन्ते. **मान्धात्रादि-रन्तिदेवान्तैः** सहितो **देवव्रतो** भीष्मः. एकवद्भावो वा अनपुंसकश्च. **सौभर्यादयः** तदनन्तरभाविनः. मत्स्यसङ्गादिना तथात्वम्. **उतङ्को** भारते प्रसिद्धः. **पिप्पलादः** कश्चित्. **सारस्वतो** दधीचिः. **उपेन्द्रदत्तः** परीक्षित्. **पार्थो** अर्जुनः. अन्ये च यथायथं प्रसिद्धाः ॥४३-४५॥

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्री-शूद्र-हूण-शबरा अपि पापजीवाः ॥
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षाः
तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ॥४६॥

तेषां फलम् आह **ते वै विदन्ति अतितरन्ति च** इति, तां मायां ज्ञात्वा तामेव तरन्ति इति. अस्मदादीनामपि तरणोपायम् आह **स्त्री-शूद्र-हूण-शबराः अपि** इति. तामसेषु **स्त्रियः** सात्त्विक्यः, **शूद्रो** राजसः, **हूणः** तामसः, **शबरादयः** ततोऽपि अधमाः. पापेनैव जीवन्ति इति **पापजीवाः**. एते **विदन्ति तरन्ति च, यदि अद्भुतक्रमस्य** भगवतः **परायणाः** सेवकाः तेषां यदि **शीलेन शिक्षिताः** भवेयुः. **अद्भुतः क्रमः** पादविक्षेपः क्रियाशक्तिः यस्य इति भगवतः सामान्यतः परायणत्वं यस्य कस्यचित् सुलभम्. तस्य परायणास्तु क्षणमात्रमपि अन्यचित्ताः न भवन्ति,

प्रकाशः

ते वै विदन्ति इत्यत्र. महतामपि दैन्यमेव उपायः इति ज्ञापयन्ति **अस्मदादीनाम्** इति **अस्मत्**पदेन. **सुलभम्** इति. तथाच यथा निरहं-ममत्वादिकं मुख्याधिकाराभिज्ञापकं तथा दोषान्तरसत्त्वेऽपि परायणत्वं दयायाः अभिज्ञापकम् इति अर्थः. ततः सामान्यतः तस्मिन् सति विशेषतो ये तादृशाः तेषाम् अनुसरणं कर्तव्यम् इति आशयेन तल्लक्षणम् आहुः **तस्य** इत्यादि. तादृशाश्च

१. ध्रुवे फलसिद्धिरिति ख-ग.

अन्यथा अद्भुतक्रमत्वाद् भगवान् अन्यत्र गच्छेत्! तेषामपि न वचनमात्रेण शिक्षितं प्रयोजकं किन्तु शीलेन सह ; यथा ते भगवत्पराः तथा चेत् तदाज्ञया तेऽपि भवन्ति. किञ्च स्त्रियादिषु न असम्भावना कर्तव्या यतः **तिर्यग्जनाअपि (किमु!)** मुक्ताः भवन्ति, यथा नामादि-पाठेन शकादयः. **श्रुतधारणाः** श्रुतार्थालोचनसमर्थाः. तस्माद् अंशतो ज्ञाने सर्वएव अधिकारिणः, सर्वथा ज्ञाने न कोऽपि. भगवद्भक्तसङ्गाभावे तु न किञ्चिद् जानन्ति ॥४६॥

एवम् एकैकशो धारणस्य स्वरूपम् उत्पत्त्या [1]विनिरूप्य ''जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेद्'' (भाग.पुरा. २।२।१३) इत्यस्य अर्थम् उत्पत्त्या विचारयति **शश्वद्** इति द्वाभ्याम्.

शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं
शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम् ॥
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ॥४७॥
तद् वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद् विदुरजस्रसुखं विशोकम् ॥

प्रकाशः

प्रसादनीयाः, नतु संवादसन्तोषमात्रं कार्यम् इति आहुः **तेषामपि** इत्यादि. **श्रुतार्थालोचनसमर्थाः** इति. इदं स्त्र्यादीनां विशेषणम्. तेन बुद्धेः अधिकारिविशेषणत्वं बोधितम्. तदेतत् मनसि कृत्य सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. तथाच यथा यथा अधिकारः तथा तथा तादृग्धारणासिद्धिः इति अर्थः ॥४६॥

शश्वद् इत्यत्र. **उत्पत्त्या विनिरूप्य** इति उत्पत्तिप्रकार-सामग्रीप्रदर्शनेन[2] निरूप्य. **अर्थम् उत्पत्त्या विचारयति** इति, जितत्वस्वरूपम्[3] अपोहनप्रकारञ्च जितत्व-सामग्रीविचारेण निरूपयति इति अर्थः. जितत्वस्वरूपं सामग्रीञ्च

---

१. उत्पत्त्या निरूप्य ख-ग. २. सामग्रीदर्शनेन इति मा.पाठे - सम्पा.

३. जितत्वरूपम् इति मा.पाठे - सम्पा.

सध्र्यङ् नियम्य यतयो यमकर्तहेतुं
जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः ॥४८॥

सएव भगवदंशः स्वाधीनो भवति यः स्वात्मत्वेन स्वयमेव स्फुरति, अन्यथा बुद्ध्या व्यवस्थापितः तदपगमे अपगच्छेत्! ''पादादी''नाञ्च स्वरूपम् एतदेव. तत्र प्रथमं पादस्वरूपे विचारिते अन्यत् स्वयमेव ज्ञास्यतीति लक्षणेन प्रथमं पादस्वरूपं निरूपयति **तद् वै पदं भगवतः परमस्य पुंसः** इति. दश धर्माः भगवतः चरणारविन्दे निरूपिताः दशलीलारूपाः. तथा सति प्रत्येकावयवे दशलीलाः उक्ताः भवन्ति. तत्र भगवच्चरणारविन्दं[१] कीदृशम् इति अपेक्षायां (**शश्वत्!**) यत् सर्वदा तत् चरणारविन्दं, यत्तु कदाचित् तद् न. अनेन कालेन भगवत्स्वरूपं निर्धारितं— कालापरिच्छिन्नं तद् इति यत् कालेन परिच्छिन्नं तद् न तत्. **प्रशान्तं** गुणत्रयक्षोभ-रहितम्. सत्त्वस्याऽपि दयादिना क्षोभात्[२] तदभावाय **प्र**शब्दः. एवं प्रेर्य-प्रेरकयोः अपरिच्छेदो निरूपितः. इदानीं सर्वपरिच्छेदकस्य कालस्य अत्र अपरिच्छेदकत्वम्

प्रकाशः

आहुः **स एव** इत्यादि. तथाच स्वतःस्फूर्तिरेव सामग्री[३] इति अर्थः. **एतदेव** इति एतच्छ्लोकोक्त-रूपमेव. ननु एतस्मिन् श्लोके पादस्वरूपमात्रम् उच्यते इति कथं ततो अन्येषां स्वरूपावगतिः इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. **ज्ञास्यति** इति तल्लक्षणकतया ज्ञास्यति. **दश धर्माः** इति लक्षणरूपाः इत्यर्थात्. **प्रेर्य-प्रेरकयोः** इति, प्रेर्यकृतः प्रेरककृतश्च इति अर्थः.

लेखः

शश्वद् इत्यत्र. **दश धर्माः** इति. ... **यत् सर्वदा** इति, कालत्रयाबाधितसत्त्वकम् इति अर्थः. **कदाचिद्** इति, खण्डकालावच्छिन्नम् इति अर्थः. **कालेन** इति, कालासम्बन्धविचारेण इति अर्थः. निर्धारितम् आहुः **कालेति**. एतावता **शश्वद्** इति पदं व्याख्यातम्. **प्रेर्य-प्रेरकयोः** इति. कालः प्रेरको गुणाः प्रेर्याः, गुणानां कालाधीनत्वात्.

---

१. भगवतश्चरणारविन्दं ग. २. क्षोभनात् क-घ. क्षोभणादिति ग.

३. इव इत्यधिकम् अत्र मा.पाठे - सम्पा.

आह **अभयम्** इति, भयरहितम्. एवं संसारधर्माभाव-निरूपणेन दोषाभावम् उक्त्वा स्वरूपम् आह **प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समम्** इति. **प्रतिबोधमात्रम्** अनुभवरूपम्[1]. **मात्र**शब्देन प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयसम्बन्धो निवारितः. त्रितय-सम्बन्धरहिता या प्रमा तद् भगवत्पदम् इति अर्थः. **मात्र**पदेनैव शुद्धतायाः उक्तत्वात् **शुद्धम्** आनन्दरूपम्. **समं** सद्रूपम् ; एवं सच्चिदानन्दरूपम् इति उक्तं भवति. अस्य पदस्य सर्वव्यवहारातीतत्वं वदति चतुर्भिः विशेषणैः. व्यवहारोऽपि[2] हि चतुर्धा भवति— प्रपञ्चत्वेन आत्मीयत्वेन शब्दत्वेन शब्दार्थत्वेन च. तत्र (प्रपञ्चत्वेन!) व्यवहारातीतत्वम् आह **सदसतः परम्** इति. कार्य-कारणभावात् परं, प्रकृतेः वा. आत्मीयो न भवति इति आत्मव्यवहारोऽपि नास्ति इति आह **आत्मनः तत्त्वं** परमार्थस्वरूपम्. व्यवहारः तत्कृतः तदन्यस्मिन् भवति ; आत्मनः सिद्धत्वाद् न तत्र व्यवहारः. शाब्दिकं व्यवहारं निराकरोति **शब्दो न यत्र** इति. भगवत्पदे कर्मत्वाद्यभावाद्

प्रकाशः

सर्वपरिच्छेदकस्य इति भयोत्पादकस्य सर्वाधारभूतस्य. **या** इति ओतानुज्ञात्रनुज्ञा (!?) -विकल्पभेदेषु[3] अविकल्परूपा. **समं सद्रूपम्** इति. सद्रूपस्य सर्वत्र समतयैव प्रतीयमानत्वात् **सम**पदेन तदेव उच्यते इति अर्थः. **सर्वव्यवहारातीतत्वम्** इति. व्यवहारो नाम लौकिकबुद्धि-विषयत्व-हेतुभूतो वा लौकिकप्रमाण-सामर्थ्यजन्यो वा यो वागादिव्यापारः तदगोचरम् इति अर्थः. तद् व्युत्पादयन्ति **व्यवहारोपि** इत्यादि. **व्यवहारातीतत्वम्** इति प्रपञ्चव्यवहारातीतत्वम्. **आत्मीयः** इत्यादि. देहादिवद् आभिमानिकात्म-सम्बन्धवान् **न भवति इति** देहादिषु इव औपचारिकः **आत्मव्यवहारोऽपि** तत्र **नास्ति इति आह** इति अर्थः. **न तत्र व्यवहारः** इति, न आत्मीयत्वकृतः आत्मव्यवहारः. **शाब्दिकम्** इति शब्दत्वकृतं शब्दार्थत्वकृतञ्च. **कर्मत्वाद्य-**

लेखः

सर्वपरिच्छेदकस्य कालस्य इति, मृत्युरूपस्य इति अर्थः.

---

१. अनुभवस्वरूपमिति ख. २. व्यवहारो हीति ख.

३. -भेदेऽपि इति मा.पाठे - सम्पा.

न कारकत्वम्. अक्रियारूपत्वात् तदव्यङ्ग्यत्वाद् वा न धात्वर्थत्वम्, अप्रयत्नरूपत्वाद् न प्रत्ययार्थत्वम्. अनेन शब्दे[१] प्रधानरूपत्वाभावे नामा-ऽऽख्यातार्थत्वाभावाद् उपसर्ग-निपातार्थत्वं दूरादेव निवारितम्. **कारकवान् क्रियार्थः (न!)** इति. नामा-ऽऽख्यातयोः सम्बन्ध(/न्धा!) कथनाद् वाक्यार्थोऽपि न भवति इति उक्तम्. भगवदाज्ञया मायाव्यवहार्यत्वे जीवानामिव अज्ञानादि-निवृत्तिद्वारा व्यवहार्यत्वं स्यात्, तदपि नास्ति इति आह **माया परैति** दूरादेव अपगच्छति. तस्याः [२]अपगमने हेतुः **विलज्जमाना** इति. इयं[३] चरणदासी, ज्ञानरूपत्वात् च भगवतः. इयं मोहिका, अतएव तस्याः जनव्यामोहकत्वं भगवान् जानाति इति. ये वा **अभिमुखाः, च**कारात् अनुचराश्च[४], ज्ञानिनो भक्ताश्च, तत्र सर्वत्रैव **विलज्जमाना**. विशेषतो लज्जा अंशतोऽपि कार्याऽकरणं द्योतयति.

एवं दशभिः विशेषणैः भगवत्पदं लक्षयित्वा तस्य प्रसिद्धिम् आह

प्रकाशः

भावाद् इति, प्रमातृ-प्रमाण-सामर्थ्यस्य अभावेन तत्सम्बन्धाभावे तद्विषयक-ज्ञानाभावेन तथात्वात्. **कारके**त्यादि. अनेनैव षष्ठ्यर्थत्वमपि निवारितं बोध्यम्. **भगवदाज्ञया** इत्यादि. एवं साधितेऽपि चतुर्विध-व्यवहारातीतत्वे यथा "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृहदा.उप. ४।३।१५) इत्यादि श्रुत्युक्त-धर्मवतां जीवानां भगवदाज्ञया मायाव्याप्तौ तद्व्यवहार्यत्वं, ततश्च अज्ञाननिवृत्तिद्वारा गुर्वादिव्यवहार्यत्वं, तथा पदेऽपि मायासम्बन्धे निमित्तवशात् तदपनोदार्थं[५] व्यवहार्यत्वं स्याद् इति अर्थः. **दूरादेव** इति. तथाच तस्याः सम्बन्धस्य अभावात् तत्कृतव्यवहारादपि अतीतम् इति अर्थः. **प्रसिद्धिम् आह** इति,

लेखः

भगवदाज्ञया इति. भगवदाज्ञया जीवानां यथा मायाव्यवहार्यत्वं तथा जीवाज्ञाननिवृत्तिद्वारा भगवत्पदस्य व्यवहार्यत्वं स्याद् इति अर्थः ॥४७-४८॥

---

१. शब्देनेति ग. २. तस्याः गमने इति मुद्रितपाठः. खपाठे तु एवम् - सम्पा.
३. हि इति अधिकम् अत्र सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा. ४. -दनुवशाश्चेति ख.
५. तदपनोदाय इति मा.पाठे - सम्पा.

ब्रह्मेति यद् विदुः इति. **यद्** भगवत्पदं सर्ववेदान्तविचारकाः **ब्रह्मेति विदुः** तस्मिन्नेव ब्रह्मणि ईश्वरत्वेन कश्चिद् उद्गच्छेत् तदा सः **भगवान्,** पूर्वोक्तं तु **पदम्**. सएव चेद् नियामको भवेत् तदा[१] **परमः** तत् पदम्. सएव चेद् भोक्ता तदा **पुमान्**. एवं विचारेण ब्रह्मविदोऽपि ब्रह्मेति तद् वदन्ति. एवं तस्य प्रसिद्धिम् उक्त्वा तस्य सहजं फलम् आह **अजस्रसुखं विशोकम्** इति. परमानन्दो दुःखाभावश्च फलं, तद् उभयरूपं तद्[२] इति अर्थः. तत्र साधनानि आह **सध्र्यङ् नियम्य** इति. सम्यग्[३] अञ्चति इति **सध्र्यङ्** मनः. यद् आत्मानं संसारे अञ्चति तादृशं मनो **नियम्य** तद्भावं तस्य दूरीकृत्य इति अर्थः. इदम् आन्तरं साधनम्. बहिःसाधनं संन्यासः, तद् आह **यतयः** इति. एवं दोषाभावप्रभृति

प्रकाशः

वेदान्तप्रसिद्धिं प्रमाणत्वेन आह. **यद्** इत्यादि. तथाच लौकिक-वैदिक-यावद्व्यवहारातीतत्वेऽपि सर्ववेदान्तसिद्धं तद् इति अर्थः. इदं यथा तथा "प्रकाशवच्च अवैयर्थ्याद्" (ब्रह्मसूत्र ३।२।१५) इति सूत्रे व्युत्पादितम्. ननु वेदान्तेषु तस्य परात्परत्वं परमत्वञ्च प्रतिपादितं "परात् परं यत् महतो महान्तम्" (महाना.उप. १।४) इति "तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्" (महाना.उप. १।६) इति, तथा सति कथं तस्य चरणत्वम् इत्यतः आहुः **तस्मिन्** इत्यादि. **पदम्** इति चरणः[४]. **तत्पदम्** इति तत्स्थानं लोकासनादिरूपम्. तथाच अभिध्यावशादेव तस्य चरणत्वं स्थानत्वं भोग्यत्वञ्च इति चरणाभरणायुध-स्थानादि-रूपतायामपि न कश्चिद् विरोधलेशः इति अर्थः. एतदेव निबन्धे "मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः" (त.दी.नि. २।१०१) इत्यादिना उक्तं ज्ञेयम्. तेन स्वप्रतिष्ठत्वादेरपि न विरोधः. **तस्य** इति ज्ञातस्य पदस्य. [५]**तत्र** इति फले[६]. **विजितपदार्थो विचारितः** इति. पूर्वोक्तरीतिक-दशधर्मवत्त्वेन फलत्वेन आत्मरूपत्वेन च पदवत् स्वतएव

---

१. तदा स परम इति ख. २. तद्वदित्यर्थः घ. ३. सहाञ्चतीति ख.

४. चरणम् इति मा.पाठे -सम्पा. ५. मूले इति मुद्रितपाठे अधिकम् अत्र प्रमादपतितं भाति -सम्पा. ६. परमानन्द-दुःखाभावरूपे फले इति आशयः -सम्पा.

फलपर्यन्तं पदं निरूप्य विजितार्थो[१] विचारितः. ''जितं जितं स्थानमपोह्य'' (भाग.पुरा. २।२।१३) इति विचारयति. तत्र जितानां = स्वाधीनीकृतानां पदानां न परित्यागः – तथा सति पूर्वप्रयास-वैयर्थ्यापत्तेः – किन्तु ''जितं स्थानं'' भगवच्चरणारविन्दाश्रयभूतं साधनसमुदायम् ''अपोह्य'' दूरीकृत्य इति आह. ससाधनस्य पदस्य जितत्वात् पदं स्थापनीयं, साधनं त्यक्तव्यम् इति अर्थः. ननु अस्य त्यागस्य किं प्रयोजनं? तत्र आह ''धारयेत् परं परम्'' इति. अग्रिमावयव-स्वाधीनीकरणार्थम् उत्तरोत्तर-सम्बन्धिनां धारणम् इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति **स्वराडिव निपान-खनित्रम्** इति. यथा **स्वराट्** स्वर्गाधिपतिः मेघादीनां स्वामी **निपान-खनित्रं (जह्युः!)** कूपखनन-साधनं कुद्दालादि त्यजति एवं भगवत्पदप्राप्त्यर्थं कृतानि क्षुद्राण्यपि साधनानि – पदमाहात्म्याद् महाफलत्वेन पदे सम्पन्ने पूर्वम् अज्ञानात् क्षुद्रपदार्थसाधकानि सङ्गृहीतानि – त्यजति इति अर्थः. स्वराट्साधकानि तु गृह्णात्येव. एवम् उत्तरत्र सर्वांशे फले निष्पन्ने **इन्द्रो** भूत्वा परमैश्वर्यं प्राप्य सर्वमेव त्यजति इति भावः ॥४७-४८॥

प्रकाशः

यो यो भगवदवयवः स्फुरति सः अत्र 'विजितपदार्थः' इत्येवं विचारितः इति अर्थः. अत्र **सध्र्यङ् नियम्य यतयः सन्तोऽजस्रसुखं विशोकं यद् ब्रह्मेति विदुः** इत्येवं मूलं योजयित्वा पूर्वोक्तार्थो अनुसन्धेयः. **जितं जितम्** इत्यादि. अत्र उक्तस्य अपोहनस्वरूपं[२] बोधयितुं **यमकर्तहेतिं जह्युः** इत्यादिना सप्रयोजनं सदृष्टान्तं विचारयति इति अर्थः. तद् आहुः **तत्र** इत्यादि. **आह** इति, **यमकर्तृ**स्थान-नियमनजनकं **हेतिं** साधनं **जह्युः** इत्यनेन आह इति अर्थः. तथाच ''जितं जितं स्थानम् अपोह्य धारयेद्'' इत्यस्य 'स्थानम् अपोह्य' स्थानं जयसाधनं ग्राहकबुद्ध्यग्रभागात् त्याजयित्वा 'जितं जितं धारयेद्' इत्येवम् अर्थो बोध्यः. तदेतद् आहुः **ससाधनस्य** इत्यादि. **अस्य त्यागस्य** इति पदग्राहक-साधनत्यागस्य ॥४७-४८॥

---

१. विजितपदार्थो इति प्रकाशे - सम्पा.

२. अपोहनस्य स्वरूपम् इति मा.पाठे - सम्पा.

एवम् उद्देशाध्याये निरूपितस्य भगवत्स्वरूपस्य उत्पत्त्या विचारम् उक्त्वा साधनाध्याये "अकामः सर्वकामो वा" (भाग.पुरा. २।३।१०) इति वाक्ये तदेव स्वरूपं पुनः फलसाधकत्वेन उक्तं तम् अंशम् अत्र उत्पत्त्या विचारयति.

स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य

भावस्वभाव-विहितस्य सतः प्रसिद्धिः ।।

देहे स्वधातुविगमेऽनुविशीर्यमाणे

व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः ।।४९।।

सः श्रेयसामपि विभुः इति. **सः** वस्तुतः स्वतः परमपुरुषार्थरूपः. एतादृशोऽपि यदि कश्चित् कामयते स्वर्गादिकमपि, तदपि प्रयच्छति. यतः सर्वेषामपि **श्रेयसां** फलानाम् अयमेव **विभुः** समर्थः उत्पादयितुं दातुञ्च. यतो अयं **भगवान्** परमानन्दरूपोऽपि षड्गुणान् बिभर्ति इति. तत्र हेतुम् आह **यतः अस्य** जगतः **भावस्वभाव-विहितस्य सतो** भगवतः सद्रूपादेव **प्रकर्षेण सिद्धिः** उत्पत्तिः. सर्वमेव हि जगद् द्विरूपम्, एकं भावविहितम् अन्यत् स्वभावविहितम्. **भावो** धात्वर्थः क्रिया तदभिव्यङ्ग्यो वा, तेन निष्पद्यते किञ्चिद् जगत्. सामान्यक्रिया भावः, तद्विकाराः भावविकाराः उत्पत्त्यादयः (षट्!), तेन ये केचन उत्पद्यन्ते प्राप्यन्ते अभिव्यज्यन्ते वा[१] ज्ञायन्ते वा ते सर्वे भावविहिताः. ये तु नित्य-निरतिशयादिरूपाः अक्षर-कालादयः ते स्वभावविहिताः. तेषां स्वरूपमेव भावः क्रियादिरूपः, तेन विहिताः स्वतःसिद्धाः इति अर्थः. एवं क्रियातः स्वतश्च सिद्धाः सर्वे ब्रह्मणः सद्रूपादेव प्रसिद्धाः लब्धसत्ताकाः, अन्यस्य सत्सम्पादकत्वा-

---

प्रकाशः

स श्रेयसाम् इत्यत्र. **तत्र हेतुम् आह** इति, भगवत्त्वेन फलसाधकत्वे विचार-कारणभूतां जगदुत्पत्तिं ज्ञापिकाम् आह इति अर्थः. **क्रिया तदभिव्यङ्ग्यो वा** इति. अत्र पुरःस्फूर्तिकविचारेण क्रियावास्तवविचारेण तदभिव्यङ्ग्यएव धात्वर्थः इति बोध्यं, क्रियायाः त्रिक्षणावस्थायित्वेन नित्यस्य शब्दसम्बन्धस्य तत्र अशक्यवचनत्वाद् इति. **इति युक्तम्** इति, उत्पादकस्य फलदातृतायाः

---

१. वा नास्ति ख.

भावात्. तस्माद् भगवानेव सर्वफलानाम्[१] उत्पादको दाता च इति युक्तम्. एवं स्वरूपादि-फलान्तं[२] भगवत्स्वरूपं विचार्य फलदानप्रस्तावे फलं कस्य इति आकाङ्क्षायां तत् चेत् फलं भगवतएव भवेत् तदा विचारप्रवृत्ति-वैयर्थ्यापत्तिरिति जीवस्य फलम् इति वक्तव्यम्. तत्र जीवो नाम कः पदार्थः इति जिज्ञासायां यो देहवान् सः जीवः इति लोक-वेदप्रसिद्ध्या देहसम्बन्धी जीवः इति निश्चीयते. तत्र सन्नियोगशिष्टत्वे देहेन सह उत्पद्यते, देहे लीयमाने विलीयते इति मन्तव्यम्, अन्यथा पृथगपि तस्य प्रतीतिः स्यात्. ''अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'' (छान्दो.उप. ८।१२।१) इति देहाभावे न कोऽपि पुरुषार्थः सिद्ध्यति इति देहान्वय-व्यतिरेकानुविधानाद् अस्मिन्नेव देहे यद् आत्मनः फलं तत् फलं, न अन्यद् इति मतं निराकरोति **देहे स्वधातुविगमे** इति. अयं हि देहो न आत्मा किन्तु आत्मनः आवरणरूपः, तत्सम्बन्धेनैव तस्य सुख-दुःखजननात्, ''नित्यः सर्वगतः स्थाणुः'' (भग.गीता २।२४) इति वाक्येन तस्य सर्वगतत्वादि-श्रवणाच्च. तस्माद् **(तत्र व्योम इव!)** यथा घटः आकाशपरिच्छेदकः तथा देहोऽपि आत्मपरिच्छेदकः. एवं यथा न उत्पत्तिः तथा **(देहे अनुविशीर्यमाणे अजः पुरुषो न विशीर्यते!)** देहनाशेऽपि न तस्य नाशः. तथाच यदाकदाचित् तस्य फलं फलमेव, देहस्तु स्वधातुविगमेन विशीर्यते. तस्य उत्पादकाः ये[३] धातवः संस्कृतभूतावयवाः – अन्नादयस्तु तदुपष्टम्भकाः – ते हि धातवः स्वसमवेतं फलं जनयित्वा कृतार्थाः

प्रकाशः

आवश्यकत्वाद् श्रेयोविभुत्वं युक्तम् इति अर्थः. **निवर्तते** इति देहो निवर्तते ॥४९॥

लेखः

देहे इत्यत्र. **''अशरीरं वाव सन्तम्''** इति. ... . **यदाकदाचिद्** इति. एतद्देहत्यागानन्तरमपि अनेनैव आत्मना देहान्तरेऽपि उपभुज्यमानं **फलं फलमेव** इति अर्थः ॥४९॥

---

१. सर्वेषामुत्पादक इति ग.   २. स्वभावादीति ख.   ३. ते धातव इति ख.

सन्तो निवर्तन्ते तदा तैः सह जातो निवर्तते. तथा अयम् आत्मा देहेन[१] सह जातः, यथा देहो धातुभिः. तस्मात् फले न काऽपि अनुपपत्तिः इति ॥४९॥

उक्तम् अर्थम् उपसंहरति.

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः ॥
समासेन हरेर्नाऽन्यदन्यस्मात् सदसच्च यत् ॥५०॥

सो अयं ते अभिहितः इति. मया एतावता कालेन **भगवानेव** निरूपितो दशविधलीला-युक्तः. भगवत्त्वेन षड्गुणाः, **विश्वभावन**त्वेन चत्वारः उत्पत्त्यादयो मोक्षश्च, धर्मादयो वा. तेनैव[२] हि विश्वं भाव्यते. एवं विश्वभावनो भगवान् एतावता प्रबन्धेन निरूपितः. श्रवणं तव सम्पादितम् इति भावः. विस्तरेण निरूप्य सङ्क्षेपेण निरूपयति बुद्धिसौकर्यार्थं **समासेन** इति. यावान् अर्थो मया विस्तरेण निरूपितः तस्य अयं समासः = सङ्क्षेपो — भगवानेव सर्वं, भगवतएव सर्वम् इति. उपचारव्यावृत्त्यर्थं निषेधमुखेन आह **हरेः न अन्यत्** हरिरेव सर्वं, हरेः अन्यद् न. हरेरेव सर्वं, **नतु अन्यस्मात् सदसद्** उत्कृष्टम् अपकृष्टञ्च, **च**कारात् कालादिकमपि. **यद्** इति प्रसिद्धम् ॥५०॥

एवं सङ्क्षेप-विस्तराभ्यां निरूप्य शास्त्रम् उपसंहरति.

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ॥
सङ्ग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुलीकुरु ॥५१॥

इदम् इति. यद् **इदं** मया निरूपितं तद् **भागवतं** भगवता प्रोक्तं भगवत्फलकं भागवतं **नाम.** तत्र तृतीयार्थम् आह **यद् मे भगवता**

लेखः

इदम् इत्यत्र. **तृतीयार्थम्** इति. 'भगवतः इदं भागवतम्' इत्यादि विग्रहम् अनादृत्य 'भगवता प्रोक्तं भागवतम्' इति तृतीयाविभक्त्यर्थबोधक-विग्रहम् उक्तवान् इति अर्थः ॥५१॥ इति श्रीसप्तमाध्यायः ॥

---

१. न देहेनेति ग.   २. तैरेव इति मुद्रितपाठः. भगवद्गुणानाम् असमवायिकरणत्वाभावाद् भगवतश्च समवायित्वात् तेनैव इति युक्तं भाति - सम्पा.

उदितम् इति. **यद् मे मह्यं भगवता उदितं**[१] स्वयम् इत्यस्माद् हेतोः **इदं भागवतं नाम.** ननु भगवता हि स्वरूपं सर्वमेव उपवर्णितं, तत् कथम् एतावदेव इति आशङ्क्य आह **सङ्ग्रहो अयम्** इति. **अयं विभूतीनां सङ्ग्रहः** सङ्कोचः. सङ्क्षेप-विस्तरौ हि[२] अधिकारानुसारेण निरूप्येते. तत्र त्वम् उत्तमो अधिकारी अतः तुभ्यं सङ्क्षेपेण निरूपितं, त्वं तु अन्येषाम् अर्थे **एतद् विपुलीकुरु** विस्तरेण वर्णय ॥५१॥

विस्तारकथने हेतुः.

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ॥
सर्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्प्य वर्णय ॥५२॥

यथा हरौ भगवति इति. माहात्म्यज्ञानपूर्वक-सुदृढसर्वतोधिकस्नेहस्य भक्तित्वाद् माहात्म्यज्ञान-व्यतिरेकेण तस्याः अनुदयाद्, माहात्म्यज्ञाने विस्तारकथनस्य हेतुत्वाद्, माहात्म्यज्ञापनेन भक्तिजननार्थं विस्तारो वक्तव्यः. किं बहुना, **यथैव (नृणां हरौ भगवति!) भक्तिः भविष्यति** तथैव वक्तव्यः. अनेन अधिकारानुसारेण पदार्थाः वक्तव्याः इति उक्तम्. ननु निरूपितेऽपि माहात्म्ये सम्बन्धात्मभावाभावात्[३] कथं भक्तिः भविष्यति? ''आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'' (बृहदा.उप. २।४।५) इति श्रुतेः आत्मैव परमप्रेमाश्रयः, अन्यत्र तु तदुपाधिकं प्रेम. तद् भगवति कथं निरुपाधिकं प्रेम? इति आशङ्क्य आह **सर्वात्मनि** इति. अयं

प्रकाशः

यथा हरौ इत्यत्र. **सम्बन्धात्मभावाद्** इति. सम्बन्धेन आत्मीयतालक्षणेन यः आत्मभावः सः सम्बन्धात्मभावः ; तस्मात्. तद् व्युत्पादयन्ति **आत्मनः** इत्यादि. एतत् परिहर्तुं सिद्धान्तम् आहुः **अयम्** इत्यादि. **उपपादितम्** इति. ''पुनश्च भूयाद् भगवति अनन्ते'' (भाग.पुरा. १।१९।१६) इत्यत्र, वाक्यान्वयाधिकरणे (ब्रह्मसूत्र १।४।१९) च व्युत्पादितम् इति अर्थः ॥५२॥

॥ इति श्रीद्वितीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे सप्तमाध्यायविवरणम् ॥

---

१. उदितमितीति ख. २. विस्तरौ अधिकारेति ग. ३. खपाठानुरोधात्. सम्बन्धात्मभावात् क-घ-प्रकाशे. सम्बन्धाभावाद् इति मुद्रितपाठः - सम्पा.

भगवान् सर्वेषाम् आत्मा. यथा सर्वात्मत्वं तद् उपपादितम्. एवम् आत्मत्वेन स्नेहविषयत्वं प्रतिपाद्य पुत्रादिसर्वविषय-स्नेहप्रतिपादनार्थं भगवत्कृतम् उपकारं दर्शयति **अखिलाधारे** इति. सर्वेषाम् आधारभूतो भगवान् सर्वप्रकारेण अतः तस्मिन् उचितः स्नेहः इति. यदा लोकेभ्यो भगवद्गुणाः विस्तरेण वक्तव्याः तदा फलान्तरं न उद्देश्यं किन्तु भगवद्भक्तिरेव सर्वेषां भवतु इति मनसि निश्चित्य गुणाः वक्तव्याः इति आह **इति सङ्कल्प्य** इति. **वर्णय** एकैकं पदार्थं बहुभिः प्रकारैः कथय इति अर्थः ।।५२।।

ननु विस्तारकथने सर्वेषां[१] भवति भक्तिः ; मम किं स्यात्? तत्र आह.

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्याऽनुमोदतः ।।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययाऽऽत्मा न मुह्यति ।।५३।।

।। इति श्रीभागवत-द्वितीयस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ।।

मायां वर्णयतः इति. एषा हि भगवतो माया, सर्वसामर्थ्यानामेव वर्णनीयत्वात्, दशविधलीलानां भगवच्छक्तित्वात्. **मायां वर्णयतः (मायया!) आत्मा न मुह्यति** इति सम्बन्धः. ननु मायावर्णने अन्तःकरणस्य मोहो[२] भवेद्, नतु अमोहः इति! तत्र आह **अमुष्य ईश्वरस्य मायाम्** इति. अन्येन वर्ण्यमानां वा **अनुमोदतः**, सम्यग् निरूप्यते इति वस्तुतः **शृण्वतो**ऽपि. यद्यपि मुख्यं फलं भक्तिः, तदभावे अन्तःकरणस्य मायया मोहस्तु सर्वथा न भवति. तस्माद् लोकोपकारार्थं स्वार्थञ्च **(नित्यं श्रद्धया!)** श्रवणादिकं कर्तव्यम् इति सिद्धम् ।।५३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे सप्तमो अध्यायः

।। इति सप्तमोऽध्यायः ।।

---

१. तेषाम् इति मुद्रितपाठः. तेषां भक्तिर्भवतीति ख. गृहीतस्तु गपाठानुरोधात् - सम्पा.

२. दोषो भवेदिति ग.

॥ अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

एवं [१]निर्धारभजनम् उत्पत्त्या च विमर्शनम् ॥
द्वयं सिद्धं विराड्ब्रह्मरूपयोस्तत्त्वनिश्चये ॥(१)॥
उपपत्त्या विमर्शस्तु त्रिभिरद्य (? / त्र !) निरूप्यते ॥
आक्षेप-सिद्धान्त-फलैः सोपपत्तिस्त्रिधा यतः ॥(२)॥

प्रकाशः

अष्टमाध्यायं विवरिषवः पूर्वप्रकरणसमाप्तत्वात् तत्सिद्धं फलं पूर्वम् अनुवदन्ति **एवम्** इत्यादि. **निर्धारभजनम्** इति निर्धारपूर्वकं भजनम्. तथाच द्वयोः निर्णये ब्रह्मोक्तिमुखेन श्रीशुकैः कृते क्रमेण **द्वयं** राज्ञः **सिद्धम्** इति अर्थः (१). तर्हि द्वितीयविमर्शस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायां तद् वदन्तो अध्यायार्थमपि आहुः **उपपत्त्या** इत्यादि द्वाभ्याम्. तथाच

लेखः

अष्टमाध्यायं विवरिषवः प्रसङ्गसङ्गतिं बोधयितुम् उक्ताध्यायार्थम् अनुवदन्ति **एवम्** इत्यादि. पूर्वाध्याये **विराड्-ब्रह्मस्वरूपयोः तत्त्वनिश्चये द्वयं सिद्धम्**. किं तद् द्वयम् इति आकाङ्क्षायां **निर्धा**रेत्यादि. एवं "पातालमेतस्य" (भाग.पुरा. २।१।२६) इत्यादिना विराट्निरूपणं, "केचित् स्वदेह-" (भाग.पुरा. २।२।८) इत्यादिना अन्तर्यामिनिरूपणेन ब्रह्मस्वरूपनिरूपणं ज्ञेयम्. "सः श्रेयसामपि विभुः" (भाग.पुरा. २।७।४९) इत्यादिना फलदानस्य भगवत्येव विमर्शनाद् **निर्धारपूर्वकं** भगवद्**भजनं सिद्धं**, "यत्रोद्यतः" (भाग.पुरा. २।७।१) इत्यादिना **उत्पत्त्या च विमर्षणं सिद्धम्** इति अर्थः (१).

उपपत्त्या इति. उत्पत्तिविचारेण विमर्शितस्य प्रमेयस्य साधिका युक्तिः उपपत्तिः. **आक्षेपे**ति. तथाच आक्षेपगर्भित-प्रश्नः प्रथमाध्यायार्थः, सिद्धान्तो द्वितीयस्य, फलं तृतीयस्य इति सिद्ध्यति. **सोपपत्तिः** इति, **सा उपपत्तिः** इति छेदः (२).

---

१. निर्द्धार्य भजनं ख.

अष्टमे सन्दिहानस्य प्रश्न आक्षेपगर्भितः ॥
राज्ञो निरूप्यते प्रश्नास्तन्मूला अपरेऽपि च ॥(३)॥

[१]उक्तप्रकारक-स्थूलसूक्ष्मरूपाक्षेपे सर्वानुपपत्तिः भविष्यति इति आशङ्कां वक्तुं कथायां[२] प्रोत्साहयति षड्भिः **ब्रह्मणा चोदितः**[३] इति.

॥ राजा उवाच ॥

ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च ॥
यस्मै यस्मै यथा प्राह　नारदो देवदर्शनः ॥१॥

[४]पूर्वाध्यायान्ते "त्वम् एतद् विपुलीकुरु" (भाग.पुरा. २।७।५१) इति उक्तम्. तत्सङ्क्षेपश्रवणेनैव यदा महती भक्तिः उत्पद्यते तदा विस्तरे[५] किं भविष्यति इति परमादरेण पृच्छति **ब्रह्मन्** इति, सर्वज्ञत्वाय सम्बोधनम्. **ब्रह्मणा (चोदितो!)** प्रेरितो **नारदो** भगवद्गुणकथनार्थं **यस्मै यस्मै यथा प्राह** तत्[६] कथय इति अग्रेण (श्लो. ३) सम्बन्धः. **अगुणस्य च गुणाख्याने.** सूक्ष्मरूपन्तु **अगुणं, च**कारात् स्थूलरूपञ्च, तस्य **गुणानाम्** उत्कर्षबोधक-धर्माणाम् **आख्याने** कथने = कथनार्थं ब्रह्मणा नोदितः[७]. नानाधिकारेण वर्णनीयत्वाद् **यस्मै यस्मै यथा प्राह** इति उक्तम्,

---

प्रकाशः

यतो अत्र "शृण्वतः" (श्लो. ४-६) इत्यादि त्रयेण भजनकर्तव्यता अनूद्यते, अग्रे च आक्षेपरूपा उपपत्तिः पूर्वं दृश्यते, तेन ज्ञायते: राज्ञः एकस्यैव निश्चयः सम्पन्नो, न द्वितीयस्येति तदर्थं द्वितीयप्रकरणम् इति अर्थः. फलस्य उपपत्तित्वं तात्पर्यनिर्णायकत्वाद् ज्ञेयम्. अध्यायानां सङ्गतिस्तु स्पष्टैव. प्रकरणसङ्गतिस्तु एककार्यत्वरूपा पूर्वम् उक्तैव (२-३).

व्याख्यानसङ्गतिम् आहुः **उक्तेत्यादि.**

ब्रह्मणा इत्यत्र. **परमादरेण पृच्छति** इति. अत्र **यस्मै यस्मै यथा प्राह** इति वीप्सा आदरपारम्य-बोधिका ज्ञेया. **तस्य** इति स्थूलरूप-सहितस्य

---

१. -प्रकारस्य ग.　२. कथयेति क-घ.　३. नोदित इति मूलव्याख्ययोः ग.
४. एवं पूर्वेति ग.　५. विस्तारेणेति ग.　६. तथा कथयेति ग.　७. चोदित इति ख.

अन्यथा ''कस्मै प्राह'' इत्येव ब्रूयात्. तस्य तथा कथने सामर्थ्यम् आह **देवदर्शनः** इति ॥१॥

ननु अनेन भवतः क्व उपयोगः ? तत्र आह.

एतद् वेदितुमिच्छामि तत्त्वं वेदविदां वर ॥
हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः ॥२॥
कथयस्व महाभाग यथाऽहमखिलात्मनि ॥
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ॥३॥

एतद् वेदितुम् इच्छामि इति, इदं हि तत्त्वं कीदृशे अधिकारे कीदृशं वक्तव्यम् इति. **(तत्त्वं !)** ज्ञातव्यं च एतत् स्वाधिकारार्थं परबोधनार्थञ्च. ननु एतद् मया कथं ज्ञातव्यं[१], मया तु स्वाधिकारेण[२] ज्ञातव्यम् इति आशङ्क्य आह **वेदविदां वर** इति. वेदे हि स्वाधिकारेण अन्याधिकारेण च पदार्थाः निरूप्यन्ते. ते च सर्वे ब्राह्मणैः ज्ञायन्ते— वसन्तादयः कालाः, [३]यथर्ष्याधानमन्त्राः, अश्वमेधादयः क्रतवः, पुनः स्तोमादयश्च नैमित्तिकाः. तथा एतदपि शास्त्रं सर्वाधिकारेण प्रवृत्तं तत्तदधिकारभेदेन[४] पदार्थान् निरूपयति. वेदानुसारेण च तत्तदधिकारानुसारेण व्यवस्था. तत् सर्वं वेदविद्भिः ज्ञायतइति सम्बोधनम्. एवं[५] पूर्वोक्तार्थसम्बन्धि-प्रश्नम्[६] उक्त्वा स्वाभिप्रेतं प्रश्नान्तरम् आह **हरेः अद्भुतवीर्यस्य** इति सार्धेन. **हरेः कथाः कथयस्व.** आत्मनेपदेन स्वार्थमपि [७]तद् भविष्यति इति ज्ञापितम्. ननु सर्वदुःखहर्तुः भगवतः कथाः सर्वपुराणप्रसिद्धाः, तत् किम्

प्रकाशः

सूक्ष्मरूपस्य. **अन्यथा** इति [८]आदरस्य श्रवणेप्सा-बोधक-प्रश्नमात्रेणैव सिद्धेः ॥१॥

---

१. ज्ञातव्यमित्याशङ्क्येति ग. २. स्वाधिकारानुसारेण इति मा.१ पाठः - सम्पा.
३. यथार्ष्या- इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा. ४. -दधिकारेणेति ग.
५. हि इति अधिकम् अत्र सं-मा.१ पाठयोः - सम्पा. ६. -प्रश्नसम्बन्धमिति ग.
७. -मपि भविष्यतीति ग.
८. आदर-श्रवणेप्सा- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

अद्य (?/त्र!) विशेषकथनेन! इति आशङ्क्य आह **अद्भुतवीर्यस्य** इति. नहि भगवच्चरित्रं सुगमम् ; अन्यथा करोति[१] अन्यथा च सम्पद्यते! तस्मात् स्वरूपतः पर्यवसानतश्च नानारूपत्वाद् भगवद्गुणाः विविच्य ज्ञातव्याः. किञ्च भगवत्**कथाः लोकसुमङ्गलाः**. किञ्चिद् वस्तु पुरुषमात्रं सुमङ्गलं भवति, यथा रक्षाबन्धनं अलङ्काराः वा. किञ्चिद् गृहमङ्गलं, यथा गृहालङ्काराः. किञ्चिद् वंशस्य, यथा पुत्रजन्म. किञ्चिद् ग्राम-देशानां, यथा रक्षा वृष्ट्यादिः वा. कथास्तु सर्वलोकसुमङ्गलाः प्राणिनां भुवनानाञ्च [२]परमकल्याणं कुर्वन्ति. **महाभाग** इति सम्बोधनं तवैव एतादृशार्थकथने अधिकारो, नतु अन्यस्य (इति सूचयति!). अन्ये तु भगवता तुच्छफले अधिकृताः, त्वन्तु महाफले इति सम्बोधनम्. पूर्वं यथाधिकारेण वक्तव्यम् इति उक्तत्वाद् मम एतादृशो अधिकारो अस्ति तत्र यद् उचितं तद् वक्तव्यम् इति अभिप्रायेण स्वाधिकारम् अवस्थाभिप्रेतयुक्तं निरूपयति **यथा अहम् अखिलात्मनि** इति. मम मनोरथः एतावान् **(यथा अहं निःसङ्गं मनः कृष्णे निवेश्य कलेवरं त्यक्ष्ये!)** यद् ऐहिकामुष्मिक-सर्वविषयेभ्यो मनः आकृष्य एकत्र भगवत्येव निवेश्य पश्चात् प्राणान् त्यजामि इति. एतस्मिन् जन्मनि एतावत् कर्तव्यम्. एवं कृते यद् भविष्यति तद् अग्रे निरूपयिष्यति. ननु एतत् सुलभं, न अत्र शास्त्रम् अपेक्ष्यते. दृष्टएव कृष्णो, मनश्च महतां स्वाधीनम्, अतः कृष्णे निवेश्यतां, किं विलम्बेन! इति आशङ्क्य आह **अखिलात्मनि** इति. कृष्णो अस्माभिः ज्ञातोऽपि अज्ञातो अस्ति, परिच्छिन्नो वा ज्ञातः. सहि सर्वात्मना सर्वात्मत्वेन ज्ञातव्यः, तत्तु न पूर्वं वृत्तम्. ''तं यथा यथा उपासते'' (शतपथब्रा. १०।५।२।२०) इति श्रुतौ उपासनानुसारेण फलस्य उक्तत्वात् सर्वं फलं तदैव भवति

प्रकाशः

हरेः इत्यत्र. अनेन कथम् अधिकारसूचनम् इति अपेक्षायाम् आहुः **अन्ये तु** इत्यादि. **इति सम्बोधनम्** इति, एतदभिज्ञापकं सम्बोधनम्

---

१. तत्करोतीति ग. २. च कल्याणमिति ग.

यदि [1]सर्वात्मत्वेनैव उपास्यते, अन्यथा तु अकृत्स्नो[2] भवेत्. "तद्धैतान्[3] भूत्वा अवति" (शतपथब्रा. १०।५।२।२०) इति च सर्वतो रक्षा च सिद्ध्यति. न केवलं साधारणं मनो भगवति निवेशनीयं, तथा सति अशुद्धमनसः[4] अशुद्धमेव फलं भवेत्! तस्माद् यथा **मनो निःसङ्गं** भवति, यथा वा असम्भावना-विपरीतभावना-व्युदासेन सर्वात्मकत्वं हृदये स्फुरति तथा उपायो वक्तव्यः इति अर्थः ॥२-३॥

मनसो निवेशने अग्रिमं कार्यं स्वयमेव सेत्स्यति इति आह.

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम् ।।
कालेन नाऽतिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ।।४।।

शृण्वतः (गृणतश्च!) श्रद्धया इति. यदा यस्मिन् यस्य मनो भवति, कामात् प्रेरणया वा, तदा[5] तं शृणोति कीर्तयति च, श्रद्धा च तत्र उत्पद्यते. अतः श्रवणादि-निर्वाहकं मनोनिवेशनम्. श्रद्धा हि श्रवण-कीर्तनयोः अङ्गं, दीर्घकालादर-नैरन्तर्येण क्रियमाणस्यैव श्रवणादेः फलसाधकत्वात्. तदा दीर्घकालो नैरन्तर्यञ्च **नित्यपदेन** उच्येते. **गृणतः**

प्रकाशः

इति अर्थः. **सर्वतो रक्षा च** इति. मण्डलब्राह्मणे "तमेतम् अग्निः इति अध्वर्यवः उपासते यजुः इत्येष हीदं सर्वं युनक्ति" इति उपक्रम्य "तं यथा यथा उपासते तदेव भवति तद्धैतान् भूत्वा अवति तस्माद् एनम् एवंवित् सर्वैरेव एतैः उपासीत, सर्वं हि तद् भवति सर्वं हैनम् एतद् भूत्वा अवति" (शतपथब्रा. १०।५।२।२०) इति श्रुतौ भगवतः सर्वरूपत्वस्य, सर्वरूपतया उपासने सर्वरूपतां प्रकटीकारेण रक्षणस्य च श्रावणेन अखिलात्मत्वज्ञाने **सर्वतो रक्षा च सिद्ध्यति** इति अर्थः ॥२-३॥

शृण्वतः इत्यत्र. ननु भगवच्चेष्टित-श्रवणादिकं कुर्वतः तदेव हृदि विशति इति "भगवान् विशते" इति कथम् उक्तम् इति आशङ्कायां

---

१. सर्वत्वेनेति घ. २. "स यो एकैकम् उपास्ते न स वेद, अकृत्स्नो हि एषो अतः एकैके न भवति" (बृहदा.उप. १।४।७) - सम्पा.

३. तद्धैनानिति ख. ४. मनसा अशुद्धमिति क-ख. ५. तत्रेति ग.

च इति **चकारात्** स्मरणादिकमपि सङ्गृहीतम्. [१]धर्मिव्यतिरेकेण धर्माणां प्रवेशाभावात् स्वगुणैः सह **भगवान् (न अतिदीर्घेण कालेन हृदि विशते!)** शीघ्रमेव प्रविशति, हृदयमिति स्वानां, यतो अयं **भगवान्**, भगवतैव शास्त्रस्य अस्य कृतत्वात् ॥४॥

ततः किम् अतः आह.

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहे ॥
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥५॥
धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति ॥
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा ॥६॥

प्रविष्टः इति. कीर्तनेऽपि श्रवणस्य विद्यमानत्वाद् मुखस्य गुणनिर्गमनहेतुत्वात्[२] **कर्णरन्ध्रेण** इति उक्तम्. **रन्ध्र**शब्दः प्रवेश-हेत्वर्थः, एकवचनम् [३]अतिसावधान-श्रवणार्थं, यतो लोके सावधानश्रवणे एकैव कर्णशष्कुली व्याप्रियते तदा इन्द्रियम् एकमुखमेव भवति. **स्वानाम्** इति कृतात्मनिवेदिनाम्. न केवलं हृदयमात्रे प्रविशति किन्तु **भावसरोरुहे.**

प्रकाशः

स्वचेष्टित-हृद्-भगवत्पदसूचितं हेतुत्रयम् आहुः **धर्मी**त्यादि. **हृदयम्** इति. हृदि अयं हृदयम् इति हि श्रौती निरुक्तिः. तथाच गुणानाम् अविनाभूतत्वात् तत्प्रवेशनार्थं विशति इति एको हेतुः, दहरत्वाद् विशति इति अपरः, स्वीकृतजन-पुरुषार्थसाधकत्वाद् विशति इति अन्यः —इत्येवं ते ज्ञेयाः. ननु अयं भगवत्स्वभावः इति कथं निश्चेयम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **भगवतैव** इत्यादि. अयञ्च हेतुः पूर्वाध्याये "इदं भागवतं नाम" (भाग.पुरा. २।७।५१) इति श्लोकेन उक्तत्वात् प्रकरणसिद्धो ज्ञेयः ॥४॥

प्रविष्टः इत्यत्र. **कीर्तनेऽपि** इत्यादि. पूर्वं श्रवणादित्रयस्य, भजनसहितानां चतुर्णां वा, उक्तत्वेऽपि मुखस्य निर्गमनद्वारत्वेन अन्येषाम् अद्वारत्वेन उक्तहेतुभ्यां[४] श्रवणस्यैव द्वारत्वम् अविशिष्यतइति तथा इति अर्थः. को भावः, किं

---

१. धर्मव्यतिरेकेणेति ख-घ. २. निर्गमने हेतुत्वादिति क-घ. ३. -मपीति ख.
४. उक्तहेतुतायाम् इति मा.पाठे -सम्पा.

भावो रतिः इति केचिद्, धातुसामान्यार्थः सत्तारूपो भगवान् इति अपरे. कारणरूपस्तु अविनाशी भावः, सः[१] निरन्तरश्रवणेन हृदयरूपो जातः इति. सः चेत् पुनः भक्त्या विकाशं प्राप्तः सरोवररूपो भवति. साधनरूपभक्तिः श्रवणसम्पुटिता यदि तस्मिन् बीजताम् आपद्यते, प्रेम्णा च हृदयं पूरितमेव तिष्ठति, तदा बीजवृद्धौ श्रवणादिना कमलं भवति. तदेव हि भगवदासनं,

---

प्रकाशः

सरः, किं सरोरुहं यद् भगवदधिकरणत्वेन अभिप्रेयते इति आकाङ्क्षायां तद् व्युत्पादयन्ति **भावः** इत्यादि. सिद्धान्तपक्षम् आहुः **कारणरूपः** इत्यादि. अध्यायद्वयोक्तरीत्या **कारणरूपः अविनाशी** अक्षराख्य-द्वितीयपुरुषः **भाव**शब्दवाच्यः इति अर्थः. पूर्वोक्तपक्षद्वये अस्वरसो अग्रे स्फुटीभविष्यति. कुतो न आद्रियते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **स्वे**त्यादि. स्वविषयक-शाब्दज्ञानधारणया अयोगोलक-वह्नि-न्यायेन हृदयरूपः सएव जातइति. तथाच हृदये पूर्वोक्त-रूपद्वयात्मकत्वस्य श्रवणपूर्वकालेऽपि सत्त्वेन तस्य कमलरूपक-कथने प्रयोजनाभावाद् अत्र च तत्कथनात् तद् न आद्रियते इति अर्थः. रूपक-बीजं व्युत्पादयन्ति **सः चेद्** इत्यादि. **सः** द्वितीयपुरुषएव यदि **पुनः (भक्त्या!)** श्रवणादिजन्य-स्नेहेन मनन-निदिध्यासनाभ्यां सर्वत्र स्वस्फूर्तिरूपं **विकाशम्** अधिकारिणि आविर्भावयति तदा विसारित्वात् **सरोवररूपो भवति.** तस्य कमलभाव-प्रकारम् आहुः **साधने**त्यादि. साधनभक्तिः मनन-स्मरणादि-सहकृत-प्रेमरूपा पुनः श्रवणे कृते तन्मध्यवर्तित्वात् तत्**सम्पुटिता** सती **यदि तस्मिन्** अक्षरात्मके हृदये व्यसनरूपतां प्राप्नोति तदा अवान्तरव्यापाररूपं सर्वभावात्मकं यत् प्रेम जलस्थानापन्नं तेन हृदयस्य पूरितत्वाद् व्यसनौत्कट्ये सूक्ष्म**श्रवणादिना** हृदि समागते भगवति तत् प्रेम आह्लादकं सत् **कमलं भवति** —इत्येवम् अवस्थापरम्परायाः बोधनं रूपकबीजम् इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **तदेव** इत्यादि. तथाच अत्र परब्रह्मवाचक-**कृष्ण**पदोक्त्यापि "तद्धाम परमं मम" (भग.गीता ८।२१, १५।६) इति उक्तम् अक्षरमेव अभिप्रेतम् इति ज्ञायते ; "दहं

---

१. स्वनिरन्तरेति क-घ-प्रकाशे - सम्पा.

गृहञ्च भगवतः. तदा तत्र **प्रविष्टो (कृष्णः!)** भगवान् **शमलं** सर्वमेव **धुनोति.** यद्यपि पापक्षयः [१]सर्वोऽपि पूर्वमेव जातः तथापि शमलं तिष्ठति. शम् अलं यस्माद् इति शमलम्. ऐहिकामुष्मिककफलानि 'शं'शब्देन उच्यन्ते, शमादयश्च. केवलपुण्येन च भोगाभावात् तत्र नान्तरीयकपाप-सहितमेव पुण्यं भोगसाधनम् इति तस्मिन् मूलभूते पापे विद्यमाने वैराग्यं कदापि न भवतीति तदा तद् भगवान् दूरीकरोति. ननु शमादिसाधकस्याऽपि गतत्वाद् ज्ञानाभावे कथम् अग्रिमकार्यसिद्धिः[२] इति? तत्र आह **कृष्णः** इति. सदानन्दरूपो भगवान् स्वयमेव पुरुषार्थरूपो न ज्ञानादिसाधनम् अपेक्षते इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तेन स्पष्टयति **सलिलस्य यथा शरद्** इति. **सरः**शब्देन यत् सलिलं तद् अत्र उच्यते ; **यथा शरद्** इत्येव दृष्टान्तः.

प्रकाशः

विपाप्मं वरं वेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थं, तत्रापि दहं गगनं विशोकः तस्मिन् यदन्तः तदुपासितव्यम्" (महाना.उप. १०।७, तैत्ति.आर. १०।१०।३) इति तैत्तिरीये दहरपुण्डरीकरूप-हृदयमध्यवर्ति-दहरस्य विशोकत्व-श्रावणेन, रत्याख्य-भावरूपतायाः गगनत्वश्रावणेन, परमव्योमात्मकाऽक्षररूपतायाश्च स्फुटीकरणपूर्वकम् उपास्याधिष्ठानत्वस्य श्रावितत्वात्, केवलभावादौ च तदभावाद् इति. शुद्धसत्त्वस्य परमत्वाभावेन तस्य पूर्णाधिष्ठानत्वस्य अयोगाच्च इति द्वयमपि पक्षद्वयाऽनादरबीजं सिद्ध्यति इति च बोध्यम्. ननु "श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः, सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोपि हि" (भाग.पुरा. ११।२।१२) इति, "जन्मान्तरसहस्रेषु" (पाण्डवगीता ४१) इत्यादिभिश्च वाक्यैः भगवद्धर्मश्रवणाद् भक्त्युद्भवाच्च सर्वेषामेव पापानां निवृत्तत्वाद् भगवता किं वा पापं दूरीकार्यम् इत्यतः आहुः **यद्यपि** इत्यादि. ननु अत्र पापसम्बधिनो अनुक्तत्वाद् अधिकरणस्य च अपहतपाप्मत्वात् किम् अत्र सलिलस्थानापन्नं दार्ष्टान्तिकम् इति अपेक्षायाम् आहुः **सरः** इत्यादि. तथाच "सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति" (बृहदा.उप. ४।३।३२) इत्यत्र एकरूपेऽपि 'सलिल'पदश्रावणाद् इहापि **सरः**शब्दबोधितम्

---

१. पापक्षयः पूर्वमेवेति ग.   २. सिद्ध्यतीति ख.

यथा लौकिकं जलं शरदा निर्मलं क्रियते – नतु वर्षासु कथमपि निर्मलं भवति – तथा प्रेमरूपं यद् जलं तदपि भगवता निर्मलं भवति इति अर्थः. यदा[१] अन्तःकरणं सर्वदोषरहितं भवति तदा (**धौतात्मा!**) नीरोगः **पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति** नहि कश्चिद् नीरोगः सदानन्दं त्यजति. तस्य ग्राहकः आत्मैव नीरोगः, यथा बुभुक्षा अन्नस्य. अतएव भगवान् अन्तःकरणस्य[२] **आत्मा** इत्येव नाम धृतवान्. अतः सः तदेकग्राहकः दोषवशाद् अन्यान् गृह्णाति, यथा चक्षुः. तदा भक्तिमार्गानुसारेणैव मनः पदार्थान् गृह्णातीति **कृष्णपादमूलेति**[३] पदम्. **मूल**पदेन च अयं सर्वोऽपि विलासः तन्मूलकः इति ज्ञापयति. ततो व्यापिवैकुण्ठे श्रीकृष्णचरणारविन्दे तद्रसामृततृप्तः सुखेन तिष्ठति इति फलितम्. परावृत्तिशङ्का तु नास्ति, [४]**मुक्तपरिक्लेशत्वात्**. अविद्यादि-वशादेव अहरहः ब्रह्मलोकं गताअपि निवर्तन्ते. **परि**शब्देन तत्रापि क्लेशशङ्का निवारिता, **सर्व**पदेन [५]स्वाभीष्टसिद्ध्या नान्तरीयकोऽपि क्लेशो निवारितः. **पन्थाः**[६] केवलमार्गदर्शी ; **शरणं** गृहम्. **स्व**शब्देन पराधीनक्लेशो निवारितः. भगवदधीनत्वेन क्लेशः इति शङ्का दृष्टान्तेन निवार्यते ॥५-६॥

प्रकाशः

एकरूपं प्रेमैव **सलिल**पदेन रूपकातिशयोक्त्या एव[७] उच्यतइति तदेव दार्ष्टान्तिकम् इति अर्थः. **धौतात्मा** इत्यत्र. **तदा अन्तःकरणम्** इत्यादिकं **धौतात्मा** इति श्लोकस्य आभासः इति ज्ञेयम्. **तदा भक्तिमार्गानुसारेण** इत्यादि. एतेन शुष्कज्ञानिनाम् अक्षरस्य [८]भगवच्चरणत्वं न भासते ; ततएव "श्रेयः श्रुतिं भक्तिम्" (भाग.पुरा. १०।१४=प्र.३।४) इत्यादीनि वाक्यानि इति बोधितम्. **तन्मूलकः** इति, एतादृशाऽक्षरज्ञानमूलकः इति अर्थः ॥५-६॥

---

१. तदेति ग-घ-प्रकाशे - सम्पा. २. -करण आत्मन्येव ख.

३. मूलेतीति पदमिति ग. ४. मुक्तसर्वपरिक्लेशत्वात् ख-ग.

५. स्वाभीष्टसर्वसिद्ध्या ख. सर्वसिद्धौ ग. ६. पान्थः इति सं-मा.१ पाठयोः - सम्पा.

७. एव इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

८. भगवद्- इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

एवं स्वार्थं मनोनिवेशनोपायं पृष्ट्वा सन्दिग्धान् साधारणान् अन्यान् पृच्छति असम्भावनादि-व्युदासार्थं[१] **यदधातुमतः** इत्यादिभिः. अत्र पूर्वं पदार्थत्रयं निरूपितं— भगवतो रूपद्वयं फलार्थं, जीवश्च. तत्र जीवे एकः प्रश्नः. सूक्ष्मे भगवति निःसन्दिग्धं पदार्थानां निरूपितत्वाद् विशेषतो बुद्ध्यगोचरत्वाच्च शङ्कैव न उदेति. स्थूले[२] रूपे तु सर्वे प्रश्नाः तद्याथात्म्यज्ञापकाः. तस्मात् प्रश्नद्वयम्, अतएव उत्तरे अध्यायद्वयमेव. तत्र जीवे सन्देहात् पृच्छति.

यदधातुमतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभिः ।।
यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा ।।७।।

यदधातुमतः इति, अयं जीवो वस्तुतो अधातुमान् = धातुसम्बन्धरहितः. धातवः पूर्वदेहसम्पादकाः निरूपिताः ; तैः सह अस्य न अदृष्टद्वारकः सम्बन्धः, प्रथमसृष्टौ तदभावाद्, अनादित्वे भगवच्छास्त्रविरोधात्. किञ्च असङ्गश्रुत्या[३] न अयं वस्तुतः सम्बध्यते. भगवदिच्छापक्षे हिताकरणादि-दोषाः[४]. तस्मात् केनाऽपि उपायेन धातुसम्बन्ध-निरूपणस्य अशक्यत्वात् प्रश्नः. **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनं तदुपादानोच्छेदक-परिज्ञानार्थम्. **(धातुभिः!) अस्य** जीवस्य **देहारम्भः यदृच्छया** भगवदिच्छया अकस्मात्पक्षेण[५] वा, **हेतुना वा** अनाद्यविद्यादिना वा? अत्र निर्णयो वक्तव्यः इति अर्थः. परमार्थे बहुवादि-विप्रतिपत्तित्वाद् **भवन्तो यथा जानते** तथा वक्तव्यम् इति अर्थः. जीवस्य देहसम्बन्धः कथम् इति प्रश्नार्थः ।।७।।

प्रकाशः

यदधातुमतः इत्यत्र. **अकस्मात्पक्षेण** इति. हेतुं विनैव वा, स्वस्माद् वा, स्व-स्वभावाद् वा, अलीकाद् वा इति चतुर्षु अन्यतमेन. एवञ्च **यदृच्छापदेन** पक्षपञ्चकसङ्ग्रहः, **हेतुना** इत्यनेन अनाद्यविद्यापक्षः —इति प्रश्नहेतुभूतसंशयः षट्कोटिको बोध्यः ।।७।।

---

१. मनोव्युदासार्थं ग.   २. स्थूलरूपे त्विति ग.

३. ''असङ्गो ह्ययं पुरुषः'' (बृहदा.उप. ४।३।१५) -सम्पा.

४. दोष इति ख.   ५. -पक्षे नवेति ख.

ईश्वरस्याऽपि देहसम्बन्धः किमर्थः इति ?

आसीद् यदुदरात् पद्मं लोकसंस्थानलक्षणम् ॥
यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवैः पृथक् ॥८॥
तावानसावपि प्रोक्तः संस्थावयववानिव ॥
अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहः ॥९॥

इच्छया देहग्रहणन्तु सम्भवति परं किमर्थम् इति इमं प्रयोजनप्रश्नं वक्तुं देहसम्बन्ध-स्थिरीकरणे कार्यहेतुकम् अनुमानं प्रमाणत्वेन निरूपयति **आसीद् यदुदरात् पद्मम्** इति. प्रतिष्ठामात्रत्वन्तु अस्य नास्ति इति आह **लोकानां संस्थानमेव लक्षणं** चिह्नं यस्य. लोकस्थित्यर्थमेव पद्मोत्पत्तिः. अनेन लोकस्थिति-लक्षणस्य कार्यस्य विद्यमानत्वात् तदाधार-पद्मकारणत्वेन शरीरसिद्धिः. नच तत् साकारमेव ब्रह्म केवलम् आविर्भूतम् इति मन्तव्यम् इति शङ्कां वारयति **यावान् अयं वै पुरुषः** इति. **अयं** प्राकृतः **पुरुषो यावान्** कर-चरणाद्यवयवैः यावत्परिमाणवान् **तावान् असावपि.** यदि तस्य आविर्भावः तदा अस्याऽपि. (**संस्थावयववान्!**) सङ्घातस्य

प्रकाशः

आसीद् इत्यत्र. **अनेन** इत्यादि. तथाच "भूरादि-लोकस्थितिः आधाराधीना, रूपादिमत्स्थितित्वाद्, घटादिस्थितिवद्" इति अनुमानेन सिद्धे आधारे तस्य पद्मत्वं "तत्पुष्करपर्णे अप्रथयद्" (तैत्ति.ब्रा. १।१।३।६) इत्यादिरूपात् शब्दात् सिद्ध्यति. ततः च पूर्वोक्तानुमानात् साध्यतावच्छेदकतया तस्यापि आधारसिद्धौ सः आधारः को वा इति विशेषजिज्ञासायां "यदास्य नाभ्यात् नलिनाद्" (भाग.पुरा. २।६।२२) इत्यादि वाक्यात् तादृश-पद्माधार-शरीरसिद्धिः. ततः च "ईश्वरः शरीरी, लोकपद्मजनकत्वाद्, यद् न एवं तद् न एवम् आकाशवद्" इत्याद्यनुमानादपि शरीरसिद्धिः इति अर्थः. **यावान्** इत्यत्र. **तावान्** इत्यादि. तथाच जीवतुल्यः इति अर्थः. किं तेन इत्यतः आहुः **यदि** इत्यादि. तथाच जीवतुल्यावयवकत्वे[१] यदि तस्य भगवद्वद् आविर्भावशालितया नित्यत्वं तदा जीवस्य दुःखादिफलानुपपत्तिः ;

---

१. जीवतुल्यावयवत्वे इति मा.पाठे - सम्पा.

तथात्वे सति तस्य तिरोभावे फलानुपपत्तिः[१] तदवस्था. **इयत्ता** एत्तावत्त्वं ; हस्तद्वयं, पादद्वयम् इत्यादि. **पृथग्** देहाद् अन्योन्यं, ब्रह्मणो वा. तथा **(असावपि!)** भगवतोऽपि देहः **तावान्** तावत्प्रमाणकः त्वया निरूपितः. ननु सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षो अयं निरूपितः ; कथं प्राकृतवद् भविष्यति! तत्र आह **इवेति.** यद्यपि बाह्वादीनां सहस्रं[२] निरूपितं तथापि बाहुत्वाद् न अतिरिच्यते इति प्राकृततुल्यता. किञ्च न अयं देहरूपः किन्तु देहाद् व्यतिरिक्तः, ब्रह्मणः प्रसादहेतुत्वात्. तद् आह **अजो** ब्रह्मा **यदनुग्रहः** यस्य अनुग्रहयुक्तः – अनुग्रहादेव **भूतात्म**त्वं, व्यष्टीनाम् आत्मा – **भूतानि** व्यष्टिरूपाणि **सृजति** ॥८-९॥

अस्य सामर्थ्यस्य स्वतस्त्व-शङ्कां वारयति.

प्रकाशः

सङ्घातस्य अनित्यत्व-नियमेन यदि तस्य एतत्तुल्य-तिरोभावशालित्वं तदा तच्छ्रवणादिना अभयात्मक-फलानुपपत्तिः —इति अयं दोषः इति अर्थः. मूलं योजयन्ति **इयत्ता** इत्यादि. इयत्ता च अवयवाश्च इति द्वन्द्वः ; आर्षत्वाद् एकवद्भावाभावः. **यद्यपि** इत्यादि. तथाच अवयवसङ्ख्यामात्रं भिद्यते, तत्तु सहस्रार्जुनादिवद् अनैकान्तिकं, तदाकृतिस्तु न भिद्यते इति तथा इति अर्थः. **अजः** इत्यत्र. ननु आकृतिमात्रम् अप्रयोजकं, घुणाक्षरादौ व्यभिचाराद् ; अवयवसङ्ख्या-बाहुल्यन्तु एकैकत्र अनैकान्तिकं सदपि सार्वत्रिकं न इतरत्रेति न तथा, अतो न जीवतुल्यता इत्यतः आहुः **किञ्च** इत्यादि. तथाच प्रसादः चेतनधर्मः, चेतनस्तु देहाद् व्यतिरिक्तः इति देहे साकारब्रह्मता न वक्तुं शक्या, "प्रसादहेतुः देहव्यतिरिक्तः, चेतनत्वाद्, अस्मदादिवद्" इति अनुमानेन देहरूपत्वे निरस्ते तद्व्यतिरिक्तस्य जीवतुल्यतायाः अनिवार्यत्वाद् इति. प्रसादे परिचायकम् आहुः **अनुग्रहादेव** इत्यादि. एवम् अस्मिन् श्लोके ब्रह्मणि नारायणप्रसादबोधकाः सृष्ट्यादयः चत्वारो ब्रह्मनिष्ठधर्माः उक्ताः ॥८-९॥

---

१. -नुपपत्तिव्यवस्था ख. २. सहस्रत्वम् इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु -सम्पा.

ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः ।।
स चाऽपि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः ।।१०।।
मुक्त्वाऽऽत्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः ।।
पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः ।।११।।
लोकैरमुष्याऽवयवाः सपालैरिति शुश्रुम ।।
यावान् कल्पो विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते ।।१२।।
भूतभव्यभवच्छब्द आयुर्मानं च यत्सतः ।
कालस्याऽनुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि ।।
यावत्यः कर्मगतयो यादृशीर्द्विजसत्तम ।।१३।।

ददृशे येन इति. **तस्य** स्वकारणभूतस्य नारायणस्य **रूपं येन** प्रसादेन **ददृशे**. प्रसादादेव **नाभिपद्मे समुद्भवो** यस्य. एवं ब्रह्मणः उत्पत्ति-स्थिती भगवदनुग्रहेणैव इति निरूप्य तस्य शयनमपि तस्मिन्नेव रूपे इति प्रतिदिनम् उद्गमन-तिरोभावाभ्यां तदनुग्रहः तस्मिन् स्थिरः इति ब्रह्मणः शयनं निरूपयति. **सचाऽपि** ब्रह्माऽपि **यत्र शेते** तत्र. ब्रह्मणो माहात्म्यम् आह **विश्वस्य स्थित्युत्पत्त्यप्ययाः**[१] यस्मात्. पूर्वं भूतानां सृष्टिरेव उक्ता, इदानीं प्रलयान्ताः सर्वे भावविकाराः ततएव इति विशेषः. **आत्मनो मायां** सर्वकरणसामर्थ्यं, निशायां तत् **(मुक्त्वा!)** त्यक्त्वा **शेते**. निशा पुनः तत्त्यागादेव भवति. तथा करणे हेतुः **मायेशः** इति. मायायाः नियन्ता तस्याः नियमनार्थमेव तां त्यजति इति अर्थः. पतिरूपत्वं वा ईशत्वं ; तथा सति कार्यावस्थां तां त्यक्त्वा तया सह क्रीडार्थं शेते इति अर्थः. मायात्यागे वा सामर्थ्यं बोध्यते **मायेशः** इति. (ननु!) नियामकस्तु अन्तर्याम्येवेति कथम् अस्य

प्रकाशः

सः चाऽपि इत्यत्र. षड्धर्माः ब्रह्मनिष्ठाः तथात्वेन उच्यन्ते शयनादि-सर्वान्तर्यामित्वान्ताः[२]. **तस्माद्** इति, एवम् अनुग्रहेण अलौकिक-

---

१. स्थित्युद्भवाप्यया इति ख.

२. शयनं, मायात्यागः, मायानियन्तृत्वं, तया सह क्रीडा, मायात्यागसामर्थ्यं, सर्वान्तर्यामित्वं च इति षड्धर्माः : इति कि.-मा.पाठयोः पादटिप्पणी - सम्पा.

मायेशत्वं? तत्र आह **सर्वगुहाशयः** इति. **सर्वेषां गुहासु** हृदयेषु **आशयः** स्थानं यस्य. अन्तःकरणप्रेरणं वा. तस्मात् सर्वान्तर्यामित्वाद् मायेशत्वम्. तस्मात् तस्य देहसम्बन्धः किमर्थः इति प्रश्नः. **स चापि (पुरुषः!)** इति वा नारायणएव उच्यते, **यत्र** प्रलयजले **शेते.** प्राकृतवत् तस्याऽपि अवस्थानां विद्यमानत्वात् तस्य देहवत्त्वम्[१]. एवं जीव-ब्रह्मणोः देहनिमित्तं पृष्ट्वा शुक-ब्रह्मवाक्ययोः अवान्तर-वैलक्षण्यं दूरीकर्तुं पृच्छति **पुरुषावयवैः** इति. "भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्याम्" (भाग.पुरा. २।६।३८) इति वाक्यात् **(लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः!)** पुरुषावयवैः लोककल्पना निरूपिता, त्वया पुनः "पातालमेतस्य हि पादमूलम्" (भाग.पुरा. २।१।२६) इति वाक्याद् **लोकैः (सपालैः!) अमुष्यावयवाः** निरूपिताः; तत्र निर्णयो वक्तव्यः इति अर्थः. यद्यपि भवतां ब्रह्मणश्च एकवाक्यतैव, तथा अस्माभिः

प्रकाशः

दशधर्मवत्त्वात्. तथाच यस्मिन् एतावान् अनुग्रहः तस्य तद्विरोधि-देहसम्बन्धः किमर्थः इति विरुद्धत्वात् प्रश्नः. यदि च प्रयोजनं विना प्रयोजनान्तराद् वा तदा तच्छ्रवणादिना जातस्य अनुग्रहस्य एतदपेक्षया न्यूनत्वात् तच्छ्रोतुः कथम् अभयप्राप्तिः इति सन्देहात् प्रश्नः इति भावः. एवं **स चापि** इति **तच्**छब्दस्य अव्यवहित-परामर्शित्वम् आदाय एवं व्याख्यातम्. तत्र पूर्वश्लोकादेव प्रसादहेतुत्वे सिद्धे पुनः प्रसादकथनस्य न किञ्चित् प्रयोजनम् इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **सचापि इति वा** इति. **यत्र** इत्यस्य विवरणं **प्रलयजले** इति. तेन सिद्धम् आहुः **प्राकृतवद्** इत्यादि. तथाच "प्रसादहेतुः न देहव्यतिरिक्तः, चेतनत्वात्, साकारब्रह्मवद्" इति हेतौ साधारण्यशङ्कायां "देहव्यतिरिक्तः, प्राकृततुल्यावस्थाक-देहवत्त्वात्, यदेवं तदेवं, यद् न एवं तद् न एवम्" इति साधनान्तरबोधनाय अयं श्लोकः इति अर्थः.

पुरुषावयवैः इत्यत्र. **तथा अस्माभिः श्रुतम्** इति, **अस्माभिः तथा श्रुतम्** इति अन्वयः.

---

१. देहत्वमिति ग-घ.

श्रुतम् इति, सः सन्देहो निवारणीयः इति उक्तं **शुश्रुम** इति. अतः परं तदनुगुणाएव पदार्थाः पृच्छ्यन्ते **यावान् कल्पः** इति. **कल्पः** प्राकृतः, **विकल्पो** वैकृतः. यस्मिन् कल्पे ब्रह्मा उत्पद्यते यत्र च प्रतिबुध्यते तेषां प्रमाणं स्वरूपञ्च[1] वक्तव्यम् इति अर्थः. **(कालो अनुमीयते!)** कालानुमानज्ञानं घटिकापरिज्ञानं, यथा वक्ष्यति ''द्वादशार्धपलोन्मानम्'' (भाग.पुरा. ३।११।९) इति. **यावान् यथा** इति यथायोग्यं सर्वत्रैव[2] अनुषज्यते. तेन **भूत-भव्य-भवच्छब्दो यावान् यथे**ति वाक्यं भवति कालस्य विशेषणम्. **भूत-भव्य-भवच्छब्दः** इति. 'भूतं', 'भव्यं', 'भवद्' एते शब्दाः यस्मात् सः **कालः** कथम् **अनुमीयते** इति पूर्वेणैव सम्बन्धः. **भूतादिपदानां** प्रयोगनिमित्तं स्वरूपं[3] पृच्छ्यते इति वा. **(आयुःमानं!)** आयुषः परिमाणं **यत्** तद् वक्तव्यम् इति अग्रेण सम्बन्धः. **सतो** देव-तिर्यङ्-मनुष्यादीनाम्. **सतः** इति पदं विद्यमानत्व-धर्मं सूचयति. अनेन[4] आविर्भूतः कः कियत् कालं तिष्ठति इति प्रश्नः सङ्गच्छते, अन्यथा वैनाशिकप्रक्रियायाः अनङ्गीकारात् सर्वएव कालः सर्वस्य आयुः भवेत्! प्रश्नान्तरम् आह **कालस्य अनुगतिः** इति. **कालस्य अनु अण्वी**[5]

प्रकाशः

यावान् इत्यत्र. **तदनुगुणाः** शुकोक्त्यनुगुणाः. कल्प-विकल्पयोः क्रमेण स्वरूपम् आहुः **यस्मिन्** इत्यादि. **प्रमाणम्** इति प्रकृष्टं मानम् इयत्ता इति अर्थः. 'प्रमाण'शब्दस्य इयत्तावाचकत्वं ''प्रमाणम् अण्डकोशस्य'' (श्लो. १६) इत्यत्र स्फुटीभविष्यति. **कालानुमानज्ञानम्** इति कालेयत्तानुमितिहेतोः ज्ञानम्. पूर्वेण सम्बन्धाङ्गीकारे न कश्चिद् विशेषः इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **भूतादि** इत्यादि. **प्रयोगनिमित्तम्** इति शक्यतावच्छेदकम्. एवञ्च **भूतभव्यभवच्छब्दो यथा** इति प्रश्नवाक्यं सिद्ध्यति. **अनेन** इति **सतः** इति पदेन. कथं सङ्गच्छते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि, आयुर्मानानुक्तौ.

---

१. च नास्ति ग-घ. २. सर्वत्रानुषज्यते ग. ३. स्वरूपं चेति ग.
४. तेनेति ख-ग. ५. अनुगतिः ख-घ.

गतिः बृहती (अपि!) च. अणुः कालो महान् कालश्च कथं ज्ञायते इति अर्थः. स्वभावतः कालो न ज्ञायते किन्तु कार्यद्वारा = इदम् इदानीम् इति कार्यद्वारा. सैव कालस्य **अनुगतिः** कार्ये गच्छति तदनुवर्तनम्. तत्र स्थूल-सूक्ष्माणां कार्याणां नित्यत्वाद् अवान्तराणाम् [1]अनियतकालत्वात् कालस्य अनुगतिः या तां कथय इति अर्थः. सूर्यगत्या तां वक्ष्यति. ननु कालस्य भेदाएव न सन्ति इति आशङ्क्य आह **या तु लक्ष्यते** इति. सर्वत्र "इदानीम्" इति प्रतीतेः पदार्थानुवृत्तिः कालस्य लक्ष्यते, अन्यथा आकाशादिवत् तस्याऽपि अभिलापो न स्यात्. तस्याः [2] (प्रतीतिः!) अण्वी बृहत्यपि, "क्षणमात्रेण गतो", "महता कालेन गतः" इति. तथाच कालानुगतिः अस्ति, परं तत्र नियामकं वक्तव्यम् इति प्रश्नः. **कर्मणां** नानाविधानां **गतयः** प्रवृत्तिप्रकाराः नानाविध-योनिसम्पादनेन सुख-दुःखप्रदानेन च **यावत्यो यादृशीः** इति परिमाण-प्रकारौ [3] प्रश्नविषयौ. **द्विजसत्तम** इति सम्बोधनं महत्या कर्मगत्या (तत्त्वम्!) इति ॥१०-१३॥

तज्ज्ञानावश्यकत्वं सूचयति.

यस्मिन् कर्मसमावायो यथा येनोपगृह्यते ॥
गुणानां गुणिनां चैव परिणाममभीप्सताम् ॥१४॥
भू-पाताल-ककुब्व्योम - ग्रह-नक्षत्र- भूभृताम् ॥
सरित्समुद्रद्वीपानां सम्भवश्च तदोकसाम् ॥१५॥

प्रकाशः

कालस्य इत्यत्र. **अनुगति**शब्दार्थं विवृण्वन्तः प्रश्नबीजम् आहुः **स्वभावतः** इत्यादि. **कार्यद्वारा** इति कार्यविशेषणतया. **गच्छति** इति सप्तम्यन्तम्. **तदनुवर्तनं** कार्यानुवर्तनम्. यथा "गतः स कालो यत्र आसन् देवाः सेवानुवर्तिनः" (. । ।) इति. **तथाच** इति अभिलापात् प्रतीतेश्च. एवं सार्धपद्ये नानाप्रकारेण कालएव पृष्टो बोद्धव्यः. **यावत्यः** इत्यत्र सार्धपद्ये. अनेन एकेन कर्मणामेव प्रश्नः इति आशयेन आहुः **कर्मणाम्** इत्यादि ॥१०-१३॥

---

१. अनियमित- ग. २. तथा अण्वीति ख-ग. ३. परिणाम- घ.

प्रमाणमण्डकोशस्य बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥
महतां चाऽनुचरितं वर्णाश्रमविनिश्चयः ॥१६॥
अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं हरेः ॥
युगानि युगमानं च धर्मो यश्च युगे युगे ॥१७॥
नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः ॥
श्रेणीनां राजर्षीणां च धर्मकृच्छ्रेषु जीविनाम् ॥१८॥
तत्त्वानां परिसङ्ख्यानं लक्षणं हेतुलक्षणम् ॥
पुरुषाराधनविधिर्योगस्याऽऽध्यात्मिकस्य च ॥१९॥
योगेश्वरैश्वर्यगतिं लिङ्गभङ्गस्तु योगिनाम् ॥
वेदोपवेदधर्माणाम् इतिहासपुराणयोः ॥२०॥
सम्प्लवः सर्वभूतानां विक्रमः प्रतिसङ्क्रमः ॥
इष्टापूर्तस्य कामानां त्रिवर्गस्य च यो विधिः ॥२१॥
यश्चानुशायिनां सर्गः पाषण्डस्य च सम्भवः ॥
आत्मनो बन्धमोक्षौ च व्यवस्थानं स्वरूपतः ॥२२॥
यथाऽऽत्मतन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्ममायया ॥
विसृज्य वा यथा मायामुदास्ते साक्षिवद् विभुः ॥२३॥

यस्मिन्[१] इति. **यस्मिन्** [२]**कर्मसमावायः**[३] इति प्रश्नान्तरम्. **गुणानां** सत्त्वादीनां **परिणामं** देव-तिर्यङ्-मनुष्यादिरूपम् **अभीप्सताम्**. **गुणिनां** कार्याणां गुणसमुदायरूपाणां मध्ये **यस्मिन् कर्मसमावायः**[३]. **कर्मणां** शुक्ल-लोहित-कृष्णानां **समवायो** मेलनम् इति एकः प्रश्नः. शुक्लं कर्म देवेष्वेव[४], कृष्णं पातालवासिनाम् अन्तरिक्षस्थानां वा, समावायो[५] मनुष्येषु इति वक्ष्यते. किञ्च **यथा कर्मसमवायः** किं गुणानां समशो मेलनं, न्यूनाधिकभावेन[६]

प्रकाशः

यस्मिन् इति गुणिनि. वक्ष्यमाणेन उत्तरानुसन्धानेन प्रश्नार्थं विशदयन्ति **शुक्लम्** इत्यादि. **यथा** इत्यादि. इदं गुणिपरिणामोदाहरणम्. तथाच यथा

---

१. यस्मिन्धर्मसमवाय इति ख. २. कर्मणीति घ. ३. समवाय इति ख-ग.
४. दैवेष्विति ख. ५. समवाय इति ग. ६. -धिक्यभावेनेति ग.

वा? किञ्च **येन कर्मसमवायः** केन वा कर्माणि योज्यन्ते **उपगृह्यन्ते** स्वीक्रियन्ते, जीवेन भगवता कालादिना वा? गुणिनामपि परिणामम् अभीप्सताम् इति कथनार्थं गुण-गुणिनोः सह निरूपणं, यथा देवावतारः इन्द्रावतारः इति. **भू-पातालादीनां तदोकसाञ्च सम्भवः यथा** यावान् इति प्रश्नः ; **अण्डकोशस्य प्रमाणं** ब्रह्माण्डं कियत् प्रमाणकम्? इति. **कोश**शब्देन पत्राणां विकाशाभावात् पत्रस्थानीय-लोकपरिमाणमपि[१] लोकानाम् उपर्यधोभावोऽपि निरूपणीयः इति सूचितम्. **बाह्यतः** कियद्, आन्तरतः कियत्. यथा अन्तरप्रमाणं वक्ष्यति "सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः" (भाग.पुरा. ५।२०।४३) इति, तथा[२] बाह्यं "दशोत्तरैः" (भाग.पुरा. ३।२६।५२) इति. **महतां** सतां, तेषाम् **अनुचरितं** भक्तिः. **च**काराद् ज्ञानिनां ; विपरीतं वा. **वर्णानाम् आश्रमाणाञ्च विनिश्चयः** आचारतः स्वरूपतश्च. **(हरेः!) अवताराणाम् अनुचरितं,** तत्रापि **यद् आश्चर्यतमं** कालियदमन-गोवर्द्धनोद्धरणादि. **युगानि** कानि कियन्ति इति. **युगमानं** संवत्सरभेदेन. **नृणां साधारणो धर्मः** सत्यवचनादिः, **सविशेषः** यागादिसहितः. **श्रेणीनाम्** एकशिल्पोपजीविनाम्. **राजर्षीणां** राजानो भूत्वा ये ऋषयः,

---

प्रकाशः

रुद्रादिदेवानां स्व-स्वलोके विद्यमानत्वेऽपि स्त्र्यादिसम्बन्धं विनापि कृपो रुद्रगणावतारः, साम्बो गुहावतारः, तादृशगुणिपरिणामार्थं यो मनुष्यरूपेण कर्मसमवायः सः कथं केन योज्यते, केन वा स्वीक्रियते इति प्रश्नार्थः. एवञ्च "भवद्भिः अंशैः यदुषु उपजन्यताम्" (भाग.पुरा. १०।१।२२) इति आज्ञापनोत्तरं को वा अंशो यादवशरीररूपेण आसीत्, को वा तच्छरीरे भोक्ता, जीवो वा भगवान् वा कालादिः वा? —इति तात्पर्यं पर्यवस्यति.

प्रमाणम् अण्डकोशस्य इत्यत्र. 'प्रमाण'शब्दस्य परिमाणवाचकत्वे मानम् आहुः **यथा अन्तर** इत्यादि. तथाच प्रत्युत्तरवाक्यमेव तत्र शक्तिग्राहकम् इति अर्थः.

---

१. -परिणाममपीति ख.　　　२. यथा बाह्यमिति ग.

यथा मन्वादयः, तेषां साधारणो धर्मो विशेषधर्मश्च कथनीयः. **धर्मकृच्छ्रेषु** धर्मसङ्कटेषु, आपत्सु इति अर्थः. **जीविनां** केवलजीववतां धर्मकरणासमर्थानां को धर्मः इति प्रश्नः. **तत्त्वानां** प्रकृत्यादीनां **परिसङ्ख्यानं** गणना, साङ्ख्यम् इति यावत्. तेषामेव **लक्षणं** व्यावर्तको धर्मः. तेषामेव **हेतुपूर्वकं च लक्षणं,** तथात्वं तस्य कुतः ? इति. **पुरुषाराधनविधिः** भगवत्परिचर्याप्रकारः. तथा **योगस्य विधिः,** योगविशेषस्य **आध्यात्मिकस्य च विधिः.** योगस्तु अष्टाङ्गः साधारणः, आध्यात्मिकस्तु[१] श्रवण-मनन-निदिध्यासनैः अधिकः. चकाराद् राजयोगादीनां लक्षणं कथय इति प्रश्नः. **योगेश्वराणाम् ऐश्वर्यगतिं** यथा कर्दमस्य. **लिङ्गभङ्गस्तु योगिनां** लिङ्गशरीरस्य भङ्गः, यथा "न देहं बुबुधे गतम्" (भाग.पुरा. ६।१०।१२), "देहन्तु [२]तन्न चरमः स्थितमुत्थितं वा" (भाग.पुरा. ३।२८।३७) इति. **वेदाः** चत्वारः, **उपवेदाः** चत्वारः आयुर्वेदादयः, **धर्माणि** धर्मशास्त्राणि, **इतिहासो** भारतादिः, **पुराणं** ब्राह्मादि —एतेषां लक्षणं परिमाणञ्च वक्तव्यम् इति प्रश्नः. **सम्प्लवो** नाशः यावान् यथा इति प्रश्नः. **सर्वभूतानां** महतां भौतिकानाञ्च **विक्रमः** पराक्रमः = कार्यकरणं, भूतानामेव **प्रतिसङ्क्रमः** कारणे अनुप्रवेशः पूर्ववत्. **इष्टं** यागादि कर्मरूपेण क्रियमाणं, **पूर्तं** खातादि ; तयोः एकफलत्वात् सहप्रयोगः. **कामानाम्** अन्येषां काम्यकर्मणाम्. अथवा **कामानां** विषयाणां यो भोगप्रकारः सः विधिः— के विषयाः भोक्तव्याः, के न? इति.

प्रकाशः

वेदोपवेद- इत्यत्र. अस्मिन् वाक्ये षष्ठ्यन्तपद-मात्रसत्त्वेन कथन-कर्मणोः अनिर्दिष्टत्वात् पूर्वोक्तम् अनुषज्य अग्रिमं च अनुसन्धाय आहुः **लक्षणं परिमाणञ्च** इति.

इष्टापूर्तस्य इत्यत्र. 'काम'शब्दो यथा इष्टापूर्त-समभिव्याहारात् काम्यकर्मपरः तथा त्रिवर्ग-समभिव्याहाराद् विषयपरोऽपि शक्यवचनः इति आशयेन पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. तथाच पूर्वं "स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः" (भाग.पुरा. २।१।३९) इति पद्येन सोपपत्तिकं

---

१. अध्यात्मिक इति घ. २. तत्रेति ग.

त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामाख्यस्य. स्वतन्त्रपुरुषार्थपक्षेण[१] त्रिवर्गनिरूपणाद् न पौनरुक्त्यम्. एतेषां स्वरूपम् उत्तरत्र वक्ष्यति[२]. **विधिः** प्रकारः, नित्य-नैमित्तिकादिविधयो वा. **यः च अनुशायिनां सर्गः. अनुशायिनो** जीवविशेषाः, ये भगवच्छयनम् अनु शेरते = त्रैलोक्यकर्मानुवर्तिनः. दैत्याः ज्ञानिनश्च तदनुवर्तिनश्च न अनुशायिनः, अन्ये जीवास्तु अनुशायिनः. अनुशायिनां यः सर्गः सः यावान् यादृशः इति प्रश्नः. **पाषण्डस्य** वेदमार्गविरोधिनः चकाराद् विधर्मादेः **सम्भवः** उत्पत्तिः यादृशः इति प्रश्नः. **आत्मनो** जीवस्य अनुशायि-व्यतिरिक्तस्य **बन्ध-मोक्षौ** ज्ञानिनां मोक्षो दैत्यानां बन्धः, उभयम् उभयेषाम् इति वा प्रश्नः. **व्यवस्थानं स्वरूपतः** बन्ध-मोक्षव्यतिरेकेण आत्मा कथं तिष्ठति कीदृग्रूपः इति प्रश्नः. अस्य उत्तरम् "अशरीरं वाव सन्तम्" (छान्दो.उप. ८।१२।१) इति भविष्यति[३] इति. **भगवान्** वा अत्र ब्रह्माण्डे अवतीर्णः **(आत्मतन्त्रः!)** स्वतन्त्रोऽपि **यथा आत्ममायया विक्रीडति** अवतीर्य भगवान् कथं क्रीडति इति अर्थः. अथवा **(वि!)** वैकुण्ठे अन्यत्र वा कथं **क्रीडति?** इति. मायासम्बन्धे कीदृशं भगवच्चरित्रम् इति अर्थः. **मायां विसृज्य वा**[४] **यथा** भगवान् **उदास्ते. साक्षिरूपं** हि सर्वं पश्यति उदासीनं साङ्ख्यसिद्धान्तगम्यं, तदेकं भगवतो रूपं ; तद्वद् मूलरूपमपि आहोस्विद् न? इति प्रश्नः. उभयकरणसमर्थत्वात्[५] सन्देहः इति **विभुः** इत्यनेन उक्तम् ॥१४-२३॥

एवम् अत्यन्तोपयोगिनः प्रश्नान् निरूप्य सामान्यतो अन्यान् पृच्छन् उपसंहरति.

प्रकाशः

विषयान्तरासक्तिं प्रतिषिध्य सप्तमाध्याये ध्रुवादिकथा प्रस्तुता, तथा सति सर्वे विषयाः न त्याज्याः इति आयाति, ततः सन्देहात् पृच्छति इति व्याख्यानान्तरस्य तात्पर्यम् ॥१४-२३॥

---

१. -पुरुषार्थक्षेपणादिति ग. २. वक्ष्यते इति ख-ग.

३. वक्ष्यतीति ख. ४. वा नास्ति ग. ५. -सामर्थ्यादिति ग.

सर्वमेतच्च भगवन् पृच्छतो मेऽनुपूर्वशः ।।
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महामुने ।।२४।।

सर्वम् एतच्च इति. **एतत्** पूर्वोक्तं **च**काराद् अपृष्टमपि **भगवन्** भवान् **पृच्छतो मे** मम[१] कार्यार्थम् **अनुपूर्वशः** प्रश्नानुपूर्व्येण. यथाजिज्ञासम् अत्र प्रश्नाः कृताः. क्रमेण उत्तरे[२] तथा-तथा चित्तं समाहितं भवतीति आनुपूर्व्येणैव वक्तव्यम् इति उक्तम्. अस्मदधिकारानुसारेण[३] वा न वक्तव्यं किन्तु **तत्त्वतः**. अनेन मतान्तराण्यपि व्युदस्तानि. यद्यपि मम अधिकारो नास्ति श्रवणे तथापि त्वम् **उदाहर्तुम् अर्हसि.** श्रोतुरपि अधिकारो अपेक्ष्यते इति चेत्, तत्र आह **प्रपन्नाय** इति, प्रपन्नाय हि सर्वं वक्तव्यम्. नच एतद् उपचारवचनं, तद् भवानेव जानाति इति आह **महामुने** इति. मुनिः अन्तःकरणस्थितं जानाति, महामुनिस्तु भाव्यमपि इति. मम यत् तत्त्वज्ञानं भाव्यं, मम या वा प्रपत्तिः[४], तद् उभयं भवान् जानाति इति सम्बोधनम् ।।२४।।

ननु ''सर्वे मुनयः सर्वे च सर्वज्ञाः, ते च नानाविध-वक्तारः, यथा तेषां पाक्षिकं प्रामाण्यं तथा ममाऽपि भविष्यति'' इति न शङ्कनीयम्. तद् आह.

अत्र प्रमाणं भगवान् परमेष्ठी यथाऽऽत्मभूः ।।
परे चेहाऽनुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम् ।।२५।।

अत्र प्रमाणं भगवान् इति. 'प्रमाण'शब्दः अबाधितज्ञाने वर्तते, बाधयोग्यव्यतिरिक्ते वा. तत्सम्बन्धी यः प्रमाता, प्रमाकरणं वा, प्रमाविषयो वा तत्सर्वं 'प्रमाणम्' इति उच्यते. केचित्तु 'प्रमाण'शब्दं नानार्थम् आहुः. तत्र येषां [५]ज्ञानप्रामाण्यं न व्यभिचरति उत्पत्ति-प्रभृत्यामरणं ते 'प्रमाण'शब्देन उच्यन्ते. यथा **(अत्र!)** अस्मिन् अर्थे वेदव्यतिरिक्ते प्रमेये **यथा आत्मभूः प्रमाणम्.** यथा ऋषीणाम् अन्योन्यं विरोधाः न तथा कस्यचिदपि ब्रह्मवाक्ये. तस्य परमप्रामाण्ये हेतुः **आत्मभूः** इति. **परमेष्ठी** इति परमे तिष्ठति

१. मत्कार्यार्थमिति ख. २. -णोत्तरेणेति ग.

३. अन्याधिकारानुसारेण इति अधिकम् अत्र सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

४. प्रतिपत्तिरिति ग. ५. ज्ञानमिति ख-ग.

इति उत्पत्त्या स्थित्या च भगवत्परइति तत्प्रामाण्यम्. एवं **भगवानपि प्रमाणम्** इति अर्थः. ननु केवलं भगवद्वचनेन[१] कथं प्रामाण्यं भविष्यति? जायमानं वा कथं सर्वजनीनं भविष्यति? इति आशङ्क्य आह **परे च इह अनुतिष्ठन्ति** इति. परे च मत्तोऽपि ये महान्तः अधिगतपरमार्थाः[२] तेऽपि त्वदुक्ते अर्थे विश्वासं कुर्वन्ति, अनुतिष्ठन्ति च तं पदार्थम् **इह** अस्मिन् भक्तिमार्गे. तेषामपि **पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम्**. त्वदुक्तो अर्थः सर्वैरेव अनुष्ठितः सर्वैरेव क्रियते अतः त्वद्वाक्यं सर्वत्र प्रमाणम्. अथवा अस्माकं साक्षाद् **भगवानेव प्रमाणम्, परे** अन्ये **तु** स्व**पूर्वेषामपि ये पूर्वजाः** तैः यत् **कृतं** तदेव **अनुतिष्ठन्ति, च**स्त्वर्थे, नतु प्रमाणं किञ्चिद् विचारयन्ति. अस्माकन्तु त्वदुक्ते न सन्देहः इति अर्थः ॥२५॥

किञ्च त्वद्वचनादेव जीवामि अन्यथा मरणमेव स्यात्, तक्षकाख्य-महाभयस्य श्रुतत्वात्. तद् आह.

न मेऽसवः परायान्ति ब्रह्मन्ननशनादमी ॥
पिबतोऽच्युतपीयूषमन्यत्र कुपिताद् द्विजात् ॥२६॥

न मे असवः परायान्ति इति. **मे असवः** प्राणाः **अनशनादपि न** [३]**परायान्ति** न अपगच्छन्ति. **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनं तज्ज्ञानाय. अनशनं हि प्राणनिवारकम्. **अमी** इति बाधितप्राणानां प्रदर्शनम्. राजत्वाद् एकेनैव उपवासेन क्लिष्टः. अगमने हेतुम् आह **पिबतो अच्युतपीयूषम्** इति. अच्युतस्य सम्बन्धि कथारूपं पीयूषम्, अच्युतएव वा पीयूषम्. अनेन स्वस्य उत्तमाधिकारो द्योतितः. ननु यथा इदम् अमृतं क्षुधं[४] निवारयति तथा शापमपि निवारयिष्यति! इति आशङ्क्य आह **अन्यत्र कुपिताद् द्विजाद्** इति. अनेन कथामृतेन सर्वएव प्राणोपघातकाः निवर्तन्ते परं यः कुपिताद् द्विजात् तक्षकाख्यो यः प्राणोपघातकः सः न निवर्तते, अन्यथा सः कोपः तमेव द्विजं नाशयेत्! मृत्युना हि आक्रान्तः कोपः एकं सर्वथा नाशयति. तत्र ब्राह्मणमरणापेक्षया स्वमरणमेव वरमिति अस्मत्कामनया

---

१. भवद्वचनेनेति क-घ. २. -पदार्थाः इति मा.१, -परार्थाः इति सं-मा.२ पाठयोः -सम्पा. ३. न यान्तीति घ. ४. क्षुधामिति घ.

सर्वनिवारकमपि इदम् अमृतं तद् न निवारयिष्यति इति अर्थः. एवम् आपाततः प्रश्नार्थो निरूपितः ॥२६॥

अस्य अध्यायस्य विमर्श-मध्यपाताद् विमर्शोपयोगी कश्चन पदार्थो वक्तव्यः. तत्र उपपत्तिविमर्शस्य उपक्रान्तत्वाद् उपपत्तेः त्रिरूपत्वाद् आक्षेप-सिद्धान्त-फलेषु प्रथमम् आक्षेपो वक्तव्यः. सः सर्वाक्षेपकः चेत् श्रोतुः अधिकारं प्रच्यावयेदिति सप्ताध्याय्यां यत् प्रमेयं निरूपितं तत्र सम्मतस्य पर्यवसानपर्यन्तं स्वबोधं निरूप्य यत्रैव पर्यवसानज्ञानं तद् यथाश्रुतम् आक्षिपतीति पूर्वपक्षाध्यायो अयम् इति मन्तव्यम्. अन्यथा पूर्वाध्यायानां स्वस्य [1]वा वैयर्थ्यम् आपादयेत्, प्रश्नैतावत्त्वं च असङ्गतं स्याद्, अनन्ताएव

प्रकाशः

विमर्शकोटौ पूर्वपक्षाध्यायत्वं समर्थयन्ति **तत्र** इत्यादि. **तत्र सम्मतस्य** इति शुकोक्त-प्रमेयमध्ये स्वाभिमतस्य. ननु अत्र नूतनप्रश्नबाहुल्यात् प्रश्नाध्यायत्वमेव कुतो न अङ्गीक्रियते इति आकाङ्क्षायां तत्र बाधकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. राजप्रश्नादेव पूर्वाध्यायानां कथनात् तदुक्तार्थ-ज्ञानाभावे तेषां तदर्थज्ञाने च **स्वस्य वैयर्थ्यम् आपादयेत्, प्रश्नैतावत्त्वं च**काराद् उक्तार्थानुवादश्च न सङ्गच्छेत. अतो न अस्य प्रश्नाध्यायत्वम् अङ्गीक्रियते

लेखः

एवं प्रश्नार्थं निरूप्य आक्षेपं विचारयन्ति **अस्य अध्यायस्य** इत्यादिना. **अधिकारं प्रच्यावयेद्** इति. अत्याक्षेपस्य स्वप्रौढिख्यापकत्वाद् वक्तुः क्रोधात् तथा इति अर्थः. **तत्र सम्मतस्य** इति. सप्ताध्याय्यां यत् प्रमेयं तत्र यद् निःसन्दिग्धत्वेन सम्मतस्य ... इत्यादि प्रमेयस्य "शृण्वतः श्रद्धया नित्यम्" (भाग.पुरा. २।७।५३) इत्यादिना फल**पर्यवसानपर्यन्तं स्वबोधं निरूप्य** इति अर्थः. **अन्यथा** इति, पूर्वोक्तप्रमेयस्यैव अत्र आक्षेपाभावे प्रमेयान्तरप्रश्नस्य च अङ्गीकारे इति अर्थः. **वैयर्थ्यम्** इति. अयम् अर्थः— यदि अत्र मेयोपरमे यः प्रश्नविषयः स्यात् तदा "शृण्वतः श्रद्धया नित्यम्" (भाग.पुरा. २।७।५३) इत्यादिना उक्तं फलमपि तच्छेषमेव स्याद्, नतु

---

१. स्वस्य वैयर्थ्यमिति ग.

प्रश्नाः कर्तव्याः स्युः. ते आक्षिप्यन्ते, अन्ये च पर्यवसितार्थकथनेन स्वबोधविषयाः जाताः इति बोध्यन्ते, अन्यथा ''शृण्वतः'' (श्लो. ४) इत्यादिश्लोकैः निरूपितं प्रमेयं शुकेन अनिरूपितमिति अप्रामाणिकं स्याद्, गुरोः वा शङ्काम् उत्पादयेत्. तस्मात् सप्ताध्याय्येव अत्र पूर्वपक्षेण विचार्यते.

प्रकाशः

इति अर्थः. तदेतद् हृदिकृत्य आहुः **ते** इत्यादि. **ते** इति आपाततः प्रतिपन्नाः. **अन्ये** इति स्वयं सम्यग्बुद्धाः. तत्र गमकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **अन्यथा** इति केवलप्रश्नाध्यायत्वे. **शङ्काम्** इति, मूर्खत्वशङ्कां विरुद्धबुद्धित्व-शङ्कां वा. तथाच तदुत्पत्तौ उत्तरं न वदेद् अतः उत्तरदानादपि तथा इति अर्थः. ननु अत्र आक्षेपास्तु द्वि-त्राएव प्रतीयन्ते इति कथं

लेखः

पूर्वाध्यायोक्तं प्रमेयफलत्वमपि इति. एवञ्च पूर्वाध्यायोक्त-प्रमेये फलाप्रतिपादनेन तत् निरूपितमपि बुद्धौ अनारोहाद् अनिरूपितप्रायमेवेति पूर्वाध्यायषट्कस्य वैयर्थ्यम् आपतेत्. अथ तस्य[१] यथाकथञ्चिद् श्रवणेन तत्सार्थकत्वेऽपि तत्प्रमेयं पश्चात् कृतस्य प्रमेयान्तरविषयक-स्वप्रश्नस्यैव मुख्यत्वज्ञापनाद् राज्ञः स्वप्रौढिख्यापको अयं प्रश्नाध्यायो अनधिकारसम्पादकत्वात् स्वस्यैव वैयर्थ्यम् आपादयेद् इति अर्थः. स्वारस्यान्तरं ज्ञापयन्ति **प्रश्नैतावत्त्वम्** इति. यदि पूर्वाध्यायानुपक्रान्तविषयकाः इमे प्रश्नाः स्युः तदा एतेषां प्रश्नानां सङ्गत्यभावाद् असङ्गताः. यदि च अप्रसक्ताअपि स्वबुद्धिस्थाएव ये पृष्टव्यत्वेन अभिमताः तएव अर्थाः अत्र पृच्छ्यन्ते इति चेत्, तदा प्रतिस्कन्धेषु अनन्ताएव प्रश्नाः कर्तव्याः सन्ति. तत्र केचन आक्षिप्यन्ते, केचित् स्वबुद्धिविषयाः जाताः इति वा बोध्यन्ते, ते सर्वत्रैव कर्तव्याः स्युः इति अर्थः. वैपरीत्ये दूषणम् आहुः **अन्यथा** इति, प्रश्नस्य भिन्नचित्त-प्रमेयविषयकत्वाङ्गीकारे इति अर्थः. **शुकेन अनिरूपितम्** इति. ''शृण्वतः'' इत्यादिना निरूप्यमाणं फलं कस्य? **गुरोः वा** इति. अयं प्रश्नः प्रौढिख्यापनेन ''मयि अश्रद्दधानो अयं राजा'' इति शङ्कां शुकस्य उत्पादयेद् इति अर्थः.

---

१. न.पाठानुसारेण. ते अस्य इति ग.पाठे - सम्पा.

तत्र प्रथमं "श्रोतव्यादीनि" (भाग.पुरा. २।१।२) इति श्लोकत्रयेण साधारणाधिकारं निवार्य अभयम् इच्छतां यः उपायः कथितः सो अनुपपन्नः, ब्रह्मणा नानाधिकारेण प्रमेय-वक्तव्यत्वोपदेशात्[१]. तद् आह "ब्रह्मणा नोदितः" (श्लो. १) इति. इदमेव हि तत्त्वम् अधिकारभेदेन सर्वं निरूपणीयमित्यतः केषाञ्चिद् अधिकारः केषाञ्चिद् न अधिकारः इति पक्षो न सम्भवति. "सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ तथा नृप" (पद्मपुरा. ३।२९।४१) इति वाक्यविरोधश्च. अतः "एतद् वेदितुमिच्छामि" (श्लो. २) इति वचनम्. यदपि उक्तं केवलं भगवान् श्रोतव्यः इति तदपि अनुपपन्नम्, अद्भुतवीर्यस्यैव श्रोतव्यत्वात्. अन्यथा इदं वक्ष्यमाणं फलम् अनुपपन्नं

प्रकाशः

[२]सप्ताध्यायाक्षेपकत्वम् इति आशङ्कायां तद् व्युत्पादयन्ति **तत्र** इत्यादि. **तद् आह** इति, "श्रोतव्यादीनि" इत्याद्युक्त-प्रमेयस्य अनुपपन्नत्वं सार्धेन आह इति अर्थः. **अतः** इति त्वद्वाक्य-ब्रह्मवाक्ययोः विरोधस्य अवश्यपरिहार्यत्वात्. "ज्ञानं यद्[३]" (भाग.पुरा. २।३।१२) इति [४]शुकोक्तेः प्रतिपन्नं स्वाशयं वदन् "तस्माद् भारत" (भाग.पुरा. २।१।५) इति "तस्मात् सर्वात्मना" (भाग.पुरा. २।२।३६) इति वाक्योक्तम् अर्थम् आक्षिपति इति आहुः **यदपि उक्तम्** इत्यादि. **अद्भुतवीर्यस्य** इति अद्भुतवीर्यविशिष्टस्य. ननु किम् अत्र प्रमाणम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. केवलस्यैव श्रोतव्यत्वे तस्य "शश्वत् प्रशान्तम्" (भाग.पुरा. २।७।४७) इति श्लोकोक्त-रीतिकत्वेन वाङ्मनसागोचरतया "यथाहम्"

लेखः

वचनम् इति. एतद्वचनम् आक्षिप्यते इति भावः. तदेतद् आहुः **यदपि उक्तम्** इत्यादि. **अन्यथा** इति, अद्भुतवीर्याधिकरणीभूता-ऽनेकावतारचरित्र-श्रवणाभावे इति अर्थः. **इदम्** इति, "शृण्वतः श्रद्धया नित्यम्" (भाग.पुरा.

---

१. वक्तव्योपदेशादिति ख. २. सप्तमाध्याया- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा. ३. यतः इति मुद्रितपाठः. श्लोके तु एवम् - सम्पा.
४. श्लोकोक्तेः इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

स्यात्, चरित्रमात्रत्वे भगवान् स्वभावतएव प्रविष्टइति कस्याऽपि संसारो न स्यात्, शास्त्रवैफल्यञ्च. तद् आह "हरेः अद्भुतवीर्यस्य" (तत्रैव) इति. अद्भुतवीर्यस्य कथाः अद्भुतवीर्यरूपाः. तथा सति श्रवणादीनां दृष्टमेव द्वारं स्यात्. अन्यथा तु अदृष्टकल्पना प्रसज्येत, दोषाणां प्रतिबन्धकत्वाच्च न फलं, "गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः" (भाग.पुरा. ५।११।८) इति

प्रकाशः

(श्लो. ३) इत्यादिना "शृण्वतः" (श्लो. ४-६) इत्यादि श्लोकत्रयेण च वक्ष्यमाणं सर्वात्मनि मनोनिवेशरूपं हृदि शीघ्रं भगवत्प्रवेशादिरूपञ्च स्वानुभवगोचरं **फलम् अनुपपन्नं स्यात्**. अतः प्रत्यक्षमेव मानम् इति अर्थः. ननु 'भगवत्'पदेन चरित्रसाहित्यम् अनुक्तसिद्धमेवेति[1] तादृशश्रवणादेव तव फलम् अतो न तव प्रत्यक्षम् अत्र मानम् इत्यतः आहुः **चरित्रे**त्यादि. तथाच चरित्रवैशिष्ट्यवद् "एवं स्वचित्ते स्वतएव सिद्धः" (भाग.पुरा. २।२।५) इति पूर्वोक्तवाक्यात् प्रवेशस्यापि तथात्वेन तथा स्याद् इति आशयेन आह इति अर्थः. वीर्यविशिष्टश्रवणे गुणम् आहुः **तथा सति** इत्यादि. **दृष्टम्** इति निःसङ्गमनोनिवेशरूपम्. एवम् अनङ्गीकारे दोषम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **अन्यथा** इति वीर्यविशिष्टस्य श्रोतव्यत्वानङ्गीकारे निःसङ्गमनसो अनिवेशे सति. **दोषाणाम्** इति मनोदोषाणाम्. **न फलम्**

लेखः

२।७।५३) इत्यादिना वक्ष्यमाणम् इति अर्थः. **शास्त्रवैफल्यम्** इति, फले विशेषाभावे भक्तिप्रतिपादक-शास्त्रस्य वैफल्यम् इति अर्थः. **तथा सति** इति, श्रवणादिविषयकथानाम् अद्भुतत्वे सति इति अर्थः. **दृष्टमेव** इति. कथानाम् अद्भुतत्वे हि तच्छ्रवणादिना भगवद्गतिरूपफलं दृष्टमेव उपपन्नं भवेद्, अन्यथा तु न इति अर्थः. यद्वा अद्भुतकथाश्रवणजन्य-मनोनिरोधरूप-दृष्टमेव द्वारीकृत्य रतिरूपं फलम् उपपद्यते इति अर्थः. श्रवणमात्रेण सर्वत्र एवम् अदर्शनात् व्यभिचारः इत्यतः आहुः **दोषाणाम्** इति. **"गुणानुषक्तं व्यसनाय जन्तोः"** इति. ... .

१. इति इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

वाक्यविरोधश्च. तद् आह "यथा अहम् अखिलात्मनि" (श्लो. ३) इति. श्रवणादिना भगवति मनोनिवेशने[१] अस्मिन् जन्मनि एतावदेव फलं, जन्मान्तरे तु अन्यत्.

यद् उक्तम् अल्पेनैव कालेन कार्यं सिद्ध्यति इति तदपि असङ्गतं, दृष्टोपाये भगवतो बहुकर्तव्यत्वात्. तद् आह "शृण्वतः" (श्लो. ४) इति. स्वार्थन्तु मनोनिवेशनमेव, अतएव निर्धार्य वदति "त्यक्ष्ये कलेवरम्" (श्लो. ३) इति. ततो भगवान् मनसा गृहीतइति जन्मान्तरे भगवत्सेवौपयिकं शरीरं निष्पादयति तदानीं[२] स्वानाम् इति भविष्यति, भावसरोरुहत्वञ्च. बहिःस्थितस्यैव अन्तःप्रवेशने कार्यसिद्धिः, नतु अन्तःस्थितेन कार्यं, यथा

प्रकाशः

इति स्याद् इति शेषः. तथाच दोषत्रयापातादपि केवलश्रवणम् असङ्गतम् इति आशयेनापि आह इति अर्थः. **एतावद्** इति अखिलात्मत्वज्ञानाद् मनसः सङ्गाभावरूपम्. **अन्यद्** इति मनसि भगवत्प्रवेशरूपम् अभयरूपञ्च. एवं "तस्माद् भारत" (भाग.पुरा. २।१।५) इत्यादेः स्वप्रतिपन्नार्थ-कथनपूर्वकं तत्र आक्षेपः उक्तः.

अतः परं "किं प्रमत्तस्य" (भाग.पुरा. २।१।१२) इति पद्यद्वयोक्तम् आक्षिपन् स्वप्रतिपन्नं वदति इति आहुः **यद्** इत्यादि. **बहुकर्तव्यत्वाद्** इति, अभयदानार्थं हृदि प्रवेशम् आरभ्य नान्तरीयक-पापनिवर्तनान्तस्य कर्तव्यत्वात्. अतः कथं स्वल्पकालेन फलसिद्धिः इति आशयेन स्वप्रतिपन्नम् आह इति अर्थः. **स्वार्थम्** इति भावप्रधानः प्रयोगः ; "स्वानाम्" (श्लो. ५) इत्यनेन उक्तं यद् भगवदीयत्वं तदर्थम् इति अर्थः. तस्मात् स्वतःसिद्धा स्थितिः अप्रयोजिकेति बहुकर्तव्यं विशदयन्ति **बहिः** इत्यादि. ननु भगवान् समर्थः स्वाभाविकस्थित्यापि कार्यं साधयेद् अतो न तस्याः

लेखः

यद् उक्तम् अल्पेनैव इति. खट्वाङ्गकथानिक्षेपेण तथा उक्तम् इति अर्थः. **तदा स्वानाम्** इति, सेवोपयोगिशरीर-निष्पत्तौ स्वत्वं भगवदीयत्वमपि

१. निवेशेऽस्मिन्निति ख. २. तदा स्वानामिति ख-लेखे - सम्पा.

दार्वग्निना. तद् आह "विशते" (श्लो. ४) इति. अन्यथा प्रक्रियान्तरे रागाभावो जन्मशतेनापि न स्यात्, शरीरेन्द्रियाणां गुणकार्यत्वात्. अस्यां प्रक्रियायान्तु प्रकर्षेण आग्रहेण प्रविष्टः शमलं धुनोति. तदा च शिथिलावयवत्वे मूलबन्धात् प्रच्यावे गुणैरेव अग्रिमकार्यं स्यात्. अतो "धुनोति" (श्लो. ५-६) इत्येव उक्तम्. तदा द्वितीयम् अभयं भवति. न भयं यस्माद् इति अभयरूपो भगवान् मनसा प्राप्तः. अतो मृत्युगृहीत-शरीराद्यभावाद् न विद्यते भयं यस्य इति द्वितीयं फलति. सिद्धान्त-फलैः अग्रिम-दशमस्कन्धार्थे[१]

प्रकाशः

अप्रयोजकत्वम् इति शङ्कायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. सत्यं, समर्थः, तथापि मर्यादां न भनक्ति, सर्वमुक्तिप्रसङ्गात्. अतः तत्रापि जीवकृतं साधनम् आवश्यकम्. तत्र ज्ञानादिमार्गीय-साधनस्य अङ्गीकारे "बहूनां जन्मनाम् अन्ते" (भग.गीता ७।१९) इति वाक्यात् तस्यां प्रक्रियायां तथा स्यात्. तत्र हेतुः **शरीरे**त्यादि. एवं "शृण्वतः" (श्लो. ४) इति पद्यस्य तात्पर्यम् उक्तम्. "प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण" (श्लो. ५) इत्यस्य आहुः **अस्याम्** इत्यादि. **आग्रहेण** इति, जीवेन भगवति निःसङ्गमनसो निवेशने कृते "ये यथा माम्" (भग.गीता ४।११) इति प्रतिज्ञातेन[२] आग्रहेण. **तदा च शिथिलावयवत्वे** इत्यादि. शमले धुते च गुणानां तत्कार्याणाञ्च शिथिलावयवत्वे मूलबन्धप्रच्युतौ ऐश्वर्यादिभिः गुणैरेव अभयं स्यात्. इदमेव अत्र तात्पर्यम् इत्यत्र गमकम् आहुः **अतः** इत्यादि. अग्रिमकार्यं स्फुटीकुर्वन्ति **तदा** इत्यादि. **द्वितीयम्** इति जन्मान्तरम्. तत्र हेतुः **न भयम्** इत्यादि. ननु शुकेन भगवदभेदरूपम् अभयम् उक्तमिति कथम् एतावदेव फलम् उच्यते इति आकाङ्क्षायां "धौतात्मा" (श्लो. ६) इत्यस्य तात्पर्यम् आहुः **सिद्धान्ते**त्यादि. ननु एवं शुकोक्त्यङ्गीकारे

लेखः

भविष्यति इति अर्थः. **प्रक्रियान्तरे** इति, अन्तःस्थितस्यैव ध्यानादि-प्रक्रियायाम् इति अर्थः. **गुणैरेव अग्रिम-** इति. शमलधुनने सति श्रवणेन गृहीतैरेव

१. दशस्कन्धेति घ. २. प्रतिज्ञाकृतेन इति मा.पाठे - सम्पा.

अवगते न भयम् अस्माद् इति भयनाशकएव स्वयं भविष्यति. तद् वक्ष्यति ''मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युम् ईश्वरम्'' (भाग.पुरा. १२।५।१०) इति. अन्यथा प्रथमपक्षएव पर्यवसाने गुरोः अप्रयोजकता स्यात्. तस्माद् एतस्यैव त्रयं भवति. यदपि उक्तं जीवानां स्वभावक्रियया अनर्थो भवति इति तदपि असङ्गतम्. जीवानां किं स्वभावतएव देहादिसम्बन्धः ईश्वरेच्छया वा इति? आद्ये सर्वेषामेव अनिर्मोक्षप्रसङ्गः. द्वितीये न ते पर्यनुयोगम्

प्रकाशः

तदुक्तः शीघ्रं मोक्षोपि अङ्गीकार्यः इति आकाङ्क्षायां तत्र बाधकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. भगवतो दृष्टपूर्वत्वाद् अखिलात्मत्वरूपाद्भुतवीर्यज्ञानस्य अनादेयत्वेन शीघ्रं मोक्षाङ्गीकारे तथा स्याद् इति अर्थः. फलितम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. तथाच ''नह्यतोऽन्यः शिवः पन्था'' (भाग.पुरा. २।२।३३) इति ''भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन'' (भाग.पुरा. २।२।३४) इति वाक्ययोः पञ्चमाध्यायस्य च अर्थे विचारिते इदानीं भगवति मनोनिवेशनम्, अग्रिमे जन्मनि सेवौपयिकदेहाप्तिः, ततो अग्रिमे अभयम् —इति ज्ञानप्रक्रिया दुर्घटा इति हृदि भातम्. भक्तौ च माहात्म्यज्ञानम् अङ्गम् इति तदद्भुतवीर्यकथाएव श्रोतव्या, नतु केवलो भगवानिति पूर्वोक्तवाक्यानाम् इतरेतरविरोधः परिहार्यः इति प्रश्नाशयः. एवम् अग्रेपि बोध्यम्. ''श्रोतव्यादीनि'' (भाग.पुरा. २।१।२) इति पद्यत्रयोक्तम्[१] आक्षिपति इति आहुः **यदपि**

लेखः

भगवद्गुणैः भगवद्ग्रहणरूपम् अभयं सेवोपयिकजन्मान्तररूपम् अभयं (च!) भवति इति अर्थः. **प्रथमपक्षएव** इति, शमलनाशन-मात्ररूपे इति अर्थः. **गुरोः** इति, शुकस्य इति अर्थः. **अप्रयोजकता** इति. ध्यानाद्युपायान्तरेणापि स्वतोपि तस्य सम्पादयितुं शक्यत्वाद् इति भावः. **त्रयम्** इति, शमलनाशो, मनसा भगवत्प्राप्तिरूपम् अभयं, सेवोपयिकदेहसम्पत्तिश्च इति त्रयम्. इदञ्च ''इच्छताऽभयम्'' (भाग.पुरा. २।१।५) इत्यत्रोक्त-'अभय'पदस्य अर्थः उक्तः प्रसङ्गाद् इति ज्ञेयम्.

---

१. पद्यत्रयम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

अर्हन्ति, भगवतैव तथा सम्पाद्यमानत्वात्. एतद् अभिप्रेत्य आह ''यदधातुमतः'' (श्लो. ७) इति.

यदपि उक्तं श्रोतव्यं भगवद्विशेषण-चतुष्टयं सर्वात्मा भगवान् हरिः ईश्वरः इति तदपि असङ्गतम्. तद् आह ''आसीद् यदुदरात् पद्मम्'' (श्लो. ८) इति. सर्वात्मा भगवान् श्रोतव्यत्वेन निरूपितः. तस्य उदराच्च पद्मजननं निरूपितम्. पद्माधारत्वेन तस्य[१] पद्माद् भिन्नत्वाद् जगतश्च पद्माधारत्वात् सर्वात्मत्वं न उपपद्यते. औपचारिक-प्रयोगस्तु[२] न फलजनकः इति सिद्धम्. किञ्च भगवत्त्वं च न उपपद्यते, तद् आह ''यावानयं वै पुरुषः'' (तत्रैव) इति. प्राकृततुल्यत्वाद् इति अर्थः. हरित्वं च न उपपद्यते, तद् आह ''अजः सृजति'' (श्लो. ९) इति. भगवदनुग्रहमपि प्राप्य यतो अयम् अजः सर्वभूतजातं सृजति. महति कर्मणि व्यापृतो अतिखिन्नः, भूतात्मा च जायते तत्तत्स्वभावं प्राप्नोति. एतदेव अग्रे वक्ष्यति

प्रकाशः

उक्तम् इत्यादि. **अनिर्मोक्षप्रसङ्गः** इति. ''जीवस्य देहसम्बन्धप्रवाहो अनन्तभावः, अनादिभावत्वात्, प्रकृति-परमाण्वादिवत्, यद् न एवं तद् न एवं, घटादिवद्'' इति अनुमानेन अनन्तत्व-निश्चयात् तथा इति अर्थः. **भगवतैव** इत्यादि. तथाच अकृताभ्यागमो वैषम्य-नैर्घृण्यापत्तिरपि इति अर्थः.

''आसीद्'' (श्लो. ८) इत्यादि सार्धपद्यत्रयेण ''तस्माद् भारत'' (भाग.पुरा. २।१।५) इति पद्योक्तं विधेयविशेषणांशम् आक्षिपति इति आहुः **यदपि उक्तं श्रोतव्ये**त्यादि. भेदस्तु पूर्वव्याख्यानेऽपि व्युत्पादितइति जीवतुल्यता परिहर्तव्या इति तात्पर्यम्. ननु सर्वात्मत्वम् औपचारिकम् अस्तु, तथा सति असङ्गोदासीनत्वाद् न कोऽपि दोषः इति चेत्, तत्र आहुः **औपचारिक-** इत्यादि. **सिद्धम्** इति, पञ्चम-षष्ठाध्यायाभ्यां शुकेन साधितत्वात् सिद्धम्. तथाच ''सर्वात्मा'' (भाग.पुरा. २।१।५) इति ''यदास्य नाभ्याद् नलिनाद्'' (भाग.पुरा. २।६।२२) इत्यस्य च विरोधः परिहार्यः इति तात्पर्यम्. एवं भगवत्त्व-जीवावयवसंस्था-बोधकवाक्ययोः

---

१. तस्य नास्ति घ.　　२. -प्रयोजकस्तु घ.

"शयानो बहुचिन्तया" (भाग.पुरा. ३।२०।४७) इति. ईश्वरत्वञ्च न उपपद्यते, तद् आह "स चाऽपि यत्र पुरुषः" (श्लो. १०) इति. अस्याऽपि प्राकृततुल्यत्वं, जगत्कार्यव्यापृतत्वं[1], मायाग्रहण-परित्यागक्लेशः[2], शयनं गूढस्थानस्थितिः इति. यदपि उक्तं "पातालमेतस्य[3]" (भाग.पुरा. २।१।२६) इत्यादि तदपि असङ्गतं, तद् आह "पुरुषावयवैः" (श्लो. ११) इति. अन्योन्यविरोधाद् उभयमपि असङ्गतम् इति भावः. यदपि उक्तम् "इन्द्रादयो बाहवः आहुः" (भाग.पुरा. २।१।२९) इति तदपि असङ्गतम्. कल्पभेदानां विद्यमानत्वात् (श्लो. १२) प्रतिकल्पम् इन्द्रादीनां नानात्वाद् बाहूनाम् अनियतत्वापत्तिः. 'अधिकार'शब्दत्वेऽपि अधिकृतानां भेदात् सः दोषः तदवस्थः, इन्द्रत्वधर्मस्य अबाहुत्वात्. यदपि "आहुः" इति उक्तं प्रमाणं तदपि असङ्गतं, विकल्पानां विद्यमानत्वात्. विकल्पाः युगभेदाः, ब्रह्मकल्पान्तरकल्पाः वा. उभयेषामपि प्रतिकल्पं भिन्नत्वाद् न बाहु-प्रमाणयोः व्यवस्था. किञ्च यदपि उक्तं "कर्णौ दिशः" (तत्रैव) इति. दिशाम् अव्यवस्थिततत्वात् कर्णत्वं न उपपद्यते. दिशस्तु सूर्येण क्रियन्ते.

प्रकाशः

हरित्व-ब्रह्मकृति-बोधकवाक्ययोः ईश्वरत्व-प्राकृततुल्यावस्था-बोधकवाक्ययोश्च विरोधः परिहार्यः इति बोध्यम्. ननु प्रमाणकथनस्य कथम् असङ्गतिः इत्यतः आहुः **विकल्पानाम्** इत्यादि. "आहुः" इति बहुवचनेन हि लोकप्रसिद्धिः ऐतिह्यं वा प्रमाणतया उपन्यस्तम्. तत्र "यावान् कल्पो विकल्पो वा" (श्लो. १२) इति प्रश्नार्थभूत-'विकल्प'पदार्थे युगभेदादिरूपे अवधारिते तेषु पूर्वयुगीयानां[4] लोकानां विवृत्त्या प्रसिद्ध्या ऐतिह्ययोरपि नाशात् प्रमाणकथनस्य असङ्गतिः इति अर्थः. "यथा कालोऽनुमीयते" (श्लो. १२) इति प्रश्नेन दिशां कर्णत्वम् आक्षिप्तम् इति आहुः **किञ्च**

लेखः

"शयानो बहुचिन्तया" इति. ... .

---

१. -व्यावृतत्वं ख. २. -त्यागः क्लेश इति ख. ३. -मेतस्य हि पादेत्यादि ख. ४. पूर्वयुगीयादीनाम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

''सूर्येण हि[१] विभज्यन्ते दिशः'' (भाग.पुरा. ५।२०।४५) इति वाक्याद् यत्र उदेति सा प्राची इत्यादि. अतः कालानुमापके सूर्ये विचार्यमाणे दिशो न सन्त्येव, कुतः तासां कर्णत्वम्! व्यवहारस्तु औपचारिकैरपि भवति, पदार्थनिर्णयस्तु न एवंविधः. यदपि उक्तं ''श्रोत्रममुष्य शब्दः'' (तत्रैव) इति तदपि न उपपद्यते, कालभेदेनैव शब्दानां प्रवृत्तत्वात्. तद् आह ''भूतभव्यभवच्छब्दः'' (श्लो. १३) इति. एते हि एकदा न प्रवर्तन्ते इति श्रोत्रं नियतं न स्यात्. शब्दविशेषस्य श्रोत्रत्वे तु सर्वरूपत्वम् उपसंह्रियमाणम् असङ्गतं स्यात्. यदपि उक्तं ''नासत्यदस्रौ परमस्य नासे'' (तत्रैव) इति, अश्विनीकुमारयोः आयुर्वेदप्रवर्तकत्वं वक्तव्यम्. तद् आयुषः स्वरूपं विचारणीयं— किं भगवद्दत्तम् आयुः प्राणिनां नियतम् अनियतं वा इति. उभयथाऽपि नासत्ययोः अप्रयोजकत्वम्. अतः स्वतः आयुर्माने विचार्यमाणे अश्विनयोरेव अनिरूप्यत्वाद् नासिकात्वं दूरे! एवं ''घ्राणो

प्रकाशः

इत्यादि. ननु दिगभावे कथं तद्व्यवहारः इत्यतः आहुः **व्यवहारः** इत्यादि. तथाच, यथा आदित्योदयवेला-विद्यमानतिथेः पूर्णत्वं तावन्मात्रव्याप्त्यौपचारिकं तथा दिक्त्वमपि सूर्यकृतविभागेन[२] देशविशेषेषु औपचारिकमिति तैरेव तद्व्यवहारोपपत्तिः ; यथा च साङ्ख्यमते उपाधिभिः कालस्य तथा इति अर्थः. **न एवंविधः** इति न औपचारिकः. ननु वर्णाद्यात्मको नित्यएव शब्दः श्रोत्ररूपो अस्तु, तथा सति न अनियतत्वम् इति आहुः **शब्दे**त्यादि. आयुर्मानप्रश्नेन अश्विनोः नासारूपत्वम् आक्षिपति इति आहुः **यदपि** इत्यादि. **अनिरूप्यत्वाद्** इति, अजागलस्तनवद् अप्रयोजकयोः वैयर्थ्येन तथात्वात्. कालानुगतिप्रश्नाक्षेप्यम् आहुः **एवं घ्राण** इत्यादि. स्थूलादिरूप-ज्ञापकोपाधौ विचार्यमाणे तेषाम् आनन्त्याद् अनन्तघ्राणाद्यापत्तिः, तदनुरोधेन अनन्तविराडङ्गीकारे दिवः स्थूलकालस्थायित्व-विरोधः, तदनुरोधेन

लेखः

उभयथापि इति. आयुषो भगवद्दत्तत्वेनैव सिद्धत्वात् किम् एताभ्याम् इति

१. हि नास्ति ख.   २. सूर्यकृति- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

अस्य गन्धो मुखम् अग्निः इद्धः'' (तत्रैव) इति. गन्धः च अग्निः च त्रिक्षणावस्थायाम्[१]. अतः कालस्य अनुगतिः स्थूला वा सूक्ष्मा वा यदि विचार्यते तदा गन्धाग्नी द्यौश्च न सङ्गच्छन्ते इति अर्थः. किञ्च ''चक्षुः अभूत् पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोः अहनी उभे च'' (भाग.पुरा. २।१।३०) इति पूर्ववत्. यतः कर्मगतिषु विचार्यमाणासु केनचित् कर्मणा सूर्यस्य परावृत्तौ – सूर्यानन्तत्वे च दिन-रात्रिव्यवस्थायाः सूर्यगतिकृतत्वात् तस्याः च कर्मरूपत्वाद् – भगवच्चक्षुरेव न उपपद्यते, न वा पक्ष्माणि. ''यादृशीः'' (श्लो. १३) इति तस्यैव अवान्तरभेदः. किञ्च यद् उक्तं ''तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम्[२]'' (भाग.पुरा. २।१।३०) इति तदपि

प्रकाशः

एकविराडङ्गीकारे गन्धादेः त्रिक्षणस्थायित्व-विरोधइति ते परस्परं तथा इति अर्थः. ''यावत्यः कर्मगतयः'' (श्लो. १३) इति प्रश्नाक्षेप्यम् आहुः **किञ्च चक्षुः** इत्यादि. **पूर्ववद्** इति, पतङ्गः उभे अहनी च परस्परासङ्गतः इति अर्थः. तदुपपादयन्ति **यतः** इत्यादि. **सूर्यस्य परावृत्तौ** इति, ''आदित्यो वा अस्माँल्लोकाद् अमुं लोकमैत् सो अमुं लोकं गत्वा पुनः इमं लोकम् अभ्यध्यायत् स इमं लोकम् आगत्य मृत्योः अबिभेद्'' (तैत्ति.संहि. १।५।९।४) इति श्रौतेन प्रकारेण परावृत्तौ. **सूर्यानन्तत्वे** इति, ''शुक्र-मासं नयन्ति अमी'' (भाग.पुरा. १२।११।३५) इत्यादि पौराणप्रकारेण तथात्वे. तथाच सूर्यपरावृत्त्यादि-कर्मगतिविचारे तदनैयत्यात् चक्षुरनुपपत्तिः, दिनादिव्यवस्थापक-तद्गतिविचारे दैव-मानुषादि-दिन-रात्रीणां परस्परविरुद्धत्वात् पक्ष्मानुपपत्तिः इति अर्थः. ''यस्मिन्'' (श्लो. १४) इत्यत्र. **उक्तः**

लेखः

अर्थः. **त्रिक्षणावस्थायीति**. ... . **पूर्ववद्** इति, पूर्ववद् न सङ्गच्छति इति अर्थः. असङ्गतिं व्युत्पादयन्ति **यतः** इत्यादि. **न उपपद्यते** इति, भगवच्चक्षुषः सदैकरसत्वेन सूर्यस्य च तत्तत्कर्मपरावृत्त्या परावृत्तत्वेन

---

१. -वस्थायी इति लेखे, सं-मा.१-मा.२ पाठेषु च - सम्पा.

२. परमेष्ठ्यधिष्ण्यम् इति मुद्रितपाठः. खपाठे, उद्धरणस्य सुबोधिन्यां च एवम् - सम्पा.

कर्मसाध्यमेव. तद् आह "यस्मिन् कर्मसमावायः[१]" (श्लो. १४) इति. अयं ब्रह्मा गुणानां गुणिनाञ्च कर्मसमावायः[१] उक्तः ; तत्र का भगवद्भ्रूविजृम्भा! एतेनैव "आपोऽस्य तालू रसएव जिह्वा" (भाग.पुरा. २।१।३०) इति आक्षिप्तमेव[२]. अनेन यानि कानि गोलकत्वेन निरूपितानि, इन्द्रियत्वेन च, तानि सर्वाणि आक्षिप्तानि वेदितव्यानि. किञ्च "आपोऽस्य तालू" इत्यारभ्य "असुरानीकवर्यः" (भाग.पुरा. २।१।३६) इत्यन्तेन उक्ताः पदार्थाः [३]विशेष-सामान्यविचारेण गतार्थाः भविष्यन्ति इति विशेषपदार्थान् आधाराधेय-भावापन्नान् दशपदार्थान् निरूपयति "भूपाताल" (श्लो. १५) इति. एतेषां दशपदार्थानां स्वकार्यसहितानां विचारे क्रियमाणे सामान्यतो ब्रह्माण्डे च विचार्यमाणे ब्रह्माण्डमेव आयाति ; न भगवान् भगवदवयवाः वा केनाऽपि प्रकारेण सङ्गच्छन्ते. तस्मात् सिद्धं ब्रह्माण्डं दूरीकृत्य पुरुषत्वकल्पना

प्रकाशः

इति, सर्वात्मकत्वबोधनाद् उक्तः. **तत्र** इत्यादि. तस्मिन् धिष्ण्ये कर्ममेलनेनैव प्राप्यमाणे सा का इति अर्थः. **एतेन** इत्यादि, "यथा कर्मसमावायः" (श्लो. १४) इति मेलनप्रकारप्रश्नेन गुणिनां जलानां कर्मविशेष-सम्मिश्रणप्रकारादेव नानारसवत्तेति तेषां[४] बहूनां तालुत्वे "रसः" इति एकवचनविरोधाद् आक्षिप्तम् इति अर्थः. **अनेन** इत्यादि. कर्मसम्मिश्रणं "येन उपगृह्यते" (श्लो. १४) इति उपग्रहप्रश्नेन – उपग्रहीतुः जीवादेः नित्यत्वाद्[५] गोलकेन्द्रिययोश्च अनित्यत्वात् तस्य आधिदैविकत्वानुपपत्तेश्च – आक्षिप्तानि इति अर्थः. प्रकारान्तरेणापि आक्षिपति इति आहुः **किञ्च** इत्यादि. **विशेषस्य** इति ब्रह्माण्डरूपायाः पृथिव्याः. **विशेषपदार्थान्** इति 'विशेष'पदस्य अवान्तरार्थभूतान्. **भूपाताले**ति सार्धेन इति शेषः. "महताञ्च"

---

१. -समवाय इति ख. २. -त्यादिक्षिप्तमेवेति ख.

३. विशेषस्येति घ-प्रकाशे - सम्पा.

४. नानारसवताम् : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

५. नित्यस्य अनित्यम् अङ्गं भवितुम् अर्हति इति भावः. उपग्रहीतुः जीवत्वे आधिदैविकत्वमपि न सम्भवति इति अर्थः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

व्यर्था इति भावः. ''असुरानीकवर्यः'' इति आक्षिपति ''महतां च अनुचरितम्'' (श्लो. १६) इति. ''ब्रह्माननम्'' (भाग.पुरा. २।१।३७) इत्यादि वर्णाश्रमविनिश्चयेन.

यद् उक्तं ''नानाभिधाभीज्यगुणोपपन्नः[१]'' (तत्रैव) इति. अत्र यो यज्ञो निरूपितो भगवत्कर्मत्वेन तस्य अप्राकृतत्वाद् नित्यत्वाच्च पूर्वोक्तदोष-सम्बन्धाभावात् तदेकम् उपपद्यते इति आशङ्क्य नवपदार्थविचारेण तदपि प्रत्युक्तं भविष्यति इति नवपदार्थान् पृच्छति ''अवतारानुचरितम्'' (श्लो. १७-१८) इति द्वाभ्याम्. यागो हि देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकः. तत्र देवता द्रव्यं[२] क्रिया च इति त्रयं, देशादयः षडङ्गानि, एवं

प्रकाशः

(श्लो. १६) इत्यत्र **आक्षिपति** इति. अत्र 'अनु'शब्दस्य पश्चादर्थकत्वेन प्रह्लादस्य पाश्चात्यत्वं सूचयन् [३]तस्य श्रैष्ठ्यं स्मृतिरूपताञ्च आक्षिपति इति अर्थः. ''ब्रह्माननम्'' इत्यत्रापि वर्णाश्रमविभागस्य धर्मकृतत्वेन तस्य पाश्चात्यत्वेन मुखादिरूपत्वाक्षेपो ज्ञेयः.

''अवतारानुचरितम्'' (श्लो. १७) इत्यत्र. **तदेकम्** इति सामान्ये

लेखः

अनन्तविधत्वात् चक्षुष्ट्वं न उपपद्यते इति अर्थः. ''**असुरानीकवर्यः**'' **इति आक्षिपति** इति. महतां सर्वेषामेव उत्तमत्वेन अविशेषात् प्रह्लादे को विशेषः —इति आक्षेपः इति. ''**ब्रह्माननम्**'' इति. वर्णाश्रमेषु तारतम्यश्रवणाद् भगवदवयवत्वे तत् कथम् उपपद्यताम् —इति आक्षेपः.

ननु ''यजेत स्वर्गकाम'' (आप.श्रौतसूत्र १०।२।१) इत्यादौ जघन्याधिकारविचारे लोकात्मक-फलस्यापि स्थापनाद् ''यागाङ्गभूता देवता एकलोकात्मकं फलं सम्पादयति'' इति वक्तव्यम्; एवञ्च भगवतो अलौकिकत्वात् कथं तादृशं देवतात्वम्? अतः आहुः **स च अवतारो**

---

१. -भिधोपपन्नमिति ख. २. द्रव्यस्य द्वैविध्यं: सामान्यतः कर्मणि धर्मत्वघटकं एकं, धर्माङ्गभूतस्य द्रव्यस्य यागीयदेवतोद्देशकत्वेन यागघटकं द्रव्यत्वम् अपरम्. एवमेव क्रियाद्वैविध्यमपि - सम्पा. ३. स्वस्य इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

नव. तत्र देवता भगवदवतारेण विचारिता भवति[१]. सच अवतारो लोके इति लौकिकः. युगानि तु विचारणीयानि. तेषु विचारितेषु द्रव्यमपि निराकृतं भविष्यति. यथा ‘‘यज्ञवास्त्वभ्यवायन्[२] ते अपश्यन् पुरोडाशं कूर्मभूतं सर्पन्तम्’’ (तैत्ति.संहि. २।६।३।२-३) इति. एतत्कर्म कदा, युगेषु वा युगेभ्यो भिन्नकाले वा? युगविशेषे चेत् ततः पूर्वं द्रव्याभावाद् यागो न स्याद्, एवम् अन्यत्राऽपि. युगमाने च विचार्यमाणे यागानाम् अन्यथात्वात् क्रियैव न सङ्गच्छते, यथा त्रेतामुखे यज्ञोत्पत्तिः. किञ्च युगधर्मः कालः, ‘‘नृणां साधारणो धर्मः’’ इति देशः, ‘‘सविशेषो यादृशः’’ इति द्रव्याणि गुणभेद-भिन्नानि द्विधा निरूपितानि, ‘‘श्रेणीनाम्’’ इति कर्तारः, ‘‘राजर्षीणाम्’’ इति मन्त्राः, ‘‘धर्मकृच्छ्रेषु’’ इति कर्माणि. अतएव षट्सु धर्मप्रयोगो अङ्गत्वख्यापनाय. यदपि उक्तं ‘‘इयानसावीश्वरविग्रहस्य’’ (भाग.पुरा. २।१।३८) इति तदपि तत्त्वविचारेण प्रत्याख्यातं भविष्यति. तत्त्वानाम् एकदेशेन ब्रह्माण्डनिर्माणम्. तत्र ‘‘न यतोऽस्ति किञ्चिद्’’ (तत्रैव) इति वचनम् अनुपपन्नं स्यात्.

प्रकाशः

नपुंसकम्. **लौकिकः** इति. तथाच पूर्वोक्ताप्राकृतत्वविरोधि इति अर्थः. **न स्याद्** इति. तथाच युगविचारो यागनित्यत्वबाधकः इति अर्थः. **अन्यथात्वाद्** इति, त्रेतायुगात् पूर्वं योग-तपो-ज्ञानरूपत्वात्. तदेव उदाहरन्ति **यथा** इत्यादि. **किञ्च युगधर्मः** इत्यादि. एतदादीनाम् अनित्यत्व-प्राकृतत्व-सूचनेन तदङ्गिभूतस्य यागस्यापि तथात्वापादनेन आक्षिपति इति अर्थः. ‘‘तत्त्वानां परिसङ्ख्यानम्’’ (श्लो. १९) इति प्रश्नाक्षेप्यम् आहुः **यदपि** इत्यादि.

लेखः

लोके इति. **अन्यथात्वाद्** इति, अनियतत्वाद् इति अर्थः. तथाच अनियतानां यागानां नियत-भगवदवयवत्वं कथं सङ्गच्छते इति अर्थः. **तत्त्वानाम् एकदेशेन** इति, तत्त्वानां भगवत्स्वरूपैकदेशान्तःपातित्वात्.

---

१. भवन्तीति ख. २. -वायं ते पश्यत पुरोडाशमिति ख.

अतः परं द्वितीयाध्यायारम्भः. तत्र आदावेव यद् उक्तम् ''एवं पुरा धारणया'' (भाग.पुरा. २।२।१) इति तद् असङ्गतं तत्त्वानां लक्षणविचारेण (श्लो. १९). लक्षणं तेषां सृष्टिकरण-सामर्थ्यं[१], तस्यैव असाधारणधर्मत्वात्. तस्मिन् ज्ञाते तदंशैरेव ब्रह्मणि प्रविष्टैः कार्यसिद्धेः तस्य ज्ञानादीनां वैयर्थ्यापत्तिः. यदपि ''शाब्दस्य हि ब्रह्मणः एषः पन्थाः'' (भाग.पुरा. २।२।२) इत्यादिभिः वैराग्यपुरःसरं स्वचित्ते स्थितं भगवन्तं चिन्तयेद् इति तदपि[२] तत्त्वानां हेतुपूर्वक-लक्षणे विचार्यमाणे पूर्ववद् भविष्यति. तत्र चित्तस्य महत्तत्त्वरूपत्वाद् महति विद्यमानएव भगवान् तत्र भवतीति स्वचित्ते कः सिद्धः! [३]आत्मनश्च सिद्धिः तत्र दूरापास्ता. ''चित्तं तन्महदात्मकम्'' (भाग.पुरा. ३।२६।२१)

प्रकाशः

अतः परम् इति, ''लक्षणं हेतुलक्षणम्'' (श्लो. १९) इत्यतः आरभ्य इति अर्थः. **तस्य** इति आत्मयोनेः. **इत्यादिभिः** इति, एतदारभ्य पञ्चभिः पद्यैः. **चिन्तयेद् इति** इति, उक्तम् इति [४]शेषः. असङ्गतिं व्युत्पादयन्ति **तत्र** इत्यादि. **तत्र** इति हेतुलक्षणविचारे. **तत्र भवति** इति, चित्ते भवति **इति** हेतोः न कोपि सिद्धः इति अर्थः. दूरापास्तत्वे हेतुम् आहुः **चित्तम्** इत्यादि. तथाच अस्मिन् लक्षणवाक्ये ''यत्तत् सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदं, यदाहुः वासुदेवाख्यम्'' (भाग.पुरा. ३।२६।२१) इति [५]पूर्वं कथनाद् भगवतएव सिद्धिः न आत्मनइति सा तथा इति

लेखः

द्वितीयाध्यायाक्षेपोक्तौ. **तस्यैव** इति, सृष्टिकरण-सामर्थ्यस्यैव इति अर्थः. **तस्मिन् ज्ञाते** इति, सृष्टिकरणसामर्थ्ये सति इति अर्थः. **तदंशैः** इति, सृष्टिकरणसमर्थैः तत्त्वांशैः इति अर्थः. **तस्य ज्ञानादीनाम्** इति, तत्त्वात्मक-भगवद्रूप-ज्ञान-धारणादीनां तथात्वाद् इति अर्थः. **पूर्ववद्** इति, असङ्गतं भविष्यति इति अर्थः.

---

१. -कारणेति ख. २. तदपीति नास्ति ख. ३. स्वात्मनश्चेति ख.

४. विशेषः इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

५. पूर्वकथनाद् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

इति हेतुलक्षणम्. यदपि उक्तं "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे" (भाग.पुरा. २।२।८) इति तदपि पुरुषपूजायां विचार्यमाणायां "मनोमयी मणिमयी" (भाग.पुरा. ११।२७।१२) इति वाक्याद् मानसी मूर्तिः सा, सः कथं भगवान् भवेद् इति! स्थूल-सूक्ष्मधारणासिद्ध्यर्थं योगद्वयं निरूपितं, तदपि योगस्वरूपे विचार्यमाणे चित्तवृत्तिनिरोधत्वाद् असङ्गतमेव भविष्यति. यदपि उक्तं "स्थिरं सुखं चासनमास्थितो यतिः" (भाग.पुरा. २।२।१५) इति तदपि असङ्गतम्. जीवतएव योगिनः सर्वलोकगमन-सम्भवात् किं मरणेन, यथा[१] कर्दमस्य. "ऐश्वर्य"पदेन (श्लो. २०) च अर्जुनादयोऽपि अनेनैव देहेन स्वर्गं गताः परिगृहीताः. यदपि उक्तम् "आनन्दमानन्दमयोऽवसाने" (भाग.पुरा. २।२।३१) इति तदपि योगिनो लिङ्गभङ्गे विचार्यमाणे असङ्गतं भवति. यदपि उक्तं "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन" (भाग.पुरा. २।२।३४) इति तदपि वेदविचारे क्रियमाणे असङ्गतं भवति. यदि भगवान् आत्मा,

---

प्रकाशः

अर्थः. पुरुषाराधन-विधिप्रश्नाक्षेप्यम् आहुः **यदपि** इत्यादि. योगद्वयविधि-प्रश्नाक्षेप्यम् आहुः **स्थूले**त्यादि. **असङ्गतम्** इति, वृत्तिनिरोधे धारणायाअपि अपायात् तथा इति अर्थः. योगेश्वरैश्वर्यगति-प्रश्नाक्षेप्यम् आहुः **यदपि उक्तं स्थिरम्** इत्यादि. **इति** इति इत्यादिभिः सप्तदशभिः. **असङ्गतं भवति** इति. लिङ्गभङ्गो हि आत्मप्राप्तौ, ततः उत्तरम् अक्षरप्राप्तौ आनन्दमयत्वम् उक्तम्. तत्र जाते लिङ्गभङ्गे प्रतिबन्धस्य निवृत्तत्वात् तदव्यवहितोत्तरम् आनन्दमयत्वम् उचितम्. अतो विलम्बहेतोः अनिर्वाच्यत्वाद् "अवसाने" इति असङ्गतं भवति इति अर्थः. "भगवान् ब्रह्म" इत्यस्य आक्षेपे **वेदविचारे** इति, "मन्त्र-ब्राह्मणात्मकः शब्दो वेदः", "साङ्ग-यागादिधर्मात्मज्ञान-प्रतिपादको[२] अलौकिकः शब्दो वा वेदः" इति लक्षणपूर्वके तद्विचारे. असङ्गतिं व्युत्पादयन्ति **यदि** इत्यादि. तथाच भक्त्यर्थ-यत्नकरण-विमर्शस्य असङ्गत्या असङ्गतिः इति अर्थः. एवं द्वितीयाध्यायोक्तम् आक्षिप्तम्.

---

१. यदेति ख. २. प्रतिपादकालौकिकः इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

सिद्धमेव तस्मिन् प्रेम, उपदेशः च व्यर्थः. नास्ति चेत् प्रेम, तदा न सः आत्मा. अज्ञानाद् आत्मापि आत्मत्वेन न ज्ञातः इति चेत् परात्मवत्, तदापि आत्मत्वमेव उपदेष्टव्यं ; नच प्रेमार्थं यत्नः कर्तव्यः !

यदपि कामनाभेदेन देवतान्तरभजनम् उक्तं तदपि वेदादिविचारे असङ्गतम् इति तृतीयादिः, वेदे हि तदर्थम् अन्यदेव साधनं निरूपितम् इति. भक्त्यर्थनिरूपणन्तु भक्तिनिराकरणेनैव निराकृतम्. यदपि उत्पत्त्या विमर्शनम् उक्तं तदपि सम्प्लवादिविचारेण (श्लो. २१) निराकृतं भविष्यति. यद् इदं जगत् प्रलयं यास्यति प्रवृद्धं वा भविष्यति कारणे वा लीनं भविष्यति तदा किं भगवतः सकाशाद् उत्पत्त्या, स्वतएव उत्पद्यताम्, अन्यथा वा विशेषाभावात्? यदपि यज्ञादीनां स्वरूपनिर्वाहार्थं भगवदवयवकल्पना

प्रकाशः

अनेनैव तृतीयाध्याय-प्रमेयमपि आक्षिप्यते इति आहुः **यदपि कामने**त्यादि. **तृतीयादिः** इति तृतीयाध्यायाक्षेपारम्भः. असङ्गतौ हेतुम् आहुः **वेदे हि** इत्यादि. ननु पुराणादिसिद्धं तद् इति चेत्, तत्र आहुः **भक्ती**त्यादि. एवं यद्यपि असङ्गतिः नास्ति तथापि पूर्वं भक्तेः स्वतःसिद्धत्व-व्युत्पादनात् तस्याः साध्यत्वे निराकृते तथा इति अर्थः. सम्प्लवादिप्रश्नाक्षेप्यम् आहुः **यदपि उत्पत्त्या** इत्यादि. इदञ्च पञ्चमादित्रये अस्ति नतु चतुर्थइति तदनाक्षेपे [१]सप्ताध्यायाक्षेपकत्वं कथम् इति न शङ्कनीयं, तस्य अध्यायस्य नमन-प्रार्थनमात्र-परतया अनिर्णायकत्वाद्, उत्पत्तिविमर्शनेनैव तदर्थस्य गतार्थत्वाच्च. तदनाक्षेपेऽपि पञ्चमाद्याक्षेपेनैव आक्षिप्तप्रायतया प्रतिज्ञाभङ्गस्य अभावाद् इति. आक्षेपं व्युत्पादयन्ति **यद् इदम्** इत्यादि. **विशेषाभावाद्** इति, मतान्तरप्रतिपन्नस्य इव अस्यापि

लेखः

तृतीयाद्यर्थम् आक्षिपन्ति **यदपि कामना-** इत्यादिना. **तृतीयादिः** इति, तृतीयाद्यर्थाक्षेपः इति अर्थः. कुतः इति अपेक्षायाम् आहुः **वेदे हि** इति. **तदर्थम्** इति, कामनासिद्ध्यर्थम् इति अर्थः. **भक्तिनिराकरणेनैव**

---

१. सप्तमाध्याया- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

निरूपिता सापि इष्टापूर्तादिविचारेण निवारिता भवति. लौकिकैः अलौकिकैः वा पदार्थैः यागे निष्पन्ने भूतसंस्कारे आत्मसंस्कारे वा[१] भगवत्संस्कारे वा फलतो वा न कश्चिद् विशेषः, [२]भगवदीयत्वादेस्तु अन्यथैव सिद्धेः. यदपि उक्तम् आत्मानं सृजति इति, तदपि अनुशायिनां सर्गे (श्लो. २२) विचार्यमाणे निराकृतं भविष्यति, यतः ते भगवद्विलक्षणाः वक्तव्याः. यदपि उक्तं तत्त्वं परं [३]रूपवद् अस्वरूपम् इति तदपि पाषण्डधर्मे विचार्यमाणे निराकृतं भविष्यति. दैत्यानां व्यामोहनार्थे पाषण्डोत्पत्तिः. दैत्याः च के, भगवान् अन्यो वा? भगवान् चेत् सापि भगवल्लीला इति पाषण्डत्वमेव न स्यात्. भक्तिरपि निराकृता भवति. पाषण्डत्वेऽपि स्थिरीभूते न दैत्यानां भगवत्त्वम्. यदपि उक्तं "कर्णकषायशोषान्" (भाग.पुरा. २।६।४५) इति तदपि असङ्गतम्. चिदात्मनो बन्ध-मोक्षौ विचार्येते. बन्धो भगवदिच्छया

प्रकाशः

अनित्यत्वाद्यनपायाद् इति अर्थः. षष्ठाध्याये आक्षिपति इति आहुः **यदपि** इत्यादि. **भूतसंस्कारे** इत्यादि. अत्र तेन इति शेषो बोध्यः. तथाच विशेषाभावात् तत्कल्पनवैयर्थ्येन निवारिता इति अर्थः. ननु यज्ञादेः भगवदीयत्वाय तत्कल्पनम् इति चेत्, तत्र आहुः **भगवदीयत्वन्तु** इत्यादि. **अन्यथैव** इति, समर्पणेनैव इति अर्थः. **पाषण्डत्वमेव न स्याद्** इति, विधिभेदलीलावद् न स्याद् इति अर्थः. **निराकृता भवति** इति, दैत्यानां द्वेषादपि भगवत्प्राप्तेः

लेखः

इति, आत्मप्राप्त्यर्थं प्रयत्ननिराकरणेन इति अर्थः. **इष्टापूर्तादिविचारेण** इति. इष्टापूर्तादीनां लौकिकत्वेन भगवत्त्वाऽविधानेऽपि तत्फलस्य प्रतिपादनात् तन्न्यायो यागेष्वपि अवगन्तव्यः इति भावः. तदेव स्पष्टयन्ति **लौकिकैः** इत्यादि. **भगवत्संस्कारे** इति, भगवत्त्व-विधानात्मके संस्कारे इति अर्थः. **अन्यथा** इति, उद्देश्यदेवताद्वारा इति अर्थः. **न भगवत्त्वम्** इति. तथाच भगवतः सर्वात्मकत्वहानिः इति अर्थः ॥२६॥

---

१. वा नास्ति घ. २. भगवदीयत्वन्तु अन्यथैव सिद्धम् इति प्रकाशे - सम्पा.

३. रूपमिति ख.

मोक्षश्च, तत्र किं कर्णकषायशोषणेन! भिन्नतया च[१] अवस्थाने निरूपिते सर्वमेव साधनं व्यर्थं स्याद्, भगवद्रूपत्वात् तस्य. अवतारवर्णनं च व्यर्थं ; भगवतो मायायां क्रीडनमेव तादृशम् इति सर्वमेव जगद् अवतारो भवति, किं विशेषेण! मायापरित्यागे[२] अवतारलीलामपि परित्यजेत्. यदपि उक्तं ''त्वमेतद् विपुलीकुरु'' (भाग.पुरा. २।७।५१) इति तदपि न वक्तव्यम्. यथा भवान् भक्तिरसेन वदति तत् किं कस्यचित् प्रेरणया? प्रामाण्यञ्च त्वय्येव सिद्धं, तद् आह ''अत्र प्रमाणम्'' (श्लो. २५) इति. यदपि उक्तं ''मायां वर्णयतः, आत्मा न मुह्यति'' (भाग.पुरा. २।७।५३) इति तदपि अल्पम् असङ्गतञ्च, यतो मम प्रायेणाऽपि प्राणाः न गच्छन्ति, श्रूयमाणमपि तक्षको भक्षयिष्यति.

एवं पूर्वपक्षे कृते भगवन्माहात्म्ये[३] स्थिरीकृते शुकस्य सन्तोषएव जातो, न क्रोधः इति आह.

।। सूतः उवाच ।।

स उपामन्त्रितो राज्ञा कथायामिति सत्पतेः ।।
ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि ।।२७।।

सः उपामन्त्रितः इति. **सः** शुकः **(राज्ञा!) उपामन्त्रितः** प्रार्थितः,

---

प्रकाशः

उक्तत्वाद् निराकृता भवति इति अर्थः. ''व्यवस्थानं स्वरूपतः'' (श्लो. २२) इत्यस्य आक्षेप्यम् आहुः **भिन्नतया** इत्यादि. **व्यर्थं स्याद्** इति, तस्य स्वरूपावस्थानस्यापि भगवद्रूपत्वात् तेषां भगवत्त्वे ब्रह्मानेकत्वापत्त्या भेदवादापत्त्या वा भयनिवृत्त्यभावात् तथा स्याद् इति अर्थः. अतः परं ''यथात्मतन्त्र'' (श्लो. २३) इति पद्येन सप्तमाध्यायः आक्षिपति इति आहुः **अवतारेत्यादि**. **तादृशम्** इति अवताररूपम्. ननु तदवताररूपस्य परित्यागाभावाद् विशेषो न अप्रयोजकः इत्यतः आहुः **मायेत्यादि**. **प्रामाण्यम्** इति प्रेरणाक्षेपक-मद्वाक्यप्रामाण्यम्. **श्रूयमाणम्** इति 'उपेन्द्रदत्त'पदेन भगवद्भक्तगणे श्रूयमाणम् ।।२६।।

---

१. वावस्थाने ख. २. -त्यागे वा ख. ३. -न्महात्मनेति ख.

''उपामन्त्रयन्त राज्येन पितरो यमम्'' (तैत्ति.संहि. २।६।६।५) इत्यत्र तदर्थनिर्धारात्. **इति**[1] एवंप्रकार**कथायां,** युक्तिपूर्वकं[2] भगवद्गुणाः निरूपणीयाः इति. तथा सति भगवतो महत्सुखं भवति, **सत्पतित्वात्**. तथा सति[3] निःसन्दिग्धो भगवल्लीलाप्रत्ययो भवतीति भगवत्तोषहेतुः अयं प्रश्नः इति भावः. तत्रापि अयं **ब्रह्मरातः** ब्रह्मणा वेदेन रक्षितः, ''अस्मदर्थे युक्तिम् अयं कथयिष्यती''ति. अतएव **भृशं प्रीतः,** मम जन्मसाफल्यं जातमिति. राजा च **विष्णुरातः**. विष्णुना एतदर्थमेव अयं संरक्षितः यद् ''अयं क्षोदपूर्वकं[4] निःसन्दिग्धं मां ज्ञास्यती''ति. अतएव स्वजन्म-साफल्यार्थं **(संसदि!)** सभायामेव पृष्टवान् ॥२७॥

एवं युक्तिपूर्वकं भगवत्कथायां वक्तव्यायां लौकिकी युक्तिः [5]अप्रयोजिकेति उपपत्तिरूपं भागवतमेव उक्तवान् इति आह.

प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ॥
ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्मकल्प उपागते ॥२८॥

प्राह भागवतं नाम इति. **पुराणम्** इति प्रमाणम्. **ब्रह्मसम्मितम्** इति [6]युक्तिसहितम्. ननु कति भागवतानि सन्ति ; बहुषु स्थलेषु भिन्नप्रकारेण

प्रकाशः

सः उपामन्त्रितः इत्यत्र. **अस्मदर्थे** इति वेदार्थे ॥२७॥

प्राह इत्यत्र. **युक्तिसहितम्** इति. ''तद् एनम् अधीनोत् तद् दध्नो दधित्वं'' (तैत्ति.संहि. २।५।३।४) - ''पञ्चदशाहानि माशीः'' (छान्दो.उप. ६।७।१) इत्याद्याः युक्तयो वेदे उक्ताः तद्वद् इदमपि तत्तुल्यतया

लेखः

सः उपामन्त्रितः इत्यत्र. **क्षोदपूर्वकम्** इति, गुप्तार्थस्य उत्खननपूर्वकम् इति अर्थः ॥२७॥

---

१. इतीति एवमिति घ.   २. युक्तिपूर्वमिति मुद्रितपाठः. खपाठे तु एवम् - सम्पा.

३. सतामिति घ.   ४. क्षोदपूर्वमिति मुद्रितपाठः. ख-ग-लेखे तु एवम् - सम्पा.

५. अप्रयोजकेति घ.   ६. उक्ति- इति मुद्रितपाठः. प्रकाशे तु एवम् - सम्पा.

[१]भागवतकथनात् शङ्का, तत्र आह **ब्रह्मणे भगवता प्रोक्तम्** इति. विषयात्मकन्तु भागवतम् अनेकधा, [२]विमर्शात्मकन्तु द्वेधा. तत्र उत्पत्तिप्रकारेण निरूपितं ब्रह्मणा नारदाय उक्तम्, उपपत्तिप्रकारेण तु **ब्रह्मणे भगवता प्रोक्तम्**. अत्र स्थूले भागवते सर्वे प्रकाराः उपनिबध्यन्ते भागवतप्रवृत्तेः अनेकधात्व-ज्ञापनाय. तत्र अन्यस्य पदार्थस्य ब्रह्मणा स्वयमेव ज्ञातत्वाद् उपपत्तिः परं वक्तव्या, न अन्यद् इति वक्तुं **ब्रह्मकल्पे उपागते** इति उक्तं, ब्रह्मकल्पे समागते. तत्र हि शब्दब्रह्मणएव [३]सर्वोत्पत्तिः, या उपपत्तिः भागवते वर्तते ॥२८॥

प्रकाशः

तादृग्युक्तियुक्तम्. **विषयात्मकम्** इति भगवज्ज्ञापक-लीलात्मकम्. तस्य द्वादशस्कन्धात्मके श्रीभागवते तदुभयकथनप्रयोजनम् आहुः **अत्र** इत्यादि. **शब्दब्रह्मणएव उत्पत्तिः** इति. तस्मिन् कल्पे भगवता ब्रह्मा उत्पाद्यते पाठ्यते च, "यो ब्रह्माणम्" (श्वेताश्व.उप. ६।१८) इत्यादि श्रुतेः. वेदानाम् आनन्त्याच्च भूयान् कालः तत्र लगति. तथाच अस्य शब्दब्रह्मत्व-बोधनाय तं कल्पमन्त्रं बोधितवान् इति अर्थः ॥२८॥

लेखः

विषयात्मकम् इति, वर्णनविषयभूत-भगवच्चरित्रनिरूपकम् इति अर्थः ॥२८॥

---

१. -प्रकारेण कथनादिति ग. २. विमर्षात्मकमिति ख.
३. एवोत्पत्तिरिति घ-प्रकाशे - सम्पा.

ततो अन्यविषयोऽपि प्रश्नइति भागवतात् पृथगेव तं परिहृत्य पश्चाद् भागवतोपपत्तिं वक्ष्यति इति आह.

यद्यत् परीक्षिद् ऋषभः　पाण्डूनामनुपृच्छति ।।
आनुपूर्व्येण तत्सर्वं　वक्तुं च उपचक्रमे ।।२९।।

।। इति श्रीभागवत-द्वितीयस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ।।

यद्यत्परीक्षिद् इति. **पाण्डूनाम् ऋषभः** भगवद्भक्तानां मध्ये मुख्यः **यद्यद् अनुपृच्छति** पूर्वोक्तहेतु-प्रश्नादिरूपम् **आनुपूर्व्येणैव तत्सर्वं वक्तुम् (उपचक्रमे!)** उपक्रमं कृतवान्, यथाकाङ्क्षम् उत्तराणि दत्तवान् इति अर्थः. **च**काराद् अधिकामपि युक्तिम् उक्तवान् इति भावः ।।२९।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे अष्टमाऽध्यायविवरणम्

प्रकाशः

यद्यद् इत्यत्र. **प्रश्नः** इति जीवस्वरूपादि-विषयको राजप्रश्नः. **परिहृत्य** इति पूर्वं समाधाय ।।२९।।

।। इति श्रीद्वितीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे अष्टमाध्यायविवरणम् ।।

लेखः

यद्यद् इत्यत्र. **भागवतात् पृथगेव** इति. ... ।।२९।।

।। इति द्वितीये अष्टमाध्यायः ।।

।। इति अष्टमोऽध्यायः ।।

॥ अथ नवमोऽध्यायः ॥

नवमे तूत्तरं प्राह जीव-ब्रह्मस्वरूपयोः ॥
सन्देहवारकं पूर्वकथनस्याऽपि वस्तुताम् ॥(१)॥
पारम्पर्यकथा चाऽस्य शुद्ध्याधिक्येऽवगम्यते[1] ॥
नाऽन्यथेत्यस्य सन्देहनाशनाय निरूपिता ॥(२)॥

प्रकाशः

अथ नवमाध्यायं विवरिषवः पूर्वाध्यायं सङ्गमयितुम् एतदध्यायार्थम् आहुः **नवमे** इत्यादि. कारिका तु स्फुटार्था. तथाच आक्षेपसमाधानभावः[2] सङ्गतिः इति अर्थः (१). ननु अत्र अग्रे पारम्पर्यकथा किमिति उक्ता इति आकाङ्क्षायां तत्कथनप्रयोजनम् आहुः **पारम्पर्ये**त्यादि. **अस्य** जीवस्य **शुद्ध्याधिक्ये** सति भगवदुक्तो अर्थो **अवगम्यते, नतु (अन्यथा!)** प्रकारान्तरेण **इति** हेतोः **अस्य** राज्ञः **सन्देहनाशनाय** उपलक्षणविधया सन्देहान्तरानुत्पत्तये च **पारम्पर्यकथा निरूपिता** इति अर्थः (२).

लेखः

अथ नवमाध्यायं विवरिषवः प्रसङ्गसङ्गतिं बोधयितुं तदर्थं ग्राहयन्ति **नवमे** इत्यादि. **जीव-ब्रह्मस्वरूपयोः सन्देहवारकम् उत्तरं नवमे** सकलप्रश्नोत्तरेषु पूर्वम् आह. तथा **पूर्वकथनस्य** स्थूलरूपादि-वर्णनरूपस्य वास्तवत्व**मपि आह** इति सम्बन्धः (१). अन्ते श्रीभागवतपरम्परा-कथनस्य तात्पर्यं वदन्ति **पारम्पर्ये**ति. श्रोतृ-वक्त्रोः **शुद्धेः आधिक्य**एव श्रीमद्भागवतम् **अवगम्यते, न अन्यथा इति** यो निर्णयः तस्य **सन्देहनाशनाय अस्य** श्रीभागवतस्य **पारम्पर्यकथा निरूपिता** इति अर्थः. तथा ब्रह्मा-नारद-व्यास-शुकादीनाम् अतिशुद्धानामेव यथायथं श्रोतृ-वक्तृत्वोक्त्या पूर्वसंशयो नङ्क्ष्यति इति भावः (२).

---

१. शुद्धाधिको ग. -क्यवगम्यते इति मुद्रितपाठः. सं-मा.१-मा.२-प्रकाशे-लेखे तु एवम् - सम्पा.

२. -समाधानभवा इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

अन्येषां सन्देहानां जीव-ब्रह्मसन्देहमूलत्वात् प्रथमं जीवसन्देहं वारयति **आत्ममायामृते** इति त्रिभिः. यत् तेन उक्तं "यदधातुमतो ब्रह्मन्" (भाग.पुरा. २।८।७) इति, अस्य जीवस्य देहसम्बन्धः कथम् इति – जीवत्वं[१] कथम् इति अन्यशब्देन प्राप्तं – तत्र जीवत्वे जाते बहवो हेतवो भविष्यन्ति देहसम्बन्धे इति प्रथमं जीवत्वम् उपपादयति **आत्ममायाम् ऋते** इति.

।। श्रीशुकः उवाच ।।

आत्ममायामृते राजन् परस्याऽनुभवात्मनः ।।
न घटेताऽर्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाऽञ्जसा ।।१।।

तत्र सदानन्दरूपो भगवान् एककोटिनिविष्टः, चिद्रूपः च अपरः. तस्य माया[२] द्विविधा इति पूर्वं निरूपितम्. तत्र चिद्रूपस्य माया[३]

प्रकाशः

आत्ममायाम् इत्यत्र. एवं कारिकायाम् अध्यायार्थं सङ्गृह्य व्याख्यातुम् अवतारयन्तः प्रथमं जीवसन्देहवारणे हेतुम् आहुः **अन्येषाम्** इत्यादि. एवञ्च जीवसन्देहनिवृत्तेः ब्रह्मज्ञानोपकारकत्वाद् राज्ञा पूर्वं तदर्थमेव प्रश्नस्य कृतत्वाच्च पूर्वं तदेव वारयति इति अर्थः. **अन्यशब्देन प्राप्तम्** इति प्राणधारण-बोधकशब्देन प्राप्तम्. **तत्र** इति तादृश्याम् आशङ्कायाम्. **इति** इति अस्माद् हेतोः. कथं जीवत्वम् उपपादयति इति आकाङ्क्षायां सृष्टिप्रक्रियाज्ञानं विना दुर्बोधस्य शुकवाक्याशयस्य बोधनार्थं वैदिकीं सृष्टिप्रक्रियाम् उपपादयिष्यन्तः पूर्वं जीवत्वम् उपपादयन्ति **तत्र** इत्यादि. **तत्र** इति सच्चिदानन्दरूपे[४] ब्रह्मणि. **तस्य** इति सच्चिदानन्दरूपस्य. कथं व्यामोहिका इति आकाङ्क्षायां कार्यद्वारा

लेखः

आत्मेत्यत्र. अन्यशब्देन इति, 'जीव'शब्दप्रयोगमात्रेण जीवत्वं कथं प्राप्तम् इति अर्थः. **तत्र जीवत्वे** इति, 'जीव'शब्दवाच्ये जीवत्वे सिद्धे सति **तत्र** देहसम्बन्धे **हेतवो** अविद्यादयो हेतवो **बहवः** इति अर्थः. **सदानन्दरूपः** इति, सद्विशिष्टः आनन्दरूपः इति अर्थः. **पूर्वं निरूपितम्**

---

१. वा इति अधिकम् अत्र सं-मा.१ पाठयोः - सम्पा. २. मायापीति ख.

३. या माया सेति ख. ४. सच्चिदानन्दे इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

व्यामोहिका, सा स्वपुरुषं व्यामोहयित्वा जीवताम् आपादयति इति. जीवति इति जीवः केवलं प्राणधारण-प्रयत्नवान्. सहि मायया व्यामोहितो व्याकुलः सन् सदानन्दकृत-सृष्टौ यः सूत्रात्मकः आसन्यो दशविधप्राणरूपः तम् अवलम्ब्य तिष्ठति तदा "जीवः" इति उच्यते. "जीव प्राणधारणे" (पाणि.धा.पा. भ्वादि. ५६३) इति धातोः कर्तरि अच्प्रत्ययः. बोधरूपोऽपि अयम् आनन्दरूपस्य पृथग्भूतत्वाद् आनन्दार्थं तया व्यामोहितः "तत्सम्बन्धाद् आनन्दो भविष्यति" इति बुद्ध्या तया सम्बध्यते. अयञ्च विभागो

प्रकाशः

तथात्वम् आहुः **सा** इत्यादि. **स्वपुरुषम्** इति स्वाभिमानिनम्. का नाम जीवता इत्यतः आहुः **जीवति** इत्यादि. **दशविधप्राणरूपः** इति. अपानादीनां तद्भेदत्वाद् वा दशेन्द्रियाणि 'प्राण'शब्दवाच्यानि रूपयति उपष्टम्भयति इति वा तथा. शब्दनिष्पत्तिप्रकारम् आहुः **जीव प्राणे**त्यादि. तथाच पूर्वोक्तं लक्षणम् उपपन्नम् इति अर्थः. ननु ज्ञानरूपस्य कथं व्यामोहः इत्यतः आहुः **बोधे**त्यादि. तथाच तत्सम्बन्धादेव व्यामोहः इति अर्थः. एतावान् अर्थः "आत्ममायाम्" इति श्लोके सङ्गृह्यते. ननु* इदं तदा उपपद्यते यदा सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणो विभागादिकं प्रामाणिकं भवेद्, अन्यथा तु क्वचिद् अनाद्यविद्यावच्छिन्नत्वादिना यः – प्रस्थानान्तरे च "नित्यो नित्यानाम्" (श्वेताश्व.उप. ६।१३, कठोप. २।२।१३) इत्यादि श्रुतिभिः दर्शनान्तरेषु च – नानात्मानो व्यवस्थातः पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः इति बन्धमोक्षादि-व्यवस्थारूपया युक्त्या नित्यभिन्नाः ते जीवाः अङ्गीकृताः इति आगन्तुकी जीवता न उपपद्येत *इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अयञ्च** इत्यादि. अत्र हि तैत्तिरीयादिश्रुतौ इच्छायाः आकारद्वयम् उक्तम्. तत्र प्रथमेन विभागः प्राप्तः. सएव बृहदारण्यके "यथाग्नेः क्षुद्राः

लेखः

इति. ... . **सहि** इति, चिदंशः इति अर्थः. **पृथग्भूतत्वाद्** इति, व्युच्चरणदशायां तथाभूतत्वाद् इति अर्थः. **आनन्दार्थम्** इति. **तया** मायया **व्यामोहितः** चिदंशः "प्राणसम्बन्धाद् आनन्दो भविष्यति" **इति बुद्ध्या आनन्दार्थं** प्राणधारणयत्नवान् जीवः सम्पद्यते इति अर्थः. **अयञ्च विभागः**

"बहु स्यां प्रजायेय" (छान्दो.उप. ६।२।३) इति इच्छया. इच्छाऽपि

प्रकाशः

विस्फुल्लिङ्गाः व्युच्चरन्ति" (बृहदा.उप. २।१।२०) इत्यादिना उच्यते. द्वितीयेन च उच्च-नीचभावः, अन्यथा बहुत्वस्य पूर्वम् उक्तत्वात् तेनैव जननबाहुल्यस्यापि अर्थबलादेव प्राप्तेः को वा प्रकर्ष-पदार्थः स्यात्! पुरुषविधब्राह्मणे ब्रह्म-क्षत्रादिरूपता-विवरणेन तस्य बोधितत्वाच्च. अतः उच्च-नीचभावएव 'प्र'शब्दार्थः.

नच "नित्यो नित्यानाम्" इति श्रुतिविरोधः, एतदग्रे "चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्" इति श्रावणात् चेतनतया बहुत्वस्य नित्यत्वस्य भानेन जीवतया तथात्वस्य अनभिप्रेतत्वात्. नच विभागात् पूर्वं बहुत्व-विरोधापत्तिः, आकाश-तत्प्रदेशयोरिव तादात्म्याद् अविभागदशायामपि तदुपपत्त्या विरोधाभावाद् इति. नच साङ्कर्यापत्तिः[१], स्वभावभेदस्य 'प्रजायेय' इति इच्छोत्तरकालीनत्वेन पूर्वं तस्य अभावे मुक्तौ तन्निवृत्तौ मध्ये च तद्विवेकेन तस्य[२] कदापि आपादयितुम् अशक्यत्वात्. नच ब्रह्मणो दुःखानुभवाद्यापत्तिः, आपाद्यमानस्य सर्वस्य तदात्मकत्वाद् "न अग्नेः हि तापो न हिमस्य तत् स्याद्" (भाग.पुरा. ११।२३।५६) इति भिक्षुगीताप्रोक्त-न्यायेन तस्यापि अभावाद् इति. नच व्यवस्थाविरोधः, भगवदिच्छयैव उपपत्तेः. इदं यथा तथा "अपरिमिता ध्रुवाः तनुभृतो यदि सर्वगता" (भाग.पुरा. १०।८४।३०) इति वेदस्तुतिश्लोके व्युत्पादितम् आचार्यचरणैः. तदेव जीवव्यापकत्व-खण्डने मयापि प्रपञ्चितम्. अनाद्यविद्यावच्छिन्नत्व-वादस्तु "अविद्यया बन्धः" (भाग.पुरा. ४।२९।७८) इत्यादि श्रुति-पुराणेषु तस्याः करणत्वबोधनात् तस्य च पूर्वभावित्वं विना अनिर्वाहाद् विद्वन्मण्डनएव दूषितइति पूर्वोक्ते अर्थे न कोऽपि शङ्कालेशः.

अयञ्च इत्यत्र चकारो विभागान्तरस्यापि समुच्चायकः. ननु का नाम इच्छा ; स्वरूपं वा अन्यद् वा? आद्ये स्वरूपस्य नित्यत्वेन तस्याः

१. जीवत्वम् ईश्वरत्वं च एकस्मिन्नेव पदार्थे सङ्कीर्णम् इति अर्थः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.   २. साङ्कर्यस्य : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

सर्वभवनसमर्थं[१] स्वरूपमेव ; धर्मरूपेण भवद् इच्छारूपेणाऽपि भवति. तत्र सदंशस्य क्रियारूपा शक्तिः, चिदंशस्य व्यामोहिका माया, आनन्दरूपस्य जगत्कारणभूता. एतत्त्रितयरूपा शक्तिः सच्चिदानन्दरूपस्य भावः

प्रकाशः

तदाकारस्य तथात्वाद् [२]जीवभेद-तत्स्वभावभेदादेरपि तथात्वात् पूर्वोक्त-साङ्कर्यादि-दोषापत्तिः, ततः च भेदवादएव विश्रान्तिः ! द्वितीये तु तस्याअपि कारणान्तरं मृग्यमिति तेनैव भेदवादे विश्रान्तिः, इच्छायाः अनित्यत्वापत्तिश्च इति शङ्कायाम् आहुः **इच्छापि** इत्यादि. तर्हि कथं तत्र 'इच्छा'पदप्रयोगः इत्यतः आहुः **धर्मे**त्यादि. तृतीयस्य द्वितीयपादे "येन अश्रुतं श्रुतं भवति" (छान्दो.उप. ६।१।३) इत्यादि श्रुतीनाम् उपपत्त्यर्थं द्वेधा विचारितम्. तत्र उभयलिङ्गाधिकरणे (ब्रह्मसूत्र ३।२।११) नानाप्रकारमपि ब्रह्म अहिकुण्डलन्यायेन स्वरूपबलादेव विरुद्धधर्माश्रयं भवतीति भेदापत्त्यभावात् प्रतिज्ञाश्रुतिः प्रमाणबलविचारेण उपपादिता. तदनन्तरं "पूर्ववद् वा" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२९) इति अधिकरणे असङ्गोदासीनमेव पूर्वं ब्रह्म ततो धर्मरूपेण ततः शक्तिरूपेण ततः कार्यरूपेण च भवति इत्येवमपि भेदस्य आगन्तुकत्वेन पूर्वम् अभावात् पाश्चात्यं न्यक्कृत्य[३] पूर्वरूपबोधेऽपि तदुपपत्तिरिति प्रमेयबलविचारेण विचारितम्. अयञ्च उपपादनप्रकारभेदो मुख्यानाम् इतरेषाञ्च अधिकारिणां बोधार्थम्. अत्रापि दशमाध्याय-समाप्तौ अधिकारिभेदेन प्रकारभेदो वक्ष्यते. अतः उभयथा [४]इच्छादिपदप्रयोगोपपत्तिः अभेदवादोपपत्तिश्च इति अर्थः. ऐच्छिक-बहुभवनप्रकारं विशदयन्तः पूर्वं शक्तेः तथात्वम्[५] उपपादयन्ति **तत्र** इत्यादि. "परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वेताश्व.उप. ६।८) इति श्वेताश्वतरे त्रैविध्यश्रावणात् सदंशस्य क्रियारूपा, चिदंशस्य ज्ञानरूपा, आनन्दस्य स्वरूपबलरूपा. वैविध्यश्रावणात्

१. -समर्थस्वरूप- इति ख. २. जीवभेदस्य इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

३. गौणीकृत्य : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

४. इच्छादि- इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

५. बहुरूपत्वम् : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

त्वतलादिवाच्यः[१]. तथा[२] भगवतो भावस्तु स्वरूपादेव निर्मितात्[३]. नच सर्वदा भवति इति शङ्कनीयम्, आपादकहेतुभूतस्य कालस्य अभावात्.

प्रकाशः

त्रिविधायाअपि वैविध्येन बलशक्तेः विश्लेषेण [४]तथात्वं, ज्ञानशक्तेः माया-ऽविद्यादिभेदेन, क्रियाशक्तेरपि स्वांशक्रियाभेदेन. तदेतद् उक्तं **तत्र** इत्यादिनेति न कोऽपि शङ्कावकाशः. ननु इच्छादिभवने विचार्यमाणे तत्र निमित्तान्तरापेक्षया पूर्वोक्तदूषणापत्तिः इति शङ्कायाम् आहुः **तथा भगवतः** इत्यादि. **तथा भावः** इति शक्तिरूपेण भवनम्. ननु एवं सति स्वरूपस्य नित्यत्वात् सहकार्यनङ्गीकाराच्च शक्तीनामपि नित्यत्वेन द्वैतवादापत्तिः, सर्वदा इच्छापत्त्या असङ्गोदासीनत्वाभाव-प्रसक्तिः, अप्रतिहतेच्छत्वात् तिरोभावा-नवसरेण सर्वदा सृष्ट्यापत्तिश्च इति चेत्, तत्र आहुः **नच** इत्यादि. **भवति** इति शक्तिरूपं भवति. नच "सदेव सौम्य इदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्" (छान्दो.उप. ६।२।१) इत्यादि श्रुतौ कालस्य[५] उक्तत्वेन सर्वदा तत्सत्तावगमात् तदभावो न शक्यवचनः इति शङ्क्यं, बोधनार्थमेव तथोक्तेः[६].

नच अत्र मानाभावः. तथाहि— किम् अत्र कालसत्ता विधीयते[७]

लेखः

इति, आनन्दांशाद् विभागः इति अर्थः. **तथा भगवतो भावः** इति.

---

१. भावत्वतलादिवाच्या इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु खपाठानुसारेण - सम्पा.

२. स्वरूप > धर्म > शक्तिः > शक्यं = कार्यम्. शक्तिरूपेण भवनं तथाभावः - सम्पा. ३. निर्मितत्वादिति ख. ४. विविधत्वम्. मूलभूता बलशक्तिः विश्लिष्टा सती विविधबलरूपा भवति इति अर्थः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

५. "अग्रे" इति पदोक्तत्वेन : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

६. "अग्रे"पदोक्तेः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

७. अत्र वेदान्तेषु प्राथमिकबोधनमेव 'विधानम्' इति उच्यते, नतु कर्मणीव नियोगः ; सिद्धस्य पदार्थस्य कर्तव्यत्वाभावाद्, अभिव्यक्तस्य अभिव्यङ्ग्यत्वाभावाद् वा : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

प्रकाशः

उत [1]अनूद्यते? न आद्यः, वाक्यभेदप्रसङ्गात्. न इतरः, एतासां सृष्ट्यादिवृत्तान्त-बोधकत्वेन एतदपेक्षया अन्यासां पुरोवादत्वस्य अशक्यवचनत्वेन अनुवादस्य दूरापास्तत्वात्. नच कालविशिष्ट-ब्रह्मसत्ता विधीयते अतो न दोषः इति वाच्यं, गौरवाद् अवधारणान्तरविरोधापाताच्च. नच अवधारणान्तरस्य मुख्यान्यसत्तानिवारकत्वात् न विरोधः इति वाच्यं, तथा सति समाभ्यधिकराहित्यस्य [2]ततएव सिद्धेः न्यूनद्वितीयसत्तायाः उपगतत्वाच्च 'अद्वितीय'पदव्याकोपस्य दुर्निवारत्वापत्तेः. अतः तत्र कालोक्तिः सृष्ट्युत्तर-व्यवहारानुसारेण सर्वाधारतया प्रतीयमान-कालोपरञ्जनेन[3] शिष्यस्य पूर्वकाल-वृत्तान्त-बोधनार्थैव, अन्यथा शिष्यस्य सृष्टिकालस्थत्वात् कालसत्ताम् अवधारयतः पूर्ववृत्तान्त-बोधाभावे अनुशासनवैयर्थ्यप्रसङ्गात्. यदि च ''आत्मा वा इदम् एक एव अग्रे आसीत् न अन्यत् किञ्चन मिषद्'' (एत.उप. १।१) इत्यत्र इव[4] उक्तश्रुत्यादौ मिषद्द्वितीयनिषेधः[5] स्वीक्रियेत तदापि प्रतिज्ञा-दृष्टान्तोत्तमपुरुषाणां[6] विरोधो दुर्वारएव. तस्मात् सृष्ट्यादौ कालस्य अभावाद् न पूर्वोक्तशङ्कावकाशः. तथाच यदि कालः इच्छदिभ्यः पूर्वः स्यात्, ''सदेव'' इत्यादि श्रुतौ इतरनिषेधो न स्यात्. सः[7] यदि धर्मान्तरप्रयुक्तः

१. वाक्यान्तरबोधितस्य तत्र किञ्चिदन्यबोधनार्थं पुनर्बोधनम् अनुवादः :इति मा.पाठे पादटिप्पणी -सम्पा. २. मुख्यान्यसत्तानिवारकावधारणान्तरादेव :इति मा.पाठे पादटिप्पणी -सम्पा. ३. यथा मञ्जिष्ठेन उपरञ्जितं वस्त्रं मञ्जिष्ठवर्णं भाति एवं पाश्चात्यकालेन उपरज्य बोधितः पूर्वकालोऽपि पाश्चात्यइव भाति, ब्रह्मणो व्यापकत्वस्य विलक्षणत्वेऽपि आकाशइव बोधनवद्, इति अर्थः :इति मा.पाठे पादटिप्पणी -सम्पा. ४. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति -सम्पा. ५. द्रष्टरि द्वितीयनिषेधः :इति मा.पाठे पादटिप्पणी -सम्पा. ६. मिषद्द्वितीयनिषेधेऽपि अमिषतां बहूनां विद्यमानत्वाद् एकविज्ञानेन पूर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधः. मृत्पिण्डादिदृष्टान्तेन उच्यमानं ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वं विरुद्ध्यते. ''बहु स्यां प्रजायेय'' इत्यत्र आख्यातोत्तमपुरुषकार्य-कर्तृभूतात्मशब्दार्थभूतस्य स्वस्य बहुभवनम् उच्चनीचभावश्च उच्यमानो विरुद्ध्यते इति अर्थः :इति मा.पाठे पादटिप्पणी -सम्पा. ७. निषेधः :इति मा.पाठे पादटिप्पणी -सम्पा.

जाते पुनः काले तस्यैव नियामकत्वाद् न सर्वदा भविष्यति. पूर्वमेव जातत्वात् तत्सङ्गे इच्छादीनामपि जातत्वाद् इच्छादयः तदंशभूताः तान्

प्रकाशः

स्याद्, उक्तश्रुतौ प्रतिज्ञादिकं न उक्तं स्यात्. यस्माद् एवं तस्माद् न सत्. तदभावे[१] च आपादकत्वाभावाद् न सर्वदा इच्छापत्तिः इति न कोऽपि दोषः इति अर्थः.

ननु तथापि ''तदैक्षत'' (छान्दो.उप. ६।२।३) ''सोऽकामयत'' (तैत्ति.उप. २।६) इत्यादौ विशेषणत्वेन कालस्य अनूदितत्वाद् इच्छादीनां नाशस्य अनुक्तत्वाच्च तदुत्तरम् इच्छायाः नित्यत्वे सर्वदा सृष्टिप्रसङ्गः इति असङ्गोदासीनता निवर्ततएव इत्यतः आहुः **जाते** इत्यादि. **नियामकत्वाद्** इति स्वातन्त्र्यविघटकत्वात्. तथाच तदानुकूल्ये भविष्यति, औदासीन्ये प्रातिकूल्ये च न भविष्यतीति न तथा इति अर्थः. ननु इच्छानियामकस्य कालस्य पश्चाद्भावित्वे ततः पूर्वं तस्याः स्वातन्त्र्ये [२]यत्न-विभागयोरपि सिद्धेः पूर्वोक्तदूषण[३]-तादवस्थ्यम् इत्यतः आहुः **पूर्वमेव** इत्यादि. नहि कालः इच्छादिभ्यः पश्चाद् जायते, श्रुतौ इच्छादिविशेषणत्वेनैव उक्तत्वात्. नच ''सदेव'' इति श्रुतिसन्दर्भबोधितं बोधनार्थत्वम् इह वक्तुं शक्यं, तन्नियामकस्य 'अद्वितीया'दिपदस्य अत्र अभावात्. नापि ''सर्वे निमेषा जज्ञिरे'' (तैत्ति.आर. १०।१।२, महाना.उप. १।८) इत्यादि श्रुत्या पाश्चात्यत्वं शङ्क्यं, कालावयवानामेव तत्र उक्तत्वात्. अतो अवयवविभाग-रहितस्य तस्य अन्यकार्याद्यपेक्षया **पूर्वमेव जातत्वात् तत्सङ्गे इच्छा**-प्रयत्न-विभागानामपि **जातत्वाद् इच्छादयो** विशेषणीभूतस्य कालस्य विशेष्यतया **अंशभूताः**. **तान् सदा एकरूपान्** सहाविर्भाव-तिरोभावशालिनः परस्परोपकारिणश्च भगवान्

लेखः

... . **तस्यैव** इति, कालस्य इति अर्थः. **पूर्वमेव** इति, इच्छातः

१. कालाभावे : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.　२. जीवादिविभागानुकूलयत्न-जीवविभागयोः इति अर्थः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.　३. असङ्गोदासीनत्व-निवृत्तिरूपं पूर्वोक्तं दूषणम् इति अर्थः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

सदा एकरूपान् स्थापयन्ति. तथाच तस्याः अंशं परिगृह्णाति भगवान् इच्छारूपम्. सएव कामः ''सोऽकामयत'' (तैत्ति.उप. २।६) इति श्रुत्युक्तः. तया कृत्वा भेदरूपया सच्चिदानन्दाः धर्माः स्वयं भिद्यमानाः स्वाश्रयमपि भिन्दन्ति. तदा सः भगवान् सर्वतः पाणिपादान्तो भवति, साकारताञ्च आपद्यते. भिन्नोऽपि तया मिलितः अभिन्नइव अखण्डो भवति, तदपेक्षया

प्रकाशः

स्वयमेव स्थापयति. अतो भगवन्नियम्यत्वाद् न कोऽपि दूषणावकाशः इति अर्थः. ननु ''बहु स्याम्'' इति श्रुतेः कामम् उपक्रम्य पठितत्वाद् ''इच्छया विभागः'' इति कथम् उच्यते? इति आशङ्कायाम् आहुः **तथाच** इत्यादि. ''बहु स्याम्'' इत्याद्युक्तप्रकारेणैव कालशक्तेः **अंशं भगवान् परिगृह्णाति इच्छारूपम्**. [१]**सएव** सः, कोशेषु तस्य इच्छानामस्वेव पाठात्, कर्मणीव विचारे शब्दान्तरेण अभिलापस्य अदुष्टत्वात्. अतएव तत्त्वसूत्रे ''अभिध्योपदेशाद्'' (ब्रह्मसूत्र १।४।२४) इति सूत्रितम्. अतः इच्छया इति कथनेऽपि अदोषः इति अर्थः. एतावता परत्वं निर्णीतम्. एवम् इच्छाम् उपपाद्य तस्याः विषयम् उपपादयन्तः पुरुषत्वं निर्णयन्ति **तया** इत्यादि. **स्वयं भिद्यमानाः स्वाश्रयमपि भिन्दन्ति** इति. धर्मरूपेण स्वयं भिद्यमानाः ''प्रकाशाश्रयवद् वा'' (ब्रह्मसूत्र ३।२।२८) इति न्यायेन स्वाश्रयं क्रियावन्तं, ज्ञानिनम्, आनन्दिनञ्च कुर्वन्ति इति अर्थः. तदानीन्तनस्वरूपम् आहुः **तदा** इत्यादि. **सः** इति त्रिरूपोऽपि. ननु एवं भेदे सति तस्य खण्डत्वात् तत्पूर्णबोधक-श्रुतिविरोधः इत्यतः आहुः **भिन्नोऽपि**

लेखः

पूर्वमेव कालस्य जातत्वाद् इति अर्थः. **तस्याः अंशम्** इति, कालशक्तेः अंशम् इति अर्थः. सो अंशः कः इति अपेक्षायाम् आहुः **इच्छारूपम्** इत्यादि. **भेदरूपया** इति, भेदं जडादिभेदं रूपयति इति तथा उक्ता. **स्वाश्रयं** भगवन्तम्. **भिन्नोपि** इति, **तया** इच्छाशक्त्या भिन्नभावं प्राप्तैः सदाद्यंशैः **भिन्नोपि** भेदं प्राप्तोऽपि ईश्वरो **मिलितः** सदाद्यंशैः एकभावं

---

१. इच्छारूपो अंशएव कामः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

कार्यरूपस्य अल्पत्वात्. तानि त्रीण्यपि रूपाणि 'पूर्ण'शब्देन उच्यन्ते. अतएव सद्रूपस्य कार्ये प्रत्येकपर्यवसायित्वम्. ''प्रजायेय'' इति इच्छया

प्रकाशः

इत्यादि. **तया** इति इच्छया. **त्रीण्यपि** इत्यादि. ''पूर्णम् अदः पूर्णम् इदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेव अवशिष्यते'' (ईशावा.उप. १९) इति श्रुतौ 'पूर्ण'शब्देन उच्यन्ते. तथाच यदि अभिन्नस्यैव पूर्णत्वं, त्रयाणां न उच्येत. अतः कार्यापेक्षया आधिक्यमेव पूर्णत्वम् इति न श्रुतिविरोधः इति अर्थः.

श्रुत्यर्थस्तु — 'अदः' परोक्षं ज्ञानैकघनं ब्रह्म 'पूर्णं' निरन्तरम् आकाशवद् व्यापि. 'इदं' दृश्यमानं सद्रूपं ब्रह्म 'पूर्णम्' इति पूर्ववत्. पूर्णम् अतति इति 'पूर्णात्' सर्वव्यापकं 'पूर्णमुत्' पूर्णानन्दं ब्रह्म 'अच्यते' ''अञ्चु गति-पूजनयोः'' (पाणि.धा.पा. भ्वादि. १८८) ''अचु इति एके'' (पाणि.धा.पा. भ्वादि. ८८७) पूज्यते = अपूर्णाभ्यां सच्चिद्रूपाभ्यां क्षराक्षर-पुरुषाभ्यां सेव्यते. एवं ज्ञानादेः फलम् आह 'पूर्णस्य' पूर्वोक्तस्य 'पूर्णं' ज्ञानादिधर्मम् 'आदाय' तत्प्रसादेन प्राप्य 'पूर्णमेव अवशिष्यते' तत्सायुज्येन तदभिन्नो भवति इति. अन्ये तु 'पूर्णाद्' निरुपाधिकात् 'पूर्णं' सोपाधिकम् 'उदच्यते' उद्गच्छति इति व्याचक्रुः ; तद् उपाधिवादाऽनङ्गीकाराद् न अस्माकं रोचते.

परिदृश्यमानस्य पूर्णत्वे गमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. उपलक्षणविधया पुरःस्फूर्तिकम् इदम् उक्तं, भाति-प्रियत्वयोरपि तथात्वाद् इति. एवं ''बहु स्याम्'' इत्यस्य प्राथमिकः आकारो विवृतः. अतः परं ''प्रजायेय'' इत्यस्य तं विवृण्वन्ति **प्रजायेय** इत्यादि. **जाताः** इति सच्चिदानन्दाः

लेखः

प्राप्तः **अभिन्नः इव अखण्डोऽपि भवति** इति अर्थः. तदेव आहुः **तदपेक्षया** इति, प्रकटसच्चिदानन्द-त्रितयात्मक-ब्रह्मापेक्षया इति अर्थः. **अल्पत्वाद्** इति, प्रकटतत्त्रितयात्मकत्वाभावाद् इति अर्थः. **'पूर्ण'शब्देन उच्यन्ते** इति, ''पूर्णमदः'' इति श्रुतौ उच्यन्ते इति अर्थः. तथाच पूर्णशक्तीनां सदादि-त्रयाणाम् अभेदेन अवस्थानमेव पूर्णत्वम् इति अर्थः. **अतएव** इति.

उत्कर्षापकर्षरूपेण जाताः. तत्र आनन्दः उत्कृष्टः, तदेतरौ तं सेवमानौ जातौ. ततः च तयोः धर्मौ ज्ञान-क्रिये भगवच्छक्तिरूपे जाते. तदा सः आनन्दो ज्ञान-क्रियाशक्तिमान् जातः. तदा चिदंशस्य [१]शक्तिः – आनन्दे गतत्वात् ज्ञानधर्मस्य – तं[२] व्यामोहयति, तदा तस्य [३]जीवत्वम्. सदंशस्तु[४] क्रियाशक्तेः गतत्वाद् अव्यक्तताम् आपद्यते. पश्चाद् मूलभूत-क्रियांशाभिः क्रियाभिः यथायथम् अभिव्यज्यते. पश्चात् तस्यां तत्कृतधर्मे

प्रकाशः

तथा जाताः. कथम् उत्कृष्टः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **ततः** इत्यादि. अतः परं द्वयोः इच्छयोः अग्रिमं कार्यं दिङ्मात्रेण प्रपञ्चयन्ति **तदा चिदंशस्य** इत्यादि. **तदा** इति त्रयाणां पुनर्विभागकाले. **ज्ञानधर्मस्य** इति 'भग'शब्दवाच्यान्तर्गतस्य ज्ञानाख्यधर्मस्य. **तस्य** इति चिदंशस्य **जीवत्वम्** इति मुख्यजीवत्वं पुरुषतत्त्वरूपत्वम् इति यावत्. एतदंशाएव सर्वे व्यष्टिजीवाः. तेषाञ्च जीवत्वं मुक्तिपर्यन्तं तिष्ठति, नतु अर्वाङ् निवर्तते इति बोधयितुं सदंशव्यवस्थाम् आहुः **सदंशस्य** इत्यादि. **अव्यक्तताम्** इति प्रकृतितत्त्व-रूपताम्. तस्य व्यक्तिभावप्रकारम् आहुः **पश्चाद् मूले**त्यादि. **मूल**पदेन पूर्णरूपः सदंशः. **यथायथम्** इति श्रौतेन पौराणेन प्रकारेण. ननु एवं सति श्रुतौ

लेखः

... . **तत्र** इति, सदादिषु त्रिषु मध्ये इति अर्थः. **सेवमानौ** इति. सदंशदेहस्य जीवाधीनत्वाद् जीवस्य च आनन्दांशान्तर्याम्यधीनत्वात् तद्गौणभावं प्राप्य स्थितौ इति अर्थः. **तदा चिदंशस्य** इति, **चिदंशस्य शक्तेः ज्ञानरूप-धर्मस्य आनन्दे गतत्वात्** चिति ज्ञानधर्माभावत्वे **व्यामोहयति** इति अर्थः. **तस्य** चिदंशस्य. **गतत्वाद्** इति, आनन्दे गतत्वाद् इति अर्थः. **अव्यक्तताम्** इति, प्रकृतिरूपत्वम्. **मूले**ति, परिपूर्णशक्तिरूपः सदंशे **मूलभूतः** तदंशभूताभिः **क्रियाभिः** घट-पटादिरूपेण **अभिव्यज्यते** इति अर्थः. जडपदार्थस्य आविर्भावम् उपपाद्य तत्तिरोभावम् उपपादयन्ति **पश्चाद्**

---

१. शक्तेः इति लेखे - सम्पा. २. =चिदंशम् - सम्पा.

३. =पुरुषरूप-मुख्यजीवत्वम् - सम्पा. ४. सदंशस्य इति प्रकाशे - सम्पा.

वा तिरोभूते स्वयमपि तिरोभवति. तदा तस्यां मूलेच्छया जातः शब्दो

प्रकाशः

पिपालयिषा-सञ्जिहीर्षयोः अनुक्तत्वात् श्रौतेन मतेन अविरतं सर्गएव स्याद्, न जातु स्थिति-प्रलयौ इति आशङ्कायां तावपि अनयैव इच्छया इति व्युत्पादयन्ति **पश्चात् तस्याम्** इत्यादि. **तत्कृतधर्मे** इति क्रियांशक्रियाकृते घट-पट-कुड्याद्याकारे. **स्वयम्** इति व्यक्तः सदंशांशः **तिरोभवति** अव्यक्तताम् आपद्यते. तथाच "बहु स्याम्" इति आकारेणैव स्थितिसिद्धेः, "प्रजायेय" इति इच्छाकारेणैव रूपान्तराविर्भाव-पूर्वरूपतिरोभावसिद्धेः, सिसृक्षाकारेणैव तयोरपि इच्छयोः अर्थादेव प्राप्त्या स्थिति-प्रलययोरपि ततएव सिद्धिरिति न कोऽपि दोषः इति अर्थः. अतएव अग्रे "यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया" (भाग.पुरा. २।१०।१२) इति अनुग्रहोपेक्षेएव वक्तव्ये. क्रियातिरोभावे अर्थतिरोभावोदाहरणन्तु जलनीलीनिवारक-क्रियातिरोभावे जलतिरोभावः, कटप्रसारण-क्रियातिरोभावे कटविस्तार-तिरोभावः. तत्कृतधर्म-तिरोभावे अर्थतिरोभावस्तु कम्बुग्रीवाद्याकार-तिरोभावे घटादि-तिरोभावात् स्फुटतरः. स्वभावभेदेऽपि इयमेव इच्छा प्रयोजिका. अतएव निबन्धे "वृद्धिः विपरिणामश्च तथा अपक्षयएव च, पूर्वरूपतिरोभावो द्वितीयस्य आदिमः तथा, उभौ एकीकृतौ लोके वृद्ध्यादिभिः उदीरितौ" (त.दी.नि. २।१४३-४) इति तत्स्वरूपम् उक्तम्. ननु एवम् आविर्भाव-तिरोभावपक्षाङ्गीकारे प्राथमिकोत्तररूपाविर्भावदशायां प्रलये च पूर्वरूपाभिलापो निवर्तते, तद्वद् माध्यमिकतिरोभावदशायामपि तद्बाधे तदीयसर्वव्यवहारः उच्छिद्येत इति आशङ्कायां तदबाधप्रकारम् आहुः **तदा** इत्यादि. **तस्याम्** इति अभिव्यञ्जकक्रियायाम्. **जातः** इति तत्सम्बन्धाद् जातः इति. तथाच

लेखः

इत्यादि. सञ्जिहीर्षायाम् इति अर्थः. **तस्याम्** इति, मूलशक्तिक्रियांश-क्रियायाम् इति अर्थः. **तत्कृतधर्मे** इति क्रियांशक्रियाकृते कम्बुग्रीवादिमत् चतुरस्र-वर्तुलत्वादि-घट-पट-कुड्याकारे इति अर्थः. **स्वयम्** इति, व्यक्तः सदंशांशो जडपदार्थजातम् इति अर्थः. **तिरोभवति** स्वकारणभूताऽव्यक्तरूपताम् आपद्यते. ननु एवं मूलभूतक्रियांश-क्रियातिरोभावे धर्मतिरोभावे वा युगपत्

अभिव्यक्तएव तिष्ठति जीव-भगवद्बुद्धिषु, जीवे भगवति वा. एवं चिद्रूपोऽपि ज्ञानशक्त्यंशभूतैः ज्ञानैः अभिव्यज्यते तिरोभवति च. प्रयत्नस्तु तस्य अपराधीनः

प्रकाशः

एवं शब्दसद्भावाद् न व्यवहारोच्छेदः इति अर्थः. बुद्धेः विनाशित्वात् [१]तत्तिरोभावे बाधइति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **जीवे** इत्यादि. एतेन विद्वन्मण्डनविवेचितः आविर्भाव-तिरोभाववादः सर्वोऽपि उपष्टम्भितो बोध्यः. एवं सदंशव्यवस्थाम् उक्त्वा तां प्रकारभेदेन चिदंशे अतिदिशन्ति **एवम्** इत्यादि. यथा सदंशो मूलसदंश-शक्तिभूत-क्रियांशक्रियाभिः लौकिकेन शास्त्रीयेण च प्रकारेण अभिव्यज्यते **एवं चिद्रूपो** जीवोपि मूलभूतज्ञानांश-शक्तिरूप-व्यामोहक-मायांशभूतैः तृतीयस्कन्धसुबोधिनी-वक्ष्यमाणरीत्या प्रमातृ-प्रमाणनिष्ठैः सात्त्विकैः विशिष्ट**ज्ञानैः अभिव्यज्यते** "जन्म तु आत्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद, विषयस्वीकृतिं[२] प्राहुः यथा स्वप्नमनोरथौ" (भाग.पुरा. ११।२२।३९) इत्युक्तरीत्या अभिमन्यमानः आविर्भवन् उत्पद्यते, "मृत्युः अत्यन्तविस्मृतिः" (भाग.पुरा. ११।२२।३८) इति वाक्योक्तरीत्या तदभिमानं त्यजन् **तिरोभवति** म्रियते च इति अर्थः.

लेखः

सर्वतिरोभावे महाप्रलयएव स्याद्, नतु अवान्तरप्रलयः पर्यायेण तिरोभावो वा इति आशङ्कायां तद् उपपादयितुम् आहुः **तदा** इति. तस्याः तत्कृतधर्मस्य वा तिरोभावदशायामपि इति अर्थः. **तस्याम्** इति पदार्थाभिव्यञ्जक-मूलक्रियायाम्. मूलक्रियया अभिव्यञ्जितसृष्टौ वा **जातः शब्दो** घट-पटादि-सङ्केतरूपो **जीव-भगवद्बुद्धिषु अभिव्यक्तएव तिष्ठति** इति अर्थः. तथाच अवच्छेदकावच्छेदेन पदार्थतिरोभावो यदा मूलेच्छया अभिप्रेतः तदा प्रलयः ; खंडशः तत्तिरोभावेच्छया अवान्तरप्रलयः इति न काऽपि अनुपपत्तिः इति भावः. एवं सदंशस्य व्यवस्थाम् उक्त्वा चिदंशस्य आहुः **एवम्** इत्यादि. **प्रयत्नस्तु** इति, जीवप्राणधारणानुकूल-**प्रयत्नस्तु** मूलेच्छायाः

---

१. तद् इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

२. स्वभिन्नस्य स्वत्वेन अभिमतिः स्वीकृतिः इति अर्थः - सम्पा.

इति सः जीवग्रहणार्थं सर्वदा तिष्ठति. सः चेद् भगवान् तस्मै तां पूर्णां ज्ञानशक्तिं प्रयच्छेत् तदा तां मोहिकां मायां त्यजति, प्रयत्नञ्च त्यजति, स्वरूपे चिद्रूपे च अवतिष्ठते, अपराधीनश्च भवति. जगत्कर्तृत्वन्तु न भवति ; तस्य[१] सा माया शक्तिः न भवति. उत्कर्षोऽपि न भवति,

---

प्रकाशः

ननु एवं तिरोभावे लिङ्गभूतस्य मनः-प्राणाद्युपाधेरपि विस्मरणाद् मुक्तएव कुतो न भवति इत्यतः आहुः **प्रयत्नः** इत्यादि. **तस्याः पराधीनः** इति पाठे भगवदधीनः[२] इति अर्थः. तथाच प्रयत्नस्य विद्यमानत्वेन [३]देहनिवृत्तावपि न मुक्तिः भवतीति जीवत्वं न अर्वाङ् निवर्तते इति अर्थः. एतावान् अर्थो द्वितीये श्लोके सङ्गृहीष्यते. ननु एवं प्रयत्नाधीनत्वे अनिर्मोक्षएव स्याद् इति आकाङ्क्षायां मुक्तिप्रकारम् आहुः **स चेद्** इत्यादि. **सः** इति पदं **तदा**पदोत्तरं **ताम्** इत्यादिना सम्बध्यते. ''जगद्व्यापारवर्ज्यम्'' (ब्रह्मसूत्र ४।४।१७) इति सूत्रानुसारेण आहुः **जगद्** इत्यादि. **तस्य** इति. अत्र **तस्याः** इति पाठे जीवरूपायाः चितः इति व्याख्येयम्. तथाच

लेखः

अधीनः इति सः जीवग्रहणार्थं जीवभावरक्षणार्थं **तिष्ठत्येव** इति अर्थः. तर्हि कथं मोक्षादिः इति तत्प्रकारम् आहुः **सः चेद्** इति. जीवः इति अर्थः. एतावता जीवन्मुक्तिदशा-सम्पादकं प्राज्ञत्वं सम्पद्यते. अभेदस्तु ततो अधिककक्षायाम् इति आशयेन तादृशावस्थायां या न्यूनता ताम् आहुः **जगत्कर्तृत्वम्** इति. प्राज्ञजीवस्य इति अर्थः. **तस्याः** इति, चिच्छक्तेः जीवरूपायाः इति अर्थः. **तस्य** इति पाठस्तु सुगमः. **सा माया** इति,

---

१. तस्याः इति ख-लेखे -सम्पा. २. व्यामोहनेन चिदंशं व्याकुलीकुर्वन्त्याः मायायाः सकाशाद् जातः प्राणधारणप्रयत्नो भगवदधीनः इति अर्थः. 'तस्याः पराधीनः' इति पाठे तु ज्ञानानि तु विषयाभिनिविष्ट-कर्माधीन-मनोधीनानि. अतो ज्ञान-तत्तिरोभावाभ्यां जन्म-मृत्युव्यवस्था मुक्तिपर्यन्तं तिष्ठति. अतः प्रयत्नेन बुद्धौ मनःप्राणेन्द्रियोपाधयः अविस्मृताएव तिष्ठन्ति अतो न मुक्तिः इति अर्थः :इति मा.पाठे पादटिप्पणी -सम्पा.

३. देव- इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् -सम्पा.

आनन्दस्यैव उत्कृष्टत्वात्. हीनता तु आपाततो वर्तते. आनन्देन सह मिलितस्तु आनन्दोऽपि भवति, सः चेत् स्वधर्मेण [१]सङ्गृह्णीयात्. इयं प्रक्रिया सर्वश्रुतिवाक्यानुरोधेन श्रुतार्थापत्तिसिद्धा सर्वत्रैव उपयुज्यते.

प्रकाशः

एवं स्वरूपलाभादिना भगवत्तौल्येऽपि ''अमोहाय गुणा विष्णोः आकारश्चिच्छरीरता, निर्दोषत्वं तारतम्यं मुक्तानामपि चोच्यते'' (ब्रह्माण्डपुरा. । । , द्रष्ट. महाभा.ता.नि. १।५०-५१) इति ब्रह्माण्डवाक्यात् तथा इति अर्थः. एवञ्च सायुज्ये [२]आनन्दाविर्भावेऽपि चरणादिरूपतैव भवति इति सर्वं सुस्थम्. इदं तृतीयश्लोके सङ्गृहीष्यते. एतेन ''जीवोत्पादनसमयएव'' (विद्वन्मण्डन) इत्यादि विद्वन्मण्डनोक्तं समर्थितं भवतीति ज्ञेयं, ''सर्वे मुक्तिभेदाः च तथा भवन्ति'' (तत्रैव) इत्यपि.

एवं सृष्टिप्रक्रियाङ्गीकारे मानं गुणञ्च आहुः **इयम्** इत्यादि. ''सदेव सोम्य इदम् अग्रे आसीद्'' (छान्दो.उप. ६।२।१), ''आत्मा वा इदम् एक एव अग्रे आसीत्'' (एत.उप. १।१), ''पुरुषविधः सो अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यद्'' (शतपथब्रा. १४।४।२।१) इत्यादि श्रुतिवाक्येषु सृष्ट्यादौ एकस्यैव विद्यमानता कर्तृत्वञ्च बोध्यते. ''तदैक्षत'', ''सोऽकामयत'' इत्यादिषु च इच्छायाएव करणत्वञ्च बोध्यते. तदाकारश्च सर्वत्र ''बहु स्यां प्रजायेय'' इत्येव उच्यते. तेन तस्यैव उपादानत्वमपि सिद्ध्यति. ''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत'' (तैत्ति.उप. २।७) इति श्रुत्या, ''आत्मकृतेः परिणामात्'' (ब्रह्मसूत्र १।४।२६) ''तदनन्यत्वम्

लेखः

सृष्ट्यादिसम्पादनक्षमा इति अर्थः. **हीनता** इति, जीवभावः इति अर्थः. हीनतानिवृत्त्युपायम् आहुः **आनन्देन सह** इति, विश्लेषावधिभूतेन इति अर्थः. **सः चेद्** इति, जीवः. **स्वधर्मेण** इति, भावप्रधानम् इदम्. **तम्** इति आनन्दम्. **श्रुतार्थापत्तिः** इति, श्रुतं शब्दः, तदन्यथानुपपत्तिप्रसूतया

---

१. तं गृह्णीयादिति ख-लेखे -सम्पा. २. आनन्दाभावेऽपि इति मुद्रितपाठः. आनन्दभावेऽपि इति मा.पाठे. सम्भावितः तु एवम् -सम्पा.

अन्यथाप्रक्रिया तु वाक्यानि बाधते. जीवभेदन्तु अग्रे निरूपयिष्यामः.

प्रकाशः

आरम्भणशब्दादिभ्यः'' (ब्रह्मसूत्र २।१।१४) इत्यादिसूत्रैश्च तथा अवसीयते. पूर्णश्रुत्या च त्रयाणां पूर्णत्वम् उच्यते. ''यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति'' (बृहदा.उप. २।१।२०) इति उपक्रम्य ''सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति'' (तत्रैव) इत्यनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य ''नाम-रूपे व्याकरवाणि'' (छान्दो.उप. ६।३।२) इति ''पादोऽस्य विश्वा भूतानि'' (ऋक्संहि. १०।९०।३) इत्यादि श्रुतिभिः ''ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'' (भग.गीता १५।७) ''अंशो नाना व्यपदेशाद्'' (ब्रह्मसूत्र २।३।४३) इत्यादि स्मृति-सूत्रैश्च तस्य अंशत्वम्. अविद्यया बन्धः ''एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते, बन्धो अस्य अविद्यया अनादिः विद्यया च तथेतरः'' (भाग.पुरा. ११।११।४) इत्यादि श्रुति-स्मृतिभिः मायया बन्धः. ''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'' (मुण्डकोप. ३।२।३, कठोप. १।२।२३) इति ''तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादात् महिमानम् ईशम्'' (महाना.उप. ८।३, श्वेताश्व.उप. ३।२०) इत्यादि श्रुतिभिः ''मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'' (भग.गीता ७।१४) इत्यादि स्मृतिभिश्च भगवत्प्रसादादेव ज्ञानादिप्राप्तौ मुक्तिः. ''सर्वे जीवाः सर्वमयाः तथापि अल्पाः[१]'' (नृसिंहोत्तरतापिन्युप. ९) इत्यादि श्रुतिभिः पूर्वोक्त-ब्रह्माण्डवाक्याच्च[२] तारतम्यं सिद्धम्. एतेषु यदेव न स्वीक्रियते तद्बोधकं वाक्यं व्याकुप्यते इति **श्रुतार्थापत्तिसिद्धा सर्वत्रैव** श्रुति-पुराण-तन्त्रेषु **उपयुज्यते.** तथाच उक्तानि वाक्यानि अस्यां मानं, सर्वोपयोगश्च गुणः इति अर्थः.

अन्यथाप्रक्रिया इति, ✻(१) ब्रह्म निमित्तभूतमेव, न परिणमते, कार्यन्तु

लेखः

अर्थापत्त्या सिद्धम् इति. **जीवभेदम्** इति, जीवनिष्ठ-फलभेदम् इति अर्थः.

---

१. मुक्तानां जीवानां ब्रह्मत्वेन सर्वमयत्वं तथापि भगवतः सकाशाद् अल्पत्वम् इति श्रुत्यर्थः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

२. ब्रह्माण्डपुराणोक्तवाक्याद् इति अर्थः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

एतदेव आह **आत्ममायाम्** आत्मनः = स्वस्य चिद्रूपस्य मायां व्यामोहिकाम् **ऋते अस्य** चिद्रूपस्य (**अर्थसम्बन्धः न घटेत!**). **राजन्**

प्रकाशः

आरभ्यते, जीवस्तु नित्यभिन्नएव, मुक्तिस्तु अविभागे भेदप्रतीत्यभावादेव इति, (२)जीव-जडौ ब्रह्मशरीरे ब्रह्म तु शरीरी, शरीर-शरीरिणोश्च घट-घटत्वयोरिव अविनाभावः सदा, अविनाभावलक्षणमेव च अद्वैतं, शरीरद्वारकएव ब्रह्मणः परिणामो, न साक्षात्, जीवस्य अंशत्वञ्च विशेषणत्वेन विशिष्टांशत्वात्, मुक्तिरपि अविभागे भेदप्रतीत्यभावादेव इति, (३)"अयम् आत्मा ब्रह्म विज्ञानमयः" (बृहदा.उप. ४।४।५) "यत् साक्षाद् अपरोक्षाद्" (बृहदा.उप. ३।४।१,२) इत्यादि श्रुतिभिः जीवो ब्रह्मैव, भेदप्रतीतिस्तु माययैव "मायया ह्यन्यदिव" (नृसिंहोत्तरतापिन्युप. ९) इत्यादि श्रुत्या, प्रपञ्चस्तु "सैषाविद्या जगत् सर्वम्" (तत्रैव) इत्यादि श्रुत्या मायापरिणामत्वाद् मिथ्या, ईश्वरोऽपि मायाशबलएव, ब्रह्म तु निर्विशेषम् अनाद्यविद्यासम्बन्धेन विवर्तते, मुक्तिस्तु ज्ञानेन अविद्यायाः सकार्यायाः नाशाद् विस्मृतकण्ठमणि-न्यायेन स्वरूपावस्थानरूपा स्वतएव ✻इति (१)माध्व-(२)रामानुज-(३)शाङ्कराणां प्रक्रिया. एवं दर्शनान्तराभिमानिनां प्रस्थानान्तराभिमानिनाञ्च ज्ञेया ; विस्तरभयाद् न लिख्यते. सा सर्वापि पूर्वोक्तानि, तज्जातीयानि अन्यानि च, **वाक्यानि बाधते** अतः पूर्वोक्तैव प्रक्रिया आदरणीया इति अर्थः. ननु एवं सृष्ट्यादिप्रक्रिया-तौल्ये स्वरूपतौल्ये च सति जीवानां फले कथं भेदः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **जीवेत्यादि**[१].

एवं बोधनार्थं सर्वं निरूप्य श्लोकं व्याकुर्वते **एतदेव** इत्यादि. **अस्य चिद्रूपस्य** इति, इदं **पर**पदस्य व्याख्यानं ; "यदधातुमतो" (भाग.पुरा. २।८।७) इति प्रश्नवाक्ये "अस्य" इति इदमा तन्निर्देशात्

---

१. जीवास्तु दैवासुरभेदभिन्नाः, दैवेष्वपि कर्म-ज्ञान-भक्तिमार्गीयाः, तत्रापि पुष्टि-मर्यादा-प्रवाहमार्गीयाः, तत्रापि अवान्तरभेदभिन्नाइति तेषां फलभेदः उचितः इति अर्थः : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

इति सम्बोधनं राजसत्वात् तव स्वरूपाज्ञानम् इति दयां बोधयति. व्यामोहानन्तरमेव देहसम्बन्धइति तादृशं विशेषम् आह **अनुभवात्मनः** इति. वस्तुतस्तु अनुभवात्मा, परं सामर्थ्यं भगवति गतम् अस्ति, यतो व्यामोहो भविष्यति. अन्यथा अर्थसम्बन्धइव व्यामोहोऽपि न भवेत्. व्यामोहव्यतिरेकेण केवलशक्त्यभावेन अर्थसम्बन्धो निरूपयितुम् अशक्यः. सहजशक्तिश्च सा ; तस्याः दोषत्वेन

प्रकाशः

तत्स्मारणार्थम्. **स्वरूपाज्ञानम्** इति, जीव-मायादीनां स्वरूपाज्ञानं देहरूपाऽ**र्थसम्बन्धो न घटेत** इति शेषो मूलादेव बोध्यः. कुतो न घटते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **व्यामोहे**त्यादि. **तादृशम्** इति व्यामोहयोग्यम्. ननु सङ्घातस्य परार्थत्वात् तच्छेषिणो अस्य देहसम्बन्धः स्वतः स्वभावतो वा अन्यथा वा अनाद्यविद्यया वा सामर्थ्यसत्त्वएव स्वीक्रियतां, तद् गमनं किमिति स्वीक्रियते इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **अन्यथा** इति धर्मरूप-'भग'शब्दवाच्य-ज्ञानाख्यसामर्थ्य-गमनाभावे. **न भवेद्** इति, अर्थस्य इव तस्यापि स्वरूपज्ञानाद् न भवेद् इति अर्थः. ननु तर्हि शक्त्यभावाद् अनिच्छतो विशिष्टवद् अर्थसम्बन्धो अस्तु, किं व्यामोहेन इत्यतः आहुः **व्यामोहे**त्यादि. व्यामोहो नाम विपरीतज्ञानम्. तथाच तं विना केवलज्ञानशक्त्यभावे सदंशस्येव जडत्वमेव स्थावरवत् स्यात्, नतु देहसम्बन्धः इति तदर्थं सः, तेन विक्षेपिका मायापि तदर्थम् आवश्यकीति तथा इति अर्थः. ननु सामर्थ्यतिरोभाव-समकालमेव व्यामोहने को हेतुः इत्यतः आहुः **सहजशक्तिश्च सा** इति. तथाच सन्निधिरेव हेतुः इति अर्थः. ननु एवं सन्निधेः हेतुत्वे तस्याः शक्तेरपि ज्ञानसन्निधानाद् गुणतैव युक्ता,

लेखः

शक्त्यभावेन इति, ज्ञानशक्ति-तिरोभावमात्रेण इति अर्थः. **अर्थसम्बन्धः** इति, देहादिसम्बन्धः इति अर्थः. **अशक्यः** इति. तावता ज्ञानशक्तितिरोभावमात्रेण क्रियाशक्तिरहित-सदंशस्येव जडत्वमेव स्थावरवत् स्यात्, नतु देहादिसम्बन्धः इति अर्थः. **सा** इति, ज्ञानरूपा शक्तिः जीवात्मनः चिदंशस्य **सहजशक्तिः**. ननु तर्हि तत्सत्त्वे कथं व्यामोहादिः ? अतः आहुः **तस्याः** इति. **दोषत्वेन** इति, विपरीतज्ञानत्वेन इति अर्थः. **हीनभावाद्** इति,

पर्यवसानं हीनभावात्. जीवस्य सामर्थ्यलाभेऽपि तस्याः हीनभावापगमः[१] पृथग्भूतायाः न भविष्यति. तया व्यामोहे तु अर्थेन[२] = देहादिना सम्बन्धः सुखेन घटते. मोहितस्य अर्थसम्बन्धं दृष्टान्तेन स्पष्टयति **स्वप्नद्रष्टुरिव** इति. निद्रया व्यामोहितो भगवत्कृतां मायिकीं सृष्टिं पश्यति, अभिमन्यते च. निद्रायाः सर्वतः[३] उद्गमाभावाद् मूल-भगवन्मायया कृत्वा सा शीघ्रं

प्रकाशः

ननु दोषत्वम् इत्यतः आहुः **तस्याः** इति. **हीनभावाद्** इति ''प्रजायेय'' इति इच्छाकृतात्. तथाच हीनकार्यकरणात् तस्याः दोषत्वम् इति अर्थः. ननु एवं सति सामर्थ्यलाभार्थमेव यत्नः कार्यो, नतु मायातरणार्थम् इत्यतः आहुः **जीवस्य** इत्यादि. तस्याः बन्धने अधिकृतत्वाद् ''यावदधिकारं ... तु आधिकारिकम्'' (ब्रह्मसूत्र ३।३।३२) इति न्यायेन तस्याः कार्यं मृत्योरिव अनिच्छायामपि अनिवार्यं, भगवतो अप्रतिहतेच्छत्वात्. अतः तस्याः सम्बन्धे व्यामोहावश्यंभावात् तत्तरणप्रयत्नः आवश्यकः इति अग्रिमस्वारस्याद् उक्तम्. सिद्धम् आहुः **तया** इत्यादि. ननु व्यामुग्धस्य भ्रमएव दृष्टो, नतु देहादिसम्बन्धः इति आशङ्कायाम् आहुः **मोहितस्य** इत्यादि. **अभिमन्यते च** इति, तथाच तद्वत् मूलशक्त्या[४] देहादिकमपि पश्यति अभिमन्यते च इति अर्थः. तर्हि तद्वद्[५] इदमपि मोहनं कालादिनैव

लेखः

मूलेच्छा-सहकृत-मायासम्पादित-जीवत्व-सामानाधिकरण्याद् इति अर्थः. **सामर्थ्येति**, ज्ञानादिना स्वस्वरूप-लाभेऽपि इति अर्थः. **पृथग्** इति, आनन्दात् पृथग्भावम् आपन्नायाः न भविष्यति इति अर्थः. तथाच आनन्दांशप्राप्तावेव जीवत्वापगमे शुद्धचित्ततद्रूपत्वेन ऐक्ये सम्पन्ने तस्याअपि हीनभावापगमे शुद्धत्वम्[६] इति तत्त्वम्. वैपरीत्ये तु वैपरीत्यमपि इति आहुः **तया**

---

१. -भावोपगत इति ख. २. अनर्थेनेति ख. ३. सर्वदोद्गम- इति क-ख.

४. निद्रामोहितस्य स्वप्नदर्शनवद् निद्रामूलभूतया आत्ममायया : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा. ५. कालादिना निद्रानिवर्तनवद् : इति मा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

६. न.पाठानुसारेण. शुद्धत्वाप्तेति इति ग.पाठस्तु अशुद्धः - सम्पा.

तिरोभूता भवति तदा सः जागर्ति. एवं स्वप्नदृष्टान्तेन तस्य व्यामोहं निरूप्य दार्ष्टान्तिके विशेषम् आह **अञ्जसा** इति, सामस्त्येन. स्वप्नकोटयो अत्र मध्ये भवन्ति, इदन्तु एकमेव जन्मकोटिषु अनुवर्तते! ॥१॥

एवं तस्याः सम्बन्धमात्रं निरूप्य कार्यं निरूपयति.

बहुरूप इवाऽऽभाति मायया बहुरूपया ॥
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते ॥२॥

बहुरूपइव इति. साहि आभासमूल**माया**[१] **बहुरूपा** भवति, तया सम्बद्धो अयं स्वयमपि[२] **बहुरूपो** भवति. **इव** इति वचनं तस्याः

प्रकाशः

निवर्ततां, किं तदर्थकोपायेन इत्यतः आहुः **निद्रायाः** इत्यादि. **सर्वतः उद्गमाभावाद्** इति, निद्रायाः बुद्धिवृत्तिविशेषरूपत्वेन व्याप्यतया सर्वतः उद्गमाभावात्. तथाच अस्याः सर्वतः उद्गतत्वाद् एतन्निवारणस्य कालादिना अशक्यत्वाद् उपायः आवश्यकएव इति अर्थः. आञ्जस्यं विवृण्वन्ति **स्वप्नेत्यादि**. तथाच यथा निद्रया भगवत्कृतां स्वाप्निकीं सृष्टिं भिन्नतया पश्यति, तयैव स्वतया तु अभिमन्यते, तथा मूल-चिदंशमायया जगत्कर्तृमायामयीं सदंशसृष्टिं पश्यति, तयैव च स्वतया अभिमन्यते इति दृष्टान्तार्थः. एतस्याः क्षेत्रदर्शकत्वं नृसिंहोत्तरतापनीये नवमखण्डे स्फुटं ; तद् अस्मत्कृत-तद्व्याख्यानाद् अवगन्तव्यम्. एवम् अनेन श्लोकेन देहसम्बन्धे हेतुबोधनाद् यदृच्छापक्षनिरासेन "यदधातुमत" (भाग.पुरा. २।८।७) इति प्रश्नः उत्तरितः ॥१॥

बहुरूपः इत्यत्र. अतः परं "भवन्तो जानते यथा" (भाग.पुरा. २।८।७) इति तुर्यपादेन वक्तृज्ञानप्रकारो यः पृष्टः तम् उत्तरयति इति आशयेन आहुः **एवं तस्याः** इत्यादि. **सा हि आभास** इत्यादि. इदमपि

लेखः

इति. पूर्वोक्तया व्यामोहिकमायया इति अर्थः. **स्वप्नकोटयः** इति, स्वप्नानां कोटयः एकस्मिन् जन्ममध्ये भवन्तीति अयमेव विशेषः इति अर्थः. **कोटिषु** इति, स्वप्नकोटिषु इति अर्थः ॥१॥

१. मायारूपा बहु इति घ. २. अयमपि इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

सम्यक्स्वरूप-समर्पकाभावात्. तदा आनन्दार्थं तस्याः **गुणेषु रममाणः** तस्याः गुणान् गृहीतुम् इच्छुः **मम अहम् इति (मन्यते!). मम** इति गुणेषु, **अहम्** इति मायायाम्. सम्बन्धप्रतिपादकौ एतौ शब्दौ तस्य स्वरूपे अर्थं समर्पयतः ॥२॥

एवं तस्याः कार्यम् उक्त्वा तत्परित्यागोपायम् आह.

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् काल-माययोः ॥
रमेत गतसन्देहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम् ॥३॥

यर्हि वाव इति, **यर्हि** कदाचिद् मूलभूतस्य इच्छावशात्. **वाव** इति निश्चयेन, **स्वे महिम्नि** स्वस्य महिमरूपे भगवति आनन्दे **(काल-माययोः**

प्रकाशः

"जीवेशौ आभासेन करोति, माया च अविद्या च स्वयमेव भवति" (नृसिंहोत्तरतापिन्युप. ९) इत्यादौ श्रावणात् तत्रैव स्फुटम्. तस्याः च प्रपञ्चदर्शन-निमित्तत्वमेव, नतु उपादानत्वमपि, उपादानत्वन्तु आत्मनएव इत्यपि तद्व्याख्यानादेव अवगन्तव्यं, "तस्माद् आत्मनएव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपि" (तत्रैव) इति तत्र श्रावणात्. **समर्पकाभावाद्** इति भावप्रधानः, समर्पकत्वाभावाद् इति अर्थः. एवम् अनेन श्लोकेन स्वस्य स्वसदृशानां देहसम्बन्ध-विषयको ज्ञानप्रकारः उक्तः ॥२॥

यर्हि वाव इत्यत्र. एवं द्वाभ्याम् उत्तरम् उक्त्वा "त्यक्ष्ये कलेवरम्" (भाग.पुरा. २।८।३) इति देहजिहासाम् अभिसन्धाय पृष्टत्वात् तदसम्बन्धम् अयम् अभिकाङ्क्षति इति निश्चित्य तदुपायं वदति इति आशयेन आहुः **एवं तस्याः कार्यम्** इत्यादि. **स्वस्य महिमरूपे भगवति आनन्दे** इति.

लेखः

बहुरूपः इत्यत्र. **सम्यग्** इति. मूलेच्छायाएव मुख्यत्वेन जीवभावप्रयोजकत्वाद् इति तथा इति भावः. **सम्बन्धेति**, मायागुणसम्बन्ध-प्रतिपादकौ 'मम-अहम्' इति **शब्दौ तस्य** जीवस्य[1] **स्वरूपे अर्थं** देहादिसम्बन्धं समर्पयन्ति इति अर्थः ॥२॥

---

१. न.पाठानुसारेण. जीवस्थ- इति ग.पाठे - सम्पा.

परस्मिन्!) गुणक्षोभक-कालस्य मोहिकायाः जगत्कर्तृकायाः मायायाः (च!) नियन्तरि, तयोः कार्यं स्वेच्छया दूरीकृत्य प्रसन्नतया स्थिते, यदि **रमेत.** तत्रापि ''भगवान् एनं प्रति सर्वथा स्वमाहात्म्यं न बोधयति'' इति तस्य स्वामित्वे यदि सन्देहं न कुर्यात् **तदा गतसन्देहः** [१]**उभयं** त्यजति. व्यामोहिकां मायां, गुणान्, तत्कार्यं देहादिकं वा, ममाऽहम् इति भावं वा **त्यक्त्वा उदास्ते** तस्याम् आसक्तिं न करोति तदा निस्तारः इति भावः ॥३॥

एवं जीवसन्देहं परिहृत्य ब्रह्मसन्देहं निवारयति **आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थम्** इत्यारभ्य ''न विमुह्यति कर्हिचिद्'' (श्लो. ३६) इत्यन्तेन.

प्रकाशः

छान्दोग्यस्थे ''स्वाप्यय-'' (ब्रह्मसूत्र ४।४।१६) सूत्र-विषयवाक्ये ''स्वम् अपीतो भवति तस्मादेनं स्वपिति इति आचक्षते'' (छान्दो.उप. ६।८।१) इत्यत्र 'स्व'शब्देन जीवमूलरूपम् उच्यते, 'महिम'शब्देन च उत्कर्षः. तथाच स्वस्य उत्कर्षरूपं तदभिन्नत्वमेव, नतु हस्ति-हिरण्यादिरूपं लौकिकम् इति लौकिक-महिमवारणाय. **परस्मिन्** इत्यादेः अर्थम् आहुः **गुणे**त्यादि ॥३॥

आत्मतत्त्व- इत्यत्र. पूर्वश्लोके एतादृशरमणं[२] यत् कालविशेषे उक्तं तत्र न कालादेः कारणत्वं किन्तु नियन्तुरेव इति ''परस्मिन् कालमाययोः'' इत्यनेन बोध्यते. एवं सति मोहोऽपि तदधीनएव सिद्ध्यति इत्येतद् अभिसन्धायैव अत्र [३]सर्वा सृष्ट्यादिप्रक्रिया बोधिता. नच एवं वैषम्याद्यापतिः, आत्मसृष्टिकथनेन एतन्निरासात्. उपस्थितहान्यकृताभ्यागमौ परम् अवशिष्येते, तौ अन्ये च ब्रह्मसन्देहवारणे वारयिष्यन्ते इति आशयेन अग्रिमं वदति इति आशयेन आहुः **एवं जीवे**त्यादि. **अत्रापि** इत्यादि. अस्मिन् सन्दर्भे या मुक्तिः

लेखः

यर्हि इत्यत्र. **जगत्कर्तृकायाः** इति, जगत्कर्त्र्येव जगत्कर्तृका इति स्वार्थे कः ॥३॥

---

१. -सन्देहः भयमिति ग. २. -मरणम् इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा. ३. सर्व- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

अत्राऽपि मुक्तिः अस्माभिः प्रक्रियया निरूपितैव, स्वरूपमेव अग्रे निरूप्यते. तत्र प्रथमं ब्रह्मणोऽपि देहसम्बन्धाद् जीवतुल्यता[१] इति यद् दूषणं, सर्वात्मकत्वानुपपत्तिः वा, तद् अत्र निराक्रियते.

आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह भगवान् ऋतम् ।।
ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीकव्रतादृतः ।।४।।

आत्मनः तत्त्वं यथार्थं रूपं, तस्य **विशुद्ध्यर्थं** लौकिकानां ज्ञानेन लौकिकभावेन अन्यथाप्रतिभान-लक्षणां[२] बुद्धिं[३] दूरीकृत्य विशेषशुद्धिं सम्यग्बोधलक्षणां[४] जनयितुं **(भगवान्!) यद् आह.** न केवलं वचनं किन्तु **ऋतं** सत्यं स्वस्य आनन्द**रूपं ब्रह्मणे प्रदर्शयन् यद् आह** इति सम्बन्धः. प्रदर्शने कथने च हेतुः **अव्यलीकव्रतादृतः** इति, निष्कपटव्रतेन आदृतः = सेवितः सन्तुष्टो वा ।।४।।

प्रकाशः

विवक्षिता सा अस्मिन् निरूपितैव इति अर्थः. (**सर्वात्मकत्वानुपपत्तिः** इति नारायणस्येति शेषः.) **लौकिकानाम्** इत्यादि. अज्ञातशास्त्रतत्त्वानां लौकिकप्रमाणजन्य-सम्यक्परिच्छेदेन भगवदाकार-गुण-कर्मसु लौकिकबुद्ध्या "एतान्यपि लौकिकप्रमाणयुक्तिभ्यामेव निर्णेयानि" इति भ्रमलक्षणां [५]अनिश्चयात्मकबुद्धिं दूरीकृत्य इति अर्थः. **यद् आह इति सम्बन्धः** इति. तद् वदामि इति कथनप्रतिज्ञा अत्र आर्थिकी बोध्या ।।४।।

लेखः

आत्म- इत्यत्र. **अत्रापि** इति. आनन्दस्यैव उत्कृष्टताप्रतिपादनेन सच्चितोश्च गौणभावः इति आदौ पूर्वोक्तप्रक्रियया ब्रह्मणः सर्वोत्कृष्टत्व-जीवादिवैलक्षण्यादौ कैमुत्या युक्तिः उक्तैव इति यथाश्रुतं **स्वरूपमेव निरूप्यते** इति अर्थः. **इति यद् दूषणम्** इति, "आसीद् यदुदरात् पद्मम्" (भाग.पुरा. २।८।८) इत्यादिना उक्तम् इति शेषः ।।४।।

---

१. -तुल्य इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु गपाठानुसारेण - सम्पा.
२. -भावन- इति ग. ३. शुद्धिम् इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु अर्थस्वारस्यात् - सम्पा.
४. -बोधनलक्षणामिति ख.
५. निश्चया- इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः प्रतिभाति. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

एवं भगवद्वचनं वक्तव्यत्वेन उपक्षिप्य सन्तोषार्थम् अव्यलीकव्रतं ब्रह्मणो निरूपयति **सः** इति. नियमविशेषे 'व्रत'शब्दः प्रवर्तते. स तु अत्र सर्वेन्द्रियाणां प्राणस्य च सर्वविषय-परित्याजनेन निरोधात्मकः. सः चेत् स्वरूपतः फलतश्च एकविषयो भवति तदा निर्व्यलीकः. अयञ्च ब्रह्मा "भगवदर्थं सृष्टिं करिष्यामि" इति सङ्कल्प्य पश्चात् साधनानि आलोचयितुं प्रवृत्तः. तानि साधनानि भगवदात्मकानि[१] भगवदिच्छानुसारेण कार्यं कुर्वन्ति इति यादृशम् अयं चिकीर्षति तादृशं भगवतो न अभिप्रेतमिति ते पदार्थाः न स्फुरिताः. तदा सन्निकर्षाभावात् तद्विषयकः साक्षात्कारो न जातः इति आह.

स आदिदेवो जगतां परो गुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत ।।
तां नाऽध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत् ।।५।।

सः ब्रह्मा, यतो अयं[२] स्वयमेव प्रसिद्धः. तस्मात् प्रसिद्धस्य अन्यस्य अभावाद् न ततः सन्देहनिवृत्तिः. **आदिदेवः** इति देवतान्तरोपासनापि निवारिता. गुरुरपि अन्यो नास्ति यतः तदुपदेशेन वा कार्यं सिद्ध्यति, यतो अयमेव (**जगतां परो!**) सर्वस्याऽपि **गुरुः**. तीर्थाद्याश्रयणमपि नास्ति इति आह

प्रकाशः

सः इत्यत्र. **सन्तोषार्थम्** इति भगवत्तोषार्थम्. **ब्रह्मणः** इति ब्रह्मकृतम्. **प्रवर्तते** इति, नियमसामान्य-वाचको अयं शब्दः तद्विशेषे पर्यवस्यति इति अर्थः. **ते** इति सृष्टिसाधनभूताः. **दृशम्** इति साक्षात्कारम् ।।५।।

लेखः

सः इत्यत्र. **यादृशम्** इति. अयं हि स्वसामर्थ्येनैव अन्याऽनपेक्षेण स्वकल्पितप्रकारेण च सृष्टिं चिकीर्षति. तच्च भगवतो माहात्म्याऽसिद्ध्या जीवानां माहात्म्यज्ञानद्वारा भक्ति-मोक्षाद्यनुपपत्तेः इति भावः. इममेव अर्थम् **अथवा** इत्यादिना अनुपदमेव ज्ञापयिष्यन्ति. **तदा** इति, स्वाभिमानदशायाम् इति अर्थः. **तस्माद्** इति, ब्रह्मणः सकाशाद् **अन्यस्य प्रसिद्धस्य अभावाद्**

१. -दात्मनीति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ख-गपाठानुरोधात् - सम्पा.
२. यमेव प्रसिद्ध इति ख-ग.

स्वधिष्ण्यम् आस्थाय इति. अथवा सर्वैः एतैः विशेषणैः ''अहमेव महान्, किं मम अन्येन साधनेन!'' इति मङ्गलादिकमपि अकृत्वा केवलं **सिसृक्षया** स्रष्टुम् इच्छया साधनानि **ऐक्षत**. तदा पूर्वोक्तन्यायेन साधनोपस्थित्यभावात् **तां**[१] **दृशं न अध्यगच्छत्. (अत्र सम्मतां!)** आलोचनादिकन्तु अनुमान-तर्कादिरूपं प्रकृतोपयोगि न भवति, उपादानगोचरा-ऽपरोक्षज्ञानस्यैव साधनत्वात्. तद् आह **प्रपञ्चनिर्माणविधिः यया भवेद्** इति. **यया** दृशा. **प्रपञ्चस्य निर्माणम्** उत्पादनं तत्र **विधिः** प्रकारो **यया** भवति तां न प्राप्तवान् इति अर्थः ॥५॥

प्रकारः सर्वोऽपि ज्ञानेनैव सम्पाद्यते. तदा तमेव अर्थं चिन्तयामास, यथा भगवच्चिन्तया भगवान् प्रत्यक्षो भवति तथा [२]साधनचिन्तया साधनान्यपि प्रत्यक्षाणि भविष्यन्ति इति. अनेन यः साधनमेव चिन्तयति, नतु साधनसाधनं, सः भ्रान्तो भवति इति ज्ञापितम्. तदा भगवान्[३] ''मदर्थम् अयं प्रयासं करोति'' इति तस्मै साधनम् उपदिष्टवान्[४]. तद् भगवन्मुखनिर्गतं वाक्यं मन्त्ररूपम् इति मन्त्रोद्धारप्रकारेण तन्निरूपयति.

स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाऽम्भसि उपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशं निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः ॥६॥

प्रकाशः

सः चिन्तयन् इत्यत्र. **प्रकारः सर्वोऽपि** इति आरभ्य एतद्व्याख्यानम्. **ज्ञापितम्** इति, चिन्ताकथोपक्षेपात् शुकेन व्यासचरणैः वा ज्ञापितम्. **निरूपिता**

लेखः

इति अर्थः. **पूर्वोक्तन्यायेन** इति, **यादृशम् अयं चिकीर्षति** इत्यादिना उक्तन्यायेन इति अर्थः. **प्रपञ्चनिर्माणविधिः यया भवेद्** इत्यनेन प्रपञ्चनिर्माण-साधनविचारएव उपक्षिप्तः, **प्रपञ्चस्य निर्माणम्** उत्पादनं तत्र **विधिः** साधनसामग्रीकलापः सः **यया** दृशा ज्ञानेन भवति **तां न अध्यगच्छद्** इति वचनव्यक्तेः ॥५॥

---

१. तादृशम् इति मुद्रितपाठः मूलानुरोधेन शोधितः -सम्पा. २. तथा साधनान्यपीति ख.
३. भगवता ख. भगवान्स्वार्थमयं ग. ४. -मुपदिष्टमिति ख.

सः चिन्तयन् इति. पूर्वोक्तप्रकारेण **सः** ब्रह्मा **(एकदा!) चिन्तयन् अम्भसि** जलमध्ये लीनो यथा वदति तद्वाक्यमिव **द्व्यक्षरम् उपाशृणोद्** द्वे अक्षरे यस्मिन् पदे तादृशम् एकं पदम् अशृणोत्. तदपि **द्विर्गदितं** वारद्वयम् उच्चारितम्. अनेन पदभेदो निवारितः, पदनित्यता च निरूपिता. तदा[१] द्विरुक्तं पदं वाक्यरूपं जातम् इति **वचः** इति उक्तम्. ननु व्याकुलः चिन्ताकुलितश्च कथं जले उत्पन्नं तं शब्दम् अर्थादिपुरस्सरेण निर्धारितवान्? तत्र आह **विभुः** इति. अक्षरद्वयस्य उद्धारम् आह **स्पर्शेषु यत् षोडशम् एकविंशम्** इति. स्वराणां द्विरूपता— स्वतन्त्रता, इतरप्रधानाङ्गता च. तत्र अक्षरद्वयस्य स्वतन्त्रतया निरूपणात् साङ्गमेव स्पर्शद्वयं भवति. तत्रापि प्रथमातिक्रमे कारणाभावाद् अकारसहितं भवति. तत्र कादयो मावसानाः स्पर्शाः पञ्चविंशतिः पञ्चवर्गात्मकाः. तत्र चतुर्थ-पञ्चमयोः आदिवर्णौ षोडशैकविंशरूपौ भवतः ; तकार-पकारौ इति

प्रकाशः

इति, **द्विर्गदितम्** इत्यनेन पदप्रत्यभिज्ञां बोधयता निरूपिता इति अर्थः. **व्याकुलः** इति साधनाप्राप्त्या व्याकुलः. अक्षरद्वयं विवेक्तुं विशेषम् आहुः **स्वराणाम्** इत्यादि. **निर्णयार्थम्** इति, उच्चारितं पदद्वयं किमर्थकम् इति निर्णयार्थम्. **लक्षणया अर्थपरम्** इति. सन्तापसामान्यं तपधात्वर्थः इति अदृष्टजनकोऽपि सः तद्विशेषत्वाद् धात्वर्थएव. सच केवलधातुप्रयोगे अनवगम्यमानो असुप्रत्ययेन ज्ञाप्यते. प्रकृते तु तदभावाद् धातुमात्रं तादृशविशेषबोधने कुण्ठितं सत् स्वशक्यसम्बन्धेन अर्थपरं केषाञ्चिद् धनबोधकम्

लेखः

तेन ज्ञापितम् आहुः **अनेन यः** इत्यादि. **सः चिन्तयन्** इत्यत्र. **स्वतन्त्रता** इत्यादि. अ-इ-उ इत्यादिषु **स्वतन्त्रता,** कादिषु हलां प्राधान्यात् तत्सुखोच्चारणार्थकतया स्वराणाम् **अङ्गता च** इति अर्थः. **अक्षरद्वयस्य** इति तकार-पकारात्मकस्य. **साङ्गमेव** इति, अङ्गभूता-'ऽज्'विशिष्टमेव इति. **तत्रापि** इति अङ्गभूता-'ऽज्'मध्ये.

---

१. तद्द्विरुक्तमिति ग.

उक्तं भवति. तत्र साच्कस्यैव अर्थसमर्थकत्वाद्[१] निर्णयार्थं तदर्थम् आह **निष्किञ्चनानाम्** इति. अदृष्टजनक-तापस्य कृच्छ्रादेः तपधात्वर्थत्वात् तज्ज्ञापकाऽस्प्रत्ययाभावेऽपि[२] धातुमात्रं लक्षणया अर्थपरम् इति अभिप्रेत्य आह. न विद्यते किञ्चन येषाम्. किञ्चित् तु तापस्य निवारकम्, अतः[३] स्वरक्षितस्य पदार्थस्य प्रतिबन्धकनिवृत्तेः आवश्यकत्वात् तपःकर्तारो निष्किञ्चनाएव भवन्ति. तद् आह **निष्किञ्चनानां धनम्** इति. **नृप** इति सम्बोधनं तस्य धनस्य माहात्म्यदर्शित्वात्. **यद्** इति प्रसिद्धम्. सर्वप्रकारेण तद् रक्षणीयम् इति **धनं,** धनकार्यकर्तृत्वाद् वा. तत्र प्रमाणम् आह **विदुः** इति. यतो लोके ''तपोधनाः'' इति प्रसिद्धाः ॥६॥

निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो विलोक्य तत्राऽन्यमपश्यमानः ।।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं तपस्युपादिष्ट इवाऽऽदधे मनः ।।७।।

तद्धि पदम् अवश्यं स्पष्टवर्णात्मकमिति न वायुजलसम्बन्धाद् उत्पद्यते किन्तु वक्त्रा केनचिद् उक्तम् इति निश्चित्य **तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो विलोक्य तत्र अन्यम् अपश्यमानः** स्वयन्तु न उक्तवान् इति ज्ञात्वा अन्यं च अपश्यन् तदन्वेषणार्थं स्थलान्तरेऽपि गत्वा परितो वा भ्रमणं विधाय पुनः **स्वधिष्ण्यम् आस्थाय** वक्तृचिन्तां[४] परित्यज्य पदं विचारितवान्. तत्र **(तद्धितं विमृश्य!)** पदचतुष्टयमध्ये आख्यातमेव तद् भवति इति

प्रकाशः

इति अर्थः. **किञ्चित् तु** इति, **निष्किञ्चन**शब्दावयवभूत-**किञ्चन**पदवाच्यं तु इति अर्थः. **निष्किञ्चनाएव** इति. स्वरक्षित-ताप-प्रतिबन्धकीभूत-किञ्चिदाख्य-पदार्थरहिताएव इति अर्थः ॥६॥

निशम्य इत्यस्य व्याख्यानं **तद्धि पदम्** इत्यादि. **पदचतुष्टमध्ये** इति नामाख्यात-निपातोपसर्गात्मक-पदचतुष्टयमध्ये ॥७॥

लेखः

स्वरक्षितेति, स्वत्वेन रक्षिततपःपदार्थस्य इति अर्थः ॥६॥

---

१. -समर्पकत्वादिति ख. २. द्रष्ट. पाणि.सूत्र ६।४।१४ - सम्पा.
३. अन्तःस्वेति ख. ४. वक्तृविचारमिति ख.

निश्चित्य, अन्यस्य तादृशरूपाभावाद् लोट् परस्मैपद-मध्यमपुरुषैकवचनं द्विरुक्तम् इति निश्चित्य, लोडर्थविचारे विध्यादिषु अर्थेषु प्रथमातिक्रमे कारणाभावाद् विध्यर्थएव अयम् इति निश्चित्य – आज्ञैव विध्यर्थइति, परोक्षापरोक्षभेदेन क्रियायाः लिङ्-लोटोः विधानात्, प्रेर्य-परोक्षापरोक्षभेदेन च प्रथमपुरुष-मध्यमपुरुषयोः विधानाद् भवच्छब्देऽपि आज्ञापरोक्षत्व-बोधनात् – "प्रत्यक्षतया प्रत्यक्षं मां पश्यन् मदग्रे तपः कुरु" इति **तपसि उपादिष्टइव तपसि मनः आदधे** ॥७॥

तदा तपः कृतवान् इति.

दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः ॥
अतप्यत स्माऽखिललोकतापनं अतितपीयांस्तपतां समाहितः ॥८॥

दिव्यं सहस्राब्दम् इति. सन्तापजनकाः योग-ज्ञान-प्राणाः ; तस्य त्रयमपि सम्पन्नम् इति वक्तुं द्वयं[१] विशेषणतया निरूपयति. **अमोघदर्शनः** इति ज्ञानम्[२]. अथवा यः तेन पदार्थनिर्धारः कृतः सः तस्य इति वा निरूप्यते. **जितानिलात्मा** इति योगजनितः[३] तपःशुद्धिः वा.

प्रकाशः

दिव्यम् इत्यत्र. साधारणस्य ज्ञानस्य अप्रयोजकत्वेन अमोघत्वं न उपपद्यतइति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **योगजनितः**

लेखः

लिङ्-लोटोः विधानाद् इति. ... . ननु प्रथमपुरुषप्रयोगे लोट्लकारेऽपि कथम् अपरोक्षार्थलाभः इत्यतः आहुः **भवच्छब्देऽपि** इति ॥७॥

दिव्यम् इत्यत्र. **द्वयं विशेषणतया** इति. **अमोघदर्शनः** इति तु विशेष्यसमर्पकमेव इति भावः ॥८॥

---

१. त्रयमिति मुद्रितपाठः. ख-लेखे तु एवम् - सम्पा.

२. स जितानिलात्मा इति योगाभिप्रायकं विशेषणम्. विजितोभयेन्द्रियः इति प्राणाभिप्रायकं विशेषणम्. ततश्च अमोघदर्शनः इति विशेष्यसमर्पणात्मक-ज्ञानाभिप्रायकं पदम् - सम्पा.

३. -जनिततप- इति ख-ग.

विजितोभयेन्द्रियः इत्यपि. जितो अनिलः आत्मा = अन्तःकरणं येन, विशेषेण जितानि ज्ञान-कर्मेन्द्रियाणि येन. **अतप्यत** आहारपरित्यागेन प्राणनिरोधेन आत्मानं संतप्तं कृतवान्. तदा तस्मिन् विद्यमानाः लोकाः[१] संतप्ताः जाताः ; यथा घर्मेण वस्त्रशोषणे जाड्यं[२] गच्छति तथा लोकानाम्. तद् आह **अखिललोकतापनम्** इति. अखिललोकस्य तापनं यस्मात्. तपसि सहजाः ये दोषाः क्रोध-ग्लान्युद्वेगादयः ते तस्य न जाताः इति तदर्थं विशेषणं **तपतां** मध्ये **अतितपीयान्**इति. **समाहितः** इति सावधानः फले. यथा पाचको रसनिष्पत्तिं ज्ञात्वा पश्चाद् न तपति, तदर्थं च दत्तदृष्टिः भवति, तथा अयमपि इति अर्थः ॥८॥

एवं क्रियमाणे फलं जातम् इति आह.

तस्मै स्वलोकं भगवान् समाहितः सन्दर्शयामास परं न यत्परम् ।।
व्यपेतसंक्लेश-विमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम् ।।९।।

तस्मै स्वलोकम् इति. सहि भगवदर्थं सृष्टिं कर्तुं विचारयति. भगवांस्तु एतादृशे लोके तिष्ठति, नहि एतादृशो ब्रह्मशक्यः, अतः तस्य गर्वपरिहारार्थं **स्वलोकं (सन्दर्शयामास !)** प्रदर्शितवान्. अन्यथा आत्मानमेव प्रदर्शयेत्. कृत्रिमवैकुण्ठस्य लक्ष्म्या अधिकृतत्वात् **स्वलोक**पदेन व्यापिवैकुण्ठमेव उच्यते. यद्यपि तमेव प्रदर्शयति तथापि तत्प्रदर्शनं न भगवतः किञ्चित्कार्यं जनयति किन्तु तस्यैव भक्तिजनकम्, अतः आह **तस्मै** इति. **भगवान्** इति प्रदर्शनसामर्थ्यार्थम् उक्तम्, अन्यथा तद् अदृश्यं[३] कथं दृश्यं भवेत्! **समाहितः** इति. स्वदृष्टिं तद्दृष्टौ योजयित्वा लोकं प्रदर्शयन्नपि अग्रे

प्रकाशः

इति, सामर्थ्यविशेषः उक्तः इत्यर्थात्. **इत्यपि** इति, तथा इति शेषः ॥८॥

तस्मै इत्यत्र. **अतः आह** इति, अतो हेतोः तादर्थ्यचतुर्थीम् आह. **स्व**पदेनैव कृत्रिमवैकुण्ठात् परत्वं सिद्ध्यतीति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः

---

१. अपि इति अधिकम् अत्र सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा. २. जाड्यम् इति शैत्यप्रयुक्त-जाड्याभिप्रायकम् - सम्पा. ३. तददृश्यं भवेत् ख. तादृशं ग.

स्वदृष्टेः पृथक्करणार्थं यथा[१] तद्दृष्ट्या एकं[२] न प्राप्नोति तथा[३] सावधानः इति अर्थः. लोकस्य वा तिरोभाव-स्वभावात् तद्दृष्टिस्पर्शेऽपि यथा न तिरोहितं भवेत् तदर्थं वा सावधानः. **परं** कृत्रिमवैकुण्ठात्. ब्रह्मस्वरूपं[४] वा. ''प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः[५]'' (त.दी.नि. २।१०२) इति अक्षररूपं[६] वा. **न यत्परम्** इति, **न** विद्यते **यतः परम्** उत्कृष्टम् अन्यत्. अक्षरस्याऽपि अनेकधा प्रदर्शनसम्भावनयाऽपि एतद् उक्तम्. तस्य गुणातीतत्व-कथनार्थं गुणाऽसाधारणधर्मान् निवारयति **व्यपेत** इति. **विशेषेण अपेताः संक्लेशादयो** यस्मात्. **सम्यक् क्लेशाः** अविद्यादयः तमसः, **विशेषेण मोहो** रजसः, **साध्वसं** सत्त्वस्य. साधुः अस्यते क्षिप्यते अनेन इति साध्वसं, सर्वस्मादेव [७]अकार्यात् साधुः तेन भयेन पृथक् क्रियते इति. व्यवहारेणाऽपि तस्य सगुणत्वं निवारयति **स्वदृष्टवद्भिः** इति. स्वस्यैव स्वस्मिन् वा दृष्टं दर्शनम् आत्मज्ञानं तद्वद्भिः. ब्रह्मविद्भिरेव तत्रापि

प्रकाशः

ब्रह्मरूपं वा इति. अहिकुण्डलवत् स्वाभिन्नम् इति अर्थः. ''पूर्ववद् वा'' (ब्रह्मसूत्र ३।२।२९) इति न्यायेन राजाधिकारानुरूप-सामर्थ्यस्य अत्र वक्तव्यत्वाद् इदमपि न अत्र युक्तम् इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः **प्रभुत्वेन** इत्यादि. ननु एवं सति **न यत्परम्** इति अग्रिमविरोधः इत्यतः आहुः **अक्षरस्य** इत्यादि. साम्यदशायां गुणासाधारणधर्माणाम् अभिव्यक्त्यभावाद् व्यपाय इव भवति इति तत्तौल्यवारणम् आहुः **व्यवहारेण** इत्यादि.

लेखः

तस्मै इत्यत्र. **यथा तद्दृष्ट्या** इति. अन्यथा सर्वदैव लोकदर्शनापत्तिः दुर्वारा स्याद् इति भावः. **अनेकधा प्रदर्शनेति**. प्रपञ्चाद्यनेकरूपेण तर-तमभावेन अक्षरस्यैव प्रादुर्भावात् तन्निवारणार्थं **न यत्परम्** इति भेदकम् उक्तम्

---

१. यथा यथेति ख-ग. २. ऐक्यम् इति मा.१ पाठे - सम्पा.

३. तदर्थं सावधान इति ख-ग. ४. ब्रह्मरूपम् इति प्रकाशे - सम्पा.

५. तदुद्गम इति ख. ६. -स्वरूपं वेति ख-ग.

७. कार्याद् इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

स्तोत्रेण व्यवह्रियते इति न ब्रह्मत्वक्षतिः. तद्द्वारा अन्यव्यवहारोऽपि भविष्यति इति आशङ्क्य **विशेषेण बुधैः** इति उक्तम्. **अभितः स्तुतिः** सर्वोऽपि परिकरः तादृशइति ॥९॥

एवं गुणकार्यं निवार्य गुणानपि निवारयति.

प्रवर्तते यत्र रजस्तमश्च न सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः ॥
न यत्र माया किमुताऽपरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥१०॥

प्रवर्तते यत्र इति. **यत्र** लोके **रजः तमश्च न प्रवर्तते, सत्त्वं च न** ताभ्यां **मिश्रम्**. अनेन शुद्धं सत्त्वं तत्र प्रवर्तते इति ज्ञापितम्. तदपि ब्रह्मत्वबाधकम् इति चेत्, न, वासुदेववद् अक्षरस्याऽपि उद्भवे शुद्धसत्त्वस्य आधारत्वेन अपेक्षिततत्वात्. अन्यथा निराकारे साकारता न सम्पद्येत. तावताऽपि न तस्मिन् गुणसम्बन्धः, आकारसमर्पणार्थमेव[१] तत्सम्बन्धात्. यथा प्रतिकृतिसम्बन्धः पित्तलादीनाम्. तथापि प्रतिमादौ

प्रकाशः

स्वदृष्टवत्पदेन ब्रह्मविल्लाभे **विबुध**पदानर्थक्यम् आशङ्क्य तत्तात्पर्यम् आहुः **तद्द्वारा** इत्यादि. **अन्यव्यवहारः** इति तदनुयायिनां व्यवहारः. तद्व्यवहारे गुणसम्बन्धाद् नैर्गुण्यं हीयेतइति तद्वारणाय एवम् उक्तम् इति अर्थः ॥९॥

प्रवर्तते इत्यत्र. **अनेन** इत्यादि. एतेन "क्षयन्तमस्य रजसः पराक्" (तैत्ति.संहि. २।२।१२।५) इत्यादि श्रुतौ उपलक्षणविधया तमसोऽपि निवारणात् तदुपबृंहितम् इति ज्ञेयम्. **प्रतिकृतिसम्बन्धः** इति भरितपात्र-सञ्चायक-सम्बन्धः. **तथापि** इति सम्बन्धेऽपि. **तस्माद्** इति कादाचित्कस्य सम्बन्धस्य

लेखः

इति अर्थः. **तद्द्वारा** इति. स्तुतिद्वारा "अन्यस्य सामान्यस्यापि तल्लोकव्यवहारो भविष्यति" इति आशङ्कावारणार्थं विशिष्टाधिकारबोधक-**विबुध**पदम् उक्तम् इति अर्थः ॥९॥

निराकारे इति. "अस्थूलम्" (बृहदा.उप. ३।८।८) इत्यादि श्रुतेः

---

१. आकारस्येति ख.

तदाकृतिव्यतिरेकेण न तत्र अन्यो धर्मो अस्ति. नच तत्र अन्तर्बहिः पित्तलस्य व्यतिरेकेण अन्यः पदार्थो विद्यते. तस्माद् ब्रह्मत्वम् अविरुद्धम्. सम्बन्धश्च भगवदिच्छयेति न तद्गतो दोषः. अक्षरस्वरूपं च निबन्धे[१] निरूपितम्. किञ्च गुणाः तत्रैव भवन्ति यत्र तत्क्षोभकः कालो भवति, अन्यथा तेषां स्थितिः व्यर्था स्यात्; कार्यार्थमेव हि ते अङ्गीक्रियन्ते इति अभिप्रायेण आह **नच कालविक्रमः** इति. कालस्याऽपि तत्र विक्रमो नास्ति. कालस्तु वर्तते सत्त्ववद्, अन्यथा कदाचिदेव कथम् अभिव्यज्येत[२]! (ननु!) ''आनन्दांशतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र हि'' (त.दी.नि. २।९९) इति निरूपणात् चिद्रूपं तद् इति उक्तं भवति, गणितः च आनन्दः

प्रकाशः

पश्चाद् अपायात्. ननु एवं संसर्गमात्रेऽपि सांसर्गिकदोषस्तु आयात्येव इत्यतः आहुः **सम्बन्धश्च** इत्यादि. **निरूपितम्** इति, तृतीयैकादशस्कन्धादि-वाक्यानि अनुसन्धाय ''प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा, यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते'' (त.दी.नि. २।९८) इत्यादिना निरूपितम्. एतेन सुबोधिनीतः पूर्वं निबन्धमूलं कृतम् इति ज्ञायते. निबन्धटीका तु सुबोधिन्यादि-सर्वग्रन्थकरणोत्तरं (कृता इति!) ''त्रयं वच्मि यथामति'' (त.दी.नि. १।५) इत्यस्य व्याख्याने ''मीमांसाद्वयभाष्यं भागवतटीका च परिगृहीता'' इति 'च'कारव्याख्यानाद् ज्ञायते. ननु शुद्धसत्त्ववत् शुद्धे रजस्तमसी अपि तत्र तिष्ठतां, को दोषः? इत्यतः तदभावगमकम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. **विक्रमः** इति क्षोभरूप-कार्यव्यापारः. **न यत्र माया** इति अर्धस्य अवतरणिकां

लेखः

इति भावः. **निबन्धे निरूपितम्** इति, ''प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ'' इत्यादिना निरूपितम्. ... . **अन्यथा कदाचिद्** इति. कालाभावे भगवदिच्छाविषय-काले कथम् आविर्भावः स्याद् इति अर्थः. तद् उक्तं ''अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वम् अस्य हि, प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः'' (त.दी.नि. २।१०२) इति. **आनन्दांशतिरोभावः** इति. ... . **''एतस्य अक्षरस्य**

१. द्रष्ट. त.दी.नि. २।९८ - १०३ १/२ -सम्पा. २. -व्यज्यते इति क-घ.

तत्र उपपद्यते, अतो मोहिका माया तत्र सम्भविष्यति इत्यतः आह **न यत्र माया** इति. माया हि आनन्दार्थं परिगृह्यते. अक्षरस्य च सामर्थ्यं न भगवता गृहीतं, ''एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि'' (बृहदा.उप. ३।८।९) इत्यादिश्रुतेः, ''ते ये शतं प्रजापतेः आनन्दाः स एको ब्रह्मणः

प्रकाशः

वक्तुं पूर्वार्धस्य निष्कृष्टार्थम् आहुः **आनन्दः** इत्यादि. **उपपद्यते** इति, सत्त्वसम्बन्धादेव उपपद्यते. एतेन इदं स्फुटति. [१]तथाहि— यत्र भगवान् स्वस्य यथाकथञ्चित् स्वरूपमात्रं प्रदर्शयति तत्र आकारादिसमर्पणार्थं कालादीनाम् आधारता आवश्यकी. अतएव ''कृते शुक्लश्चतुर्बाहुः'' (भाग.पुरा. ११।५।२१) इत्यादि वाक्यैः गुणावतारवाक्यैश्च नानावर्णाकारत्वम् औपाधिकम् इति निश्चीयते. यत्र पुनः कृपया ऋतं स्वस्वरूपं प्रदर्शयति (तत्र!) स्वस्मिन् सत्त्वं न सम्बन्धयति किन्तु लोके आकारसमर्पणाय [२]लौकिके सम्बन्धयति. तेन तस्य गणितानन्दत्वं भवति. स्वयन्तु सत्त्वाधारे लोके यद् आध्यात्मिकम् आसनरूपम् अक्षरं तदाधारौ यौ आधिदैविकाक्षररूपौ चरणौ, तदाधारो गुणसंसर्गलेशस्यापि राहित्याद् निरवध्यानन्दरूपः स्वाभाविकसुन्दराकारः कालसम्बन्धाभावात् सदाविर्भूतो निरुपहितधर्मा भवति. एवं सति यथा अत्र तथैव ''रमाक्रीडम् अभून् नृप'' (भाग.पुरा. १०।५।१८) इत्यत्र बृहद्वामनीय-कथास्थले च अवगन्तव्यम्. तेन च गीतास्थ-श्रुत्यादिस्थ-केवलानन्दाकारत्वबोधक-वाक्यतात्पर्यप्रकाशकः ''अथवा शून्यवद् गाढम्'' (त.दी.नि. १।७५) इति तत्त्वदीपग्रन्थः, तदर्थप्रकाशिका जन्मप्रकरणीय-तृतीयाध्यायटिप्पणी च एतदनुसन्धायैव विचारणीयं, नतु अन्यथा इति. **अतः** इति चिद्रूपत्वात् तद्गुणसम्बन्धाच्च. **अस्य** इति भगवतः. **एते** इति सुरासुराः ॥१०॥

लेखः

प्रशासने'' इति. हे **गार्गि! एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने** आज्ञायां **द्यावापृथिव्यौ विधृते** नियमितौ तिष्ठतः इति अर्थः. इयं श्रुतिः बृहदारण्यके

१. इतः शुद्धैकेन प्रतिफलकेन संवादितः प्रकाशो अयम्.

२. लोके इति मा.पाठे - सम्पा.

आनन्दः'' (तैत्ति.उप. २।८) इति च. तस्माद् अस्य सालोक्यएव ब्रह्मभावः. अतः तस्य तत्रत्यानां च मायाकार्याभावाद् न तत्र व्यामोहिका माया. यत्र मायैव नास्ति तत्र **किमुत अपरे** बद्धाः जीवाः! ननु भगवत्सेवकानां पराधीनत्वादिभिः बन्धसम्भवात् कथं ते निषिध्यन्ते? इत्यतः आह **हरेः अनुव्रता यत्र** इति. हरेः अनु[1] पश्चाद् व्रतं येषां ; यथा हरिः तथा ते. अनशनात्मकं शरणागत-पालनात्मकं व्रतं येषाम्. यथा भगवान् उद्गच्छति सर्वोद्धारार्थं तथा तेऽपि लोकेभ्यो भक्त्युपदेशार्थं स्वावेशेन भक्तिजननार्थञ्च आविर्भवन्ति. किञ्च **यत्र** वैकुण्ठे ते विद्यमानाः **सुरासुरार्चिताः** भवन्ति. सत्त्व-रजःपरिणामाः हि एते ; तमसः तत्र सम्भावनैव नास्ति. यदि ते राजसाः तामसाः वा भवेयुः तदा तादृशैः अर्चिताः न भवेयुः. नहि उत्कर्षाभावे समानैः अर्चनं सम्भवति. असुराअपि आविर्भूतेन भगवता सह युद्धार्थम् आगताः कियत्कालं भगवत्सम्बन्धे परमं सुखम् अनुभूय पश्चात् पराजिताअपि कदापि तादृशसुखस्य अननुभवात् तत्र नित्यसम्बन्धान्[2] स्तुवन्ति ''धन्याः एते!'' इति. साक्षादपि पूजनं प्रह्लादादिभिः. सुरैस्तु आवरणत्वेन पूज्यन्तएव ॥१०॥

तेषां भगवत्तुल्यरूपं निरूपयितुम् अनुवर्णयति.

श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः ।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि-प्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः ॥
प्रवालवैडूर्यमृणालवर्चसः परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः ॥११॥

श्यामावदाताः इति. भगवतः षोडशगुणाः प्रसिद्धाः, सच्चिदानन्दानां प्रत्येकं पञ्च गुणाः समुदायस्य एकः इति. तत्र भगवत्सेवकानां दश

लेखः

गार्गिब्राह्मणे अस्ति. **तस्माद् अस्य सालोक्ये** इति. अस्य अक्षरस्य लोकसमानाकारत्वेऽपि ब्रह्मत्वं न अपैति इति अर्थः. **सालोक्ये** इति. ... . **सुरैस्तु आवरणत्वेन** इति. पार्षदानां हि आवरणदेवतात्वम्. भगवत्पूजाङ्गत्वेन आवरणदेवतापूजापि प्राप्नोतीति तथा इति अर्थः ॥१०॥

---

१. हरेः पश्चादिति घ. २. संबद्धा इति ख. संबद्धानिति ग.

गुणाः, अक्षरस्य सच्चिद्रूपत्वात्. तान् दश गुणान् निरूपयति **श्यामावदाताः** इति. लोकत्वेन तदुद्गमाद् न अत्र श्यामादीनाम् उपपत्तिः वक्तव्या. श्यामाः च ते अवदाताः च, इन्द्रनीलमणिवत्, मध्यन्दिन-सवितृमण्डलमध्यवद्, यथा वीतार्चिषो अग्नेः नीलोपकाशो अर्चिः तद्वद् वा. एवं शुद्धरूपता निरूपिता. सौन्दर्यं निरूपयति **शतपत्रलोचनाः** इति, कमलनयनाः. एवं स्वरूपतः तुल्यत्वम् उक्त्वा सामग्र्यापि तुल्यताम् आह **पिशङ्गवस्त्राः** इति, सर्वे पीताम्बराः. सूर्यमण्डलस्याऽपि श्यामावदातत्वात् तस्य यथा अशीतला रुक् तद्वद् न भवति. न वा चन्द्रस्येव अल्पा रुक् किन्तु **सुरुचः** शोभना रुचो[१] येषाम्. नच तद्दर्शने घटादिवद् विषयसंस्कारकं[२] तेजो अपेक्ष्यते. किञ्च **सुपेशसः** अतिकोमलाः.

रूपं गन्धश्च शब्दश्च रसश्च स्पर्श एव च ॥
सत्त्वस्यैते पञ्च गुणाः सर्वोत्कृष्टाः निरूपिताः ॥(३)॥
चिदंशस्याऽपरे पञ्च सर्वोत्कृष्टा भुजादयः ॥

सर्वे चतुर्बाहवः, धर्मार्थ-काम-मोक्षाः तेषां हस्तप्राप्ताः इति निरूपणार्थं चतुर्भुजत्वम्. **उन्मिषन्तो मणिप्रवेकाः** मण्युत्तमाः **निष्कादिपदकाद्याभरणेषु** येषाम्. यद्यपि गृहादिषु अलङ्काराः भवन्ति तथापि पदकादयः चेतनानामेव. **सुवर्चसः**. **वर्चः** चेतनकान्तिः ; यथा महापुरुषाणां दिव्यस्त्रीणां वा तदेव

प्रकाशः

श्यामावदाताः इत्यत्र. इन्द्रनीलादि-दृष्टान्तैः उपलक्षणविधया श्यामत्वे नानाप्रकारत्वं बोधितम्. **शब्दश्च रसश्च** इति. पीताम्बरस्य वेदरूपत्वात् **पिशङ्गवस्त्र** इत्यनेन शब्दः, सूर्यमण्डलदृष्टान्तेन रूपस्य उक्तत्वात् सूर्यस्य च श्रुतौ मधुत्वेन निरूपणात् **सुरुचः** इत्यनेन रसः इति अनवद्यम्. **सत्त्वस्य** इति सदंशस्य. आभरणानां बाह्यत्वेन सद्गुणत्वम् आशङ्क्य निराकुर्वन्ति

लेखः

श्यामावदाताः इत्यत्र. **सच्चिद्रूपत्वाद्** इति. सच्चितोः प्रत्येकं पञ्चगुणत्वाद् दश भवन्त्येव इति भावः. ते च सार्धेन उच्यन्ते, शिष्टास्तु

---

१. रुक् येषामिति ख. २. -संस्कारकतेज इति घ.

'वर्चः'शब्देन उच्यते. सुष्ठु वर्चो येषां = सर्वोत्तमदेहकान्तयः. सर्वेषाम् एकरूपत्वं प्राप्तं विशेषेण निवारयति **प्रवाल-वैडूर्य-मृणालवर्चसः** इति. यथा **प्रवालेभ्यो** अन्तःस्निग्धा गौरकान्तिः निर्गच्छति तथा तेभ्योऽपि श्यामावदातेभ्यो गौररूपा कान्तिः निर्गच्छति. ते बहुभिः विषयैः भगवद्भक्तिकर्तारः तथात्वं बोधयितुं तत्र तादृशकान्तिमन्तो भवन्ति. एवं **वैडूर्य**स्य स्निग्धार्धपीतश्यामच्छविकान्तिः ; व्रत-तीर्थादिभिः सेवया च ये पूर्वं भक्ताः. ये ज्ञानेन भक्ताः ते **मृणालवर्चसः**. एवम् एकरूपत्वेऽपि पूर्वकृत-भक्तिप्रकार-भेदाद् अनेकरूपाः ते इति निरूपितम्. परमोत्साहयुक्ताः तइति तेषाम् अन्तःकरणधर्मनिरूपणार्थं विशेषणान्तरम् आह **परितः[१] स्फुरतां कुण्डलानां मौलीनाञ्च याः मालाः ताः विद्यन्ते येषु.** कुण्डल-परिभ्रामणेन मुकुट-परिभ्रामणेन च सोत्साह-भगवत्परिचर्याकर्तारः इति भजनानन्दः तेषु निरूपितः ॥११॥

एवं तत्रत्यानां भगवत्सेवकानां निर्दोषत्वम् उक्त्वा लोकत्वाय वैकुण्ठस्य गुणान् आह **भ्राजिष्णुभिः** इति द्वाभ्याम्. सेवकानां भगवतश्च क्रमेण[२] विषयानन्दो निरूप्यते. तत्रापि भगवान् प्रथमं सेवकानेव सानन्दान् करोतीति तेषामेव विषयानन्दनिरूपणम्.

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥१२॥

विषयेषु तावदबलाः इति, तदाधारेषु विमानम् इति, स्वस्य च

प्रकाशः

यद्यपि इत्यादि. तथाच सद्गुणत्वेन प्रतीयमानत्वेऽपि नियतचेतनैक-सम्बन्धित्वात् चिद्गुणाः इति अर्थः ॥११॥

भ्राजिष्णुभिः इत्यत्र. ननु विषयकोटौ प्रथमम् अन्नपानादिकं रसादिकञ्च अवश्य-वक्तव्यमिति तत् कुतो न उक्तम् अतः आहुः

लेखः

… . **नीलोपकाशेति.** … . **प्रवालेत्यत्र. तथात्वं बोधयितुम्** इति, अनेकप्रकारेण भक्तिकर्तृत्वं बोधयितुम् इति अर्थः ॥११॥

---

१. परिस्फुरतामिति ग. २. क्रमेण नास्ति ग.

परिज्ञानम्[१] इति, ईश्वरकृत-भयाभावइति चतुर्भिः गुणैः विषयोत्कर्षः. अन्नादीनान्तु दोषाभावे प्रवेशः, रसादीनान्तु एतदङ्गत्वम्. तद् आह **भ्राजिष्णुभिः** कान्तिमद्भिः **विमानावलिभिः** विमानपङ्क्तिभिः **यो** लोकः **परितो विराजते.** वैकुण्ठशोभाधायकानि विमानानि भगवतैव निरूपितानीति न तत्र कापि शङ्का. **लसन्ति** इति सर्वोत्कृष्टानि. **महात्मनाम्** इति सर्वज्ञानां, परिच्छेदं परित्यज्य पूर्णत्वं वा प्रापितानाम्. किञ्च **प्रमदोत्तमाद्युभिः**. प्रमदोत्तमाः तेषां भोगहेतवः, अन्यथा भोगरागो न भवेत् किन्तु विषयकृत-रागेणैव

प्रकाशः

अन्नादीनाम् इत्यादि. तथाच अन्नाद्यभावस्य दोषरूपत्वात् तदभावस्य च प्रागेव उक्तत्वात् तेनैव अन्नादिसद्भाव-प्राप्तिः इत्यतो न उक्तम् इत्याशयेन[२] विमानानां शोभाम् आह इति अर्थः. **कापि शङ्का** इति दोषलेशस्य शङ्का. विषयानन्दनिरूपण-प्रयोजनम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **भोगरागः** इति भोगकृत-रागः. अत्र अयम् अर्थः प्रतिभाति— आनन्दमीमांसायां "युवा स्याद्" (तैत्ति.उप. २।८।१) इत्यादिना विषयभोगपूर्वकं मानुषानन्दं प्रथमतो निरूप्य शताधिक्येन अग्रिमाः आनन्दाः निरूपिताः. तथा सति प्राजापत्यान्तेष्विव ब्रह्मानन्देऽपि सो अवश्यं वक्तव्यः. अन्यथा प्रायपाठो विरुद्ध्येत. "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (ब्रह्मसूत्र ४।४।२१) इत्यनेन सूत्रकृतापि एतदङ्गीकृतं, तदपि विरुद्ध्येत. तस्य भोगस्य अत्र अभावे अक्षरानन्दस्य तदंशन्यूनतायां ततः आधिक्यं तदंशे बाधितञ्च भवेत्. अतः तन्निरूपणम्. तथाच [३]मात्राकृतएव रागो, नतु विषयकृतः इति ईश्वरकृत-भयाभावार्थं भगवदिच्छया सः इति बोधयितुं विषयानन्दो निरूपितः इति अर्थः ॥१२॥

लेखः

चतुर्भिः गुणैः इति. तत्र **महात्मनाम्** इति ज्ञानम्; अनेनैव **ईश्वरकृतभयाभावो**ऽपि उक्तः इति ज्ञेयम्. **अन्नादीनान्तु** इति. ... . **रसादीनान्तु** इति. ... ॥१२॥

१. -ज्ञातमिति ग. २. इत्याद्याशयेन इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.
३. मात्रकृत- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

रागवत्त्वमिति भगवदिच्छयैव तथात्वम् इति निरूपितम्. तासां कान्तिभिः अयं लोको **विद्योतमानः**. लोकापेक्षयाऽपि तासाम् अतिकान्तित्वं निरूपितं भोगार्थमेव. तासामपि कान्तिः पुरुषसहितानामेव, न केवलानाम् इति दृष्टान्तेन आह **यथा विद्युत्सहिताभिः अभ्रावलिभिः** मेघपङ्क्तिभिः **नभः** आकाशं सर्वतो व्याप्तं तद्वद् इति अर्थः ॥१२॥

एवं सेवकानां महाभोगम् उपपाद्य तत्र भगवतो महाभोगोपपादनार्थं लक्ष्मीम् अनुवर्णयति.

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिः ॥
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगैर्विगीयमाना प्रियकर्म गायती ॥१३॥

श्रीः यत्र इति. यदा[१] भगवान् स्वशक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा[२] शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा. सा शरीरएव बलवत् पूर्वं स्थिता. यदा भगवान् प्रभुत्वेन आविर्भूतः तदा साऽपि भोग्यत्वेन आविर्भूता भार्येव. तद् आह **रूपिणी** इति. साऽपि[३] सच्चिद्रूपा स्वार्थम्. तस्याः शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपम्[४]. अतएव **उरुगायपादयोः विभूतिभिः मानं करोति** इति. साहि अक्षरस्य आनन्दरूपा, अक्षररूपौ च पादौ. अतः सा स्वात्मचरणावेव आनन्दयुक्तौ करोति. इदमेव हि सन्माननम्. **उरुगायेति**, उरुभिः = मन्त्रैः गीयते इति. ''तद्विष्णोः परमं पदं'' (ऋक्संहि. १।२२।२०), ''विष्णोर्नु

प्रकाशः

श्रीः यत्र इत्यत्र. स्वार्थं सच्चिद्रूपत्वे गमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. तथाच चरणसेवया भगवदानन्दाकाङ्क्षावत्त्वमेव[५] तद्गमकम् इति अर्थः ॥१३॥

लेखः

श्रीः इत्यत्र. **बलवद्** इति, बलशक्तिवद् इति अर्थः. **स्वार्थम्** इति भगवदर्थम् इति ज्ञेयं ; स्वस्य आनन्दप्राप्त्यर्थम्. चिद्रूपत्वेन ज्ञानप्राधान्याद् भगवद्गुणानां ज्ञानपूर्वक-गानसिद्ध्या आनन्दो भवतीति तथा इति अर्थः.

---

१. यथा इति ख. २. आविर्भूतः शक्तीनामिति ख-ग. ३. सा चेति ख-ग.
४. -स्वरूपमिति ख. ५. -काङ्क्षत्वमेव इति मा.पाठे - सम्पा.

कं वीर्याणि" (ऋक्संहि. १।१५४।१) इत्यादि, "त्रेधा उरुगाय" (तत्रैव) इत्यादिभिः सर्वश्रुत्यर्थः **उरुगायः** पुरुषोत्तमः. तस्य तु चरणौ अक्षरम् इति निरूपितम्[१]. **बहुधा** इति पञ्चभिरेव गुणैः[२] भक्त्या च. एवं तस्याः भगवदर्थम् आनन्दरूपायाः प्रयोजनम् उक्त्वा स्वार्थं चिद्रूपायाः प्रयोजनम् आह **प्रेङ्खं श्रिता** इति. **या** लक्ष्मीः **प्रेङ्खं** हिन्दोलां **श्रिता** तत्र उपविश्य सर्वथा चित्तनिर्वृत्यर्थं **कुसुमाकरानुगैः** वसन्तसेवकैः भ्रमरैः स्वयं **गीयमानाऽपि** – सर्वावयवस्थित-पुष्पाद्यामोदार्थं समागताः भ्रमराः बहुकालं निकटस्थित्यर्थं तां वस्तुतो गायन्ति – स्वयन्तु (**प्रियकर्म!**) भगवत्कर्माणि[३] **गायति,** अन्यथा अक्षरे लीना स्यात्. अतएव साक्षात्सम्बन्धाभावाय प्रेङ्खं श्रिता. तस्याः[४] लयव्यावृत्त्यर्थं सैव गुणान् गायति. तत्रत्यः कुसुमाकरः फलपूर्वावस्थारूपः परमनिर्वृत्यात्मा. तस्य अधिष्ठात्र्यो देवताः एनाम् आनन्दरूपां स्तुवन्ति, स्वस्याऽपि फलरूपत्वात्. अनेन अक्षरकृतं भयं व्यावृत्तं, यतः

लेखः

शरीरन्तु इति. ... . **इति पञ्चभिरेव** इति रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दैः. एवञ्च सच्चिद्रूपस्य लोकस्य दश गुणाः पूर्वं निरूपिताः, लक्ष्मीश्च आनन्दरूपा इति आनन्दरूपस्य पञ्चभिः गुणैः भगवन्तं सेवन्ते —इति षोडशापि गुणाः उक्ताः इति भावः. **साक्षात्सम्बन्धाभावाय** इति, अक्षरेण साक्षात्सम्बन्धाभावाय इति अर्थः. **तत्रत्यः** इति, वैकुण्ठस्थः इति अर्थः. **फलपूर्वावस्थारूपः** इति. फलं भगवदानन्दः, तत्पूर्वावस्थारूपः ततः न्यूनो गणितानन्दः, गणितानन्दत्वाद् इति भावः. तदेव स्वरूपं निष्पन्नम् आहुः **परमेति.** परः पूर्णानन्दो मीयते उत्कृष्टेन अनुमीयते यया तादृशनिर्वृत्यात्मा इति अर्थः. अक्षरानन्दस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन अनुमीयत्वे तदधिष्ठातुः ईश्वरस्य आनन्दस्य तथात्वे किमु वाच्यमिति तथा इति अर्थः. **तस्य** इति, कुसुमाकरस्य इति अर्थः. **अधिष्ठात्र्यः** इति. ... **स्वस्य** इति अधिष्ठातुः देवतारूपस्य. **तदीयाः** इति अक्षरसम्बन्धिनः. **यदा मानेति.** ... ॥१३॥

---

१. निरूपयन्तीति ख. २. आनन्दस्य इति आशयः - सम्पा. ३. -कर्मादीति ख.
४. तस्यालयव्यावृत्त्यर्थम् इति मुद्रितपाठः अर्थस्वारस्यात् संशोधितः - सम्पा.

तदीयाः मन्यन्ते इति. यदा मानावसरो नास्ति तदा स्वरक्षार्थं प्रियकर्माणि गायति. एकवचनन्तु स्वोद्धाराभिप्रायम् ॥१३॥

एवं भोग्यरूपां तां निरूप्य तस्याः भोक्तारं भगवन्तं निरूपयति.

ददर्श तत्राऽखिलसात्वतां पतिं श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ॥
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः स्वपार्षदैश्च[1] परिवेष्टितं विभुम् ॥१४॥
भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं प्रसन्नहासारुणचारुलोचनम् ॥
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं पीताम्बरं वक्षसि लक्षितं श्रिया ॥१५॥

ददर्श तत्र इति. पूर्वोक्तमपि सर्वं ब्रह्मा दृष्टवान्, लोकस्य प्रदर्शितत्वात्. तत्र स्थितं भगवन्तं सर्वसामग्रीसहितम् अनुवर्णयति. तत्र सच्चिदानन्दरूपो भगवान् यद् आविर्भूतः तद् ब्रह्मणे तत्तत्प्रयोजन-परिज्ञानार्थमेव. तत्र प्रथमं (**अखिलाः!**) सर्वे ये **सात्वताः** भगवत्सेवकाः देवाः धर्मपराः सात्त्विकाश्च त्रयाणामपि **पतिः**. अनेन यदाकदाचिद् भगवान् अवतरति तदा एतेषामेव कार्यार्थे अवतरति इति ज्ञापितम्. किञ्च **श्रियः पतिं**[2] लक्ष्म्याः पतिम्. यदा भगवान् स्वभोगार्थं जगत् करोति तदा सर्वं लक्ष्मीरूपमेव करोति इति बोधितम्. अनेन अवतारेषु भोग्याः लक्ष्मीरूपाएव इति (ज्ञापितं!) ; स्वरूपतः आवेशतो वा. किञ्च **यज्ञानां पतिः** भगवान्. यदा भगवान्

प्रकाशः

ददर्श इत्यत्र. **परिज्ञानार्थम्** इति अन्तर्भावित-ण्यर्थः ; परिज्ञापनार्थम्[3].

लेखः

ददर्श इत्यत्र. **भगवान् यद्** इति. **यद् भगवान् आविर्भूतः तद् ब्रह्मणे** ब्रह्मार्थम् इति अर्थः. अस्यैव प्रपञ्चः **तत्तत्प्रयोजने**त्यादि. प्रयोजनम् इह फलम्. **परिज्ञानार्थम्** इति अन्तर्भावित-ण्यर्थः. तथाच तत्तत्साधनानां तत्तत्फलपरिज्ञापनार्थम् आविर्भूतः इति अर्थः. **धर्मपराः** इति सात्त्विकानां विशेषणम् इति ज्ञेयम्. **अनेन** इति, पतित्वकथनेन इति

---

१. -दिभिः पार्षदेति घ. स्वपार्षदमुख्यैः इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु वंशस्थछन्दानुरोधात् -सम्पा. २. श्रियः पतिः लक्ष्म्याः पतिरिति क-ग-घ.

३. -ण्यर्थपरिज्ञानार्थम् इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् -सम्पा.

वेदान् करोति तदा स्वस्य यज्ञभोगार्थमेव[१] करोति. अनेन सर्वे यज्ञाः भगवदर्थाएव इति (ज्ञापितम्!). किञ्च **जगतः पतिः** [२]भगवान्. जगद् यत् करोति तत् तत्र क्रीडार्थमेव करोति, तस्यैव पतित्वात्. वैकुण्ठे पुनः ते मूर्तिरूपाः सच्चिद्रूपाः इति ज्ञापनार्थम्[३]. अखिलसात्वताः, लक्ष्मीः, यज्ञो, जगच्च इति चत्वारः एते भगवद्भोग्याः ; एतदनुप्रवेशएव भगवति सम्बन्धः इति सर्वत्र ज्ञेयम्. अतएव निरोधे जगत्-सात्वत-यज्ञ-लक्ष्मीरूपाः[४] पूर्वलीलासमसङ्ख्यया आभिः मूर्तिभिः अध्यायार्थाः सन्तो भगवद्भोगाय उपयुक्ताः निरूपिताः. ते चत्वारो मूर्तिरूपाः भगवता परिगृहीताः ब्रह्मणे प्रदर्शिताः. किञ्च **सुनन्द-नन्दादयो** भगवद्भक्तिरूपाः ते सख्येन सहिता अष्टविधाः श्रवणाद्यधिष्ठातारः. पार्षदाः सर्वे ; तदधिष्ठिताः श्रवणादयः. तत्र चत्वारो नामतो गणिताः, लोके तएव प्रभविष्यन्ति इति. तत्र

प्रकाशः

सच्चिद्रूपाः इति 'पूर्ण'शब्दवाच्य-सच्चिद्रूपाः. ते के इति आकाङ्क्षायां तान् आहुः **अखिलेत्यादि**. **एतदनुप्रवेश** इत्यादि. एतेषां लौकिके अनुप्रवेशे सत्येव लौकिकस्य **भगवति सम्बन्धः** इति अर्थः. अत्र गमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. एतदनुप्रवेशस्य भगवत्सम्बन्ध-जनकत्वादेव दशमोक्तलीलायां लौकिकाः जगदादिरूपाः पदार्थाः **पूर्वलीलासमसङ्ख्यया** त्रिविधसर्ग-त्रिविधस्थितीशानुकथारूप-प्रलयभेदेन समाना या सप्तसङ्ख्या तया कृत्वा **आभिः** अत्र उक्ताभिः जगदादिमूर्तिभिः अध्यायप्रतिपाद्याः **सन्तो भगवद्भोगाय उपयुक्ताः** सप्तसप्ततिभिः अध्यायैः **निरूपिताः** —इदं गमकम् इति अर्थः. **ते** इति जगदाद्याधिदैविकाः. **इतरसिद्धिः** इति पादसेवनादिसिद्धिः.

लेखः

अर्थः. **अतएव** इति, सात्वताद्यनुप्रवेशएव पदार्थानां भगवद्योग्यत्वादेव इति अर्थः. **निरोधे** इत्यादि. ... . **सुनन्द** इत्यत्र. **अष्टविधाः** इति. ... .

---

१. स्वस्य भोगार्थम् इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ख-गपाठानुरोधात् - सम्पा.

२. पतिर्भवान् ख-ग. ३. ज्ञापनार्थः ख. ज्ञापनार्थाः इति मुद्रितपाठः. गपाठे तु एवम् - सम्पा. ४. जगत् सत् यज्ञेति ख.

सुनन्द-नन्द-प्रबलाः [१]कीर्तन-श्रवण-स्मरणात्मकाः, श्रवणादयो वा विपर्ययेण. चतुर्थस्तु **अर्हण**रूपः ; नामसामान्यात् सएव गृह्यते. **आदि**शब्देन च अन्ये. एतेषु सिद्धेषु पुनः वैकुण्ठे गतानाम् इतरसिद्धिः ज्ञापिता. **विभुं** प्रभुरूपम्. एवं सर्ववेष्टितोऽपि **भृत्येभ्यएव प्रसादं** दातुम् **अभिमुखः,** सर्वापेक्षया भृत्याएव प्रियाः इति. अनेन सहजप्रसादो भृत्येषु, अन्येषु तु धर्मार्थ-काम-मोक्षरूपेषु चतुर्षु क्रमेण प्रसादः. तत्र धर्मो यज्ञः, अर्थो जगत्, कामो लक्ष्मीः, (मोक्षो!) सन्तः इति, भृत्याः भक्तिः इति पञ्च पदार्थाः निरूपिताः. पञ्चानां[२] भोगो, नियामकत्वञ्च. विशेषस्तु भृत्यप्रसादाभिमुखत्वम्. किञ्च अन्येषु चतुर्षु सर्वेषु वा **दृगासवं** दृगेव आसवो = मादको यस्य. भगवता दृष्टाः आत्मानं न स्मरन्ति. अनेन ज्ञानस्य यत् प्रपञ्च-विस्मारकत्वं तद् भगवद्दृष्टिरूपस्यैव, न अन्यस्य इति सूचितम्. एते पदार्थाः ब्रह्मणो बोधार्थं निरूप्यन्ते, मूलोपपत्तिः एतादृशी इति. अथवा भक्तेषु प्रसादः, कामिषु मादः इति. किञ्च **प्रसन्नहासारुण-चारुलोचनं** प्रसन्नो यो हासः तद्युक्तम् अरुणवर्णं चारु मनोहरं लोचनं यस्य. भगवति हासः प्रसन्नः. हासो हि जनोन्मादकरी माया निरूपिता ; इयम् आगन्तुकशक्तिः अन्यैव. साहि प्रसन्ना स्वकार्यकरणे अतिसमर्था. तेन भगवन्मायया सुतराम् उन्मत्ताः सन्तो ब्रह्मणः कार्यताम्

प्रकाशः

भृत्यप्रसाद- इत्यत्र. एतं श्लोकं व्याकुर्वन्ति **एवं सर्वे**त्यादि. एवं व्याख्याने बीजम् आहुः **एते** इत्यादि. **एतादृशी** इति व्याख्यातरूपा. अन्यथा एतन्निरूपणम् अनर्थकं स्याद् अतः तथा इति अर्थः. ज्ञानं हि प्रपञ्चस्यैव विस्मारकं, नतु स्वरूपस्येति तस्य आसवरूपता न उपपद्यते इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **कामि**पदेन जगद्व्यतिरिक्ताः त्रयो अत्र ग्राह्याः. तथाच तादृशदृष्ट्या कामिनएव पश्यन्ति इति तेषामेव स्वरूपविस्मरणम् इति अर्थः. नच प्रपञ्चविस्मरणाभावाद् अत्रापि अरुचितौल्यम् इति वाच्यं, प्रपञ्चस्वरूपज्ञाने कामस्यैव अनुदयात् तेनैव तदज्ञानसिद्धेः

---

१. कीर्त्तेः श्रवणेति ख. २. पञ्चसु भोग इति ख.

आपत्स्यन्ते इति सूचितम्. **अरुणः** इति आरक्तिमा अल्पप्रकाशः, तदेव **चारु** मनोहरम्. जगद्धि आपाततो ज्ञातं सुखकरं भवति, नतु सर्वथा ज्ञातम् अज्ञातं वा! ज्ञातोत्तमत्वे पुनः भगवन्नेत्रनिष्ठे. कालवशादेव ज्ञातः समीचीनश्च भवति इति ज्ञापितं, नतु सर्वथा अज्ञातः कश्चित् समीचीनो वा भवति इति सूचितम्. किञ्च भगवान् आधारः आधेयश्च, तत्र

प्रकाशः

अरुच्यभावाद् इति. **अन्यैव** इति, प्रकारान्तरेणैव मादिका इति अर्थः. **दृगासवम्** इत्यनेन दृशो मादकत्वे निरूपितेऽपि पुनः आगन्तुकशक्त्या तत्सूचनस्य तात्पर्यम् आहुः **जगद्** इत्यादि. तथाच जगद्रूपेण उन्मादार्थं सा इति अर्थः. प्रकारान्तरेण नेत्रनिरूपणस्य तात्पर्यम् आहुः **काले**त्यादि. "चक्षुः अभूत् पतङ्गः" (भाग.पुरा. २।१।३०) इति भगवच्चक्षुषः पतङ्गताधर्मविशिष्ट-सूर्यरूपत्वेन सूर्यस्य च "असौ आदित्य एकविंशः" (शतपथब्रा. १३।१।७।३) इति श्रुत्या तस्य कालात्मकत्वेन **कालवशाद् ज्ञातो** जगदन्तःपाती पदार्थः कालाधेयो ज्ञातः **समीचीनश्च भवति इति** ब्रह्मणे **ज्ञापितं, नतु** इत्यादिना उक्तरीत्या **वा सूचितम्** इति अर्थः. **आधारः आधेयश्च** इति. श्रीभगवद्गीतासु पुरुषोत्तमस्वरूपनिरूपणे "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यः तु अनन्यया, यस्य अन्तःस्थानि भूतानि येन सर्वम् इदं ततम्" (भग.गीता ८।२२) इति वाक्याद् आधारः ; "उत्तमः पुरुषः तु अन्यः परमात्मा इति उदाहृतः, यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्यय ईश्वरः" (भग.गीता १५।१७) इति वाक्याद् आधेयश्च

लेखः

मूलोपपत्तिः इति. ... . **अल्पप्रकाशः** इति. अन्यथा शुभ्रवत्त्वमेव ब्रूयाद् इति भावः. **नतु सर्वथा ज्ञातम्** इत्यादि. प्रपञ्चे सर्वथा ज्ञानार्थं प्रवृत्तस्य एकस्यापि विभूतेः ज्ञानम् इदमित्थतया दुःशक्यमिति न सुखं जनयति इति, अज्ञाते तु सृष्ट्यादिना भगवन्माहात्म्याज्ञानादपि न सुखं जनयतीति उभयदोषोज्झितम् आपाततो ज्ञानमेव सम्यग् इति भावः. **ज्ञातोत्तमत्वे** इति, ज्ञातत्वोत्तमत्वे इति अर्थः. नेत्रवर्णनेन भ्रुकुटिरूप-कालोऽपि आनुगुण्येन निरूपितो भवति इति आशयेन आहुः **कालवशादेव** इत्यादि ॥१४-१५॥

पञ्चानाम् आधारो अन्येषाम् आधेयः इति. तत्र आधाररूपाणि पञ्च गणयति **किरीटिनं, कुण्डलिनं, चतुर्भुजं, पीताम्बरं, वक्षसि लक्षितं श्रिया** इति. किरीटं शिरसि धार्यं, कुण्डले कर्णधार्ये, ततो अधस्तात् चत्वारो भुजाः, ततोऽपि अधस्तात् पीताम्बरम्. एवं ये भगवदवयवभूताः लोकाः ते चतुर्मूर्तेः भगवतः आश्रिताइति तावता सर्वमेव कार्यं भगवदाश्रितम् इति ज्ञापितम्. एतावता विराड्[1] भगवान् इति ब्रह्मा बोधितः ॥१४-१५॥

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं वृतं चतुःषोडशपञ्चशक्तिभिः ॥
युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाऽध्रुवैः स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम् ॥१६॥

आधेयं निरूपयति **अध्यर्हणीयासनम् आस्थितम्** इति. **अधि** अधिकम् **अर्हणीयं** सर्वैरेव धर्मादिभिः पूज्यं, तत्सम्बन्धेन वा पूज्यं, तादृशम् आसनम् आस्थाय[2] स्थितम्. तदधिष्ठातृदेवता-व्युदासाय आह **परम्** इति, तेभ्यः उत्तमं, नियन्तारं वा. मुख्यं तद् अक्षरात्मकम्. अक्षरं हि लोकात्मकम्,

---

प्रकाशः

इति अर्थः. **एवं भगवदवयवे**त्यादि. ''वेदाः यथा मूर्तिधराः त्रिपृष्ठे'' (भाग.पुरा. १।१९।२३) इति वाक्याद् मूर्तवेदरूप-किरीटाधारत्वेन सत्यलोकत्वं शिरसः. योग-साङ्ख्यरूप-कुण्डलाधारयोः कर्णयोः श्रीमुखान्तःपातित्वेन तपो-जन-महर्लोकरूपत्वं सग्रीवस्य श्रीमुखस्य. ''योगः तपश्च वंशश्च भगवद्भक्तिरेव च'' (सुबो. २।७।४ का. ५) इति चतुरर्जितलोकरूपत्वं चतुर्णां भुजानाम्. श्र्याधार-स्वर्लोकरूपत्वं वक्षसः. मायारूप-पीताम्बराधाराणां कट्यादीनां भूरादिलोकरूपत्वम्. एवंप्रकारकाः ये भगवदवयवभूताः लोकाः ते तृतीयस्कन्ध-वक्ष्यमाणरीत्या प्रद्युम्नादिरूप-**चतुर्मूर्तेः भगवतः आश्रिताः** इति अर्थः ॥१४-१५॥

अध्यर्हणीय- इत्यत्र. **तत्सम्बन्धेन वा पूज्यम्** इति. धर्मादीनाम् आसने प्रवेशस्य एकादशस्कन्धे वक्ष्यमाणत्वेन इदं पक्षान्तरम् उक्तम्. तथाच धर्मादिसम्बन्धेन अन्यैः पूज्यम् इति अर्थः. **तेभ्यः** इति धर्मादिभ्यो नवभ्यः. **तद्** इति आसनम्. **तरतमभावेन** इति. इदं वाराहे (नारसिंहे)

---

१. भगवान् विराडिति ख-ग.   २. -मास्थितं अधीति ग.

आसनात्मकं, चरणात्मकञ्च इति आधिभौतिकम्, आध्यत्मिकम्, आधिदैविकम् इति. तस्य अंशाः पञ्चविंशतितत्त्वानि. तानि अग्रे निरूपयिष्यन्ते. पीठांशत्वेन च, तद् आह **वृतं चतुःषोडश-पञ्चशक्तिभिः** इति. तत्र चत्वारः प्रकृति-पुरुष-महदहङ्काराः प्रथमावरणरूपाः चतुर्दल-कमलवत्. ततः षोडश एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राश्च इति द्वितीयावरणं षोडशदल-कमलवत्. ततः पञ्चभिः महाभूतैः वृतम्. एवम् आवरणत्रयं निरूपितम्. तानि अतिक्रम्य यो भगवत्समीपे गच्छति सः गच्छति. एवं सर्वतत्त्वसहितम् अक्षरम् आसनम् इति निरूपितम्. किञ्च **युक्तं भगैः स्वैः**. ऐश्वर्यादयः षड्गुणाः मूर्तिमन्तो भगवन्तम् आवेष्ट्य[१] तिष्ठन्ति. ते च ऐश्वर्यादयो भगवदेकनिष्ठाः न अन्यत्र आविष्टाः भवन्ति. **इतरत्र च** पार्षदादिषु **अध्रुवैः**. **च**काराद् राजादिष्वपि. एतावता 'भगवच्'छब्दप्रयोगः सर्वत्र तथापि ध्रुवाः ऐश्वर्यादयो भगवत्येव, अध्रुवास्तु अन्यत्र ; तेन तर-तमभावेनैव भगवत्त्वम्. अनेन ''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'' (मुण्डकोप. ३।२।९), ''यो यच्छ्रद्धः स एव सः'' (भग.गीता १७।३), ''आत्मानमपि यच्छति'' (भाग.पुरा. १०।७७।११) इति सर्वे पदार्थाः व्याख्याताः. अतः असाधारणानि भगवत्येव. मुक्तापेक्षयाऽपि भगवान् महान् इति ज्ञापितं ; नहि तदानीं कृपया जाताः ऐश्वर्यादयो नित्याः भवन्ति. एवं सर्वसामग्र्यां विद्यमानायामपि **(स्वएव रममाणं!)** स्वस्मिन्नेव रमते, आनन्दमयत्वात्. ननु सुखानुभवः फलं ; स्वस्य तु आनन्दत्वेऽपि अनुभावाभावात्[२] कथं भोगः? तत्र आह **धामन्** इति, तेजोरूपे प्रकाशके स्वस्मिन्. अप्रकाशे हि ज्ञानं प्रकाशकम् अपेक्ष्यते[३], नतु स्वप्रकाशे. अनेन जीवानां भगवान् भोग्यः

प्रकाशः

कण्ठतः उक्तं— ''भगवान् इति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि, निरुपाधी च वर्तेते वासुदेवे सनातनः'' (द्रष्ट. पद्मपुरा. ६।२२६।६८) इति. **नित्याः** इति स्वाभाविकाः. **अनेन** इत्यादि. एतेन प्रथमाध्याये ''तं सत्यम् आनन्दनिधिं

---

१. -मावेश्येति घ. २. अननुभवादिति ग. अनुभवादिति घ.

३. -मपेक्षत इति ख-ग.

इति पक्षो व्युदस्तः. एवमपि **ईश्वरं** नियन्तारम्. यद्यपि स्वस्य क्वापि रमणापेक्षा नास्ति तथापि सर्वनियन्ता ॥१६॥

तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः ।
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग् यत्पारमहंस्येन[1] पथाऽधिगम्यते ॥१७॥

एवं सर्वसन्देहनिवर्तकं भगवत्स्वरूपं दृष्ट्वा **तद्दर्शनेन यः आह्लादः** आनन्दानुभवेन यः सन्तोषः तेन **परिप्लुतम् अन्तरं** यस्य तादृशो भूत्वा **ननाम** इति अग्रेण सम्बन्धः. तपो हि किञ्चित्कामनार्थं करोति. तया च कामनया हृदयं साकाङ्क्षम् अपूरितं तिष्ठति. तदा आनन्दानुभवेन फलरूपेण कामितापेक्षयाऽपि अधिकफलत्वाद् अन्तःकरणं परिप्लुतम्. यथा महापूरे सर्वमेव गर्तजातं पूर्णं सद् उच्छलितं भवति तथा ब्रह्मणोऽपि[2] चित्तं जातम् इति अर्थः. अतएव तस्य अग्रे वचनासामर्थ्यम्. किञ्च अन्तःपूर्णः आनन्दो बहिरपि उद्गतः इति आह **हृष्यत्तनुः** इति. तदा ज्ञानशक्तिरपि आनन्दे निमग्ना न फलान्तरं बोधयति इति ज्ञापयितुं **प्रेमभराश्रुलोचनः** इति उक्तम्. प्रेमभरेण जातानि यानि अश्रूणि तानि लोचनयोः यस्य इति. पूर्वं भगवति प्रेम स्थितं, तदाधारे परिप्लुते ततो निर्गतं सन् नेत्रयोः ज्ञानजनकत्वात् तत्र परिचयमिव प्राप्य तद्द्वारा जलरूपेण निर्गतम् इति. **भरो** भारः, भाराक्रान्ते स्वेदो भवत्येव. तद् आह प्रेमभरेण अश्रूणि इति. स्वभावतो न स्रवन्ति इति अश्रुत्वम्. तदा कर्तव्यान्तराभावाद् **ननाम पादाम्बुजम्** इति भक्तिप्रकारेण. **अस्य** इति पूर्वोक्तरूपस्य ब्रह्मणो अपेक्षितरूपस्य. अपेक्षामेव बोधयति **विश्वसृग्** इति, विश्वं सृजति इति. ननु ''एवं दर्शने नमनमेव कुतः कृतवान् ; सायुज्यं कुतो न प्राप्तवान्?'' इति इयमपि शङ्का निवारिता, यतो अयं विश्वकृत्. अधिकारित्वाद्

प्रकाशः

भजेत'' (भाग.पुरा. २।१।३९) इत्यत्र यत् [3]फलस्य सेव्यत्वम् उक्तं तत् पुरुषशेषत्वाभावात् समर्थितं ज्ञेयम् ॥१६॥

---

१. पारहंस्येन इति पाठभेदः श्रीभागवतस्य समीक्षितावृत्तौ - सम्पा. २. ब्रह्मणश्चित्तमिति ख.
३. फलसेव्यत्वम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

न प्राप्तवान् इति भावः. ननु चरणारविन्दस्य तुल्यत्वात् समर्थत्वाच्च अधिकारे कुतो न सायुज्यम्? अतः आह **यत् पारमहंस्येन पथा अधिगम्यते** इति. परमहंसमार्गेणैव दृष्टं चेत् तदैव पादाम्बुजं प्राप्यते ; नतु प्रकारान्तरेण दृष्टं सायुज्यहेतुः भवति ।।१७।।

एवं नमनं कृत्वा ब्रह्मणि तूष्णीम्भूते किञ्चिदपि वक्तुम् असमर्थे स्वयमेव भगवान् तदभीप्सितम् उक्तवान् इति आह.

तं प्रीयमाणं समवस्थितं तदा प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम् ।।
बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा प्रियं प्रियः प्रीतमनाः करे स्पृशन् ।।१८।।

तं प्रीयमाणम् इति. यत्र साधनम् अभीप्सितं फलञ्च तत्र प्रकारान्तर-व्यावृत्त्यर्थं प्रारब्धफल-सिद्ध्यर्थमेव तस्य प्रोत्साहनम्, अन्यथात्वे[१] तु भगवतः तूष्णीम्भावः. प्रसन्नत्वाद् यथाभिलषितदानम्. अत्र तु साधनमपि स्वोपदिष्टम् इति तस्य[२] वरयाचनप्रेरणम्, अन्यथा स्वाभिलषितमात्रत्वे निर्बन्धेन

प्रकाशः

तं प्रीयमाणम् इत्यत्र. एतदादीनां षण्णां तात्पर्यं वदन्तः स्वतो भाषणस्य आहुः **यत्र** इत्यादि. **अभीप्सितम्** इति भगवदाशयगोचरम्. **प्रारब्धफलसिद्ध्यर्थम्** इति कर्तुम् आरब्धं यत् साधनं तत् [३]फलस्य सिद्ध्यर्थम्. **प्रोत्साहनम्** इति करस्पर्शादिना हर्षजननम्. **अन्यथात्वे** इति अन्यतरस्य अनभीप्सितत्वे. तथाच यद् भगवान् प्रोत्साह्य स्वयं भाषितवान् तेन ब्रह्मापि संहितानां साधनादीनां स्वाभिलषितत्वं[४] ज्ञापितवान्. अभिलषितदान-तात्पर्यम् आहुः **प्रसन्नत्वाद्** इत्यादि. ननु प्रेरणाभावे को दोषः इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **अन्यथा** इति प्रेरणाभावे. तथाच

लेखः

तं प्रीयमाणम् इत्यत्र. **अन्यथा तु** इति, साधन-फलयोः अनभीप्सितत्वे इति अर्थः. **स्वाभिलषितेति**. ब्रह्माभिलषितमात्रत्वेन दाने तु तन्निर्बन्धेन

---

१. अन्यथा इति लेखे - सम्पा. २. तस्याः इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु सं-मा.१-मा.२ पाठानुसारेण - सम्पा. ३. फलसिद्ध्यर्थम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा. ४. स्वाभिप्रेतत्वम् इति मा.पाठे - सम्पा.

करणे पदार्थज्ञानेऽपि अन्यथाकरणम् आपद्येत. अतः ''स्वयं स्वेच्छा-समानविषयां तदिच्छाम् उत्पाद्य तद्द्वारेणैव स्वाभिलषितं करिष्यामि'' इति भगवदिच्छया ब्रह्मणः तूष्णीम्भावः. भगवति आविर्भूते वस्तुमाहात्म्यात् सम्बन्धाद् वा अभिलषितार्थसिद्धि-हेतुत्वाद् वा भगवद्दर्शनेन **प्रीयमाणः** परमप्रीतियुक्तो ब्रह्मा. **सम्यक्** च **अवस्थितो,** नतु तपसा क्लिष्टः, अन्यथा आज्ञापि न देया स्यात्. दोषरहितो वा. **तदा** इति उभयत्र सम्बन्धः. पूर्वं क्लिष्टोऽपि तदा न क्लिष्टः. अतएव **तदैव (प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणं !)** प्रजानिर्माणार्थं निजाज्ञाकरणसमर्थः. एतादृशं ब्रह्माणं ज्ञात्वा स्वरूपयोग्यताम् अवगत्य तस्य सहकारियोग्यता-सम्पादनाय[१] **बभाषे** उक्तवान्. भाषणमेव प्रयोजनं न भवति इति वाचः करणताम् आह **गिरा** इति. भगवद्रूपे दृष्टे, उत्तमे च अधिकारे सम्पन्ने, भगवद्वाक्यात् तत्त्वज्ञानमेव भविष्यति इति आशङ्क्य आह **ईषत्स्मितशोचिषा** इति. सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपं यत् तदज्ञानार्थं मोहः

प्रकाशः

पदार्थाऽन्यथाकरणापत्तिरेव दोषः इति अर्थः. ननु अस्तु एवं भगवत्कृतिः तथापि ब्रह्मा भगवद्वक्त्रं प्रसन्नं पश्यन्नपि स्वाभिप्रेतं किमिति न विज्ञापितवान् इति अपेक्षायाम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** इति अन्यथाकरणस्य अनभीष्टत्वात्. अतः परं व्याकुर्वन्ति **भगवति** इत्यादि. ननु **स्मित**पदेनैव हासमान्यप्राप्तौ पुनः **ईषत्**पदस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **सर्वे**त्यादि. तथाच हासस्वरूपाल्पत्वं **स्मित**पदेन उच्यते, नतु कार्याल्पत्वम् अतः तद्बोधनाय

लेखः

पदार्थकरणे आपतिते वैकुण्ठस्थ-पदार्थज्ञाने सत्यपि तदिच्छानुरोधेन फलसम्पादनम् आपद्येत. तथा सति वैकुण्ठस्य जगदादि-पदार्थदर्शनं निष्प्रयोजनमेव स्याद् इति भावः. **दोषरहितो वा** इति, **न स्याद्** इति पूर्वेण सम्बन्धः. **उभयत्र** इति, ('तदा' इति पदं!) **समवस्थित**पद-**निजशासनार्ह**पदार्थयोः देहलीदीप-न्यायेन सम्बध्यते इति अर्थः. अथातुस्वरूपम् इति न ज्ञायेत इति भावः. **तदेव महद्** इति, सर्ववस्तुस्वरूपाऽज्ञानसम्पादकमेव

---

१. -योग्यतां संपादयितुमिति ख.

इति **ईषत्**पदेन उक्तम्. यद्यपि तदेव महत् तथापि ब्रह्मणः इच्छामात्रेण[१] एतद् भविष्यतीति तत्कार्यस्य अल्पत्वम्. स्मितमपि मन्दहासः, तस्याऽपि ज्ञानं, परं न फलपर्यवसायि. ''भवतु अस्य वस्तुस्वरूपज्ञानं, तथापि यत् तस्य फलं तद् इदानीं मा भवतु'' इति स्मितम्. फलेऽपि ''मोक्षलक्षणमेव फलं मा भवतु ; सर्वज्ञत्वम् अलौकिकतेजस्त्वं भवतु'' इति **शोचिषा**

प्रकाशः

एतद् इति अर्थः. ननु चिदंशत्वे [२]अविशिष्टेऽपि मोहस्य जीवत्वापादकत्वाद् भगवता स्मितद्वारा ब्रह्ममोहोत्पादने ईषदपि कृते सोऽपि जीवतुल्यएव स्याद्, नतु ईश्वरकोटौ इत्यतः आहुः **यद्यपि** इत्यादि. यद्यपि स्मितमेव अज्ञानाय[३] पर्याप्तं **तथापि ब्रह्मणः इच्छामात्रेणैव** जगद् **भविष्यति** अक्लेशेन कृते ब्रह्मणो अन्यासक्त्यभावाद् अज्ञान**कार्यस्य अल्पत्वम्** अतो न जीवतौल्यम् इति अर्थः. अन्यदपि विशेषम् आहुः **स्मितम्** इत्यादि. तथाच स्मितस्वरूपस्य मायात्मकस्य ज्ञानादपि न जीवतौल्यम् इति अर्थः. ननु एवं मायात्मके तत्स्वरूपे ज्ञाते वैराग्यमेव भविष्यति, नतु सृष्टिः! इत्यतः आहुः **परम्** इत्यादि. तथाच अतः सृष्टिः इति अर्थः. ननु फलापर्यवसायित्वे स्वरूपज्ञापनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **भवतु** इत्यादि. ननु इदानीं साफल्याभावे इदानीं ज्ञापनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **फलेऽपि** इत्यादि.

लेखः

व्यामोहनं महद् इति अर्थः. **इच्छामात्रेणैव** इति. तथाच वस्तुतत्त्वजिज्ञासायां तस्य भगवदभिप्रेतायां तज्ज्ञानम् अपनीतदूर इति इच्छामात्रकृतत्वात् स्मितकार्यं व्यामोहनम् अल्पमेवेति **ईषत्**पदम् उक्तम् इति अर्थः. **परम्** इति, वस्तुतः इति अर्थः. **फलेति**, मूलसायुज्यादि-तात्पर्यावसायि न इति अर्थः. **इति स्मितम्** इति, **इति** हेतोः मन्दहासम् इति अर्थः. ''**उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्**'' इति. ... ॥१८॥

---

१. इच्छामात्रेणैव इति लेखे - सम्पा.

२. अविशिष्टत्वेऽपि इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

३. अज्ञाय इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

इति उक्तम्. [१]स्मितएव शोचिः यस्य इति, [२]स्मितमिव वा. यद् असाधारणं स्वकर्तव्यं तद् अन्येन न कर्तव्यम् इति आशङ्क्य प्रियेण तदपि कर्तव्यम् इति **प्रियम्** इति उक्तम्. तस्य प्रियत्वं भगवतः सम्बन्धात् स्वभावतो वा यदि स्यात् तदा शास्त्रं[३] विरुद्ध्येतइति ब्रह्मगतं स्नेहं स्वस्नेहे[४] हेतुत्वेन निरूपयति **प्रियः** इति. ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते'' (भग.गीता ४।११) इत्ययम् अर्थः सूचितः. भगवद्वाक्ये भगवन्मनः उत्पादकमिति तस्य अप्रसादे वागपि अप्रसन्ना स्यात्, तथाच ''उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्'' (ऋक्संहि. १०।७१।४) इतिवद् ब्रह्मणो वाक्यार्थप्रतीतिः न स्याद्, अतः आह **प्रीतमनाः** इति. प्रीतं मनो यस्य, स्वकार्यं ब्रह्मणा जन्यते इति. **करे स्पृशन्** इति क्रियाशक्त्याधानं, ज्ञानशक्तिस्तु वाक्याद् — एवम् उभयसम्पन्नं स्वाभीष्टं करिष्यति इति ॥१८॥

मनसो बहिः अस्वातन्त्र्याद् वाचम् आह.

॥ श्रीभगवान् उवाच ॥

त्वयाऽहं तोषितः सम्यग्वेदगर्भ सिसृक्षया ॥
चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनाम् ॥१९॥

त्वया अहं तोषितः इति. सृष्ट्यर्थं तपःकरणे भगवतो वरदानं कुत्र उपयुज्यते इति आशङ्क्य तेन तपसा अहमेव प्रीतः इति आह. अयमेव अस्मिन् शास्त्रे मुख्यः सिद्धान्तः — यो भगवत्कर्तव्यं करोति महता प्रयत्नेन सः मुख्यः, यस्तु भगवत्सेवां करोति सः मध्यमः, यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति. ब्रह्मणा तु आद्यः पक्षः कृतः

प्रकाशः

शास्त्रम् इति, ''ये यथा माम्'' (भग.गीता ४।११) इति प्रतिज्ञाशास्त्रम्. **उत त्वः** इत्यादि. 'त्व'शब्दो अन्यार्थकः. अत्र श्रुतौ उत्तरार्धानुरोधाद् वागप्रसाद-प्रयुक्तएव शब्दार्थज्ञानाभावः पूर्वार्धे विवक्षितः इति ज्ञायते ; तद्वद् इति अर्थः ॥१८॥

---

१. स्मितमेवेति ख. २. स्मितमेवेति ख. ३. शास्त्रे विबुध्येतेति ख.
४. -स्नेहहेतुत्वेनेति ग.

इति भगवान् अतितुष्टः[१], तद् आह **सम्यग्** इति. कथं ब्रह्मणा अयम् अर्थो ज्ञातः इति? तत्र आह **वेदगर्भ** इति, वेदाः गर्भे यस्य. वेदानाम् इदमेव तात्पर्यं यद् भगवत्कार्यं कर्तव्यम् इति. अतएव सर्वत्र ''प्रजापतिः अकामयत प्रजाः सृजेयेति'' (तैत्ति.ब्रा. २।२।१।१), ''ऋतवो वै प्रजाकामाः प्रजां नाऽविन्दन्त ते अकामयन्त प्रजां सृजेमहि प्रजाम् अवरुन्धीमहि प्रजां विन्देमहि प्रजावन्तः स्याम'' (तैत्ति.संहि. ७।२।६।१) इति, ''अग्निहोत्रं जुहोति यदेव किञ्च यजमानस्य स्वं तस्यैव तद् रेतः सिञ्चति प्रजनने'' (तैत्ति.संहि. १।५।९।१) इति. अन्यथा लौकिकार्थपरत्वे वेदानाम् अनुवादकत्वेन अप्रामाण्यं स्यात्. अतएव आपाततो ये वेदज्ञाः ते न इमम् अर्थं जानन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं **गर्भ**पदप्रयोगः. तत्र हि वेदाः स्थिराः, बुद्धौ तु त्रिक्षणावस्थायिनः इति. **सिसृक्षयैव** अहं तोषितः. तत्रापि तदर्थं महान् क्लेशः कृतइति सुतरामेव अहं तुष्टः इति हेत्वन्तरम् आह **चिरं भृतेन तपसा** इति. यद्यपि सिसृक्षासम्बन्ध-व्यतिरेकेण केवलतपसा तोषो न भवति – तथा सति सिसृक्षा तत्रैव अङ्गं भवति – तथापि मुख्या सा इति

प्रकाशः

त्वया अहम् इत्यत्र. भगवत्कार्यकरणएव[२] वेदतात्पर्यम् इत्यत्र गमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. तथाच भगवत्कार्ये या यज्ञकर्तृव्यापारोक्तिः सैव गमिका इति अर्थः. ननु अत्र पूर्वश्रुतिद्वयस्य भूतपूर्वार्थानुवादात्, तृतीयस्य अलौकिकार्थपरत्वाच्च उपपत्तौ[३] कथं तथा तात्पर्यावगतिः इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. एवं तात्पर्यानुक्तौ वेदानां लोकानधिगतार्थ-गन्तृत्वाभावेन प्रामाण्याभावएव स्याद्, अतः तथा तदनुपपत्त्या एवम् अवसीयते इति अर्थः. ननु अर्थवादानां विधेयकर्मस्तुतावेव तात्पर्यात् तेषां स्वार्थे अप्रामाण्येऽपि न अप्रामाण्यप्रसक्तिः इति आशङ्कायाम् आहुः **अतएव आपाततः** इत्यादि. तथाच एवं पुराणविचारेण सिद्धौ जैमिनीयानां तदंशज्ञानाभावाद् भ्रान्तत्वमेव इति अर्थः. तत्र हेतुः **तत्र** इति, चतुर्मुखे. **त्रिक्षणावस्थायिनः** इति

---

१. सन्तुष्ट इति ख. २. एव इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा. ३. उपपत्तेः इति मा.पाठे - सम्पा.

पृथग् हेतुत्वम्. तपस्तु सन्तापात्मकं सकृदेव उत्पद्यते. तदेव यदि प्रयत्नेन तिरोभावम् अप्रापयद् ध्रियते तदा उत्कर्षो भवति. विरम्य विरम्य[१] प्रारम्भस्तु[२] प्रथमतुल्यएव. अभ्यासेन संस्कारः परं वर्धते, नतु फलम्. अतः तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **चिरं भृतेन** इति. एकमेव तपो मध्ये प्रयत्नान्तररहितं सङ्घातस्य शोषकत्वेन अधिकारं सम्पादयत् [३]तोषहेतुः भवति. सामर्थ्यविशेषं वा. अतो दीर्घकालभरणैकवचनानि[४] तपसि युक्तानि भवन्ति. केवलतपसैव भगवत्तोषम् आशङ्क्य ''प्ररोचनार्थमेव भगवान् वदति'' इति ब्रह्मणो बुद्धिं परिहर्तुम् आह **दुस्तोषः** इति. तपोधारकत्वेन योगो अपेक्ष्यते. तपःस्वरूपञ्च अग्रे वक्ष्यते. अतो ये भगवत्कार्यं न कुर्वन्ति ते तपस्विनो न भवन्ति. तेषां योगे तपसो अभावात् शून्यएव सः योगः ; तपःसहितः इति भ्रमाद् भासते. अतः ते **कूटयोगिनः** इति उक्तम्. तेषां **दुस्तोषः** दुःखेन तोषो यस्य. योगस्य निर्बन्धात्मकत्वात् ते स्वात्मानं पीडयन्ति इति तद्दयया

प्रकाशः

दर्शनान्तरानुसारेण उक्तम्. **अप्रापयद्** इति. शत्रन्तम् इदं, णिज् अत्र स्वार्थे, यथा ''रामो राज्यम् अचीकरद्'' इत्यादौ. **प्रथमतुल्यः** इति, शुष्कतपोवत् तोषाजनकः इति अर्थः. **सामर्थ्यविशेषं वा** इति, सम्पादयद् इति शेषः. **तद्दयया** इति तद्देहदयया ॥१९॥

लेखः

त्वया इत्यत्र. **सामर्थ्यविशेषम्** इति, सम्पादयति इति शेषः. **एकवचनानि** इति. ''तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म'' (तैत्ति.उप. ३।५), ''सृजामि तपसा'' (श्लो. २३) इत्यादिषु एकवचनानि इति अर्थः. **प्ररोचनार्थम्** इति. तपोमात्रस्य भगवत्तोषहेतुत्वात् **त्वया अहं तोषितः, चिरं भृतेन** इत्यादि वचांसि प्ररोचनार्थानि इति अर्थः. **अग्रे** इति, अत्रैव अग्रे ''तपो मे हृदयम्'' (श्लो. २२) इत्यत्र वक्ष्यते इति अर्थः.

---

१. वीप्सा नास्ति ; एकवारम् अस्ति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

२. प्रारम्भः प्रथमेति ख. ३. -दयत्तोषे इति ख.

४. -धरणेति मुद्रितपाठः. ख-गपाठयोः तु एवम् - सम्पा.

निर्बन्धेन सन्तोषः, यथा प्रायोपवेशिनः ॥१९॥

एवं स्वसन्तोषम् उपपाद्य वरार्थं प्रेरयति.

वरं वरय भद्रं ते वरेशमभिवाञ्छितम् ।।
ब्रह्मन् श्रेयःपरिश्रामः पुंसां मद्दर्शनावधिः ॥२०॥

वरं वरय इति. अन्यकामनयैव कार्यं कर्तव्यम् इति भगवदिच्छा, वरस्तु स्वकामितपदार्थः. कामनया च नाशः इति न शङ्कनीयम् इति आह **भद्रं ते** इति. वृतेऽपि वरे मदर्थमेव उपयोगात् तव न कापि चिन्ता अतः तव भद्रमेव. **वरेशम्** इति. वरस्तु भगवत्स्वरूपावधिः. तत्र अन्यस्य असामर्थ्यम् अतो अहमेव वरेशः. अन्ये तु वराभासेशाः कूटयोगिवत्! ततः उक्तम् **अभितो वाञ्छितम्** इति, सर्वथा वरत्वेन प्रतिपन्नम्. ननु पूर्वकृततपसा भवान् प्रसन्नः एवं पुनः तपसा अभीप्सितार्थ-सिद्धिरपि भविष्यति ; किं वरेण! तत्र आह **ब्रह्मन् श्रेयःपरिश्रामः** इति. **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनम् उक्तार्थ-सम्बोधाय. श्रेयोनिमित्तं यः परिश्रामः[१] सतु **मद्दर्शनमेव अवधिः** यस्य तथा उक्तः. **पुंसाम्** इति अन्येषामपि. **मच्**छब्देन च पुरुषोत्तमो अभिप्रेतो, नतु अवतारः. तेन तृतीयस्कन्धे ''भूयस्त्वं तप आतिष्ठ'' (भाग.पुरा. ३।९।३०) इति वचनं न विरुद्धं, तस्य पुरुषावतारत्वात्. एवम् अन्यत्राऽपि ॥२०॥

ननु अन्यथा अर्थे सिद्धे ईश्वरप्रार्थना न क्रियते ; लोके हि कष्टेनाऽपि पदार्थाः साध्यन्ते इति आशङ्क्य, न प्रकारान्तरेण अयम् अर्थः सेत्स्यति इति वक्तुं पूर्वं जाताअपि पदार्थाः न केवलं तपसा

प्रकाशः

वरं वरय इत्यत्र. **अन्यत्रापि** इति, यत्र एवं वचनाभावः तत्र इति अर्थः ॥२०॥

लेखः

प्रायोपवेशिनः इति. यथा कश्चन ''कार्यं वा साधयामि, देहं वा पातयामि'' इति बुद्ध्या प्रवर्तते तद्वद् इति अर्थः ॥१९॥

---

१. परिश्रमः क-ख-घ.

जाताः किन्तु मदिच्छया इति आह.

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम् ।।
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः ।।२१।।

मनीषितानुभावो अयम् इति. मनीषितस्य अनुभावः = ममैव एषा इच्छा यद् ''अयं वैकुण्ठं पश्यतु'' इति. अन्यथा अक्षरात्मकस्य चक्षुषा दर्शनम् उपायसहस्रेणाऽपि न भवति, ''पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः'' (कठोप. २।१।१) इति श्रुतेश्च. बहिःस्थितोऽपि पदार्थो योग्यएव गृह्यते, न अयोग्यः ; नहि योगिनोऽपि चक्षुषा आकाशं [१]पश्यन्ति. सामर्थ्याधानमपि अर्वाक्पदार्थेषु, नतु अक्षरेऽपि वा. ननु मनीषितेऽपि कथम् एवं, तपसः इच्छायाश्च भगवच्छक्तित्वेन तुल्यत्वात्? तत्र आह **अनुभावो अयम्** इति. न केवलं मनीषया शक्तितुल्यत्वाद् इदं कार्यं किन्तु तस्याः अनुभावः. सर्वासां शक्तीनां मध्ये इच्छाशक्तिः उत्कृष्टा, सर्वमूलत्वात्. अन्यास्तु

प्रकाशः

मनीषितानुभावः इत्यत्र. **अक्षरात्मकस्य** इति, ''अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः'' (भग.गीता ८।२१) इति वाक्याद् अव्यक्तस्य. हेत्वन्तरम् आहुः **पराञ्चि** इत्यादि. तथाच अयोग्यत्वात् करणकौण्ठ्याच्च भगवदिच्छाभावे कथमपि न दर्शनम् अतः तयैव तथा इति अर्थः. एतदेव उपपादयन्ति **बहिः** इत्यादि. तथाच आकाशस्यापि तद्वस्तुस्वभावेनैव ग्रहणं, न चक्षुःसामर्थ्येन इति अर्थः. ननु अयोग्यमपि कालरूपं दिव्यचक्षुषा अर्जुनेन दृष्टं, तथा अत्र तपःसामर्थ्येन दर्शनं भविष्यति इति आशङ्कायाम् आहुः **सामर्थ्ये**त्यादि ।।२१।।

१. यद् द्रव्यादि यदिन्द्रियग्राह्यं तदभावोऽपि तदिन्द्रियग्राह्यः इति नियमात् रूप-रस-गन्ध-स्पर्शगुणाभावाधिकरणरूपाकाशस्य चक्षुरग्राह्यत्वेऽपि स्ववृत्तिरूपाद्यभावत्वेन इन्द्रियग्राह्यत्वं च वक्तव्यम्. यद्यपि ''अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति'' इत्युक्तेः अभावप्रत्यक्षनियमोऽपि तिरोभावप्रत्यक्षेऽपि अनुगतो मन्तव्यः. सोऽयं रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाभावाधिकरणतारूप-वस्तुस्वभावेनैव आकाशस्य प्रत्यक्षग्राह्यता, तन्निरपेक्षाधिकरणवस्तुसामर्थ्येन अचाक्षुषतापि - सम्पा.

तत्साध्याः. अतः तस्याएव **अयम् अनुभावो** [१]**मम लोकस्य** वैकुण्ठस्य **अवलोकनं** दर्शनम्. ननु एवं सति तपो व्यर्थं स्यात्! तथा सति पूर्वमेव कथं न दर्शनं लोकस्य? अतः इच्छोत्पादकत्वेन साक्षाद्दर्शन-हेतुत्वेन वा तपो अवश्यं वक्तव्यम् इति आशङ्क्य आह **यदुपश्रुत्य** इति. तपो हि मयैव उपदिष्टं, यतः ''तप-तप'' इति मद्वाक्यं श्रुत्वा **रहसि** एकान्ते – उभयत्र एतद् विशेषणं – **परमं तपः चकर्थ.** पूर्वत्र विशेषणत्वे[२] एकान्तवचनत्वात् तत्कथनं विश्वासाय, उत्तरत्र तु गुप्ततयैव तपःकरणं कीर्तनेन क्षरणशङ्काभावाय. **परमम्** इति स्वरूपतः फलतश्च उत्कृष्टम्. इदमपि मनीषितानुभावरूपम् ॥२१॥

ननु एवं सति मनीषा अप्रयोजिका, तपसः कृतत्वाद् इति आशङ्क्य आह.

प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते ॥
तपो मे हृदयं साक्षाद् आत्माऽहं तपसोऽनघ ॥२२॥

प्रत्यादिष्टम् इति. कर्मणा विमोहितः **कर्मविमोहितः**. सृष्टीच्छया व्यापृतो ब्रह्मा प्रयोजनसन्देहेन विमोहितः — ''किं स्वार्थं परार्थं वा कर्तव्यम्'' इति. तदा (**मया अनघ प्रत्यादिष्टं!**) कर्मजनित-मोहव्यावृत्त्यर्थं तपः उपदिष्टं, नतु कार्यार्थम्. कार्यविलम्बस्तु मोहाभावार्थः. एवं तपःप्रयोजनम् उक्त्वा तपःस्वरूपम् आह **तपो मे हृदयम्** इति. यथा भगवान् षड्गुणः तथा तपोऽपि षड्गुणम्. तथा सति तस्य षड्गुणत्वे ज्ञाते ''तपसैव कार्यं भविष्यति, किं भगवता!'' इति आशङ्का निवृत्ता भविष्यति. तपसः षड्गुणान् आह. **तपो मे हृदयम्** अन्तरङ्गा शक्तिः, हृदयमेव वा. **साक्षाद्** इति उपचारनिवृत्तिः. ''अस्य ज्ञानमयं तपः'' (मुण्डकोप. १।१।९) इति श्रुतेः ज्ञानात्मकत्वं हृदयस्यैव. मद्धृदयत्वं तस्य ऐश्वर्यम्. किञ्च **अहमेव** तस्य (**तपसः!**) **आत्मा.** मदात्मकत्वं[३] तस्य वीर्यम्.

प्रकाशः

प्रत्यादिष्टम् इत्यत्र. **एवं सति** इति, तपसः परमत्वे सति.

---

१. -भावः लोकस्येति ग. २. विशेषणं त्वेकान्तेति ख. ३. मदात्मकं तस्येति ग.

यद्यपि भगवान् सर्वस्य आत्मा तथापि न स्वरूपात्मत्वम् अत्र विवक्षितं किन्तु कार्यात्मत्वम्. ततः च यत्किञ्चिद् अहं कर्तुं शक्तः तत्सर्वं तपसाऽपि भवति. अतो अवतारवद् रूपान्तरं तपः इति अर्थः ॥२२॥

ननु तथापि न भगवत्तुल्यता तपसो, जगदकर्तृत्वाद् इति आशङ्क्य उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकर्तृत्वं तस्य आह **सृजामि** इति **बिभर्मि तपसा विश्वम्** इत्यन्तेन.

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ॥
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुःसहं तपः ॥२३॥

यद्यपि करणत्वं सृष्ट्यादौ तथापि ''स्वव्यापारे हि कर्तृत्वं सर्वत्रैव अस्ति कारके'' (द्रष्ट. न्यायकुसुमाञ्जलि ५।९) इति न्यायेन कर्तृत्वमपि. एवं स्वरूप-गुण-कार्याणि तस्य निरूपितानि. तथा सति भगवतः तस्य वा वैयर्थ्यम् आशङ्क्य आह **(मे दुःसहं!) वीर्यम्** इति. तपस्तु मम पराक्रमो धर्मरूपः. नहि कार्यसाधक-धर्मेण धर्मी धर्मो वा अन्यथासिद्धो भवति, आश्रयस्य प्रयोजकस्य च अवश्यम् अपेक्षणात्. अतः तपसो मद्रूपत्वात् पूर्वमपि मया स्वस्वरूपमेव उपदिष्टम्. परम् एतावान् विशेषः— किञ्चिद् मम स्वरूपं क्रियया अभिव्यज्यते, किञ्चिद् ज्ञानेन इति. तपस्तु क्रियया. तस्माद् यत् तपसा जायते मदुपदिष्टेन तद् मयैव जायते इति वैलक्षण्यार्थं न अतीवाग्रहः कर्तव्यः ॥२३॥

एवं सोपपत्तिक-वरप्रार्थनायाम् आज्ञप्तो ब्रह्मा आज्ञापने प्रतीतं दोषं

प्रकाशः

कार्यात्मत्वम् इति कार्यव्यापकत्वम् ॥२२॥

लेखः

सृजामि इत्यत्र. **''स्वव्यापारे हि कर्तृत्वं सर्वत्रैव अस्ति कारके''** इति. ... . **स्वस्वरूपमेव उपदिष्टम्** इति, ''तप-तप'' इत्यनेन इति शेषः ॥२३॥

भगवन् इत्यत्र. आभासे **आज्ञापने प्रतीतं दोषम्** इति. वरार्थम् आज्ञापनेन तदाशयाज्ञानसूचनात् प्रतीतं सर्वज्ञत्वभङ्गरूपं दूषणं **वेद ह्यप्रतिरुद्धेन** इत्युक्त्या परिहृत्य इति अर्थः.

परिहृत्य वरं प्रार्थयते **भगवन् सर्वभूतानाम्** इत्यादि पञ्चभिः. चत्वारो अर्थाः प्रार्थनीयाः, दोषपरिहारार्थं च आद्यः.

॥ ब्रह्मा उवाच ॥

भगवन् सर्वभूतानाम् अध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम् ॥
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम् ॥२४॥
तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम् ॥
परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणः ॥२५॥
यथाऽऽत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम् ॥
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना ॥२६॥
क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते ॥
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव ॥२७॥
भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः ॥
नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥२८॥

तम् आह हे **भगवन्**. पूर्वं सहसा भगवद्दर्शनेन आगतसाध्वसो असमर्थो जातः, इदानीं भगवद्वाक्येन स्पर्शेन च सावधानः सोपपत्तिकं वदति. **भगवन्** इति सम्बोधनं स्वरूप-परिज्ञापकम्. त्वं हि सर्वान्तरात्मा सर्वेषां हृदयं जानासि, अतो यद् मम अभिप्रेतं तत् तव ज्ञातमेव. तथाच ज्ञातृज्ञापनं पिष्टपेषः. तथापि याचितमेव देयम् इति. यद्यथवा न ज्ञायते अस्य तत्त्वं किम् इत्येवम् आह **भगवान्** इति. तस्मिन्नपि पक्षे भगवदाज्ञा कर्तव्या इति प्रार्थनम् आवश्यकम्. तद् वक्ष्यति **तथापि** इति. **सर्वभूतानाम् अध्यक्षः** सर्वकार्येषु प्रेरको, नियामको वा. यथा लोके कर्माध्यक्षः तथा भगवान् सर्वाध्यक्षः. अनेन भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण न कस्याऽपि कोऽपि धर्मो अन्तर्बहिः वा उत्पद्यते. अतः कामनाऽपि उत्पन्ना त्वयैव उत्पादितेति तत्पूरणमपि त्वयैव कर्तव्यमिति न मम भारः. स्वपुत्रान् हि सर्वएव पुष्णन्ति! किञ्च **गुहाम् अवस्थितः** हृदयाकाशम् अधिष्ठाय स्थितः. अतः सर्वं तव विदितम्. किञ्च **चिकीर्षितमपि** भवान् **वेद**, यतो **अप्रतिरुद्धेन (प्रज्ञानेन!)** कालादिभिः प्रतिरोधो यस्य ज्ञानस्य नास्ति. कार्यबोधने उत्पत्तौ वा प्रत्यासत्त्यर्थं वा केनाऽपि अंशेन

प्रतिरोधो नास्ति. अतो ज्ञातत्वाद् ज्ञानोत्पत्तिस्थानएव विद्यमानत्वाद् इच्छायाश्च [१]उत्पादकत्वाद् भगवता न प्रष्टव्यं, न वा वक्तव्यम्. तथापि तव आज्ञापरिपालनार्थं कथयिष्यामि इति आह **तथापि** इति. परम् एकमेव प्रार्थ्यते. याचितं देयं, नतु युक्तम् अयुक्तं वा इति विचारणीयम्. तद् आह **नाथितं नाथय** इति. ''नाथृ याच्ञायाम्'' (पाणि.धा.पा. भ्वादि. ७). अतो **नाथितं** याचितं **नाथय** प्रयच्छ. अवश्यदाने हेतुः हे **(नाथमानस्य !) नाथ** इति. स्वामी हि सेवकेभ्यः प्रयच्छत्येव, अनन्यगतिकत्वात् तेषाम्. एवं प्रार्थयित्वा प्रथमं द्वयं प्रार्थयते **परावरे यथा रूपे** इति. मम अयं महान् सन्देहः — कः त्वं परः को अपरः (/ अवरः !) इति, किं वा तव पुरुषोत्तमरूपं किं वा इदं परिदृश्यमानम् इति. एते **परावरे रूपे** पुरुषोत्तमाक्षररूपे आविर्भूतानाविर्भूतरूपे अवतारावतारिरूपे वा **यथा जानीयां** तथा वरो देयः. ननु एतानि रूपाणि वेदएव प्रसिद्धानि वेदानुसन्धानादेव ज्ञातव्यानि ; किमिति वरत्वेन प्रार्थ्यते ? तत्र आह **ते तु अरूपिणः** इति. **तु**शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. न तद्रूपम् अस्ति ईश्वरे यद् न वेदे श्रुतम् अस्ति इति एकस्य ईश्वरस्य सर्वाणि रूपाणि वेदे प्रतिपाद्यन्ते. अन्ये वीर्यादयः पञ्च, भगवांश्च अनुक्तएव तिष्ठति. तस्माद् एतानि षडपि न पृच्छ्यन्ते साम्प्रतम्. किञ्च[२] मूलरूपस्य धर्माकारेणाऽपि अजातस्य यत् परं रूपं, यद्वा सर्वरूपेण जातस्य पश्चाद् जायमानम् अवरं रूपं, ते ज्ञातुं प्रार्थयामि इति अर्थः. अनेन आद्यन्तरूप-परिज्ञानं भवति. तथाच

प्रकाशः

तथापि इत्यत्र. **परम्** इति, असङ्गोदासीनम् एकम् इति अर्थः. **ते** इति उभे रूपे.

क्रीडसि इत्यत्र. ननु ऊर्णनाभिदृष्टान्तेन सृष्टिप्रकारविशिष्टो भगवान्

लेखः

तथापि इत्यत्र. **एकस्य ईश्वरस्य** इति, ऐश्वर्यधर्मवतः इति अर्थः. **यद् वा** इति, यदेव इति अर्थः. **तथाच सति** इति, रूपद्वयेऽपि ज्ञाते

---

१. -श्चोदकत्वादिति घ. २. किन्त्विति क-ख.

सति एतावत् कर्तव्यम् इति ज्ञातं स्यात्. तच्च ज्ञानं कर्माङ्गम् इति प्रसिद्धम्[१]. एवम् आद्यन्तरूप-ज्ञानं प्रार्थयित्वा मध्यस्थानि सर्वाण्येव रूपाणि ज्ञातुं प्रार्थयते. तथा सति तत्तदुपयोगार्थं सृष्टिकरणं सुगमं स्यात्. सृष्टिज्ञानन्तु पूर्वमेव वर्ततइति न तत् प्रार्थयते. सिसृक्षायां[२] वा प्रार्थयिष्यते अंशभेदेन. **यथा आत्मनः** स्वस्य पुरुषोत्तमस्य **माया** कार्य-कारणरूपिणी अनन्ता तस्याः सर्वतो **योगेन** तस्याः त्रिगुणत्वात् तत्सम्बन्धेन **नाना**भावम् उत्पत्त्यादिरूपं शक्त्यादिरूपञ्च तेन **उपबृंहितम् आत्मानं विसृजन्** विशेषेण कुर्वन् **गृह्णन् बिभ्रद्, आत्मानमेव गृह्णन्** उत्पन्नम् आत्मसात्कुर्वन् **बिभ्रद्,** आत्मानमेव उत्पन्नं भाररूपं स्वयमेव धारयन् यदा पुनः भारं वोढुं न इच्छति तदा **विशेषेण लुम्पन् (आत्मना!)** स्वयमेव कर्तृ-कर्म-करणरूपः **क्रीडसि** तथा क्रीडाज्ञानं मम अस्तु इति प्रार्थना. तथा सति कृतिः सुगमा भवति. ननु भगवानेव यदि सर्वं करोति तदा ब्रह्मणा किं कर्तव्यम् इति आशङ्क्य आह **अमोघसङ्कल्पः** इति, अमोघः सङ्कल्पो यस्य. सङ्कल्पमात्रेणैव भगवान् करोति, कृत्या तु मया कारयति इति अर्थः. ननु एकएव कथम् अनेकानि रूपाणि करोति? अतो ब्रह्मादिरूपाणि सः करोति इति मन्तव्यम् इति आशङ्क्य आह दृष्टान्तेन **ऊर्णनाभिः** इति. **यथा ऊर्णनाभिः (ऊर्णुते!)** साधनान्तर-निरपेक्षः स्वरूपभूतयैव ऊर्णया क्रीडति, ऊर्णामेव उत्पादयति स्थापयति भक्षयति च, तथा भगवानपि आत्मानं करोति. कृतिमात्रे दृष्टान्तः, स्वरूपन्तु अज्ञातमेव. दृष्टान्ते तु ऊर्णारूपमेव सृज्यादिभावं प्राप्नोति, नतु ऊर्णनाभिः ; आश्रयञ्च अपेक्षते[३], दुष्टत्वञ्च उत्पादितस्य भवति. अतः तस्य स्वरूपं ज्ञातव्यम्.

प्रकाशः

ज्ञातएवेति स्वरूपज्ञान-प्रार्थनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **कृतीत्यादि. अतः** इति दृष्टान्तमात्रेण स्वरूपाज्ञानात्. तद् व्युत्पादयन्ति **अन्येत्यादि.**

लेखः

सति इति अर्थः. **कर्माङ्गम्** इति, सृजनरूप-कर्माङ्गम् इति अर्थः.

---

१. लोकप्रसिद्धमिति ख. २. शिक्षायां वेति ख. ३. चापेक्ष्यत इति ख.

अन्याऽनपेक्षतामात्रे[१] दृष्टान्तः. नाऽपि तस्य सर्वाऽनपेक्षता, देशादीनाम् अपेक्षितत्वात्. अतो दृष्टान्तमात्रेण ज्ञानं न भवति इति भवानेव तत् सम्पादयतु इति प्रार्थयते **तथा तद्विषयां धेहि** इति. भगवान् करोति इति अविवादं ; श्रुतिरपि कृतिमेव आह, नतु स्वरूपम्. अतः त्वमेव तां **(तद्विषयां!) मनीषां** बुद्धिं **धेहि मयि** स्थापय, नतु उपदेशेन तत्सिद्धिः इति भावः. मदुक्तं पित्रा भवता कर्तव्यमेव इति सम्बोधयति **माधव** इति. यथा लक्ष्मीपतिः भार्योक्तं करोति तथा पुत्रोक्तं कर्तव्यम् इति. एवं ज्ञाने वरद्वयं प्रार्थितं निरूप्य क्रियायामपि वरद्वयं प्रार्थयते— शिक्षां गर्वाभावञ्च. तत्र प्रथमं शिक्षाम् आह **भगवच्छिक्षितम्** इति. भगवता अहं शिक्षणीयः "एवंप्रकारेण सृष्टिं कुरु" इति. शिक्षा नाम बोधिका क्रिया ; विषयान्तर-व्युदासेन अभीष्टविषयपरा. तस्याः कर्ता शिक्षकः, शिक्षितस्तु आश्रयः. तत्र क्रियायाः गुणभूतायाअपि कर्मत्वेन विवक्षितायाः

प्रकाशः

भगवच्छिक्षितम् इत्यत्र. ननु अत्र शिक्षितकरणं तेन बन्धाभावप्रार्थनमेव च प्रतीयते, नतु शिक्षाप्रार्थनम् इति शङ्कायां तत्प्रार्थनम् उपपादयन्ति **भगवता** इत्यादि. अत्र हि शिक्षितकरण-वाक्याऽन्यथानुपपत्त्या तदाशयगोचरम् एवं वाक्यं पूर्वं कल्पनीयम्, अन्यथा इदं प्रथमतः इदानीमेव भगवतो दृष्टत्वेन इतः पूर्वं शिक्षान्तरस्य वक्तुम् अशक्यत्वाद् एतद्वाक्यार्थ-बाधापत्तेः. सिद्धे च एवं कल्पने निःप्रत्यूहैव प्रार्थनसिद्धिः इति अर्थः. एवं वाक्यम् उपपाद्य एतदर्थं वक्तुं शिक्षादेः स्वरूपम् आहुः **शिक्षा** इत्यादि. **कर्ता** इति शिक्षणक्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितः. **आश्रयः** इति. तादृशक्रियाबोधक-वचनेन, तादृश्या क्रियया वा, यत्र सा आधीयते सः इति अर्थः. एवं त्रयाणां स्वरूपम् उक्त्वा वाक्यार्थम् आहुः **तत्र** इत्यादि. तत्र

लेखः

भगवद् इत्यत्र. **बोधिका क्रिया** इति, बोधनफलिका इति अर्थः. **तस्याः कर्ता** इति, तादृशक्रियाश्रयः इति अर्थः. **गुणभूतायाअपि** इति,

---

१. -मात्रेणेति घ.

कर्मभावं परित्यज्य आश्रयभावमेव अवलम्बते सैव क्रिया. तस्यास्तु आश्रयः कर्मभावम् अवलम्बते[१], "पठने शिक्षितो देवदत्तो लिखने शिक्षितः" इति. प्रकृते तु क्रियायाः कर्मत्वेनैव विवक्षितत्वात् तद्विषयएव आश्रयतां प्राप्तः, नतु तदाश्रयो ब्रह्मा. सच विषयो जगद्रूपः. तथा सति तस्मिन् जगति यथा शिक्षा उचिता तथा कुरु इति अर्थः. पश्चात् तथा शिक्षां प्राप्य यथोचितं मया कर्तव्यम्. यथा फलकादौ अतिबालक-शिक्षायां गुर्वादिरेव प्रथमतो अक्षराणि लिखति ; तदुपर्येव बालकः तथा अङ्गुलिचालनं करोति. हस्ते धृत्वा अङ्गुलिचालनं गुरोः प्रयासाधिक्य-जनकं भवति, फलके तु सुगमम्. संस्कारेण हृदये तदुल्लेखापेक्षया जगत्येव तदुल्लेखनं सुगमं ममाऽपि हितकरम्. अद्याऽपि मानेन पदार्थकर्तारो न बद्ध्यन्ते. तथा अहमपि (**भगवच्छिक्षितं करवाणि!**) भगवता येन प्रकारेण निष्पादितं जगत् तेनैव प्रकारेण स्वक्रियामपि तत्र सम्पादयिष्यामि अग्रे शिक्षार्थम्. ननु एवं करणे आलस्यं भवति, ज्ञात्वा करणे तु अनालस्यम्! अतः

प्रकाशः

क्रियाकर्मक-शिक्षाप्रार्थन-वाक्यप्रयोगे शिक्षाप्रार्थन-क्रियायाएव मुख्यत्वेन कर्मभूत**क्रियायाः गुणभूतायाअपि कर्मत्वेन विवक्षितायाः** सिद्धौ इति शेषः. सिद्धौ **सैव** कर्मभूतक्रियैव तथा वैपरीत्यम् आलम्बते. तथा तदाश्रयश्च पठनादि-क्रियादृष्टान्तेन. प्रकृते तु ब्रह्मकर्तृक-प्रार्थनक्रियायां तु जगत्सृष्टिक्रियायाः असिद्धत्वेन अतथात्वात् तथा इति. **तथा सति** इत्यादिना उक्तरीतिकएव अर्थः इति अर्थः. एवं शिक्षावाक्यार्थम् उक्त्वा **शिक्षितं करवाणि** इत्यस्य आहुः **पश्चाद्** इत्यादि. **अग्रे शिक्षार्थम्** इति अग्रे जनिष्यमाणानां शिक्षणार्थम्[२] ॥२४-२८॥

लेखः

पुरुषधर्मत्वेन निरूपणीयत्वाद् इति तथा इति अर्थः. **कर्मत्वेन विवक्षितायाः** इति, प्रकृतश्लोके तत्त्वेन विक्षितायाः इति अर्थः. **न बद्ध्यन्ते** इति, व्याकुलाः न भवन्ति इति अर्थः ॥२४-२८॥

---

१. -भावमालम्बत इति ख. २. शिक्षार्थम् इति मा.पाठे - सम्पा.

आह **अतन्द्रितः** इति. तन्द्राम् अप्राप्तएव[१] अहं करिष्यामि. **(हि!)** युक्तो अयम् अर्थः ; भगवता शिक्षिते न कस्यचित् तन्द्रा भवति. ननु किम् इत्येवं प्रार्थ्यते? तत्र आह **न ईहमानः** इति. **प्रजासर्गम् ईहमानो** निष्पादनार्थं व्यापृतः **यस्य** शिक्षणस्य भगवतो वा **अनुग्रहाद् न**[२] **बध्येयम्**. अन्यथाकरणादेव बन्धः. वैषम्य-नैर्घृण्ये प्रजासर्गे भगवतः, ततो बन्धः. शिक्षायान्तु न अस्य वैषम्यं न नैर्घृण्यम् ॥२४-२८॥

एवं क्रियायां शिक्षां प्रार्थयित्वा तथाकरणे यो दोषः तदभावं च प्रार्थयते.

यावत्सखा सख्युरिवेश ते कृतः प्रजा विसर्गे विभजामि भोजनम् ।।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः ।।२९।।

यावत्सखा इति. **सखा सख्युः यावत्** करोति तथा भगवान् मां कृतवान्, मम पुरस्कारं वा. किम् अतो यदि एवं? तत्र आह **प्रजा विसर्गे विभजामि भोजनम्** इति. यदा सख्युः स्वसाम्यम् आपादयति ; सखायं स्वसमानं करोति. वस्तुतः चिदानन्दयोः समानता. तत्र भगवान् आनन्दो, ब्रह्मा चिद्रूपः. एवं वस्तुतः सख्येऽपि क्रिया-ज्ञानशक्ती भगवत्येव सिद्धेइति इदानीं भगवान् क्रिया-ज्ञानादिभिः स्वसमानं कृतवान्. तदा सर्वशक्तिसम्पन्नो **विविधसर्गे प्रजाः विभजामि.** सत्त्व-रजस्तमोगुणभेदेन, ऐश्वर्यादिधर्मेषु उच्चावचभेदेन, धर्मादि-पुरुषार्थोपयोगि-भेदेन च प्रजा विभजामि. तेषां **भोजनं** भोग्यवस्तूनि[३] च **विभजामि.** प्रजासृष्टि-समयएव वा तेषां भोजनं विभजामि. यद्यपि अत्र तथा **ते** त्वया **कृतः** इति नास्ति तथापि अर्थाद् **यावत्सखा सख्युः** इति उक्ते करोति इति प्राप्यते. तथा **इव**

प्रकाशः

यावद् इत्यत्र. ननु अत्र 'करोती'त्यादि पदानाम् अभावात् कथम् एवम् अध्याहार्य व्याख्यायते इति शङ्कायाम् आहुः **यद्यपि** इत्यादि. **ते** इति अस्यैव व्याख्यानं **त्वया** इति. मतान्तरव्याख्याने दोषसाम्यम्

---

१. प्राप्त इवेति ख.	२. नचेति ख.	३. वस्तूंश्चेति क-ख.

इति पदेनाऽपि तावत् प्राप्यते, अतो न न्यूनता. केचित्तु[१] **यावद् विभजामि** इति योजयन्ति ; तावद् **मदो मा समुन्नद्धः** इति सम्बन्धं च वदन्ति. तत्रापि 'तावद्' इति अध्याहारः तुल्यः. कालावच्छेदेन च मदाभावप्रार्थना अयुक्ता. ततोऽपि किम्? अतः आह **ते परिकर्मणि**[२] **अविक्लवश्च स्थितः** त्वत्सेवारूपे आज्ञारूपे वा कर्मणि स्थितः. एवम्[३] एते त्रयः पदार्थाः — सख्येन तच्छक्तिलाभः[४], प्रजादिविभाग-सामर्थ्यं, तव सेवायां च अविक्लवः अवैक्लव्यम्. एतत्त्रयं यद्यपि गुणभूतं तथापि मादृशस्य तुच्छत्वाद् दोषरूपं भवति. अतः त्रिभिः दोषैः **अजमानिनः** अहं न कस्माद् जातो अतो अजएव अहम् इति. भगवत्सकाशात् प्राप्ताः एते गुणाः दूरे, भगवतः सकाशात् स्वस्य जन्माऽपि न मन्यते. तादृशस्य **सम्यग् उन्नद्धो मदो** भवति. स **मे मा** भवतु इति प्रार्थना. एवं परावरज्ञानं, क्रीडाज्ञानं, शिक्षा, गर्वाभावश्च इति चत्वारः प्रार्थिताः ॥२९॥

तत्र क्रमाद् ज्ञानद्वये श्लोकद्वयं, शिक्षायां चतुःश्लोकी, अनेनैव गर्वाभावइति अन्तिमः[५] श्लोकः —एवं सप्तभिः श्लोकैः चतुर्णाम् उत्तरं भवति. तत्र प्रथमं ज्ञानद्वये उत्तरम् आह.

॥ श्रीभगवान् उवाच ॥

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ॥
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥३०॥

ज्ञानम् इति. **मे** पुरुषोत्तमस्य यद् **ज्ञानं** तत् **परमगुह्यं** वक्तव्यं न भवति. यादृशं मां पश्यसि तादृशएव अहं पुरुषोत्तमः. इदमेव मम आदिरूपम् अन्तिमं रूपञ्च. इदं मदन्यः कोऽपि न जानाति, अतो **मयैव गदितं** सामान्यतो निरूपितं त्वं **गृहाण.** भगवद्बुद्धौ सिद्धं

प्रकाशः

आधिक्यञ्च आहुः **तत्रापि** इत्यादि. **अयुक्ता** इति, कालान्तरे पुनः मदप्राप्त्या अयुक्ता इति अर्थः ॥२९॥

---

१. द्रष्ट. अत्रत्या श्रीधरी - सम्पा. २. परिकर्मणे इति घ.

३. एवमेवेति ख. ४. तव भक्तीति ख. ५. अन्तिमश्लोक इति क.

भगवद्गुण-ज्ञानावताररूपं भगवज्ज्ञानं गृहाण इति अर्थः. भगवतो हि ज्ञानं गदितमपि कृपाव्यतिरेकेण न प्राप्यतइति सिद्धवत्कारेण ददद् आह **गृहाण** इति. उपदेशपूर्वकं ब्रह्मणे ज्ञानं दत्तवान् इति अर्थः. तस्य ज्ञानस्य परिकरम् आह **यद्विज्ञानसमन्वितम्** इति. विविधं ज्ञानं **विज्ञानम्**. अस्य अनुभवस्य जातत्वाद् अस्यैव ज्ञानरूपत्वाद् विज्ञानं न अनुभवः किन्तु "अखिलसात्त्वतां पतिम्" (श्लो. १४) इत्यादि पतिचतुष्टयज्ञानं विज्ञानं, तेन समन्वितं ज्ञानम्. तस्य **रहस्यं** सुनन्द-नन्दादि-वेष्टितत्वं, भक्तिः[१] इति यावत्. तस्य **अङ्गं** "भृत्यप्रसादाभिमुखम्" (श्लो. १५) इत्यादिभिः निरूपितानि प्रसादादीनि. **च**कारस्तु अनुक्तसर्व-समुच्चयार्थः — किं बहुना, यत्किञ्चित् त्वया वैकुण्ठे दृष्टं तस्य सर्वस्य ज्ञानं तव भवतु इति अर्थः ॥३०॥

द्वितीयं ज्ञानम् आह.

प्रकाशः

ज्ञानम् इत्यत्र. **परिकरम्** इति येन प्रकारेण तदभिप्रेतं तादृशप्रकारसामग्रीम्. ननु **विज्ञान**पदस्य विशिष्टज्ञान-विविधज्ञानयोः वाचकत्वाद् नियन्त्रणं विना कथं विविधज्ञान-वाचकत्वावगमः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अस्य** इत्यादि. ब्रह्मणा यो भगवान् दृष्टः सोऽनुभवो विशिष्टज्ञान-समानाकारोऽपि वस्तुतो न सः, भगवदात्मक-स्वप्रकाश-भगवद्धर्मरूपत्वात्, स्वेन्द्रियादि-सामर्थ्याजन्यत्वाच्च, किन्तु केवलाखण्डानुभवरूपः. सच जातएवेति परमगुह्यत्वाद् **ज्ञान**पदेन सः उक्तएवेति शब्दान्तर-सन्निधिना नियन्त्रणाद् उक्तरूप-पतिचतुष्टयज्ञानमेव तद् इति अर्थः. **किं बहुना** इत्यादि. तथाच एवं वैकुण्ठस्थित-सर्वपदार्थविषयक-ज्ञानदानेन तादृक् तद्विशिष्टरूपस्य नित्यत्वे ज्ञापिते तस्यैव सर्वपूर्ववर्तित्व-सर्वपश्चाद्वर्तित्व-ज्ञापनात् "परावरे यथा रूपे" (श्लो. २५) इत्यनेन यत् प्रार्थितं तद् दत्तम् इति दृष्टातिरिक्ते आद्यन्तवत्ताज्ञानं भविष्यति इति भावः ॥३०॥

यावान् इत्यत्र. **द्वितीयम्** इति, "यथात्ममाया" (श्लो. २६-२७)

---

१. भगवद्भक्तिरिति ख-ग.

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ।।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ।।३१।।

यावान् अहम् इति. प्रमाणतो **यावान् अहं,** परिमाणतोऽपि. **यथाभावः** यादृशो मम कारणभूतो भावः सर्वकार्यकरणाय सर्वशक्तिरूपः. **यावन्ति रूपाणि गुणाः कर्माणि** च यस्य, यानि वा गुणादीनि. एतदपि पूर्ववत्, तद् आह **तथैव ते मदनुग्रहात् तत्त्वविज्ञानम् अस्तु. तत्त्वतो विशेषेण ज्ञानं** सर्वेषां याथार्थ्यं तव स्फुरतु इति अर्थः ।।३१।।

एवं ज्ञानद्वयं – निरूपयितुम् अशक्यत्वाद्, निरूपणे वा ब्रह्मणो हृदये स्फुरणासम्भवात् – स्वयमेव दत्वा शिक्षार्थं चतुःश्लोकीम् आह **अहमेव आसमेव अग्रे** इति. यादृग्रूपं भगवान् जगत् करोति तत् शिक्षायां[१] प्रार्थितं ; तत्र आह अहमेव तद्रूपो जातः, न अन्यद् इति.

प्रकाशः

इति श्लोकद्वयप्रार्थितं क्रीडाज्ञानम्. **यावन्ति रूपाणि** इति. इदं **यद्रूप** इत्यस्य अर्थकथनं, नतु विग्रहवाक्यम्. **एतदपि पूर्ववद्** इति. **एतद्** रूप-गुण-कर्मज्ञान**मपि पूर्ववद्** यथायथं रहस्यरूपम् अङ्गरूपञ्च इति अर्थः. अत्र श्लोके प्रमाणतो यावत्त्वज्ञापनेन ''यदेकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम्'' (महाना.उप. १।५) इति श्रुत्युक्त-सर्वरूपत्वं स्फोरितम्. परिमाणतो यावत्त्वज्ञापनेन ''अणोः अणीयान् महतो महीयान्'' (श्वेताश्व.उप. ३।२०) इत्यादि श्रावितः परिमाणविरोधो विरुद्धधर्माधारत्वेन परिहृतः स्फोरितः. **यथाभावः** इति कारणरूपतया शक्त्याद्यष्टाविंशति-तत्त्वरूपता श्रौतकारणरूपता च स्फोरिता. **यद्रूपगुणकर्मकः** इति तत्तत्कार्यरूपता बोधिता. सर्वत्र अनुग्रहस्य कारणताबोधनेन ''यमेवैष वृणुते'' (कठोप. १।२।२३) इति श्रुत्युक्तं समर्थितं ज्ञेयम् ।।३१।।

तदेतद् आहुः **एवं ज्ञान-** इत्यादि. **अहमेव आसम्** इत्यत्र. **प्रार्थितम्** इति. ''यथात्ममायायोगेन'' (श्लो. २६-२७) इति द्वाभ्यां सृष्ट्यादिक्रीडा-विषयक-ज्ञानपूर्वक-शिक्षाकरणोक्त्या ''भगवच्छिक्षितं करवाणि''

१. तदिच्छायामिति ख-ग.

अन्यथाभानञ्च मन्मायया[1] इति. जडे देहादौ मध्ये जीवप्रतीतिश्च घटादौ आकाशप्रतीतिवत्. आधाराधेयभावो [2]बाह्याभ्यन्तरभेदहेतुश्च[3] अहमेव इति. स्वरूपतो मूलभूतं जगत् प्रतीतितो मायारूपम्, अनुप्रवेशको जीवः[4] इति सर्वं जगत् सर्वप्रकारेण अहमेव इति ज्ञात्वा स्वस्वरूपमपि तथा ज्ञातव्यम्. इयमेव शिक्षा. एवं मद्रूपो भूत्वा मद्रूपं चेद् जगत् करोति तदा गर्वो न भवतीति तद्धेतुभूतो मोहोऽपि न भवति इति पञ्चश्लोकानाम् अर्थः. तत्र सर्वं जगत् कथं भगवान् इति आकाङ्क्षायां ''तज्जलान्[5]'' (छान्दो.उप. ३।१४।१) इति हेतुं विस्तरेण वदति.

प्रकाशः

(श्लो. २८) इत्यनेन प्रार्थितम्. एतस्य उत्तरञ्च प्रथमश्लोकेनैव सिद्ध्यतीति शेषाणां किं प्रयोजनम् इति आशङ्कायां तेषां तात्पर्यम् आहुः **अन्यथा-** इत्यादि. इदं द्वितीयस्य. **स्वरूपतः** इत्यादिकं तृतीयस्य. **अनुप्रवेशको जीवः** इत्यत्र **अनुप्रवेशतो जीवरूपम्**[6] इति पाठः प्रतिभाति. **इति ज्ञात्वा** इत्यादिकं तुरीयस्य, **एवं मद्रूपः** इत्यादिकं पञ्चमस्य इति ज्ञेयम्. **''तज्जलान्'' इति हेतुं विस्तरेण वदति** इति. छान्दोग्ये शाण्डिल्यविद्यायां ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत'' (छान्दो.उप. १।१४।१) इति श्रावितम्. जगतो ब्रह्मात्मकत्वहेतुं सोपपत्तिकं कथयति. श्रुत्यर्थस्तु— 'खलु' निश्चयेन 'इदं' दृश्यमानं 'सर्वं' (पक्षः) 'ब्रह्म' (साध्यं); तत्र हेतुः 'जलान्' इति. जायते इति जं, लीयते इति लम्, अनीति[7] इति अन्. जञ्च तद् लञ्च जलं, तच्च तद् अन् च जलान्. तस्मिन् ब्रह्मणि जलान् 'तज्जलान् इति' हेतोः 'शान्तः उपासीत' ब्रह्मसमवेतत्वाद् जगद् ब्रह्मत्वेन अनुसन्दध्याद् इति. समवायश्च तादात्म्यस्यैव नामान्तरम्. अतिरिक्तपक्षेऽपि अनारोपिताऽनागन्तुकरूपेण अनुवृत्तिरेव तत्स्वरूपम् इति वैशेषिकप्रतिपन्नाद् भिन्नएव भगवदात्मकः इति न तर्कचरणविरोधः.

१. मायेतीति ख. २. बाह्यान्तरेति क-घ. ३. -भेदे हेतुरिति ख-ग.
४. जीवरूपमिति ख-ग. ५. जलानीति ख-ग.
६. जीवः इति मा.पाठे - सम्पा. ७. अनिति इति मा.पाठे - सम्पा.

अहमेवाऽऽसमेवाऽग्रे नाऽन्यद्यत्सदसत्परम् ।।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ।।३२।।

सृष्टेः पूर्वम् **अहमेव.** "एको नारायणः आसीत् न ब्रह्मा न च शङ्करः", "वासुदेवो वा इदम् अग्रे आसीत् न ब्रह्मा न च शङ्करः" (द्रष्ट. महाभा.ता.नि. १।६३) इति श्रुतेः सृष्टेः पूर्वम् अहमेव. किञ्च मत्तोऽपि पूर्वम् इति न आशङ्कनीयं ; यथा जगतः पूर्वम् अहं, मत्तोऽपि पूर्वम् अन्यद् इति ; तदा एवं भवेद् यदि कदाचिदपि अहं न आसम्. तत्तु मम न सम्भवति, सद्रूपेणैव निरूपणात्. "सदेव सौम्य इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्" (छान्दो.उप. ६।२।१) इति श्रुतेः **आसमेव अग्रे** सृष्टेः पूर्वम्. "असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सद्

प्रकाशः

अत्र **एवकारद्वयाद् अहमेव-आसमेव** इति वाक्यद्वयम्, **अग्र**पदञ्च उभयत्र सम्बध्यते पूर्ववृत्तान्तबोधकत्वाद् इति आशयेन तयोः प्रथमं व्याकुर्वन्ति **सृष्टेः** इत्यादि. "**एको नारायणः आसीद्**" इत्यादि श्रुतिद्वयं शाखान्तरीयम्, इदानीं प्रसिद्धोपनिषत्सु "एको ह नारायणः आसीद् न ब्रह्मा न ईशानः" (महोप. १) इति ब्रह्मो(/महो)पनिषदि पाठात्. अत्र प्रथमश्रुतौ 'अग्रे-इदं'पदयोः अभावेन सृष्टिपूर्वकालस्य उपादानत्वस्य[1] च अस्फुटत्वाद् द्वितीयश्रुतिप्रदर्शनं, तेन तथा इति अर्थः. ननु उक्तश्रुतौ 'अग्र'पदेन कालस्य उक्तत्वाद् "हरितो रोहिताद् आसीद्" इत्यादौ अस्तेः उत्पत्त्यर्थकत्वस्यापि सिद्धत्वात् तदा सर्वेभ्यः प्रथमम् उत्पत्तेरपि शक्यवचनत्वात् सृष्टिपूर्वकाले स्वमात्रसत्ताप्रतिज्ञा न उपपद्यते इति शङ्कायाम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. **पूर्वम् इति** इति वक्ष्यमाणप्रकारेण. **तत्तु** इति असत्त्वं तु. ननु तर्हि उभयसत्ता अस्तु – नच एवकारविरोधः, अगत्या अयोगव्यवच्छेदकत्वस्यैव तत्र आदरणीयत्वाद्, अन्यथा **अग्र**पदव्याकोपाद् – इति शङ्कायाम् आहुः **अग्रे सृष्टेः पूर्वम्** इति. अयम् अर्थः — अत्र श्रुतौ कालसत्ताविधानाङ्गीकारे वाक्यभेदापत्तिः. अनुवादाङ्गीकारे तस्य पुरोवादसापेक्षत्वेन तत्कल्पनस्य

१. उपादानस्य इति मा.पाठे - सम्पा.

अजायत'' (तैत्ति.उप. २।७।१) इत्यादीनां पश्चात् प्रतीयमानजगतः पूर्वम् एतादृशरूपेण अनवस्थितत्व-प्रतिपादकत्वात्. अन्यथा असतः सत्ताबोधकत्वे

प्रकाशः

आवश्यकतया तस्य तद्वक्तुश्च सत्तापत्त्या वाक्यार्थबाधप्रसक्तिः. विशिष्टविधाने च गौरवापत्तिः. अतः तत्र शिष्यबोधनार्थम् इदानीं प्रसिद्धकालोपरञ्जनेन तस्य वाक्यस्य प्रवृत्तिः इति अवश्यम् आदरणीयम्. तथा सति सूक्ष्मेक्षिकायाम् **अग्र**पदमपि न कालवाचकम्, ''अग्रे गच्छ''-''अग्रे नगरी'' इत्यादौ देशविशेषेऽपि तत्प्रयोगात्. अतो अवधारणानुरोधेन **अग्र**पदे पुरःस्फूर्तिकं विशेष्यांशं विहाय विशेषणीभूतस्य पूर्वत्वस्य वृत्तिमत्त्वाय सतएव विशेष्यत्वम् अवधारणीयम्. सप्तमी च अधिकरणे. तथा सति सृष्टेः पूर्वम् अधिकरणं केवलं सद् इति अर्थो भवति. नच✻ एतद्विवरणभूते ''एकमेव अद्वितीयम्'' इति अग्रिमवाक्ये 'एक'पदाद् ''एके मुख्यान्यकेवला'' (अमरको. ३।३।१६) इति कोशेन तत्र मुख्यार्थतायाअपि वक्तुं शक्यत्वात् समाभ्यधिक-राहित्यमेव तत्र विवक्षितम् ✻इति वाच्यम्, 'अद्वितीय'पदवैयर्थ्यापत्तेः, इतरसत्ता-निषेधातिरिक्तस्य तदुक्तिप्रयोजनस्य अलाभात्. नच ''आत्मा वा इदम् एक एव अग्रे आसीत् न अन्यत् किञ्चनमिषद्'' (ऐत.उप. १।१) इति श्रुत्यन्तराद् व्यापारं कुर्वतो अन्यस्य निषेधार्थम् 'अद्वितीय'पदम् इति वाच्यं, तथा सति ''येन अश्रुतं श्रुतं भवति'' (छान्दो.उप. ६।१।३) इत्यादि प्रतिज्ञायाः ''यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन'' (छान्दो.उप. ६।१।४) इत्यादि दृष्टान्तस्य च उपरोधप्रसङ्गात्. नच एवं धर्माभावप्रसङ्गः, स्वरूपधर्माणां तदात्मकत्वेन सत्त्वेऽपि अदोषाद् इति. तदेतद् अभिसन्धाय उक्तम् **अग्रे सृष्टेः पूर्वम्** इति अनवद्यम्. एतेन ''तज्जलान्'' इति श्रुतौ उपासनाशेषत्वेनापि उक्तो हेतुः मानान्तराविरोधाद् वस्तुतत्त्वसमर्पकः इति बोधितम्. ननु तथापि केवलब्रह्मसत्ता न उपपद्यते, ''असद् वा'' इत्यादि श्रुतिषु असदादीनामपि तथाकथनाद् इति शङ्कायाम् आहुः **असद् वा** इत्यादि. **पश्चाद्** इति सृष्टिदशायाम्. **पूर्वम्** इति सृष्टिप्राक्काले. तथाच तदानीम् एतादृशरूपेण अनवस्थितत्व-प्रतिपादने घटस्य पूर्वं मृद्रूपेण इव जगतः पूर्वं सद्रूपेणैव अवस्थितिः सिद्ध्यति इति तदानीं केवलब्रह्मसत्ता

विरोधः, ''नाऽसतो विद्यते भावः'' (भग.गीता २।१६) इति वाक्यात्. ''नाऽसद् आसीत् नो सद् आसीत् तदानीम्'' (ऋक्संहि. १०।१२९।१)

प्रकाशः

सूपपन्ना इति अर्थः. ननु श्रुतिबलाद् लोकसिद्धा असतः सत्तैव कुतो न अङ्गीक्रियते? इत्यतः[१] आहुः **अन्यथा** इत्यादि. लोकानुरोधेन अस्य वाक्यस्य असतः सत्ताबोधकत्वे ''कुतस्तु खलु सौम्य एवं स्यात् कथम् असतः सद् जायेत!'' (छान्दो.उप. ६।२।१) इति श्रुतिविरोधः, कार्यस्य नियतावधिकत्व-विरोधश्च इति अर्थः. ननु कार्यस्य नियतावधिकत्वाय तत्तत्प्रागभावः तत्र अङ्गीकार्यो अतो असतः सत्ताङ्गीकारेऽपि अदोषः ; ''कुतस्तु'' इत्यादि श्रुतिस्तु केवल-वैनाशिकमत-निरासार्था इति न तस्याअपि विरोधः इत्यतः आहुः **न असतः** इत्यादि. तथाच तदानीं सर्वसत्ताङ्गीकारे अधिकरणाभावात् कार्यप्रागभावस्य अशक्यनिरूपणत्वाद्, अधिकरणसत्ता-ङ्गीकारे च ''सदेव'' इति श्रुतिविरोधाद् ब्रह्मण्येव तत्सत्ता अङ्गीकार्या ; तदापि एतद्वाक्यविरोधो दुष्परिहरः इति अर्थः. वाक्यार्थस्तु— 'असतः' पदार्थस्य 'भावः' सत्ता 'न विद्यते', 'सतः' पदार्थस्य 'अभावः' असत्ता 'न' विद्यते. तत्र हेतुः 'उभयोरपि अनयोः' असद्भाव-सद्भावयोः 'अन्तः' परिच्छेदो निष्कर्षः 'तत्त्वदर्शिभिः' वास्तवरूपद्रष्टृभिः 'दृष्टः' साक्षात्कृतः इति. ननु भाववृत्तसूक्ते ''न असद् आसीद्'' इति श्रुत्या सृष्टिपूर्वकाले सदसतोः उभयोरपि अभावबोधनाद् आगतैव असतः सत्ता इत्यतः आहुः **नासदासीद्** इत्यादि. तथाच अत्र 'असच्'छब्देन सूक्ष्मं कार्यं 'सच्'छब्देन च स्थूलं कार्यम् अनूद्य तदभावः उच्यतइति एतस्यापि पूर्वतुल्यत्वात् तेनैव इदं दत्तोत्तरम् इति अर्थः. विद्यारण्यैस्तु 'असत्'पदेन अनुपाख्यं 'सत्'पदेन आत्मवद् निर्वाच्यम् अत्र अङ्गीकृतम्. तथाच तदभावबोधनाद् उभयविलक्षणम् अनिर्वाच्यमेव आसीद् इति तन्मतम् इति अर्थः. तथापि न कश्चिद् विशेषः. अग्रे च ''न आसीद् रजः'' (ऋक्संहि. १०।१२९।१) इति रजोगुणनिषेधः. ''नो व्योमापरो यद्'' (तत्रैव) इत्यनेन काणादादि-

१. इत्यत्र इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

इत्यादेस्तु स्थूल-सूक्ष्म-कार्यपरत्वम्. "आपो वा इदम् अग्रे सलिलम् आसीद्" (तैत्ति.संहि. ७।१।५।१) इति तु अवान्तरकल्पाभिप्रायेण. 'आपो' नानाविधानि जलानि 'इदं' तत्कार्यं च जगत् सर्वं 'सलिलं' प्रलयोदकरूपमेव 'आसीद्' इति अर्थः. "अव्यक्तादीनि भूतानि" (भग.गीता २।२८) इति तु अव्यक्तरूपं ब्रह्मैव. लीनत्व-कल्पकस्य पश्चादेव सिद्धेः पश्चादेव

प्रकाशः

प्रतिपन्नाऽऽकाशप्रतिषेधः, "यो अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन्" (तत्रैव ७) इत्यनेन अक्षरब्रह्मात्मकस्य आकाशस्य अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्. ततः "किमावरीवः" (तत्रैव १) इत्यादिना प्रकृतितत्त्वनिषेधः. ततो "अम्भः किम् आसीद्" (तत्रैव १) इत्यादिना प्रलयोदकस्य सः. तदग्रिमे मन्त्रे "न मृत्युः आसीद्" (तत्रैव २) इत्यादिना मृत्यु-मृतकालज्ञानानां सः. ततः "आनीदवातम्" (तत्रैव २) इत्यादिना तस्य एकस्य सत्ताम् उक्त्वा तदितर-सर्वसत्तानिषेधः क्रियते इति मन्त्रद्वयार्थः.

ननु अत्र अम्भोनिषेधेऽपि "आपो वा" इति संहितावाक्ये तत्सद्भावः उक्तः इति तस्य विरोधः इत्यतः आहुः **आपो वा** इत्यादि. ननु अस्तु एवं तथापि सृष्ट्यादौ प्रकृत्यभावो न वक्तुं शक्यः, गीतायाम् "अव्यक्तादीनि" इत्यनेन भगवता तत्सत्ताप्रतिपादनाद् 'अव्यक्त'पदस्य च प्रकृतिवाचकत्वाद् इति आशङ्कायाम् आहुः **अव्यक्ते**त्यादि. ननु अत्र 'अव्यक्त'पदेन ब्रह्मैव उच्यते इति कथं निश्चेयम् इत्यतः आहुः **लीने**त्यादि. अत्र हि अर्जुनविषादनिवारणाय जीवानां नित्यत्वम् उच्यते अतो अत्र 'भूत'पदेन जीवाएव अभिप्रेताः. तेषाञ्च व्यक्तता[१] उत्पत्त्यनन्तरमेव उक्तरीत्या सिद्ध्यति इति विभागात् पूर्वं लीनत्वेनापि रूपेण न व्यक्तता इति तेषाम् अव्यक्तादित्वम्. एवं सति भूतादि-भूताव्यक्तत्वं न प्रकृतेः शक्यवचनं, साङ्ख्यसिद्धान्ते प्रकृति-पुरुषयोः उभयोरपि अनादित्वोपगमात्. अतः तदाद्यव्यक्तं ब्रह्मैव

लेखः

अहमेव इत्यत्र. **लीनत्वकल्पकस्य** इति. ... **वाक्यविरोधाद्** इति,

---

१. अव्यक्तता इति मुद्रितपाठः अर्थस्वारस्यात् संशोधितः - सम्पा.

पूर्वलीनत्वं सिद्ध्यति, न पूर्वम्. अनेन "प्रकृतिं पुरुषं च" (भग.गीता १३।१९) इत्यपि निरस्तं, मतान्तरत्वाद्, "आसीद् ज्ञानमयो ह्यर्थः" (भाग.पुरा. ११।२४।२) इति वाक्यविरोधाच्च. "तमः आसीद्" (ऋक्संहि. १०।१२९।३) इति तमोऽपि ब्रह्मैव, सर्वतः सुप्तत्वेन[१] साम्यात्. न प्रकृतिः, "किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्" (ऋक्संहि. १०।१२९।१) इति कार्याश्रय-प्रयोजनाभावात् तस्याः कार्यैकोन्नेय-स्वरूपायाः [२]अभावात्. एवम् अन्यान्यपि वाक्यानि

प्रकाशः

इति अर्थः. ननु एवं सति "प्रकृतिं पुरुषं च" इति वाक्यान्तरस्य का गतिः इत्यतः आहुः **अनेन** इत्यादि. **अनेन** इति 'अव्यक्त'पदार्थनिश्चायनेन. ननु भाववृत्तसूक्ते तृतीये मन्त्रे सृष्ट्यादौ तमःसत्ता उच्यते, तत् च मायैव, "तमो वा इदम् अग्रे आसीद् एकं तत्परे स्यात् तत्परेण इरितं विषमत्वं प्रयाति" (ऋक्संहि. १०।१२९।३) इत्यादौ तन्निर्णयाद्, इति कथं तदानीं केवलब्रह्मसत्तासिद्धिः इत्यतः आहुः **तमः आसीद्** इत्यादि. कथम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **सर्वतः** इत्यादि. अत्र हि पूर्वमन्त्रे "आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद् ह अन्यत् न परः किञ्चन आस" इत्यत्र 'तच्'छब्देन यद् उक्तं तत्स्वरूपम् अत्र उच्यते "तमः" इत्यादिना तस्मात् तथा इति अर्थः. ननु एवं लक्षणापेक्षया शक्यार्थग्रहणमेव ज्यायः इत्यतः आहुः **न प्रकृतिः** इत्यादि.

लेखः

प्रकृतेः ज्ञानमयत्वाभावात् तथा इति अर्थः. **सुप्तत्वेन साम्याद्** इति. ... तमसः प्रकृतित्वाभावे श्रुत्यन्तरमपि अनुकूलयन्ति **किम्** इत्यादि. **कुह** नाम कुत्र **कस्य शर्मन्** कस्य सुखाय **किं** कार्यम् **आवरीवः** आवृणुयात्! जगतो भगवति लये सति अधिकरण-भोक्तृ-विषयाणाम् अभावादेव माया कुत्र अधिकरणे रूपस्य भोक्तुः सुखाय किं विषयकार्यम् आवृणुयात् = भगवत्त्वबुद्धिम् आच्छाद्य सुखार्थम् उपयुज्याद्! इति सकार्यायाः मायायाः निवृत्तिबोधनाद् न 'तमः'शब्देन माया गृहीतुं शक्येति उक्तएव अर्थः

१. गुप्तत्वेनेति घ. २. -पायाः भावादिति ख.

तत्तद्भावप्रकारेण बोधयन्ति ; पूर्वम् एकरूपे भगवति न बाधकानि भवन्ति.

प्रकाशः

श्रुत्यर्थस्तु— 'किं' कार्यम् 'आवरीवः' आवृणुयात् 'कुह' कुत्र[१] 'कस्य शर्मन्' कस्य सुखार्थम् इति. तथाच प्रकृतिसत्तानिषेधस्य पूर्वमन्त्रएव सिद्धत्वाद्[२] न अत्र 'तमः'शब्दस्य पुरःस्फूर्तिको अर्थो ग्रहीतुं शक्यो अतो लक्षणैव ज्यायसी इति अर्थः. नच "तमसा गूढम् अग्रे" इति अग्रिमविरोधः शङ्क्यः, 'आसमन्ताद् इदं' नाम-रूपाभ्यां व्याकृतं जगद् 'अग्रे' सृष्टेः पूर्वम् 'अप्रकेतम्' अप्रज्ञायमानं 'सलिलं' कारणेन अविभक्तं 'तमसा' पूर्वोक्तरूपेण ब्रह्मणा 'गूढम् आसीद्' इति क्रिया आवृत्त्या अन्वयेन तदभावाद् इति.

एवं कतिपयानि वाक्यानि विचार्य तद्वद् अन्येषां गतिम् आहुः **एवम् अन्यानि** इत्यादि. "किं तदानीं तस्मै स ह उवाच न सत् न असत् न सदसद्" (सुबालोप. १।१) इति, "तमो वा इदमग्र आसीत् ... तत्परेण इरितं विषमत्वं प्रयाति" (ऋक्संहि. १०।१२९।३) इति, "यदा तमः तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन् शिवएव केवलः" (श्वेताश्व.उप. ४।१८) इत्यादीनि सौबाल-मैत्रायणीय-श्वेताश्वतरीयाणि एवंजातीयकानि अन्यान्यपि सदसद्विलक्षण-तमोनियामक-शिवादिप्रकारेण बोधयन्ति तथा भवन्ति इति अर्थः. एवं वाक्यमात्रगतिम् उक्त्वा सिद्धम्

लेखः

इति भावः. तदेतद् आहुः **कार्याश्रयेत्यादि**. 'किम्' इति कार्याभावः, 'कुह' इति आश्रयाभावः, 'कस्य शर्मन्' इति प्रयोजनाभावः. तथाच कार्यादीनाम् अभावाद् मायायाश्च **कार्यैकोन्नेयस्वरूपायाः** तदानीं कार्याभावादेव तदभावाद् इति अर्थः. **तत्तद्भावेति**, जलत्व-नभस्त्वादि**प्रकारेण बोधयन्ति** सन्ति, सकलकार्यताभिव्यक्तितः **पूर्वं** सकलकारणरूपत्वेन **एकरूपे भगवति न बाधकानि** इति अर्थः. **श्रुतिसिद्धत्वाद्** इति अन्यनिषेधस्य

१. कुत्र इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा. २. निषिद्धत्वाद् इति मुद्रितपाठः. विसिद्धत्वाद् इति मा.पाठः. स्वारसिकं तु एवम् - सम्पा.

अतएव श्रुतिसिद्धत्वाद् अन्यानि तत्काले निषेधति **न अन्यद्** इति. सदसतोः श्रुतौ पूर्वसिद्धत्वेऽपि न तयोः अन्यत्वम्. तद् आह **सदसद्** इति. **सच्**छब्देन **असच्**छब्देन च ब्रह्मैव उच्यते इति अर्थः. "योऽस्मात् परस्मात् च परः" (भाग.पुरा. ८।३।३) इति **पर**शब्देनापि न कालादिः उच्यते किन्तु अहमेव. तस्मात् पूर्वम् अहमेव इति सिद्धम्. अभावाः तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति इति तस्य च भगवच्छक्तित्वात्[१] – "पूर्ववद् वा" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२९) इति न्यायेन शक्तिधर्माणामपि तदोद्गतत्वाभावेन[२], कालस्याऽपि निरूपणसमयएव तथावचनात् प्रकृतितुल्यत्वेन – भगवान् एकएव सिद्धः इति अविवादम्. किञ्च **पश्चाद् अहम्**. सर्वभवनसमर्थात् स्वरूपादेव चेष्टावत् प्रादुर्भावः कालस्य ; पश्चाद् गुणरूपेण शक्तिरूपेण च, पश्चात् कार्यरूपेण, "स आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (बृहदा.उप. १।४।३) इति श्रुतेः, असतः सत्ताऽनङ्गीकाराच्च. **यद् एतद्** इति परिदृश्यमानं सर्वं, **च**काराद् अपरिदृश्यमानम् अप्रसिद्धञ्च. अनेन जीवाअपि सङ्गृहीताः. **त्वम् एतच्च** इति पाठे जीव-जडात्मकं सर्वम् अहमेव इति अर्थः. अयं मुख्यो[३] ब्रह्मवादः.

प्रकाशः

आहुः **अतएव** इत्यादि. एतेनैव विशिष्टाद्वैतवादोऽपि अनादृतः इति बोधितम्. ननु पश्चात् प्रतीयमानानां प्रतियोगिनां बहुत्वात् तत्प्रागभावा-ऽत्यन्ताभावा-ऽन्योन्याभावानां पूर्वं सत्वाद् इतरनिषेधः कथं सङ्गच्छते इत्यतः आहुः **अभावाः** इत्यादि. एवं सृष्टिप्राक्काले केवलस्वसत्तां प्रतिपाद्य सृष्टिकाले नानापदार्थसत्त्वेऽपि केवलस्यैव सत्तां प्रतिपादयति इति आहुः **किञ्च** इत्यादि. तथाच भेदप्रतीतिरेव असङ्गता ; पदार्थास्तु भगवद्रूपाएव सन्तीति तदानीमपि केवलसत्ता इति **मुख्यो ब्रह्मवादः** इति अर्थः. एवं व्याख्यानेन सर्वं

लेखः

तथात्वात्. **पूर्ववद् वा** इति. अयं न्यायः तृतीयाध्याय-द्वितीयपादे अस्ति.

---

१. "आविर्भावतिरोभावौ शक्तीर्वै मुरवैरिणः" (त.दी.नि. २।१४०) - सम्पा.

२. तदोद्गमत्वेति ख-ग. ३. मुख्ये इति ख.

ननु❋ पदार्थविरोधे शब्दो न प्रमाणम्. भगवांश्च सर्वदोषरहितः, विकारादयश्च दोषाः. 'सर्व'शब्दे सङ्कोचाभावाद् उपदेश्याभावः शास्त्रोच्छेदश्च. प्रयोजनाभावाद् हिताकरणादि-दोषप्रसक्तिः, पुरुषोत्तमत्वा-भावश्च. तस्माद् अनेकदोष-दुष्टत्वाद् ब्रह्मवादो अनुपपन्नः ❋इति चेद्, मा एवम्.

प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिबोधिताः ॥(४)॥

प्रकाशः

ब्रह्मवादं व्युत्पाद्य स्थूणाखननन्यायेन तं दृढीकर्तुं पूर्वपक्षम् उद्भावयन्ति **ननु** इत्यादि. अत्र **न प्रमाणम्** इत्यन्तेन पश्चात् कैवल्यस्य असङ्गतत्वं बोधितं, **दोषाः** इत्यन्तेन साक्षात्परिणामस्य असङ्गतत्वम् उक्तम्. **'सर्व'शब्दे** इति. "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" (छान्दो.उप. ३।१४।१) इति श्रुतिस्थे 'सर्व'शब्दे. **हिताकरणादि** इति, सर्वरूपत्वेऽपि जीवानां क्लेशदाने हिताकरणे वैषम्य-नैर्घृण्यप्रसङ्गः. **पुरुषोत्तमत्वाभावः** इति, सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वेन ऐकरूप्ये उच्च-नीचभावाभावात् तथा इति अर्थः.

अत्र कारिकाभिः समादधते **मा एवं प्रत्यक्षे**त्यादि. परीक्षणीय-मण्यादिवत् प्रत्यक्षानिर्णीति विषये परीक्षकवाक्यसिद्ध-पदार्थवत् **श्रुतिबोधिताः**

लेखः

प्रयोजनाभावाद् इति. उपदेशस्यापि भगवत्त्वेन पूर्णत्वात् तस्य उपदेशविषय-मोक्षादिप्रयोजनाभावात् तथा इति अर्थः. जगतो भगवदात्मकत्वे इदं दूषणम्. भगवत्कर्तृकत्वे दूषणान्तरम् आहुः **हिताकरणे**ति. उच्च-नीचादिभावसम्पादनेन वैषम्यादिदोषप्रसक्तिः इति अर्थः. **पुरुषोत्तमत्वे**ति. सर्वस्यापि भगवदात्मकत्वेन उत्तमत्वाद् भगवति को विशेषः इति भावः.

एवं पूर्वपक्षम् उक्त्वा कारिकाभिः सिद्धान्तम् आहुः **प्रत्यक्षे**त्यादि. "न सन्दृशे तिष्ठति रूपम् अस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चन एनम्" (कठोप. २।३।९) इत्यादिषु लौकिकेन्द्रियाणाम् असामर्थ्यश्रावणाद् ब्रह्माख्यं वस्तु **प्रत्यक्षेण** प्रमाणेन **अदृष्टं** प्रमितं न भवति. तदेव च ब्रह्म सकलवेदान्तानां विषयो भवतीति तादृशे ब्रह्मणि "तदेजति तन्नैजति" (ईशा.उप. ५), "अगन्धम् अरसम्" (सुबालोप. ३), "सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः"

परस्परं विरुद्धास्ते नैकशेषं भजन्ति हि ॥
उभयोर्वैदिकत्वेन कः स्यादत्र नियामकः ॥(५)॥
विचारकाणां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा ॥

प्रकाशः

परस्परं विरुद्धाः विकारित्वाविकारित्वैजत्वानेजत्वादयः **पदार्थाः** एकस्मिन्नेव धर्मिणि मन्तव्याः. **हि** यतो हेतोः **ते एकशेषं** एकशेषत्वम् = एकस्य मुख्यत्वेन अपरस्य उपचरितत्वम् अपोह्यापवादकभावं वा **न भजन्ति** श्रुतिबोधितत्वाद् न प्रयान्ति. तत्र हेतुः **उभयोः** इत्यादि. **अत्र** इति, गुण-प्रधानभावे अपोह्यापवादकभावे वा **कः नियामकः स्यात्?** वेदाद् उत्कृष्टस्य प्रमाणान्तरस्य अभावाद् न कश्चिदपि तन्नियामकः. अतो वेदादेव ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वसिद्ध्या न एकतरस्य गौणत्वम् अपोह्यत्वं वा शक्यवचनम्[१] इति अर्थः (४-५).

ननु इदमपि बुद्ध्या विचार्यैव उच्यतइति वेदार्थविचारे विचारकबुद्धिरेव नियामिका, अतः तयैव एकतरस्य गौणत्वम् अपोह्यत्वं वा अस्तु इति चेत्, तत्र आहुः **विचारकाणाम्** इत्यादि. **श्रुतेः** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी.

लेखः

(छान्दो.उप. ३।१४।४) इत्यादि **श्रुतिबोधिताः परस्परं विरुद्धाः** धर्माः **एकशेषम्** एकस्य शुद्धब्रह्मणः (निर्विशेषस्य!) शेषत्वधर्मतां **न भजन्ति** न प्राप्नुवन्ति. धर्माणां परस्परं विरुद्धत्वात् तद्विषयस्य ब्रह्मणश्च प्रमाणातीतत्वाद् न लौकिकन्यायेन तन्निर्णयः इति भावः. तर्हि निर्विशेषश्रुतेः स्वरूपनिरूपकत्वेन मुख्यताम् उररीकृत्य तया सविशेषश्रुतेः बाधः कल्पनीयः इति चेद्, न इति आहुः **उभयोः** इति. तथा हि सति श्रौतवाक्यत्वेन सविशेषस्यैव मुख्यताम् उररीकृत्य निर्विशेषस्यापि[२] बाधः कल्पताम् इति **हि उभयोः** समबलत्वेन **को वा अत्र नियामकः स्याद्** इति अर्थः (४-५).

ननु विचारएव अत्र नियामको अस्तु इत्यतः आहुः **विचारकाणाम्**

---

१. सुवचम् इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् -सम्पा. २. विशेषो निर्विशेषत्वं ब्रह्मणश्चेत् स्वतो हतं, निर्विशेषत्वरहिते ब्रह्मणि सविशेषता! -सम्पा.

क्रियाविद्यापरत्वे तु विकल्पेनैकवाक्यता ॥(६)॥

प्रकाशः

तथाच आस्तिकविचारकाणां **बुद्धिस्तु सदा** सर्वकालं श्रुतिं प्राप्य उपजीव्यसहिता भवति. अतो विरुद्धार्थद्वय-प्रतिपादकमपि श्रुतिद्वयं पश्यन्ती (बुद्धिः) उपजीव्यत्वस्य उभयत्रापि अविशिष्टत्वात् कथम् एकतरार्थस्य गौणत्वम् अपोह्यत्वं वा स्वतः कल्पयिष्यति! कल्पयन्ती वा उपजीव्यविरोधेन स्वस्मिन् अप्रामाणिकत्वं कुतो न धास्यति? अतः सापि न स्वतो नियामिकेति यथाश्रुतं विरुद्धधर्माश्रयत्वमेव अङ्गीकार्यम् इति अर्थः. ननु✻ श्रुतौ "उदिते जुहोति" (तैत्ति.ब्रा. ३।८।१६।४) इति विधाय तत्प्रशंसार्थम् अनुदितहोमो निन्द्यते. तथा "अनुदिते जुहोति" (तत्रैव) इति अनुदितहोमं विधाय उदितहोमो निन्द्यते. तत्र एकतरबाधस्य उभयकरणस्य च अशक्यत्वे प्राप्ते तत्तच्छाखीयपरत्वेन यथा उभयं व्यवस्थाप्यते तथा अत्र एकस्य उपासनापरत्वम् इतरस्य ज्ञानपरत्वम् इति वक्तव्यम्. तत्रापि कस्य किं परत्वम् इति अपेक्षायाम् उपासनानां तत्तद्धर्मपुरस्कारेण विधानाद् धर्माणां तत्परत्वं, ज्ञाने तु "एकमेव अद्वयं ब्रह्म न इह नाना अस्ति किञ्चन" (अध्यात्मोप. ६३) "मृत्योः सः मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति" (कठोप. २।१।१०) इति निन्दया निषेधस्य ज्ञानपरत्वम् इति आस्थेयम्. नच एवम् उभयलिङ्गत्वसिद्धिः, कल्पितधर्मैरपि उपासनायाः सिद्धेः, "वाचं धेनुम् उपासीत" (बृहदा.उप. ५।८।१) इत्यादौ तथा निर्णयात्. ज्ञानस्य तु न तथा सिद्धेः, "योऽन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेण आत्मापहारिणा" (महाभा. १।६८।२६) इति निन्दाश्रवणात्. अतः सोपजीव्यायाः विचारकबुद्धेः नियामकत्वाद् विरुद्धधर्माश्रयत्वं न साधीयः ✻इत्यतः आहुः **क्रिया** इत्यादि. **क्रिया** मानसी ध्यानरूपा उपासना, **विद्या** ज्ञानम्. धर्म-तन्निषेध-निरूपकश्रुत्योः यथायथं तत्तत्**परत्वे तु विकल्पे** प्राप्ते **न एकवाक्यता.** ब्रह्मणो अमुख्यत्वात् क्रिया-विद्ययोरेव मुख्यतया प्रतिपाद्यत्वे उदितहोमा-ऽनुदितहोम-वाचकयोरिव अर्थभेदेन विभागे साकाङ्क्षत्वाभावेन च भिन्नवाक्यत्वं स्यात्. तथा सति "सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति" (कठोप. १।२।१५), "सर्ववेदान्तप्रत्ययं

दुष्टोऽप्याश्रीयते पक्षो विकल्पाख्यः श्रुतेर्बलात् ॥
तथैव भगवद्रूपं यथा हस्तादयः पृथक् ॥(७)॥
यथा सर्वाविरोधः स्यात् तथैवाऽत्र विचारणम् ॥

प्रकाशः

चोदनाद्यविशेषाद्'' (ब्रह्मसूत्र ३।३।१) इत्यादि श्रुति-सूत्रोक्तं सर्वासां श्रुतीनां ब्रह्मप्रतिपादकतया एकवाक्यबोधकता[१] इति अर्थः (६).

ननु न अस्माभिः ज्ञानोपासनयोः मुख्यतया प्रतिपाद्यत्वम्[२] अङ्गीक्रियते अपितु ब्रह्मणः, अतो अध्यारोपापवादसङ्गत्या सुखेन एकवाक्यत्वसिद्धिः इत्यतः आहुः **दुष्टः** इत्यादि. अयम् अर्थः — उपासनार्थं धर्माणां कल्पनोपदेशत्वं वदता तेषां क्वचिद् वास्तवत्वम् आस्थेयम्, अन्यथा तेषां कल्पनायाअपि अयोगाद्, आरोप्यमाणस्य धर्मस्य एकत्र सतएव अन्यत्र आरोपस्य मध्वादिविद्यायां निर्णयात्. एवं सति एषां वास्तवत्वम् उपाधौ आस्थेयम्. तत्र उपाधेः सत्त्वे द्वैतापत्तिः, असत्त्वे तु धर्माणामेव अभावाद् आरोपासम्भवेन कल्पनोपदेशत्वस्यैव असम्भवइति मुख्यतया ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वे तस्याः सङ्गतेः अशक्यवचनत्वाद् वाक्यभेदो दुर्वारः. अतो यथा हि ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, न अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' (द्रष्ट. तैत्ति.संहि. ६।६।११, पूर्वमीमांसा-शाबरभाष्य १०।५।३४) इति वाक्ययद्वयबलाद् अष्टदोषदु**ष्टोऽपि विकल्पाख्यः पक्षः आश्रीयते तथा** अत्र श्रुतिद्वयबलादेव उभयलिङ्गत्वम् आस्थेयम्. तथाच **यथा हस्तादयः** पुरुषात् पृथग्भूताअपि पुरुषात्मकाः तथा जगद् ब्रह्मणः सकाशाद् भिन्नतया प्रतीयमानमपि तदात्मकं ; भगवान् जगद्रूपोऽपि तद्भिन्नः पुरुषोत्तमः (७).

लेखः

इति. **दुष्टोपि** इति. **विकल्पाख्यो दुष्टोपि पक्षः** किम् **आश्रीयते** अपितु न इति काकूक्त्या वा योजनीयम्. तर्हि कथम् अर्थनिर्णयः इत्यतः आहुः **श्रुतेः** इत्यादि (६-७).

---

१. एकवाक्यं बाध्येत इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु कि.पाठानुरोधात् - सम्पा.

२. प्रतिपाद्यम् इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

सर्वरूपसमर्थत्वमतो ब्रह्मणि गीयते ॥(८)॥
अन्यथा प्रतिभानं यदुच्चनीचादिभेदतः ॥
तद्भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः ॥(९)॥
यत्किञ्चिद् दूषणं त्वत्र दूष्यं चाऽपि हरिः स्वयम् ॥
विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभते ॥(१०)॥

प्रकाशः

किं बहुना, **यथैव सर्वश्रुत्यविरोधः तथैव** सूक्ष्मेक्षिकया **अत्र विचारणं** कर्तव्यं, नतु एकतरबाधेन. **अतः** "अस्थूलादी"नाम् (सुबालोप. ३) "अकर्ता अभोक्ते"त्यादीनां (अध्यात्मोप. ६९) धर्मनिषेधमुखेनेव "सर्वतः पाणिपादं तद्" (भग.गीता १३।१३) इत्यादीनां "स विश्वकृत् विश्वविद् आत्मयोनिः" (श्वेताश्व.उप. ६।१६) इत्यादीनां धर्मविधिमुखेनैव ब्रह्मस्वरूपबोधनायैव प्रवृत्ततया तुल्यबलत्वात् तयोः अर्थबोधसौकर्यार्थं **ब्रह्मणि सर्वरूपसमर्थत्वं** सर्वरूपत्वं सर्वकरणसमर्थत्वं च **गीयते** उभयलिङ्गाधिकरणेन[१] व्यासचरणैः प्रतिपाद्यते. तेन श्रुति-सूत्रादिबलात् सर्वाविरोधार्थं विरुद्धधर्माश्रयत्व-मेव आदरणीयम् इति अर्थः (८).

ननु ब्रह्मणः सर्वरूपत्वं न युक्तं, सर्वस्मिन् देश-कालभेदेन [२]अनेकधा प्रतीतेः, ब्रह्मणस्तु सच्चिदानन्दात्मकत्वेन ज्ञानैकघनत्वेन सदैकरूपत्वाद्, अतो न पूर्वोक्तोपपत्तिः युज्यते इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **कर्ता** इति माया ; "स्वव्यापारे किं कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके" (द्रष्ट. न्यायकुसुमा. ५।९) इति न्यायात् कर्तृत्वं तस्याः. तथाच अनेकरसत्वेऽपि एकरसत्वस्य अबाधाद् युक्तैव उपपत्तिः इति अर्थः (९).

ननु प्रतीतिविरुद्धस्यापि शब्दाद् अङ्गीकरणे नियामकाभावात् कथम् आश्वासः इत्यतः आहुः **विरुद्धपक्षाः** इत्यादि. **अत्र** ब्रह्मणि सर्वेषु अवतारेषु प्रतीयमानाः – मत्स्यस्य अद्धा योजनशतवृद्धिः, वराहस्य क्षणेन पर्वताकारत्वं, सप्तवर्षस्य गोवर्धनोद्धरणं, दामोदरलीलायां स्वल्पस्यापि व्यापकत्वम् इत्यादयो –

---

१. "पूर्ववद् वा" इति अधिकरणेन च इति अधिकम् अत्र मा.पाठे - सम्पा.

२. अप्रतीतेः इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

यो अवशिष्येत सोऽस्मि अहम् इति. उद्भूतस्य सर्वस्य तिरोभावप्रापणे यत् तिरोभूतं न भवति, तिरोभावः, तदाश्रयो वा, अंशभेदेन वा, तदपि अहम् अस्मि इत्यनेन सर्वाएव क्रियाः तद्विषयश्च अहम् इति ज्ञापयति ॥३२॥

प्रकाशः

विरुद्धपक्षाः तत्कालीनैः द्रष्टाः, इदानीमपि श्रुत्यादिप्रसिद्धाः अतो **अत्रैव** ब्रह्मण्येव **सर्वं शोभते.** तथाच प्रत्यक्षादेरेव नियामकत्वं शङ्काढ्यमानिना त्वया आदरणीयम् इति अर्थः. इदं यथा तथा विद्वन्मण्डनाद् विशिष्य अवधेयम् (१०).

एवं प्रपञ्चदशायां ब्रह्मकैवल्यं साधितम्. तेन भेदवादः सर्वथा न अभिमतो भगवतः इति बोधितम्. अतः परं प्रलयदशायां तद् आहुः **यः** इत्यादि. एतेन "पृथिवी अप्सु प्रलीयते, आपः तेजसि विलीयन्ते, तेजो वायौ प्रलीयते, वायुः आकाशे विलीयते, आकाशम् इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते, भूतादिः महति विलीयते, महान् अव्यक्ते विलीयते, अव्यक्तम् अक्षरे विलीयते, अक्षरं तमसि विलीयते, तमः एकीभवति परस्मिन्, परस्तात् न सद् न असद् न सदसद् इत्येतन्निर्वाणम् अनुशासनम् इति वेदानुशासनम्" (सुबालोप. २) इति सौबालवाक्यम् उपन्यस्य पृथिव्याद्यक्षरान्तानां स्व-स्वकारणे लयं, सर्वकारणभूतस्य तमसः परस्मिन् नाम-रूपविभागानर्हत्वलक्षणम् एकीभावम् अङ्गीकुर्वन्तो विशिष्टाद्वैतवादिनोऽपि निवारिताः इति बोधितं ; "लीङ् श्लेषणे" (पाणि.धा.पा. दिवादि. ३३२७) इति धात्वर्थविचारणे लयस्य श्लेषरूपतया शुद्धोदके शुद्धोदकक्षेपइव नाम-रूपविभागानर्हत्वएव पर्यवसानाद् अक्षरान्तानां स्वकारणेन सह तथात्वं, तमसस्तु[१] एकीभावकथनात् [२]सकारणस्वरूपाभेदः इत्येतस्यैव अर्थस्य स्फुटीभावात्. अतएव उपसंहारे "परस्तान्न सन्नासन्न सदसद्" इति उपक्रमोक्तरूपतैव परामृष्यते. तस्माद् अयमेव मुख्यो ब्रह्मवादः इति सर्वं सुस्थम् ॥३२॥

---

१. तमस्तु इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. स्वकारण- इति मा.पाठे - सम्पा.

एवं ''तज्जलान्'' (छान्दो.उप. ३।१४।१) इति हेतुं विविच्य – सर्वम् आत्मैव इति प्रमेयं विनिश्चित्य, प्रमाणवैयर्थ्यम् आशङ्क्य, प्रवृत्तिसङ्कोचपरत्वाद् गुणदोषविषयत्वात् च [१]साऽपि एका भगवल्लीलाइति – मायां निरूपयति.

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चाऽऽत्मनि ॥
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥३३॥

ऋते अर्थम् इति. **यद्** वस्तुस्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते **तद् आत्मनां**

प्रकाशः

ऋतेऽर्थम् इत्यत्र. **एवं तज्जलान्** इत्यादि. **एवं** पूर्वार्धेन जननाधारत्वस्य, तृतीयेन अनाधारत्वस्य, तुरीयेण लयाधारत्वस्य (च!) स्फुटीकरणात् **''तज्जलान्'' इति हेतुं** सम्यग् बोधयित्वा तेन आत्मरूपं **प्रमेयं** निर्धार्यम्. एवं सर्वस्य ब्रह्मस्वरूपपरत्वे[२] गुरु-शिष्यभावाभावात् साधन-फलभावाभावाच्च **प्रमाणवैयर्थ्यम् आशङ्क्य** [३]बुद्ध्यादिशोधनार्थं यज्ञादिनिरूपकः, प्रापञ्चिक-त्याजनाय वैराग्यनिरूपको यः प्रमाणभूतो वेदः तस्य सर्वत्र आत्मबुद्धौ बुद्धिशुद्धि-वैराग्ययोः प्रयोजनाभावाद् वैयर्थ्यम् आशङ्क्य. **प्रवृत्तिसङ्कोच-परत्वाद् गुणदोषविषयत्वाच्च** ''बहु स्यां प्रजायेय'' (छान्दो.उप. ६।२।३) इति इच्छायाः स्वैकात्म्यस्य स्वोत्कर्षस्य च तिरोधानाद् जीवानां प्रपञ्चासक्त्या तत्र रागतः प्रवृत्तौ अनिर्मोक्षे प्रसक्ते ''लोके व्यवायामिषमद्यसेवा'' (भाग.पुरा. ११।५।११) इति श्लोकोक्तप्रकारेण पूर्वकाण्डस्य जीवप्रवृत्तिसङ्कोचार्थत्वात् ततः ईषद्वैराग्योन्मुखत्व-सम्पत्तौ उत्तरकाण्डस्य प्रवृत्ति-निवृत्तिधर्मयोः तत्फलयोश्च प्रातिलोम्येन गुण-दोषविषयत्वात् **सापि** मायाकृताऽऽसक्तिरपि **एका** वैराग्योत्पादनेन प्रमाणसार्थकीकरणार्था **भगवल्लीला इति** हेतोः **मायां** प्रमाणनिवर्त्त्यां भगवच्छक्तिम् उपोद्घातेन वर्णयति इति अर्थः.

अन्यथा प्रतिभासते इति, तद्वस्तु-भिन्नवस्तुतया प्रतिभासते. ननु

१. -विषयत्वात् सोऽपि इति मुद्रितपाठः. सं-मा.१-मा.२-प्रकाशे तु एवम् - सम्पा.

२. ब्रह्मरूपत्वे इति मा.पाठे - सम्पा.

३. आत्मज्ञानोपयोगाय इत्यधिकम् अत्र मा.पाठे - सम्पा.

जीवानां व्यामोहिका[१] या **माया** पूर्वं निरूपिता तस्याः कार्यम्. सा हि जीवं व्यामोहयित्वा तत्सम्बन्धिनम् अन्तःकरण-बुद्ध्यादिकमपि व्यामोहयति. तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थान् अन्यथा मन्यते, नतु पदार्थाः अन्यथा भवन्ति. बुद्ध्यर्थमेव हि प्रमाणानि साधनानि च; कानिचिद् [२]बुद्धिजनित-दोषनिवर्तकानि, कानिचिद् गुणाधायकानि. माया च द्विधा भ्रमं जनयति[३]— विद्यमानं न प्रकाशयति, अविद्यमानञ्च प्रकाशयति देश-कालव्यत्यासेन. तद् आह **अर्थम् ऋते यत् प्रतीयेत, न प्रतीयेत च** अर्थाद् अर्थः. अर्थो न प्रतीयते, अर्थम् ऋते प्रतीयते इति. तस्मात्

प्रकाशः

सा जीवशक्तिः, तस्य मुक्तौ स्वस्याः[४] अभिमानिशून्यता स्यादिति तदभावार्थं जीवव्यामोहः तस्याः कार्यम् इति युक्तम्. ननु[५] प्रपञ्चे भेदभ्रमस्य प्रयोजनाभावाद् उपकरणाभावाच्च न तत्[६] तस्याः कार्यमिति भेदज्ञानस्य भ्रमत्वाभावात् पदार्थाएव अन्यथा इत्यतः आहुः **सा हि** इत्यादि. तथाच जगतो ब्रह्मांशत्वस्फूर्तौ तद्विहाय ब्रह्मार्थं जीवः प्रयतेत तदा न व्यामुह्येत इत्यतः तदर्थं तत्सम्बन्धिनो अर्थान् मोहयति तेन तथा इति पदार्थाः न तथा इति अर्थः. ननु अस्तु एवम् अन्यथाभानं तथापि प्रमाणस्य कथं सार्थक्यम् अतः आहुः **बुद्ध्यर्थम्** इत्यादि. तथाच बुद्धिनैर्मल्यार्थं प्रमाण-तदर्थयोः उपयोगात् [७]तत्सार्थक्यम् इति अर्थः. ननु प्रमाणैरेव नैर्मल्यसिद्धौ किं साधनैः इत्यतः आहुः **कानीत्यादि. बुद्धिजनक-दोषनिवर्तकानि** इति, अन्तःकरण-बहिःकरण-दोषनिवारकाणि. तथाच दोषनिवृत्त्यर्थं गुणाधानार्थं च यथायथम् उपयोगाद् न कस्यापि आनर्थक्यम् इति अर्थः. एवं तात्पर्यं सङ्गृह्य पद्यं व्याकुर्वते **माया च** इत्यादि. **इति** इति, उक्तप्रकारको द्विधा भ्रमो यस्माद् मायाकृतः.

---

१. -मोहिकाय इति ग. २. बुद्धिजनक- इति प्रकाशे - सम्पा.

३. इति इत्यधिकम् अत्र प्रकाशे - सम्पा.

४. स्वस्य इति मुद्रितपाठः अर्थस्वारस्यात् शोधितः - सम्पा. ५. युक्तं, परन्तु इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे एवम् - सम्पा. ६. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा. ७. तद् इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

पदार्थानां याथात्म्य-ज्ञापनार्थं प्रमाणम् इति उक्तं भवति. ननु वस्त्वेव कुतो न तथा अस्तु, कैश्चिद् वादिभिः जगतो मायिकत्व-स्वीकाराद् इति चेद्, भवेद् एतद् एवं, यदि विचारे पर्यवस्यति. प्रमाणभूतो वेदः ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' (छान्दो.उप. ३।१४।१) एव इति आह.

प्रकाशः

ननु वस्त्वेव तथास्तु इति. ''सर्वं यदि ब्रह्म स्याद्, अस्मद्दृग्गोचरो न स्याद्, यतः एवम् अतो न एवं'' किन्तु मायिकमेव अस्तु इति अर्थः. **वादिभिः** इति. ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'' (बृहदा.उप. २।५।१९), ''अनृतापिधानाः'' (छान्दो.उप. ८।३।१), ''वाचारम्भणं विकारः'' (छान्दो.उप. ६।४।१), ''मायां तु प्रकृतिं विद्याद्'' (श्वेताश्व.उप. ४।१०) इत्यादि श्रुत्यनुसारिभिः वादिभिः. कुतो न पर्यवस्यति इत्यतः आहुः **प्रमाणे**त्यादि. नच उपासनार्थमेव सर्वस्य ब्रह्मत्वम् अत्र उच्यते इति न तद् वास्तवम् इति वाच्यं, हेतूक्तिवैयर्थ्यापत्तेः, तां विनापि विधानमात्रेण उपासनासिद्धेः अप्रत्यूहत्वाद्, ''इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा'' (बृहदा.उप. २।४।६) इति ''सर्वैः सर्वम् इदं जगत्'' (महाना.उप. २३।१) ''स भूतं स भव्यम्'' (महाना.उप. २४।१) इति श्रुत्यन्तराच्च.

नच ''इन्द्रो मायाभिः'' इत्यादि श्रुतिविरोधः शङ्कनीयः, आद्ये बहुत्ववैशिष्ट्येन 'माया'पदाद् अविद्यायाः गृहीतुम् अशक्यत्वात् पुरुरूप-ज्ञानकरणतया उल्लेखाच्च इन्द्रियवृत्तीनामेव तत्र ग्राह्यत्वाद् मायया बहुभवनस्य अशक्यवचनत्वात्. किञ्च मायया पुरुरूपभवने विवक्षिते ऋक्पूर्वार्धेएव 'माया'पदम् एकवचनान्तं वदेत्. नच समभिव्याहारलभ्यो अयम् अर्थः इति वाच्यम्, एतस्य पूर्वोक्तानुवादत्वेन पुरोवादवैलक्षण्यस्य अशक्यवचनत्वात्. नच तदर्थनिर्धारार्थमेव अयं समभिव्याहारः इति वाच्यं, विनिगमकाभावात्. किञ्च इदं वाक्यं मधुब्राह्मणस्थम्. तत्र च मैत्रेयीब्राह्मणोक्तस्य आत्मनः पृथिव्यादिषु विद्यमानत्वम् - अमृतत्वं - ब्रह्मत्वं - सर्वात्मकत्वञ्च उक्त्वा ततः ''पुरश्चक्रे द्विपदः'' इत्यादिना पुरां करणं - तासु प्रवेशं - सर्वस्य तत्संवृतत्वञ्च उवाच. तेन प्राप्ते भेदे ''सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः'' इति च व्याप्तिकृता गौणी सर्वात्मकता भविष्यति इति शङ्कावारणाय ''रूपं

प्रकाशः

रूपम्'' इति मन्त्रः पठ्यते, ''अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च'' इति विव्रीयते च. ततो यस्य एवंरूपता अत्र विवृता ब्राह्मणोपक्रमे च उक्ता तस्यैव ''तदेतद्[१] ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अन्तरम् अबाह्यम्'' इत्यनेन स्वरूपम् उक्त्वा ''अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'' इति अनुशासनम् उपसंहृतम्. एवञ्च अत्र विचारे उपक्रमोपसंहार-विवरणेषु मायां विनैव आत्मनः सर्वरूपत्वाभ्यासात्, स्वरूपकथने पूर्वत्वादिनिषेधेन प्राप्तस्य शून्यवादभ्रमस्य वारणाय 'सर्वानुभूः' इति सर्वानुभवकर्तृत्व-[२]स्वरूपोपपत्ति-कथनाच्च, भ्रमरहितस्य आत्मनः सर्वरूपता श्रुत्यन्तरोक्त-स्वेच्छाकृतैवेति विनिगमनोपपत्तेरपि[३]. 'माया'पदेन इन्द्रियवृत्तिरेव तत्र ग्राह्या, ''स्यान्माया शाम्बरी क्रिया(भेदो)दम्भो बुद्धिश्च'' (अनेकार्थकोश २/३७९-३८०) इति अनेकार्थकोशेन बुद्धिवृत्तौ 'माया'पदस्य शक्तेरेव ग्रहणात्. अतो ''अस्मदिन्द्रियवृत्तिभिः इन्द्रो बहुरूपो ज्ञायते'' इत्येव तत्र अर्थः इति न तद्विरोधः.

एवम् ''अनृतापिधाना'' इत्यपि. छान्दोग्ये दहरविदः कामान् उपक्रम्य पठितं ''त इमे सत्याः कामाः अनृतापिधानाः तेषां सत्यानां सताम् अनृतम् अपिधानम्'' इति. तत्रापि 'अनृत'शब्दः तावद् न मिथ्यावचनः किन्तु तैत्तिरीये – ''सोऽकामयत बहु स्याम्'' (तैत्ति.उप. २।६) इति बहुभवनम् उपक्रम्य ''सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवद्, यद् इदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते'' इति उपसंहाराद् – 'अनृत'शब्दवाच्यं भगवतो रूपान्तरं यद् उक्तं तद्वचनः, पिधानाद् लिङ्गाद्, मिथ्याभूतेन अपिधानासम्भवात्. शुक्ति-रजतादावपि बुद्धिवृत्तेः सत्यायाएव रजतरूपेण अन्तराख्यानाद् अन्तराबुद्धेरेव पिधानं, नतु शुक्तेः, अन्यथा प्रतियोगिभेदेन तत्र युगपद् भ्रम-प्रमाऽनुपपत्तेः. प्रकृते तु 'काम'पदेन ''स यदि पितृलोककामो भवति, सङ्कल्पादेव अस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति, तेन पितृलोकेन सम्पन्नो

१. तदेव पाठः. २. -कर्तृत्वरूपोपपत्ति- इति मा.पाठे - सम्पा.

३. विनिगमनोत्पत्तेरपि इति मुद्रितपाठः अर्थस्वारस्यात् शोधितः - सम्पा.

प्रकाशः

महीयते'' (छान्दो.उप. ८।२।१) इत्यादिभिः उक्तानां काम्यानाम् अर्थानां सङ्ग्रहात् तेषां पिधानं शरीरादिना लौकिकेन अर्थेन अभिप्रेतं, नतु अनिर्वचनीयेन, संस्कारप्राबल्यादेव ख्यानोपपत्तौ अनिर्वचनीय-तत्कल्पनस्य युक्तिबाधितत्वात्, तादृशविद्यावतः ख्यानासम्भवाच्च, सम्भवे कामानामपि सत्यत्वासम्भवेन श्रुतेरेव व्याकोपाच्च इति न तस्याम् 'अनृत'शब्देन मायिकम् अभिप्रेतम् अतो न तस्याअपि विरोधः.

''वाचारम्भणं विकारः'' इति वाक्यन्तु व्यासचरणैरेव विचारितम् ''तदनन्यत्वम् 'आरम्भण'शब्दादिभ्यः'' (ब्रह्मसूत्र २।१।१४) इति. तत्र च विकाराणां घट-कुड्य-शरावादीनाम् आकृतिविशेषदर्शनेन 'वाचा' नाममात्रेणैव आरब्धत्वाद् 'विकारो नामधेयम्' नतु रूपम् इति, रूपस्य कारणाभिन्नत्वात्. कारणभूत-मृत्तिकारूपेणैव सत्यत्वम् अभिप्रेयते एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानार्थम्[१]. तथा सति ज्ञानेन विकल्पबुद्धेरेव बाधः सिद्ध्यतु, नतु कार्यस्वरूपस्यापि. यत्तु ''सूत्रे भेदव्यासेधएव क्रियते, नतु अभेदो बोध्यते'' इति भामतीकारः तद् असङ्गतमेव, प्रमाणाभावात्, व्यासिद्धे[२] च भेदे अभेदएव पर्यवसानाच्चेति तत्रापि न मायिकता अभिप्रेयतइति न तस्याअपि विरोधः.

''मायां तु प्रकृतिं विद्याद्'' इति श्वेताश्वतरीयन्तु मायायाः प्रकृतित्वमात्रं वदति, न तस्याः न वा जगतो मायिकत्वम्. नच ब्रह्मभिन्नत्वात् तथात्वं शङ्क्यं, ''पूर्ववद् वा'' (ब्रह्मसूत्र ३।२।२९) इति पूर्वोक्तन्यायेन ब्रह्मणएव तद्रूपेण भवने भेदस्य अभावात्, ''प्रकृतिः हि अस्य उपादानम् आधारः पुरुषः परः, सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं तु अहम्'' (भाग.पुरा. ११।२४।१९) इति अग्रे वक्ष्यमाणत्वाच्च. अतो न तस्याअपि विरोधः इति. अतः सर्वत्र वेदे जगतो ब्रह्मतादात्म्येन ब्रह्माभेदस्यैव अभिप्रेतत्वाद् [३]मिथ्यात्वविचारे न पर्यवस्यतीति जगतो मायिकत्वं न आद्रियते इति अर्थः.

---

१. सर्वज्ञानार्थम् इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् -सम्पा. २. व्यासेधे इति मुद्रितपाठः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् -सम्पा. ३. मिथ्यात्व- इत्यधिकं कि.पाठानुरोधात्. मुद्रितपाठे नास्ति -सम्पा.

ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा. भ्रान्तप्रतीतेस्तु न अर्थनियामकत्वम्, अन्यथा भ्रमद्दृष्ट्या[१] गृहीतं जगद् भ्रमद्रूपमेव[१] स्यात्! अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या, यया दृष्टिः सविषया भवति ; अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद् भ्रमद्दृष्टिः[१] निर्विषया स्यात्. अतो अन्यत्रैव सिद्ध (/ द्धा !) भ्रमिः

प्रकाशः

ननु तर्हि प्रतीतेः का गतिः इति आकाङ्क्षायां युक्त्यन्तरम्[२] आहुः **ब्रह्मे**त्यादि. **तथा** इति परिणत-सर्वभूत-ब्रह्माभेदविषया, "तदिदमपि एतर्हि य एवं वेदः" (बृहदा.उप. १।४।१०) इत्यादि श्रुतेः. तथाच न प्रतीतिविरोधः इति अर्थः. ननु परप्रतीत्यपेक्षया स्वप्रतीतेः अभ्यर्हिततत्वात् तथा न अङ्गीक्रियते इति चेत्, तत्र आहुः **भ्रान्ते**त्यादि. तथाच तस्याः अभ्यर्हितत्वम् अप्रयोजकम् इति अर्थः. कथं तथा इति आकाङ्क्षायां तस्याः अर्थनियामकत्वे बाधकं तर्कम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. ननु तस्याः अर्थाऽनियामकत्वेऽपि जगतो मायिकत्वसिद्धिः. ✻तथाहि— भ्रमदृष्टिः यदि अत्यन्ताऽसदवगाहिनी स्यात्, खपुष्पमपि अवगाहेत! यदि सदवगाहिनी स्यात्, पदार्थाः हि अन्यथा स्युः. यतो न एवम् अतो न एवम्. यदि मायिकावगाहिन्यपि न स्याद्, निर्विषया स्यात्. अस्ति तु सविषया पूर्वोक्तोभयाऽनवगाहिनी च. तस्माद् मायिकविषयैव. यस्माद् एवं तस्याः तस्माद् भ्रमविषयो मायिकः इति लोकसिद्ध-भ्रमविषयस्य मायिकत्वसिद्धौ प्रकृतेऽपि श्रुतिविरुद्धावगाहिन्याः अस्मद्दृष्टेः भ्रान्तत्वात् तद्विषयस्य जगतो मायिकत्वं सेत्स्यति ✻इत्यतः आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** उक्ततर्कात् **विषये** भ्रमदृष्टिविषयकोटौ **काचिद् विषयता** विषयाऽसम्बद्धोऽपि सम्बद्धत्वेन भासमानः कश्चित् पदार्थः स्वीकार्यः. तत्र हेतुः **यया** इत्यादि. ननु दोषवशेन अन्यथाख्यानादिसम्भवे किं विषयताऽङ्गीकारेण इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. तथाच दोषो हि ख्याने सामग्री, नतु पदार्थान्यथात्वे. यदि तत्रापि दोषः तथा स्यात् तदा पदार्थानां वास्तवान्यथाभावाद् [३]भ्रमएव उच्छिद्येत! अतः सा आवश्यकी

---

१. भ्रम- इति मुद्रितपाठः. घपाठानुसारेण भ्रमद्- इति गृहीतः - सम्पा.

२. अपि इत्यधिकम् अत्र मा.पाठे - सम्पा. ३. अब्रह्मभ्रम- इति मा.पाठे - सम्पा.

मायया पुरःस्थिते विषये समानीयते, दृष्ट्यनुरोधित्वात् तस्याः. अतो यथाऽधिकारं जीवदृष्टिं[१] पुरस्कृत्य व्यामोहिकया मायया व्यत्यासेन पदार्थाः सम्पाद्यन्ते. एवं सर्वत्र जगति सा बुद्धिभ्रमं जनयति, अन्यत्र अन्यविषयतां सम्पादयति. विषयता मायाजन्या, विषयो भगवान्, मायायामेव विषयतारूपं भगवतः स्वरूपं प्रकटितम् इति. तदपि न निःस्वभावम्, आत्मशक्तित्वाद्, मायाऽपि न निःस्वभावा, चिद्विलासत्वाद् बुद्धेः, परं तामेव व्यामोहयति

प्रकाशः

इति अर्थः. एवं विषयतां साधयित्वा प्रकृते भ्रमसामग्रीम् आहुः **अतो अन्यत्र** इत्यादि. तथाच दृष्टि-विषययोः अन्तराले विषयता-समानयनमेव भ्रमसामग्रीः इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. एवं चाक्षुषभ्रमे सामग्रीं व्युत्पाद्य तां मानसभ्रमेऽपि अतिदिशन्ति **एवम्** इत्यादि. तेन यत् सिद्धं तद् आहुः **विषयता मायाजन्या विषयो भगवान्** इति. ननु यदि व्यत्यासः सामग्री[२] तदा पदार्थस्य तत्र आगतत्वाद् भ्रमस्य उच्छेदः तुल्यः इत्यतः आहुः **मायायाम्** इत्यादि. तथाच मायिकमेव समानयति, न सत्यम्, अतो न भ्रमोच्छेदः इति अर्थः. ननु तादृशेन आवरणासम्भवाद् विक्षेपस्यापि अभावे कथं भ्रमसम्भवः इत्यतः आहुः **तदपि** इत्यादि. तथाच शक्तेः आवरकत्वात् कार्यस्य च विक्षेपकत्वात् ताभ्यां बुद्धिव्यामोहे भ्रमः इति अर्थः. **चिद्विलासत्वाद्** इति चिद्धर्मत्वात्. तथाच यथा लोके चाक्षुषभ्रमस्थले दृष्ट्या विषयासम्बद्धतया[३] विषयताऽनुपलम्भेऽपि तदनुग्राहिकायाः बुद्धेः अदुष्टत्वात् तया भ्रमणस्य असम्बद्धत्व-निश्चयः तथा स्वबुद्धिभ्रमे तदनुग्राहकेण विचारनिर्णीतार्थेन शास्त्रेण उत्पत्ति-नाश-मायिकत्वादीनां प्रपञ्चासम्बद्धतया निश्चयइति न जगतो मायिकत्वम् इति अर्थः. ननु आसां प्रतीतीनाम् अग्रे बाधाभावात् कथं भ्रमत्वम् इत्यतः

---

१. जीवसृष्टिमिति मुद्रितपाठः. कपाठे तु एवम् - सम्पा.

२. व्यत्याससामग्री इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

३. विषयासम्बन्धतया इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

यावद् न ब्रह्मभावः. साहि भगवदीयैः सर्वैरेव पदार्थैः विरुध्यते. ते हि भगवद्विषयकं ज्ञानं जनयन्ति. अतो विषयताजनितं ज्ञानं भ्रान्तं, विषयजनितं प्रमा इति. एवं यथा जगति, आत्मन्यपि तथा इति आह **च आत्मनि** इति. **आत्मनि च** विद्यमानं न प्रकाशयति, अविद्यमानं प्रकाशयति. ननु सर्वजनीन-प्रतीत्यनुरोधेन जगद्रूपो अयं विषयो ब्रह्मणो भिन्नएव कुतो न अङ्गीक्रियते? तत्र आह **तद् विद्याद्**[१] **आत्मनो मायाम्** इति. यस्मात् कारणाद् अविद्यमानमेव बोधयति, विद्यमानं न बोधयति, तस्मात् कारणात् तां मायामेव विद्यात्[२]. नहि विषयः चक्षुः वा जडं

प्रकाशः

आहुः **यावद्** इत्यादि. तथाच ब्रह्मभावोत्तरं बाधाद् भ्रमत्वनिश्चयः इति अर्थः. एवं कालविभागेऽपि हेतुम् आहुः **सा हि** इत्यादि. एवं श्रुतितो[३] ब्रह्मवित्प्रतीतेश्च विरुद्धत्वाद् भ्रान्तप्रतीतिमात्रेण तथा [४]भानस्य मायिकत्वादिना विचारे पर्यवसानाभावाद् न जगतो मायिकत्वं किन्तु विषयकोटिविभागेन तज्जनितं ज्ञानमेव तथा इति आहुः **अतः** इत्यादि. इमं न्यायं विषयान्तरेऽपि अतिदिशन्ति **एवम्** इत्यादि. **विद्यमानम्** इति ब्रह्मतादात्म्यम्, **अविद्यमानम्** इति भेद-दैन्यादिकम्. अत्र भेदवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते **ननु** इत्यादि. समाधिं व्याकुर्वते **यस्माद्** इत्यादि. **ताम्** इति उक्तप्रकारक-भ्रमहेतुम्. ननु मायायाः भ्रमहेतुत्वे किं मानम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **न हि** इत्यादि. तथाच प्रतीतिनियामकत्वेन यो दोषः स्वीक्रियते सः साक्षात्परम्परया वा[५] यथाकथञ्चिद् मायाजन्यः इति तां विना भ्रमानिर्वाहात् तदन्यथानुपपत्तिरेव मानम् इति अर्थः.

ननु

लेखः

नहि विषयः चक्षुः वा इति. ... . **यथाभासो यथा तमः**

---

१. विन्द्यादिति ख. २. विन्द्यादिति क-घ.

३. लोकतो इत्यधिकम् अत्र मुद्रितपाठे. मा.पाठानुरोधाद् न गृहीतः - सम्पा.

४. भ्रान्तस्य इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

५. इत्यधिकं कि.पाठानुरोधेन. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

नियतस्वभावम् अन्यथाप्रतीतिहेतुः भवति. तत्र दृष्टान्तम् आह **यथा आभासो यथा तमः** इति. यया (/ यथा !) द्विचन्द्राद्याभासो माययैव जन्यते, नतु प्रतीत्यनुरोधेन चन्द्रद्वयं कल्प्यते, एवं विषयताऽपि मायया जन्यते. बुद्धिस्तु चिद्विलासइति न मायाजनिता, अन्यथा ब्रह्मविदोऽपि बुद्धिः तथा स्यात्, ततश्च सर्वविप्लवः. साच विषयता द्विधा[१]— आच्छादिका एका, अन्यथाप्रतीतिहेतुश्च[२] अपरा. सा उभयविधाऽपि माययैव जन्यते, यथा आभासः. ननु मायायाः कथम् एवं पदार्थजनकत्वम्? व्यामोहजनकत्वमेव तस्याः, नच विषयातिरिक्ता विषयता क्वचिद् उपलब्धा इति आशङ्क्य

प्रकाशः

सार्वजनीन-प्रतीतिविषयस्य भेदस्य कथं विषयतारूपत्वम् इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. **विषयतापि** इति भेदरूपा विषयतापि. तथाच दर्शनमात्रानुरोधेन जगतो भिन्नत्वं न कल्पयितुं शक्यमिति श्रुत्या ब्रह्मवित्प्रतीत्या च जगतः आत्मनश्च ब्रह्मात्मकत्वे निश्चिते यत् तत्र तदप्रकाशो अविद्यमानस्य वस्तुभेदस्य च प्रकाशः ताभ्यां लक्षण-रूपाभ्यां कार्याभ्यां सैव अङ्गीक्रियते. अतो जगतो न ब्रह्मणः सकाशात् परमार्थतो भेदः इति अर्थः. ननु आभासवद्विषयता[३] मायया जन्यते इति असङ्गतं ; न हि आभासो मायया जन्यते किन्तु अभिन्ने भेदबुद्धिमात्रम् उत्पाद्यतइति ज्ञानस्यैव मायिकत्वं, नतु विषयस्यापि, तस्य वस्तुतएव असत्त्वाद्, इति शङ्कायाम् आहुः **बुद्धिस्तु** इत्यादि. **अन्यथा** इति बुद्धित्वेन अस्याः मायिकत्वे. तथाच अवच्छेदेन मायिकत्वे अनिर्मोक्षादिप्रसङ्गाद् एतस्याएव मायिकत्वस्य विषयद्वारैव सम्भवाद् उभयोः तथात्वाङ्गीकारे अध्यासद्वय-कल्पनापत्तिगौरवात् तदभावाय विषयतायाएव तथात्वं युक्तम् इति अर्थः.

एवं विषयतां साधयित्वा तस्याः प्रकारद्वयम् आहुः **सा च** इत्यादि. अत्र पुनः प्रत्यवतिष्ठते **ननु** इत्यादि. तथाच उक्तप्रकारे विचारिते ज्ञानाध्यासो न वक्तुं शक्यः ; मायायाः पदार्थजनकत्वस्य क्वापि असिद्धत्वाद् अर्थाध्यासोपि

---

१. द्विविधेति ग.   २. -प्रतीतिश्चापरेति ग.

३. आभासविषयता इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

आह **यथा तमः** इति. यथा अन्धकारः पदार्थः तेजोऽभावे जन्यते. यत्रैव तेजोऽभावः तत्रैव अन्धकारं जनयति माया. इयमेव व्यामोहिका.

प्रकाशः

न वक्तुं शक्यः ; मायायाः पदार्थजनकत्वस्य क्वापि असिद्धत्वाद् अर्थाध्यासोपि न वक्तुं शक्यः. तथा सति ख्यात्यन्तरं वा जगतो वस्तुतो भिन्नत्वं वा अङ्गीकार्यम् इति अर्थः. मायायाः पदार्थजनकत्वं व्युत्पादयन्ति **यथा अन्धकारः** इत्यादि. ननु अभावस्य पदार्थाधिकरणत्वं न क्वापि दृष्टम् इति शङ्कायाम् आहुः **यत्र** इत्यादि. तथाच[१] सः न अधिकरणत्वेन अस्माभिः इष्यते अपितु सहकारित्वेन अतो न दोषः इति अर्थः. ननु✻ तेजोऽभाववति अधिकरणे तमो न[२] वक्तुं शक्यं, तथा सति [३]पेचक-बिडालादीनां तच्चाक्षुषापत्तेः. नच जायतएव तेषां तमःचाक्षुषम् इति वाच्यं, तथा सति अस्मदादीनामिव तेषामपि विषयान्तरचाक्षुष-प्रतिबन्धापत्तेः. अतः तेजोभावस्थले तेषां तेजःसंयोगनिरपेक्षमेव चक्षुः वस्तुचाक्षुषं जनयति इत्येतावतैव चारितार्थ्ये तेजोभावातिरिक्तं तमो न शक्यवचनम् ✻इति आशङ्कायाम् आहुः **इयम्** इत्यादि. अयम् अर्थः— नटादयो हि यद्दृष्टिं व्यामोहयन्ति तानेव मायिकं पदार्थं दर्शयन्ति, न इतरान्. तथा इयमपि यद्दृष्टिं व्यामोहयति तानेव तमः प्रदर्शयतीति तमःचाक्षुषत्वेन तद्दृष्टिव्यामोहत्वेन कार्य-कारणभावात् पेचकादिदृष्टीनां दोषरहितत्वेन तान् प्रति तदभावेऽपि अस्मद्दृष्टिविषयतया तादृशाधिकरणे तमःसिद्धिः अप्रत्यूहा इति अर्थः. नच तेजोऽभावस्यैव तमस्त्वाद् न विषयानुपपत्तिः इति वाच्यं, नीलचाक्षुषबाधापत्त्या तस्मिन् तेजोऽभावत्वस्य अशक्यवचनत्वात्. नच✻ भ्रमस्य विशिष्टज्ञानत्वेन विशेषणज्ञानजन्यत्वात् प्रकृतभ्रमस्यापि तथात्वात् चाक्षुषत्वयुक्त-चक्षुःसंयुक्तविशेषणतारूप-विशेष्यभान-सामग्री-[४]तद्विशेषणज्ञानमात्रस्यैव आव-श्यकत्वेन विशेषणीभूत-नीलरूपाभावेऽपि तज्ज्ञानस्य सत्त्वाद् नीलरूप-तेजोऽभावयोः असंसर्गाग्रहमात्रेणैव तादृशभ्रमोपपत्तेः नीलचाक्षुषस्य अभिमान-

१. च इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा. २. न इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा. ३. पेचकः = उलूकः. पेचुक इति मुद्रितपाठः - सम्पा. ४. -सामग्रीवद्विशेषण- इति मा.पाठे - सम्पा.

अतएव दिवाभीतान् प्रति न अन्धकारं जनयति. तेतु तेजोऽभावमेव गृह्णन्ति. तेषां दृष्टेः कोमलत्वाद् बलवत्तेजो दृष्टिप्रतिबन्धकं भवति,

प्रकाशः

मात्रत्वाद् न तेन तमोरूप-पदार्थसिद्धिः *इति वाच्यं, नीलज्ञानस्य स्मरणादिरूपतया वक्तुम् अशक्यत्वेन तत्र चाक्षुषे अभिमानत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. ननु स्मरणरूपत्वे किं बाधकम् इति चेद्, उच्यते— अमावास्या-रात्रौ सुधा-धवलितगृहादौ दिनसम्बन्धिनीं वार्तां कुर्वतः सदृशादृष्टचिन्तादीनां संस्कारोद्बोधकानाम् अभावेन तादृशस्मरणस्य अशक्योदयत्वम् इति जानीहि. नच अदृष्टमेव तदोद्बोधकम् इति वाच्यं, दृष्टसामग्रीं विना तस्य अकिञ्चित्करत्वात्. ननु उपनीतभानरूपमेव नीलज्ञानं तत्र इति चेद्, न, मानसोपनीतभानत्वे पूर्वोक्तयुक्त्या उपनायकस्य स्मरणस्य संस्कारस्य वा तदानीं वक्तुम् अशक्यत्वेन तदभानापत्तेः. चाक्षुषोपनीतभानत्वन्तु तादृशस्थले नीलाभावादेव असङ्गतम्. नच चक्षुर्गतं नैल्यं तत्र आरोपितं प्रतीयते इति वाच्यं, तस्य अगृह्यमाणत्वात्, पिङ्गाक्षस्य तादृशप्रतीत्यनुपपत्तेश्च. अतो नीलभानस्य स्मरणादिरूपतायाः वक्तुम् अशक्यत्वात् चाक्षुषत्वमेव तस्य अभ्युपेयम्. ततः च तादृशप्रतीत्यनुरोधेन तेजोऽभावातिरिक्तमेव तमः सिद्ध्यति इति. यदपि प्राभाकराः "तेजोज्ञानाभावएव तमः, सत्यपि तेजसि तदज्ञाने तमःप्रत्ययाद्" इति आहुः तदपि न, ज्ञानाभावज्ञानस्य मानसत्वेन "नीलं तमः" इति चाक्षुषव्याघाताद्, अभिमानत्वबाधकानां पूर्वम् उपपादितत्वात् "तेजोऽभावम् उपलभामहे" इति अनुव्यवसाय-बाधापत्तेश्च. द्रव्यान्तरत्वन्तु अनुपदं[१] दूषयिष्यते. तस्माद् नीलचाक्षुषानुरोधात् पदार्थान्तरमेव तमः इति सिद्धम्. एवं तमोरूपं पदार्थं साधयित्वा तच्चाक्षुषादिसामग्रीं बोधयितुं पेचकादीनां वस्तुसाक्षात्कारे आलोकनिरपेक्षमेव चक्षुः कारणम् इति व्युत्पादयन्ति **अतएव** इत्यादि. उलूकादीनाम् अव्यामोह्यत्वादेव तान्

लेखः

इत्यत्र **अतएव दिवाभीतान्** इति. तेषां दृष्टेः कोमलत्वात् तत्र तेजःसम्बन्धस्यैव

१. एव इत्यधिकम् अत्र मा.पाठे - सम्पा.

तदभावे सुखेन विषयान् गृह्णन्ति. अस्मदादीनामपि तेजो न विषयसंस्कारकं, न वा चक्षुषः किन्तु तेजोऽभावे मायया तमोजननात् सैव दृष्ट्या विषयीक्रियते, नतु विषयः. अतः तमोनिवृत्त्यर्थमेव तेजः ; तथैव लोकप्रतीतिः.

प्रकाशः

प्रति अन्धकारं न जनयतीति तदभावाद् आलोकनिरपेक्षेण चक्षुषा **तेजोऽभावमेव ते गृह्णन्ति.** तेजोऽभावः इति उपलक्षणं, वस्त्वन्तरमपि गृह्णन्ति – अन्यथा काकान् अपश्यन्तः कथं तान् हन्युः – इति आशयेन तेषां विषयज्ञानप्रकारम् आहुः **तेषाम्** इत्यादि. तथाच विषयालोकसंयोगस्य न तत्र सहकारित्वमिति तन्निरपेक्षमेव चक्षुः कारणम् इति अर्थः. ननु एवं सति भावचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति विषयालोकसंयोगस्य या कारणता सा तु भज्येत इति शङ्कायाम् आहुः **अस्मदादी**त्यादि. तथाच चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्वाद्यभावविशिष्ट-योग्यतायाएव कारणत्वात् तद्भङ्गेऽपि इष्टापत्तिः इति अर्थः. नच एवं योग्यतामात्रस्य कारणत्वे गृहादौ त्रसरेणु-चाक्षुषापत्तिः इति वाच्यं, तत्र छायारूपस्य तमसः सत्त्वेन त्रसरेणूनां तदावृत्ततया व्यवधायकाभावविशिष्ट-योग्यतायाः अभावेन तदनापत्तेः. नच गाढतेजसि तदापत्तिः (इति वाच्यं), तत्र गाढतेजसएव प्रतिबन्धकत्वाद् इति. एतेनैव तमःचाक्षुषार्थं चक्षुरधिष्ठानकं तामसम् इन्द्रियान्तरं कल्पयन्तोऽपि प्रत्युक्ताः. फलितम् आहुः **अतः** इत्यादि. **लोकप्रतीतिः** इति. दीपेन तमो निवृत्तम् इति सार्वजनीनप्रतीतिः. तथाच उक्तयुक्ति-सार्वजनीनप्रतीतिभ्यामपि अतिरिक्तं तमः सिद्धम् इति अर्थः. एवम् एतेन ''माया च तमोरूपानुभूतेः'' (नृसिंहोत्तरतापिन्युप. ९) इति श्रुत्युक्तम् अनुभवरूपं कार्यलिङ्गकानुमानरूपञ्च प्रमाणं[१] मूलभूतमायासत्त्वेऽपि निर्दिष्टम्. एवं तमोरूपां विषयतां साधयित्वा तत्प्रतीतेः शुक्ति-रजतादिप्रतीतिवद् आरोपितत्वाभावाय आहुः **साच** इत्यादि. तथाच भ्रमणस्थले शुक्तौ

लेखः

वक्तुम् अशक्यत्वात् तदभावस्यापि सम्भवाद् न अन्धकारप्रत्ययः. तथाच यदि अन्धकारोऽपि ... ॥३३॥

---

१. प्रमाणमूलभूतं माया- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

साच विषयता चक्षुषा गृह्यते, विषयाद् भिन्नतया स्वात्मसात् क्रियते, परिभ्रमणे तथा सिद्धेः. "यथा हि भानोः उदयो नृचक्षुषाम्"

प्रकाशः

चाकचक्यादिवद् घटादिषु भ्रमणसंस्कारोद्बोधकस्य वक्तुम् अशक्यतया तज्जन्यस्मृतेः अशक्यवचनत्वेन स्मर्यमाणारोपस्य दुर्वचत्वम्. तथा गृह्यमाणारोपस्यापि तदानीं किंगतं भ्रमणं गृह्यते इति विचारे चक्षुरिन्द्रियगतमेव गृह्यते इति तु असङ्गतं, कामलादिदोषे आदर्शादिना स्वचक्षुर्गोलकगत-पीतिमवद् भ्रमणदोषे स्वेन परेण वा स्वचक्षुर्गत-भ्रमणाग्रहणात्[१]. नापि इन्द्रियगतं गृह्यते इति युक्तं, जाति-गुण-क्रियाणां योग्यगतानामेव ग्राह्यत्वनियमाद् इन्द्रियस्य अयोग्यत्वाद्, अन्यथा गुणदशायामपि इन्द्रियगत-संयोगक्रियादीनां ग्राह्यत्वप्रसङ्गात्. नच उत्कटे दोषे भ्रमणमपि नियामनादौ (/नियातनादौ!) वा[२] अनुभूयतएवेति तदाऽऽरोपस्य निर्बाधत्वम् इति वाच्यं, तथापि अनुत्कटे दोषे तद्दोष-तादवस्थ्यात्, तदानीं क्वापि [३]स्वदेहे भ्रमणाननुभवात्. किञ्च अत्र किम् आरोपकं; क्रिया वा ज्ञानं वा? क्रिया चेत्, सा किं क्रियान्तरम् उत्पाद्य आरोपयति, स्वस्वरूपं वा? न आद्यः, तत्समवायिनो अनिर्वाच्यत्वात्. न इतरः, तत्र अलब्धसत्ताकत्वाद्, लब्धसत्ताकत्वे सर्वेषां तत्र[४] तदनुभवप्रसङ्गात्. ज्ञानपक्षेऽपि एवम्. अतः परिभ्रमणं यथा विषयाद् भिन्नतया अन्तरा चक्षुषा गृह्यते तथा तमोपीति तस्य प्रतीतिः न आरोपिता इति अर्थः. ननु एवं सति तमसो अन्यत्रासिद्धत्वेन व्यत्यासाभावाद् विषयतारूपत्वमपि अशक्यवचनम् इत्यतः आहुः **यथा हि** इत्यादि. इदम् एकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यं— "यथा हि भानोः उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद् नतु तद्विधत्ते, एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्यात् तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः" इति. तथाच इदमपि नृचक्षुषि सिद्धं तेजोभावयुक्ते देशे

१. भ्रमणग्रहणाद् इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. कि.-मा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

२. हृदयादौ इति मा.पाठे. नियमादौ इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

३. स्वदेहभ्रमणा- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

४. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

(भाग.पुरा. ११।२८।३४) इति वाक्ये चक्षुःसम्बन्धिनएव तमसो नाशकत्वं, नतु स्वभावतएव किञ्चित् तमः, अन्यथा स्पर्शेनाऽपि ज्ञाने[१] तत् प्रतिबन्धकं स्यात्, स्पर्शेन वा तद् गृह्येत. **तमः** इति च उपलक्षणम् ;

प्रकाशः

नीयतइति न काचिद् अनुपपत्तिः इति अर्थः. ननु भाट्टवद् द्रव्यान्तरमेव तमः कुतो न अङ्गीक्रियते इत्यतः आहुः **ननु** इत्यादि. प्रतीयमानाद् नीलरूपवत्त्व-चलनक्रियावत्त्व-रूपात् स्वभावादेव **किञ्चिद्** द्रव्यान्तरन्तु **तमो न** भवति. ननु हेतौ विद्यमाने द्रव्यान्तरत्वं कुतो न आद्रियते इति शङ्कायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. महदुद्भूत-नीलरूपवद्-द्रव्यत्वेन द्रव्यान्तर-स्पार्शन-प्रतिबन्धकत्वेन स्पर्शग्राह्यत्वेन च व्याप्य-व्यापकभावात् तथा स्यात्. यतो न एवम् अतो न द्रव्यान्तरत्वम् आद्रियते. तथाच नीलरूपवत्त्व-परत्वाऽपरत्व-चलनक्रियावत्त्वैः द्रव्यत्वसाधने द्रव्यान्तर-स्पार्शनाप्रतिबन्धकत्व-स्पर्शाग्राह्यत्वाभ्यां तेषां सत्प्रतिपक्षत्वाद् द्रव्यान्तरत्वानु-मिति-प्रतिबन्धात्, चलनादिप्रतीतीनाम् अम्भःप्रचलने (/अम्भसि नौ प्रचलने!) तीरतरुप्रचलनवत् तेजश्चलनहेतुकत्वेन तमश्चलनाद्यसाधकत्वाच्च, न द्रव्यान्तरम् इति अर्थः.

यदि च उक्तव्याप्त्योः पृथिवीत्व-गर्भत्वं विभाव्यते तथापि श्रौत-पुराणसृष्टिप्रक्रियासु द्रव्यमध्ये तमसो अनुल्लेखाद् मायात्वेन उल्लेखाच्च शब्दप्रमाणविरोधाद् उक्तव्याप्त्योः पृथिवीत्व-गर्भत्वम् अनादरणीयम् इति द्रव्यान्तरत्वं दुर्घटमेव इति. यत्तु न्यायकन्दलीकारः ''नीलरूपमेव तमः'' (न्यायकन्दली उद्देशप्रक.) इति आह तदपि असङ्गतं, द्रव्यासमवेतत्वात्, ''नीलं तमः'' इति प्रतीतिबाधापत्तेश्च. तस्मात् पदार्थान्तरमेव तमः इति निश्चयः. इदं सर्वम् अन्धकारवादे प्रपञ्चितं मयेति विशेषविविदिषायां ततो बोध्यम्. एवं तमोरूपां विषयतां साधयित्वा विषयतान्तरमपि साधयन्ति **तमः इति** इत्यादि. अत्र नैयायिकाः भामतीकारश्च* दर्पणादिसन्निधानेन परावृत्तं चक्षुः स्वमुखं पश्यति, तमसि तिष्ठतस्तु परावृत्तमपि

---

१. ज्ञानेनेति ख.

आदर्शे च मुखं जनयति. नच परावृत्तं चक्षुः मुखमेव गृह्णाति इति मन्तव्यं, तथा सति दर्पणान्तरे [१]साभासस्य प्रतीतिः न स्यात्. नच इदमेव मुखम् उभयत्र प्रतिबिम्बते इति वाच्यम्, असम्मुख-दिक्कानामपि

प्रकाशः

विषयालोक-संयोगाभावादेव न पश्यति, प्रतिबिम्बपक्षे तु बाधकाभावात् तत् चाक्षुषं स्याद् अतो न अतिरिक्तः प्रतिबिम्बपदार्थः *इति आहुः. तन्मतं दूषयन्ति **नच** इत्यादि. यत्र एकस्य दर्पणस्य सम्मुखे[२] द्वितीयदर्पणः स्थापितः तत्र दर्पणद्वये मुखाभासयुक्तो दर्पणो दर्पणानवस्था च उभयत्र प्रतीयते. यदि तत्र अतिरिक्तः प्रतिबिम्बो न भवेत् तदा ततः परावृतं चक्षुः एकमेव स्वमुखं पश्येत्; तथा सति दर्पणद्वये मुखप्रतीतिः दर्पणानवस्थाप्रतीतिश्च या जायते सा न स्यात्. अतः तदनुरोधेन प्रतिबिम्बपदार्थोपि अतिरिक्तएव इति अर्थः. ननु यथा नासासमानदेशे व्यवधायकस्य यष्ट्यादेः स्थापनेन चक्षुःकिरणविघटनाद् नक्षत्रद्वयप्रतीतिः तथा साभासदर्पणस्थले द्वयोः दर्पणयोः चक्षुःकिरणपरावर्तकत्वेन किरणविघटनाद् मुखद्वयप्रतीतिरिति न तया प्रतिबिम्बो अतिरिक्तः सिद्ध्यति इत्यतः आहुः **नच** इत्यादि. **प्रतिबिम्बते** इति, प्रतीयते इति अर्थः, "बी गतौ" (पाणि.धा.पा. अदादि.१०७३) इति धातोः. वस्तुतस्तु 'प्रतीयते' इत्येव पाठः प्रतिभाति. तथाच असम्मुखदिक्कस्थले वक्त्रपरावृत्तेः युक्तिविरुद्धत्वाद् अवश्यम् अतिरिक्तएव प्रतिबिम्बः स्वीकार्यः इति अर्थः. नच एवम् अन्धकारस्थ-वस्तुनो दर्पणे प्रतिबिम्बप्रसङ्गः, तस्य बिम्बभूतस्य तमसा आवरणेन तदभावात्. नच एवं तमःस्थिते दर्पणेऽपि तदभावापत्तिः इति शङ्क्यम्, आन्तरालिक-तमसा बिम्बस्य अनावृतत्वात् सुखेन तदुपपत्तेः. ननु तमसः आन्तरालिकत्वे तुल्ये कुतो अयं विवेकः इति चेत्, स्वभावादेव इति वदामः. ननु स्वभावकल्पनापेक्षया चक्षुःपरावृत्तिकल्पनैव लघीयसी इति चेत्, पूर्वोक्ता सम्मुखदिक्कादिस्थले स्वभावकल्पनस्य तवापि आवश्यकत्वात्.

१. च आभासस्य इति मा.१ पाठः - सम्पा.

२. सम्मुखो द्वितीयो इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

प्रतिबिम्ब-दर्शनात्. अयमेव वा आभासः. तस्माद् दर्पणे मुखजननवत्, तेजोऽभावे अन्धकारजननवद् माया मोहितपुरुष-बुद्धावपि विषयताद्वयं जनयति इति अर्थः. तत्र एका ब्रह्मरूपतां न प्रकाशयति, एका तु जगद्रूपा विषयता ; तदुभयव्यावृत्त्यर्थं सर्वाणि प्रमाणानि इति भावः ॥३३॥

प्रकाशः

तस्मात् प्रतिबिम्बपदार्थो अतिरिक्तएव इति युक्तम्. इदं यथा तथा प्रतिबिम्बवादे निपुणतरम् उपपादितम् इति न अत्र अधिकं लिख्यते. ननु मूले प्रतिबिम्बसङ्ग्राहक-पदाभावात् किमर्थम् अयम् आग्रहः इति शङ्कायाम् आहुः **अयमेव वा आभासः** इति. तथाच "स किन्नरान् किम्पुरुषान् प्रत्यात्म्येन असृजत् प्रभुः, मानयन् आत्मना आत्मानम् आत्माभासं विलोकयन्" (भाग.पुरा. ३।२०।४५), "जीवेशौ आभासेन करोति" (नृसिंहोत्तरतापिन्युप. ९) इत्यादौ 'आभास'शब्दस्य प्रतिबिम्बे प्रयुक्तत्वाद् अत्रापि तथा वक्तुं शक्यत्वाद् अयम् आग्रहः इति अर्थः. एवं तमः-प्रतिबिम्बौ साधयित्वा सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. तेन सिद्धं श्लोकतात्पर्यम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **जगद्रूपा** इति. जगद् रूपयति निरूपयति इति भिन्नजगत्प्रत्यायिका इति अर्थः.

ननु✻ श्लोकद्वयव्याख्यान-व्युत्पादित-युक्तिभिः तदुपष्टम्भकप्रमाणैश्च आविर्भाव-तिरोभावाभ्यां जगतो ब्रह्मरूपत्वे अवधारितेऽपि तस्मिन् शब्देन अपरोक्षज्ञानस्य अजनितत्वेन नाशोत्पत्ति-भेदेष्टानिष्ट-शुद्धाऽशुद्धादि-प्रतीतीनां जायमानत्वेन च विषयतासत्त्वाद् दर्शनान्तराभिमानिवद् भिन्नत्वप्रतीतेः पोषणाद् न प्रतीतौ तेभ्यः कश्चिद् विशेषः. किञ्च "मनोध्याताः भावभेदाः[१] वर्तमानत्वेन अनुभूयमानत्वेऽपि असन्तः, आद्यन्तयोः असत्त्वात्, यदेवं तदेवं स्वाप्निकवद्, यद् न एवं तद् न एवं स्व-स्वमतप्रतिपन्न-नित्यवस्तुवत्", "विमताः घटादयो मिथ्याभूताः वितथसदृशत्वाद् ऐन्द्रजालिकवद् असन्तः, अर्थक्रियाकारित्वाद्, छायाप्रत्याह्वय-प्रतिबिम्बवद्" इत्याद्यनुमानैः मिथ्यात्व-बोधाद् मायावादिभ्यः प्रतीतौ न कश्चिद् विशेषः ✻इति चेद्, उच्यते—

---

१. -ध्यानाभाव- इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

प्रकाशः

आस्ताम् इदानीं तथा प्रतीतिः ; किम् एतावता? न हि अन्यथानिश्चयो अस्ति येन पुरुषार्थहानिः. वस्तुतस्तु अस्त्येव[१] विशेषः, आप्तवाक्यप्रामाण्येन हीरकादाविव विषयबाधायाः निवृत्तत्वात्. तथाच यथा चतुरतरतक्षतनिर्मितो[२] यन्त्रेण सञ्चरन्नपि काष्ठकेसरी भुजङ्गमो वा प्रतीयमानो ज्ञाततत्त्वस्य न भयादिकं जनयितुं शक्नोति, प्रत्युत कुतुकं निर्मातृ-माहात्म्यमेव च ख्यापयति, तथा एतादृशप्रतीतिः तद्विषयं जगच्च भगवतो अत्यलौकिकं माहात्म्यमेव आचष्टे इति.

ननु अनुमानविरोधः कथं परिह्रियते[३] इति चेत्☆, पूर्वोक्तप्रमाणैः युक्तिभिश्च विषयतायाः विषयस्य च भेदे सिद्धे नियतावधिक-तया, श्रुत्या च सत्कार्यवादेन कार्याणां सत्त्वे अवधारिते "आद्यन्तयोः असत्त्वाद्" इत्यस्य स्वरूपासिद्ध-सिद्धत्वम् अर्थान्तरसाधकत्वञ्च सिद्ध्यति. तथा "वितथसदृशत्वाद्" इत्यस्य च साधारणत्वं, "सत्याः, वितथसदृशत्वाद्, ऐन्द्रजालिक-प्राक्कालीन-गजादिवद्" इति प्रयोगात्. एवम् "अर्थक्रियाकारित्वाद्" इत्यस्यापि घटादिदृष्टान्तेन[४] साधारणत्वञ्च अवधार्य ☆परिहरणीयः इति ब्रूमः.

ननु एवं सति पूर्वोक्तानुमानबोधकानां "त्वय्युद्भवाऽऽश्रयति" (भाग.पुरा. ११।१९।७), "इक्षेत विभ्रमम् इदम्" (भाग.पुरा. ११।१३।३४), "छायाप्रत्याह्वयाभासा" (भाग.पुरा. ११।२८।५) इत्यादीनां पुराणवाक्यानां का गतिः इति चेद्, विषयताम् आदाय तेषां वैराग्यार्थतैव गतिः इति जानीहि. नच अत्र मानाभावः, अवान्तरप्रकरणेन तथानिश्चयात्, महाप्रकरणे तु उपसंहारे "यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य, तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैः अहम् अस्य तद्वद्" (भाग.पुरा. ११।२८।१९) इति ब्रह्मरूपतायाएव कथनात्.

१. अस्यैव इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. -तक्षनिर्मितो इति मा.पाठे - सम्पा.

३. परिह्रियेत इति मा.पाठे - सम्पा.

४. -दृष्टान्तत्वेन इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

प्रकाशः

ननु "पराञ्चि खानि" (कठोप. २।१।१) इति श्रुतेः ब्रह्मणः इन्द्रियाविषयत्वात् तदात्मकस्य प्रपञ्चस्य न इन्द्रियविषयकत्वं युज्यते – नच इष्टापत्तिः कर्तुं शक्या, जगदप्रतीतिप्रसङ्गाद् – इति चेद्, न, तस्य अनावृत्त-ब्रह्मदर्शन-निषेधपरतया प्रपञ्चस्य तथात्वाबाधकत्वात् तत्रत्येन 'अन्तरात्म'पदेन तथा निश्चयात्. ननु विषयरूप-ब्रह्मसाक्षात्कारमन्तरेण जगद्रूपविषयतायाः कथं साक्षात्त्वम् इति चेद्, न, "मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः, अहमेव न मत्तोऽन्यद्" (भाग.पुरा. ११।१३।२४) इति हंसवचनेन "इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा" (बृहदा.उप. २।४।६) इत्यादि श्रुत्या ब्रह्मणोऽपि इन्द्रियविषयत्वस्य अभिप्रेतत्वेन अज्ञानदशायामपि तस्य ग्रहणेन विषयतासाक्षात्कारे बाधकाभावात्. नच वाक्ययोः परस्परं विरोधः, आवृत्ताऽनावृत्त-ब्रह्मपरत्वेन विषयभेदात्. अतएव च न मुक्त्यापत्तिः नापि अनिर्मोक्षप्रसङ्गः इति बोध्यम्.

एवञ्च "अस्थूला"दिवाक्येषु (सुबालोप. ३) जड-जीवधर्मनिषेधोऽपि युज्यते, नेत्र-दर्पणान्तरित-वर्णस्थौल्यवद्[१]-दूरस्थ-सूर्य-ध्रुवाद्यणुत्ववत् तेषां मायिकत्वाद् इति. यत्तु✻ आरोपत्वेन अधिष्ठानज्ञानत्वेन सामान्यतः कार्य-कारणभावात् शब्दावकाशाद्यनुमिते अप्रत्यक्षेऽपि आकाशे नीलारोपवद् शब्दविषये ब्रह्मणि विचित्रजगदारोपस्य सम्भवाद् घटभ्रमदृष्टान्तेन प्रत्यक्षएव आरोपाङ्गीकारो न युक्तः इति ✻तदपि फल्गु, उक्तानुमानादिना आकाशे रूपराहित्यस्य निश्चयेन तथा वक्तुं शक्यत्वेऽपि शब्दैकसमधिगम्ये ब्रह्मणि उपनिषद्भिः जिज्ञास्यमाने सर्वरूपत्वाऽरूपत्व-सर्वकर्तृत्वाऽकर्तृत्व-निष्कलत्व-सकलत्वाद्यनेक-विरुद्धधर्माधारत्वेनैव ज्ञातं भवतीति तादृशएव आरोपस्य युक्तत्वेन आकाशदृष्टान्तस्य अयुक्तत्वात्. तस्माद् अन्यप्रतीतौ अस्मत्प्रतीतौ च विशेषो निराबाधएव. एवञ्च भगवन्मूर्तिदर्शनादावपि भक्ताऽभक्तयोः यथायथं विषय-विषयतयोरेव साक्षात्कारः इति तयोः[२] यथायथम्

१. -वद्- इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

२. तैः इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

एवं प्रमेयं प्रमाणञ्च निरूप्य विषयं निरूपयति.

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ।।३४।।

यथा महान्ति भूतानि इति. वेदेन हि प्रकारद्वयेन पदार्थाः निरूप्यन्ते, साकारो - निराकारः सावयवो - निरवयवः पूर्णः - परिच्छिन्नः इत्यादिप्रकारेण. तदुभयमपि यथा विषयो भवति तदर्थम् इदम् आरभ्यते. अन्यथा एकपक्षो विषयता स्यात्, तथा सति वेदानाम् अंशतो अप्रामाण्यं भवेत्. अतः सर्ववेदप्रामाण्य-सिद्धये[१] उभयविधो विषयो निरूप्यते. **यथा महान्ति भूतानि** आकाशादीनि **भूतेषु** घटादिषु **उच्चावचेषु** अनेकरूपेषु स्थूलसूक्ष्म-दीर्घह्रस्व-

प्रकाशः

अनुभावा-ऽनुभवादिकं तदननुभवादिकञ्च युज्यते. यत्पुनः दुःख-शोकादिकम् अनुभूयते तद् विषयताकृतम्. साच मायाकृता ; तन्निवृत्तौ[२] निवर्तते. तन्निवृत्तिश्च प्रपत्तेः सम्यक् सिद्धौ इति प्रथमादिकक्षायां तदनिवृत्तावपि शैथिल्यस्य अनुभूयमानत्वाद् न कोपि क्वापि शङ्कालेशः इति तदीयैः अनुसन्धेयम् ।।३३।।

प्रकृतम् अथ अनुसरामः. **यथा महान्ति** इत्यत्र. **एवम्** इत्यादि. **एवम्** उक्तप्रकारेण **प्रमेयं** सर्वं ब्रह्म इत्येवं रूपं प्रथमश्लोकेन **निरूप्य प्रमाणं** वेदरूपं तन्निवर्त्य-मायानिरूपणमुखेन द्वितीयश्लोके **निरूप्य विषयं** वेदरूप-प्रमाणस्य अर्थं **निरूपयति** इति अर्थः. ननु प्रमेयस्यैव प्रमाणविषयत्वात् तस्य च पूर्वमेव निरूपितत्वाद् विषयान्तराभावाच्च पुनः विषयनिरूपणस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **वेदेन** इत्यादि. **पदार्थाः** इति प्रमेयभूत-ब्रह्मगताः धर्माः. **इदम्** इति विषयनिरूपणम्. **निरूप्यते** इति सदृष्टान्तम् उच्यते. तथाच ''रसोऽहम् अप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशि-सूर्ययोः'' (भग.गीता ७।८) इत्यादि वाक्यैः यथा तेषु तेषु [३]तत्तद्रूपेण आविः अस्ति तथा वेदे विषयरूपेण मायायाञ्च विषयतारूपेणेति तत्र तत्र तथैव ज्ञेयः. अन्यथाज्ञाने

१. -सिद्धे उभयेति ख. २. मायानिवृत्तौ इति मा.पाठे - सम्पा.

३. तद्रूपेण इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

वक्रज्ज्वादि-भिन्नेषु कारणत्वेन प्रविष्टानि पुनः **अनुप्रविष्टानि** भवन्ति, ततोऽपि **अप्रविष्टानि**[१] भवन्ति, **तथा अहं (तेषु!)** सर्वत्र कारणभूतः सर्वत्र अनुप्रविष्टोऽपि **(न तेषु!)** न कारणभूतो न अनुप्रविष्टः इति अर्थः. **तेषु** इति पुनर्वचनं वाक्यद्वय-बोधनार्थम्[२], अन्यथा **न**कारः पूर्ववाक्यएव सम्बध्येत. कारणं हि कार्ये अनुप्रविशति, कार्यं च कारणे समवेतम् उत्पद्यते. अन्यथा पटस्य निराधारतया उत्पत्तिः स्यात्. तथा सति न

प्रकाशः

तु "योऽन्यथा सन्तम्" (महाभा. १।६८।२६) इति श्रुत्या[३] दोषकथनात् सर्वनाशः इति सर्ववेदप्रामाण्यसिद्धौ च यथार्थज्ञाने सति अभ्युदय-निःश्रेयसयोः सिद्धिरिति सर्ववेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थं पुनः विषयो निरूप्यते इति अर्थः. अत्र मूले **भूतेषु** इति सप्तमी अभिव्यापकाधिकरणे, "सर्वस्मिन् आत्मा अस्ति" इत्यादौ इव, इति आशयेन आहुः **कारणत्वेन** इत्यादि. शेषं स्फुटम्. तथाच यथा महाभूतानि स्वकार्येषु[४] अवयवत्वेन प्रविष्टान्यपि कारणत्वेन अप्रविष्टानीति तस्मिन्नेव अंशे रूप-भेदयोः क्रिया-तद्राहित्ययोश्च न विरोधः, अंशान्तरेण ताटस्थ्यञ्च, तथा अहं वेदे परस्परविरुद्ध-तत्तद्रूप-तत्तद्धर्मवत्त्वेन प्रतिपाद्यमानोऽपि न भिन्नो नापि विरुद्धइति सर्ववेदप्रामाण्यम् अव्याहतम् इति अर्थः. ननु अत्र एकविधस्यापि विषयत्वम् उपादानत्वानुप्रवेशाप्रवेशैः उच्यते, तत्र उपादानत्वाप्रवेशाभ्यां वा अनुप्रवेशाप्रवेशाभ्यां वा विषयत्वोपपत्तौ उपादानत्वानुप्रवेशयोः अन्यतरस्य किं प्रयोजनम् इति आशङ्कायां द्वयोः आवश्यकत्वम् उपपादयन्ति **कारणं हि** इत्यादि. एवम् उभयं प्रतिज्ञाय **कार्यं कारणे समवेतम् उत्पद्यते** इत्यत्र युक्तिम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. अत्र तर्कद्वयं सहैव क्रमेण उच्यते. तत्र प्रथमस्य आपादकत्वम् **अन्यथा** इत्यनेन उच्यते ; यदि कार्यं कारणे समवायसम्बन्धेन आधारभूतं न स्याद्

---

१. -विष्टानि चेति ख-ग. २. -बोधार्थमिति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु ख-गपाठानुरोधात् -सम्पा. ३. श्रुत्या इति न वेदवचनाभिप्रायकं पदम् अत्र किन्तु महाभारते ईदृग्वचनश्रवणेन इत्यर्थकम् - सम्पा.

४. स्वकायेषु इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

उत्पद्येत, उत्पद्यमानं वा सर्वत्र उत्पद्येत, यथा घटो भगवान्[१], यथा शब्दः. कुम्भकारकृत्या प्राकृतएव घटः उत्पद्यते विषयतावत्, नतु भगवद्रूपः, सिद्धत्वात्. शब्दोऽपि ताल्वोष्ठ-पुट-व्यापारेण उत्पद्यमानः सर्वत्रैव श्रोत्रेषु

प्रकाशः

इति. **पटस्य** इति उपलक्षणं वैशद्यार्थम्. ननु उत्पत्तेः पूर्वं पटादिप्रतीत्यभावाद् असदेव कार्यं निमित्तवशात् कारणे उत्पद्यतइति कारणस्य आधारत्वम् अस्तु, नतु कार्यस्य कारणे सत्त्वमपि, इत्यतः तर्कान्तरम् आहुः **तथा सति** इत्यादि. यदि कारणे कार्यं विद्यमानं न स्यात् तदा न उत्पद्येत इत्यादि. **उत्पद्यमानम्** इति असत्त्वेऽपि उत्पद्यमानम्. उभयत्र यथायथं दृष्टान्तः **यथा** इत्यादि. तथाच कार्यस्य नियतावधिकत्व-दर्शनात् कार्यस्य कारणे स्थितिः अवश्यम् अङ्गीकार्या. नच अवधिनियमस्य कार्यप्रागभावेनैव निर्वाहात् कार्यस्य कारणे स्थितिः अयुक्ता इति वाच्यं, कारणावस्थातिरिक्तस्य प्रागभावस्यैव निरूपयितुम् अशक्यत्वात्. नच "इह कपाले घटो नास्ति" इति प्रतीतिरेव तत्र मानं, तस्याः घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-संसर्गाभावसामान्यत्वेन प्रागभावात्मक-विशेषानवगाहित्वात्. नच "कपालं घटप्रागभाववद्, घटीयचरमसामग्रीवत्त्वाद्, यो यत् चरमसामग्रीवान् सः तत्प्रागभाववान्, पटीयचरमसामग्रीविशिष्ट-तन्तुवद्" इति अनुमानमपि मानम्, अनुमानप्रयोगात् पूर्वं साध्यतावच्छेदकस्य प्रागभावस्य असिद्धत्वेन तदवच्छिन्न-साध्याप्रसिद्ध्या हेतोः आभासत्वात्. इदं यथा तथा निबन्धोक्तदिशा प्रस्थानरत्नाकरे प्रपञ्चभेदवादे च सम्यग् मया उपपादितमिति न अत्र प्रपञ्च्यते. अतः कारणावस्थायामेव प्रागभावाभिमानात् पूर्वं प्रतीत्यभावेऽपि कारणरूपेण कारणे विद्यमानमेव कार्यम् उत्पद्यतइति ततएव नियतावधिकत्वम् इति निश्चयः. एवमेव उत्पत्तिस्वरूपविचारादपि सिद्ध्यतीति आविर्भाववादादपि अवगन्तव्यम्. ननु घटस्य उत्पत्तिदर्शनात् कथं भगवत्त्वं? शब्दस्य च आकाशएव उत्पद्यमानत्वात् कथं सर्वत्र उत्पत्तिः? इति आकाङ्क्षायां द्वयमपि व्युत्पादयन्ति **कुम्भे**त्यादि, **शब्दोऽपि** इत्यादि च. अत्र घटदृष्टान्ते

१. भगवान्शब्द इति घ.

प्रकाशः

एवं बोध्यं— प्रथमस्कन्धे तावद् वैदिक-पौराणजगतोः भगवद्रूपत्वाऽविशेषेऽपि घटित-पूरितपात्रवद् भेदः उक्तः[१]. तेन वैदिकं जगद् इच्छया युगपद्, आकाशादिक्रमेण वा, घटितवद् उत्पद्यते. पौराणन्तु प्रकृति-पुरुषक्रियोत्पन्ने गुणमये सञ्चायके प्रविष्टं तत्प्रयुक्तम् आकारं धत्ते. एवं प्रयोजकभेदेन उभयथा जायमानोऽपि आकारो धृतद्रवत्ववद् ब्रह्मधर्मएव. तेन उभयविधेऽपि जगति "इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा" (बृहदा.उप. २।४।६) इति "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" (छान्दो.उप. ३।१४।१) इत्यादीनि श्रौतानि, "विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम्" (भाग.पुरा. ३।१०।१२) इत्यादीनि पौराणानि वाक्यानि ब्रह्मात्मकत्वं बोधयन्ति. यानि पुनः "द्वे अस्य बीजे शतमूलः" (भाग.पुरा. ११।१२।२२) इत्यादीनि पौराणानि, "सैषाविद्या जगत् सर्वम्" (नृसिंहोत्तरतापिन्युप. ९) इत्यादीनि श्रौतानि च तानि तु द्विबीजत्वम् उपक्रम्य "मायामयं वेद स वेद वेदम्" (भाग.पुरा. ११।१२।२३) इति उपसंहरन्ति, सञ्चायकस्य जगतो मायिकत्वं बोधयन्ति. एवञ्च[२] प्रपञ्चस्यापि चातुर्विध्यं, सत्तायाश्च त्रैविध्यं भवति. तत्र अयं प्रयोगः— "व्यावहारिकः प्रपञ्चः स्वापेक्षया उत्कृष्टसत्ताक-प्रपञ्चपूर्वकः, मायिकत्वाद्, ऐन्द्रजालिकप्रपञ्चवद्" इति. व्यावहारिक-सत्तापेक्षया उत्कृष्टा च पारमार्थिक्येव सत्ता इति. वाचनिकसत्ताङ्गीकारपक्षे तु सत्तायाअपि चातुर्विध्यम्. साच खपुष्पादीनामिति प्रातिभासिकसत्तापेक्षयापि निकृष्टा. तथा सति द्वौ उत्कृष्टसत्ताकौ, एको व्यावहारिकः, एकः प्रातिभासिकइति तेन घटस्य भगवद्रूपत्वं सिद्धमेव. तदेतद् हृदिकृत्य उक्तं **कुम्भकारे**त्यादि. तथाच व्यावहारिकस्य घटस्य यथा अवधित्वेन समवाय्यपेक्षा तथा पटस्यापि. एवम् एको दृष्टान्तः साङ्ख्यरीत्या. द्वितीयं दृष्टान्तं नैयायिकरीत्या[३] व्याकुर्वन्ति **शब्दः** इत्यादि. तथाच जिह्वाद्यभिघातनिमित्तं समवायिभूतं प्रदेशं च अतिहाय तव मते यथा शब्दो यत्र क्वचिद् उत्पद्यतइति तत्प्रागभावावच्छिन्नो देशो

१. द्रष्ट. सुबो. १।२।३० -सम्पा. २. च इत्यधिकम् अत्र मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति -सम्पा. ३. नैयायक- इति कि.पाठे -सम्पा.

उत्पद्यते. एवं निराधारः पटोऽपि भवेत्. तथा सति तन्त्वाधारतया उत्पन्ने पटे यदि तन्तवो न प्रविशेयुः तदा पटे तन्तुप्रतीतिः न स्याद्, जायमाना वा भ्रान्ता स्यात्. अबाधितत्वाच्च न भ्रान्ता. शुष्का तु युक्तिः क्वापि पदम् अलभमाना स्वयमेव भ्रान्ता भवति. अतः एकस्यैव आधारत्वम् आधेयत्वञ्च[१] कारणकाले कार्यकाले च व्यवस्थितं भवति. एवं महाभूतेषु त्रयम्— आधारत्वं, आधेयत्वं, विशेषतः आधेयत्वम् इति. तद् आह

प्रकाशः

न नियतः तथा तन्तुराहित्येऽपि[२] पटः स्याद् इति अर्थः. एवं कार्यान्तरेऽपि. तथा सति सत्कार्यवादस्य शिष्टादृतत्वात् कारणे समवेततया विद्यमानमेव कार्यम् उत्पद्यते इति सिद्धम्. कारणस्य कार्ये प्रवेशं साधयन्ति **तथा सति तन्तु-** इत्यादि. **तथा सति** इति एवं तन्तुषु पटस्य विद्यमानत्वेऽपि सति. **न प्रविशेयुः** इति अवयवतया न प्रविशेयुः. ननु इयं प्रतीतिः समवायेन तादात्म्येन वा उत्पत्स्यतइति अनुप्रवेशो न प्रतीतितः सिद्ध्यति इत्यतः आहुः **शुष्का** इत्यादि. श्रुतौ ‘‘तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्’’ (तैत्ति.उप. २।६) इति श्रावणात्, ‘‘सोऽनुप्रविष्टो भगवान् चेष्टारूपेण तं गणं’’ (भाग.पुरा. ३।६।३), ‘‘परेण विशता स्वस्मिन् मात्रया’’ (भाग.पुरा. ३।६।५) इत्यादि पुराणवाक्याच्च अनुप्रवेशो बोध्यतइति तद्विरोधिनी युक्तिः **शुष्का** अप्रमाणिकी **क्वापि** प्रामाणिकशास्त्रे **पदं** प्रवेशम् **अलभमाना** तथेति न तया अनुप्रवेशबाधः इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. एवं कालभेदेन अवस्थाभेदाद् एकस्यैव भौतिकस्य अर्थस्य तन्निरूपितम् आधारत्वम् आधेयत्वञ्च साधयित्वा महाभूतेषु अतिदिशन्ति **एवम्** इत्यादि. **विशेषतः आधेयत्वम्** इति संयोगसम्बन्धेन आधेयत्वम्. तथाच समवायेन कारणतया **आधारत्वं,** परस्परसंयोगेन अवयवतया **आधेयत्वं,** तटस्थसंयोगेन कार्यतया **विशेषतया**[३] **आधेयत्वम्** इति धर्मत्रयम् इति अर्थः. एवम् आपाततो विचारेण दृष्टान्ते धर्मत्रयसिद्धौ दार्ष्टान्तिकेऽपि तावदेव सेत्स्यतीति

---

१. च नास्ति ख. २. अपि इत्यधिकम् मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

३. विशेषत्वम् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

प्रविष्टानि अप्रविष्टानि इति. अथवा महाभूतेषु पञ्चधा. कारणत्वेन, पूर्वमेव तत्र विद्यमानत्वेन, महाभूतत्वेन च इति अप्रवेशः त्रेधा. कारणप्रवेशवत् प्रवेशत्वेन, पृथक्प्रवेशत्वेन च प्रवेशो द्वेधा. **तथा तेषु** इति पञ्चधाऽपि, **न**[१] **तेषु** इति पुनः पञ्चधा. एवं भगवति दशधा भवति. तथा सति सर्वत्र जगति भगवान् दशविधलीलायुक्तो दशधा ज्ञातव्यः ॥३४॥

एवं प्रमेयं प्रमाणं विषयञ्च निरूप्य निरूप्यान्तरशङ्कां वारयन् त्रिष्वपि उपपत्तिं वदति.

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥३५॥

एतावदेव जिज्ञास्यम् इति. निरूपणन्तु जिज्ञासानुरोधेन. जिज्ञासा तु त्रिष्वेव, नतु शास्त्रान्तरवत् षोडशधा, तस्य आत्मोपयोगाभावात्. आत्मार्थमेव

प्रकाशः

दशधर्मकत्वाभावे दशलीलाभावाद् भगवत्त्वं जगतो न भविष्यतीति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **न तेषु इति पुनः पञ्चधा** इति. महाभूतानां केनचिदेव अंशेन कारणत्वात् पञ्चावस्थाकत्वमेव, भगवतस्तु "अन्यद् एव तद् विदिताद् अथो अविदिताद्" (केनोप. १।३) इति श्रुत्या विदिताविदित-विलक्षणवद् अप्राकृतेन सच्चिदानन्दरूपेण प्रविष्टाप्रविष्ट-विलक्षणत्वात् पुनः पञ्चधा इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **तथा सति** इत्यादि. तथाच जगति भगवतः प्राकृतकारणरूपत्वेन पञ्चधा स्थित्या प्राकृता-ऽप्राकृतवस्तुनो विषयता-विषयरूपाभ्यां भगवत्त्वाद् जगति दशधा भगवज्ज्ञापनेन वेदानाम् अंशतो अप्रामाण्यनिरासार्थं विषयनिरूपणम् इति अर्थः ॥३४॥

एतावदेव इत्यत्र. ननु उक्तविषयवद् अवान्तरविषयाणां बहूनां सत्त्वात् कथं निरूप्यान्तराभावः इत्यतः आहुः **निरूपणन्तु** इत्यादि. **प्रमेयं ज्ञानम्**

लेखः

एतावदेव इत्यत्र. **शास्त्रान्तरवद्** इति, "प्रमाणादि-षोडशपदार्थ-

१. न पुनरिति ग.

हि जिज्ञास्यं, तद् आह **तत्त्वजिज्ञासुना आत्मनः** इति. प्रमेयं ज्ञानं, प्रमाणं वैराग्यं, विषयो दशविधलीला भक्तिः —**आत्मनस्तु एतावदेव** उपयुज्यते, अन्यत्तु देहाद्यर्थम्. एवं निरूप्य आन्तरं निराकृत्य त्रिष्वपि उपपत्तिम् आह **अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा** इति. **अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्** इति उपपत्तिः, **यद्** इत्यादि त्रयम् उद्देश्यम्. तत्र सर्वं[१] भगवान् कथम् इति आकाङ्क्षायाम् **अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्**

प्रकाशः

इत्यादि. अत्र अयम् अर्थः— भगवता ''नृणां श्रेयोविधित्सया ज्ञान-कर्म-भक्तयो मया उक्ताः'' इति वक्ष्यते[२]. तथा सति आत्मनः त्रयमेव उपयोगाय. तत्र **प्रमेयं** स्वरूपं ज्ञानसाधनत्वाद् ज्ञानविषयत्वाद् ज्ञानरूपत्वाच्च उपयुज्यते. एवं **प्रमाणं** वेदः कर्मप्रतिपादकः परोक्षवादेन वैराग्ये पर्यवस्यति इति वैराग्याद् उपयुज्यते. तथा विषयो विरुद्धधर्माधारत्वं भक्तौ पर्यवस्यति इति भक्तिरूपत्वाद् उपयुज्यते. ''भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन'' (भाग.पुरा. २।२।३४) इत्यत्र साधनकथनांशस्य तत्र पर्यवसानाच्च. तथाच ज्ञानत्वाद् वैराग्यत्वाद् भक्तित्वाच्च त्रयमेव तथेति एतावदेव ज्ञातुम् इष्टत्वाद् विचार्यं, न अन्यद् इति अर्थः. **उपपत्तिम्** इति भगवदात्मकत्व-बोधिकां युक्तिम्. (मूले!) **यत् स्याद्** इत्यस्य अग्रे **सर्वत्र** इत्यादिपदाद् अत्रापि विभक्तिविपरिणामेन 'सर्व'पदमेव विवक्षितम् इति आशयेन उक्तस्वारस्येन च विवृण्वन्ति **तत्र**

लेखः

तत्त्वज्ञानाद् मुक्तिः'' इति नैयायिकादिशास्त्रवद् इति अर्थः. **प्रमेयं ज्ञानम्** इत्यादि. ''अहमेव आसमेवाग्रे'' (श्लो. ३२) इत्यनेन ज्ञानात्मकं भगवद्रूपं प्रमेयम् उक्तम्. ''ऋतेऽर्थम्'' (श्लो. ३३) इत्यनेन मायानिरूपणेन मायिके वैराग्यबोधनाद् वैराग्यरूपं प्रमाणम् उक्तम्. ''यथा महान्ति'' (श्लो. ३४) इत्यनेन कार्यरूपे सर्वत्रानुस्यूतत्वबोधनात् सर्गादिलीलारूपो विषयः उक्तः इति ज्ञेयम् ॥३५॥

---

१. सर्वत्रेति ग.

२. ''योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः...'' (भाग.पुरा. ११।२०।६) - सम्पा.

इति. सर्वत्र भगवतो **अन्वयो** अस्ति : घटः सन् पटः सन् भासते इति, प्रियम् इति च, सर्वत्रैव एकस्य अन्वयः. अन्यथा एकशब्दानुवृत्तिः प्रतीत्यनुवृत्तिः[१] वा न स्यात्. विशेषेण अतिरिच्यते इति **व्यतिरेकः**. घटादिभ्यः किम् अतिरिच्यते? घटस्तु घटाद् न अतिरिच्यते, तथा पटः पटात्, किन्तु सद् घटादपि अतिरिच्यते, पटादपि. एवं सर्वत्र यत् सर्वं सत् सर्वस्माद् अतिरिच्यते तद् ब्रह्मैव. ननु एकमेव [२]ब्रह्मत्वसाधकम् अस्तु, किं द्वाभ्याम्! इति चेद्, न. अन्वयेन ब्रह्मत्वं न सिद्ध्यति, जगति जगतोऽपि अन्वयात्. यद्यपि घटादेः व्यतिरिच्यते जगत् तथापि जगतो न व्यतिरिच्यते. खपुष्पादिकन्तु जगतो व्यतिरिच्यते, परं न अन्वेति.

प्रकाशः

सर्वम् इत्यादि. **एकस्य** इत्यादि. सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणः **अन्वयः**. अनु एति इति अन्वयः, अनुगताकारत्वम् इति अर्थः. तत्र युक्तिः **अन्यथा** इत्यादि. तथाच ''यदि सच्चिदात्मकं[३] सर्वं न स्यात्, 'सर्वत्र'-'सदा'दिपदानुवृत्तिः सदादिप्रतीत्यनुवृत्तिश्च न स्याद्, यस्माद् एवं तस्माद् एवम्'' इति अर्थः. अत्र ''महेन्द्र-गुग्गुलूलूक-व्याल-ग्राहेषु कौशिकः'' (.कोश । ।) इति कोशाद् महेन्द्रादिषु 'कौशिक'शब्दानुवृत्तिवद् न तदन्वयः इत्यतः उक्तं **प्रतीती**त्यादि. तथाच एकप्रतीत्यनुगमएव मुख्यो अन्वयः इति अर्थः. ननु एवम् अन्वयः उपपद्यते परं व्यतिरेकस्य यदभावे यदभावात्मकत्वाद् भगवतो व्यापकत्वेन तदभावस्य क्वापि अभावात् सः कथम् उपपत्स्यते[४] इति आकाङ्क्षायां तत्स्वरूपम् अन्यद् आहुः **विशेषेण** इत्यादि. नच एवं ब्रह्मापि ब्रह्मणो न व्यतिरिच्यते इति अव्यतिरेकः शङ्क्यः, सर्वस्य पक्षत्वेन ततो व्यतिरेकस्यैव अत्र विवक्षितत्वेन अदोषात्. ननु व्यतिरेकएव साधको अस्तु, किम् अन्वयेन इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **खपुष्पे**त्यादि. **कारणस्य** इति परमाणु-प्रकृत्यादेः. **अतः** इति

---

१. -त्यनुपपत्तिर्वेति ख-ग.   २. ब्रह्म साधकमिति ग.

३. सच्चिदानन्दात्मकम् इति मा.पाठे - सम्पा.

४. उत्पत्स्यते इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

सद् जगतो व्यतिरिच्यते, भगवतोऽपि सत्त्वात् कारणस्याऽपि सत्त्वात्. अतो यस्य अन्वय-व्यतिरेकौ तदेव सर्वम्. किञ्च **यत् सर्वत्र स्यात्** यद्वा **सर्वदा ;** देश-कालौ यस्य परिच्छेदकौ न भवतः. तत्रापि अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्. माया हि अन्वये न परिच्छिद्यते ; नहि मायाविषये आभासे सदन्वयो अस्ति. नच आभासः सतो[१] न व्यतिरिच्यते, स्वस्यैव असत्त्वात्. भगवांस्तु मायायामपि अस्ति, [२]अतिरिक्तेऽपि. एवं कालेऽपि.

प्रकाशः

अन्वय-व्यतिरेकयोः अन्यतरस्य एकस्य असाधकत्वात्. ननु प्रीत्यप्रीति-विषादैः कारणस्य अन्वयदर्शनाद् जगद्व्यतिरेकस्यापि दर्शनाच्च कथं भगवतः सर्वत्वनिर्णयः इति शङ्कायाम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. वाशब्दः एवकारार्थो वाक्यालङ्कारे. **परिच्छेदकौ** व्यापकौ. **तत्रापि** इति परिच्छेदकत्वेऽपि. तथाच प्रीत्यप्रीति-विषादेष्वपि सदन्वयाद् ''अव्यक्तम् अक्षरे लीयतेऽक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देवे एकीभवति'' (सुबालोप. २) इति परदेवस्य व्यतिरेकश्रावणाच्च कारणस्यापि परदेवः कालश्च परिच्छेदकः, परमाणूनान्तु देशोऽपि. अतः तदात्मकं न सर्वं किन्तु सदात्मकम् इति अर्थः. ननु परिच्छेदकत्वे उभयोः किं प्रयोजनम्, एकेन अन्वयेनैव देश-कालयोः परिच्छेदसम्भवात्, ''सती माया''-''सन् कालः'' इति एकप्रतीत्यनुगमदर्शनाद् इति शङ्कायाम् आहुः **माया हि** इत्यादि. **अन्वये** इति भिन्नं पदं, **न** इति भिन्नम्. तथाच मायायाः सदन्वय-परिच्छेद्यत्वेऽपि तत्कार्यस्य तदपरिच्छेद्यत्वात् सद्व्यतिरेकस्य विद्यमानत्वाच्च कार्यांशे अन्वयापरिच्छेद्येति उभयम् आवश्यकम् इति अर्थः. ननु तर्हि व्यतिरेकएव परिच्छेदको अस्तु, किम् अन्वयेन इत्यतः आहुः **भगवान्** इत्यादि. तथाच अन्वयस्य विद्यमानत्वात् सोऽपि[३] अदण्डवारितः इति अर्थः. एतदेव काले अतिदिशन्ति **एवं काले** इत्यादि. तथाच ''कालः सन्'' इति प्रतीत्यनुगमात् सतो मायादावपि वर्तमानत्वेन कालव्यतिरिक्तत्वाच्च कालः सत्परिच्छेद्यएव, नतु परिच्छेदकः

---

१. तत इति ग. २. अतिरिक्तोऽपि इति मा.१ पाठः - सम्पा.

३. सोपदं वारितः इति मा.पाठे - सम्पा.

विषये घटे सत्कारणं, सत्कार्यं, सदाधारः, सदाधेयम्[१]. सत्त्वेऽपि अतिरिक्तता. नहि मृदेव घटः, तदा मृदवस्थायामपि घटप्रतीतिः स्याद् 'घट'शब्दप्रयोगश्च. एवं कार्ये सर्वदा पञ्चधा भगवान् अन्वेति. पञ्चधा च[२] व्यतिरिच्यते— घटो हि पटादिभ्यो व्यतिरिच्यते, कारणादपि व्यतिरिच्यते, घटान्तरादपि व्यतिरिच्यते, आविर्भावात् तिरोभावाच्च व्यतिरिच्यते, घटस्य हि आविर्भावः

प्रकाशः

इति अर्थः. एवं मानानुगमात् सर्वत्र भातिपरिच्छेद्यतापि. नच प्रियत्वाऽननुगमः शङ्क्यः, सर्वप्रियत्वस्य अभावेऽपि यत्किञ्चित्प्रियत्वस्य सर्वत्र अनुगमात्. नच आभासे व्यभिचारः, आश्चर्यजनकत्वेन तत्रापि अनुगमात्. वस्तुतस्तु तस्य असत्त्वाद् भातिगतमेव तत्त्रयं तत्र भासतइति अननुगमेऽपि अदोषः इति. तस्माद् अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सर्वं ब्रह्म इति अनुभवसिद्धम्. ननु एवं सर्वस्य ब्रह्मत्वं सिद्ध्यति, नतु भगवत्त्वं, दशलीलायुक्तत्वाभावाद् इति आशङ्कायां भगवत्त्वाय दशलीलायोगं व्युत्पादयन्ति **विषये** इत्यादि. **अतिरिक्तता** इति अधिकाकारता. तां व्युत्पादयन्ति **न हि** इत्यादि. तथा **सत्त्वेऽपि अतिरिक्तता** नाम तद्रूपत्वेऽपि तदतिरिक्ताकारता इति अर्थः. **व्यतिरिच्यते** इति व्यावृत्ताकारो भवति. तत्र हेतुद्वयम् आहुः **आविर्भावात् तिरोभावाच्च** इति. ननु एतयोः हेतुत्वेन प्रवेशात् तत्कार्यरूपो व्यतिरेकः त्रिधैव सिद्ध्यतीति कथं पञ्चधा इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **घटस्य आविर्भावः तिरोभावश्च** इति. तथाच तौ व्यावृत्तिरूपत्वादेव व्यावर्तकौ, व्यावृत्तिः एकः[३] इति ताभ्यां सएव अतिरिच्यते[४] इति पञ्चप्रकारकत्वम् उपपन्नमेव इति अर्थः. नच आविर्भावस्य इतरेभ्यो व्यावर्तकत्वाद् व्यावृत्तत्वाच्च पृथक्त्वाऽपरपर्यायत्वेन अस्तु व्यतिरेकत्वं, तिरोभावस्य तु अभावरूपत्वाद् न व्यतिरेकत्वम् इति वाच्यं, घटप्रतियोगिक-तिरोभावे इतरव्यावर्तकत्वस्य स्पष्टत्वेन व्यतिरेकत्वस्य स्फुटत्वात्. नच आविर्भावेनैव व्यावृत्तिसिद्धौ तिरोभावस्य अनावश्यकत्वाद् अप्रयोजकत्वम् इति वाच्यम्, आविर्भावस्य

१. सदाधेयमिति नास्ति ख. २. च नास्ति ग.

३. व्यतिरेकः इति मा.पाठे - सम्पा. ४. व्यतिरिच्यति इति मा.पाठे - सम्पा.

तिरोभावश्च. अतः एकस्मिन् घटे आविर्भाव-तिरोभावाभ्यां दशधा भगवान् अस्ति. एवं सर्वत्र दशलीलायुक्तो भगवान्. अनेन स्वरूपं भगवान्, देशप्रतीतिस्तु मायिकी, कालप्रतीतिस्तु लीलया. एवं देश-काल-वस्त्वपरिच्छिन्नं देश-काल-वस्तुरूपञ्च अहमेव इति एतावदेव जिज्ञास्यम्. इदमेव उपपत्त्या विचारितम्, उत्पत्त्या च ''पुरुष एवेदं सर्वम् ... वितस्तिमधितिष्ठति[१]''

प्रकाशः

अव्याप्यवृत्तित्वेन अन्यत्र तत्तिरोभावाभ्युपगमात्, प्रकृतेऽपि ''घटः पटो न'' इति समानाधिकरण-प्रतीत्युपपत्त्यर्थम् आवश्यकत्वात्. नच इतरतिरोभावएव घटाविर्भावः इति वाच्यं, तस्य व्याप्यवृत्तित्वे घटाप्रतीतिप्रसङ्गाद्, अव्याप्यवृत्तित्वे च तिरोभावप्रतियोगिक-तिरोभावकल्पनायाः आवश्यकत्वे कल्पनातौल्याद्, भावप्रतीतेश्च आविर्भावाभ्युपगमस्यैव औचित्यमिति न अन्यतरेण निर्वाहः इति दिक्. फलितम् आहुः **अतः** इत्यादि. यतः उभयोरपि आवश्यकत्वं, यतः आविर्भावस्य पञ्चधा अन्वयप्रत्यायकत्वं, तिरोभावस्य च त्रिविधव्यतिरेक-प्रत्यायकत्वम् उभयोः व्यतिरेकरूपत्वञ्च, **अतः एकस्मिन् घटे आविर्भाव-तिरोभावाभ्यां** कारणतोपहिताभ्यां स्वरूपसद्भ्यां च आभ्यां **दशधा भगवान् अस्ति** सद्रूपः प्रतीयते इति अर्थः. एवम् एकत्र व्युत्पाद्य अन्यत्रापि अतिदिशन्ति **एवम्** इत्यादि. तथाच भगवति अनन्ते[२] द्वितीयपुरुषे तृतीयस्कन्धोक्तप्रकारेण प्रथमपुरुषे एवं वर्तमानाः तदंशेषु एवं भवतीति सर्वत्र एवं दशलीलात्मकत्वं निश्चेयम् इति अर्थः. एवं श्लोकार्थं विविच्य निर्गलितम् अर्थम् आहुः **अनेन** इत्यादि **जिज्ञास्यम्** इत्यन्तम्. **अनेन** इति श्लोकत्रये उपपत्तिपूर्वकं त्रितयपदार्थोपदेशेन. **कालप्रतीतिस्तु लीलया** इति, उत्पत्त्यादि-सम्बन्धघटक-भूतादि-कालप्रतीतिस्तु क्रमिकाविर्भावात्मक-लीलया. ननु अत्र सर्वं भगवान् इति सिद्धान्तितं, पूर्वाध्यायेषु तु कर्तृवादोऽपि प्रत्यायितइति कथम् अनयोः अविरोधः इत्यतः आहुः **इदमेव** इत्यादि. **इदमेव** श्लोकत्रयोक्तं सर्वं भगवान् इति प्रमेयमेव **उपपत्त्या** अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां **विचारितम्. उत्पत्त्या**

१. -तिष्ठतेति ख-ग. २. आनन्दे इति मा.पाठे - सम्पा.

(भाग.पुरा. २।६।१५) इति, उद्देशे च "न यतोऽस्ति किञ्चित् ... प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्" (भाग.पुरा. २।२।८) इति च. एवं भगवतो ब्रह्मणः शिक्षा निरूपिता— ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यं ; जगतो व्यतिरिच्यतइति न तत्र आसक्तिः कर्तव्या. एकस्मिन्नपि पदार्थे सर्वलीलासहितो भगवान् अस्ति इति च, देश-काल-वस्तुरूपः सन् देश-काल-वस्तुभ्यो व्यतिरिच्यते इति (अपि!) ॥३५॥

प्रकाशः

जननादि-त्रितयरूपया **पुरुषे**त्यादि पद्येषु इति. एवं विरुद्धधर्माश्रयत्वेन **उद्देशे च "न यतः"** इत्यादिषु तेनैव धर्मेण इदं विचारितम् अतो न विरोधः इति अर्थः. चतुर्णां फलितार्थम् आहुः **एवम्** इत्यादि.

अथ पूर्वाध्यायस्थाऽऽशङ्कैतदध्यायस्थोत्तरयोः सम्यग्बोधनार्थम्[१] उभयार्थः सङ्गृह्यते. तत्र [२]शङ्का— "तस्माद् भारत" (भाग.पुरा. २।१।५) इत्यत्र यत् सर्वात्मकत्वम् उक्तं तत् मुख्यवृत्त्या गौण्या वा? न आद्यः, स्वस्मिन् स्वप्रसादानुपपत्त्या स्वाभिन्ने ब्रह्मणि प्रसादस्य असङ्गत्यापत्तेः, भेदमन्तरेण उत्पत्तेः अशक्यवचनतया उत्पन्नपद्मस्य देहाद् भिन्नत्वेन जगतश्च पद्माधेयत्वेन ततोऽपि भिन्नतया देहे सर्वात्मकत्वस्य दूरापास्तत्वाच्च. न अन्त्यः, औपचारिकस्य सर्वात्मकत्वस्य मनोराज्यतुल्यत्वेन उद्यतकामानिवर्तकत्वात्. एवम् उभयथापि सर्वात्मकस्य असङ्गतत्वात् तदतिरिक्ताकाराप्रसिद्ध्या साकारब्रह्मत्वे विघटिते भगवद्देहस्य पद्मोत्पत्त्यतिरिक्त-प्रयोजनाभावात् तेन च सर्वात्मकत्वानिर्वाहाद् जीवतुल्यत्वापादकः सर्वात्मकत्व-विघटको देहसम्बन्धः किमर्थः —इति पूर्वपक्षसङ्ग्रहः. तत्र उत्तरञ्च "आत्मतत्त्व" (श्लो. ४) इति पद्येन भगवद्वाक्योपक्षेपं प्रतिज्ञाय चतुःश्लोक्या शुकेन उच्यते. तत्र च अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां भगवति सर्वात्मकत्वस्य निःप्रत्यूहत्वेन 'सर्वात्म'पदस्य मुख्यवृत्त्या बोधकत्वाद् अन्यथाप्रतीतेः मायिकत्वेन हिताकरणादि-दोषाणां जीवबुद्धिभ्रम-कल्पितत्वेन तत्र अभावाद्, उत्पत्त्यादिघटक-

---

१. -बोधार्थम् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. आशङ्का इति मा.पाठे - सम्पा.

एवं शिक्षां निरूप्य गर्वाभावे एतदनुसन्धानमेव कारणम् इति आह.

एतन्मतं [1]ममातिष्ठ परमेण समाधिना ॥
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥३६॥

एतन्मतम् इति. सर्वं भगवान्, अन्यथाप्रतीतिः मायया, सर्वत्र भगवान् सर्वलीलासहितः सर्वदोषविवर्जितः इति **एतन्मतं मम** भगवतः. इदं हि भगवच्छास्त्रम्. **मम आतिष्ठ** यथा तत्तन्मतानुसारिणः तत्र तत्र प्रतिष्ठिताः तथा **भवानपि**[2] अस्मिन् मते प्रतिष्ठितो भवतु. अतः कुतर्काः बहवः उत्पत्स्यन्ते ते सर्वे अनुभवेनैव दूरीकर्तव्याः. तद् आह **परमेण समाधिना** इति. **समाधिः** चित्तैकाग्र्यम्. सूक्ष्मदृष्ट्या एतद् ज्ञातव्यम् ; आपाततो दृष्ट्या विचारेण वा न एतन्मतं ज्ञातं भविष्यति. ज्ञाते तु अस्मिन् **(कल्पविकल्पेषु !)** महाकल्पे अवान्तरकल्पेषु च सृष्टि-प्रलययोः **न मुह्यति.** किञ्च **कर्हिचिदपि न मुह्यति** कदाचिदपि माया तं न व्यामोहयति, अस्य मतस्य मायायाश्च विरोधात्. तत्रैव माया यत्रैव[3] एतन्मतं नास्ति इति अर्थः ॥३६॥

प्रकाशः

भूतादि-कालप्रतीतेः लीलाजन्यत्वेन उपस्थितहान्यकृताभ्यागमाऽनवकाशादेभ्यएव ‘भगवत्त्वो’पपत्तेश्च, ‘ईश्वर’त्वोपपत्त्या च जीवतुल्यता-परिहाराद् इच्छया लीलार्थं देहसम्बन्धः स्वतन्त्रत्वेन अदुष्टः इति पूर्वोक्तम् अनवद्यम् — इति समाधानसङ्ग्रहः.

अत्र[4] “तस्मै स्वलोकम्” (श्लो. ९) इति आरभ्य “स्वएव धामन् रममाणम् ईश्वरम्” (श्लो. १६) इत्यन्त-ग्रन्थस्य “मत्स्थानि सर्वभूतानि” (भग.गीता ९।४) इत्येतत्पद्यविस्तारत्वं ज्ञेयं, तत्र “पश्य” इति मध्यमपुरुषप्रयोगेण विरुद्धधर्माधारत्व-प्रदर्शनाद्, अत्रापि ब्रह्मणे तत्प्रदर्शनावगमात् ॥३५॥

---

१. समातिष्ठेति पाठः ख-ग. २. भगवानपीति ग. ३. यत्रैतदिति ख.
४. अतः इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

॥ श्रीशुकः उवाच ॥

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम् ॥
पश्यतस्तस्य तद्रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः ॥३७॥

एवम् उपदिश्य यत् कृतवान् तद् आह **सम्प्रदिश्य एवम्** इति. एवं सम्यक्प्रकारेण अनुभवारूढपर्यन्तं स्वमतम् उपदिश्य स्वयं तिरोदधे बाह्यतः. ननु सर्वरूपो भगवान् सर्वप्रतिकृतिवत्[१] तत् कथं न स्थापितवान्? तथा सति सृष्टिः सुगमा भवति! तत्र आह **अजनः** इति. न जनः अजनः ; जनाद् व्यतिरिक्तः. इदं हि रूपं न विश्वरूपं किन्तु तस्माद् व्यतिरिक्तं तस्य आधिदैविकम्. अतः एतद्ध्यानादेव कार्यं, नतु एतद् दृष्ट्वा[२] कर्तव्यम्, अप्रतिकृतिरूपत्वात्. जनस्तु जनस्य प्रतिकृतिः, नतु अजनः. तर्हि कथम् अयं जनसृष्टिं[३] ज्ञास्यति? तत्र आह **जनानां परमेष्ठिनम्** इति. जायन्ते इति जनाः, तेषां परमो = नियामको भावः, यतः ते जायन्ते तिष्ठन्ति तदधीनाश्च भवन्ति. तस्मिन् पदे तिष्ठतीति **परमेष्ठी** जनोत्पादनाद्यधिकारी. तस्य इदं रूपं ध्यानेन उपयोगि, नतु साक्षात्. तादृशनिर्माणे तु अस्य न सामर्थ्यं, यतः **पश्यत**एव **तस्य (आत्मनः!) तद्रूपं न्यरुणद्** आवृतवान्. ननु परमकृपालुः किमिति तद्रूपम् आवृतवान्? तत्र आह **हरिः** इति, ब्रह्मणो जनानां च सर्वदुःखहर्ता. अतो निर्बन्धनिवृत्त्यर्थम् उपसंहृतवान् इति अर्थः ॥३७॥

ततो यज्जातं तद् आह.

अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः ॥
सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत् ॥३८॥

अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय इति. इन्द्रियाणाम् अर्थः इन्द्रियार्थः, अन्तर्हितः च असौ इन्द्रियार्थः च. भगवान् सर्वेन्द्रियातीतोऽपि स्वेच्छया भक्तेन्द्रियाणाम्

---

१. -प्रकृतिवदिति ख-ग. २. -दृष्ट्येति घ. ३. जनदृष्टिमिति ख.

अर्थरूपो जातः. सर्वेषामपि भगवान् अर्थइति सुतरां भक्ताश्रयाणाम् इन्द्रियाणां – चेतनसृष्टिपक्षे तेषामेव मुक्त्यर्थं, जडपक्षे तदधिष्ठातॄणां कृतार्थत्वाय – भगवान् अर्थो भवति. एवं सति ब्रह्मणः समष्टित्वात् तस्य तदंशानां[१] व्यष्टीनाञ्च निरिन्द्रियत्वं स्याद्, अतः तेषां दुःखनिवृत्तये पूर्वम् **इन्द्रियार्थो**ऽपि सन् इदानीम् **अन्तर्हितः** इन्द्रियाविषयो जातः. एवं भवनं ब्रह्मणः उपकाराय इति ज्ञापयति **हरये** इति. अतएव **विहितो अञ्जलिः** येन, **विशेषेण** [२]**हितो अञ्जलिः** वा यस्य. भगवान् चेद् जीवेभ्यः उपकरोति तदा जीवैः सः उपकारो अञ्जलिना ग्राह्यः. अयमेव जीवानां विहितः, नतु अन्यः कश्चन उपकारः सेवा वा भगवतः कर्तुं शक्या. भगवत्स्वरूपस्य दृष्टत्वाद् इदमेव तेषां बहु यद् भगवता क्रियमाणं न निषेधन्ति[३]. शास्त्रतो विहितोऽपि ब्रह्मणा स्वयमपि अनुष्ठितइति विहितः कृतः इति अर्थः. ततो भगवदुक्तार्थानुसन्धानेन स्वयं **सर्वभूतमयो** जातः, आत्मनोऽपि तथाभावस्य विहितत्वात्. **भूत**शब्देन प्रादुर्भूतमात्रम् उच्यते. भगवदाज्ञया वा यावत् प्रादुर्भूतं तत् सर्वं ब्रह्मणि प्रविष्टम् इति वा. तदनन्तरं **(इदं!) विश्वं (ससर्ज!)** सृष्टवान्. तदा आत्मसृष्टेः वैषम्यं न भविष्यति. अतएव ब्रह्मा[४] **सः पूर्ववदेव** जातः. **(विश्वं!)** जगच्च **पूर्ववदेव** कृतवान्, यथा भगवता सृष्टं यथा वा स्वेनैव सृष्टम् इति ॥३८॥

एवम् उपदेशं कार्यपर्यवसायिनं निरूप्य तस्य उपदेशस्य प्रचारम्[५] आह **प्रजापतिः** इति.

प्रकाशः

अन्तर्हितेन्द्रिय- इत्यत्र. **एवं सति** इति, भगवत्प्रत्यक्षेण इन्द्रियादीनां मोक्षे सति इति अर्थः. एतेन हरित्वमपि उपपादितं ज्ञेयम्. **विहितत्वाद्** इति, भगवत्कृतत्वेन निषेधानर्हत्वाद् इति अर्थः. **तद्** इति, भगवदाज्ञाप्रादुर्भूतम् इति अर्थः. **अतएव** इति, भगवदुक्तानुसन्धानादेव इति अर्थः. **पूर्ववद्** इति पदं संयोगपृथक्त्वेन योज्यम् इति आशयेन आहुः **पूर्वेत्यादि** ॥३८॥

---

१. चेति अधिकम् अत्र ग. २. रचित इति ग.

३. निषेधयन्तीति ख. ४. ब्रह्मसर्ग इति ग. ५. प्रकारमिति ख-घ.

प्रजापतिर्धर्मपतिरेकदा नियमान् यमान् ॥
भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नाऽऽतिष्ठत् स्वार्थकाम्यया ॥३९॥

यथा स्वयं भगवदुपदेशेन कृतार्थः एवं सर्वे कृतार्थाः भवन्तु इति **प्रजानां भद्रम् अन्विच्छन् –** तेषाम् अधिकाराभावम् आशङ्क्य, अधिकारसम्पादने अशक्तिमपि आशङ्क्य, पित्रा कृतं[१] पुत्राणाम्[२] अर्थे भवति इति, ''यस्मिन् जात एताम् इष्टिं निर्वपति'' (तैत्ति.संहि. २।२।५।३) इति श्रुतौ तथा सिद्धत्वात् – स्वयं तदर्थं **नियमान् यमांश्च आतिष्ठत्** कृतवान्. तत्र विहितएव धर्मः पुत्राणाम् अर्थे भवतीति प्रकारान्तरम् आह **प्रजापतिः** इति, यथा पतिकृतं भार्यायै भवति तथा प्रजानामपि भविष्यति इति. ननु एतदपि स्त्रीपरमेव नतु अन्यपरम् इति आशङ्क्य, धर्मनियामकत्वेन यथा धर्मं प्रेरयेत् तथा तत्र गच्छेदिति स्वयं कृत्वा प्रजाभ्यो दत्तवान् इति ज्ञापयितुम् आह **धर्मपतिः** इति. **एकदा** इति निश्चिन्ततादशायां भावार्थज्ञाने[३], प्रचरणकाले[४] वा. **नियमाः** अब्भक्षादयः, **यमाः** अहिंसादयः. इन्द्रिया-ऽन्तःकरणनियमनमेव यम-नियमात्मकम्. यथा इन्द्रियाणि लौकिक-क्रियायां प्रवृत्तानि ततो नियम्य वैदिकक्रियापराणि क्रियन्ते एवम् अन्तःकरणमपि लौकिकज्ञानाद् नियम्य वैदिके ज्ञाने योज्यते. तद् उभयमपि ब्रह्मा प्रजानाम् अर्थे कृतवान् इति अर्थः. ननु एवं ब्रह्मणो निर्बन्धे को हेतुः? तत्र आह **स्वार्थकाम्यया** इति. स्वस्य अर्थः, प्रयोजनम् इति यावत्. ''एतन्मतं मम[५] आतिष्ठ'' (श्लो. ३६) इति भगवदाज्ञया मते अवस्थितिः कर्तव्या, साच प्रचारणादेव भवति, अतः प्रचारणार्थं तथा कृतवान्. किञ्च ''न ... पतिश्च स स्याद्'' (भाग.पुरा. ५।५।१८) इति वाक्यात् प्रजानां कृतार्थत्वाभावे स्वस्य तत्पतित्वम् अनर्थाय इति स्वार्थमेव तथा कृतवान्

प्रकाशः

प्रजापतिः इत्यत्र. **तत्र विहितः** इति, पुत्रोत्पत्तौ विहितः इति अर्थः. **तत्र गच्छेद्** इति, धर्मः तत्र गच्छेद् इति अर्थः ॥३९॥

---

१. कृते इति घ. २. पुत्रार्थे इति ग.

३. -ज्ञानेनेति ख. ४. प्रचारणेति ग. ५. ममेति भगवदिति ग.

इति अर्थः ॥३९॥

तस्य तथा करणं फलपर्यवसायि जातम् इति आह.

तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः ।
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च ॥४०॥

तं नारदः इति. **तं** पूर्वोक्तधर्मवन्तम्. नारं द्यति खण्डयति इति **नारदः**, ददाति इति वा. नराणां = जीवानां[१] समूहो नारम्. नारदो हि सर्वेषां जीवानां जीवभावं दूरीकरोति, नारायणस्य आधारभूतं हृदयं वा सम्पादयति. अतो नारदो [२]अत्र अधिकारी. किञ्च प्रियाय पुत्राय तद्[३] देयमिति नारदो **रिक्थादानां** पुत्राणां मध्ये **प्रियतमो** भवति. रिक्थं = धनम् आददते इति **रिक्थादाः**. रिक्थं हि बहुविधं, तत्र इदं मताख्यं परमं रिक्थम्, अतः प्रियतमएव अर्हति, यथा अयं प्रियतमः तथैव रिक्थम् इति. किञ्च न केवलं प्रीतिविषयः किन्तु **अनुव्रतः** अनु पश्चाद् व्रतं यस्येति सेवकः इति अर्थः. सेवको हि स्वामी यत् करोति तदनुगुणं सर्वं करोति. अतो ब्रह्मणा यत् कर्तव्यं तत्र साधको अयम्. किञ्च **शुश्रूषमाणः** सेवां कुर्वाणः. शुश्रूषाऽभिरताय देयं, तस्यैव च फलति. शुश्रूषाऽपि न स्वेच्छया कर्तव्या किन्तु **शीलेन** यथा स्वामिनः शीलं भवति स्वभावो भवति तद्रोचकेन वा, स्वस्यैव सुस्वभावेन विहितमपि तदेव भवति. तदपि न साहङ्कारेण कर्तव्यं किन्तु **प्रश्रयेण** विनयेन. विनीतस्यैव हि सेवा फलपर्यवायिनी भवति. किञ्च **दमेन** इन्द्रियदमनेन. इन्द्रियलोलुपेन कृतं शङ्कोत्पादनाद् न प्रसादहेतुः भवति. **च**काराद् अन्येऽपि स्तुत्यादयः प्रजापति-तोषहेतवः परिगृह्यन्ते ॥४०॥

प्रकाशः

तं नारदः इत्यत्र. **जीवभावं दूरीकरोति** इति. नरस्य इदं नारं, जीवभावः प्राणधारणप्रयत्नः इति यावत्, तं भगवत्स्वरूपज्ञापनेन निवर्तयति इति अर्थः. **सम्पादयति** इति, नरो जलपिता, तत्सम्बन्धिज्ञानं नारं, तद्दानेन सम्पादयति इति अर्थः ॥४०॥

---

१. जीवानां नास्ति ख. २. नारदोऽधिकारीति घ. ३. चैतदिति ग.

सा सेवा न स्वतो धर्मरूपा नारदेन क्रियते किन्तु इतरशेषा, तद् आह.

मायां विविदिषुर्विष्णोर्मायेशस्य महामुनिः ।।
महाभागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत् ।।४१।।

मायां विविदिषुः इति. **मायेशस्य** इति सम्बन्धिनिर्देशाद् माया जगत्कारणभूता गृह्यते, नतु व्यामोहिका. सहि पूर्वं माययैव तथा भगवान् भवति इति ज्ञातवान्, पूर्वकल्पे तथैव जातत्वात्. एतावानेव अत्र विशेषः — क्वचित् कदाचित् कारणत्वेन[१] तां स्वीकरोति, कदाचिद् न इति. उभयथाऽपि पदार्थे न कोऽपि विशेषः. बुद्धिगम्या च सा भवति, प्रष्टुं[२] च शक्यते ; व्यवहारस्तु केवले ईश्वरे अयुक्तः अशक्यश्च. अतो **विष्णोः** व्यापकस्य त्रितयपरिच्छेद-रहितस्य **मायां** त्रितयरूपां, सर्वत्र करणभूतां[३], स्वांशमायया मोहिकां, दशप्रकार-हेतुभूताञ्च (**विविदिषुः!**). तद् आह **मायेशस्य** इति. मायां नियमयति इति मायायाः करणता. **महामुनिः** इति अत्यन्तं मननशीलः. सहि द्वितीयां मायां जानाति अतः तामपि निवर्तयितुं योग्यो भवतीति तथा उक्तम्. मुनिरेव स्वहितं जानाति, महामुनिस्तु परमहितम्. किञ्च **महाभागवतः** इति, दशविधलीला-श्रवणाधिकारी. अत्र **राजन्** इति सम्बोधनं भवानपि तादृशः इति ज्ञापनार्थम्. **पितरम्** इति विश्वासाय. **परितः तोषणं** फलपर्यवसायि ।।४१।।

प्रकाशः

मायाम् इत्यत्र. **सः हि** इति नारदो हि. **व्यवहारस्तु** इति, ज्ञातृ-ज्ञेयादिरूपः इति अर्थः. **त्रितयपरिच्छेदरहितस्य** इति देश-काल-वस्तुपरिच्छेदरहितस्य. अत्र इदं बोध्यं— ''पराऽस्य शक्तिः'' (श्वेताश्व.उप. ६।८) इत्यत्र स्वाभाविकी शक्तिः ज्ञान-बल-क्रियारूपेण त्रिविधा विविधा श्राविता. तत्र बलरूपा आनन्दस्य, ज्ञानरूपा ज्ञानस्य (/ चिदंशस्य !), क्रियारूपा सदंशस्य. एतस्याः विविधत्वञ्च त्रिगुणायाः एतदंशत्वेन अविद्या-निद्रादीनाञ्च एतदंशत्वेन इति. अतः सर्वं सूपपन्नम् इति ।।४१।।

---

१. करणत्वेन इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा. २. द्रष्टुमिति ख.

३. कारणभूतामिति ख.

ततः किम् अतः आह.

तुष्टं निशम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम् ।।
देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान् यन्माऽनुपृच्छति ।।४२।।

तुष्टं निशम्य[१] इति. **निशम्य**[१] ज्ञात्वा. शमस्य ज्ञानपरत्वम् उक्तं, तस्य उत्कृष्टत्वं सम्यग्ज्ञाने भवति. प्रश्नयोग्यतार्थम् आह **पितरम्** इति. न केवलं स्वार्थं किन्तु सर्वार्थम् इति आह **लोकानां प्रपितामहम्** इति. "अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेण" (भाग.पुरा. ५।९।३). अतः "पिता मां चेत् शिक्षयेद्, मया पुत्रप्रायाः लोकाः शिक्षणीयाः" इति वक्ष्यति इत्यपि ज्ञातवान्. **देवर्षि**त्वाद् देवानामपि उपास्यं मन्त्रं यः पश्यति सः ब्रह्मणो हृदयं जानाति इति अविवादम्. **परितः प्रश्नः** ससाधनः. यथा त्वया पूर्वपक्षेण पृष्टं तथा तेनाऽपि पृष्टम् इति आह **भवान् यद् मा अनुपृच्छति** इति ।।४२।।

तदा तस्य अर्थत्रयं पूर्वमेव ज्ञातमिति सर्वसन्देहनिवारकं तृतीयमेव (श्लो. ३४) उक्तवान्. तद् आह.

प्रकाशः

तस्मा इदम् इत्यत्र. **अर्थत्रयम्** इति, ज्ञानं वैराग्यं विचारश्च इति अर्थत्रयम् इति अर्थः. **तृतीयम्** इति, "यथा महान्ति भूतानि" (श्लो. ३४) इति पद्यप्रतिपाद्यं भक्तिरूपम् इति अर्थः ।।४३।।

लेखः

तुष्टम् इत्यत्र. **अर्थत्रयम्** इति. स्वात्म-भगवद्रूपं प्रमेयं, वैराग्यात्मकं प्रमाणम्, "एतावदेव जिज्ञास्यम्" (श्लो. ३५) इति तुरीयश्लोकोक्ताऽन्वय-व्यतिरेकश्च इति त्रयमपि नारदेन **पूर्वमेव ज्ञातम्** अस्ति **इति** "यथा महान्ति" इति तृतीयश्लोकोक्तं सर्गादि-दशलीलात्मकं विषयम् **आह** इति अर्थः ।।४३।।

।। इति द्वितीये नवमाध्यायविवरणं सम्पूर्णम् ।।

(।। इति द्वितीयस्कन्धलेखः ।।)

---

१. निशाम्येति ख.

तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम् ॥
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत् ॥४३॥

दशलक्षणम् इति. दश लक्षणानि अन्यानि पुराणान्तरे भवन्ति, तानि लोकप्रसिद्धानि, तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **भागवतम्** इति. **भगवता प्रोक्तं,** भगवत्स्वरूपं[१] प्रतिपाद्यमिति. अनेन प्रथमसिद्धान्तोऽपि (श्लो. ३२) कथितः. **पुराणम्** इति लोकप्रतीतिसिद्धत्वाद् द्वितीयोऽपि (श्लो. ३३). **इदम्** इति स्वप्रतीतिसिद्धम् अङ्गुल्या निर्दिशति, अनेन चतुर्थोऽपि (श्लो. ३५) कथितः. अनेन चतुःश्लोकोक्तं सिद्धान्तचतुष्टयमपि कथितवान्. प्रामाण्यार्थं परम्पराम् आह **प्रोक्तं भगवता** इति. ननु एतद् गूढं परमसमाधिगम्यं कथम् उक्तवान्? [२]अतः आह **प्रीतः** इति. पुत्रत्वाद् आवश्यकमपि. ननु मायाज्ञानार्थं सः प्रवृत्तो; मायिकीं भगवल्लीलां तस्मै अनुक्त्वा किमिति सिद्धान्तं कथयति? तत्र आह **पुत्राय** इति. अमार्गेणाऽपि गच्छन् पुत्रो निवार्यते, मार्गएव उपदिश्यते इति. किञ्च सर्वाण्येव भूतानि अयं करोति अतः सर्वार्थम् एतद्द्वारा प्रकाशितवान् इति आह **भूतकृद्** इति ॥४३॥

ब्रह्मणो अभिप्रेतमपि[३] कृतवान् इति आह **नारदः प्राह** इति.

नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप ॥
ध्यायते परमं ब्रह्म व्यासायाऽमिततेजसे ॥४४॥

व्यासस्य [४]तादृशश्रवण-योग्यतायै चत्वारि विशेषणानि. तत्र प्रथमं चतुर्थयोग्यता. **मुनिर्हि** स्वस्वरूपं भगवत्त्वेन ध्यायति. दशलीला-परिज्ञानार्थं **परब्रह्म ध्यायते** इति. यस्तु पुरुषोत्तमं ध्यायति सहि तस्य दशविधां लीलां ज्ञातुं शक्नोति. **व्यासाय** इति. वेदविस्तार-कर्तृत्वेन सर्वबुद्ध्यनुरोधित्वाद् व्यामोहिकां मायां ज्ञातुं शक्तः. **अमिततेजसे** इति भगवत्स्वरूपं ज्ञातुं शक्तः. अलौकिकं हि तेजो ब्रह्मज्ञाने प्रयोजकं भवति, ब्रह्मज्ञानसाध्यं हि तत्. तथाभूतम् अत्र भगवज्ज्ञाने उपयुज्यते ॥४४॥

---

१. -स्वरूपप्रतिपाद्यमिति ख. २. ततः इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.
३. -मेवेति ख-ग. ४. तादृशलीलाश्रवणेति ग.

एवं परम्पराम् उक्त्वा सामान्यतः सर्वदूषणानि परिहृत्य प्रश्नत्वेन पृष्टान् अर्थान् निरूपयितुम् आह.

यदुताऽहं त्वया पृष्टो वैराजात् पुरुषादिदम् ॥
यथाऽऽसीत् तदुपाख्यास्ये प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः ॥४५॥

॥ इति श्रीभागवत-द्वितीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥

यद् उत अहम् इति. **उत**ेति दूषणव्यतिरेकेण केवलं प्रश्नरूपेणाऽपि पृष्टम्. तदपि पृष्टे मया वक्तव्यम् इति **तद् उपाख्यास्ये.** तत्र प्रश्ने सामान्य-विशेषभेदेन रूपद्वयम्. तत्र सामान्यं रूपं **वैराजात् पुरुषात् (इदं यथा आसीत्!)** कथम् एतद् जातम् इति. विशेषस्तु तत्तद्भेदेन, तद् आह **प्रश्नान् अन्यान् च** इति. **अन्यान्** इत्यनेन तदुपयोगिनोऽपि ये अन्ये अपृष्टाः सर्वम् एतत् च इति **च**कारेण तेऽपि उच्यन्ते. **च**कारेण ततोऽपि अन्ये अन्यैरपि कृताः. **कृत्स्नशः** इति एकैकः प्रश्नो बहुधा निरूप्यते इति उक्तम् ॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे नवमो अध्यायः

प्रकाशः

अथ पूर्वपक्षसङ्ग्रहः. तत्र ''ब्रह्मणा नोदितः'' (भाग.पुरा. २।८।१) इति सार्धपद्यस्थेन केषाञ्चिद् अधिकारः केषाञ्चिद् न इति पक्षासम्भावनागर्भेण ''सर्वे अधिकारिणः'' इति वाक्यविरोधगर्भेण च राजप्रश्नेन ''श्रोतव्यादि'' (भाग.पुरा. २।१।१) इति[१] पद्यचतुष्कस्थं साधारणाधिकारनिवारण-पूर्वकाऽभयेच्छूपायकथनरूपं प्रमेयम् आक्षिप्तम्. तत्र उत्तरं ''नारदः प्राह मुनये'' (श्लो. ४४) इति पद्येन शुकैः उक्तम्. तेन नानाप्रकारक-कथनोपदेशोऽपि तादृगधिकारिणं प्रत्येव इति फलति, अन्यथा नारदेन सर्वेभ्यः उक्तं स्यात्. किञ्च ''सर्वे अधिकारिणः'' इति वाक्ये विष्णुभक्त्यधिकारो अतिदिष्टः. सच ''देवो असुरो मनुष्यो वा'' (भाग.पुरा. ७।७।५०) इति वाक्येन सात्विक-राजसयोः मिश्रेषु च नियम्यते इति ज्ञायते, अन्यथा

---

१. इति इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

प्रकाशः

तामसाअपि उक्ताः स्युः. एवं सति तामसातिरिक्तेषु सत्यपि अधिकारे भजनाऽदर्शनाद् लौकिकरागादेः प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्. तत् च फलप्रत्यनीकत्वाद् अधिकाराभावएव पर्यवस्यति. तस्माद् न शुक-ब्रह्मवाक्ययोः विरोधः इति. एवं स्वार्थं मनोनिवेशनोपायप्रश्ननिरूपक-चतुष्टयश्लोकमध्ये "हरेः अद्भुतवीर्य-स्य" (भाग.पुरा. २।८।२) इति सार्धपद्यस्थेन "तस्माद् भारत" (भाग.पुरा. २।१।५) इति उपक्रम्य अध्यायद्वयेन स्थूल-सूक्ष्माख्य-रूपद्वयनिरूपणे अन्तरा "अथो अनन्तस्य मुखानलेन" (भाग.पुरा. २।२।२६) इत्यनेन प्रलयः उक्तः. सच उत्पन्नस्यैव सम्भवति, "जातस्य हि" (भग.गीता २।२७) इति वाक्यात्. अतः तत्कर्ता भगवान्, सर्वात्मकत्वन्तु औपचारिकमिति भगवद्वीर्यमेव श्रोतव्यम् इति आशयेन उत्पत्त्यादिकर्तृत्वे पृष्टे श्रीशुकैः नारद-ब्रह्मसंवादमुखेन सर्वात्मकत्वं मुख्यवृत्त्या - सर्वकर्तृत्वञ्च[१] मायया इति उक्तम्. एवं द्वैते सति "यदपि उक्तम्" इत्यारभ्य "जन्मान्तरे तु अन्यद्" (सुबो. २।८।२६) इत्यन्तया सुबोधिन्युक्तदिशा भगवतः केवलत्वानुपपत्तिगर्भेण राजप्रश्नेन आद्याध्यायद्वयस्थं प्रमेयम् आक्षिप्तम्. तत्र उत्तरं नारद-ब्रह्मणोः ब्रह्म-भगवतोः संवादमुखेन पूर्वोक्तसमर्थनाय दुर्ज्ञेयत्वज्ञापनाय च चतुःश्लोक्या माया-वीर्यादीनां[२] भगवत्त्वप्रतिपादनाद् उक्तम् इति दिक्. "शृण्वतः" (भाग.पुरा. २।८।४) इत्यादि श्लोकत्रयस्थया भगवत्कर्तृक-बहुकर्तव्यरूपया प्रक्रियया "किं प्रमत्तस्य" (भाग.पुरा. २।१।१२) इति पद्यत्रयस्थं प्रमेयम् आक्षिप्तम्. तत्र उत्तरं "यर्हि वाव महिम्नि स्वे" (भाग.पुरा. २।९।३) इति पद्येन उच्यते. यदैव रमते भगवति तदैव मायां त्यक्त्वा उदास्ते इति न कालविलम्बो जीवकृतः किन्तु भगवदिच्छयैव तथा इति भगवति रतेः जातत्वाद् न दोषः इति दिक् ॥४५॥

॥ इति श्रीद्वितीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे नवमाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

१. सर्वाकर्तृत्वञ्च इति पाठभेदः. २. मायादीनाम् इति पाठभेदः.

॥ अथ दशमोऽध्यायः ॥

इत्याक्षेपसमाधाने निरूप्य हरि-जीवयोः ॥
उपपत्त्या तयोरेव रूपदेहाविहोदितौ ॥(१)॥
दशधा ज्ञायते रूपं हरेरन्यत् त्रिधा मतम् ॥
[1]आध्यात्मिकादिभेदेन गुणतः कर्मतोऽपि हि ॥(२)॥

एवं पूर्वाध्याये उपदेशे पदार्थचतुष्टयं निरूप्य, तृतीयव्यतिरिक्तानां पक्षाणां श्रुत्यादिषु प्रसिद्धत्वात् [2]तद्विस्तारम् अनुक्त्वा, एकस्मिन् पदार्थे दश लीलाः अलौकिकाः इति ताः स्वरूपतो लक्षणतश्च निरूपयति. यद्यपि ते लौकिकाः दश पदार्थाः बहिर्मुखतया पुराणान्तरेषु सिद्धाः तथापि अत्र भागवते ते न भवन्ति किन्तु एते इति आह.

॥ श्रीशुकः उवाच ॥

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ॥
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥१॥

प्रकाशः

अथ दशमाध्यायविवरणं चिकीर्षवः पूर्वाध्यायसङ्गतिं वक्तुं तदर्थम् अनुवदन्तः प्रस्तुतार्थम् आहुः **इति** इत्यादि. **इति** प्रकारे. **इह** अस्मिन् अध्याये विस्तारेण **उदितौ.** तथाच पूर्वोत्तरयोः सामान्य-विशेषभावः सङ्गतिः इति अर्थः. तं विशेषमेव स्फुटम् आहुः **दशधा** इत्यादि. यत् पूर्वाध्याये ''यथा महान्ति'' (भाग.पुरा. २।९।३४) इत्यनेन सूत्रेणेव **हरेः रूपं** निरूपितं तद् **गुणतो दशधा.** तत्र हेतुः **ज्ञायते** इति. उद्देश-लक्षणाभ्यां यतः तथा ज्ञायते अतः तथा इति अर्थः. **अन्यद्** जीवशरीरम् **आध्यात्मिकादिभेदेन कर्मतः त्रिधा** इति अर्थः (१-२).

अत्र सर्गः इत्यत्र. उद्देशाध्याये अदीनत्वादिभिः ''यथा महान्ति'' (भाग.पुरा. २।९।३४) इत्यत्र प्रवेशाऽप्रवेशातिरेकैः (च!) परामृष्टा या दशलीलाः प्रत्येकपदार्थे ''सत्कारणम्'' (सुबो. २।९।३५) इत्यादिभिः

---

१. अध्यात्मिकेति क-ग-घ. २. तत्तद्विस्तारमिति ग.

अत्र इति. **अत्र** भागवते आश्रयान्ताः सर्गादयो दश पदार्थाः निरूप्यन्ते. **अत्र** सिद्धान्ते वा. एतेषां दशानाम् अर्थः तत्तत्स्कन्धे विस्तरेण कथयिष्यते[१] तथापि सामान्यतो निरूप्यन्ते[२]. तत्र अशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीर-स्वीकारः **सर्गः**. पुरुषाद् ब्रह्मादीनाम् उत्पत्तिः **विसर्गः**. उत्पन्नानां

प्रकाशः

परिचायिताः ताएव सर्गादिरूपेण अत्र उद्देशपूर्वकं लक्ष्यते इति ज्ञापयितुं सामान्यतः तत्स्वरूपं वदन्तः[३] आहुः **एतेषाम्** इत्यादि. तत्र नवसु लीलासु गुणसम्बन्धाद् एकैकस्मिन् त्रिके यथाक्रमम् उत्पादकत्व-स्थापकत्व-प्रलापकत्वानाम् अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, पूर्वञ्च त्रेधाप्रवेश-द्वेधाप्रवेश-तदुभयव्यतिरेकैः दशविधत्वस्य उक्तत्वाद् अन्तरायेण तदनुसन्धानराहित्ये बोधदौर्घट्याद्यापत्तौ वैशद्यार्थं व्याकुर्वते **तत्र** इत्यादि **निर्वाहकञ्च** इत्याद्यन्तम्.

तदर्थस्तु एवं तद्दयया प्रतिभाति— सर्गो हि भगवतः अदीनत्वरूपो धर्मः, अदीनत्वञ्च यथासुखं वस्तुरूपेण स्वप्रादुर्भावात्. एवं सति तादृशसामर्थ्यमेव अदीनत्वम् इति फलति. प्रकृते च **अशरीरस्य विष्णोः** नित्यव्यापकस्य पुरुषोत्तमस्य **पुरुषशरीरस्वीकारः** स्वक्रीडार्थम् अनित्याऽव्यापकस्वरूप-ग्रहणम् उक्तसामर्थ्यात्मकं भवति, "विशुद्धं सत्त्वम् ऊर्जितम्" (भाग.पुरा. १।३।३) इति वाक्यात्, सदंशात्मकस्य तस्य शक्तिभूतक्रियायाः पुरुषोत्तमे गतत्वेन अव्यक्ततापन्नत्वात्. अतएव "एतन्नानावताराणां निधानं बीजम् अव्ययम्" (भाग.पुरा. १।३।५) इति वाक्याद् जगद्बीजत्वम्. नहि बीजे सन्नपि तरुः प्रतीयते. एवं सति प्रत्येकपदार्थे घटादिरूपे कारणत्वेन अव्यक्तसद्रूपेण या भगवत्स्थितिः सा सर्गो भवति. अस्याः च स्वसमवायरूपत्वाद्[४] उत्पत्तिरूपत्वम् अप्रवेशरूपत्वञ्च स्पष्टम्. अयञ्च परिणामः स्वभावकार्यम्.

एवं विसर्गोपि लीला = अनायासेन क्रियमाणं कर्म. सच **पुरुषाद् ब्रह्माद्युत्पत्तिः** स्पष्टैव. इदमेव सृष्टिप्रक्रियायां "पश्चाद्" इति आरभ्य

१. निरूप्यते इति क. निरूपयिष्यते इति ख. २. निरूप्यते इति घ.

३. वदन्तम् इति मा.पाठे - सम्पा.

४. स्वसत्तासमवायरूपत्वावेशरूपत्वे स्पष्टम् इति पाठः.

तत्तन्मर्यादया पालनं **स्थानम्**. स्थितानाम् [१]अभिवृद्धिः **पोषणम्**. पुष्टानाम् आचारः **ऊतिः**[२]. तत्रापि सदाचारो **मन्वन्तरम्**. तत्रापि विष्णुभक्तिः **ईशानुकथा.** भक्तानां प्रपञ्चाभावो **निरोधः**. निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो **मुक्तिः**. मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेण अवस्थानम् **आश्रयः** इति. प्रत्येकपदार्थे तु सर्गः कारणत्वेन तत्र भगवत्स्थितिः. विसर्गः कार्यत्वेन (परिणतेः!) पूर्वमेव तत्र विद्यमानत्वम्. पटे तन्तुषु सिद्धे हि तन्तवः पटे प्रतीयन्ते. स्थानं सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपेण मूलरूपेण च तत्तन्मर्यादारूपम्. पुष्टिः

प्रकाशः

"अभिव्यज्यते" (सुबो. श्लो. १०) इत्यन्तेन उक्तम्. इदञ्च जीवानां देहसम्बन्धरूपं जन्मकर्मणः कार्यम्. एवं सति प्रत्येकपदार्थे कार्यत्वेन पूर्वमेव विद्यमानत्वं फलानुमेय-कार्यरूपतया विद्यमानत्वं तच्च विशिष्टसर्गरूपत्वाद् विसर्गो भवति. तत्र दृष्टान्तः **पटे** इत्यादि. **पटे** कार्ये **तन्तुषु** पटत्वेन अव्यक्तेषु **सिद्धे** आतानदशायाम् ईषद्व्यक्ते (**हि!**) यतो हेतोः **तन्तवो** अवयवरूपतया **पटे प्रतीयन्ते** व्यक्ताः भवन्तीति ईषद्व्यक्तत्वदशा विसर्गः इति अर्थः. तथाच तएव तदाकारेण परिणमन्तीति अप्रवेशान्तररूपत्वम् आद्यक्षणसम्बन्धाद् उत्पत्तिरूपत्वञ्च स्पष्टम्. चेतनदेहेषु तु अस्यामेव दशायां जीवसमागमइति जडव्यक्ति-चेतनसमागमयोः अन्यतरं क्वचित्समुदायोऽपि विसर्गः इति फलति.

एवं तत्तन्मर्यादया पालनरूपस्य स्थानस्य हसितत्वम्. "अदीनलीला-हसित-" (भाग.पुरा. २।२।१२) इत्यस्य विमर्षे "परमार्थरूपे का मर्यादा" (तत्रत्य सुबो.) इत्यन्तेन स्वयमेव स्पष्टीकृतम्. प्रत्येकपदार्थे च **सर्ववस्तुषु** घटादिषु **वस्तुस्वरूपेण मूलरूपेण** वस्तुस्वरूपात्मकमेव यत् मूलरूपं कारणप्राग्रूपम् तेन या **तत्तन्मर्यादा** वस्तुस्वरूपमर्यादा, यथा कार्पासः पटः इति, सा स्थानम्. अत्र उत्पत्तेः चिरकालस्थायित्वात् पालनमपि अभिप्रेतमेव. इयञ्च अप्रवेशरूपा स्पष्टैव ; नहि मूलरूपमर्यादा बहिष्ठे आयाति, नैसर्गिकत्वात्. एतस्य स्थितिरूपत्वेऽपि उत्पत्तिरूपत्वं मूलरूपोत्पन्नता-

---

१. -मपीति ख. २. ऊतीरिति ग-घ.

कार्यसिद्ध्यर्थं सर्वसमर्थस्य तत्र प्रवेशः. ब्रह्मज्ञानिनः प्रतीतिसिद्ध्यर्थं तत्र तादृशलीलाप्रदर्शनम् ऊतिः. एवं पञ्चधा भगवदन्वयेन सर्ववस्तुषु भगवल्लीला. व्यतिरेकेणाऽपि पञ्चधा. तत्र कारणाद् भिन्नरूपेण घटरूप-भिन्नभावेन[१]

प्रकाशः

स्मारकत्वात्.

एवं [२]स्थित्यभिवृद्धिरूपस्य पोषणस्य ईक्षणरूपत्वं प्रागेव स्फुटीकृतम्. प्रत्येकपदार्थे तु **कार्यसिद्ध्यर्थं** जलाहरण-प्रावरणादिसिद्ध्यर्थं **सर्वसमर्थस्य तत्र** यो अवयवरूपेण तन्तुनामिव **प्रवेशः** सः कार्याकृतिदृढीकरणरूपः — कयाचिद् आनुपूर्व्या अभिवृद्धं कारणमेव हि कार्यरूपं भवतीति — पोषणरूपत्वम्. अस्य च कारणप्रवेशरूपत्वं, कारणावस्थातो अतिरिक्तरूपत्वञ्च, अनित्यस्य पोषणेनैव स्थितिः इति स्थापकत्वञ्च स्फुटमेव.

एवं भ्रूरूपायाः तदुल्लासरूपायाः वा ऊतेः आचाररूपत्वं पूर्वमेव स्फुटीकृतम्. प्रत्येकपदार्थे च **ब्रह्मज्ञानिनः प्रतीतिसिद्ध्यर्थं** घटरूपो भगवानेव इत्यादि प्रतीतिसिद्ध्यर्थं **तत्र** च घटादौ **तादृशमेव लीलाप्रदर्शनं** भगवत्त्वावबोधक-घटीयकार्यप्रत्यायनम् ऊतिः. तयैव च अवयविनि 'घटादि'शब्दप्रयोगः. तेषां तादृशलीलाप्रदर्शनाभावे ब्रह्मविदां घट-पटादिप्रयोगो बाध्येत[३] अतएव "न सूरयो हि" (भाग.पुरा. ५।११।१) इति वाक्ये 'एतम्' इति पदेन अविद्वद्वद्-व्यवहारस्यैव अप्रामाणिकत्वम् उक्तं ज्ञेयम्. एवं विविच्य अन्वयलीलाम् उपसंहरन्ति **एवम्** इत्यादि.

व्यतिरेकप्रकारान् आहुः **व्यतीत्**यादि. तत्र भङ्गरूपस्य भ्रूरूपस्य वा सद्धर्मस्य मन्वन्तराख्यस्य जगदुत्तम्भकत्वात् स्थापकत्वं स्पष्टम्. प्रत्येकपदार्थे च **कारणाद्** मृदादेः **भिन्नरूपं** यत् "पुरुषावयवैः एते" (भाग.पुरा. २।६।२६) इति वाक्यात् पुरुषावयवरूपं, तेन रूपेण यो **घटरूप-धर्मभावः** घटादिरूपत्वं, तेन रूपेण **सतां** वैदिकानां **धर्महेतुः** संस्कारद्वारेण अदृष्टजनकः

---

१. -रूपधर्मभावेनेति क-प्रकाशे - सम्पा.

२. स्थिताभिवृद्धि- इति मा.पाठे - सम्पा.

३. बोध्येत इति पाठः नूतनपुस्तके मा.पाठे च - सम्पा.

सतां धर्महेतुः प्रापञ्चिकोऽपि विधिविषयो भवतीति स्वरूपाद् व्यतिरिक्तो मन्वन्तराणि. सएव पुनः भक्तिविषयत्वेन भगवत्सेवैकरूपेण धर्मेण लौकिक-वैदिक-व्यतिरिक्तताम् आपद्यतइति ईशानुकथारूपो भवति. सएव पुनः लौकिक-वैदिकभक्तानां स्वरूपेच्छूनां परित्यागरूपेण पूर्वोक्तान् निरुणद्धि इति निरोधरूपो भवति. तादृशोऽपि सन् आत्मानं परित्याजयित्वा तानपि

प्रकाशः

पूज्यदेवताप्रीतिजनको वा **प्रापञ्चिकोऽपि** घटादिः **विधिविषयो** द्रोण-कलशादि-विधिगोचरो **भवति इति स्वरूपात्** प्रापञ्चिकाद् **व्यतिरिक्तो** वैदिकरूपो **मन्वन्तराणि.**

एवम् उल्लासरूपायाः भङ्गरूपायाः वा ईशानुकथायाः मर्यादाभक्तिरूपत्वेन संसारनाशकत्वात् प्रलयरूपत्वम्. प्रत्येकपदार्थे च **सएव** लौकिकएव घटादिः **पुनः** वैदिकरूपो वा सन् **भक्तिविषयत्वेन** इत्यादि स्पष्टम्. एवं संसूचनरूपस्य निरोधस्य प्रपञ्चाभावरूपत्वेन सङ्घातप्रलयरूपत्वं स्पष्टम्. अतएव अन्तर्गृहगतानां सङ्घातत्यागो, रासमण्डल-मण्डनानाम् अन्येषाञ्च वह्न्ययोगोलकवत् प्रपञ्चकथनमपि सङ्गच्छते. प्रत्येकपदार्थे च **सएव** पूर्वोक्तो घटादिः **पुनः** प्रकारान्तरेण **लौकिक-वैदिकभक्तानां स्वरूपेच्छूनां** भगवद्दर्शनेच्छूनां भगवदेकनिष्ठानां वा **परित्यागरूपेण** परित्यज्यते यो असौ परित्यागः, त्यागविषयः इति यावत्, तेन रूपेण **पूर्वोक्तान्** लौकिक-वैदिक-भगवदीयत्वरूपान् धर्मान् **निरुणद्धि** नितराम् आवृणोति विस्मारयति **इति निरोधरूपः** आवरकरूपो **भवति** इति.

एवं भूरिरूपायाः मुक्तेः स्वरूपलाभरूपत्वम्. 'स्वस्य' आध्यात्मिकादि-भावातिरिक्तस्य "प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः" (त.दी.नि. २।१०२) इत्याद्याकारकस्य[१] लीलाक्षमान्तरङ्ग'रूपस्य' यो 'लाभः' प्राप्तिः तद्रूपत्वं स्पष्टम्. प्रत्येकपदार्थे च **तादृशोऽपि** पूर्वोक्त-रूपत्रयावरकरूपोऽपि **सन् आत्मानम्** आवरकरूपं **परित्याजयित्वा तानपि** विस्मृतप्रपञ्चानपि

---

१. इत्याकारकस्य इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

तादृश-स्वस्मात्[१] परित्याजनरूपो भवति इति मुक्तिरूपो भवति. घटादिषु वा भगवतो असङ्गोदासीनरूपता मुक्तिः. आश्रयस्तु नवप्रकाराणामपि स्वरूपाणाम् आधारो भवतीति. एतदज्ञाने सर्वाण्येव शास्त्राणि व्याकुलानि भवन्ति. अतो भागवतशास्त्रं सर्वोद्धारकं सर्वनिर्वाहकञ्च ॥१॥

ननु अत्र दश पदार्थाः कथं निरूप्यन्ते? शास्त्रभेदप्रसङ्गाद् – एकस्मिन् शास्त्रे हि एकं प्रतिपाद्यं, नतु समप्रधानतया बहूनि प्रतिपाद्यानि भवन्ति – इति (/इत्यतः!) आह.

प्रकाशः

तादृशः तस्माद् विस्मारकरूपात् स्वस्मात् **परित्याजनरूपो भवति** अतिरिक्तत्यागरूपो भवति **इति** हेतोः **मुक्तिरूपो भवति.** अत्र स्वरूपलाभरूपो = मदीयम् इदम् इति रूपो भवति इति इदं मुक्तिरूपम् इति अर्थः. तथाच भगवल्लीलोपयोगि स्वत्वम्[२] इदं पूर्वस्माद् अतिरिक्तम् इति ध्येयम्. एतदेव मुक्तिरूपं ''ममोत्तम-'' (भाग.पुरा. ६।११।२७) इत्यत्र श्रीप्रभुचरणैः प्रपञ्चितं ''पुष्टिस्तु तद्विपरीता'' (वृत्रा.चतुःश्लोकी-विवृति) इत्यनेन व्याख्यानेन इति दिक्. ननु इदं पुष्टिमार्गीय-मुक्तिलक्षणं मर्यादायाम् अनुपपन्नम् इत्यतः तदपि आहुः **घटादिषु** इत्यादि. तथाच उभयधर्मसत्त्वाद् न दोषः इति भावः.

आश्रयरूपन्तु सर्वत्र साधारणमेवेति न विविच्यते[३]. ननु अस्मिन् शास्त्रे किमिति एवं निरूपणं? तत्र आहुः **एतदज्ञाने** इत्यादि. **एतदज्ञाने** उक्तप्रकारक-स्वरूपाज्ञाने **व्याकुलानि** परस्परविरोध-प्रतिसन्धानेन बाधित-विषयत्व-ज्ञानविषयाणि. तथाच सर्वशास्त्रस्थापनाय एवं निरूपणम् इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** सर्वत्र भगवदात्मकत्व-तरतमत्वयोः मुख्यवृत्त्या तत्सङ्कोचेन च यथायथं बोधनात् ॥१॥

---

१. तादृशस्तस्मादिति क-प्रकाशे - सम्पा.

२. सत्त्वम् इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. शरीरम् इति कि.पाठे. मा.पाठो गृहीतः - सम्पा.

३. विवेच्यते इति मा.पाठे - सम्पा.

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ॥
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनाऽर्थेन चाञ्जसा ॥२॥

दशमस्य विशुद्ध्यर्थम् इति. **दशमो** अत्र आश्रयः, तस्य विशेषेण शुद्धिः. सर्वत्रैव हि पदार्थे दश धर्माः सन्ति भगवद्रूपाः. तत्र एको ग्राह्यो, अन्ये तु त्याज्याः. तत्र ते यदि न निरूपिताः भवन्ति, ग्राह्य-त्याज्यविवेको न भवति. अतो यावद्दूरं गुणसम्बन्धः सः त्याज्यः, भगवदाश्रये व्यभिचारापत्तेः, अनन्याश्रयभङ्गश्च. ततः उत्तरोत्तराः[१] एते धर्माः भवन्तीति यः[२] पर्यवसाने अवशिष्यते सः ग्राह्यः इति तुषादिवद् आश्रयावरकत्वेन एते धर्माः प्रतिपाद्यन्ते. अतः एतैः निरूपितैः आश्रयः पदार्थान्तरात् स्पष्टः (/अस्पृष्टः!) शुद्धो निरूपितो भवति. अतः एतेषामपि स्वरूपज्ञानार्थं लक्षणानि निरूपणीयानि. तद् आह **लक्षणम्** इति. यथा गोः सास्ना असाधारणो धर्मः तथा **(नवानां!)** सर्गादीनां **लक्षणम् (इह!)** अत्र उच्यते, नतु स्वरूपम्. स्वरूपन्तु अग्रे वक्ष्यामो अग्रिमस्कन्धैः. तेषां लक्षणम् एतद् इत्यत्र प्रमाणम् आह **वर्णयन्ति** इति. (ननु!) तेषां भगवत्त्वात् तल्लक्षणम् अल्पेन वक्तुम् अशक्यम्! इत्यतः आह **महात्मानः** इति. महान् आत्मा = अन्तःकरणं येषाम्. अन्तःकरणे भगवच्चरणारविन्द-विक्रमो यदा तदा महत्त्वम्. तदैव हि भगवत्स्वरूपाणि ज्ञातानि भवन्ति. ननु भगवान् प्रमेयं, तत्सामर्थ्येन ज्ञातं प्रमेयबलमेव भवति, नतु प्रमाणस्य, इत्यतः आह **श्रुतेन अर्थेन** इति. यः सर्वत्र वेदादौ पदार्थः श्रुतः सः सर्वोऽपि भगवदीयइति, ''सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति'' (कठोप. १।२।१५) इति वाक्यात्, ''शतं

प्रकाशः

दशमस्य इत्यत्र. **वर्णयन्ति** इति. तथाच आप्तवाक्यम् अत्र प्रमाणम् इति अर्थः. **इति** इति एवंप्रकारकं ज्ञानम्. तथाच श्रुत्यविरुद्धवादित्वात् ते आप्ताः इति अर्थः. **वेदाः** वेदाः ज्ञानानि वा. ननु अनया श्रुत्या सर्वेषां वेदानां भगवद्बोधकत्वमात्रम् उच्यते, तावता विवक्षितप्रकारेण आश्रयः एवं बोध्यते इति कथं निश्चेयम् इति आकाङ्क्षायां श्रुत्यन्तरम् आहुः

---

१. उत्तरोत्तरमेत इति ख. २. यत्पर्यवसान इति ख.

शुक्राणि यत्र एकं भवन्ति ... सर्वे होतारो यत्र एकं भवन्ति" (तैत्ति.आर. ३।११।१) इति श्रुतेः. अनुग्राहक-प्रमाण-प्रमेयानाम् एकपर्यवसान-विधानाद् यत्र त्रयोऽपि एते पर्यवस्यन्ति सः आश्रयः. एते त्रयो अन्योन्यप्रवेशाद् नव सर्गादीनां लक्षणरूपाः भवन्ति. तत्र सर्गादिषु[१] प्रमेयं लक्षणं कारणप्राधान्यात्, पुष्ट्यादिषु प्रमाणम्, ईशानुकथादिषु ज्योतींषि इति. अर्थाद् एते उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयात्मानो भवन्ति. उत्पत्तिर्हि कारणतः कार्यतः आधारतश्च.

प्रकाशः

शतम् इत्यादि. **शतम्** आनन्त्यवाचकम्. अनन्तानि **शुक्राणि** बीजानि **यत्र** ब्रह्मणि **एकं भवन्ति** अभेदं प्राप्नुवन्ति. **होतारो** जीवाः. अस्याः श्रुतेः तात्पर्यम् आहुः **अनुग्राहके**त्यादि. तथाच एतच्छ्रुतौ पर्यवसाने सर्वेषां ब्रह्मणा ऐक्यबोधनात् सर्वाऽभेदो यत्र इत्यनेन आश्रयत्वञ्च ब्रह्मणो बोध्यते अतः तथा निश्चेयम् इति अर्थः. ननु श्रुतौ तु त्रयाणाम् एकीभावो निरूप्यते अतो नवानाम् अनिरूपणात् कथं तेषां वेदाऽविरुद्धवादित्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **एते त्रयः** इत्यादि. तथाच यथा त्रयो गुणाः अन्योन्यप्रवेशाद् नव तथा एतेऽपीति त्रयाणां नवसु प्रवेशेन ऐकार्थ्याद् दशमस्य च उक्तत्वाद् वेदाऽविरुद्धवादित्वम् इति अर्थः. तदेव विशदयन्ति **तत्र** इत्यादि. **कारणप्राधान्याद्** इति 'शुक्र'पदोक्त-बीजप्राधान्यात्. **प्रमाणम्** इति, **लक्षणम्** इति अनुवर्तते ; 'वेद'शब्दोक्त-ज्ञानप्राधान्याद् इति विशेषो अर्थाद् ज्ञेयः. **ज्योतींषि** इत्यत्रापि **लक्षणम्** इति अनुवर्तते, 'होतृ'पदोक्तानुग्राहक-प्राधान्याद् इति च शेषः. एतेषाम् एतेषु प्राधान्ये बीजम् आहुः **अर्थाद्** इत्यादि. "तज्जलान्" (छान्दो.उप. ३।१४।१) इति "यतो वा इमानि" (तैत्ति.उप. ३।१) इति श्रुतेः "जन्मादि" सूत्राच्च (ब्रह्मसूत्र १।१।२) प्रपञ्चस्य उत्पत्त्यादित्रयं भगवतः उपादानत्व-कर्तृत्वयोः बोधकं कार्यलक्षणम्, अतः **एते** सर्गादयः तथा **भवन्ति** इति तेषां शुक्रादीनि त्रीण्येव एवंप्रकारेण लक्षणानीति तत्र तत्र तेषां प्राधान्यम् इति अर्थः. कथम् एकैकस्य त्रैविध्यं, कथञ्च तेषु तेषां प्राधान्यम् अतः

---

१. त्रिषु इति अधिकम् अत्र मा.१ पाठे - सम्पा.

स्थितिरपि पोषणतो विलासतो धर्मतश्च. प्रलयोऽपि— अहन्ता-ममतारूपस्य

प्रकाशः

आहुः **उत्पत्तिः** इत्यादि. **कारणतो** मृत्पिण्डादेः सकाशाद् उत्पत्तिः कारणसमवायरूपात्. **कार्यतः** उत्पत्तिः स्वसत्तासमवायरूपा. **आधारो** मूलकारणं मृदादि ; तस्माद् उत्पत्तिः अवस्थाभिव्यक्तिरूपा. एवं सर्वत्र प्रकृतेः भूतादिभ्यः कारणेभ्यः, कार्येभ्यो गुणेभ्यो, भगवतश्च इति तत् त्रेधा उत्पत्तिः. नच भगवतः[१] उत्पत्तिलक्ष्यत्वाद् उत्पत्तिलक्षणत्वम् अयुक्तम् इति शङ्क्यं, कार्पासन्यायेन व्यापाराविष्टस्य लक्षणतया व्यापारशून्यस्य लक्ष्यतया च अवस्थाभेदेन एकस्यैव उभयरूपतायाः[२] अविरुद्धत्वाद् इति. एवञ्च गुणसम्बन्धविचारे एताः लीलाः राजसतामस-राजसराजस-राजससात्विक्यः प्रतिभान्ति. स्थितौ प्रमाणस्य कथं प्राधान्यं[३] येन तस्य स्थितिलक्षणता इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **स्थितिः** इत्यादि. अयम् अर्थः— पोषणं नाम अनुग्रहो वरणाख्यः. सच स्वीकाररूपत्वाद् ईक्षणत्वाच्च वेदोक्तज्ञानात्मको भवति. तस्य स्थितिहेतुत्वं, प्राधान्यं, भगवल्लक्षणत्वञ्च "यदनुग्रहतः सन्ति" (श्लो. १२) इति वाक्यादेव सिद्धम्. हेतोः कार्यलक्षणत्वञ्च अत्यभ्रस्य वृष्टिलक्षणत्ववद् वृष्टेः सुभिक्षलक्षणत्ववद् उपपन्नम्. नच ज्ञानस्य प्रमात्वात् कथं प्रमाणत्वम् इति शङ्क्यम्, "अत्र प्रमाणं भगवान्" (भाग.पुरा. २।८।१५) इत्यत्र 'प्रमाण'शब्दस्य ज्ञानवाचकतायाः विचारितत्वात्[४]. एवं विलासस्य – वासनारूपत्वात् तस्याश्च ज्ञानजन्यत्वेन स्मृतिपूर्वावस्थारूपतया च – ज्ञानत्वं प्रमाणत्वञ्च. तया च स्थितिः देहविष्टम्भात्मक-प्राणनरूपा. "यस्य कालेन नोद्याया वियोगः प्राणदेहयोः, प्राणिनः सा स्वसमये मृत्युः अत्यन्तविस्मृतिः" (गरुडपुरा. २।२।३५) इति मृत्युलक्षणाऽन्यथानुपपत्ति-सिद्धत्वाच्च तस्याः प्राधान्यमपि उपपन्नम्. विलासस्य भगवद्धर्मत्वेन स्थितेः तज्जन्यत्वाद् भगवल्लक्षणत्वमपि अव्याहतमेव. एवं धर्मतो या स्थितिः सा "स्थाने अथ धर्ममखमन्वमरावनीशा" (भाग.पुरा. २।७।३९) इति

१. भगवदुत्पत्ति- इति मा.पाठे - सम्पा.

२. उभयरूपतया इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

३. प्रामाण्यम् पाठः. ४. विचारत्वात् इति मा.पाठे - सम्पा.

ईशानुकथया लक्षणं, सङ्घातस्य प्रलयो निरोधेन[१], मुक्तजीवानां ब्रह्मणि प्रवेशलक्षणया[२]. तस्मात् **श्रुतेनैव अर्थेन च**कारात् [३]तत्साधन (/ क !) -युक्त्या च **वर्णयन्ति** इति अर्थः. तत्राऽपि **अञ्जसा** सामस्त्येन. नतु क्लिष्टकल्पनया किन्तु आर्जवेनैव ॥२॥

तानि लक्षणानि आह.

प्रकाशः

वाक्येन तस्य जगदुत्तम्भकत्वाद् आयुर्वर्धकत्वाच्च. धर्मः च[४] चोदनालक्षणो, अतो वैदिकस्य ज्ञानस्य तत्रापि प्राधान्यम्, अतः प्रमाणस्य स्थितिलक्षणत्वम्. स्थितस्य आधारः स्थितिकर्ता च भगवानिति तस्याः भगवल्लक्षणत्वञ्च उपपन्नम् इति अर्थः. ज्योतिषां प्रलयलक्षणत्वं दुरूहमिति तत् स्वयं विवेचयन्ति **प्रलयः** इत्यादि. संसारस्य लयो अवतारादिचरित्रेण अभीक्ष्णं[५] श्रुतेन कीर्तितेन स्मृतेन येषां जीवानां भवति ते जीवाः मोक्ष्यन्ति इति ज्ञायते. तथा सति अध्यासलयस्य जीवनिष्ठत्वाद् ज्योतिरूपाः तएव लक्षणम्. सच कार्यतया जीवद्वारा च भगवल्लक्षणम्. **सङ्घातस्य** इत्यादि. एवं सङ्घातोऽपि जीवभोगार्थः इति तस्य लयेऽपि तएव लक्षणभूताः, ''देवदत्तो मृतः'' इति शुकदध्यङादयो विस्मृतप्रपञ्चाः इति भानात्. घटादेः लयो भोग्यादृष्टनाशेनेति तत्रापि तएव लक्षणं बोद्धृणाम्. सोऽपि कार्यतया आधेयतया च निरोधत्वेनैव रूपेण भगवल्लक्षणं, **नतु मुक्तजीवानां** भगवति **प्रवेशलक्षणया** मुक्त्या लक्षणम् इति अर्थः. मुक्तेः तु स्वरूपलाभरूपत्वात् तल्लक्षणत्वम्. ज्योतिषां तस्याः च भगवल्लक्षणत्वं स्पष्टमेव इति तद् अत्र न विवृतम्. तेन सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि ॥२॥

---

१. खपाठानुसारेण. निरोधः न मुक्त- इति मुद्रितपाठः प्रकाशे च - सम्पा.

२. आश्रयभावापत्त्या प्रवेशलक्षणया इति अभिप्रायः. पुरुषोत्तमचरणानां सुष्ठुव्याख्यानन्तु तेषां यथोपलब्धपाठाद् इति भाति - सम्पा.

३. चकारात्साधनेति ख.

४. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

५. अभीक्ष्णम् इति मा.पाठे - सम्पा.

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ॥
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥३॥
स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ॥
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥४॥

भूतमात्रेन्द्रियधियाम् इति. भूतानि = महाभूतानि पञ्च, तन्मात्राणि च शब्दादीनि पञ्च, इन्द्रियाणि दश, धीः = बुद्धिः अन्तःकरणात्मिका चतुर्धा —एवं चतुर्विंशति-तत्त्वानि उक्तानि भवन्ति. तेषामपि कारणत्वेन त्रयो **गुणाः**, तेषां **वैषम्याद्** गुणत्वेन आविर्भावात्, तेषामपि कारणं **ब्रह्म,** अतः परम्परया अष्टाविंशतिभेदाः भवन्ति. तेषां **जन्म सर्गः**. सर्गोऽपि द्विविधः ; प्रत्येकं समुदायेन च. वैषम्यञ्च चतुर्विधं भवति— ते हि प्रत्येकं विषमाः, समुदायेनापि विषमाः भवन्ति. त्रिविधएव वा. एवं सर्गः त्रयस्त्रिंशच्चतुस्त्रिंशद्भेद-भिन्नो वा भवति. विसर्गस्य लक्षणम् आह **विसर्गः पौरुषः स्मृतः** इति. पुरुषाद् ये जाताः ते **विसर्ग**शब्देन उच्यन्ते. तत्र प्रमाणं स्मृतिः महताम्. पुरुषाद् लोकत्रयभेदेन तद्भेदाः एकत्रिंशद् भवन्ति, ''अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादशाऽऽदित्याः'' (बृहदा.उप. ३।९।२) इति. स्थितिं लक्षयति **वैकुण्ठस्य विशिष्टो जयो**

प्रकाशः

भूतमात्र इत्यत्र. **गुणत्वेन आविर्भावाद्** इति बन्धकत्वेन आविर्भावात्. **विषमाः** इति क्षुब्धाः. **प्रत्येकं समुदायेन च** इति. महदाद्युत्पत्तिरूपः प्रत्येकम्, अण्डसर्गः समुदायेन इत्येवं द्विविधः इति अर्थः. **प्रत्येकं विषमाः** इत्यादि. ''ततोऽभवन् महत्तत्त्वम् अव्यक्तात् कालचोदिताद्'' (भाग.पुरा. ३।५।२७) इत्यादिना 'विकुर्वाणा'दिशब्दबोधिताः प्रत्येकं विषमाः, ''चुक्षोभ अन्योन्यम् आसाद्य'' (भाग.पुरा. ३।६।५) इत्यनेन उक्ताः समुदायेन तथा इति अर्थः. अत्र **भिन्नो वा** इति **वा**शब्देन अस्य प्रकारस्य न सङ्ख्याप्रयोजनकत्वम् इति ज्ञापितम्. **लोकत्रयभेदेन** इति लोकत्रयस्य भेदेन. **स्थितिः** इत्यत्र. **वैकुण्ठस्य** इत्यादि. भगवतः सर्वकारणाऽऽदि-कारणत्वरूपः उत्कर्षो यस्यां क्रियायां ज्ञायते सा मर्यादापालनक्रिया 'स्थिति'पदवाच्या इति अर्थः. एतेन 'स्थान'शब्दः करणव्युत्पन्नः इति

यत्र इति. प्राकृतेषु चतुर्विंशतिधा, जीव-ब्रह्मभेदेन आत्मनि द्विधा[१] इति षड्विंशतिभिन्ना. पुष्टिं लक्षयति **तदनुग्रहः** इति. **तस्य** वैकुण्ठस्य जितेषु स्वाधीनीकृतेषु यो अयम् **अनुग्रहः**. तेषु मर्यादार्थं [२]सप्त पृथक्कृत्य शिष्टेषु अनुग्रहः ; महाभूतेषु आत्मद्वये च न अनुग्रहः, तत्र मर्यादैव. ऊति-सद्धर्मयोः वासना-धर्मरूपत्वाद् – धर्मजनिता वासना इति विपरीततया – लक्षयति **मन्वन्तराणि सद्धर्मः** इति. सतां धर्मः त्रिविधो भवति काय-वाङ्-मनोभिः[३] कृतः. कायिको दशधा. वाचनिकश्च दशधा, इन्द्रियोपलक्षकत्वात्. मानसः चतुर्धा, अन्तःकरणोपलक्षकत्वात्. इष्टं चिन्तयति, इष्टम् आवापोद्वापाभ्यां विचारयति, इष्टम् आशंसते, इष्टं करिष्यामि इति अध्यवस्यति —एवम् अन्तःकरणे चतुर्धा सद्धर्मः. सर्वेन्द्रियैश्च सद्धर्मकरणं ; रेतो-ऽपाननिरोधेन

प्रकाशः

बोधितं, 'स्थिति'शब्दश्च भावव्युत्पन्नः इति. तेन तत्तन्मर्यादास्थापनं प्रति करणभूता[४] या भगवतः स्थितिक्रिया सा स्थानम् इति फलति. तां विभजन्ति **प्राकृते**त्यादि. **ब्रह्म**पदेन अक्षरम्. **यो अयम् अनुग्रहः** इति, यत् स्वीकरणरूपं ज्ञानं तत् पोषणम् इति अर्थः. ननु पोषणस्य स्थितिवृद्धिरूपत्वाद् अभिवृद्धौ पूर्वरूपनाशेन स्थितिमर्यादानाशे सा वृथैव स्याद् इति शङ्कां वारयितुं पोषणं विभजन्ति **तेषु** इत्यादि, पूर्वोक्तेषु षड्विंशतिषु. **शिष्टेषु** इति ऊनविंशतिषु. के ते सप्त इत्यतः आहुः **महाभूतेषु** इत्यादि. तथाच सप्तसु तस्य स्थापितत्वाद् न वैयर्थ्यम् इति अर्थः. **वासना धर्मरूपत्वाद्** इत्यत्र वासना च धर्मश्च इति द्वन्द्वो बोध्यः. **इन्द्रियोपलक्षकत्वाद्** इति. स्वयं दशेन्द्रियैः कार्यो, अन्यस्मै च तथा कार्यत्वेन उपदेष्टव्यइति कार्यत्वे वाच्यत्वे च इन्द्रियोपलक्षकत्वाद् इति अर्थः. **चिन्तयति** इत्यादि. एतैः बुद्धि-मनो-ऽहङ्कार-चित्तक्रमेण धर्मो निर्दिष्टो बोध्यः. पायूपस्थयोः धर्मकरणं न सम्यक्तया प्रतिभाति इति तदर्थम् आहुः **रेतः** इत्यादि. **तयोः** इति उपस्थ-पाय्वोः. ननु एवं तयोः धर्महेतुत्वं गृहस्थव्यतिरिक्तेषु भवति, नतु

---

१. द्वेधेति क-घ. २. मर्यादार्थं पृथगिति ख. ३. मनोभिः. तत्र कायिक इति ग.
४. कारणभूता इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

धर्महेतुत्वं तयोः. [१]आश्रया-ऽऽदान-तृप्ति-प्रजनन-जाड्यतापनिर्बन्धदूरीकरणैः शब्दादि-दानेन[२] च सद्धर्मः शरीरे दशधा. एवं चतुर्विंशतिभेदो भवति. ऊतीः[३] लक्षयति **कर्मवासनाः** इति. कर्मजनिता वासनाः कर्मवासनाः. तत्र शरीरस्य कर्मेन्द्रियाणाञ्च सम्बन्धिनः सद्धर्माः वासनाजनकाः, नतु ज्ञानेन्द्रिया-ऽन्तःकरणानाम्, अतः पञ्चदशधा भवन्ति ॥३-४॥

अवतारानुचरितं हरेश्चाऽस्यानुवर्तिनाम् ॥
पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥५॥

ईशानुकथां लक्षयति **अवतारानुचरितम्** इति. ईशानुकथा द्विविधा— ईशस्य तदनुवर्तिनाञ्च कथा ; तदुभयं लक्षयति. तत्र ईशकथाम् आह **अवतारानुचरितम्** इति. (**हरेः अवतारस्य!**) सर्वभूतदुःख-दूरीकरणार्थम् आविर्भूतस्य भगवतः **चरित्रम्** ईशानुकथा, **अस्य अनुवर्तिनाम् (पुंसाम्!)** इति द्वितीयस्य लक्षणम्. यथा भगवान् सर्वदुःखनिवारकः तथा ये दुःखनिवारकाः[४] ते 'तदनु'शब्देन उच्यन्ते. तत्र ईशस्य **हरेः** इति विशेषणाद् दुःखदूरीकरणं

प्रकाशः

गृहस्थे इति शङ्कायां दशेन्द्रियकार्यैः तं स्फुटीकुर्वन्ति **आश्रये**त्यादि. अत्र तृप्तिः वागिन्द्रियकार्यं, सद्वाक्येन तृप्तेः अनुभवसाक्षिकत्वात्. जाड्यादिदूरीकरणं पायोः, विसर्गस्य तत्कार्यत्वाद्, दूरीकरणस्य च विसर्गरूपत्वाद् इति **च**काराद् ग्रहणेन. **कर्मजनिता वासनाः** इति. "वेञ् तन्तुसन्ताने" (पाणि.धा.पा. काशि.वृत्ति ६।१।४०) ; उयन्ते कर्मभिः सन्तन्यन्ते इति ऊतयः. वृद्ध्यर्थात् संश्लेषार्थाद् वयतेः इदं रूपम्. तथा सति वर्द्धयन्ते संश्लिष्यन्ते इति वा ऊतयः इति योगात् ताः[५] तथा इति ॥३-४॥

अवतार- इत्यत्र. **द्वितीयस्य** इति चरित्रस्य. **तत्र ईशस्य** इति ईशकथांशभूतस्य ईशस्य ॥५॥

---

१. -प्राप्तिजाड्यता इति ख. २. दाने चेति घ.

३. ऊतिं लक्षयतीति क. ऊतिर्लक्षयतीति ख. ४. -निवारिका इति क.

५. इत्यधिकं मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

सुखप्रापणञ्च इति. अतो दुःखनिवारणे गुणभेदेन तदनुवर्तिनो नवधा भवन्ति, ईशस्याऽपि चरित्रं कर्म-ज्ञान-भक्तिभेदैः त्रिधा भवति, तथा अनुवर्तिनोऽपि अविद्यालक्षण-दुःखदूरीकर्तारो ज्ञानिनः एकविधाः भवन्ति — एवं दुःखदूरीकरणे त्रयोदश भेदाः. सुखप्रापणे दशधा सर्वेन्द्रियसुख-प्रापकाः तदनुवर्तिनः, एकश्च भगवान् इत्येवम् एकादश ; उभये (मिलित्वा!) चतुर्विंशतिः. तेषां प्रत्येकनिरूपणार्थं **नानाख्यानोपबृंहिताः** इति उक्तम् ॥५॥

निरोधोऽस्याऽनुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ॥
मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥६॥

निरोधं लक्षयति **अस्य अनुशयनम्** इति. **अस्य** भगवतः **अनु** पश्चात् **शयनं** शक्तीः शाययित्वा तद्भोगार्थं **(शक्तिभिः सह आत्मनः!)** स्वस्य शयनम्. **अस्य** इति पुरोवर्ती आत्मत्वेन प्रकाशमानो अङ्गुल्या निर्दिश्यते. **आत्मनो** देहस्य. **सह** इति उभयत्र (सम्बद्ध्यते!). देहशक्तयो द्वासप्ततिभेदाः नाडीरूपाः, स्वस्य श्रियादयो[१] द्वादश, शयनञ्च त्रिविधं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिभेदेन, अतः सप्ताशीतिभेदाः भवन्ति. मुक्तिं लक्षयति **हित्वा अन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः** इति. **अन्यथारूपं** तत्त्वरूपं, तस्य परित्यागः. स्वरूपम् एकम्. अवस्था द्विविधा सामान्य-विशेषभेदेन,

प्रकाशः

निरोधः इत्यत्र. मूलस्थस्य **अस्य** इति पदस्य आत्मबोधकत्वे **आत्म**पदस्य अर्थम् आहुः **आत्मनो देहस्य** इति. आत्मत्वेन प्रकाशमानाद् अभिन्नस्य देहस्य इति अर्थः. **उभयत्र** इति द्विविधशक्तिषु. शयने उभयोः शक्तीनां सहभावो विवक्षितः इत्यत्र गमकम् आहुः **देहे**त्यादि. **द्वासप्ततिभेदाः** प्रश्नोपनिषदि (प्रश्नोप. ३) प्रसिद्धाः, द्वासप्तति-प्रतिशाखा-नाडीसहस्राणि इति. तथाच तासु मुख्यानां ग्रहणात् तथा इति अर्थः. तेन उभयविध-शक्तिसहभावे अध्याय-सङ्ख्यैव गमिका इति भावः. **सामान्य-विशेषभेदेन** इति. सामान्यावस्था दैवीसम्पद्रूपा, विशेषावस्था मर्यादारूपा पुष्टिरूपा च, तेन इति अर्थः. **उभयत्र लक्षणं मिलितम्** इति, अवस्थाद्वये मुक्तिलक्षणम्

१. श्र्यादय इति ख. श्रियाश्रय इति घ.

उभयत्र लक्षणं मिलितम्. तत्रापि पूर्वं तत्त्वपरित्यागः. तत्त्वानि अष्टाविंशतिः. एवम् एकत्रिंशद्भेदाः भवन्ति ॥६॥

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाऽध्यवसीयते ॥

स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥७॥

आश्रयं लक्षयति **आभासः च** इति. आश्रयो द्विविधः — शास्त्रमार्गेण आश्रीयते इति प्रपत्त्या, सायुज्येन वा, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयैः वा. क्रियया आश्रयणं पञ्चधा, ज्ञानेन आश्रयणम् अष्टधा – मनसो द्विःस्वभावत्वात् तस्य उभयत्र सम्बन्धः ; अन्तःकरणानां मध्ये अहङ्कारस्य न आश्रयहेतुत्वम् – एवं त्रयोदशधा भवति. एवमपि राशिद्वयात्मको भवति क्रिया-ज्ञानभेदेन.

प्रकाशः

अविशिष्टम् इति अर्थः. ननु विशेषावस्थायाम् अहन्तादि-सद्भावस्येव दर्शनात् कथं लक्षणसमन्वयः इत्यतः आहुः. **तत्रापि** इत्यादि. **तत्रापि** इति पुष्ट्यवस्थायाम्. इदं यथा तथा "ममोत्तमश्लोक-" (भाग.पुरा. ६।११।२७ = वृत्रा.चतु.) इत्यत्र विवृतम् आचार्यैः. तत् मत्कृत-तट्टिप्पणीतो अवगन्तव्यम्. पञ्चविंशतितत्त्वपक्षे अध्यायसङ्ख्या न युज्यते इत्यतः सङ्ख्यान्तरम् आहुः **तत्त्वानि** इत्यादि ॥६॥

आभासश्च इत्यत्र. ननु आश्रयस्य कुतो लक्षणद्वयम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **आश्रयः** इत्यादि. शास्त्रे भगवत्प्रापकं भक्ति-ज्ञानरूपं मार्गद्वयम्. 'आश्रय'शब्दश्च अत्र कर्मव्युत्पन्नः, यथा "सर्वासाम् अपां समुद्रः एकायनम्" (बृहदा.उप. २।४।११) इत्यादि श्रुतिसिद्धाधिकरणत्व-बोधकः. तत्र भक्तिमार्गे **प्रपत्त्या** आश्रयो भवति, ज्ञानमार्गे **सायुज्येन** इति प्रकारद्वैविध्याद् लक्षणद्वयम् इति अर्थः. एवं सति तृतीयमार्गिणां जडानाञ्च आश्रयो न स्याद् इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **उत्पत्ती**त्यादि. तथाच प्रपत्त्या सायुज्येन वा ज्ञानद्वारा आश्रीयते, उत्पत्त्यादिभिश्च [१]स्वोत्पादनक्रियाद्वारा आश्रीयते अतो लक्षणद्वयम् इति अर्थः. अध्यायविभागम् आहुः **क्रियया** इत्यादि. ननु मनसोऽपि कर्मेन्द्रियत्वात् कथं पञ्चधा इत्यतः आहुः **मनसः** इत्यादि.

---

१. उत्पादनक्रियाद्वारा इति मा.पाठे - सम्पा.

तत्र प्रथमतः क्रियया आश्रयं प्रतिपादयति **आभासः च** इति. **आभासः** उत्पत्तिः **च**कारात् तमश्च. **आभास**शब्देन च उत्पत्त्यादयः सर्वे वस्तुतो मायिकानामेव, न स्वस्येति विषयतायाः आश्रयत्वं बोधयति. निरोधः तयोरेव. इदम् आश्रयत्वं कर्तृत्वेन, तदेव क्रियया आश्रयत्वं भवति. आभास-निरोधौ उत्पत्ति-प्रलयौ ; अन्ये विकाराः एतदन्तर्भाविनः,

पूर्वरूपपरित्यागो द्वितीयस्याऽऽदिमस्तथा ॥
उभावेकीकृतौ लोके वृद्ध्यादिभिरुदीरितौ ॥(३)॥

इति. **अध्यवसीयते** इति. **यतो** भगवतः सकाशाद् न केवलम् एते विकाराः जायन्ते किन्तु प्रकाश्यन्ते च भगवतैव, **च**कारात् तेषु स्वभावोऽपि सम्पाद्यते, अतो अस्ति-भाति-प्रियम् इति त्रयं भगवत्कार्यं ;

प्रकाशः

सम्बन्धः इति अनुग्राहकतया सम्बन्धः. तथाच तत्क्रियायाः[१] [२]अमुख्यत्वात् पञ्चधा इति अर्थः. ननु तथापि अन्तःकरणस्य चतुर्विधत्वाद् ज्ञानेन नवधा वक्तव्यः इत्यतः आहुः **अन्तः** इत्यादि. 'निरोध'शब्दस्य प्रलये प्रसिद्धत्वात् तत्समभिव्याहृतः 'आभास'शब्दः उत्पत्तिबोधनाय किमिति प्रयुक्तः ; 'उत्पत्ति'पदमेव कुतो न उक्तम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **'आभास'शब्देन** इत्यादि. **विषयतायाः आश्रयत्वम्** इति विषयताद्वयाधार-त्वम्. **तयोः** इति जगद्रूप-तमोरूपयोः विषयतयोः. उत्पत्त्यादिभिः [३]स्वजनक-क्रियाधारत्वेन आश्रीयते, नतु स्वाश्रयत्वेन इति इमम् अर्थं स्फुटीकुर्वन्ति **इदम्** इत्यादि. **आश्रयत्वम्** इति स्वस्वरूपलाभार्थकोपजीव्यत्वम्. उत्पत्त्यादयः स्वस्वरूपलाभाय यम् उपजीवन्ति सः जगज्जन्म-स्थिति-भङ्गकर्ता आश्रयः इति अर्थः. **निरोधश्च** इति **च**कारस्य अर्थम् आहुः **आभास-निरोधौ** इत्यादि. **वृद्ध्यादिभिः** इति वृद्धि-विपरिणामा-ऽपक्षयैः. तर्हि चतुर्मुखात् को विशेषः इत्यतः आहुः **अध्यवसीयते** इत्यादि. **अतः** इति प्रकाशनात् स्वभावसम्पादनाच्च. **त्रयम्** इति विषयतागतं त्रयम्. **एतदेव** इति

---

१. तत्क्रियायाम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा. २. आमुख्यत्वाद् इति मा.पाठे - सम्पा. ३. स्वजनक्रिया- इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

तत्कारणत्वेन आश्रयः. एतदेव तस्य अधिष्ठानत्वं, तद् आह **सः आश्रयः** इति. **सः** भगवान् **आश्रयः** इति अर्थः, **यतः** सच्चिदानन्दरूपत्वात् पूर्वोक्ताः धर्माः भवन्ति. अयमेव भगवान् शास्त्रान्तरे नामान्तरेण व्यपदिश्यते इति सर्वसमन्वयार्थं नामान्तरम् आह. **परं ब्रह्म** इति वेदे, **परमात्मेति** स्मृतौ **शब्द्यत**एव. शब्दमात्रं भिद्यते, अर्थस्तु एकएव. वेद-चतुर्मुख-वर्णव्युदासार्थं **पर**शब्दः, जीवव्युदासार्थं द्वितीयः ॥७॥

एवं क्रियाश्रयं निरूप्य ज्ञानाश्रयं निरूपयति **योऽध्यात्मिकोऽयम्** इति द्वाभ्याम्. ज्ञानम् अग्रे निरूपयितुं ज्ञेयम् अत्र निरूप्यते.

योऽऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाऽधिदैविकः ॥
यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतो ह्याधिभौतिकः ॥८॥

ज्ञेयं त्रिविधम् आध्यात्मिकादिभेदेन. आत्मानम् अधि अध्यात्मम्. आत्मा देहः, तम् अधिष्ठाय ये तिष्ठन्ति इन्द्रियान्तःकरणानि प्राणाश्च ते अध्यात्मानः. तान् अधिष्ठाय **यः** तिष्ठति शारीर आत्मा सः **आध्यात्मिकः**. **सो अयमेव पुरुषो** यः श्रोतृ-वक्तृत्वेन व्यवह्रियते. यस्तु एतदन्तर्यामी सः आधिदैविकः. अधिदेवानाम् इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवानां नियामकत्वेन तान् अधिष्ठाय [1]यः स्थितः सः **आधिदैविकः**. **सो**ऽपि **(असौ!)** अयमेव.

प्रकाशः

अस्ति-भाति-प्रियत्व-सम्पादकत्वमेव. तथाच मूले **यतः** इत्यनेन उत्पत्त्यादिजनकं प्रकाशकं हेतुम् उद्दिश्य तस्मिन् आश्रयत्वविधानाद् विषयतोपरञ्जकस्थित्या आश्रयत्वं विवक्षितमिति प्रकृति-पुरुषजन्यायां जगद्रूपायां विषयतासञ्चायक-रूपायां प्रविश्य तत्तदाकाररूपायाः तस्याः अस्त्यादिरूपत्वं यत् सम्पाद्यते तदेव आविष्टत्वम् अधिष्ठानत्वम् इति अर्थः. शास्त्रान्तरेऽपि एवमेव सम्मतम् इति मूलाशयं स्फुटीकुर्वन्ति **अयम्** इत्यादि. **सर्वसमन्वयार्थम्** इति सर्वेषां प्रमाणानाम् एकार्थत्वार्थम्. एवञ्च एतेन पद्येन एतादृशस्य प्रपत्त्या आश्रयणीयत्वं बोधितप्रायम्. **स्मृतौ** इति गीतायाम्. **जीवव्युदासार्थम्** इति मुक्तजीवव्युदासार्थम् ॥७॥

---

१. -ष्ठाय स्थित इति ख.

एकएव इन्द्रियाणि इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवांश्च अधितिष्ठन् शब्दद्वयेन उच्यते. अतएव देवाधिष्ठान-सामर्थ्यम् अन्तर्यामिणः इति सः एतस्याऽपि पूज्यत्वेन निरूप्यते. एकस्यैव [१]**उभयविधविच्छेद**कर्ता शब्दद्वयप्रवृत्ति-निमित्तभूतः **आधिभौतिकः**. भूतानि अधिष्ठाय ये तिष्ठन्ति रूपादयः ते अधिभूताः, तत्समुदायो अवयवी **आधिभौतिको** देहः. देहे विद्यमानएव इन्द्रियाभिमानित्वम् इन्द्रियप्रेरकत्वञ्च ; नो चेद्, एकएव आत्मा. अस्य उभयविच्छेदकत्वे महतां स्मृतिः [२]स्मरणं प्रमाणं, तद् आह **स्मृतः** इति ॥८॥

एवं ज्ञेयं निरूप्य तद्विषयक-ज्ञानाधारत्वेन आश्रयं निरूपयति.

एकम् एकतराभावाद् यदा नोपलभामहे ।।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥९॥

एकम् एकतराभावाद् इति. **त्रितयं तत्र यो वेद सः आश्रयः**

प्रकाशः

यो आध्यात्मिकः इत्यत्र. ननु अनुप्रविष्टस्य एकस्य जीवान्तर्यामिभाव-कथने ''तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवद्'' (तैत्ति.उप. २।६) इति श्रुतिविरोधाभावेऽपि ''द्वा सुपर्णा'' (मुण्डकोप. ३।१।१, श्वेताश्व.उप. ४।६) इति श्रुतिः विरुद्ध्यते इत्यतः आहुः **अतएव** इत्यादि. **अन्तर्यामिणः** इति पञ्चमी. यतः उभयप्रवेशपक्षेऽपि ''ऋतं पिबन्तौ'' (कठोप. १।३।१) इति श्रुत्यन्तरे जीवात्मा छायारूपत्वाद् अप्रयोजकः उक्तः **अतएव** हेतोः अस्य **देवाधिष्ठानसामर्थ्यम् अन्तर्यामिणः** सकाशादेव **इति सः एतस्यापि पूज्यत्वेन** श्रुत्यन्तरे **निरूप्यते.** तथाच उद्देश्य-विधेयभावस्य तद्बोधनार्थतया कथनाद् न तद्विरोधः इति अर्थः. मूले **उभयविच्छेदः** इत्यत्र उभयोः विच्छेदो यस्माद् इति व्यधिकरणपदं बहुव्रीहिं ज्ञापयितुम् आहुः **उभयविच्छेदकर्ता** इति ॥८॥

ननु अन्तर्यामिणः प्रकाशस्वभावत्वात् तस्य स्वव्यतिरेकेण त्रितयज्ञानं भविष्यति इति आशङ्कायाम् उद्देश्य-विधेयभावसूचितं तात्पर्यम् आहुः

१. उभयविच्छेदकर्ता इति प्रकाशे - सम्पा. २. स्मृतिः प्रमाणमिति ख.

इति. ननु जीवोऽपि त्रितयं वेद, अन्तर्याम्यपि, अतः आश्रयलक्षणम् अतिव्यापकम्! इति आशङ्क्य आह **एकं** त्रयाणां मध्ये **एकतरस्य** स्वातिरिक्तस्य **अभावाद्** हेतोः एकं **न उपलभामहे** किन्तु भावेनैव उपलभामहे. एकमपि अन्ययोः भावेन उपलभ्यते, नतु अभावेन. तदा "सापेक्षम् असमर्थं भवति" (पातं.महाभा. २।२।८) इति न तेषाम् अन्यतरः त्रितयं ज्ञातुं शक्तः. अन्तर्याम्यपि स्वव्यापारे व्यापृतः त्रितयमध्ये प्रविष्टो न त्रितयं जानाति. यथा देह-जीवयोः त्रितयाऽज्ञानं सर्वजनीनं तथा अन्तर्यामिणोऽपि ज्ञेयम्. एवं सति **यः त्रितयं वेद सः आश्रयः**. तस्य नामान्तरमपि आह **आत्मा** इति. अतति व्याप्नोति इति आत्मा. अतएव अस्य लीलात्वाद् आत्मा विभूतित्वेन गणितः "अहम् आत्मा गुडाकेश" (भग.गीता १०।२०) इति. इदम् एकं भगवतो रूपम्. भगवानेव वा ज्ञानाश्रयत्वेन[१] आत्मत्वेन निरूपितः. ननु तस्याऽपि स्वज्ञानाभावात् स्वाधिष्ठातृ-ज्ञानाभावाच्च तस्याऽपि अन्यः आश्रयः स्याद्! अतः आह **स्वाश्रयः** इति. सतु स्वात्मानमेव आश्रित्य तिष्ठति ; न तस्य आश्रयान्तरापेक्षा. अनेन स्वप्रकाशः सः इति उक्तं भवति ॥९॥

प्रकाशः

अन्तर्यामीत्यादि. **त्रितयम्** इति स्वव्यतिरिक्तं त्रितयम्. **ज्ञेयम्** इति त्रितयान्तःप्रविष्टत्वाद् अनुमेयम्. **आत्मा** इति तस्य नाम योगरूढम् इति ज्ञापनाय आहुः **अतति** इत्यादि. **अतएव** इति त्रितयव्यापकत्वादेव. **इदम्** इति द्वितीयाश्रयलक्षणेन लक्षितम्. अग्रे **स्वाश्रयाश्रय**पदात् तदनुरोधेन पक्षान्तरम् आहुः **भगवानेव वा** इति. **स्वाश्रयाश्रय**पदे षष्ठीतत्पुरुषः इति एतत्पदम् अक्षरव्यावर्तकत्वेनापि शक्यवचनम्. तथाच आश्रयस्य लीलात्वे इदम् अक्षरलक्षणं, पुरुषोत्तमत्वे मूललक्षणम् ; उभयोः अविच्छेदज्ञापनाय एवम् उक्तम् इति अर्थः. प्रथमपक्षे **स्वाश्रयाश्रय**पद-प्रयोजनं वक्तुम् आहुः **ननु** इत्यादि. एवञ्च एताभ्यां श्लोकाभ्यां[२] एतस्य सायुज्यत्वेन आश्रयत्वं[३]

१. ज्ञानाश्रयत्वे यः आत्मत्वेन इति मुद्रितपाठः. खपाठे तु एवम् - सम्पा.

२. च इत्यधिकम् अत्र मुद्रितपाठे. मा.पाठे नास्ति - सम्पा.

३. आश्रयणीयत्वम् इति मा.पाठे - सम्पा.

एवं दश लक्षणानि निरूप्य त्रितयनिरूपणार्थं पूर्वोक्तं विराजम् उपपत्त्या सह निरूपयति **पुरुषो अण्डम्** इति. ''यावान् अयं वै पुरुषः'' (भाग.पुरा. २।८।८) इत्यत्र नाम-रूपे तस्य आक्षिप्ते जीवतुल्यतया. तत्र जीववैलक्षण्यं निरूपयितुं स्वेच्छयैव तस्य नाम इन्द्रियाणि च इति जीवसाम्यं निराकरोति. तत्र प्रथमं नामनिरुक्तिम् आह **पुरुषो अण्डम्** इति द्वाभ्याम्.

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदादौ स विनिर्गतः ।।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः ।।१०।।
तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रं परिवत्सरान् ।।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ।।११।।

पुरुषो विराड् **ब्रह्माण्डं विनिर्भिद्य** कटाहात् पृथक्कृत्य

प्रकाशः

विवृतं [1]ज्ञेयम्. तथा सति भक्तिमार्गे भगवान् जगन्निमित्तोपादानभूतः प्रपत्त्या आश्रयणीयः, ज्ञानमार्गे तु [2]स्वप्रकाशरूपो विभूत्यात्मकः स्वयं वा यथाधिकारं सायुज्येन आश्रयणीयः इति बोधनाय अत्र लक्षणद्वयम् उक्तम् इति फलति ।।९।।

पुरुषः इत्यत्र. **दश लक्षणानि** इति पुराणस्य दश लक्षणानि. **पृथक्कृत्य** इति स्वस्वरूपं पृथक्कृत्य. '' कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ '' (नारदपुरा. १।५१।१०) इत्यादौ तथादर्शनात् तथा इति अर्थः. ननु✻ पञ्चमाध्याये ''विशेषस्तु विकुर्वाणाद् अम्भसो गन्धवान् अभूद्'' (भाग.पुरा. २।५।२९) इत्यादिना अण्डसृष्टिम् उक्त्वा ''स एव पुरुषस्तस्माद् अण्डं निर्भिद्य निर्गतः'' (भाग.पुरा. २।५।३५) इत्यनेन यः पुरुषः उक्तः सएव अत्र विमृष्यतइति स्वस्थित्यर्थं जलसृष्टृत्वं तस्यैव वक्तव्यम्. यदा पुनः नारिकेल-गोलकवत् स्वकार्यसमर्थत्वरूपः तस्य निर्गमो अङ्गीक्रियते तदा अण्डरूपस्य स्थानस्य सत्त्वाद् **आत्मनो अयनम् अन्विच्छन्** इति [3]हेतुकथनं विरुद्ध्यतइति ✻अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. अस्मिन्नपि

---

१. विवृतप्रायम् इति मा.पाठे - सम्पा. २. प्रकाशरूपो इति मा.पाठे - सम्पा.

३. हेतु- इत्यधिकं कि.-मा.पाठानुसारेण. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

नारिकेल-गोलकवद् **यदा विनिर्गतः** [१]स्वसर्वकार्ये[२] समर्थो जातः. अथवा अण्डमेव वा भित्त्वा निर्गतः ; तदा अण्डे न जलाद्यावरण-व्यवस्था. पुराणान्तरानुरोधेन परम् ''अण्डे स्थितः'' इति व्याख्यायते, वस्तुतस्तु कटाहं विनिर्भिद्यैव निर्गतः. अतएव **आत्मनः (अयनं!)** आश्रयापेक्षा. पूर्वम् अण्डमेव आश्रयत्वेन स्थितं, तस्मिन् भग्ने आश्रयान्तरम् **अन्विच्छन् अपो अस्राक्षीत्. (शुचीः!)** स्वयं शुद्धो ज्ञानपूर्णो भगवदवतारः स्वाश्रयं **(शुचिः!)** शुद्धमेव सृष्टवान्. सर्वस्याऽपि शुद्धिः जलेनेति जलं सृष्टवान्. अपामपि शुद्धिः फेन-तरङ्गादिराहित्येन. ततः **तास्वेव** अप्सु **स्वसृष्टासु अवात्सीत्.** नहि अन्यः एवम् अपः स्रष्टुं तत्र स्थातुं वा शक्नोति. **स्वसृष्टासु** इत्यनेन अपां महत्त्वेन स्वमहत्त्वं बोधयन् जीवाद्यन्तराभावेन च तत्कृतं भयम् अशुद्धिञ्च निवारयति. अत्र वासः तूष्णीम्भावेन. **सहस्रं परिवत्सरान्** इति. सः नारायणावतारो ब्रह्ममानेन[३] सहस्रपरिवत्सरमात्रं तिष्ठति

प्रकाशः

पक्षे दोषम् आहुः **तदा** इत्यादि. **तदा** अण्डभेदनपक्षे अण्डनिवृत्त्या तत्र **न जलाद्यावरण-व्यवस्था.** तथाच तदनङ्गीकारे ''आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः, दशोत्तराधिकैः यत्र प्रविष्टः परमाणुवद्'' (भाग.पुरा. ३।११।३९-४०) इत्यादि वाक्यविरोधः तुल्यः इति अर्थः. एवं दोषसाम्येऽपि प्रथमव्याख्यानं यद् उक्तं तत्र बीजम् आहुः **परम्** इत्यादि. अत्रतु द्वितीयपक्षएव अभिप्रेतः इति आहुः **वस्तुतः** इत्यादि. तथाच तत्पक्षोपष्टम्भकानि वाक्यानि कल्पान्तराभिप्रायाणि इति अर्थः. **तासु अवात्सीद्** इत्यत्र. **तूष्णीम्भावेन** इति सुप्तवत् क्रियान्तरराहित्येन. अत्र स्वसृष्टासु वासकथनाद् एवं ज्ञायते— अण्डभेदेन आवरणजलस्य विलयत्वेन अयनान्विच्छया अपां सृष्टिः. तेन विराजो अयनं स्वसृष्टम् आपः, तदयनं भूतरूपं जलं, तस्य अयनं तेजः इति. तथा पूर्वम् अण्डस्य सहस्राब्दं स्थितेः उक्तत्वाद् अत्र च नारायणस्थितेः तावत्कालिकत्वेन[४] कथनात् सहस्रद्वयवर्षोत्तरं सृष्टिः इति

---

१. स सर्वेति घ. २. -कार्यसमर्थ इति ख. ३. ब्रह्मभावेनेति ख.

४. तात्कालिकत्वेन इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु कि.-मा.पाठानुरोधात् - सम्पा.

इति ज्ञायते. शयनार्थं वा ; सहस्रपरिवत्सरं शयनं कृत्वा पश्चात् सृष्टिं करोति, एतावान् कालः स्वदेहे निष्पाद्यमानानां सर्वेषां जीवानां सर्वनिर्वाहार्थे. एवं सति तस्य 'नारायण' इति नाम जातमिति आह **तेन नारायणो नाम** इति. नारम् अयनं यस्य इति नारायणः. ननु अस्य जलम् अयनं, तत् कथं नारायणः इति? तत्र आह **यदापः पुरुषोद्भवाः** इति. **यद्** यस्माद् **आपः पुरुष**शब्दवाच्याद् नरादेव उत्पन्नाः. पूर्वं हि पुरुषः ; सएव [1]नारायण-पूर्वभावित्वाद् 'नरः' इति उच्यते भगवदावेशात्. तस्माद् जाताः आपः, तेन नाराः. ताः अयनं यस्य इति भवत्येव नारायणः. एवं स्वनिर्मितेनैव कार्येण स्वस्य नामानि भवन्तीति न प्राकृततुल्यता ॥१०-११॥

किञ्च अस्मादपि हेतोः न प्राकृततुल्यता इति आह.

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ॥
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥१२॥

द्रव्यं कर्म च कालश्च इति. **द्रव्यम्** अधिभूतं महाभूतादि. **कर्म** अध्यात्मम् अदृष्टादि. **कालः** आधिदैविको नियन्ता सर्वनिमित्तभूतः. **स्वभावः** परिणामहेतुः. **जीवो** भोक्ता.

उपादानं निमित्तञ्च क्षोभको हेतुरेव च ॥
भोक्ता चेति समस्तार्थे समर्थाः कृपया हरेः ॥(४)॥

प्रकाशः

"योगतल्पात् समुत्थितः" (श्लो. १३) इति वक्ष्यमाणलिङ्गात् पक्षान्तरम् आहुः **शयनार्थं वा** इति ॥१०-११॥

द्रव्यम् इत्यत्र. **हेतुः** इति सहकारी. एवञ्च एतैः त्रिभिः पद्यैः अलौकिकसामर्थ्यबोधनेन प्राकृततुल्यावयवकत्व-कृतं[2] प्राकृततौल्यं लोक-न्यायेनापि निरस्तं, तुल्यावयवकयोरपि राज-रङ्कयोः सामर्थ्य-तदभावाभ्याम् उत्कर्षापकर्षस्य अध्यक्षसिद्धत्वात्. फलानुपपत्तिशङ्कापि एतेनैव निरस्ता, मूलसामर्थ्यस्य अस्मिन् विद्यमानत्वेन एतद्रूपधारणायामपि अभयरूप-फलस्य[3]

---

१. नारायणः पूर्वेति ख.

२. तुल्यवयवत्वकृतम् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

३. अभयरूपस्य फलस्य इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

तद् आह **यदनुग्रहतः** इति. **एव**कारेण जीवानां विशेषाकारेण भगवत्कृपाधीनत्वं बोधितम्. **च**कारात् अन्यान्यपि साधनानि दण्डादीनि भगवत्कृपयैव **सन्ति** आविर्भूतानि तिष्ठन्ति, कार्यक्षमाणि च भवन्ति. अन्यथा अव्यक्तम् एतान् अपकर्षति, यथा व्याघ्रः पशुं, तद् आह **न सन्ति** इति. न अत्र भगवतः क्रोधोऽपि[१] अपेक्ष्यते किन्तु **(यदुपेक्षया!)** उपेक्षामात्रेण अव्यक्तः[२] तान् उपसंहरति. अनेन "यावान् कल्पः" (भाग.पुरा. २।८।१२) इत्यादिषु ये कालादयः आक्षिप्ताः ते सर्वे समाहिताः ज्ञेयाः ॥१२॥

किञ्च भगवान् अनन्तः कथं सृष्ट्यादि करोति इति न शङ्कनीयं, यतः तस्य सृष्टिप्रकारः[३] एवम् इति आह **एको नानात्वमन्विच्छन्** इत्यादिभिः.

एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः ॥
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा ॥१३॥
अधिदैवम् अथाऽध्यात्मम् अधिभूतमिति प्रभुः ॥
यथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाऽभिद्यत तच्छृणु ॥१४॥

भगवान् **एक**एव जले शयानो **(नानात्वम् अन्विच्छन्!)** अनेकरूपो भविष्यामि इति इच्छां कृतवान्. ततः शयानः **तल्पाद् उत्थितो,** यथा पुरुषः शय्यातः उत्तिष्ठति. ततः तस्य स्वात्मनो बहुधेच्छायां तस्य वासुदेवस्य

प्रकाशः

सुखेन सम्भवाद् इति. अपिच, बाह्वाद्यनियतत्वं यद् आक्षिप्तं तदपि लोके पुरुषकृत-स्वावयव-विवरणावरणवद् इच्छाधीनतया तृतीयश्लोकेन समाहितम् इति आहुः **अनेन** इत्यादि ॥१२॥

एकः इत्यत्र **तस्य वासुदेवस्य** इत्यादि. अत्र "द्रव्यं कर्म च" (भाग.पुरा. २।५।१४) इत्यस्य उत्तरार्धे पूर्वं "वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्वतः" इति पठितम्. अत्र च "यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया" (तत्रैव) इति पठित्वा अग्रे तस्मात् सृष्टिः उच्यतइति तत्र उक्तो वासुदेवो अयमेव इति आशयेन उक्तम्. तथा सति दशमस्कन्धे "वासुदेवकलानन्तः" (भाग.पुरा. १०।१।२४) इत्यत्र यो वासुदेवो वक्ष्यते,

---

१. क्रोधोऽपेक्ष्यत इति ख.   २. अव्यक्तं तानुपेति ख.   ३. -प्रकारमेवमिति घ.

मायारूपा या भार्या तया हेतुभूतया तस्याः सन्निधिमात्रेणैव **(हिरण्मयं!)** स्वस्मिन्नेव विद्यमानं बीजात्मकं **वीर्यं** सच्चिदानन्दरूपं **त्रिधा** सद्रूप-चिद्रूपाऽऽनन्दरूपभेदेन त्रिधा **असृजत्**. भेदत्रयमपि गणयति. प्रथमतः **अधिदैवम्**[१] आनन्दांशभूतम्, **अथ** तदनन्तरं **अध्यात्मं** चिद्रूपं, ततः **अधिभूतं** सद्रूपम् **(व्यसृजत्!)**. कथं कृतवान् इति अपेक्षायाम् आह **प्रभुः** इति, सर्वसमर्थः. **इति**शब्दः प्रकारे. यथा एतत्त्रयं निर्मितं तथा अन्येऽपि प्रकाराः निर्मिताइत्यनेन सर्वे त्रिविधाः उत्तरिताः. प्रकारविशेषेणाऽपि त्रैविध्यं जातं[२] निरूपयति **यथैकम् (पौरुषं वीर्यं त्रिधा अभिद्यते!)** इति. (यद्यपि!) प्रकारव्यतिरेकेण इच्छयैव त्रैविध्यं भवति तथापि प्रकारेणाऽपि निरूप्यते. **यथा एकम् अभिद्यत** अखण्डस्य यथा भेदः **तथा शृणु** इति अर्थः ॥१३-१४॥

तदेव आह.

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः ।।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥१५॥

अन्तःशरीरे इति, शरीरमध्ये हृदयस्थाने यः आकाशः तस्माद् **आकाशाद्** हेतोः पुरुषः चेष्टां कृतवान्. निरवकाशः चेष्टितुं न समर्थइति अधिकरणेऽपि आकाशस्य हेतुत्वम्. **पुरुषस्य** नारायणस्य **विचेष्टतः** शरीरमध्यएव चेष्टां कुर्वतः. इदन्तु तस्यैव शक्यम्. तदा तस्य चेष्टातः इन्द्रिया-ऽन्तःकरण-देहानां

प्रकाशः

"सात्विकेषु तु कल्पेषु" (तत्रत्य सुबो.का. १) इत्यनेन विवरिष्यते च, सो अयम् इति बोध्यम्. **सन्निधिमात्रेण** इति तां सञ्चायक-प्रतिकृतिरूपां कृत्वा. **अधिदैवम्** इत्यत्र. **अन्येऽपि** इति अन्यत्र उक्ता अत्र अनुक्ता अपि ॥१३-१४॥

अन्तःशरीर इत्यत्र. **अधिकरणेऽपि** इति स्वसृष्टजले. अत्र चेष्टाकरणेन इन्द्रियादि-सामर्थ्योत्पत्तिकथनात् चेष्टाजनकं स्वसामर्थ्यं तस्य[३] अन्यदेव इति ज्ञापनाय आहुः **इदन्तु तस्यैव शक्यम्** इति ॥१५॥

---

१. आधिदैवमिति घ. २. ज्ञातमिति ख.

३. तस्मान्यदेवेति इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

सामर्थ्यानि जातानि इति आह **ओजः सहो बलं जज्ञे** इति. **ततः** तदनन्तरं **प्राणो** जातः. तस्य प्राणस्य वायुत्वं निराकरोति **महान्** इति. महत्तत्वांशभूतः सूत्रात्मा, नतु भौतिको वायुः. अन्येऽपि प्राणाः सन्तीति विशेषणम् आह **असुः** इति. 'सुः' इति अनुकरणशब्दः ; श्वासवायुः, सः न भवतीति **असुः** भौतिकाद् अतिरिक्तः इति यावत्. भगवच्चेष्टामात्रेणैव इन्द्रियादिशक्तयः प्राणाश्च जाताः ॥१५॥

अनु प्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु ॥
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवाऽनुगाः ॥१६॥

तस्य प्राणस्य माहात्म्यम् आह **अनु प्राणन्ति** इति. पूर्वं राजसाहङ्कारात् प्राणादीनाम् उत्पत्तिः उक्ता ते आधिदैविकरूपाः[१], एते तु आध्यात्मिकरूपाः. **यं प्राणन्तम्**[२] **अनु प्राणन्ति** कार्यं कुर्वन्ति **प्राणाः** इन्द्रियाणि. तत्रापि न स्वरूपस्थम् अनु ; किन्तु, **प्राणन्तम् अनु ;** क्रियायाअपि क्रियापेक्षा सूचिता. तदा तस्य सर्वत्रैव तथात्वं जातम् इति आह **सर्वजन्तुषु** इति, आब्रह्म-तृणस्तम्बेषु. **अपानन्तम्** अपगच्छन्तम् **अनु** इन्द्रियाण्यपि **(अपानन्ति!)** अपगच्छन्ति. तस्य उपलक्षकत्वं [३]वारयति दृष्टान्तेन **नरदेवमिव अनुगाः** इति, राजानम् अनु सेवका इव ॥१६॥

एवं तस्य माहात्म्यम् उक्त्वा ततो अग्रे सृष्टिम् आह.

प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृडन्तरा जायते प्रभोः ॥
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत ॥१७॥
मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायत ॥
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥१८॥

प्रकाशः

अनु प्राणान्ति इत्यत्र. **एते तु आध्यात्मिकरूपाः** इति. एतेन "प्राण ओजो सहो बलम्" (श्लो. १५) इति पद्योक्तानां नभस्तः उत्पन्नानां भौतिकत्वं बोधितम्. **सर्वत्र** इति व्यष्टौ ॥१६॥

---

१. -दैविकभूताः घ. २. प्राणमनु इति ख.

३. निवारयति इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृड् इति. प्राणः करणं[१] **क्षिपता** क्षेपयुक्तेन. अन्तःस्थितानि वस्तूनि मलादीनि **क्षिपता** इतस्ततो विक्षिपता **क्षुत्तृड्** – अग्निविशेषौ इति एके, मृत्युः इति अपरे, ऊष्माविशेषः इति एके – **(प्रभोः!)** भगवानेव वैश्वानररूपः क्षुत्तृड्-वृत्तिद्वयात्मकः **अन्तरा** उदरमध्ये **(जायते!)**. ततः तद्वशात् पिपासा जिघृक्षा च जाता. ततो बहिःस्थितपदार्थान् जलान्नरूपान् **पिपासतो जक्षतश्च** पातुम् इच्छोः भोक्तुम् इच्छोश्च **प्राक्** पूर्वभागे – पुरुषेणैव हि विभज्यन्ते दिशः – **मुखं** विवरात्मकं **निरभिद्यत** भिन्नं जातम्. तथापि न स्फुटितमिव किन्तु द्वारमिव. तत्रैव मुखे विवरात्मके तस्मादेव **मुखाद्** हेतुभूतात् **तालु** लोके **जिह्वा** इति प्रसिद्धं **(निर्भिन्नं!)** तन्मध्ये निर्गतम्. उपर्यधो देवाः अंशतः[२] एकीभूताः पदार्थाऽऽदानार्थे[३] तालुरूपेण निर्गताः इति अर्थः. **तत्र जिह्वेन्द्रियं उपजायत** आविर्भूतम् इति अर्थः. **ततः** इन्द्रियाद् निमित्तभूतात् तदनन्तरं वा **नानारसो जज्ञे** मधुरादिः.

सर्वोऽपि विषयस्तत्र जायते कारणत्वतः ॥
बहिःस्थितो वा तस्येच्छावशतो जायते रसः ॥(५)॥

प्रकाशः

प्राणेन इत्यत्र. **प्राक् पूर्वभागे** इत्यादि. एतेन "यथा कालो अनुमीयते" (भाग.पुरा. २।८।१२) इति प्रश्ने "सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः" (भाग.पुरा. ५।२०।४५), "यत्र उदेति सा प्राची" (द्रष्ट. अथर्ववेदसंहि. सायणभा. १७।१।१६), "सर्वेषां द्वीपवर्षाणां मेरुः उत्तरतः स्थितः" (देवीभाग. ८।१५।२६) इत्यादि वाक्येभ्यो दिग्बहुत्वाव्यवस्थितत्वाभ्यां कर्ण-दिशोः सङ्ख्या-व्यवस्था-विरोधो यः आक्षिप्तः स्थितः सः समाहितः इत्यादि ज्ञापितम्. एवं सति सूर्यकृत-दिक्सङ्ख्या-व्यवस्थयोः पूज्यपूजकमध्य-प्राचीवद् व्यवहारार्थत्वाद् न कश्चिद् दोषः इति सिद्ध्यति. **मुखतः** इत्यत्र. **उपर्यधो देवाः** इति वरुणः उदानादि-वायुदेवताश्च. **तत्र**

---

१. कारणमिति ख. २. अंशेन इति मा.१ पाठः - सम्पा.
३. पदार्थास्तात्विति घ.

अनेन अन्नादीनामपि एषैव व्यवस्था ज्ञापिता. अन्तःस्थितिपक्षेऽपि तालुव्यापारेणैव तालुद्वारा क्षुतृट्-शामकं[1] भवतीति मुखादिनिर्माणं, [2]उपदीका-गजादिवत्. बहिर्विषयपक्षे तु न सन्देहः. रसाः शृङ्गारादयोऽपि भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **जिह्वया यो अधिगम्यते** इति. **अधिगम्यते** ज्ञायते, विषयतया स्वीक्रियते इति वा ॥१७-१८॥

ततः तस्मिन्नेव स्थाने इन्द्रियान्तरं जातम् इति आह.

विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग्व्याहृतं तयोः ।
जले वै तस्य सुचिरं निरोधः समजायत ॥१९॥
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति ।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः ॥२०॥

विवक्षोः इति वेदरूपां वाणीं वक्तुम् इच्छोः **मुखतः** विवरात्मकाद्

प्रकाशः

इति विराट्शरीरे. **अन्नादीनाम्** इति षष्ठाध्यायोक्तानां तेषाम्. ननु अन्तरेव[3] नानारसोत्पत्तिपक्षे मुखनिर्माणवैयर्थ्यम् आयातीति सः पक्षो न सङ्गतः इति आकाङ्क्षायां तत्पक्षेऽपि तत्सङ्गतिं व्युत्पादयन्ति **अन्तः** इत्यादि. षष्ठाध्याये क्षेत्रम् इति अधिकृत्य "हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च" (भाग.पुरा. २।६।१) इति कथनाद् जिह्वायामेव रसादिस्थितिरिति तत्पक्षेऽपि क्षुत्पिपासाऽपाकरणस्य उदरे अन्नादिप्रवेशे सति भवनात्, तस्य च तालुव्यापाराधीनत्वाद्, व्यापारस्य च विवराधीनत्वाद् विवरात्मकं मुखं तालुव्यापारेणैव तालुद्वारा क्षुदादिशामकं भवतीति मुखनिर्माणं युक्तम् इति अर्थः. अन्तर्निर्माणे दृष्टान्तम् आहुः **उपदीका** इत्यादि. **उपदीका** कीटविशेषः उदेही[4] इति प्रसिद्धः ॥१७-१८॥

---

१. -क्षामकमिति ख.

२. उपदीकाः श्वेतपीपिलिकाः कीटविशेषाः व्हाईट एन्ट्स् इति वाचस्पत्यम् - सम्पा.

३. अन्तः एवम् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

४. उदेह इति मा.पाठे - सम्पा.

हेतुभूतात्. **भूम्नो** व्यापकस्य आकाशरूपस्य. **मुखतः** इत्येतस्य विशेषणम्, आकाशएव यतः शब्दो भवति. यथा तालुरूपे जिह्वा तिष्ठति तथा मुखमध्ये यः आकाशः तस्मिन् वागिन्द्रियं तिष्ठति इति अर्थः. तत्र प्रथमं **वह्निः** देवता. वाक् स्त्रीरूपा न भर्तारं विना निर्गच्छतीति ततो[१] अत्र देवता प्रथमं निरूपिता, ततो **वाग्** इन्द्रियम्. ततो अन्यत्राऽपि प्रथमं देवता पश्चाद् इन्द्रियम् इति ज्ञापितम्. **व्याहृतं तयोः** इति. **तयोः** सम्बन्धि **व्याहृतं** वाग्व्यापारो देवताधिष्ठितेन्द्रियसाध्यो, न केवलसाध्यः. एवम् अन्यत्राऽपि. ततः चालनेन अन्तर्वायुः उद्गतः, सच अन्तःपूर्णः क्षोभं जनयति इति तन्निवृत्त्यर्थं **नासिके** नासापुटे **निरभिद्येताम्**. तस्य बहिःपदार्थ-ग्रहणावश्यकत्वाभावेऽपि अन्तःस्थित-वायोरेव निमित्तत्वम् आह **दोधूयति नभस्वति** इति. नभस्वान्[२] वायुः, तस्मिन् अत्यन्तं कम्पमाने सति. अथवा नासिकायां चलनात्मको वायुरेव गोलकरूपः. **तत्र वायुः** देवता गन्धं वहति इति **गन्धवहो, वायुः घ्राणो** वा. उभयोः मध्ये विशेषणं गन्धस्य विषयत्वबोधकम्. **घ्राण** इन्द्रियं, **नसि जिघृक्षतः** इति नासिका गोलकस्थानीया गोलकाधाररूपा वा. गन्धं **जिघृक्षतः** आघ्रातुम्

प्रकाशः

विवक्षोः इत्यत्र. **आकाशरूपस्य** इति. सद्रूपस्य व्यापकत्वेऽपि साधारणत्वेन शब्दोत्पत्ति-जनकत्वाभावाद् एवं व्याख्यातं ज्ञेयम्. **नासिके निरभिद्येताम्** इत्यत्र. **निमित्तत्वम्** इति नासानिर्भेद-निमित्तत्त्वम्. **दोधूयति नभस्वति** इति उक्त्वा पुनः वायुकथनात् पक्षान्तरं सम्भवति इत्यतः तम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **चलनात्मकः** इति **दोधूयति** इत्यनेन सूचितः. अत्र अश्विनोः न देवत्वम् इति ज्ञापनाय आहुः **वायुः देवता** इति. पक्षद्वयम् उपष्टभ्नन्ति **नसि** इत्यादिना. तथाच नभस्वतो गोलकत्वानङ्गीकारे **नस्**पदम् अनतिप्रयोजनं स्याद् अतः सः वायुः गोलकः, तद्गोलकं नासा इति अवगन्तव्यम् इति अर्थः ॥१९-२०॥

---

१. तत्रातो देवतेति ख. २. नभस् (आकाश) + वत् = नभस्वान् - सम्पा.

इच्छतो भगवतः निरभिद्यत / उद्‌गतं / जातं / गृहीतम्[१] इति यथायोग्यं क्रिया[२] अनुसन्धेया ॥१९-२०॥

एवं मुख-नासिके उपपाद्य अक्षिणी निरूपयितुम् आह.

यदात्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः ॥
निर्भिन्ने अक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः ॥२१॥
बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः ॥
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः ॥२२॥

यदात्मनि निरालोकम् इति, आसीद् इति अर्थः. **आत्मा** देहः. तत्र कीदृशो अहम् इति यदा न ज्ञातवान्, कीदृशे च स्थाने तिष्ठामि, अन्यत् **च (आत्मानं!)** स्वसम्बन्धिनं **दिदृक्षतः अक्षिणी निर्भिन्ने.** चक्षुरादीनाम् आलोकापेक्षा नास्ति इति पूर्वमेव उक्तम्. तस्य तु मायामोहो नास्तीति न मायाकृतप्रतिबन्धः. **निरालोकस्तु** अदर्शनकृतः. तत्र देवता **ज्योतिः** सूर्यः इति यावत्. सूर्यस्य ज्योतीरूपम् आधिदैविकम्, आध्यात्मिकन्तु मण्डलं 'सूर्य'शब्दवाच्यं, किरणास्तु आधिभौतिकाः. अतो अत्र आधिदैविक-मेवेति **ज्योतिः**शब्दप्रयोगः. **चक्षुः** इन्द्रियं, **गुणो** रूपम्. पञ्चानां मध्ये रूपस्यैव प्रसिद्धत्वाद् देवतेन्द्रियाभ्यां गुणज्ञानं भवति इति अर्थः. तदनन्तरं भगवन्तं महापुरुषम् ऋषयो मन्त्राः स्तोतुम् आरब्धवन्तः तदा **ऋषिभिः** स्तूयमानस्य साक्षात् त्वं परब्रह्म इति **बोध्यमानस्य आत्मनः** पूर्वोक्तस्य – देहव्यावृत्त्यर्थं वा – **तज्जिघृक्षतः** तैः उच्यमानं स्वरूपं गृहीतुम् इच्छतः

प्रकाशः

यदात्मनि इत्यत्र. **आत्मानञ्च दिदृक्षतः** इत्यनेन चक्षुषो द्रव्यग्राहकत्वं[३] तथा बोध्यते. तेन गुणग्राहकत्वं तथात्वं न दुष्टम्. **मायाकृतप्रतिबन्धः** इति तमःकृतप्रतिबन्धः ॥२१॥

---

१. गृहीतुम् इति मुद्रितपाठः अर्थस्वारस्यात् संशोधितः - सम्पा.

२. क्रियाः अनुसन्धेयाः इति मुद्रितपाठः. खपाठे तु एवम् - सम्पा.

३. द्रव्यग्राहकत्वम् इति रूपवद्-द्रव्यग्राहकत्वं ज्ञेयम् - सम्पा.

कर्णौ निरभिद्येतां गोलकरूपे[१]. **दिशो** देवताः, **श्रोत्रम्** इन्द्रियम्. **गुणग्रहः** शब्दग्रहणं, शब्दस्य पूर्वसिद्धत्वात्. एवं त्रीणि इन्द्रियाणि द्विगोलकानि निरूपितानि ॥२१-२२॥

व्यापकम् इन्द्रियम् आह.

वस्तुनो मृदुकाठिन्यं लघुगुर्वुष्णशीतताम् ।
जिघृक्षतस्त्वङ् निर्भिन्ना तस्याः लोम महीरुहाः ॥
तत्र चाऽन्तर्बहिर्वायुस्त्वचाऽऽलब्धगुणो वृतः ॥२३॥

वस्तुनः इति. **वस्तुनो** घट-पटादेः **लघ्वादीन् जिघृक्षतः त्वग् निर्भिन्ना. तस्यां लोम** इन्द्रियं, **महीरुहाः** देवाः. **लघु** सूक्ष्मम्. 'लघु'शब्दो धर्मवाची धर्मिणमपि प्रचुरप्रयोगाद् बोधयति. तदभिप्रायेण 'लाघवा'दिशब्दाः. अतएव चातुर्यादौ 'लाघव'शब्दः. अत्र **लघु**शब्दः स्पर्शविशेषवाची, यथा सूक्ष्मवायुस्पर्शः[२]. **मृदुत्वन्तु** गाढस्पर्शेन अवगम्यते. सर्वत्र स्पर्शविधाने

प्रकाशः

वस्तुनः इत्यत्र. ननु 'लघु'शब्दस्य धर्मत्वे ''अस्मिन् वस्तुनि लाघवं दृश्यते'' इत्यादि प्रयोगो बाधितः स्याद् इति आशङ्कायाम् आहुः **धर्मिणमपि** इत्यादि. प्रचुरप्रयोगादेव धर्मिणं बोधयति इत्यत्र गमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. **अतएव** इति धर्मिणि प्रयोगप्राचुर्यदिव. **चातुर्यादौ** इति चातुर्य-सौष्ठवाऽदीर्घदर्शित्वोत्तालत्वादिधर्मेषु. तथाच अत्र शास्त्रे वस्तुधर्मे 'लघ्वा'दिशब्द-प्रयोगेऽपि चातुर्यादौ 'लाघवा'दिपद-प्रयोगाद् 'लघ्वा'दिशब्दानां धर्मिण्यपि प्रचुरप्रयोगः उभयसामञ्जस्याय आदरणीयः इति अर्थः. ननु शास्त्रान्तरे गुरुत्वस्य गुणमध्ये गणनात् तदभावे 'लाघव'पदं प्रयुज्यतइति कथं तस्य वस्तुधर्मत्वम् इति आशङ्कायाम् आहुः **अत्र** इत्यादि. एतद्दार्ढ्याय उदाहरणम् आहुः **यथा** इत्यादि. तथाच नहि तत्र गुरुत्वाभावग्रहः अपितु सूक्ष्मस्पर्शस्यैव ग्रहइति न तस्य गुरुत्वाभावरूपत्वम् इति अर्थः. ननु अस्तु एवं तथापि मृदुत्वस्य चक्षुषापि ग्रहणात् तज्जिघृक्षया त्वङ्निर्भेदकथनम्

---

१. गोलकरूपौ इति सं.-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

२. वायुः स्पर्श इति ख.

लघुस्पर्शएव विधीयते कर्णादिषु. **काठिन्यं** कठिनस्पर्शः पाषाणादिषु, **मृदुस्तु** कोमलः. [१]पिच्छिलताऽपि तस्यैव भेदः पट्टवस्त्रादिषु. **गुरुत्वमपि** स्पर्शः.

प्रकाशः

अत्र न युक्तम् इत्यतः आहुः **मृदुत्वम्** इत्यादि. तथाच तत्र चाक्षुषन्तु उपनीतभानं, नतु लौकिकम् इति अर्थः. अतएव गुल्मनवरङ्गाख्ये कुसुमे रूपकृत-मृदुत्वभ्रमोऽपि युज्यते. ननु स्पर्शस्य गमकत्वम् असङ्गतम्, अक्लृप्तत्वेन गौरवाद् इत्यतः आहुः **सर्वत्र** इत्यादि. **सर्वत्र** लघ्वादिषु गमकत्वेन अत्र **स्पर्शस्य विधाने लघुस्पर्शएव कर्णादिषु** इन्द्रियान्तरेषु द्रव्यग्रहणव्यापारत्वेन **विधीयते** अत्र शास्त्रे. अतः स्पर्शेनैव सर्वत्र व्यापारनिर्वाहाद् न गौरवं किन्तु लाघवमेव इति अर्थः. नच श्रोत्रेण शब्दग्रहणे स्पर्शस्य व्यापारत्वम् असङ्गतम् इति वाच्यं, शब्दवाहकेन वायुना श्रोत्रपर्यन्तम् आनीतस्य शब्दस्य श्रोत्रावच्छिन्नत्वचा सह वाहकवायुस्पर्शे तमेव संयोगाख्यं स्पर्शं व्यापारीकृत्य शब्दग्रहणस्य अनुभवसाक्षिकत्वात्. नच नाभसे श्रोत्रेन्द्रिये स्पर्शाभावात् स्पर्शस्य तज्जन्यत्वाभावाद् व्यापारत्वम् असङ्गतम् इति वाच्यम्, अवान्तरद्वारत्व-मात्रस्यैव व्यापारलक्षणत्वेन अङ्गीकारात्. इदं यथा तथा प्रस्थानरत्नाकारे व्युत्पादितं मया इति ततो अवधेयम्. एवं चाक्षुष-घ्राण-रासनेष्वपि व्यापारत्वं लघुस्पर्शस्यैव सौकर्याद् अभ्युपेयं ; त्वचि गाढस्पर्शस्यापि इति विशेषः. नच एवं चक्षुर्व्यापारीभूतस्य स्पर्शस्य चक्षुषा त्वचा वा ग्रहणापत्तिः, शब्द-गन्ध-भास्वर-रूपातिरिक्त-भौतिकगुणप्रत्यक्षे यावदाश्रय-प्रत्यक्षस्य कारणताभ्युपगमात्. नापि सर्वत्र, स्पार्शन-व्यवहारस्य[२] करणनिबन्धनत्वेन अत्र स्पर्शस्य तथात्वाभावेन तदप्रसङ्गाद् इति. काठिन्यादीनां स्वरूपम् आहुः **काठिन्यम्** इत्यादि. ननु लघुत्वस्य अतिरिक्तत्वाङ्गीकारे पिच्छिलत्वादीनाम् अन्येषामपि धर्माणां विद्यमानत्वात् तेषामपि अतिरिक्तत्वा-पत्तिः इत्यतः आहुः **पिच्छिलतापि** इत्यादि. एतेन स्नेहस्यापि त्वग्ग्राह्यत्वात् स्पर्शएव अन्तर्भावः इति बोधितम्. नच सङ्ग्रहनिमित्तत्वेन मृजानाश्यत्वेन

१. चिकना इति भाषायाम् - सम्पा.

२. व्यवहारत्वस्य इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

यद्यपि शास्त्रान्तरे भिन्नो धर्मः उत्तोलनादिना अवगम्यते तथापि सो अस्मिन् शास्त्रे स्पर्शएव, स्पर्शसहितेनैव तोलनादिना अवगमात्. स्पर्शरहितं तोलनम् अनुमानम्, अन्यथा कारणे गुरुत्वस्य अभावात् कार्ये कथं भवेत्! बहुत्वन्तु

प्रकाशः

सो अतिरिक्तएव अङ्गीकार्यः इति वाच्यं, स्पर्शस्यैव तथात्वाङ्गीकारेऽपि बाधकाभावात्. एवं द्रवत्वस्यापि स्पर्शभेदत्वमेव ज्ञेयं, युक्तेः तौल्यात्. ननु आद्यपतनासमवायित्वाद् अतीन्द्रियत्वाद् अवनमनोन्नेयत्वाच्च न स्पर्शविशेषो गुरुत्वम् इति आशङ्कायाम् आहुः **यद्यपि** इत्यादि. **स्पर्शसहितेन** इति त्वाचस्पर्शसहितेन. तथाच त्वाचप्रत्यक्षविषयत्वात् स्पर्शविशेषएव सः इति अर्थः. अतएव पाणौ फल-कुसुमयोः स्थापने पाणिनमनाभावेऽपि फलगुरुत्वानुभवो युज्यते ; अतीन्द्रियत्वाङ्गीकारस्तु भ्रमादेव, वस्तुविष्टम्भेन तद्गुरुत्वस्य अध्यक्षत्वात्. ननु केवलस्पर्शेन अनवगमात् स्पर्शरहितेन केवलतोलनेन च अवगमाद् गुरुत्वम् अतिरिक्तम् अतीन्द्रियमेव, ऐन्द्रियकत्वाङ्गीकारएव भ्रमाद् इति चेत्, तत्र आहुः **स्पर्शरहितम्** इत्यादि. तथाच तत्र तुलानमनाद्[१] "इदम् अस्माद् गुरु" इति आपेक्षिकं गुरुत्वं सिद्ध्यति. तत् च कल्पितमेव. अतो अनुमानस्य अर्थान्तरत्वेन तदसाधकत्वाद् न तेन तत्सिद्धिः इति अर्थः. ननु पृथक्त्वादिवद् आपेक्षिकमेव गुरुत्वम् अस्तु, को दोषः इति चेत्, तत्र आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **अन्यथा** इति आपेक्षिकत्वाङ्गीकारे. तथाच पृथक्त्वस्य कारणे नित्यत्वात् कार्ये च विभागजन्यत्वाद् वास्तवमेव तदपेक्षाबुद्ध्या ज्ञायतएव, नतु जन्यते. प्रकृते तु परमाणोः सर्वतो लघुत्वेन कारणे तस्य अभावात् कार्ये तस्य उत्पत्तिः केन स्याद्? अतः तन्निमित्तस्य अशक्यवचनत्वात् तत्र आपेक्षिक-तदङ्गीकारो न युक्तः इति अर्थः. नच एवं सति लघुत्वमेव अतिरिक्तम् अङ्गीकार्यम् इति युक्तं, तस्यापि आपेक्षिकत्वेन कार्यसिद्धेः पूर्वम् अशक्यवचनत्वात्, तस्य कारणनिष्ठत्वेन तज्जनक-गुणान्तरस्य तत्र असत्त्वेन आपेक्षिकस्य तस्य पश्चादपि तत्र वक्तुम् अशक्यत्वाच्च. अतः

---

१. तुलादिनमनाद् इति मुद्रितपाठः. मा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

महत्त्वबोधकमेव, न गुरुत्वबोधकम्. केचित्तु शिथिलावयवयोगेन लघुत्वं,

प्रकाशः

उभयमपि स्पर्शविशेषरूपं त्वग्ग्राह्यमेव अङ्गीकार्यम् इति अर्थः. ननु✻ अस्ति नित्यम् अतिरिक्तं गुरुत्वं परमाणुमात्रवृत्ति. तेन सङ्ख्यया सङ्ख्यान्तरमिव गुरुत्वान्तरन्तु न जन्यते. यदि जन्येत तदा लोकतोलकमितावयवारब्धे अवयविनि अवयव-गुरुत्वाभ्यां सह अस्य तोलकचतुष्टयमितं गुरुत्वं स्यात्. तत् च न दृश्यते इति परमाणुमात्रवृत्ति नित्यं निरपेक्षमेव तत्. तद्बहुत्वादेव अवयविनि गुरुत्वाधिक्यप्रतीतिः इति बहुत्वबोध्यमेव तद् ✻इति चेत्, तत्र आहुः **बहुत्वन्तु** इत्यादि. तथाच बहुत्वस्य गुरुतूलपुञ्ज-लघुपाषाणयोः पातने पाषाणस्य प्रथमतः पातो न स्यात्, पाषाणे बहुत्वबोधितस्य गुरुत्वस्य अभावात्. तस्माद् न गुरुत्वबोधकं किन्तु महत्त्वबोधकमेवेति न एवमपि तत्सिद्धिः इति अर्थः. नच गुरुत्वस्य स्पर्शविशेषत्वे वायावपि तदापत्तिः इति वाच्यम्, इष्टापत्तेः. नच प्रत्यक्षबाधः, वायुपूरित-दृतितोलन-शीघ्रपतनाभ्यां तत्र तन्निश्चयात्. नच बहिर्वायौ तदापत्तिः, प्रचितस्यैव तस्य गुरुत्वारम्भकत्वात्. एवञ्च सुवर्णादिनिष्ठमपि गुरुत्वं तैजसमेव, बाधकाभावात्. नच तेजोन्तरे तदापत्तिः, उक्तयुक्तेः. मास्तु वा तत्र तत्, तथा(पि!) न दोषः, वायौ उष्णस्येव तेजसि शीतस्येव तत्र गुरुत्वाख्य-स्पर्शाभावेऽपि तस्मिन् स्पर्शरूपत्वस्य अबाधाद् इति. गुरुत्वसाधकं मतान्तरं दूषयितुम् उपक्षिपन्ति **केचित्तु** इत्यादि. एतन्मते परमाणुषु न गुरुत्वम्. यद्यपि अत्र न पूर्वो दोषः, तूलस्य शिथिलावयव-युक्तत्वेन गुरुत्वाभावात् तत्प्रथमपातस्य (अ!)सम्भवात्, तथापि शिथिलावयव-श्लिष्टावयवौ द्वावपि यत्र सन्निहितौ तत्र तोलनेन शिथिलावयवे गुरुत्वसिद्धिः, द्वितीये च प्रथमपातेन गुरुत्वसिद्धिः, तत्र अपेक्षाबुद्धेः उभयत्र तौल्येन आपेक्षिकस्य गुरुत्वस्य एकत्र निश्चेतुम् अशक्यत्वात्. एवं बृहत्काष्ठ-स्वल्पपाषाण-तरण-मज्जनयोः हेतौ पृष्टे लोको मज्जने पाषाणस्य गुरुत्वं वक्ति, तोलने तु तद्वैपरीत्येन काष्ठे तद् वक्ति इति ताभ्यां प्रथमपात-तोलनाभ्यां वा गुरुत्वस्य एकत्र (न!) निश्चयः इति न अत्र अनुमानं प्रमाणं, सत्प्रतिपक्षत्वात् साध्याप्रसिद्धेश्च. अतो अतीन्द्रियातिरिक्त-गुरुत्वाङ्गीकारः प्रशस्तपादभाष्य-विश्वासादेव इति दिक्.

श्लिष्टावयवयोगेन गुरुत्वम् आहुः, तदपि असङ्गतं, स्पर्शातिरिक्तस्य संयोगस्य निरूपयितुम् अशक्यत्वात्. स्पृष्टमेव संयुक्तम् उच्यते लोके. अन्यथा स्पर्शातिरेकेण चाण्डालादिसंयोगे प्रायश्चित्तम् अन्यत् स्यात्! तस्मात् प्रशिथिलावयव-संयोगादि-निरूपणेऽपि लघुत्वं गुरुत्वं स्पर्शएव. श्लेषस्तु विभागाभावएव. अनेनाऽपि संयोगो न अतिरिच्यते. संयुक्ताअपि अङ्गुलयः चतस्रो भवन्ति, संश्लेषे तु न तथा यथा मिलिताङ्गुलेः. तस्माद् न

प्रकाशः

प्रकारान्तरेण दूषयन्ति **तदपि असङ्गतम्** इति. **अपि** गर्हायां, गर्हा च उक्तयुक्तिभिः दूषणेऽपि पुनरुत्थानात्. एवं सति गर्हामुखेन एताः युक्तयः सङ्गृहीताः ज्ञेयाः. दूषणे हेतुम् आहुः **स्पर्शे**त्यादि. तथाच तज्जनक-संयोगासिद्ध्या सुतरां तदसिद्धिः इति अर्थः. ननु संयोगस्य चाक्षुषत्वात् कथं तदसिद्धिः इत्यतः आहुः **स्पृष्टम्** इत्यादि. अयम् अर्थः — स्पर्शत्वं हि रूपव्यापकगुणत्वं वा, शब्दव्याप्यगुणत्वं वा, वाय्वादिचतुष्टय-गुणत्वं वा, तद्व्यङ्ग्यजातिरूपं(त्वं) वा अङ्गीकार्यम्. तत् च लक्षणं संयोगेऽपि तुल्यमिति लोके प्रयोगोऽपि तथेति संयोगो न गुणान्तरम् इति. ननु लोकोक्तिमात्रेण संयोगस्य स्पर्शभेदत्वं न वक्तुं शक्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **अन्यथा** इति लोकोक्तेः भ्रान्तित्वे. तथाच प्रायश्चित्तद्वयास्मरणाद् मन्वादीनामपि अयमेव आशयः इति न सा भ्रान्ता (/भ्रान्तिः!) इति अर्थः. नच संयोगस्य व्यासज्यवृत्तिमात्र-वृत्तित्वेन स्पर्शस्य च व्यासज्या-ऽव्यासज्यवृत्तित्वेन भेदः इति वाच्यं, पाकज-मृदुत्वादिवत् तदानीमेव संयोगस्य जननेन तत्प्रतीत्या तस्याः स्पर्शभेदाऽनापादकत्वात्. इदं यथा तथा प्रस्थानरत्नाकराद् अवगन्तव्यम्. फलितम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **तस्मात्** प्रत्यक्षतो निश्चितत्वात्. संयोगस्य श्लेषरूपत्वं दूषयितुं प्रसङ्गात् श्लेषस्वरूपम् आहुः **श्लेषस्तु** इति. ननु विभागाभावएव संयोगो अस्तु, किं बाधकम् इति चेत्, तत्र आहुः **अनेनापि** इत्यादि. **न अतिरिच्यते** स्पर्शातिरिक्तो न भवति इति अर्थः. तत्र हेतुः **संयुक्ते**त्यादि. **न तथा** न भेदप्रतीतिः. **तस्माद्** अभेदप्रतीत्यजनकत्वात्. नच संयोगस्य स्पर्शरूपत्वे आत्म-मनसोः तद्रहितत्वात् स्पर्शाभावे ज्ञानानुदयप्रसङ्गः, "अन्नमयं हि सौम्य मनः"

स्पर्शातिरिक्तः संयोगः, नच गुरुत्वादयः. **उष्णम्** ईषदुष्णस्पर्शः, अत्युष्णस्य[१] स्पर्शायोग्यत्वात्, त्वचो दाहसम्भवात्. **शीतता** शीतस्पर्शः. अथवा **लघु-काठिन्यं** लघु-कठिनयोः भावः, लाघवं काठिन्यञ्च – मृद्वाद्यन्ते 'तल्'प्रत्ययः सर्वत्रैव सम्बध्यते, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् – ततो **मृदुत्वं गुरुत्वम् उष्णत्वं शीतत्वम्** इति. यः शब्दो यद्धर्मपुरःसरेण धर्मिणि प्रवर्तते तस्य भावः सएव धर्मः. अतः शब्दप्रवृत्ति-निमित्तमेव भावः इति केचित्.

प्रकाशः

(छान्दो.उप. ६।५।४) इति श्रुतेः अन्नविकारत्वेन वैकारिकाहङ्कार-कार्यत्वपक्षेऽपि अन्नपोषितत्वेन मनसि तत्सत्त्वात्. एवञ्च "देहं मनोमात्रम् इमं गृहीत्वा" (भाग.पुरा. ११।२३।५०) इति च सङ्गच्छते. तन्नित्यत्वादिकन्तु प्रस्थानरत्नाकरे दूषितम् इति ज्ञेयं सुज्ञैः. ननु मनसः स्पर्शवत्त्वेऽपि "यन्न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासवः" (भाग.पुरा. ६।१६।२३) इति वाक्याद् आत्मस्पर्शाभावाद् ज्ञानोदयः तथापि दुर्घटः इति चेद्, मा एवं, स्वाप्नभिन्न-जन्यज्ञानस्य मनोधर्मत्वात्, "ह्रीर्धीः सर्वे मन एव" (बृहदा.उप. १।५।३) इति श्रुतेः जीवात्मा तु अध्यासेन मनआदि धारयन् प्रयोजको भवतीति अन्तःकरणादिभिरेव तदुदयस्य सुघटत्वात्. नच देहविष्टम्भानुपपत्तिः, आत्माध्यस्तबुद्धि-वृत्तिविशेषेण प्राणेन वा तत्सम्भवात्, "यस्य कालेन नो यायाद् वियोगः प्राण-देहयोः, प्राणिनश्च स्वसमये मृत्युः अत्यन्तविस्मृतिः" (गरुडपुरा. २।२।३५) इति मृत्युलक्षणेन तथावधारणात्. ब्रह्माण्डस्य जीवशरीरत्वं यस्मिन् कल्पे तत्र अयमेव कल्पः ; यत्र ब्रह्मशरीरत्वं तत्र तु तत्सामर्थ्येन तत्सम्भवः, "यो लोकत्रयम् आविश्य विभर्ति अव्ययः ईश्वरः" (भग.गीता १५।१७) इति वाक्याद् इति दिक्. 'लघ्वा'दिशब्दानां धर्मिवाचकत्वम् अभ्युपगम्य पक्षान्तरम् आहुः. **अथवा** इत्यादि. **अतः** शक्यतावच्छेदकरूपत्वात्. जातेः खण्डनाद् अननुमानाच्च अत्र अस्वरसं हृदिकृत्य, भगवतः सर्वशब्दवाच्यत्वञ्च पत्रावलम्बनोक्तरीत्या हृदिकृत्य तत्त्वम्

---

१. अत्युष्णस्पर्शेति ख.

सर्वत्र अनुस्यूतः सत्तापरपर्यायः ; तदंशाएव सर्वैः शब्दैः उच्यन्तइति सर्वशब्दवाच्यो भावः इति शास्त्रार्थः. 'अभाव'शब्देऽपि निषेधपूर्वको भावः प्रतीयते, अन्यथा अभावो निःस्वभावः स्यात्! अत्र त्वगिन्द्रिये भेदद्वयम् अस्ति— कण्डूः, स्पर्शश्च तयोः विषयः. बहिःस्पर्शएव कण्डूः. अन्तस्तु

प्रकाशः

आहुः **सर्वत्र** इत्यादि. महाभाष्य-वाक्यपदीय-प्रभृतिषु अयमेव सिद्धान्तः इति न अत्र कश्चित् सन्देहः इति अर्थः. ननु 'भाव'शब्दस्य सत्तावाचकत्वे 'अभाव'पदात् त्व-तलाद्यनुपपत्तिः इत्यतः आहुः **अभावे**त्यादि. "भावान्तरम् अभावो अन्यो न कश्चिद् अनिरूपणाद्" (श्लोकवार्तिक १।१।४।११८) इति अभियुक्तोक्तेः तत्रापि एकतरनिषेधपूर्वकं भावान्तरमेव भेदस्थले प्रतीयते. संसर्गाभावस्थले ध्वंस-प्रागभावयोः कारणावस्था वा, तन्निरूप्यो निषेधपूर्वकः प्रतियोगी वा, प्रतीयते. एवं अत्यन्ताभावस्थलेऽपि "घटो नास्ति"- "घटाभावः" इत्यादि प्रत्ययाद् निषेधपूर्वकः प्रतियोग्येव प्रतीयते इति तस्य भावरूपत्वात् ततः सुखेन त्व-तलाद्युपपत्तिः इति अर्थः. एतदुपष्टम्भाय तर्कम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. अभावो यदि भावरूपो न स्यात्, खपुष्पादिवद् निःस्वभावः स्यात्. तथा सति न प्रतीयेत. अतो योग्यानुपलब्धिग्राह्यस्य तत्स्वभावस्यैव अनुमापकत्वात् तस्य निषेधपूर्वक-भावरूपत्वम् अनुमानसिद्धम् इति अर्थः. तथाच प्रयोगः— "अभावः भावरूपः, 'अस्ति' इति अबाधितप्रतीति-विषयत्वात्, घटवद्, यद् न एवं तद् न एवं खपुष्पवद्" इति. अग्रे समानप्रकरणे "त्वचम् अस्य विनिर्भिन्नां विविशुः धिष्ण्यमोषधीः, अंशेन रोमभिः कण्डूं यैः असौ प्रतिपद्यते" (भाग.पुरा. ३।६।१८) इति 'कण्डू'नामक-स्पर्शसुखग्रहणार्थं त्वङ्निर्भेदो वक्ष्यते. सो अत्रापि **तस्यां लोमे**त्यादि कथनाद् अभिप्रेतः इति ज्ञापयितुम् आहुः **अत्र** इत्यादि. **अत्र** इति शास्त्रे. ननु त्वचः कण्डूग्राहकत्वे उक्तनियमभङ्गाद् लघ्वादिषु स्पर्शत्व-साधनप्रयासो व्यर्थएव इत्यतः आहुः **बहिः** इत्यादि. बहिः स्पर्शे जायमाने यत् सुखम् उत्पद्यते सैव कण्डूः. अन्तः जायमाना तुल्यस्पर्शरूपा स्पर्शजन्यापि. तथाच तस्याः स्पर्शाभिन्नत्वाद् न तेषु स्पर्शत्वसाधन-प्रयासवैयर्थ्यम् इति अर्थः. ननु एवं कण्ड्वापि स्पर्शरूपत्वे किमिति त्वग्द्वयकल्पना

स्पर्शोऽपि. सच **लोम**शब्दवाच्यः कण्डूग्राहकः. तत्र **महीरुहाः** देवाः. अधिष्ठानन्तु उभयोः एकम्. द्वितीयम् आह **तत्र च अन्तर्बहिः वायुः** इति. **च**कारेण त्वचो लोमव्यतिरिक्त-स्थानमपि अस्ति अन्तः इति सूचितम्. तत्र **वायुः** देवता. **अन्तर्बहिः** इति पूर्वदेवतायाः अधिकविषयत्वं सूचितम्. **त्वचाऽऽलब्धगुणः** इति त्वगिन्द्रियेण स्पर्शग्रहणम्. अत्र देवतायाः प्राधान्यम्, अन्यथा योगे[1] वायुग्रहणेन गृहीतं न स्यात्[2]. **वृतः** इति, अन्तर्बहिः आवृतो वायुः इति अर्थः. अनेन बहिर्वायुः न देवता इति उक्तम् ॥२३॥

एवं त्वचं निरूप्य ज्ञानेन्द्रियाणि समाप्य कर्मेन्द्रियाणि निरूपयति.

प्रकाशः

इत्यतः आहुः **सच** इत्यादि. तथाच इन्द्रियान्तरइव अत्रापि देवताभेदाद् भेदइति न कल्पना इति अर्थः. ननु तर्हि इन्द्रियान्तरत्वमेव अस्तु, नतु त्वग्भेदत्वम् अतः आहुः **अधिष्ठानम्** इत्यादि. तथाच गोलकाभेदात् समानप्रकरणे अंशत्वकथनाच्च इन्द्रियाभेदः इति अर्थः. **तत्र च** इत्यत्र. **पूर्वदेवतायाः** इति, पञ्चम्यन्तम् इदं, महीरुहेभ्यः इति अर्थः. नच मुखे वाग्-रसनयोः उभयोरपि सत्त्वाद् अधिष्ठानाभेदो न इन्द्रियाभेदप्रयोजकः इति वाच्यं, तत्रापि ताल्वाकाशभेदेन अधिष्ठानभेदाद् इति. देवताप्राधान्ये गमकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. वायुरूपदेवतायाः यदि प्राधान्यं स्पर्शग्रहणेन स्यात् तदा प्राणजये वायुग्रहणेन बहिःस्पर्शज्ञानं निरुद्धं न स्यात्, त्वचो विद्यमानत्वात्. तथाच एतदेव देवताप्राधान्यगमकम् इति अर्थः. तथाच एवं मूलयोजना— **तत्र** लोमसु **च**कारात् तदन्तराले अस्थ्यादिषु च **अन्तर्बहिः** महीरुहेभ्यो अधिकस्थानो **वायुः** देवता **त्वचाऽऽलब्धगुणः** त्वगिन्द्रियेण गृहीतः स्पर्शो येन तादृशः **वृतः** त्वगिन्द्रियावेष्टितो जातः इति. **जातः** इति क्रिया तु "नसि जिघृक्षतः" (श्लो. २०) इत्यत्र अध्याहारस्य निर्णीतत्वाद् अध्याहार्या ॥२३॥

---

१. योगेन इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

२. स्यात्. अन्तरिति ख.

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया ।।
तयोस्तु बलवानिन्द्र आदानमुभयाश्रयम् ।।२४।।
गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम् ।।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः ।।२५।।

हस्तौ रुरुहतुः (तस्य नानाकर्मचिकीर्षया!) इति. नानाकर्माणि कर्तव्यानि इति इच्छया. अत्र प्ररोहात्मकौ एतौ इति शाखारूपत्वं सूचितम्. एतयोः उभयोः गोलकद्वयम्. **तयोस्तु बलवान् इन्द्रः** तयोः हस्तयोः बलम् इन्द्रियम्, इन्द्रो देवता. **आदानं** कर्म **उभयाश्रयं** देवतेन्द्रियाश्रयं ; पूर्ववद् न देवताप्राधान्यम्. **अभिकामिकां गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहाते. पद्भ्याम्** इति इन्द्रियं, **यज्ञो** देवता **स्वयम्** इति विष्णुः. **अभिकामिका** अभीष्टा नानादेश-गमनेच्छा-विषया. तादृशस्य पादौ हस्ताविव शाखारूपेण रुरुहाते. अपदानामपि गतिः अस्ति, चतुष्पदामपि, तथापि द्विपदां यथा सर्वत्र गमनं न तथा अन्येषाम् इति पादद्वयकामना. ननु विराट्पुरुषस्य स्थिरत्वात् किं पद्भ्यां कार्यम् – अस्थिरत्वे वा लोकेषु व्याकोपः स्यात्, रूपान्तरकल्पनायां च प्रक्रमविरोधः – इति आशङ्क्य आह **स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः** इति. हव्यस्य पुरोडाशादेः भगवत्त्वं निरूप्यते **स्वयं हव्यम्** इति. तथा सति तस्य अवश्यं फलसाधकत्वं वक्तव्यम्. यतः कारणाद् **नृभिः कर्मभिः तद्धव्यं क्रियते** तदेव पुरोडाशादिकं देवतोद्देशेन

प्रकाशः

गतिं जिगीषतः इत्यत्र. **'स्वयम्' इति विष्णुः** इति, स्वसमान-नाम-रूपः स्वांशः. उक्तकामनायां पादद्वयरोहे बीजम् आहुः **अपदानाम्** इत्यादि. तथाच "द्विपादो अभीष्टगतिजेतारो भवन्तु" इति इच्छाहेतुका[१] पादद्वयकामना इति अर्थः. **यज्ञ**पदेनैव विष्णुप्राप्तौ **स्वयं**पदम् अनतिप्रयोजनम् इति आशङ्क्य **स्वयं हव्यम्** इति समभिव्याहारसूचितम् अर्थम् आहुः **हव्यस्य** इत्यादि. **कर्मभिः तद्धव्यं क्रियते** इति. **तत्** लौकिकं पुरोडाशादि-द्रव्यं **कर्मभिः** प्रोक्षणादिभिः वैदिकैः **हव्यं** होमसाधनं

---

१. इच्छया इति कि.पाठे - सम्पा.

अग्नौ प्रक्षिप्तं सद् यागरूपताम् आपद्य तं जीवं गृहीत्वा लोकान्तरे गच्छति. तत्र अवश्यं गत्यर्थं पादौ अपेक्ष्येते, अन्यथा जीवगतौ कर्मरूपतया वा गमनसाधकत्वे यत्र क्वचिद् गमनं स्यात्. नच तद् रूपान्तरम्, अस्यैव तत्र आविष्टत्वात्. न वा एतदधिष्ठातृदेवता, तस्याः अभावात्. भावे वा तस्याः एतदेकनिष्ठत्वाद्, यज्ञस्यैव हि स्वर्गबोधकत्वात्,

प्रकाशः

क्रियते अतो विराडवयवत्वाद् भगवत्त्वम् इति अर्थः. एवं हव्यस्य भगवत्त्वं व्युत्पाद्य पादप्रयोजनम् आहुः **तदेव** इत्यादि. ननु जीवकर्मणैव लोकान्तरगमन-सम्भवाद् न पादापेक्षा इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. विराजः पादाभावे स्वतएव लोकान्तरे जीवगतिः, पुरोडाशादीनां यागान्तःपातित्वेन कर्मरूपतया वा लोकान्तरगमन-साधनत्वम् अवश्यं वक्तव्यम्. तत्र कर्मणो जडत्वाद् इष्टदेशगमनं प्रति जीवस्यैव स्वातन्त्र्यं वक्तव्यम्. तथा सति जीवस्य तृष्णया[१] कर्मणो गहनत्वेन यत्र क्वचिद् गमनं स्यात्. ततश्च स्वर्गादि-तारतम्यव्यवस्था भज्येत. अतः तद्व्यवस्थार्थं चेतनस्य विराजएव पादौ अङ्गीकार्यौ इति अर्थः. ननु एवं सति यज्ञस्य विष्णुत्वेन ततएव लोकान्तरप्रापणव्यवस्था-निर्वाहाद् न विराजः पादापेक्षा इत्यतः आहुः **नच** इत्यादि. **अस्य** इति विराजः. **तत्र** इति यज्ञे. तथाच **स्वयं**पदस्य **यज्ञ-हव्य**योः मध्ये पाठाद् उभयोः भगवत्त्वं विवक्षितम्. अतो रूपान्तराभावाद् विराजएव पादौ अङ्गीकार्यौ इति अर्थः. ननु अधिष्ठातृदेवतयापि निर्वाहे गोलकभूतौ पादौ न आवश्यकौ इत्यतः आहुः **न वा** इत्यादि. अत्र **स्वयं**पदोक्त्या देवान्तरानुक्त्या च सा न इति अर्थः. ननु **स्वयम्** इत्यनेन विलक्षणाकारस्यैव निषेधो, न देवतायाः, **यज्ञ**पदेनैव तस्याः उक्तत्वाद् इति आकाङ्क्षायां (तदापि गोलकसद्भावे हेतून् आहुः **भावे वा** इत्यादि. अत्र **स्वयं**पदोक्त्या यदि सा देवता वर्तते तदापि तस्याः अधिकरणाकाङ्क्षायां) विराजएव अधिकरणत्वं वक्तव्यम्. तत्र देवान्तराणां तत्र तत्र निवेशस्य उक्तत्वेन परिशेषात् पादयोरेव तथात्वं वक्तव्यमिति तस्याः पादैकनिष्ठत्वात् सिद्धावेव

१. तृष्णकृतया इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

"सृती विचक्रमे विष्वङ्" (भाग.पुरा. २।६।२०) इति वाक्याच्च. किञ्च भूमावेव यागो हविश्च क्रियते. पादौ चेद् न भवेतां, तद्रूपा भूमिरेव न भवेत्, स्वर्गादिगतिश्च. अतः स्वयमेव यज्ञः स्वयमेव हव्यञ्च इति अभीष्टगति-सिद्ध्यर्थं पशु-पुत्र-स्वर्गादिभावापत्त्यर्थं पादौ अपेक्ष्येते. किञ्च यज्ञो हि पादयोः अधिष्ठात्री देवता ; तदभावे सोऽपि न भवेत्. सच लोके प्रसिद्धः, तस्य अलौकिकत्वेऽपि तदर्थं क्रियमाण-पुरोडाशादेः प्रत्यक्षसिद्धस्य अपलापाशक्तेः. अतो लोके नृभिः द्रव्यात्मक-यागकरणात् तदन्यथाऽनुपपत्त्या भगवतः पादौ वर्तेते इति सिद्धम् ॥२४-२५॥

आदौ वाग्लक्षणम् एकं कर्मेन्द्रियं निरूपितं, हस्त-पादौ इदानीं निरूपितौ. अवशिष्टे निरूपयति **निरभिद्यत** इति द्वाभ्याम्.

निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः ॥
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम् ॥२६॥

शिश्नो गोलकम्. तस्य रूपान्तराभावात् तदभावम् आशङ्क्य **वै** इति निश्चयम् आह. कारणे चेत् तद् न स्यात्, तद्बीजे कार्ये पुरुषादिषु तत् कथं भवेत्? अतः तत्र सन्देहो न कर्तव्यः इति अर्थः. **प्रजारूपो**

प्रकाशः

तौ इति अर्थः. किञ्च "स्वर्गकामो ... यजेत" (आप.श्रौतसूत्र १०।२।१) इत्यादि वाक्येभ्यो यज्ञादेव स्वर्गबोधनाद् **यज्ञ**पदेनापि अत्र स्वसम्बन्धी स्वर्गो बोधनीयः इति क्रियायाः जडत्वेन तस्यामपि पूर्वोक्तन्यायेन अधिष्ठात्रपेक्षया तथा इति अर्थः. स्फुटम् अग्रिमम्. **स्वर्गादिगतिः** इति. पादाभावे स्थितिमत्त्वाऽसम्भवात् स्थानरूपा सापि न स्याद् इति अर्थः. **अतः** इति विरुद्धधर्माश्रयत्वात् ॥२५॥

निरभिद्यत इत्यत्र. **तस्य रूपान्तराभावाद्** इति विराजः स्त्रीलक्षण-रूपान्तराभावात्. लोके प्रजानन्दस्य बहुधा दर्शनाद् मूले तत्सत्ताबोधनाय बहुधा तदर्थम् आहुः **प्रजा** इत्यादिना. अत्र पक्षचतुष्टयम्. तत्र प्रथमपक्षद्वये उत्तरपदलोपिघटितः[1] 'प्रजानन्देन अमृतम्' इति तृतीयासमासः.

---

१. उत्तरपदलोपिना घटितः इति कि.पाठे - सम्पा.

यो अयम् **आनन्दः** सम्भोगसुखं, प्रजाजनको वा. **प्रजा च आनन्दः च इति अमृतञ्च** वा, ''प्रजामनु प्रजायते तदु ते मर्त्याऽमृतम्'' (तैत्ति.ब्रा. १।५।५।६) इति श्रुतेः. **अमृतं** मोक्षो वा ऋणत्रयापाकरण-साध्यः, ''न अपुत्रस्य हि लोको अस्ति'' (स्कन्दपुरा. २।७।२२।८२) इति च. ''अष्टाशीतिसहस्राणि'' (भाग.पुरा. ८।१।२२) इत्यादि वाक्यानि ऊर्ध्वरेतसां प्रशंसापराणि. त्रैविद्यवृद्धानान्तु वेदएव प्रमाणम्. अतो मोक्षो वा अमृतम्. **(प्रजानन्दामृतार्थिनः निरभिद्यत!)** त्रितयप्रेप्सोः इन्द्रियं निर्गतम् इति अर्थः. **उपस्थः** इन्द्रियम्. **कामानां प्रियं** स्त्रीसम्भोगानां सम्बन्धि यत् सुखं **तदुभयाश्रयं** देवतेन्द्रियाश्रयम्. अथवा **कामानां** स्थानं पूर्वोक्तम्

प्रकाशः

तृतीये द्वन्द्वघटितः सः. **अमृतं वा** इति केवलो द्वन्द्वएव. एतेषु चतुर्षु प्रथमपक्षत्रये आनन्दस्य लौकिकसुखात्मकत्वाद् **अमृत**पदेन प्रकृष्टं यद् जननम् औरसपुत्र-पौत्रादिरूपेण तदेव परामृश्यते इति बोधयितुम् आहुः **प्रजाम् अनु** इत्यादि. तुरीये **अमृत**पदार्थम् अन्यम् आहुः **अमृतम्** इत्यादि. ननु एवं सति नैष्ठिकब्रह्मचर्यादिविधायक-वाक्यानां का गतिः इति अपेक्षायाम् आहुः **अष्टाशीति** इत्यादि. ननु फलाभावे प्रशंसापि व्यर्थैव इत्यतः आहुः **त्रैविद्ये**त्यादि. केवलप्रवृत्तिमार्गनिष्ठानां दक्षादितुल्यानां पूर्वकाण्डमेव प्रमाजनकम् अतः तावन्मात्र-विश्वासजाड्यात् ते तथा वदन्ति ; न तावता अन्यवाक्यवैयर्थ्यम् इति अर्थः. एतेन केवलप्रवृत्तिमार्गनिष्ठानाम् ''अभयं क्षेमम् अमृतम्'' (भाग.पुरा. ५।२०।३) इति वाक्योक्त-सत्यलोकस्था-ऽमृतप्राप्तिरेव, सहस्राश्वमेधयाजिनामिव, नतु मुख्यामृतप्राप्तिः इति बोधितम्. ''कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायम् अधीयानो धार्मिकान् विदधद् आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खलु एवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्यते, नच पुनरावर्तते'' (छान्दो.उप. ८।१५।१) इति गृहिणोपसंहार-श्रुत्यनुसारेण पक्षान्तरम् आहुः **अतो मोक्षो वा अमृतम्** इति. अस्मिन् पञ्चमीतत्पुरुषो बोध्यः. अस्मिन् पक्षे **निरभिद्यत-आसीद्** इति क्रियाद्वयस्य अनतिप्रयोजनत्वं, कामस्य इन्द्रियाभिमानित्वाभावे प्रत्यक्षविरोधश्चेति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. अत्र

आसीद् इति अर्थः. कामो देवता तदभिमानी इति एके, कामएव देवता इति मुख्यः सिद्धान्तः. तदभावे केवलेन्द्रियेण सुखाजननं प्रत्यक्षसिद्धम् ॥२६॥

अवशिष्टम् आह **उत्सिसृक्षोः** इति.

उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम् ॥
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः ॥२७॥

धातूनां मलम्. **धातवो** हि त्वगादयो मज्जान्ताः. ते कालादिना निरन्तरं पच्यन्ते. अन्नादीनान्तु [१]पोषकत्वम्. अतः तत्पोषणे अन्नादिभिः क्रियमाणे रसस्य तत्र प्रवेशे यो असारो भागो अवशिष्यते तत् **मलम्**.

प्रकाशः

देवताद्वयकथनाद् उपस्थेन्द्रियस्य यत् कार्यत्रयं तन्मध्ये प्रजा अमृतञ्च कस्य कार्ये? आनन्दः कामस्य कार्यम्. तानि त्रीण्यपि स्त्रियं विना अनुपपद्यमानानि तदा स्त्रीसृष्टिमपि ज्ञापयन्ति, नानारसइव अन्नादिसृष्टिम् — इत्यपि आशयो बोध्यः ॥२६॥

उत्सिसृक्षोः इत्यत्र. ननु तेन द्वारेण अन्नमलस्यापि उत्सर्गदर्शनाद् **धातु**पदम् अनर्थकम् इति आशङ्कायां विराजि अन्नमलाभावेन **धातु**पदस्य अर्थवत्त्वम् उपपादयन्ति **धातवः** इत्यादि. ननु "अन्नम् अशितं त्रेधा भवति, तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तत् पुरीषम्" (छान्दो.उप. ६।५।१) इति श्रुत्या अन्नांशे धातुत्वबोधनाद् अन्ने सुतरां धातुत्वमिति इयं परिसङ्ख्या अनुपपन्ना इति आशङ्कायाम् आहुः **अन्नादीति**. तथाच धारण-पोषणाभ्यामेव धातुत्वसिद्धेः "मलायत्तं बलं पुंसाम्" (श्रीभावप्रका.मध्योत्तर.अधि. ११।३९) इति वैद्यकवाक्याच्च अन्नांशएव धातुत्वसम्भवात् केवलेन पोषणेन न अन्नस्य धातुत्वम् इति अर्थः. ननु अस्तु एवं तथापि पाककथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **अतः** इत्यादि. पाकेन क्षये सम्भवति तत्पोषणस्य आवश्यकत्वात्. **तत् मलम्** इति. "कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखलोम च, कर्णविड् दूषिका चेति धातूनां क्रमशो

---

१. तु तत्पोषकत्वमिति ख.

नतु अन्नस्य, तस्य स्वकार्यकरणात्. अतो धातोरेव मलम्. **गुदम्** इति पायुस्थाने मांसविशेषः. सः रोगादिना निर्गतः प्रत्यक्षो भवति. **(ततः!)** तदनन्तरं **पायुः** तत्र इन्द्रियम्. **मित्रो** देवता ; नहि सर्वमित्रव्यतिरेकेण तादृशे कश्चिद् देवो भवेत्! **उत्सर्गः** कर्म **उभयाश्रयः** पूर्ववत् ॥२७॥

एवं नवद्वाराणि निरूपितानि. दशेन्द्रियाणां मध्ये त्रयाणां न द्वाराणि, उभयन्तु एकत्र, त्रयाणां द्वयं द्वयम् —एवम् इन्द्रियाणां द्वाराणाञ्च न समसङ्ख्या. अतो द्वारान्तरम् आह प्राणादीनां नियामकत्वाय.

आसिसृक्षोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानतः ॥
तत्राऽपानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम् ॥२८॥
आदित्सोरन्नपानानामासन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः ॥
नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये ॥२९॥
निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत ॥
ततो मनश्चन्द्र इति सङ्कल्पः काम एव च ॥३०॥

आसिसृक्षोः इति. मलं हि द्विविधं— प्रत्यहं जायमानं, प्रतिजन्मनि जायमानञ्च. तत्र प्रत्यहं जायमानस्य मलस्य परित्यागार्थे पायुः. सम्पूर्णजन्मनि[१] जायमानस्य देहरूपस्य मलस्य परित्यागार्थे नाभिः द्वारम्. **पुरः** शरीराणि

प्रकाशः

मलाः'' (श्रीभावप्रका.पूर्व.गर्भप्र. २०९) इति वैद्यकोक्तं त्वगादिपोषक-रसादिधातुमलम् इति अर्थः. **अतः** इति हव्य-कव्यादिरूपे अलौकिके अन्ने असारांशाभावात्. तथाच **धातुपदं** सार्थकमेव इति अर्थः. इदं च मलं विराट्पुरुषेण गुदद्वारा त्यज्यते, नतु कर्णादिद्वारा, ''तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्'' (भाग.पुरा. २।६।३) इति तद्गात्रस्य सौभगभाजनत्व-कथनाद् मलसम्बन्धे च सौभगाऽपायात्. अतः ''पराभूतेः अधर्मस्य निरयस्य गुदः स्मृतः'' (भाग.पुरा. २।६।९) इति वाक्येन तद्द्वारैव तत्त्यागाच्च इति ज्ञेयम् ॥२७॥

आसिसृक्षोः इत्यत्र. **त्रयाणाम्** इति त्वक्-कर-चरणानाम्. **उभयम्** इति वाग् रसना च इति द्वयम्. **त्रयाणाम्** इति दृग्-घ्राण-श्रोत्राणाम्.

१. संपूर्णे इति ख.

पुर्याः शरीराद् **उत्सिसृक्षोः नाभिः द्वारं** जातम् इति सम्बन्धः. यथा आमरणं धातवो अनुवर्तन्ते, तस्य पोषकम् अन्नं, मलन्तु प्रसिद्धम्, एवं "बहु स्याम्" (छान्दो.उप. ६।२।३) इति भगवदिच्छाम् आरभ्य भगवत्प्रवेश-पर्यन्तं भगवच्चिदंशस्य[१] जीवस्य एकमेव शरीरम् अनुवर्तते. तस्य पोषकानि अन्यानि शरीराणि अन्नवद् अन्नमयानि. तानि भोजनवद् उत्पत्तौ गृह्यन्ते, मलपरित्यागवद् मरणे त्यज्यन्ते. प्राणो हि उत्पादकः, अपानो मारकः. अतः तद् **द्वारम् अपानाद्** उत्पन्नम्. **तत्र अपानः** इन्द्रियं, **मृत्युः** देवता. **पृथक्त्वं** प्राणापानयोः विश्लेषो मरणात्मकः, तद् **उभयाश्रयम्** इति पूर्ववत्. नाभिद्वारेण तच्छरीरं निर्गच्छति. तस्य नाभिद्वारेण वा प्रयत्नेन मलवद् इदं शरीरं त्यजति. यथा इदं शरीरं बहुकालं तिष्ठति तस्य पोषादिकं जनयति तथा अन्नपानादिकमपि कियत्कालं स्थितमेव धातुपोषं जनयतीति **अन्नपानानाम् आदित्सुः** स्थापनेच्छुः भगवान् जातः. ततः तस्य **कुक्ष्यन्त्रनाडयः**[२] **आसन्**. तत्र **कुक्षिः** गोलकम् उदराभ्यन्तराकाशः, **अन्त्राणि** अन्नस्थापनार्थम् इन्द्रियाणि, **नाड्यः** पानार्थम्. **नद्यः समुद्राश्च तयोः** देवते. नद्यो नाडीनाम्, अन्त्राणाम् उदरस्य च समुद्राः. अतएव **चकारः** उभयार्थः. "नाडीः नद्यो लोहितेन" (भाग.पुरा. ३।२६।२७) इति वाक्यात्, "क्षुत्तृड्भ्याम् उदरं सिन्धुः" (भाग.पुरा. ३।२६।२८) इति च. **तुष्टिः** आप्यायनं, **पुष्टिः** देहवृद्धिः अन्नस्य.

प्रकाशः

परिशिष्टयोः पायूपस्थयोः एकैकम् अर्थाद् ज्ञेयम्. **मारकः** इति प्राणव्रतानां चरणाद् दशेन्द्रियविलक्षणः. **तच्छरीरम्** इति लिङ्गशरीरम्. **आदित्सोः** इत्यत्र. पूर्वं "पिपासतो जक्षतश्च" (श्लो. १७) इति कथनात् तयोरेव च अन्नपानादित्सा-रूपत्वाद् अत्र पुनः अन्नपानादित्सुत्व-कथनं किमर्थम् इति आकाङ्क्षायां तत्स्वरूपं वक्तुम् उपपादयन्ति **यथा** इत्यादि. **तस्य** इति लिङ्गशरीरस्य. **इति** इति हेतौ ; स्थूलशरीर-पोषार्थम्. **पानार्थम्** इति पानस्थापनार्थम्. **अतएव 'च'कारः उभयार्थः** इति. इन्द्रियभेदादेव **समुद्राश्च** इति **चकारः** पृथक्कार्यकृत्त्वज्ञापनार्थः इति अर्थः. **तुष्टिः आप्यायनम्**

१. भगवति तदंशस्येति ख. २. नाडयः इति आर्षप्रयोगः - सम्पा.

तुष्टि-पुष्टी तदाश्रये इन्द्रिय-देवताश्रये. **आत्मनो मायां** जगत्कर्त्रीम्. "कीदृशी एषा? कथम् अहम् एतत्प्रतिकृतिरूपो भविष्यामि?" इति आत्ममायायाः **निदिध्यासनम्**. तदा **हृदयं** गोलकं **निरभिद्यत. ततो मनः** इन्द्रियम्. **चन्द्रो** देवता. **सङ्कल्पो** ज्ञानरूपः, **कामः** क्रियारूपः ; मनस्तु उभयात्मकम् इति उभयं कार्यं निर्दिष्टम्. सङ्कल्पस्य कार्यं काम इति तु ज्ञानस्य क्रियां प्रति कारणत्वेन. अत**एव**[१] इति अवधारणे. **च**कारेण इन्द्रियानुरोधः ॥२८-३०॥

एवं सर्वस्य त्रैविध्यं निरूप्य – गोलकानाम् आधिभौतिकत्वम्, इन्द्रियाणाम् आध्यात्मिकत्वं, देवतानाम् आधिदैविकत्वम् इति समुदितस्य त्रिरूपत्वम् – त्वगादीनां केवलान्नमयत्वेन अत्रैविध्यम् आशङ्क्य त्रैविध्यम् आह.

त्वक्चर्म-मांस-रुधिर - मेदो-मज्जा-ऽस्थि-धातवः ॥
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः ॥३१॥

त्वक्चर्ममांस इति. **त्वग्** उपरितना, **चर्म** स्थूलम्. रुधिरस्य पूर्वभावेऽपि मांसभावात्[२] प्रथमतो मांसनिरूपणम्. **मेदो** वृद्ध्यादिषु प्रसिद्धम्. **मज्जा** अस्थ्यन्तर्गता. **अस्थि** प्रसिद्धम्. स्नायु अप्रसिद्धं, तस्य मेदोमध्ये अन्तर्भावः. तद् अस्थ्नाम् आवरणरूपम्. एते **सप्ता**ऽपि तेजोबन्नमयाः, तद् आह **भूम्यप्तेजोमयाः** इति. भूमिः अन्नस्थानीया. पाञ्चभौतिकत्वेऽपि त्रिरूपत्वं

प्रकाशः

इति पानस्य इति शेषः. **निदिध्यासोः** इत्यत्र. **निदिध्यासनम्** इति विचारेण विशिष्टज्ञानम्. ननु अग्रे "यत् सङ्कल्प-विकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः" (भाग.पुरा. ३।२६।२७) इत्यनेन सङ्कल्पस्य कार्यं कामः इति वक्तव्यं ; तत् कथम् अत्र उभयं समतया निर्दिश्यते इत्यतः आहुः **अतएव** इत्यादि. तथाच सङ्कल्पस्य व्यापारत्वादेव अत्र अवधारणम् उक्तम् इति अर्थः. **इन्द्रियानुरोधः** इति बहिरिन्द्रियानुरोधः ॥२८-३०॥

---

१. अत एव. एवेति क.

२. मांसाभावादिति ख. मांसाभावत्वाद् इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

क्रमात्, त्रिरूपाएव वा. प्राणस्य त्रैविध्यम् आह **व्योमाम्बुवायुभिः** इति. सर्वदेहव्यापकत्वेन आप्यायकत्वेन वायुस्वरूपत्वेन च **प्राणो**ऽपि त्रिविधो व्योमाम्बुवायुभिः ॥३१॥

इन्द्रियाणामपि त्रैविध्यम् आह.

गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादिप्रभवा गुणाः ॥
मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी ॥३२॥

गुणात्मकानि इन्द्रियाणि इति. त्रिगुणमयानि इन्द्रियाणि सर्वाण्येव. अतएव लौकिकीं प्रवृत्तिं, धर्मं, भक्ति-ज्ञाने च जनयन्ति. अहङ्कारस्याऽपि त्रैविध्यम् आह **भूतादिप्रभवाः गुणाः** इति. **भूतादिः** अहङ्कारः. भूतादीनां प्रभवो यत्र, भूतादेः वा प्रभवो येषाम्. अहङ्कारस्य त्रैविध्यं स्पष्टमेव भूताद्यादिभेदात्. **भूतादि**शब्देन अहङ्कारएव वा. तस्माद् गुणत्रयोत्पत्तिः स्पष्टैव. तेन गुणजनकत्वेन त्रिगुणत्वं स्पष्टम्. मनसोऽपि त्रैविध्यम् आह **मनः सर्वविकारात्मा** इति. सर्वे हि विकाराः त्रिविधाः, तन्मयत्वाद् मनोऽपि त्रिविधम्. बुद्धिरपि त्रिविधा इति आह **बुद्धिः विज्ञानरूपिणी**

प्रकाशः

त्वक्चर्म इत्यत्र. **त्रिरूपाएव वा** इति. छान्दोग्ये त्रिवृत्करणस्यैव उक्तत्वात् तथा इति अर्थः. तथा सति पञ्चीकरणपक्षः कल्पान्तराभिप्रायः ॥३१॥

गुणात्मकानि इत्यत्र. **भूतादिप्रभवाः गुणाः** इत्यनेन गुणाः भूतादिप्रभवाः इत्येवं गुणोद्देश्यक-त्रैविध्यविधाने गुणानां पुरुषपूर्वभावित्वाद् "यथा एकं पुरुषं त्रिधा अभिद्यते" (श्लो. १४) इति प्रतिज्ञाविरोधः इति न अत्र तद् विवक्षितं किन्तु **भूतादि**पदस्य अहङ्कारे प्रसिद्धत्वात् तत्त्रैविध्यमेव अत्र विवक्षितम् इति आशयेन आहुः **अहङ्कारे**त्यादि. तथा सति बहुवचनानुपपत्तिः इति आशङ्क्य आहुः **भूतादीनाम्** इत्यादि. भूतेन्द्रिय-मनसां प्रभवो येषु गुणेषु ते आहङ्कारिकाः गुणाः त्रिविधाः इति तत्कारणभूतस्य तस्य त्रैविध्यम् इति अर्थः. द्वितीयपक्षेऽपि एवम्. एवं व्याख्यानस्य प्रामाणिकत्वाय आहुः **अहङ्कारस्य** इत्यादि. द्वितीयपक्षोपष्टम्भाय आहुः **भूतादी**त्यादि. **अहङ्कारः** इति मूलाहङ्कारः ॥३२॥

इति. विविधं ज्ञानं विज्ञानं ; तत् त्रिविधम् इति तद्रूपिणी बुद्धिरपि त्रिविधा ॥३२॥

एवं सर्वस्य[१] त्रैविध्यम् उपपाद्य उपसंहरति.

एतद् भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया ॥
मह्यादिभिश्चाऽऽवरणैरष्टाभिर्बहिरावृतम् ॥३३॥

एतद् भगवतो रूपम् इति. **एतत्** पूर्वनिर्दिष्टं सर्वमेव त्रिविधं **भगवतो रूपं स्थूलो** देहः **ते** तुभ्यं त्वदर्थं **मया व्याहृतम्** इति अर्थः. त्रिगुणत्वेन यन्निरूपणं [२]तत् तव अधिकारेण निरूपितम्. भगवतो हि रूपं सर्वेषाम् अधिकारानुसारेण सर्वरूपत्वेन भासते, ''तं यथा यथा उपासते'' (मुद्गलोप. ३) इति श्रुतेः ॥३३॥

प्रकाशः

एतद् भगवतो रूपम् इत्यत्र. **ते व्याहृतम्** इति उक्तितात्पर्यम् आहुः **त्रिगुणत्वेन** इत्यादि. अत्र अयम् आशयः — यदि राज्ञा ''कीदृशः पुरुषोत्तमः कथम् आश्रयणीयः कथं भजनीयः ?'' इति फल-स्वरूपादि-जिज्ञासया प्रश्नः कृतः स्यात् तदा श्रीशुकैः मुख्या गुणातीता मूलरूपलीलैव निरूपिता स्यात्. राज्ञा तु ''सर्वात्मना किं कर्तव्यं, म्रियमाणैश्च किं कर्तव्यम्?'' इति पृष्टम्. तत्र आद्यः प्रश्नो मुख्यफलसाधकतया यद् विहितं साधनं तद्विषयकत्वेन श्रीशुकैः निश्चितः. द्वितीयस्तु संसारभीत्या शीघ्रम् अभयेच्छया कृतः इति निश्चितः. एवं सति अभयमेव अस्य मुख्यं फलम् इति निश्चित्य तदुक्त्या मुख्यलीलाश्रवणाऽनधिकारं वासुदेवलीलाश्रवणाधिकारं च अवगत्य स्वलीलासहित-वासुदेवस्य विहितभक्तिरूपं यत् श्रवणादित्रयं तदेव कर्तव्यत्वेन उपदिश्य तादृशाधिकारे श्रवणादिविषयत्वेन वासुदेवस्य लीला तत्स्वरूपञ्च निरूपितम् इति. ननु राज्ञः तादृशाधिकारेऽपि श्रीशुकैः ''अहमेव आसमेव'' (भाग.पुरा. २।९।३२) इति उक्तप्रकारेण कृपया मुख्यलीलैव कुतो न उक्ता इत्यतः आहुः **भगवतो हि** इत्यादि. तथाच तत्कथनेऽपि राज्ञो अधिकाराभावाद् बोधो न भविष्यति इत्यतो न उक्ता इति अर्थः ॥३३॥

---

१. सर्वत्रैविध्यमिति ख.   २. निरूपणं तवेति ख.

एवं राज्ञे त्रैविध्यं निरूप्य सूक्ष्मं रूपं ततोऽपि उत्तमाधिकार्यर्थे अव्यक्तरूपं निरूपयति.

अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम् ।।
अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम् ।।३४।।

अतः परम् इति. मह्यादि-सप्तावरण-सहितात् स्थूलरूपात् **परं** व्यतिरिक्तम् उत्कृष्टम् एतन्नियामकं **सूक्ष्मतमम्** आकाशाद्यपेक्षयाऽपि अतिसूक्ष्मम्. तस्य रूपविशेषनिरूपणं न कर्तव्यं, यतः तद् **अव्यक्तं** केनाऽपि धर्मेण न प्रकटम्. ततः तस्य विशेषाः प्रकटाः भविष्यन्ति इति आशङ्क्य आह **निर्विशेषणम्** इति, सर्वविशेषणरहितं सर्वव्यावर्तकधर्म-रहितम् इति अर्थः. तस्य उत्पत्त्यादिकं नास्ति इति आह **अनादिमध्यनिधनम्** इति. आदि-मध्या-ऽवसान-रहितं **नित्यं** सदा एकरूपं **वाङ्मनसः परं** सर्वव्यवहारातीतम्. एवं स्थूलसदृशं[१] सर्वप्रकारेण सूक्ष्मम् इति निरूपितम् ।।३४।।

उभयमपि उपसंहरति.

अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते ।।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः ।।३५।।

अमुनी भगवद्रूपे इति. **मया ते** त्वदर्थमेव **अनुवर्णिते** पूर्ववत्.

प्रकाशः

अतः परम् इत्यत्र. **मह्यादि-सप्तावरणसहिताद्** इति. मह्यादिभूतानि उपरिष्ठानि यानि सप्तावरणानि तत्सहिताद् इति अर्थः. ननु पूर्वं सप्तावरणसंयुतः इति कथनाद् इदानीं च अष्टावरणकथनाद् विरोधः इति चेद्, न, पूर्वं विशेषस्य सप्तावरणानि उक्तानि, अत्र तु वैशेषिकानां[२] निरूपणाद् विशेषमपि अन्तर्भाव्य तथोक्तिः इति अविरोधात्. **आदिमध्यावसानरहितम्** इति इयत्तारहितम्. **एवं स्थूलसदृशम्** इति. **अव्यक्तपदे** व्यक्तपर्युदासाद् व्यक्तसादृश्यं लभ्यतइति तथा इति अर्थः ।।३४।।

---

१. स्थूलविसदृशम् इति सं-मा.१-मा.२ पाठेषु - सम्पा.

२. विशेषसम्बन्धिनाम् इति आशयः - सम्पा.

अस्माकन्तु न अनेन उपयोगः, तद् आह **उभेअपि न गृह्णन्ति** इति. तत्र हेतुः **मायासृष्टे** इति, मायायाः कार्यकारणरूपायाः[१] सम्बन्धेन एवंरूपो जातः इति. यतः ते **विपश्चितः** साक्षात्स्वरूप-ज्ञातारः ॥३५॥

ननु तर्हि भगवान् कथम् एवं रूपं करोति? इति आशङ्क्य आह.

स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक् ॥
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माऽकर्मकः परः ॥३६॥

सः वाच्यवाचकतया इति. **सः भगवान्** वाच्य-वाचकत्वम् अनामरूपात्मनि नाम-रूपे विधाय तादृशो भूत्वा जगतः पालनादिकं करोतीति **वाच्य-वाचकतया** स्वरूपाप्रच्युतएव **ब्रह्मरूपं** सच्चिदानन्दं (**धृक्!**) बिभ्रत् सर्वेषामपि जीवानां **नाम-रूप-क्रिया धत्ते** नामानि रूपाणि क्रियाश्च स्वसदृशान् करोति इति अर्थः. स्वयञ्च **सकर्मा.** नच पुनः एतादृशएव,

---

प्रकाशः

अमुनी इत्यत्र. ननु अनादि-मध्य-निधनत्वे कथं मायासृष्टत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **मायायाः** इत्यादि. तथाच आकारस्य तद्रूपप्रतिकृति-निमित्तकत्वात् तत्सृष्टत्वं, स्वरूपस्य तु पूर्वोक्तधर्मवत्त्वम् इति उभयमपि अविरुद्धम् इति अर्थः. ननु एवं भगवद्रूपत्वेन तस्य वास्तवत्वे युष्मदादिभिः इदं कुतो न गृह्यते इत्यतो **विपश्चित्**पदार्थम् आहुः **साक्षाद्** इत्यादि. तथाच मुख्याधिकारिणां तस्य अनुपयोगात् ते न गृह्णन्ति, नतु अवास्तवत्वं तत्रापि आरोप्य न गृह्णन्ति इति अर्थः ॥३५॥

सः वाच्यवाचकतया इत्यत्र. **ननु तर्हि** इत्यादि. साक्षात् स्वतः सर्वरूपत्वे सति मायाप्रतिकृतिद्वारा केन प्रकारेण करोति इति आशङ्क्य तत्र प्रकारम् आह इति अर्थः. **वाच्य-वाचकत्वम्** इत्यस्य विवरणम् **अनामरूपात्मनि नाम-रूपे** इति. तथाच अनामरूपे अक्षरे मायासम्बन्धेन नाम-रूपे पूर्वोक्तरीत्या विधाय तत्तद्गुणावतारादिरूपो भूत्वा तथा तथा तत्तत् करोति इत्येवं परार्थसृष्टौ प्रकारः इति अर्थः ॥३६॥

---

१. कार्यकरणेति ख.

यतो वस्तुतो **अकर्मकः** सर्वकर्मरहितः **(परः!)** सर्वेषां नियामकश्च. एतादृशोऽपि सर्वान् उत्पादयितुं त्रिगुणात्मकम् अव्यक्तञ्च रूपं करोति इति अर्थः ॥३६॥

ननु के ते येषाम् अर्थे स्वयं त्रिविधो जातः इति? तत्र आह **प्रजापतीन्** इत्यादिभिः त्रिभिः. एके प्रत्येकगुणप्रधानाः, एके मिश्राः. तत्र प्रत्येकान् श्लोकत्रयेण गणयति. तत्रापि उत्तरोत्तरहीनता.

प्रजापतीन् मनून् देवान् ऋषीन् पितृगणान् पृथक् ॥
सिद्ध-चारण-गन्धर्व - विद्याध्रसुर-गुह्यकान् ॥३७॥
किन्नराप्सरसो यक्षान् सर्पान् किम्पुरुषानपि ॥
मातृ-रक्षः-पिशाचांश्च प्रेत-भूत-विनायकान् ॥३८॥
कूष्माण्डोन्माद-वेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि ।
खगान् मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन्नृप सरीसृपान् ॥
द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः ॥३९॥

प्रथमं **प्रजापतयो** मरीच्यादयो **गुह्यकान्ताः** सत्त्वापकर्षरूपाः, **किन्नरादयो विनायकान्ताः** राजसाः, **कूष्माण्डादयः सरीसृपान्ताः** तामसाः. अन्ये तत्तद्भेदेषु मिश्राः इति तान् एकेन गणयति. **द्विविधाः** इति स्थावर-जङ्गमभेदेन. **चतुर्विधाः** जरायुजाण्डज-स्वेदजोद्भिज्जाः. **ये** पूर्वोक्ताद् **अन्ये** ते सर्वे सङ्करजाताः इति ज्ञेयाः. तथापि स्थानतः त्रैगुण्यं, तद् आह **जल-स्थल-नभौकसः** इति. जलादयः स्थानानि येषाम्. तत्र जलस्थाः राजसाः, स्थलस्थाः सात्त्विकाः, नभस्थाः तामसाः ॥३७-३९॥

एवं स्वरूपतः स्थानतश्च सर्वेषां त्रैविध्यम् उपपाद्य फलतोऽपि त्रैविध्यम् आह.

कुशलाकुशला मिश्राः कर्मणां गतयस्त्विमाः ॥
सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुर-नृ-नारकाः ॥४०॥

कुशलाकुशलाः मिश्राः इति. कर्मणां त्रिविधा गतिः सात्त्विकादि-विभेदेन. सात्त्विकं कर्म शुभफलं **कुशल**शब्देन उच्यते. तामसं कर्म अशुभफलम्

प्रकाशः

द्विविधाः इत्यत्र. **तथापि** इति द्वैविध्ये चातुर्विध्ये च ॥३९॥

अकुशलशब्देन उच्यते. राजसं कर्म उभयफलं **मिश्र**शब्देन उच्यते. एवं कर्मगतयः = कर्मसाधन-फलप्रकाराः त्रिविधाः. कुशलाः च अकुशलाः च **कुशलाकुशलाः. मिश्राः**[१] अभिन्नाः — **कर्मणाम् इमाएव गतयो** नतु अन्याः. तासां मूलनामानि आह **सत्त्वं रजस्तमः** इति. कुशलाकुशल-मिश्राणाम् एतानि मूलनामानि. **सत्त्वं** कुशलनाम, **तमो** अकुशलनाम, **रजो** मिश्रनाम. तत्कृतदेहाअपि त्रिविधाः इति आह **सुर-नृ-नारकाः. सत्त्वं रजस्तमः इति तिस्रः** इति उभयत्र सम्बध्यते. सुराः सत्त्वं, नराः रजः, नारकाः तमः इति तिस्रएव. पश्वादयो नारकमध्यएव ॥४०॥

ननु त्रिविधाएव गतयः (कथम्!) उच्यन्ते, प्रकारास्तु कोटिशो भवन्ति! तत्र आह.

तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा ॥
यदैवैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते ॥४१॥

तत्रापि एकैकशो राजन् इति. बहवो मया त्रिविधाः गणिताः. तेषु **एकैकशः** त्रिविधाः ये प्रजापतयो गणिताः तेऽपि त्रिविधाः, ये वा सरीसृपाः तेऽपि. **राजन्** इति सम्बोधनं पुरुषाणां नानाविधत्व-ज्ञापनार्थम्. ननु कथम् एकम् अनेकधा भवति? तत्र आह **यदैव**[२] **एकतरः** इति. **यदा एकतरः स्वभावः** सात्त्विकादिः **अन्याभ्यां** स्वव्यतिरिक्ताभ्याम् **उपहन्यते** बलवद्भ्याम् अभिभूयते. तत्र बलाभिभव-तारतम्येन एकस्य अनेकरूपाणि भवन्ति ॥४१॥

एवं कार्यत्रैविध्यम् उपपाद्य उपसंहरन् भगवतः सात्त्विकीं लीलां पालनाख्याम् उपपादयति.

स एवेदं जगद्धाता[३] **भगवान् धर्मरूपधृक् ॥**
पुष्णाति स्थापयन्नित्यं तिर्यङ्नरसुरात्मभिः ॥४२॥

सएव इदम् इति. **सएव** त्रिविधजगत्कर्ता तदर्थं त्रिविधश्च सृष्टम् **इदं जगद् भगवान्** 'भग'शब्दवाच्यैः स्वगुणैः पालनसमर्थैः **धर्मरूपधृग्**

१. मिश्रा भिन्नाः इति क. २. यदेकैकतर इति ख.
३. जगत्कर्ता इति मा.१-मा.२ पाठयोः - सम्पा.

धर्मेण च **स्थापयन्** तत्तन्मर्यादायां **पुष्णाति** अभिवृद्धं करोति. **नित्यम्** इति उत्पत्तिक्षणम् आरभ्य अन्तपर्यन्तं प्रतिक्षणं पुष्णाति. तदुपघातकाऽसुराविर्भावे **तिर्यङ्-नर-सुरात्मभिः** त्रिविधैः मत्स्यादिरूपैः रामादिरूपैः वामनादिरूपैश्च सर्वं **जगत् (धाता!)** परिपालयति इति अर्थः ॥४२॥

तृतीयां लीलाम् आह.

ततः कालाग्नि रुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः ।।
सन्नियच्छति कालेन घनानीकमिवाऽनिलः ।।४३।।

कालाग्नि रुद्रात्मा इति. **कालः** प्रलयकालः, तत्साधको **अग्निः** सङ्कर्षणमुखानलः. तत्र अनले यो **रुद्रः** त्र्यक्षः त्रिशिखं शूलम् उत्तम्भयन् उदतिष्ठत् **(आत्मा!)** तद्रूपो भूत्वा **आत्मनः** सकाशादेव **यत् सृष्टम्** ऊर्णातन्तुवत् **सन्नियच्छति** उपसंहरति **कालेन** करणेन. यथा उत्पादने माया करणं, पालने च अवताराः, तथा संहरणे कालः करणम्. उत्पत्त्यादिभिः संहारान्तैः [1]कृतैरपि आधारे न किञ्चिद् विकृतता जायते[2] इत्यत्र दृष्टान्तम् आह **घनानीकमिव अनिलः** इति, मेघानां समूहं यथा वायुः अपकर्षति. वायुना अपकृष्टाः मेघाः यथा न ज्ञायन्ते क्व गताः इति तथा ससंस्कारं[3] सर्वमेव नाशयति इति अर्थः ॥४३॥

एवं भगवत्कृतान् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयान् निरूप्य इदं भगवत्कर्तृकं जगदुत्पत्त्यादि ब्रह्मवादिसम्मतम् इति आह **इत्थम्भावेन कथितः** इति.

इत्थम्भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमाः ।।
नेत्थम्भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः ।।४४।।

हे **भगवत्तमाः.** राजानं बोधयितुम् एवंप्रकारेण अस्माभिः

प्रकाशः

ततः कालाग्नि इत्यत्र. **संस्कारं सर्वमेव नाशयति** इति. एतेन अवान्तरकल्पीयप्रलयो यः काल-द्रव्याभ्यां जायते सः संस्कारनाशपर्यन्तम् इति ज्ञापितम् ॥४३॥

---

१. संहारान्तैरप्याधारेति ख. २. ज्ञायत इति ख.

३. संस्कारम् इति मुद्रितपाठः. सं-मा.१-मा.२ पाठेषु तु एवम् - सम्पा.

जगदुत्पत्ति-स्थितिकर्ता भगवान् उक्तः, तद् आह **इत्थम्भावेन कथितः** इति. पूर्वोक्तप्रकारएव **इत्थम्भावः**. **भगवान्** इति तथा कथनेऽपि अदोषाय. सहि सर्वैः स्वाधिकारेण बुध्यते बोध्यते च. **भगवत्तमाः** इति अत्यन्तम् अधिकारिणः. भवदर्थन्तु अग्रे निरूप्यते, तद् आह **न इत्थम्भावेन** इति. **परं** मायातीतं भगवन्तं स्वतएव सर्वं **(इत्थम्भावेन!)** पूर्वोक्तप्रकारेण **सूरयो** ब्रह्मविदो **द्रष्टुं न अर्हन्ति** ॥४४॥

तत्र हेतुम् आह.

नाऽस्य कर्माणि जन्मादौ परस्याऽनुविधीयते ॥
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययाऽऽरोपितं हि तत् ॥४५॥

न अस्य कर्माणि इति. **अस्य जन्मादौ कर्माणि** मायानियन्तुः **परस्य न अनुविधीयते** अनुविधानं न क्रियते. परः सम्बन्धिरूपेण न अनुविधानं करोति इति अर्थः. कुतः इति अपेक्षायाम् आह **मायया आरोपितं हि तद्** इति. जगद्भावादयः सर्वे व्यामोहिक-मायाकार्य-विषयतारूपाः. ते न भगवत्कार्याः इति तत्र कर्तृत्वादिना भगवदनुसन्धानं

प्रकाशः

इत्थम्भावेन इत्यत्र. **तथा कथनेऽपि** इत्यादि. एतेन ब्रह्मवादिसम्मतत्वे युक्तिः उक्ता ॥४४॥

न अस्य इत्यत्र. मूलम् एवं युज्यते— **अस्य** प्रपञ्चस्य **जन्मादौ** जन्म-स्थिति-भङ्गेषु **परस्य** मायानियन्तुः **कर्माणि** तदनुकूलाः क्रियाः **कर्तृत्वप्रतिषेधार्थम्**. तत्र हेतुः **हि** यतो हेतोः **तत्** कर्तृत्वं **मायया आरोपितम्**. तत्रापि हेतुः **न अनुविधीयते** इति. परेण कर्तृत्वादिभिः अनुकरणं न क्रियते. "तमेव भान्तम्" (मुण्डकोप. २।२।१०, कठोप. २।२।१५) इति श्रुत्या परानुविधायित्वम् अन्यस्य उच्यते, नतु परस्य अन्यानुविधायित्वम्. अतो मायाद्वारकं कर्तृत्वं नास्ति इति तादृशं तत् मायया रोपितम्. यस्माद् एवं तस्मात् तानि कर्माणि मायारोपित-कर्तृत्वनिषेधपराणि इति. तदेतद् अभिसन्धाय आहुः **परः** इत्यादि. तदेतद् विशदीकुर्वन्ति **जगद्** इत्यादि. अत्र मूलं "ऋतेऽर्थम्" (भाग.पुरा. २।९।३३)

इति अर्थः. तर्हि किमिति निरूप्यते जगत्कर्तृत्वं भगवति? तत्र आह **कर्तृत्वप्रतिषेधार्थम्** इति. प्रतीतं हि कर्तृत्वं प्रतिषेध्यम्. भगवांस्तु स्वरूपं "पश्चाद् अहम्" इत्येव उक्तवान्, नतु "मया कृतम्" इति "अहं वा जातम्" इति. बुद्धिसौकर्यार्थमेव तथा निरूपितं "मायया करोति", "स्वयमेव जायते" इति. तज्जत्वाद् इत्यपि तदेव जः, नतु तस्माद् जातः इति. तस्माद् उत्पत्त्यादि-कल्पनाहीनं सर्वं ब्रह्म इत्येव ब्रह्मविद्भिः ज्ञातव्यं, नतु कल्पनायुक्तम्. **(हि!)** यतो **मायया आरोपितं तत्** ॥४५॥

प्रकाशः

इति वाक्यम्. **नास्ति** इति ब्रह्मविदां नास्ति. **प्रतीतम्** इति अनुविधायितया प्रतीतम्. तत्र हेतुः **भगवान्** इत्यादि. तर्हि स्थूल-सूक्ष्मरूपनिरूपणं श्रुतौ पुराणे च किमर्थम् इत्यतः आहुः **बुद्धीत्यादि**. अत्र मायया करोतीति स्वयमेव जातः[१] इति (च!) पक्षद्वयं यथासम्भवं पुराणे श्रुतौ च ज्ञेयं, नतु यथाक्रमम्. एतेन "पूर्ववद् वा" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२९) इति अधिकरणोक्त-पक्षस्य एकदेशीय-मतीयत्वे बीजमपि उक्तं ज्ञेयम्. ननु एवं सति "तज्जलान्" (छान्दो.उप. ३।१४।१) इति श्रुतिव्याकोपः इत्यतः आहुः **तज्जेत्यादि**. तथाच तत्र सप्तमीतत्पुरुषो बुद्धिसौकर्यार्थः. वस्तुतस्तु मयूरव्यंसकादिसमासएव तात्पर्यगोचरः इति न तद्व्याकोपः इति अर्थः. तेन "उभयव्यपदेश"-सूत्रमेव (ब्रह्मसूत्र ३।२।२७) सिद्धान्तसूत्रं, व्यासचरणानां तथैव तात्पर्याद् इति बोधितम्[२]. फलितम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **तस्माद्** इति, अखण्डब्रह्मवादस्यैव श्रुतितात्पर्यगोचरत्वाद् **उत्पत्त्यादिकल्पनाहीनं** "तदेतद् अक्षयं नित्यं जगन्मुनिवर अखिलम्, आविर्भावतिरोभाव-जन्मनाशविकल्पवद्" (विष्णु.पुरा. १।२२।६०) इति वैष्णववाक्याद् जगदंशेऽपि तत्कल्पनाहीनं तथा इति अर्थः ॥४५॥

अयम् इत्यत्र. **कस्मिन् कल्पे** इति. साम्प्रतम् आनन्दमय-नित्यसृष्टेः अप्रतीयमानत्वात् कस्मिन् कल्पे इति अर्थः ॥४६॥

---

१. जायते इति मा.पाठे - सम्पा. २. बोध्यम् इति मा.पाठे - सम्पा.

एवं ब्रह्मवादं कर्तृवादञ्च निरूप्य एतादृशं रूपं भगवतः कस्मिन् कल्पे इति आकाङ्क्षायां ब्रह्मकल्पे इति उत्तरम् आह.

अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः ।।
विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः ।।४६।।

अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः इति. ''कदाचित् सर्वम् आत्मैव भवति इह जनार्दनः'' (त.दी.नि. १।३७) इति ब्रह्मकल्पे[१], विकल्पे तु ब्रह्मकल्पावान्तरकल्पे मायया सर्वरूपो भवति इति उभयमपि अत्र निरूपितम् इति **ब्रह्मणः कल्पः सविकल्पः उदाहृतः** इति उक्तम्. **तु**शब्देन अन्ये कल्पाः प्राकृताः व्यावर्त्तिताः. अतएव अत्र दशविधाः लीलाः तुल्याः. कल्पान्तरे तु विषमाः, तद् आह **विधिः साधारणो यत्र** इति. **यत्र** ब्रह्मकल्पे प्राकृतानां वैकृतानाञ्च कल्पानां **विधिः** उत्पत्तिप्रकारः **साधारणः** प्राकृते वा कल्पे वैकृते वा ये उत्पद्यन्ते ते तुल्याः, नतु कल्पान्तरवत्. प्राकृताः त्रयएव, वैकृताः अन्ये, उभयात्मकस्तु कौमारः इत्यादिविशेषाः. ते अत्र न सन्ति. **विधिः साधारणो यत्र** इति एकं वाक्यं, **यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः** इति अपरम्. प्राकृताएव वैकृताः, नतु अतिरिक्ताः इति अर्थः ।।४६।।

एतावता सर्वेषां प्रश्नानाम् उत्तरम् उक्तम्. उभयोः न उक्तं काल-कल्पयोः, तद् अग्रे वक्ष्यामि इति आह.

परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम् ।।
यथा पुरस्ताद् व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो शृणु ।।४७।।

परिमाणं च कालस्य इति. परमाण्वादि-द्विपरार्धावसानस्य **कालस्य परिमाणं** परिमाणहेतुः सूर्यगत्यादिः सो अग्रे वक्तव्यः. **च**कारात् स्वरूपं कार्यञ्च. **कल्पलक्षणविग्रहम्** इति. **कल्पानां लक्षणं** धर्मव्यवस्था कृते एतादृशो धर्मः एतादृशी प्रवृत्तिः इति लक्षणं, **विग्रहः** शरीरं एतावद् युगम् इति सहस्रचतुष्टयात्मकं कृतम् इति यथा ; एतद् द्वयं **यथा पुरस्ताद् व्याख्यास्ये. यथा** यथावत् [२]यथा **पुरस्ताद्** वा पूर्वकल्पे यथा एतयोः

---

१. ब्रह्मकल्पः घ. २. -वत्. पुरस्तादिति ख.

रूपं तथा **व्याख्यास्ये.** एवं विस्तरेण सर्वं वक्तुं कल्पान्तरम् उपक्षिपति **पाद्मं कल्पम् अथो शृणु** इति. सर्गादीनां विशेषाः पाद्मकल्पे भवन्ति, अतो भगवद्दशलीला-विस्तारार्थम् **अथो** भिन्नप्रक्रमेण **शृणु.** सावधानतया श्रवणार्थम् उपदेशः. अनेन एकस्य दिवसस्य विरतिः ज्ञायते, यतो भिन्नप्रक्रमेण श्रवणं बोधयति ॥४७॥

एवं शुक-परीक्षित्संवादे विरते शौनको भगवत्कथाश्रवणे व्यग्रः तादृशीं कथां पूर्वनिरूपितां पृच्छति. यस्यां कथायां कतिपय-प्रश्नार्थ-ज्ञानेऽपि परमा रतिः भवति तादृशमेव हि श्रोतव्यम्. तद् आह सूतः ''विदुरः तीर्थयात्रायाम्'' (भाग.पुरा. १।१३।१) इत्यत्र ''यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रतः, जातैकभक्तिः गोविन्दे तेभ्यश्च उपरराम ह'' (भाग.पुरा. १।१३।२) इति. ''भागवतं श्रावयिष्यामि'' इति यद्यपि सूतेन प्रतिज्ञातं तथापि विदुर-मैत्रेयसंवाद-लक्षणस्य भागवतस्य शीघ्रफलत्वात् तदेव त्वया कथनीयम् इति प्रोत्साहयति शौनकः **यदाह भगवान्** इति त्रिभिः.

॥ शौनकः उवाच ॥

यदाह भगवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः ॥
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान् ॥४८॥
कुत्र कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंज्ञितः ॥
यद्वा सभगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ॥४९॥
ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम् ॥
बन्धुत्यागनिमित्तं च तथैवाऽऽगतवान् पुनः ॥५०॥

भगवान् इति मैत्रेयस्य सर्वज्ञता सूचिता. **यद् आह भगवान्** इति भिन्नं वाक्यम्. **भगवान्** मैत्रेयः इति अर्थः. अथवा क्षत्तृ-मैत्रेयसंवादे **भगवान् यद् आह** यद् भगवतो वाक्यं ताभ्यां निरूपितम् इति अर्थः.

प्रकाशः

यदाह इत्यत्र. **यद् वा सभगवान्** इति अग्रे वक्ष्यमाणत्वात् पुनरुक्तिः आयातीति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. एवमपि 'तस्मै' इति अध्याहारो व्याख्यानक्लेशश्चेति अरुच्या पाठान्तरम् आहुः

यद् आह नो भवान् इति पाठः स्पष्टः. **सूत** इति सम्बोधनम्. कुत्र आह, किम् आह इति आकाङ्क्षायाम् आह **क्षत्ता भागवतोत्तमो बन्धून् त्यक्त्वा भुवः तीर्थानि चचार (तस्य!)** तादृशस्य[१] **कौषारवेश्च संवादः कुत्र** विषये? "यत्र भगवद्वाक्ये तदर्थे वा विचारात्मकः संवादः तत् कथय" इति वक्तव्ये भगवद्वाक्यस्यैव मुख्यत्वात् तत्रैव भगवद्वाक्यविशेषे संवादो भविष्यति इति ज्ञात्वाऽपि विशेषज्ञानार्थं **कुत्र** इति पृच्छति. देशप्रश्ने तु कुत्र देशे सः संवादो जातः इति. त्वया [२]कथितेऽपि स्वयं वा तत्र गत्वा श्रोतव्यम् इति अभिप्रायः. पाठान्तरे 'इति'शब्दो अध्याहर्तव्यः. **सुदुस्त्यजान्** इति तदादेशोपदेश-चरितानि विदुरस्य पृच्छति. **भागवतेभ्यः उत्तमः** यस्तु आपद्दशायामपि न विभ्रान्तः. **भुवः तीर्थानि** इति, गन्तुं

प्रकाशः

यद् आह नो भवान् इत्यादि. **सूते**त्यादि. प्रथमपाठे **यच्**छब्दार्थस्य सामान्यतया विशेषस्य अस्फुटत्वाद् उक्ताकाङ्क्षायां विशेषं वक्तुं **सूत** इति सम्बोधनम् आह इति अर्थः. तमेव प्रष्टव्यं विशेषं स्फुटीकुर्वन्ति **क्षत्ता** इत्यादिना. ननु एवं विशेषे[३] प्रष्टव्ये अग्रिमवाक्ये 'यत्र' इति पदं वदेद्, नतु **कुत्र** इति पदम्, इति शङ्कायां तदाशयम् आहुः **यत्र** इत्यादि. **'कुत्र' इति पृच्छति** इति, कस्मिन् भगवद्वाक्ये इति पृच्छति इति अर्थः. द्वितीयपाठानुसारेण **कुत्र** इति पदस्य तात्पर्यम् आहुः **देशे**त्यादि. **त्वया कथितेऽपि** इति, त्वया कथनान्तरमपि इति अर्थः. **पाठान्तरे** इति, **यद् आह नो भवान्** इति पाठे. अस्मिन् पाठे देशोपदेशौ द्वितीयप्रश्नविषयौ, विदुरचरित्रं प्रथमप्रश्नविषयः इति आहुः **तदे**त्यादि. स्फुटम् अग्रिमम् ॥४८-५०॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दन-चरणरजःपूरितहृदयस्य श्रीपीताम्बरात्मजस्य
पुरुषोत्तमस्य कृतौ द्वितीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे
दशमाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्

१. तादृशः च इति मुद्रितपाठः. सं-मा.१ पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

२. त्वया अकथितेपीति ख.

३. विशेषप्रष्टव्ये इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

ज्ञातुञ्च शक्यानि तान्यपि वक्तव्यानि इति अभिप्रायः, यैः सम्यक् शुद्धो भक्तिं प्राप्तवान् इति. ततोऽपि पूर्वमेव तस्य चित्तशुद्धिः उत्कृष्टा जाता इति ज्ञापयति **त्यक्त्वा बन्धून्** इति. **सुदुस्त्यजान्** इति अन्तःकरणेनाऽपि त्यक्त्वा इति ज्ञायते[१]. एतावता परीक्षिदपेक्षयाऽपि सः मुख्यश्रोता निरूपितः. कुषारोः पुत्रः **कौषारविः,** कौषारवस्य[२] वा. प्रथमपक्षे बाह्वादित्वाद् इञ्. **तस्य** पूर्वोक्तस्य विदुरस्य. उभयोः तुल्यत्वाय षष्ठ्यौ. अर्थात् **संवादो**ऽपि पृष्टः, अन्यथा केवलस्थानं श्रुतमपि अप्रयोजकं स्यात्. **अध्यात्मसंज्ञितः** इति. सः संवादः श्रोतुः कार्यसाधकः इति **अध्यात्म**शब्देन उक्तः, अन्यथा तदज्ञानाद् विशेषणम् अयुक्तं स्यात्. अध्यात्मेति संज्ञापितः[३]. अनेन संवादेनैव अन्योन्य-कथारूपेणैव तस्य भक्तिः जातेति संवादस्यैव माहात्म्यम् उक्तम्. **यद्वा** इति पक्षान्तरं ; **वा**शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति. न स्थानविशेषे संवादात् तस्य भक्तिः किन्तु उपदेशाद् इत्यपि पक्षे तम् उपदेशं वद इति आह **यद्वा** इति. **सभगवान्** इति भगवत्सहितः ; केवलेन उपदिष्टं कथं हृदयारूढं भवेत्! **तस्मै** इति केवलं तदर्थमेव **पृष्टः** इति, नहि तादृशः स्वार्थं यादृशं तादृशं पृच्छति. वक्ताऽपि **यत् तत्त्वम् (उवाच!)** उक्तवान् **तद् ब्रूहि** इति सम्बन्धः. ह इति आश्चर्ये. **विदुरस्य विचेष्टितं** वक्तव्यम्. तत्त्वोपदेशो विदुरस्य अनुचितः इति आश्चर्यम्. तथापि उपदेशो जातः इति तस्य विशिष्टं किञ्चित् चेष्टितम् अस्ति, येन तादृशोऽपि उपदेशम् अर्हति[४]. किञ्च **बन्धुत्यागेऽपि निमित्तं** वक्तव्यम्, अन्यथा शूद्रयोनौ उत्पन्नस्य प्रव्राजो अनुचितः स्यात्. **च**काराद् ज्ञानहेतावपि निमित्तं वक्तव्यम्. किञ्च तज्ज्ञानं सर्वथा उत्तमं यज्ज्ञानप्राप्तौ पूर्वजात-वैमनस्यादिकं परित्यज्य दैहिकीं व्रीडां परित्यज्य **तथैव** असंस्कृतरूपेणैव **पुनः आगतवान्**. अतः साक्षात्सर्वमोह-निवर्तकम् उत्तमाधिकार-निरूपकं यज्ज्ञानं तत्संवादे सम्पन्नं ; तदपि भगवदुक्तमेव भविष्यति इति तत् कथय इति अर्थः ॥४८-५०॥

एवम् ऋषिभिः पृष्टः तदुत्तरं वदन्, शुकोक्तमेव तद् इति सरस्वतीसंवादाद् यथा विदुरादीनां भक्तिः तथा भवतामपि भविष्यति इति बोधयन्, भवतां

१. ज्ञाप्यते इति मा.१ पाठः - सम्पा. २. कुषारवस्येति ख.

३. संज्ञायित इति क-ख. ४. -मर्हसीति ख.

वाक्यं संवादिजातम् इति आह.

॥ सूतः उवाच ॥

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महामुनिः ॥
तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः ॥५१॥

॥ इति श्रीभागवत-द्वितीयस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥

राज्ञा परीक्षिता पृष्टः इति. अयमेव अर्थः परीक्षिताऽपि पृष्टः ; शुकेन यदा कथाक्षेपः कृतः एवम् एतत्पुरा पृष्टः इति. तदा **महामुनिः** तत् स्वरूपतः पर्यवसानतश्च जानन् **अवोचत् तदेव वो** युष्मभ्यम् **अभिधास्ये** कथयिष्यामि. एवं सति पूर्वं यद् भवद्भिः पृष्टं ''यद् आह भगवान् शुकः'' (भाग.पुरा. १।४।२) इति, यच्च इदानीं यदपि मया उक्तं ''सो अहं वः श्रावयिष्यामि'' (भाग.पुरा. १।३।४४) इति तदपि अविरुद्धं भवति. अतः शुकोक्तिमेव कथयिष्यामि परं सावधानतया **शृणुत.** (ननु!) शुकस्तु तत्र सभायाम् ऋषिभिः बहुधा पृष्टं बह्वेव उक्तवान्, तत् मुख्यश्रोतृ-बुद्ध्यनुसारि न भवतीति, प्रकृतत्वाभावात् तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **राज्ञः प्रश्नानुसारतः** इति. राज्ञः प्रश्नम् अनुसृत्य तदुत्तरत्वेनैव यद् उक्तं तत् कथयिष्यामि इति अर्थः ॥५१॥

द्वितीयस्कन्धविवृतिः श्रीकृष्णचरणाम्बुजे ॥
निवेदिताऽतियत्नेन युक्तिपुष्पाञ्जलिः स्फुटा ॥(६)॥
भक्तेषु शास्त्रहृदयेषु निवेदयामि शास्त्रार्थतो यदि हरिर्भवतामभीष्टः ॥
तत्पश्यताऽऽत्र विवृतिं भगवद्गुणानां सन्देहवारणविचारणतः प्रसन्नाम् ॥(७)॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे दशमो अध्यायः

॥ सम्पूर्णो अयं द्वितीयस्कन्धः ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणम् अस्तु ॥

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तः द्वितीयस्कन्धः ॥

॥ प्रथमं परिशिष्टम् ॥

॥ स्वतन्त्रलेखाः ॥

श्रीहरिरायाणां लेखाः

(१)

श्रीहरिर्जयति । ''निरस्तसाम्यातिशयेन'' (भाग.पुरा. २।४।१४) इत्यत्र **'राधस्'शब्दवाच्या भगवतः काचित् सिद्धिः** (सुबो.) इति. अत्र इदं चिन्त्यते. 'राधस्'शब्दः सकारान्तो वेदे बहुषु स्थलेषु प्रयुक्तः सिद्धिवाचकः, ''एतत्ते अग्ने राध'' (तैत्ति.संहि. १।४।४३।२) इत्यादिषु तथा निरूपणात् ''सोमच्युतं ह्यस्य राध'' (तैत्ति.संहि. ६।६।१।३) इति ब्राह्मणेन विवृतत्वात् च. तदर्थस्तु— 'अस्य' अग्ने 'राधः' सम्यक्सिद्धिः 'सोमात् च्युतं' निःसृतं, सोमहोमानन्तरमेव सम्यक्तया तत्सिद्धेः. अतएव ''आ तृतीयात् पुरुषाद्'' (तैत्ति.संहि. ५।४।१०।४) इत्यत्र त्रिपुरुषं सोमपानाभावे साग्निकस्यापि प्रायश्चित्तविधानम्, सोमपानविच्छेदे अग्नेः सम्यक्सिद्ध्यभावात्. अतएव इन्द्राग्न्योः एव तत्र स्वभागधेयेन प्रायश्चित्तार्थम् उपधावनम् उक्तम्. अन्यथा सोमस्यैव तद् उक्तं स्यात्. अतो 'राधस्'शब्देन सिद्धिरेव प्रकृतेऽपि ज्ञेया.

तत्र अयम् अभिप्रायः. ननु सर्वासामेव स्वामिनीनां भगवदानन्दानुभव-साम्येऽपि किम् अत्र मुख्यत्वं वाच्यम् इत्याशङ्क्य आहुः **भगवतः सिद्धिः** इति. अन्यासां स्वामिनीनां हि भगवच्छक्तित्वं, ''पुरुषः शक्तिभिर्यथा'' (भाग.पुरा. १०।२९।१०) इत्यादौ दृष्टान्तेन तत्र शक्तित्वनिरूपणात्. तत्त्वं च तत्र सामर्थ्यरूपत्वम्. यथा पुरुषः स्वसामर्थ्येन पूर्वम् अज्ञातमपि अन्यैः निगूढं स्वस्वरूपं प्रकटयति, यतः सर्वैरेव अयम् ईदृशः इति ज्ञायते, तथा स्वामिनीभिरेव स्वस्वरूपं रसात्मकं लोके प्रकटीकरोति ; तत एव सर्वैः तथा ज्ञायते इति तासां शक्तिरूपत्वम्. अतएव उक्तं स्वामिनीभिः एव स्वस्वरूपं ''अशुल्कदासिका'' (भाग.पुरा. १०।२८।२) इति, विवृतं च आचार्यैः ''अन्यथा लोके अयं रसो न स्याद्'' (सुबो.) इति.

प्रकृते तु सिद्धिरूपत्वेन स्वरूपघटकत्वात् न सामर्थ्यरूपत्वम् अपि

तु स्वरूपत्वम् एव. यथा लोके प्रारब्धमपि वस्तु घटादिकं सिद्ध्यभावे अपूर्णं 'घटा'दिशब्दवाच्यं च न भवति इति उच्यते तथा भगवान् अपि रसात्मकः एतत्साहित्याभावे आलम्बनविभाव-द्वयात्मकत्वाभावेन अपूर्णो 'रस'पदव्यवहार्यश्च न भवति इति भगवतः सिद्धिः एव सा इति भावः. तथाच श्रुतिभिः अग्निकुमारैश्च ''रसात्मकः प्रभुः प्राप्त'' (. । ।) इति उक्तौ तद्विशिष्ट एव प्राप्त इति वाच्यम्. अतो लक्ष्म्या इव सर्वत्र तदावेशोऽपि वर्तते इति रसवर्त्मविद्वद्भिः अवधेयम्.

यद्यपि लक्ष्म्या अपि पुरुषोत्तमार्धानन्दरूपत्वेन तत्पूर्णताहेतुतया सिद्धिरूपत्वम् आयाति तथापि प्रमाणसिद्ध-प्रभुस्वरूपार्धत्वेन तत्सिद्धित्वमेव, नतु लोकवेदातीत-तत्सिद्धित्वम्. अतएव श्रुत्यादिषु भगवन्निरूपणे तन्निरूपणम् अपि ''श्रीधरस्य यथा श्रिया'' (ऋक्संहि. ३।१७।४) इति. प्रकृते तु ''रसो वै सः'' (तैत्ति.उप. २।७) इति श्रुत्या रसात्मकं प्रस्तुत्य अग्रे ''यतो वाचः'' (तैत्ति.उप. २।४) इति श्रुत्या मनोवागविषयत्वेन निरूपणात् न लोकवेदप्रसिद्धत्वम् इति तत्सिद्धौ अपि तथात्वम् एव. ''रसो वै सः'' इति श्रुत्या रसात्मकत्वोक्त्यैव तत्सिद्धेः अपि तत्र उक्तेः उभयोः रसरूपत्वेन अनिर्वचनीयतया केवलानुभववेद्यत्वात् लोकवेदातीतत्वम् एव. तत्प्रसिद्धत्वं च धर्मद्वारैव, नतु केवलधर्मिणा, रसस्य धर्मद्वारैव निरूप्यत्वात्. लोकेऽपि मधुराम्लत्वप्रकारेणैव तन्निरूपणात्. अतएव स्वयमपि गीतायां धर्मद्वारैव स्वस्य लोकवेदप्रसिद्धिम् अभिधातुम् ''अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम'' (भग.गीता १५।१८) इति आह. वेदे 'रसः' इति सामान्यभाषया उक्तोऽपि न तेन रूपेण प्रथितः किन्तु धर्मसहित-धर्मिवाचक-'पुरुषोत्तम'पदेनैव प्रसिद्धः. 'पुरुषोत्तम'पदस्य पुरुषोत्तमत्वादि-धर्मसहित-धर्मिवाचकत्वम् एव, न 'कृष्ण'पदवत् केवलधर्मिवाचकत्वम्. अतो न अत्र लक्ष्मीसाम्यं सम्भावनीयम् अपि इति अभिप्रेत्य एव आचार्यवर्यैः **काचिद्** इति उक्तम्. रसात्मकत्वेन प्रभुः इव सा अपि अनिर्वचनीया एव लोकवेदयोः इत्यर्थः.

तथाच स्वरूपघटकत्वेन, सर्वप्रवेशसमर्थत्वेन, सकलस्वामिनी-स्थायिभावरूपत्वेन, भगवत इव संयोगविप्रयोगात्मकत्वेन, भेदाभेदाभ्यां

स्थितत्वेन, स्वप्रवेशेनैव रसानुभवसम्पादकत्वेन — एवंविधानेकधर्मैः निःप्रत्यूहं मुख्यत्वम् अत्र सिद्धम् इति तदाश्रिताश्रितैः न शङ्कालेशोऽपि अत्र विधेयः इति भावः.

दीनस्य धर्मविज्ञानभक्त्यादिरहितस्य मे ।
निरालम्बस्य कृपया भवत्वालम्बनद्वयम् ॥

(वेणुनाद वर्ष १ अंक १ इत्यत्र प्रकाशितः).

(२)

। श्रीहरिः । द्वितीयस्कन्धे तुरीयाध्याये ''यत्कीर्तनम्'' (भाग.पुरा. २।४।१५) इति श्लोकविवृतौ **अर्हणं हि** इति.

तदर्हणं हि प्रकृतिरूपम्, अनन्यत्वाभावात् तत्त्वेन न व्यपदिष्टम्
- सुबो.

अर्हणं नाम वसनादिभिः सत्कारः, तच्च भगवतः **प्रकृतिरूपम्,** तदुत्तरमेव मूर्त्यादौ भगवत्त्वप्रतीतेः पूजयैव तत्र आविष्टस्य अभिव्यक्तिकरणात्. तथाच भगवत्त्वप्रतीत्या ज्ञानेन मायामोहाभावो, भगवद्वैमुख्याभावेन भगवत्कृतमोहाभावश्च फलति इत्यर्थः. मूर्तेः पूर्वं मृदादिविकृतत्वेऽपि सत्कारोत्तरमेव प्रकृतित्वं साक्षादानन्दमय-प्रभुस्वरूपात्मकत्वं भवति इति तथात्वम्. ननु एवम् अर्हणस्य भगवत्प्रकृतिरूपत्वे 'यदर्हणम्' इति भेदेन निर्देशो अनुपपन्नः इति चेत्, न, **अनन्यत्वाभावाद्** इति. अनन्यत्वे हि मुक्तौ जीवस्य इव अस्यापि भगवत्त्वेन व्यपदेशः स्यात्, नतु तदभावे. प्रकृते तु धर्मरूपत्वेन तदर्हणस्य तदभेदेऽपि पृथक्स्थित-जीवस्य इव भेदाद् अतो न भगवत्त्वेन अर्हणम् उक्तम् इत्यर्थः.

(मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारतः प्राप्तः अप्रकाशितः).

॥ प्रकीर्णस्वतन्त्रलेखाः ॥

(३) ''क्रिया सर्वापि सैवे''ति सुबोधिनीकारिकोपरि श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते ॥(१७)॥
तासां कामस्य सम्पूर्तिः निष्कामेन इति ताः तथा ॥
कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः ॥(१८)॥
कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ॥
अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च ॥(१९)॥
अत एतच्छ्रुतौ लोको निष्कामः सर्वथा भवेत् ॥
भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते ॥(२०)॥
अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम् ॥

(सुबोधिनी १०।२६।४२।का. १७-२० १/२).

भगवतो भक्तानां च अलौकिकत्वं लौकिककामाभावं च आहुः **क्रिया सर्वापि** इति. अयम् अर्थः— लोके रससम्बन्धिनी क्रिया लौकिककामविषयिण्येव प्रसिद्धा इति भगवच्चेष्टायाः च तत्सजातीयत्वात् कामोपि लौकिकएव भविष्यति इति कस्यचिद् भ्रान्तस्य आशङ्कां वारयितुम् आहुः **परं कामः** इति. लौकिकः कामो न विद्यते इति अर्थः. ननु भगवान् पुरुषोत्तमः इति अस्तु नाम लौकिककामाभावः, एतासां लौकिकतद्वत्त्वम् अस्तु इति चेत्, तत्र आहुः **तासां कामस्य** इति. अयम् अर्थः— यदि भक्तानां लौकिकः कामः स्यात् तर्हि अलौकिकेन भगवत्कामेन पूर्णो न स्यात्, तयोः परस्परम् एकजातीयत्वाभावात्, विजातीयेन विजातीयस्य पूरणासम्भवात्. अतो भगवत्कामेनैव तासां कामस्य पूर्तेः भगवत्तुल्यत्वं तासामपि इति ज्ञापनाय उक्तं **ताः तथा** इति. यथा भगवान् अप्राकृतो लौकिककामरहितः तथा एताअपि इति अर्थः. अन्यथा भगवतः पूर्णरसोद्बोधो न स्याद्, न्यूनाधिकत्वेन भाववैजात्यात्.

ननु **कामो न विद्यते** इति कथनाद् भगवति, तत्सम्बन्धाद् भक्तेषु च, उभयविधकामाभावएव अस्तु इति चेत्, न, पञ्चमाध्यायोक्तकारिका-विरोधात्, तत्र लौकिकनिषेधपूर्वकम् अलौकिकस्य भगवति निरूपितत्वात्.

तथाहि— ''अत्रैव लोके प्रकटम् आधिदैविकम् उत्तमं, कामाख्यं सुखम् उत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते नच अपरः'' (सुबो. १०।३०।०।का.५) इति. अत्र कामसुखस्य आधिदैविकत्वोत्तमत्वविशिष्टस्य प्रभोः भोक्तृत्वकथनाद् लौकिकस्यैव तस्य निषेधो, नतु अलौकिकस्यापि. अतो भगवद्भोग्यास्वपि तथैव. अन्यथा भगवतो भोक्तृत्वमेव न स्यात्. तस्मात् सुष्ठूक्तं **ताः तथा** इति.

विपक्षे बाधकम् आहुः **कामेन** इति, प्राकृतेन इति शेषः, तादृशस्य संसारजननावश्यकत्वात्, प्राकृतेषु सर्वत्रैव तथादर्शनात्. अत्रत्यभक्तेषु संसाराभावात् प्राकृततदभावो निःसन्दिग्धः इति ज्ञापनाय उक्तं **न संशयः** इति.

अतो न क्वापि इति. **मोक्षफला मर्यादा** कामे सति न मोक्षः-तदभावएव सः इति लक्षणा **अपि न भग्ना** इति सम्बन्धः. तथाच श्रुतिः मोक्षरूपब्रह्मानन्दप्राप्तौ ''श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य'' (तैत्ति.उप. २।४) इति. तत्र उपपत्तिम् आहुः **अतः एच्छ्रुतौ** इति.

ननु कामलीलाश्रवणेन लौकिकभावोत्पत्तिः लौकिकस्य अवश्यं भवति इति विपरीतं प्रयोजनं स्याद् इत्यतः आहुः **भगवच्चरितम्** इति एकं श्लोकम्. वस्तुस्वभावादेव अद्भुतकर्मत्वाच्च प्रभोः एतच्छ्रवणे तदुद्बोधो न इति अर्थः. यतो न भवति अतएव शुकः एतल्लीलाश्रवणादिफलं कामाभावमेव ''कामम् अपहिनोति'' (भाग.पुरा. १०।३०।४०) इति प्रकटमेव आह. यद्यपि 'हृद्रोषम् अपहिनोति' इत्येवमेव वाच्यं, तावतैव चारितार्थ्यात्, तथापि उक्तलीलास्वरूपं ज्ञापयितुं स्फुटम् आह इति अर्थः.

(अप्रकाशितः. श्रीगट्टूलालाजी लाईब्रेरीतः प्राप्तः).

(४) अवतारविचारः

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यं सम्प्रदायगुरुं परम् ॥
करोमि वर्णनं किञ्चित् स्वरूपस्य यथामतिः ॥

ननु ''जायमाने-जनार्दने'' (भाग.पुरा. १०।३।८) इति पदे वक्ष्यमाणोत्पत्त्यनुवादके स्याताम्. तथाच ''अवतारत्रयम् उक्तम्'' (तत्रत्य

सुबो.) इति विरुद्ध्येत! सत्यम्. यथा जन्मर्क्षस्य सर्वगुणप्राकट्यहेतुत्वं तथा उभयावतारयोरपि तत्तत्कार्यहेतुत्वम्. हेतोश्च कार्यात् प्राक् सत्ता अपेक्षितैव. अन्यथा भगवत्प्रादुर्भाव-पूर्वकालस्यैव सर्वहेतुत्वसम्भवे अजन-जनार्दनप्रादुर्भावनिमित्तत्वेन न वदेत्. अनुवादे च प्रयोजनाभावः. उभयोः पदयोः लाक्षणिकत्वापत्तिश्च. नहि अजन-जनार्दनयोः उत्पत्तिः किन्तु वक्ष्यमाणविष्णूत्पत्तिम् अजनजनार्दनोत्पत्तिपदेन अनूद्य तया च तत्समीपवर्तिनं कालं लक्षयित्वा तस्य सर्वकार्यहेतुत्वं वाच्यम्. तच्चापि व्याख्यानम् अवतारद्वयं निरपादानं तृतीयं च देवक्यादानकम् उभयोश्च तृतीये समावेशः. इतरथा रूपत्रयदर्शनप्रसङ्गः. अतएव ''व्यूहत्रयविशिष्टं प्राकृतम्'' इत्युक्तिः संगच्छते. वासुदेवो वसुदेवहृदि नन्दगृहे च प्रादुर्भूतः. उभयोः नन्दगृहे एकीभावः. रोहिण्यां प्रादुर्भूतः अत्र च प्रादुर्भूतः तयोः एकीभावः. अथवा रोहिण्यां प्रादुर्भूतस्य बलभद्रेषु आवेशः. अत्र आविर्भूतस्य अनिरुद्धस्य अत्रैव अन्तर्भावः. चतुर्थाध्याये च आविर्भूतस्य प्राकृतशिशौ अन्तर्भावः, वासुदेवस्यापि तत्रैव.

एवं सति चतुर्व्यूहविशिष्ट-पुरुषोत्तमो नन्दगृहे एव. तत्र व्यूहकार्यं व्यूहैरेव, स्वकार्यं तु स्वेनैव. अत्र व्यूह-व्यूहिनोः लीलार्थं पार्थक्यमात्रं, नतु भेदः, विरुद्धधर्माध्यासाभावात्. ब्रह्मणि धर्माणाम् उपसंहारस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्. तथाच उक्तं ''सर्ववेदान्तप्रत्ययवेद्यं, चोदनाद्यविशेषाद्'' (ब्रह्मसूत्र ३।३।१) इति दिक्.

(अज्ञातकर्तृकः. अप्रकाशितः. श्रीगट्टूलालाजी लाईब्रेरीतः प्राप्तः).

(५) श्रीयोगिगोपेश्वराणां प्रथमस्कन्धसुबोधिनीसूचनिका

नत्वाऽऽचार्यान् प्रवक्ष्यामि सुबोधिन्याः पदानि च ॥
ग्रन्थबाहुल्यभीरूणां ग्रन्थे प्रवर्तकानि तु ॥१॥
अद्य नः सफलं जन्म भावोत्पादाब्जवन्दनात् ॥
श्रीमतां ग्रहणादद्य सद्यो नः सफलाः क्रियाः ॥२॥
पूर्वोक्तवाक्यवज्ज्ञेयम् उत्तरत्र तथापि च ॥
इति करणमृतेऽपि स्यात् प्रतीकत्वं यथा खलु ॥३॥
सर्वं विष्णुरिति श्लोके द्वितीयान्तेऽपि चैव हि ॥

लिखितानां प्रसङ्गेन चेतरत् स्वयम् ऊह्यताम् ॥४॥

१।१।०।का.३ **श्रीगोपीपतिवन्दिने** इत्यत्र भागवतसम्प्रदायः प्राचीनः.

१।१।०।का.६ **लक्षणां नैव वक्ष्यामि** इत्यत्र ''मां विधत्ते अभिधत्ते माम्'' इति अनुसन्धेयम्.

१।१।१ **यथा यज्ञात्मको वृत्रः तद्वधेन यज्ञाः प्रवृत्ताः वेदे निरूपिताः** इति. **यथा वेदः तथा भागवतम्** इति. **यथा वेदे यज्ञियाः पदार्थाः** इत्यादि. **सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति** इत्यादि. **तत्र द्वयं साधयितुम् एषा भागवती संहिता. यथा यज्ञाः ब्रह्मात्मावगतिः च काण्डद्वयार्थः. अतः काण्डद्वयार्थनिष्णातोपि अफलवृक्ष इव व्यर्थः इति भागवतारम्भः.** अत्र ''स जहाति मतिं लोके'', ''भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येन'', ''रोचनार्था फलश्रुतिः'' इत्यादि अनुसन्धेयम्. पुराणस्य पञ्चमवेदपक्षे भगवद्वाक्यत्वाद्, वेदत्वपक्षे एवं पौर्वापर्यम्. विपरीतं तु चरणव्यूहे तत् तर्कादिसहकृतं भगवद्वाक्यातिरिक्त-पुराणभागपरं सिद्ध्यति. **अग्न्युपस्थाने हि गायत्री. यदस्ति यन्नास्ति. वर्णानाम् अनेकभाषावितत-त्वम्. पुराणेन सह** इति वा. **भगवत्तात्पर्यं वेदएव, न लोके. वेदमार्गेण ब्रह्मा एवम् उच्यते. अन्येषां वेदार्थनिष्ठानामपि तद्रूपेणैव मुक्तिः. अन्येषां वेदानुपयोगे हेतुः 'मुह्यन्ति'** इति. **वेदार्थे वा. तस्माद् भगवानेव तत्प्रपन्नो वा वेदार्थवित्. कामनया क्लिष्टेषु प्राणिषु कामनासिद्ध्यर्थं वेदप्रचारः.**

१।१।२ **धर्मो ज्ञानं च साधनं,** भगवदाविर्भावः **साध्यः. तदनु तत्र प्रवेशः फलम् — एतत् सर्वं भागवतादेव भवति** इति. **विधिसम्बन्धो धर्मलक्षणम्. स यज्ञात्मको धर्मः. आचारोपि धर्मः पौराणिकः. सत्यादयोपि धर्माः, तपःप्रभृतयः च, श्रवणादयः च. तत्र यज्ञेषु कापट्यम्, आचारेऽपि, सत्यादिष्वपि, तपःप्रभृतिषु च. न तथा श्रवणादिषु किञ्चित् कापट्यम् अस्ति. यज्ञ-ब्रह्म-काल-पुरुषाएव सर्वत्र वेद्याः. मन्त्रशास्त्रम् उपासनाकाण्डः पञ्चरात्रं च.**

१।१।३ **सर्ववेदार्थविचारे भगवद्धृदयएव फलितम्. शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः, भगवत्सेवने योग्याः न अन्यः** इति **अर्थतः फलम्.**

अयम् अर्थो गोप्योपि भक्तचिन्तया परवशस्य भगवतो हृदयाद् आगतम्. भावनाचतुराः वा विस्मृतेऽपि रसे भावनया रसाभिनिवेशं कुर्वन्ति इति.

१।१।४ अत्र भागवतस्य परम्परायाः आगताः सप्तार्थाः कथार्थतो अतिरिक्ताः भवन्ति. सत्रलक्षणं— सहस्रसंवत्सरे सत्रे तत्र अलौकिकभगवदाविर्भावो दृष्टः.

१।१।६ धर्मार्थकाममोक्षाख्याः चत्वारोऽर्थाः मनीषिणाम्. तत्र ईश्वरविचारिताः चत्वारो वेदएव. जीवविचारितास्तु स्मृतिषु धर्मः, नीतिशास्त्रेषु अर्थः, वात्स्यायनादिषु कामः, साङ्ख्यायनादिषु मोक्षः. तत्र यावत् सर्वज्ञत्वं न भवति तावद् भगवच्छास्त्रापरिज्ञानम्.

१।१।१३ सर्वेषाम् अभ्युदय-निःश्रेयसाय भगवदवतारः.

१।१।१५ पादसंश्रयणं भक्तिमार्गएव.

१।१।१६ यशोलक्षणम्.

१।१।१७ उदारादिविशेषणानि न व्यावर्तकानि किन्तु कर्मोद्देशेन इत्यादि. लीलालक्षणं तया नूतनाः कलाः प्रतिक्षणं ध्रियन्ते इत्यादि. तथा तत्कर्मणाम् इत्यादि.

१।१।१९ पदलक्षणं प्रकृतिः प्रत्ययः च.

१।२।०।का.२ फलसाधनरूपाणां निर्णयः, कर्मणामपि ; त्रयाणां वक्ष्यते अध्याये.

१।२।२ ''वाग् वै देवेभ्यो अपाक्रमद् यज्ञाय आतिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत्, सैषा वाग् वनस्पतिषु वदति'' इति श्रुतिः.

१।२।३ अखिलसारश्रुतिसारत्वोपपादनम्. देवदैत्यादिषु प्रवृत्तायाः श्रुतेः तन्निवार्यते. आत्मानम् अधि इति आत्मसम्बन्धि-सर्वपदार्थानाम्.

१।२।४ नारायणादयो नम्याः सदा.

१।२।५ प्रश्नएव शास्त्रसमाप्तिः.

१।२।६ स्वाधिकारानुसारेण शास्त्रार्थं निरूपयति. रुचिः श्रवणादिः प्रेम च इति भक्तिः त्रिविधा. आत्मज्ञानं, तत्त्वज्ञानं, भगवज्ज्ञानं

च इति. धर्मः साधनं, भक्तिः फलम्.

१।२।७ एवं धर्मादि-ज्ञानान्ता एका परम्परा.

१।२।८ तस्याः निर्धारिकाम् अन्यां परम्परां— धर्मः साधनं, कथारुचिः साध्या. यजतिः स्तुत्यर्थः.

१।२।११ तस्य भावः तत्त्वम्, अनारोपितं रूपं वा. तस्य भावः इति पक्षे. तत्त्वविदो वेदार्थतत्त्वविदः येषाम् अक्षरमात्रेऽपि वेदेन न विरोधः. द्वैतनिवर्तकं ज्ञानं तत्त्वम्.

१।२।१२ एवं द्वितीयप्रकारेण ज्ञानम् उक्तम्.

१।२।१३ धर्मस्य मुख्यं फलं भगवत्प्रसादः. अनुष्ठाने कर्मैव उपक्षीणं, न कर्ता इति तदैव भगवत्प्रसादः. अन्यथा कर्मणैव फलम्.

१।२।१४ येषु धर्मेषु न व्यभिचारः ते विशेषेण कर्तव्याः. अतः श्रवणादिकमेव कर्तव्यम्. ध्यानं भगवति चित्तस्थिरीकरणं, भगवन्मूर्तेः अनुसन्धानं वा. पूजा बाह्याभ्यन्तरभेदेन.

१।२।१६ ज्ञान-भक्ती मध्यमे निरूप्य उत्तमे निरूपयति. तत्र अयं क्रमः— आदौ गृहत्यागेन इत्यादि.

१।२।१७ तथाच अस्मिन् पक्षे प्रथमशृङ्खला स्वसाध्या, द्वितीया भगवत्साध्या. तदैव तृतीया स्वस्मिन् इत्यादि.

१।२।१८ पूर्वं कथायाः श्रवणमेव, इदानीं देववत् सम्भावनम् इति सेवार्थः. भगवति परमप्रेम उत्पद्यते इति.

१।२।१९ तदा तु चित्तस्य स्वरूपं नश्यति ; त्रिगुणात्मकं हि तद् इति. तदा तद्धृदयं कदाचिदपि भगवदासनं न.

१।२।२० अत्र संन्यासोपि अङ्गत्वेन अपेक्ष्यते.

१।२।२२ सर्वं प्रकरणार्थं निरूप्य कुत्र पुरुषप्रयत्नः पर्यवसितः ? शुद्धसत्त्वात्मके अन्तःकरणे आविर्भूते भगवति परमप्रेम कर्तव्यम्. इति प्रथमाधिकारः.

१।२।२३ ब्रह्मणोपि नतु चैतन्यं भिद्यते इति. यदि पुनः सेवकस्य बुद्धिः न उपाधिपर्यवसायिनी तत्र यत्र क्वचित् सेवायामपि न काचित् चिन्ता, यथा ब्रह्मविदः इत्यादि.

१।२।२५ भेजिरे मुनयो अथ अग्रे आचारदार्ढ्यम्.

१।२।२६ सत्ययुगे भजनं ; कथं त्रेतादिषु भजनं ?

१।२।२७ भजनं सख्यपर्यवसायि.

१।२।२८,२९ तत्र वेदः सात्त्विकम् इत्यादि. प्रथमाधिकारः. पञ्चशास्त्राणि.

१।२।३० वैदिके तु इत्यादि.

१।२।३३ भोगलक्षणलीलाम् इति.

१।३।१ अवतारो व्यापिवैकुण्ठाद् अत्र आगमनम्. आद्या सृष्टिः. कार्यकाले संक्रमणम् आवेशः, सर्वदा अवतारः.

१।३।४ वेदप्रतिपाद्यस्य सम्बन्धे शरीरं ''विश्वतः चक्षुः'' इत्यादि.

१।३।८ परिचर्यायां सर्वाणि कर्माणि अङ्गभावं भजन्ते इत्यादि.

१।३।२९ कृष्णस्य जन्म न प्रकटतया वक्तव्यम्.

१।३।३५ जन्मकर्माणि वेदे गोप्यानि.

१।३।३६ षाड्वर्गिकं जिघ्रति. इन्द्रियाणि धर्मानेव गृह्णन्ति इत्यादि.

१।३।३७ षड्रसास्वादनं भगवतः उक्तम् इत्यादि.

१।३।४२ प्रमाणान्तरचिन्ता न कर्तव्या इत्याह सर्ववेदेतिहासानाम् इति.

१।३।४४ यथाधीतं यथामति इति उक्तादपि अधिको अर्थो अस्य अस्ति इति.

१।४।१२ शिवाद्याः भगवत्सेवकाः भवन्ति.

१।४।१३ अत्रैवर्णिकत्वात् वेदे परं न परिचयः.

१।४।१८ वर्णाश्रमदेशव्यतिरिक्ताः धर्माः पाषण्डाः.

१।४।१९ कालः तन्नियामकः कालैतदुभयात्मको यज्ञः विष्णुः. चातुर्होत्रम् अग्निहोत्रादि.

१।४।२० ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेन अध्वर्युः, सामवेदेन उद्गाता. तेषाम् अपेक्षितधर्मप्रतिपादकः इतिहासपुराणाख्यः.

१।४।२६ स्त्र्यादीनाम् अधिकारः.

१।५।६ वेदानां समस्तं गुह्यम्.

१।५।१२ कर्म त्रिविधं— कामनया क्रियमाणं, ज्ञानाङ्गम्, ईश्वराराधनम्.

१।५।१७ भगवत्सेवैव स्वधर्मः इत्यादि.

१।५।१८ भगवत्परिग्रहार्थमेव कोविदो यतेत. यत्नस्तु पूर्वोक्तचरणसेवा. धर्मरूपसेवायाः लोकवेदसिद्धत्वेऽपि न भक्तिसेवा तत्सिद्धा. कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वम्.

१।५।२० ''आचार्यवान् पुरुषो वेद'' इति शास्त्रार्थत्वम्. सर्वं खलु इदं ब्रह्म.

१।५।२३ आदिसाधनम् आरभ्य फलपर्यन्तं क्रमः— सेवार्थं सत्सङ्गः प्रथमम्.

१।५।२४ निर्दुष्टा सेवा द्वितीयम्.

१।५।२८ श्रवणस्य भेदान्तराणि सन्ति.

१।५।२९ ज्ञानभेदाः.

१।५।३३ येनैव कर्मणा नाशः सः देवप्रभौ योजनीयम्.

१।५।३४,३५ क्रियायोगफलविचारः.

१।५।३६ ननु पञ्चरात्रोक्तेत्यादि.

१।५।३७ मन्त्राराधन-पुरश्चरणकर्म.

१।५।३८ यज्ञपतिं यज्ञं वा यजेत जप-पूजा-होमादिना.

१।५।३९ ज्ञानभक्तिदानम्.

१।६।०।का.१,२ मध्यमाधिकारेण पदार्थाः निरूपिताः. बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता.

१।६।५ ब्रह्मविदोपि भगवदर्थं यत्नः. दृष्टे च भगवति तदाज्ञा कर्तव्या इति. भगवान् अनुगुणः चेद् अग्रिमावस्था सम्पाद्या इत्यादि.

१।६।१० प्रतिबन्धकान् आत्मत्वाद् न दूरीकरोति, अत्यनुग्रहेण करोति.

१।६।१७,१८ मानसकल्पितमूर्तौ अभ्यन्तराद् भगवदाविर्भावे इत्यादि.

अयं भगवत्साक्षात्कारः इत्यादि **ब्रह्म सम्पद्यते** इत्यन्तं द्रष्टव्यम्.

१।६।२१ **पाचककर्माणि कर्तव्यानि** इति.

१।६।२३ **असेवकोपि सेवकशरीरम्.**

१।६।२६ **एकं च नाम न आवर्तनीयं, ब्रह्मविदः सर्वैः रूपैः भगवत्सेवनस्य श्रुतिसिद्धत्वात्.**

१।६।२७ **तदैव कषायाः पक्वाः** इत्यादि.

१।६।३२ **एका श्रवणभक्तिः उक्ता. द्वितीया तु** इत्यादि.

१।६।३३ **अन्येऽपि भक्तिवशात्. तादृशो हि भक्तिगुणः.**

१।६।३४ दृष्टसाधनं हरिचर्यानुवर्णनम्.

१।६।३५ दृष्टोपायत्वं साधनान्तराणाम् अतथात्वम्.

१।६।३७ **भक्तिमार्गएव मार्गः.**

१।६।३८ **स्वतन्त्रभक्तिः.**

१।७।०।का.१ **उत्तमाभिधा.**

१।७।४ **समाधिभाषा.**

१।७।४७ **धर्मे ज्ञानाभावो बाधकः. ''यदेव विद्यया''.**

१।७।५२ **अर्जुनस्तु सख्यपर्यन्तम् आगतः.**

१।८।०।का.१ **भगवद्वाक्यनिष्ठता सप्तमे विनिरूपिता.** तादृशवाक्य-करणाद् गुण-दोषौ.

१।८।१९ सर्ववस्तुरूपत्वेऽपि मायया न भासते.

१।८।२२ **नमनं स्वरूपे गुणे वा, न लीलादौ, रसावेशात्.**

१।८।२६ नवविधगुणस्वरूपलीलाधर्माः नवविधभक्तिहेतवः.

१।८।३० **नरदेहेन्द्रियरूपेण दृश्यरूपेण आत्मानं ख्यापयति. एतद् भगवतो असाधारणं लक्षणम्. एतदज्ञाने न कोऽपि भगवन्तं पूजयेत्.**

१।८।३६ **दास्ये हि फलनिर्णयः** इत्यादि.

१।८।४३ **पुनः पुनः भगवदाविर्भावे माहात्म्यपूर्वकं नमनं सिद्धान्तः.**

१।८।५२ पूर्वकाण्डज्ञानं मोहज्ञानम्.

१।९।१६ अस्य विधित्सितं कोऽपि न वेद इत्यादि.
१।९।१८ कालात् कृष्णस्य भेदः. अनेन कालस्य कृष्णत्वम् इत्यादि.
१।९।२४ न इदानीन्तना भक्तिः किन्तु सदा पूज्यः.
१।९।२६ वर्णधर्माः ज्ञानादयः, आश्रमधर्माः अध्ययनादयः. रागोपाधयः पूर्वकाण्डोक्ताः, वैराग्योपाधयः उत्तरकाण्डोक्ताः.
१।९।३० सर्वपरित्यागेण भगवच्चिन्तनं कर्तव्यम् इत्यादि.
१।९।३२ अन्ते यत् कर्तव्यम्.
१।९।३९ अन्तकाले स्नेहे सति किं वक्तव्यम्!
१।९।४२ स्वसेवां त्याजयित्वा इत्यादि.
१।९।४७ स्तुत्वा कृष्णं हृदये निवेश्य.

१।१०।०।का.३ कृष्णाधीनं सुखं यस्य स सुखी. कृष्णपरं चित्तम्.
१।१०।७,८ वृथैव जीवनं लोके भक्तिज्ञानोत्सवैः विना. कृष्णैकतानचित्तत्वम्. सुभद्रायाः शोकापनोदः इति भगवत्स्थितिः. आलिङ्गनं सर्वदोषनिवृत्तये.
१।१०।१० सुभद्रादयः.
१।१०।११ भगवद्विरहकथा दूरे इत्यादि. बहिर्व्यवहारानुसारेणैव सर्वे वेदाः.
१।१०।१२ दर्शनादयः षड् भगवद्योग्याः. देहेन्द्रियान्तःकरणवृत्तीः भगवति.
१।१०।१४ चतुर्विधवाद्यम्.
१।१०।१६,१७ उपचारेषु सर्वेषु महाराजत्वम् उत्तमम् इति.
१।१०।१८ ब्राह्मणानाम् आशीर्दानम् अवधि.
१।१०।२० भगवच्चेतसां जल्पः.
१।१०।२२ ब्रह्मविदुपास्यत्वेन ब्रह्मत्वनिर्णयः. समाधिना उपास्यः.
१।१०।२३ कविनिबद्धेत्यादि.
१।१०।२४ अनुष्ठीयमानो धर्मः पूर्वकाण्डार्थः.

१।१०।२५ **मधोः दैत्यस्य** इति.

१।१०।२७ **व्रतम् अङ्गत्वेन कृत्वा पूजामेव मुख्यत्वेन** कृतवान्.

१।१०।३० **अयम् एकः प्रकारः**.

१।१०।३३,३४ देशभेदाः.

१।११।०।का.२ **स्नेहः शास्त्रार्थं जानतामपि** इति.

१।११।१ शङ्खप्रयोजनम्.

१।११।५ गद्गद्गिरावर्णनम्.

१।११।६ **भगवत्सायुज्यं भक्तिरसाद् न अपेक्ष्यते** इति. **चरणारविन्दमेव सर्वसाधकम्**.

१।११।७ असेवाद्यपराधेऽपि प्रभुः **प्रार्थनीयः** ''स्वसेवामेव शिक्षय'' इत्यादि.

१।११।८ **भक्त्यैव पूर्णमनोरथाः**.

१।११।११ **भगवद्योग्यं स्थानम्**.

१।११।२५ **नित्योत्सवत्वाद् भगवतः**.

१।१२।०।का.२,३ **यथा पञ्चाग्नौ देहसम्भवः तथा ब्रह्माग्नौ सर्वलक्षणसम्पन्नः**.

१।१२।१३ **अष्टाचत्वारिंशत्संस्कारान्**.

१।१२।२६ **शासनं शिक्षापूर्वकदण्डः**.

१।१३।०।का.१ **देहोत्पत्तिः**.

१।१३।१० **अनेन भगवदाज्ञायामेव तीर्थाटनं कर्तव्यम्**.

१।१३।१३ **ननु अप्रियम्**.

१।१३।२६ **हृदि कृत्य हरिं प्रव्रजेत् स नरोत्तमः**.

१।१३।४१ **इन्द्रियाणि बलीवर्दाः, वेदो मर्यादारज्जुः, भगवदिच्छा स्तम्भः** इत्यादि.

१।१३।५३ **यम-नियमौ. अष्टाङ्गयोगं वक्तुम्** इत्यादि.

१।१३।५४ भावना ध्यानं धारणा च.

१।१५।४ **गद्गदता भक्तिं दूरीकृत्य** भगवद्ग्रहणम्. **सख्यं मैत्रीं सौहृदम्.**
१।१५।१७ **पादेति भक्तिमार्गेण** इत्यादि.
१।१५।२१ भस्महोमश्रुतिः.
१।१५।२५ **मात्स्यो न्यायः.**
१।१५।२८ **एवं धर्मपुरःसरं स्मृतेन भगवति भक्तिजननाद्** इत्यादि.
१।१५।२९ प्रमाणावरणं, जीवावरणं, भगवदावरणम्. रजस्तमोपगमादिभिः आवरणनाशः.
१।१५।३१ **ज्ञाने ब्रह्मसम्पत्तिः, ''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'' इति.**
१।१५।३४ **तन्वा जहौ** इत्यत्र तनुत्यागयुक्तिः.
१।१५।४६ **भगवत्सेवया साधिताः पुमर्थाः उत्तमाः. श्रीकृष्णचरणारविन्दमेव मनसा धारयामासुः.**
१।१५।४७ **उच्छलिता भक्तिः.**

१।१६।०।का.२ **ऐहिकस्यापि बन्धस्य निवृत्तिः.**
१।१६।४ **कलेः रूपत्रयं— पापं, शूद्रः, उभयविशिष्टः.**
१।१६।६ **प्रेमसेवायाम् आविर्भावस्वरूपः. यदर्थं सर्वोपि भक्तिमार्गः.**
१।१६।७,८,९ स च भगवदाह्वानादि शामित्रकर्म.
१।१६।३२ **चरणसौभाग्याभिलाषा लक्ष्मीः तत्प्राप्तये** इत्यादि.
१।१६।३३ चरणचिह्नानि, चरणसेवायां सर्वपापक्षयः इत्यादि.
१।१६।३५ **भक्ति-ज्ञाने दत्वा** इत्यादि.

१।१७।१६ **आर्तिनिवारणरूपं भगवदीयं धर्मं पुरस्कृत्य वशो जातो भगवान्.**
१।१७।१७,१८ **सहायभूतं च कर्म** इत्यादि धर्मवाक्यम्.
१।१७।१९ **तेन वेदहृदयविचारेण निर्णयं कुरु.**
१।१७।२३ **तपः शौचं दया सत्यं** तल्लक्षणानि.
१।१७।३३ ननु कथं विष्णुः इज्यो, यतः इन्द्रादयः इज्याः, इत्यत्र आह

इज्यात्ममूर्तिः. अतः प्रीतिद्वारा भौतिकेषु संस्कारद्वारा भक्तिमार्गानुसारी.

१।१७।३७ अग्नीषोमीयप्रभृत्येव हिंसायाः विधानात्.

१।१८।४ **देहेन्द्रियान्तःकरणैः भगवदीयकार्यकरणे** इत्यादि सन्निपात-निवृत्तिः.

१।१८।११ **कृषिर्भूवाचकः शब्दः** इति.

१।१८।१२ कर्मणि अनाश्वासश्रुतिः. **पादपद्म इति भक्तिमार्गप्रचारः.**

१।१८।१६ यत्र फलसाधनयोः न सञ्चारः स श्रोतव्यः.

१।१८।१९ **महान्तो नाम भगवान् इति उत्तरोत्तरम् उत्कृष्टाः. अतो नवधा अनन्तत्वं भगवति पश्यति.**

१।१८।२१,२२ भगवत्त्वव्यवस्थापनम्. **अन्यत्र अनुरागः आत्मनाशकः** इत्यादि रागानुरागव्याख्यानम्. भक्तौ वेदविरोधाभावः. **आलभतिः न हिंसार्थे.**

१।१८।२३ **एकोपि गुणो न सम्यग् अवगम्यते इति.**

१।१८।२५ श्रवणं मननम् आसनं प्राणायामः प्रत्याहारः ध्यानं धारणा समाधिः. तेन रूपेण भगवत्सेवकः. मानसीसेवा.

१।१८।२८ मत्सरलक्षणम्.

१।१८।३५ **''षट् फट् जहि'' इत्युक्त्वा** आह इति प्रसिद्धम् इदम्.

१।१८।४० **क्षमाभावे ब्राह्मण्यं गच्छति इति. अप्रतिषिद्धम् अनुमतं भवति इति.**

१।१८।४४ वेदत्रयप्रतिपाद्यो यज्ञः.

१।१८।४९ अन्तःकरणदोषाभावात् **क्षोभाभावः.**

१।१९।०।का.७ **शुको वृषध्वजः.**

१।१९।२ **देवालयापकारे देवएव अपकृतः.**

१।१९।३ **अपदोषतैव विगुणस्य गुणः.**

१।१९।५ **इहामुत्रार्थफलविरागो न ज्ञानार्थः किन्तु भगवत्सेवार्थः. भगवत्सेवायाः शरीरमात्रसाध्यत्वम्.** पूर्वदेहत्यागो, देहान्तरम्. **अमर्त्यत्वं नदीकृतम्.**

१।१९।६ तुलसीरेणुजलैः शरीरं पादोवत् (?).

१।१९।८ **शिष्टं भगवानेव करिष्यति.** प्रभुप्रेरणया न आगताः किन्तु पूर्वमेव सप्रभवः.

१।१९।११ **वन्दनान्ता पूजा.**

१।१९।१३ **महत्कृपा भगवत्कृपा.**

१।१९।१४ **भगवानेव शापरूपो जातः. ननु गृहएव कथं न मोचयति?**

१।१९।१६ **न वा इच्छाविशेषो रतिः** इत्यादि.

१।१९।२३ सत्यलोके वेदाः मूर्तिधराः.

१।१९।२४ इतिकर्तव्यतास्वरूपम्.

१।१९।२५ **''आत्मलाभात् न परं विद्यते''** **इति** श्रुतिविरोधाभावः.

१।१९।३८ जाप्य-कर्तव्य-स्मर्तव्य-भजनीयप्रश्नः.

१।१९।४०।का.१० **उच्छृङ्खलापि** इति. वेदान्तानुसारित्वम् उच्छृङ्खलत्वम्. एवम् उत्तरावधिकृत्यं प्रथमस्कन्धे निरूपितम् इति शुभम्.

(अप्रकाशितः. श्रीगट्टूलालाजी लाईब्रेरीतः प्राप्तः).

(६) श्रीयोगिगोपेश्वराणां तृतीयस्कन्धसुबोधिनीसूचनिका

३।१।०।का.९,१० **कर्मादिमार्गाः वेदोक्ताः फलतः ते स्थिरा यदि. लोभेन** भक्तिनाशः.

३।१।१ **भगवत्त्वं द्विविधम्.**

३।१।२ **भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं वा, अन्यथा न स्थातव्यम्.**

३।१।४ **इदं तु खण्डमपि अखण्डमेव फलं जनयति** इत्यादि.

३।१।५ **येन मन्त्रेण** इत्यादि.

३।१।१२ **पार्थांस्तु देवो भगवान् गृहीतवान्. स्मृतो ध्यातो वा अनिष्टं निवार्य** इत्यादि.

३।१।१७ **पञ्चाग्निविद्यावद् भगवन्मूर्तिष्वेव तस्य संस्कारः.**

३।१।१९ **विरहेण तत्प्राप्तये** इति. **अत्र अयं क्रमः** इत्यादि

हरितोषणव्रतचतुष्टयम्.

३।१।२१ **भक्तिहेतुस्तु यमुना** इत्यादि.

३।१।२४ सौवीर-मत्स्य-कुरु-जाङ्गलदेशाः.

३।१।२५ **भक्तत्वेऽपि सेवकत्वं विशेषः.**

३।१।३१ **परमभक्तिं फलरूपां, तत्र साधनं सेवा.**

३।१।३२ **परमभक्तम् आह.**

३।१।३५ **सर्वभावेन ये तदेकनिष्ठाः हृदीकादयः.**

३।१।४५ **तीर्थायतनैः कृतपुण्यपुञ्जो योग्यदेहं प्राप्य अधिकारी** इति.

३।२।२ **तस्याः** (= अशक्तेः) **भक्तिलिङ्गत्वम्** इति. **पञ्चवार्षिको हि सेवायाम् अधिकारी. बालस्य प्रातर्भोजनम्** इत्यादि. **बलं तु सपर्ययैव.**

३।२।३ **तस्य एवं लीला श्रुतिसिद्धैव, ''भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति''** इति.

३।२।५ **एवमेव सर्वेन्द्रियाणां भगवद्विषयत्वम्.**

३।२।७ **अस्मदादिरूपां पृथ्वीम्** इति. **महत्तत्त्वं मुख्यो ब्रह्मा.**

३।२।१४ **रससमूहो रासः** इत्यादि. **सख्यपर्यन्ते भगवद्भजने जाते. अनेन दीनतया भक्तिपक्षः आक्षिप्तः.**

३।२।१८ **यः एवं सप्तगुणो भवति** इत्यादि भजनीयः.

३।२।२१ **व्यामोहिका भगवल्लीला** इत्यादि. **तत्र सावधानेन भाव्यम्** इत्यादि.

३।२।२२ **सेवार्थं वयं पोषिताः** इत्यादि.

३।२।२४ **ते वेदेऽपि देवप्रतिपक्षत्वेन निरूपिताः. ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामिव क्रोधस्यापि मार्गत्वम्.** विशेषस्तु **कालं प्राप्य प्रभुं प्राप्नोति.** भक्तास्तु **न एवम्.**

३।२।२५ **रूपं त्रिभङ्गिललितम्.**

३।२।२७ **भगवद्भक्ताः वेदकल्पवृक्षेषु स्थिताः भक्तिम् आश्रित्य भगवन्तं गायन्ति इति उक्तम्.**

३।२।३१ **वर्षकृत्यम्.**

३।२।३२ **सप्तमान्ता लीला.**

३।२।३३ **अष्टमवर्षादिकृत्यम्** आह.

३।२।३४ **रजनीं स्त्रीम्** इत्यादि.

३।३।१४ वायुः बलाधिष्ठाता. स्पर्शदेवतानिर्णयः.

३।३।१५ अनन्यशरणान् नष्टान् करोति इति उच्यते.

३।३।१६ सतां मार्गो वैदिकः. प्रवाहं मर्यादां च स्थिरीकृतवान्.

३।३।१७ **पुष्टिमार्गमपि तावत् स्थिरीकरोति. इमां मर्यादां प्रवाहो दूरीकृतवान्.**

३।३।१८ आहारपृथक्त्वन्यायः. विविधधर्मसम्पन्नः कृष्णभक्तो जातः.

३।३।१९ साङ्ख्यम् आस्थितः.

३।३।२३ **भगवति वैराग्यम् उक्त्वा.** घुणकीटन्यायः सविस्तरः. **शास्त्रोक्तप्रकारेण भक्तिमार्गेण सर्वभावेन सेवते** इत्यादि.

३।३।२८ **भगवत्प्रीतिकरं कर्म. अन्नं** बहुरसम् इति.

३।४।१ **सर्वं हि साधनं व्यर्थं यदि बुद्धिः विनश्यति.** दशविधज्ञानम्. मायाश्रयाः षट्. **बुद्ध्याश्रितं स्मृतिरूपम्.**

३।४।३ **सरस्वती वेदात्मिका. मोक्षकारणबीजमपि** इति. **मोक्षैकसाधन-तपःसन्निधाने** इत्यादि.

३।४।४ **अष्टादशविद्यास्थान-** इत्यादि.

३।४।६ **अनेन विचारदशायां सर्वभूतस्थितम् एकमेव विचारयेद्** इत्यादि **पतित्वेन पर्यवस्यति** इत्यन्तम्. **वेदैकसमधिगम्यता.**

३।४।७ **अनेन वेदार्थोपि एतावानेव अत्र प्रसिद्धः.**

३।४।८ **वैष्णवैः संस्कृतो भक्तिमार्गः साधनम्** इति. **बालाधिकारः कर्मणि** इत्यादि.

३।४।९ ब्रह्मोद्भवादीनां सूक्ष्मलीलाश्रवणेन मोक्षः. **साच लीला आश्रयरूपा, ‘‘परमां स्थितिम्’’ इति वचनात्. तस्मिन् देशे काले च भगवद्भक्तानां**

कृतार्थीकरणसामर्थ्याद् इत्यादि. पुराणमेव व्यासवत् परम्परया अवगतं, नतु भागवतम् इत्यादि.

३।४।११ लोकवेदतो अदेयम् इत्यादि. हिरण्मयशकुनि- इत्यादि. पुरुषोत्तमो मम भवतु इत्यादि. तच्च दुर्लभं यागात् सर्वथा. एतच्च दातुम् असमर्थः मद्रूपम् उत्पाद्य मत्सेवां कारितवान्. बदरीस्थाने सिद्ध्यति तथा उपायः उक्तः. उद्धवो वसुः.

३।४।१२ मम अनुग्रहो जन्मनोपि अन्तिमत्वसाधकः.

३।४।१३ मद्भावेऽपि एतद्द्वयं कर्तव्यम्. एकीभावश्रुतेः. तद् भागवतम् इत्यादि भागवतस्वरूपम्.

३।४।१४ न अपृष्टं कस्यचिद् ब्रूयाद् इत्यादि.

३।४।१९ परमाश्रयरूप-भगवत्स्थितेः न परं किञ्चित्.

३।४।२० विरहातुरात्मा. हार्दम् अभिप्रेतम्. गुरोः चरणसेवा कृता इति गम्यते इति. विबोधमार्गाः बहवः इति.

३।४।२१ वियोगेन आर्तिः. बदर्यां नित्यसन्निधानं बोधितम्.

३।४।२२ तपो अत्र समाधिरूपम्.

३।४।२४ सेवकाः परिगृहीताः तत्र उद्धवो मुख्यः.

३।४।२७ यथा यथा अवसरे स्वस्मिन् पुष्ट्यादिलीलया कृपां कृतवान्. सएव निवासः समीचीनो यो विषयान्तराभावेन भगवत्कथयैव गच्छति इति सिद्धान्तः.

३।४।३० उद्धवः आत्मवतां वरः.

३।४।३१ सेवनेनैव सेवते.

३।४।३२ जगद्गुरुवाक्यं स्वशक्त्यनुसारेण कर्तव्यम्. स हि वेदकर्ता इति. भगवदुक्तार्थसिद्ध्यर्थं साधनान्तरम् अलभमानः समाधिना तम् ईजे इति.

३।४।३५ उपदेशनार्थं मैत्रेयाज्ञापनम्. प्रेम्णा मूर्छितः.

३।५।०।का.३,४,८ पञ्चभिरेव इत्यादि. तस्मात् तत्त्वानि तानि वै. वेदा मन्वादयः.

३।५।२ लोके दुःखाभावः सुखं फलम्.

३।५।३ अन्यथा भगवदीयाः न उत्पद्येरन्.

३।५।४ यदि भगवद्भजनेनैव इत्यादि. भगवदाज्ञारूप-वेदानुसारेण इत्यादि. येन मार्गेण आराधितो भगवान् ज्ञानम् इत्यादि. ''किम् आसनं ते'' इति वाक्यम्. भक्त्या पूतो अन्तर्यामी इति. प्रवाहः सिद्ध्यति इति. वेदः कालस्य इति. प्रथमतो भगवदाराधना इत्यादि. तज्ज्ञानं त्रिविधम् इत्यादि.

३।५।५ सप्तविधभक्तिसिद्ध्यर्थम्.

३।५।६ योगेन नानारूपाणि योगी करोति.

३।५।७ भगवत्कर्माणि धर्मरूपाणि मनसा भावितानि मनोयज्ञाः, कीर्तितानि वाक्यज्ञाः इत्यादि. ज्ञानकलावताराः व्यासादयः, क्रियाकलावताराः वराहादयः, उभयं कृष्णः. अवतारैः आवेशैः च यज्ञानां परिपालनं क्रियते.

३।५।८ कति तत्त्वानि.

३।५।९ तत्त्वानि नाराणि.

३।५।१० व्यासो हि नीतिज्ञानार्थं बहुधा सर्वेषां धर्मान् कथयति. भगवद्धर्माणां भगवत्त्वात्.

३।५।११ यज्ञतीर्थापेक्षया भगवद्गुणाधिक्यम्. सत्रेषु हरिगाथोपगायनम् अस्ति इति. विष्णोः कर्माणि इति.

३।५।१३ आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा. कथायाः सा कार्यम् अस्ति. ''सेवायां वा कथायां वा'' इति भक्तिवर्धिन्याम्. तद्रूपं सुबोधिन्यां सपरिकरम्.

३।५।१४ भगवान् स्वसेवार्थम् इन्द्रियाणि दत्तवान् इत्यादि. अघेन स्वनाशशङ्कया वैमुख्यं कार्यते, कालोपि तान् ग्रसति इति.

३।५।१५ भारततात्पर्यम् उक्त्वा.

३।५।१८ अस्मिन् शास्त्रे परोपकारो मुख्यं साधनम्.

३।५।१९ नहि अन्यथोत्पन्नो भगवद्भक्तो भवति इति अनन्यभावेन.

३।५।२१ भवान् भगवत्सम्मतः. केवलभगवन्निर्मितं चरित्रं वेदएव. भगवान् एकएव अग्रे.

३।५।२७ तत्त्वं कारणभावः.

३।५।३७ एतेषां देहवचनादिकं विचार्यते. भावो नाम सर्वान् प्रति सामान्यकारणता. वेदे तु तत्त्वस्थानीयः प्रजापतिरेव. ''चक्षुः उदगायद्'' इत्यादि संगच्छते. यथा अत्र महत्तत्त्वं तथा वेदे प्रजापतिः. यथा पुरुषः तथा विराट्. यथा भगवान् तथा यज्ञः इत्यादि.

३।५।३८ तत्त्वैस्तु भक्तिनिर्धारः. भक्तिः त्रयोदशविधा. भक्ति-प्रपत्ती प्रत्यक्षम्. सात्त्विकीं भक्तिम्. गुर्वादिष्वपि देवत्वमेव नमनप्रयोजकं, गुरुत्वं तु परिचर्यायाम्. नमनं त्रिविधम्. भक्तवश्यता चरणधर्मः. यतयः इति भगवन्मार्गे प्रयत्नवन्तः.

३।५।४० वेदाः हि गरुडप्रायाः इत्यादि. वेदानां च पुनः तात्पर्यान्तरे इत्यादि. ''मन्त्रायुर्वेदवत् च तत्प्रामाण्यम् आप्तप्रामाण्याद्'' इति.

३।५।४१ ब्रह्मभूतो भवति इति. चतुर्थकक्षा भक्तिमार्गे हि एषा.

३।५।४२ राजसप्रकारेण. स्मृत्यभयहीनाः चेत्.

३।५।४४ मनसो रूपद्वयम्.

३।५।४६ विराट्सायुज्यम्.

३।५।४८ सृष्टाः लोकाः बलिं हरन्ति. केचन स्वार्थनिरपेक्षाः भगवदर्थमेव कुर्वन्ति.

३।६।०।का.३ स्पर्शो भगवतो नास्ति, तद्भावाद् देहवद् भुजिः इति.

३।६।४ मेलनं प्रेरणं च भगवत्कार्यम्.

३।६।६ सुवर्णप्रतिमावत्.

३।६।७ भगवतः क्रियारूपस्य प्रवेशात् क्रियया भगवत्कार्यमेव कर्तव्यम्.

३।६।८ प्रपञ्चाश्रयत्वमेव भगवत्त्वम्.

३।६।९ दश प्राणाः.

३।६।१२ अग्निः इज्यरूपो निवारितः.

३।६।३० ब्राह्मणः आधिभौतिकं ब्रह्म, आध्यात्मिकं ब्रह्म वेदः, आधिदैविकं तु अक्षरः.

३।६।३१ क्षत्रं नाम भगवतो वीर्यम्.

३।६।३३ भगवतः सर्वात्मकस्य पदार्थचतुष्टयम् अभिप्रेतं— ज्ञानं, क्रिया रक्षारूपा, जीविका, सेवा. धर्मः सेवयैव भवति गुरुसेवा-देवतासेवा-अरण्यसेवा-आत्मसेवा इत्यादि. ब्राह्मणएव मुक्तिः क्षत्रिये इत्यादि धर्मः शूद्रः इति. अतो मोक्षार्थमेव धर्मादीनाम् अन्यधर्माणां करणं ब्राह्मणस्य इत्यादि. 'शूद्र'पदव्युत्पत्तिः.

३।६।३४ वाग्व्यापारेण भगवद्भजनं ब्राह्मणस्य इत्यादि. यदि भगवत्तोषमेव सर्वे कामयन्ते तदा सेवैव कर्तव्या. ननु निरन्तरसेवायां को निर्बन्धः इत्यादि.

३।६।३५ अधिकं तु स्वयमेव ज्ञातव्यम्. वेदवद् भगवद्गुणोपाकरणं युक्तम् इत्यादि.

३।६।३६ यस्य साधनं भगवता स्वार्थम् यद् दत्तं तद् अन्यत्र उपयोज्यन्ते शुद्ध्यर्थं ; तत् पुनः पुनः उपयोज्यम् इति.

३।६।३७ कीर्तनद्वारा सर्वाण्येव इन्द्रियाणि.

३।६।३८ ब्रह्मणा अवसितः सहि इत्यादि. वेदगर्भः.

३।६।३९ वेदे यत्र तु असन्देहे सन्देहवचनम्.

३।६।४० ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' इति श्रुतेः अयमेव अर्थः. यादृशोसि हरे कृष्ण तादृशाय इत्यादि.

३।७।०।का.१ हरेः इन्द्रियवर्गस्य मनसः सर्गः. संकल्प-विकल्पलक्षणे.

३।७।१ भगवति सन्देहचतुष्टयं, जीवे द्वयं पृच्छति.

३।७।४ ज्ञानस्य नाशः पञ्चधा सम्भवति.

३।७।८ मायैव सा इति. अस्यैव सिद्धान्तत्वात्. ''तत्त्वमसि'' इत्यादि.

३।७।११ मायासम्बन्धो धर्मत्रयेण निवर्तते. भक्तियोगस्य स्वरूपम्.

३।७।१२ द्रष्टृत्वेन आत्मा स्फुरति.

३।७।१३ गुणानुवादस्य संक्लेशशमस्य च कार्यकारणभावः करण-विद्यमानदशायाम्. भगवद्भजनतो भागवच्छ्रवणस्य न्यूनत्वम्.

३।७।१५ ब्रह्म-जड-जीवेत्यादि.

३।७।१७　भगवच्चरणसेवयैव ताम् इति.

३।७।१८　मार्गत्रयाविरोधाय इत्यादि.

३।७।१९　वैकुण्ठवर्त्मसु सेवा दुरापा. यज्ञापेक्षयापि अयं मार्गः समीचीनः.

३।७।२९　यज्ञस्य सप्तदशस्य इत्यादि. स्मृतिषु इदमेव प्रमाणम् इति.

३।७।३१　दण्डनीतेश्च.

३।७।३२　श्राद्धस्य विधिः.

३।७।३४　येन वा भगवान् तुष्येद् इति भक्तिः.

३।७।३६　प्रलये के उपासीरन् इति.

३।७।३९　हरेः कर्माणि मनसा विधातव्यानि.

३।७।४०　यज्ञादितो ज्ञानोत्कर्षः.

३।७।४२　संकल्पात्मकं मनो निरूपितम्.

३।८।०।का.२,४　षड्विधा भगवद्बुद्धिः. द्वितीया वैदिकी स्मृता.

३।८।१　भगवत्क्रियाज्ञानार्थम्. भगवदुत्कर्षः रोचते. सर्वथा मात्सर्याभावः सूचितः.

३।८।२　भागवतं यद् आह साक्षाद् भगवान् ऋषिभ्यः इति.

३।८।३　मोक्षार्थमपि अयमेव सेव्यः. स भक्तिमार्गप्रधानः.

३।८।४　''कश्चिद् धीरः प्रत्यक्-''श्रुतिः.

३।८।५　दैत्याक्रमणाभावाय अत्यार्द्रा जटाः असंस्कृतकेशाः नानापूजाप्रकारैः.

३।८।६　''यस्य देवे परा भक्तिः.''

३।८।९　विष्णुपुराणं तु इत्यादि.

३।८।१०　पुराणम् आरभते. राजसादिप्रलयाः एकदेशेन निवृत्ताः तिष्ठन्त्येव.

३।८।११　पुरुषस्य सद् बाह्यं, मध्ये ज्ञानम्, आनन्दस्तु अन्तः. स्त्रियास्तु इत्यादि. बहिर्भक्तेश्च इत्यादि. सच्चिदानन्दरमणम्. वेदाश्च रमणसाधनम्. कारणे सति रतिं कुर्वीत.

३।८।१३　जीवनिर्गमप्रकारः. आकाशशरीरत्वात् च इति.

३।८।१४ **नारायणस्तु जलात्मकः.**

३।८।१५ **स्वयमेव ब्रह्मा जातः** इत्यादि.

३।८।१८ **आत्मविचारे प्रवृत्तः यो अहं एषः कः इति.**

३।८।२२ **मानसकल्पितमूर्तिवैलक्षण्यम्.**

३।८।२५ **आभरणानाम् आभरणत्वं भगवद्धर्मः.**

३।८।२६ **भक्तिमार्गः सर्वेभ्यः उत्तमः.**

३।८।२७ प्रत्यक्षेण भजतां फलं क्लेशः, स योगेन नश्यते. साङ्ख्ये स्वस्वरूपानन्दम् अनुभाव्यते इति.

३।८।२९ **''वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठति एकः''** इति श्रुतिवर्णनम्.

३।८।३० **उपविष्टेषु पर्वतः स्थितः** इत्यादि.

३।८।३१ वनमालास्वरूपम्. **मर्यादापुष्ट्योः धर्मत्वं प्रवाहाश्रयत्वात्. सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमम् एते सूर्यादयः कर्णिकायाम्. कर्मणा च अग्न्यतिक्रमः.** पश्चाद् भगवान् प्राप्यः.

३।८।३२ **ब्रह्मभूतो न जातः इति. वेदाश्च साधनोपदेष्टारः.**

३।९।०।का.२ **सर्वोपदेशश्च** भगवत्कृतः.

३।९।१ **मुख्यज्ञाने ब्रह्मवादे. दैवब्रह्मवादे. देवताब्रह्मवाद-** इत्यादि.

३।९।२ **यद् एतत् त्वया रूपं गृहीतं तद् ब्रह्मैव** इति.

३।९।३ **''आनन्दशरीरं ब्रह्म'' इति श्रुतेः. ''चक्षुषः चक्षुः'' इत्यादिश्रुतिः.**

३।९।४ **परब्रह्मोपासकाः.**

३।९।५ **चरणोपासनारहितान् व्यावर्तयति ये त्वच्चरणाम्बुजम् इत्यादि. तेषां हृदयात् त्वं न अपैषि. घ्राणेनैव भक्तिः प्रेमलक्षणा.**

३।९।६ **''अभयं वै जनकः प्राप्तो असि'' इति श्रुतिः. ''तद् विष्णोः परमं पदम्'' इति श्रुतेः भगवत्पदमेव ब्रह्म.**

३।९।७ **भगवत्प्रसङ्गाद् ये विमुखेन्द्रियाः. प्रवाहनियामकस्य कर्मणः.**

३।९।९ **ब्रह्मभावोपि सएव. अन्तरोत्पन्नाः पदार्थाः मायिकाएव.**

३।९।१० **''इहैव समवनीयन्ते'' इत्यादि. ब्रह्मभावनायामपि न**

संसारनिवृत्तिः.

३।९।११ भावः प्रेमलक्षणा भक्तिः. सएव योगः इत्यादि.

३।९।१२ साधननिरूपणे भक्तिसाधनापेक्षया ज्ञानसाधनम् उत्तमम् इत्यादि. अन्तरात्मा अन्तःकरणकृतैरेव पूजासाधनैः सन्तुष्यति.

३।९।१३ अयमेव सत्क्रियार्थः यद् भगवतः तव आराधनं विविधकर्मभिः यल्लौकिकैः वैदिकैः अध्वरादिभिः यागपूजादिभिः.

३।९।१४ भगवतो नमस्यरूपाणि षट्. तत्र एतदेव एकं रूपं शेषशायी नारायणः. पुरुषो द्वितीयः. सर्वतत्त्वसहितः प्रकृतिभर्ता पुरुषः तृतीयः. कालः चतुर्थः. यज्ञः पञ्चमः. पुरुषोत्तमः षष्ठः.

३।९।१६ सर्वतत्त्वसहितं प्रथमं पुरुषम्. भुवनद्रुमाय नमः.

३।९।१७ त्वदुदिते कर्मणि ''मन्मना भव मद्भक्तः'' इत्यादौ. भवदर्चने स्वे स्वधर्मरूपे.

३।९।१८ यज्ञरूपम्. एवम् अतिदुर्घर्षाय मखाधिष्ठातृदेवाय.

३।९।१९ पुरुषोत्तमम्.

३।९।२० नारायणम्. स्वप्ने कार्यं कुर्वन्.

३।९।२५ भक्तक्लेशस्मरणेन विवृद्धा भगवतः प्रीतिः भवति. ईश्वराज्ञायाः कठिनत्व- इति.

३।९।२९ वेदैः चतुर्थोपि उक्तएव हि.

३।९।३१ स्नेहो माहात्म्यं च मिलितं भक्तिः.

३।९।३२ मनसा आत्मघर्षणेन. तपसा च तद् अभिव्यक्तम्. योगेन भगवन्तं पश्यति इति. प्रतिचक्षणं = परीक्ष्य दर्शनम्.

३।९।३५ अनुग्रहस्य स्वरूपम्.

३।९।३६ तपसा भक्त्या च आविर्भूतम्.

३।९।३८ पश्चाद् अनुग्रहाद् दर्शनम्. तपस्तु अनुग्रहएव सूचकम्.

३।९।३९ चित्तं भगवच्चरित्रपरं तदैव भवति इत्यादि. तदा तस्य सत्यवाक्. तदा प्रसन्नो भवति.

३।९।४० स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेद् इति. स्तोत्रं न परिचर्याङ्गम्. प्रसादः परिचर्याफलम्. शैघ्र्यं स्तोत्रफलम्.

३।९।४१ सताम् अयं निर्धारः मत्प्रीतिः इति.
३।९।४२ अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि इति मुख्यं तव प्रीतिसाधनम्.
३।९।४३ भगवदीयानामपि सृष्ट्याज्ञा.

३।१०।६ मनसा नित्यमेव ब्रह्मा परिचर्यां करोति.
३।१०।७ एकैकः कल्पः इत्यादि.
३।१०।११ कालम्. क्रियाशक्तिरूपः प्रथमो गुणः. क्रियाशक्तिभेदाः अन्येऽपि सन्ति इति. अविकृतमेव समवायि. तत्प्रकारः.
३।१०।१५ अहमः सर्गो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः.
३।१०।१६ इन्द्रियसर्गो ज्ञानक्रियात्मकः.
३।१०।१७ इन्द्रियग्राह्यत्वं भगवतो न सम्भवति इति अन्तरा निष्पत्तिरूपाम् अविद्यां मन्यते.
३।१०।१८ यदा भगवान् रजोगुणम् इत्यादि. या कापि भगवल्लीला श्रोतव्यैव.
३।१०।१९ अश्वस्थ-लताद्युत्पत्तिः.
३।१०।२१ तिर्यङ्चां सर्गः.
३।१०।२२ कृष्णः कृष्णमृगः. एते पुनः यज्ञपशवः. यत्र पशवो निर्दिश्यन्ते तत्र एते ग्राह्याः.
३।१०।२७ देवसर्गः.
३।१०।२९ भूतप्रेतपिशाचाः च दशसर्गाः.
३।१०।३० सर्वं हरिरेव इति सिद्धम्.

३।११।०।का.३ सूर्यात्मकस्तु यः कालः.
३।११।१ परमाण्वादिभिः कालभेदान्. सिद्धान्ते स्थूलादेव सूक्ष्मोत्पत्तिः. कुण्डलप्रतिमादौ तावत् समुदायस्यैव उपादानत्वम्.
३।११।२ परममहतो लक्षणम्.
३।११।८ प्रहरः षड्यामः सप्त वा.

३।११।१० **नाडिकापरिमाणम् उक्त्वा.**

३।११।११ **जलकृतं व्यवधानं सूर्यस्य मन्यन्ते, नतु पृथ्वीकृतम्. उत्तराषाढा** इत्यादि.

३।११।१४ **उपासनार्थं संवत्सर-परिवत्सरादि. परिवत्सरो वैष्णवः.**

३।११।१५ **क्षणमात्रमपि पारलौकिकयत्नं विना न स्थातव्यम्. क्रतवोपि कालभेदाः. कृतघ्नता स्यात्.**

३।११।१६ **ज्ञानिनएव बहुकल्पजीविनः.**

३।११।१९ कृतादीनां रूपं च. ब्रह्मणो दिनं रात्रिः च.

३।११।२९ प्रलये **अत्र अयं क्रमः.**

३।११।३२ **ब्रह्मणः आयुः.**

३।११।३३ परार्धलक्षणम्.

३।११।३४ **शब्दब्रह्म ब्रह्मा.**

३।११।३६ **आदिवराहकल्पः.**

३।११।३७ **अक्षरस्य आयुः वक्तव्यम्.**

३।११।३८ **परमाण्वादिः द्विपरार्धान्तः कालः.**

३।११।४१ **अक्षरस्य** इत्यादि. **सर्वभवनसमर्थः.**

३।१२।०।का.५ **वेदविनिष्णाताः** इत्यादि.

३।१२।१ **ब्रह्मकृतम् अष्टधा** वर्णयति जगत्. **वेदानुसारिणी सृष्टिः. पुष्ट्या सा** इति.

३।१२।२ **पञ्चापि एताः अज्ञानस्यैव वृत्तयः.**

३।१२।७ **मनसो व्यापारद्वयम्.**

३।१२।१० ‘रुद्र’पदव्युत्पत्तिः.

३।१२।११ **हृद्** इत्यादि रुद्रस्थानानि.

३।१२।१५ **आकृतिः नीललोहितत्वं, स्वभावः तामसः, सत्त्वं बलम्.**

३।१२।१९ **एतादृशस्य प्राप्तिः तपसा भवति** इति.

३।१२।२१ **कल्पान्तपर्यन्तं सन्ततिप्रवाहः.**

३।१२।२५ धर्माधर्मसृष्टिः.

३।१२।२६ काम-क्रोध-लोभादिसृष्टिः.

३।१२।२७ स्वप्नः छाया तमश्च तिरोभूतेन हरिणा सृज्यन्ते.

३।१२।२८ सा वेदेऽपि तिरोहिता. यज्ञात्मको अयं ब्रह्मा. तन्नैच्छन् वैदिकाः. यज्ञाः वेदाश्च. नतु वैदिके.

३।१२।३४ वेदोत्पत्तिः. ध्यानेन प्रकटीभूताः पश्चात् मुखात्.

३।१२।३५ धर्मस्य चत्वारः पादाः इत्यादि.

३।१२।३७ शस्त्रम् इज्या स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तम्.

३।१२।३८ वेदोपयोगिपदार्थान् वक्तुं पुराणानि. चिन्त्यम् एतत्.

३।१२।३९ षोडशाद्युत्पत्तिः.

३।१२।४० धर्मस्य चत्वारः पादाः. अन्येऽपि धर्मपादाः. आश्रमचतुष्टयं वृत्तिभिः सह.

३।१२।४२ ऊर्ध्वरेतसां भक्तानाम् इत्यादि. आश्रमाः सविशेषाः निरूपिताः सप्रपञ्चाः.

३।१२।४३ आन्वीक्षिकी, दण्डनीतयः, व्याहृतिः, प्रणवः.

३।१२।४४ सप्तछन्दसाम् उत्पत्तिः.

३।१२।४५ शब्दब्रह्मणो देहं निरूपयति. स्पर्शाः पञ्चविंशतिः इत्यादि.

३।१२।४६ शब्दब्रह्मणो जगज्जनकत्वम्.

३।१२।४९ 'काय'पदनिर्वचनम्.

३।१२।५३ महाभूतानां विस्तारेण यथा पञ्चभिरेव जगत् पूरितम्.

३।१३।०।का.२,४ सर्ववेदार्थरूपो हि वराहः, सएव कारणं सृष्टौ वैदिक्याम्. भूमिस्तु देवयजनम्. यज्ञः त्रयोदशे.

३।१३।४ भगवच्चरणारविन्दस्थापकाः गुणाः श्रोतव्याः इति मनोः चरित्रस्य श्रोतव्यत्वम्.

३।१३।७ शुश्रूषणं च तदेव येन सेव्यस्य सुखम् इत्यादि.

३।१३।१० ''मृद् आनय'' इत्युक्ते स्वशक्त्यानुसारेण आदरपूर्वकं मृदानयनम् आत्मसमर्पणस्य निदर्शनम्.

३।१३।११ एवं सेवाम् उपपाद्य इति.

३।१३।१३ यज्ञाः लिङ्गानि यस्य. भगवदपरितोषे यज्ञफलमपि न स्यात्.

३।१३।२१ वराहतर्कः. तर्कलक्षणम्.

३।१३।२३ यज्ञरूपा भूमिः.

३।१३।२४ अर्धपुरुषो वराहः.

३।१३।२६ आलम्भने फले चैव यज्ञरूपे तथोद्गमे, उपाख्यानेषु सर्वेषु भ्रमो वै जायते श्रुतौ.

३।१३।२७ यज्ञवितानो मूर्तिः यस्य, यज्ञवितानाः वा मूर्तौ यस्य.

३।१३।२८ पुच्छं तस्य दीक्षात्मकम्. यज्ञः पशुषु प्रतिष्ठितः. पादचतुष्टयं मिलितं सत् सवनद्वयेत्यादि. पशवः सोमः च सर्वो वृष्टिकार्यरूपः. कृतं मेघैः इति यैः मेघैः जलं पूरितं ते अवश्यं दूरीकर्तव्याः.

३।१३।२९ 'अध्वर'शब्दार्थः.

३।१३।३० पातेऽपि आनन्दमयः. समुद्रस्यापि देवतात्वं ''समुद्राय स्वाहा'' इत्यादि.

३।१३।३१ ''पद्भ्यां द्वे सवने'' इत्यादि. प्रातःसवनस्य.

३।१३।३२ आदौ वा दैत्यत्वं प्राप्तम् इति.

३।१३।३४ यज्ञारम्भे नमस्काराञ्जलिः विहितः इति ''भुवनम् असि'' इत्यत्र निर्णीतम्. यज्ञारम्भे च प्रातरनुवाक्. तमालनीलां क्ष्माम्. नीलोऽपि गुणः शृङ्गारवत्.

३।१३।३५ कर्मनिर्णयः उच्यते. षड्भिः प्रमाणं षड्भिः प्रमेयम्. यज्ञार्थं शत्रुहननं यज्ञैः वेदे निरूप्यते. अयं तु यज्ञान् भावयति. स्वार्थं वेदभ्रामणम् इत्यादि. योगेन यज्ञान् दृष्ट्वा दर्शनानुसारेण तान् विधाय इत्यादि. गर्तेषु यज्ञाः निलीनाः इत्यादि. यज्ञानां चलनेन स्कन्दनदोषोपि न. ''अस्कन्दनं हि'' इत्यादिश्रुतिः.

३।१३।३६ पुरुषोत्तमत्वं वेदयज्ञरूपताम्. यज्ञियाः पदार्थाः पुरुषावयवैः उत्पादिताः. चक्षुषा आज्याभिधारणम्. चक्षुषः सत्यत्वम्, आज्यस्य प्रजापतित्वम्. ''वसन्तो अस्य आसीद् आज्यम्''. वरप्राप्तमेव वसन्तादेः आज्यादिरूपत्वम्.

३।१३।३७ आकृतिसाम्येन च उदरे इडापात्रस्य निवेशनम्. स्रुगादिनिवेशनम्. ''अग्निहोत्रफलाः वेदाः''.

३।१३।३८ पुनः यजमानरूपेण अवतरति प्रतियज्ञं ''यज्ञो यजमानः'' इति. दीक्षा इति.

३।१३।३९ ''सोमेन यजेत'' इत्यत्र मत्वर्थस्य आश्रयणात्. दर्शपूर्णमासादयः बन्धनानि न सः.

३।१३।४० एवं सर्वनिवेशनम् उक्त्वा. मन्त्राः इषेत्वादयः. देवतोद्देशेन द्रव्यं मन्त्रेण देवतायै समर्प्यते इति अलौकिको यागो मन्त्रदेवताद्रव्यात्मकः. पुरुषप्रयत्नस्तु लौकिकः. ब्रह्ममीमांसानुसारेण वैराग्यम्. भक्तिः श्रवणादि स्नेहो वा. उत्तरकाण्डे तु एतावत्येव सामग्री.

३।१३।४१ यज्ञाय यज्ञेन समुद्धृता भूमिः.

३।१३।४३ यथा अश्वत्थे त्रयीमयम् अग्निं यज्ञसिद्ध्यर्थम्. स्वस्य पुरुषोत्तमाकृतिं वा पुरुषाकृतिं वा भूमौ स्थापितवान्.

३।१३।४४ रेतोरूपाद् जलात्.

३।१३।४५ वेदमयेनैव शरीरेण वेदार्थरूपेण बर्हिषा इत्यादि.

३।१४।०।का.२,६ लौकिकी च अन्यभाषा च ते प्रमाणम् अभिप्रायात् सर्वथा पूर्ववद् न हि. मतान्तरे शिवोत्कर्षो ब्राह्मणोत्कर्षएव च.

३।१४।५ शरीरम् अत्यक्त्वैव ध्रुवपदं गतः.

३।१४।६ वेदसारोद्धारः समाधिभाषायाम् इतिहाससारोद्धारो मतान्तरे इति विवेकः. इतिहासः पुरावृत्तकथा.

३।१४।८ नीलो अप्रकाशो अर्चिः उदेति सो अग्निः भगवज्जिह्वा. अग्निहोत्रम्.

३।१४।११ ''तज्जाया जाया भवति'' इत्यादिश्रुतिः.

३।१४।१२ नीतिमपि निरूपयति द्वाभ्याम्.

३।१४।१६ ''संवत्सरो वै प्रजापतिः'' इति श्रुतिः. ''त्रयोदशमासाः संवत्सरः''.

३।१४।१८ ''प्रजापतिः अमृतम्'' इति श्रुतिः. केषाञ्चिद् मते

भार्यासहितस्यैव अधिकारः.

३।१४।२२ भूतानि मन्त्रादिभिः न निराकर्तुं शक्यन्ते.

३।१४।२४ अग्निरूपत्वाद् भगवतः ''तृतीयो अग्निष्टे पतिः'' इति श्रुतेः.

३।१४।२५ महादेवस्य ब्रह्मत्वेन इत्यादि.

३।१४।२६ एवं मनुष्यैः गो-मृग-काकचर्या कर्तव्या इति उपदेशः.

३।१४।३१ प्रायश्चित्तम्.

३।१४।४७ प्रवृद्धा या प्रेमलक्षणाभक्तिः तया अनुभावितं यद् अन्तःकरणं प्रेम्णा तदात्मकं जातं यत्र भगवान् माति.

३।१४।४८ अतिक्रमादिभिः स्वं शीलं रक्ष्यते.

३।१४।४९ सर्वोत्कृष्टं साधनम्. तस्य हि भगवत्प्रसादेन भक्त्या ज्ञान-वैराग्याभ्यां च भगवत्साक्षात्कारः. साङ्ख्य-योगौ तत्सहितो यो अयं भक्तिमार्गः.

३।१४।५० विहितभक्तिमार्गाभावेऽपि भक्ताः.

३।१५।०।का.२,३ इतिहासप्रवृत्त्यर्थं वैकुण्ठे वृक्ष-पक्षीणां वैकुण्ठस्य च वर्णनम्.

३।१५।१ बीजस्य ब्रह्मत्वात्. बीजे द्विधाभूते जय-विजययोः प्रवेशः.

३।१५।६ भावेन भावयन्ति इति.

३।१५।७ प्रसादेन अभयजनने अवान्तरव्यापारं सुपक्वयोगानाम् इति.

३।१५।८ ब्रह्मणो वेदलक्षणया वाचा सेवकभूता अपि स्वकार्ये अतिनिर्बन्धेन नियोजिताः.

३।१५।९ सेवकत्वम् उपपाद्य.

३।१५।११ अलौकिको वेदैकसमधिग्म्यः.

३।१५।१४ तं लोकं वर्णयति चिदानन्दसद्भेदैः. निष्कामस्वधर्मेण श्रवणादिना धर्मरूपेण ये भगवदाराधनं कृतवन्तः.

३।१५।१५ यत्र आनन्दमयो भगवान्. चितः आनन्दः शरीरं, आनन्दस्य सत् शरीरं, सतश्च मोक्षरूपता इति. ब्रह्मादीनां स्वामी च यः.

३।१५।१६ आनन्दस्य सत्त्वम् उक्त्वा.

३।१५।१९ तुलसिका भगवदाभरणं, वनमाला तत्सम्भवा.

३।१५।२० श्रवणादि-षड्विधभक्तिः वा भगवद्भक्तानाम्.

३।१५।२४ एवमपि सति भगवदाराधनाभावो मायाकार्यएव.

३।१५।२५ यद् वैकुण्ठं हरेः अनुवृत्त्या व्रजन्ति इति.

३।१५।२७ भक्तिः सप्तमी इति.

३।१५।३१ कामानुजेन क्रोधेन.

३।१५।३२ को वाम् इह एत्य भगवत्परिचर्यया उच्चैः.

३।१५।३२ निष्कपटपरिचर्यायाः.

३।१५।३३ स्वामिद्रोहम् आह. तस्य समस्तकुक्षित्वं श्रुत्यनुभवसिद्धम्. यथा घटाकाशो विद्यमाने घटे महाकाशएव. धीराः पश्यन्ति इति. श्रुतिः ब्रह्मवादे भगवद्वादे यज्ञवादे वा. ''यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरम् अन्तरम्''.

३।१५।३७ न ज्ञापनापेक्षा तत्र हेतुः भगवान् इति.

३।१५।३८ समाधेः वा भाग्यम्.

३।१५।३९ वैकुण्ठनिर्माणं विवादस्थाने समागमनम्. ब्रह्माण्डे यदि वैकुण्ठस्थानं न भवेत् तदा कुत्र गत्वा निवेदयेयुः इत्यादि. स्नेहावलोककलया. अङ्गमात्रगुणान् उक्त्वा आभरणानाम् उपयोगम् आह.

३।१५।४० पीताम्बरादीनां प्रयोजनम्. हिमालयादिभूमयः. पृथक्सर्व-कर्मफलजननात्. योगादिसहितया. यदि एतादृशी ब्रह्मविद्या न भवेत्. गरुडः कालः. सैव श्रद्धा. प्रवाहे वा इत्यादि.

३।१४।४२ अस्मिन् ब्रह्मनिर्मितातिरिक्ताअपि भगवदीयाः बहवः पदार्थाः. भजन्तम् इति सफलं भजनम्. ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते'' इति. सर्वे अनीश्वरवादाः निरस्ताः. प्राप्तमहाफलानां कथं भजनीयः ? नित्यं च ब्रह्मादीनां भगवद्भजनम्.

३।१५।४३ अक्षरोपासकाः. आत्मरूप-ब्रह्मोपासकाः.

३।१५।४४ ब्रह्मानन्दाद् भजनानन्दस्य महत्त्वात्.

३।१५।४५ भगवत्स्तुतिः युक्तैव, नतु असद्गुणारोपभूता. अष्टभोगाः स्वाभाविकाः अनधिगतार्थज्ञानत्वेन.

३।१५।४६ ब्रह्म प्रकारद्वयेन निश्चीयते— शास्त्रतो अनुभवतश्च. अतः उपनिषदाम् इति. ''प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण'' इति तु भगवच्छास्त्रम्.

३।१५।४७ परब्रह्मरूपं त्वां विदामः. कृपा उत्पद्यते इति. क्लेशं प्राप्नोति इति.

३।१५।४८ भक्तिमार्गानुसारेण तद्रूपं परमपुरुषार्थः. भगवत्प्रसादं कथं न गणयेयुः ? भक्त्युपयोगिपदार्थाः. भगवद्भक्तिः स्वतन्त्रा सप्तविधा. रूपलीलायाम् आसक्ताः भगवदनुरोधमपि कुर्वन्ति, अन्यथा सेवायाः कर्तुम् अशक्यत्वात्. कथारसः. अधिकारः शास्त्रानुभवाभ्यां प्रेमज्ञानाभ्याम्. रसान्तराविष्टचित्तानाम् अत्र रसो न उत्पत्स्यते. अनुभवतो अर्थजनकौ अर्थ-कामौ, शास्त्रतो धर्म-मोक्षौ.

३।१५।४९ 'वृजिन'पदार्थः.

३।१५।५० इद् इति इवार्थे. न च एतत्फलम् अल्पम्. प्रतीतः इति प्रमाणम् इति.

३।१६।०।का.२ भक्तानां कृतिः सत्या, सत्या वाग् ब्रह्मवादिनां, मनो भगवतः सत्यम्.

३।१६।२ भगवान् गन्तुं शक्यः किन्तु जयेनैव.

३।१६।३ परोक्षदेवो यज्ञः, प्रत्यक्षदेवो यज्ञाधिष्ठाता विष्णुः.

३।१६।४ परम् इति विष्णवपेक्षयापि. आधिदैविको विष्णुः देवो भवति इत्यादि. भृत्यकृताएव स्वामिकृताः. यद्यपि एतादृशे लोकः स्वाम्यपराधं न मन्यते.

३।१६।६ यशः पराक्रमजन्यं, कीर्तिः सदाचारजन्या. सेवकाः सदाचाराः मत्परायणाः. कीर्तिः लक्ष्मीः तथा भोगः त्रयं विप्रप्रसादतः भृगोः कन्या यतो लक्ष्मीः मुखं चापि द्विजा.

३।१६।८ स्वमुखेन अश्नन्नेव तिष्ठामि, ''अनश्नन् अन्यः'' इति श्रुतेः. 'यजमान'पदेन सत्रनिषेधः, क्रूरत्वाद् बहुकर्तृकत्वाच्च, ''किम्

एते सत्रिणः'' इति श्रुतेः. हविः यज्ञाः पश्वादिव्यतिरिक्ताः 'हविः'शब्देन पश्वादि निषिध्यते. मन्त्रहोत्राद्यपेक्षितत्वाद् न भक्षणम्. ब्राह्मणमुखे तु न अयं दोषः. ''पुरोनु वाक्यायाः'' इत्यादिश्रुतिः. एकस्याम् आहुतौ चतुर्णां भागः. कर्मसमर्पणं कृत्वा तुष्टस्य इति अर्थः.

३।१६।९ अधिकारोऽपि स्वेन दत्तः इति स्वोत्कर्षएव. ज्ञान-भक्तिव्यतिरेकेण इत्यादि. अनेनैव उपकारेण भगवता तथा क्रियते. 'तु'शब्देन योगरहिताः व्यावर्तन्ते इति.

३।१६।१० ब्राह्मणातिक्रमः सोढव्यः. भेददर्शने यमयातना. अत्र भेदो भगवद्भेदः. हविर्मन्त्रात्मकत्वाद् यागस्य. यज्ञोपयोगित्वाद् न अत्र 'विप्र'पदम्.

३।१६।११ ब्राह्मणार्चनोत्कर्षः, परं सावधानस्य.

३।१६।१२ अत्र हेतुः नास्ति इति ममैव अनुग्रहः. दासभावं प्राप्नुताम्. जीवाः स्वभावतो दासाः. स्वभावो अनुग्रहः. सायुज्ये ब्रह्मभावः. भगवानेव हि ब्रह्म. भगवत्करणात् लोके भावना दुर्बला दासभावाद् अतो न अन्यत् काम्यम्.

३।१६।१३ अर्थस्तु भगवद्वाक्यानां सर्वतोमुखत्वाद् अनिर्धारितः. तेषां हृदयं मन्युना दष्टम्.

३।१६।१४ न विदुः तच्चिकीर्षितम्.

३।१६।१५ योगमाया हि भगवद्योग्यान् पदार्थान् सृजति. न ते प्राकृताः नापि ब्रह्मसृष्टाः.

३।१६।१७ उपास्यश्च.

३।१६।१८ धर्मगुह्यः. ''यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त''. गोप्यो हि भक्तियोगोऽपि इति.

३।१६।१९ ज्ञानस्यापि गुह्यः.

३।१६।२० लक्ष्मीभक्ताः. ब्रह्मभावानन्तरं भक्त्यधिकारात्. अङ्घ्रौ समर्पणं भक्तिहेतुकम्. भक्तप्रसादे वा तत्कण्ठेषु.

३।१६।२१ लक्ष्मीसहितं न उपासते.

३।१६।२२ त्रिपाद्, यज्ञस्य सवनत्रयात्मकत्वात्.

३।१६।२५ सर्वभावेन माहात्म्यम्.
३।१६।२६ समाधिः तेन अनुबद्धयोगः.
३।१६।२७ इन्द्रियाणि सुखं पञ्चधा विभज्य रूपादिभेदेन अनुभवन्ति. अयं च भगवान् आनन्दमूर्तिः लावण्यपूर्णः.
३।१६।२९ अभिप्रायं तु भगवानेव जानाति.
३।१६।३० प्रायश्चित्तम्. शुद्धस्यैव हि वैदिके अधिकारात्. गोपिकानां कामोऽपि. वाचा न प्रजापतेः होमः.
३।१६।३२ निलीय स्थितिः इति.
३।१६।३६ यदि देवो न वर्षेत्, सेकेनापि न सस्योत्पत्तिः. सर्वार्थमेव शुभं करिष्यति इति.

३।१७।०।का.३,७ उत्पत्तिः द्विविधा. यावद्वृद्धिः इह उत्पत्तिः. स्वरूपोत्पत्तिः.
३।१७।४ अन्तरिक्षे प्रतिष्ठिताः दिशः इति.
३।१७।१६ वृद्धिरूपाम् उत्पत्तिम्.
३।१७।१९ उद्धतत्वात् न धर्मः. नम्रीभावएव तदुत्पत्तिः.
३।१७।२० समानशीलव्यसनाभावे प्रीतिः न उत्पद्यते इति.
३।१७।२२ मनः उत्साहः.
३।१७।२४ क्रीडा हि कामसाध्या इत्यादि. विगाहनं मध्ये पातः. मृत्योश्च च जयाद् न कल्पान्ते मरणम्. वरुणो रसातले इत्यादि. पुराणानि च इत्यादि. न तद्विरोधः इति.

३।१८।२ वनगोचरो मृगः.
३।१८।४ अभवाय भृतः. ‘‘माया इति असुराः’’ इति श्रुतिः.
३।१८।६ गोभिः उपनिषद्भिः.
३।१८।७ सूर्यमण्डलस्थिता मूर्तिः भगवतो हिरण्यकेशरूपा इति. उत्तमफलं सायुज्यात्मकम्. एवं मुक्तजीवानां निस्त्रैगुण्ये विचरताम्.
३।१८।८ ‘गोचर’शब्दार्थः. तादृशे स्थाने गां विन्यस्य सत्त्वम् अदधात्.

पृथिव्यां सर्वत्र भगवन्मूर्तयः भगवद्गुणभक्ताश्च इति. सत्त्वमेव धारकं सामर्थ्यरूपं च. अनुग्रहार्थं स्तोत्रकरणम्.

३।१८।९ देहेन्द्रियादिसामग्री तपसा तप्ता. ''अतप्ततनुः न तद् आमोश्नुते'' इति श्रुत्यर्थकम् अतप्ततपाः एतद् न अश्नुते इति वाक्यम्. सर्वरोगनिवर्तिका महती भक्तिः.

३।१८।१० अस्मासु सर्वएव यौगिको अर्थः यतो वयं सर्वकर्तारः 'सर्व'शब्दवाच्याः. मृगयन्ति इति मृगाः.

३।१८।१४ क्रोधेन श्वासः.

३।१८।१७ आसुरी मृत्युः तस्य नश्यतु इति दक्षिणस्यां भ्रुवि ताडितः.

३।१८।२० यज्ञाः अवयवाः यस्य इति. स्वर्गस्य राजा, इन्द्रादयः तदंशाः. सर्वावताराणां प्रथमावताररूपः इति आदिशूकरम् इति.

३।१८।२६ अधिष्ठात्र्यो वा देवता भगवत्सेवार्थम् आगतस्य. ''तेनैकाष्टकान् छम्बट् कुर्वन्ति'' इति. सन्ध्यापि लोकनाशिका.

३।१८।२७ अभिजिद्योगः इति. ''पापपराजितमिव भवतु'' इति श्रुतेः.

३।१८।२८ मृत्युः रोगादिना पराक्रमेण तं हन्ति.

३।१९।१ सूर्यादिनिर्माता.

३।१९।३ सहि अपहतपाप्मा.

३।१९।५ ननु कथं स्मरणमात्रेण स्वभावस्य, भगवत्त्वस्य, सुदर्शनस्य च आगमनम्?

३।१९।७ वाक्प्रतिपाद्या हि भगवतो लीला इति.

३।१९।१४ रुद्राः हि अन्तरिक्षदेवाः.

३।१९।१६ पश्वादिदेहेषु मक्षिकोपवेशेन कम्पः.

३।१९।१८ मायायाः स्वरूपम्. प्रववुः वायवः चण्डाः.

३।१९।२१ यथा ''षट्-फट्-जही''त्याद्याः.

३।१९।२२ त्रिपाद् यज्ञः, मायाविनाशायैव यज्ञोत्पत्तेः.

३।१९।२७ मृत्युग्रस्तो विवर्णः.

३।१९।३० त्वत्पादभक्त्या इति.

३।१९।३१ 'आदि'पदं च अलौकिकपरम्. उत्सवाः हर्षहेतवः.

३।१९।३६ भजनं फलरूपं समर्थयति. अनेन शरणागतौ ब्रह्मास्त्रन्यायः उक्तः, अशरणाः च न तिष्ठन्ति इति. अकृतज्ञस्तु न सेवते.

३।१९।३८ धर्मो द्विविधः. भक्ष्यभोगात्मको विषयः. अस्मच्छास्त्रे नारायणप्राप्तिरेव मोक्षः. ब्रह्माण्डविग्रहे नारायणे सायुज्यम्, अक्षरे पुरुषोत्तमे वा.

३।२०।०।का.१-९ भगवत्कृतसर्गः हरये परः. भूतमात्रेन्द्रियधियां हरौ ज्ञानोपयोगिनां गुणाः स्वभावतः के अत्र पुष्टिमार्गोपयोगिनः? भक्तिसाङ्ख्यात्मविज्ञानयोगैः. मुक्तएव हरेः अर्थे भूतत्वेन उपयुज्यते अतो मुक्तिः. धर्मादयोपि द्विविधाः.

३।२०।१ भूमिश्च मनोः अर्थे. मनुः इति धर्मप्रवर्तकत्वात् न अन्यथा. ब्रह्मणा तु द्वारद्वयमेव कृतं मनः शरीरं च.

३।२०।२ असिधाराव्रतम्. महाभागवतलक्षणं यः केवलं हरेः अर्थे यत्नवान् इत्यादि.

३।२०।३ उत्सवो अत्र भगवत्स्मरणात्मकम्. यथा ज्ञानं भगवत्स्मरणम् इत्यादि. सर्वात्मना आश्रितः. सर्वात्मभावेन. भक्तिमार्गे रसिकः. भक्तान् सेवमानः.

३।२०।५ स्वभावतएव मेध्याः. कथाः हरेः पादाम्बुजाश्रयाः.

३।२०।६ ब्राह्मणानाम् आशिषएव देयाः. निरन्तरोत्पद्यमान-दुःखनिवृत्त्यर्थं हरिः स्मर्तव्यः.

३।२०।९-११ प्राकृत-ज्ञानि-परमभक्तानाम् उत्पत्तिः.

३।२०।१२ सृष्टिभेदान्. एवं सप्तदशे प्रोक्ताः यज्ञात्मानो मताः इमे, तेन एवं प्रथमं देवः तृप्यते सर्गलीलया. ''सो अकामयत'' इति श्रुतेः. कर्मस्वभावादयोपि कालादिभेदाः.

३।२०।१३ ज्ञानेन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि.

३।२०।१५ नारायणो जातः.

३।२०।१८ तामसी अविद्यादिसृष्टिः.

३।२०।२० क्षुत्तृडुत्पत्तिः.

३।२०।२२ सात्त्विकी सृष्टिः प्रभादीनां सूर्यादीनाम्.

३।२०।२३ रजसा सृष्टिः देवप्रतिपक्षाणाम्. कामेन अस्थिरत्वं लोलुपता.

३।२०।२५ 'वर'पदार्थः. आत्मस्वरूपं लोके सङ्घातः इत्यादि.

३।२०।२७ भक्तिप्रवर्तकरूपेण क्लेशदानम्.

३।२०।३९ विश्वावसुः मुख्यो वेदे.

३।२०।४२ ''इषेत्वोर्जेत्वा'' इति. ''इषे प्राणाय ऊर्जे अपानाय'' इति च इति.

३।२०।४९ यदैव पुरुषः स्वस्मिन् गुणातीते अवतिष्ठते तदैव ''कृतकृत्यो अहम्'' इति आत्मानं स मन्यते. इव इति भावनया तथात्वात्. ऋषिसृष्टिः.

३।२०।५२ ऋषीन् सर्ववेदादिप्रवर्तकान्. विद्या भक्तिः.

३।२०।५३ समाधिः चित्तैकाग्र्यं, योगः तस्य उपायः, ऋद्धिः फलं तस्य. त्रयम् एका कोटिः. तपो ज्ञानं, विद्या भक्तिः, वैराग्यं च इति अपरा. विद्यैव यशः इत्यादि.

३।२१।०।का.१,२ धर्ममार्गः. तपो-दर्शन-संस्तवाः.

३।२१।४ द्वात्रिंशल्लक्षणयुक्तो योगस्य अधिष्ठानम्.

३।२१।७ न केवलं तपसा भगवान् परितुष्यति किन्तु भक्त्या इति भजनम्. समाधौ भगवान् आविर्भावितः. तत्र क्रियायोगः परिचर्या. परिचर्यया सम्यक् प्रपेदे. प्रेमभक्तिः तयापि.

३।२१।८ भगवत्साक्षात्कारः. प्रेम्णा यावत् सेवते. विलम्बे कारणं कृतयुगे इति. सत्ययुगे तपः कर्तुं तपसा शुद्धान्तःकरणः त्रेतायां योगसिद्धः. तपस्तु अनुवर्तते. ततो भगवदाविर्भावः. द्वापरे परिचर्या. प्रेम कलौ. कृतयुगे प्रादुर्भूतः. वेदपुरुषः. यद्यपि तद् अतीन्द्रियमेव तथापि भगवानेव दर्शयामास.

३।२१।९ अर्को हि देवतामण्डलं नारायणः च. शुद्धाएव वेदभागाः तेन गृहीताः.

३।२१।१० लीला अज्ञाननाशिकैव.

३।२१।११ मोक्षपर्यन्ता भक्तिः.

३।२१।१२ कायिकं मानसिकं च भजनम् उक्त्वा वाचनिकं भजनम्. सर्वकर्मस्वेव भक्तेः विनियोगः. देहकार्ये दासकार्ये वा. स्नेहो अनवच्छिन्नः.

३।२१।१३ फलं तु भगवानेव. अखिलसत्त्वराशेः. वस्तुस्वरूपमेव तथा. स्तोत्रं नित्यसिद्धम्.

३।२१।१४ पादारविन्दम् इति सुसेव्यता. निरोधेन क्लिष्टतया.

३।२१।१६ ब्रह्मवाक्यम् अनुल्लङ्घनीयम्.

३।२१।१७ मुख्यभक्तान्.

३।२१।१८ कालादीनाम् अबाधकत्वम्. संवत्सरात्मकम् अविकृते अक्षरे प्रोतम्. त्रिशतं षष्टिः च पर्वाणि. द्वाभ्यां भक्तिमार्गनिष्कर्षः.

३।२१।२० भक्तार्थं विषयाः न सृष्टाः. अन्यार्थं कृताअपि अनुग्रहेण अन्यस्मै देयाः.

३।२१।२१ अनुभूत्यैव उपरतक्रियार्थः.

३।२१।२२ संसारभावापत्तिव्यावृत्त्यर्थं प्रेम.

३।२१।२३ स्वसिद्धान्तम् इत्यादि. द्वाभ्यां भगवच्छास्त्रसिद्धान्तम्. सर्वमार्गाणां भगवन्मार्गः उत्तमः. सफलान्येव सर्वाणि साधनानि.

३।२१।२४ मदर्चनं न कदाचिदपि मृषा = फलरहितं न.

३।२१।३१ ''यस्मिन् विदिते सर्वम् इदं विदितम्''. आत्मवत्त्वलक्षणम्. पूर्णब्रह्मज्ञानम्.

३।२१।३२ पुराणे वेदवत् मूलसंहिताः चतस्रः साङ्ख्य-योग-पशुपतिमत-वैष्णवसिद्धान्तप्रतिपादक-मन्त्ररूपाः. सर्वाण्येव पुराणानि तस्याः अपेक्षित-षडङ्गभूत-कालादिप्रतिपादकानि ब्राह्मणस्थानीयानि.

३।२१।३३ यदैव अयम् अन्तर्मुखो भविष्यति तदैव भगवदाविर्भावः.

३।२१।३४ पत्ररथस्य गरुडस्य. वेदैः साक्षाद् भगवान् स्तूयते तदेव च शृणोति, अन्ये तु मार्गानेव स्तुवन्ति.

३।२१।४६ पुष्टिप्रतिपादनार्थम्.

३।२१।५२ जैत्रं जयशीलम्.

३।२१।५६ एवं वचनं भगवत्प्रसादादेव महाराजादपि उत्कर्षात्.

३।२२।०।का.१-४ इन्द्रियगणः कृष्णार्थम्. भगवत्कृपयैव अर्थः उत्तमः. यज्ञ-श्रवणभेदेन.

३।२२।२ ब्रह्मा वेदमयः. ब्राह्मणव्यतिरेकेण वेदानां यज्ञानां पर्याप्तिः पूर्तिः न. ब्राह्मणाः त्रिविधाः — तपोयुक्ताः ज्ञानयुक्ताः भगवदुपासना-युक्ताः वा. त्रितययुक्ताः मुख्याः. लाम्पट्यं ब्राह्मणानां दोषः, तपस्यादयो गुणाः.

३।२२।३ शब्दप्राधान्येन ब्राह्मणानां सृष्टिः, अर्थप्रधानेन क्षत्रियाणाम्. ब्राह्मणाभिमानिनी देवता हृदयं, क्षत्रियाभिमानिनी देवता अङ्गम्.

३।२२।५ ब्राह्मणानां स्थाने राजादयो धर्मनिर्णयार्थमपि आगच्छन्ति. तपः कार्यं, भगवत्सेवा च. एवं प्रसन्ने भगवति.

३।२२।६ भगवदर्थम् अन्तःकरणं न कृतं ते अकृतात्मानः. ''पुनन्तु मां ब्राह्मणपादपांसवः'' इति सर्वप्रायश्चित्तापेक्षया इदमेव वरम्.

३।२२।७ ''सत्यं वद'' इत्यादि.

३।२२।१० शीलम् आचारः, श्रुतं विद्यादिजनितं ज्ञानम्.

३।२२।१३ ''मानो हि महतां धनम्'' इति.

३।२२।१४ प्रत्तां दत्ताम्.

३।२२।१५ भगवद्गुणाएव अत्र अङ्गीकारे हेतुः. इयं हि भगवद्दासी 'भग'शब्दनिरूपिता. ऐश्वर्यादिप्रसिद्ध्यर्थम् अस्याः वर्णनम्.

३।२२।१६ समाम्नायो अभ्यासः.

३।२२।१८ एतादृशी स्त्री ब्रह्मविद्यायाअपि अधिका.

३।२२।१९ शुक्लनारायणेन प्रोक्तान्. गार्हस्थ्ये यज्ञादयः.

३।२२।२० ननु ''यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्''. अस्मिन्नर्थे एषः भगवानेव प्रमाणम्. सर्वथा आदरणीयो यः स प्रमाणम् इति उच्यते. तत्सम्बन्धात् कृतिः तस्य प्रमाणं वाक्यमेव च इति. वेदानां प्रामाण्यं भगवद्वाक्यत्वात्. सहि अनन्तः अनन्तमूर्तिः देशाद्यपरिच्छिन्नः च. सहि तत्तदधिकारानुसारेण बहुधा शास्त्रार्थम् आह. भक्तेभ्यः च पृथग् आह. अतो यद् मां प्रति आह विशेषाकारेण तदेव प्रमाणं, विशेषो बलवान् इति.

३।२२।२९ मन्त्रादिना कुशकाशादिषु तत्त्वम् आरोप्यते. आवाहनापेक्षापि नास्ति इति तच्च बर्हिः.

३।२२।३१ आश्ववालः काशः. सा च देवयजनरूपा.

३।२२।३३ देवाः न असत्यं गायन्ति इत्यादि. सद् इति धर्मः.

३।२२।३४ प्रेम्णा कथायाः श्रवणस्य. परलोकभयं तु नास्त्येव, स्वयम्भूपुत्रत्वात्. श्रवणादिना भगवत्परत्वम्.

३।२२।३५ अयातयामाः षोमाग्नीब्राह्मणे रूढिः.

३।२२।३६ युगानाम् एकसप्ततिः.

३।२२।३७ हरिसंश्रयं क्लेशाः न बाधन्ते.

३।२२।३८ भगवद्भक्ताएव गुह्यं धर्मं विदुः. नानाविधान् धर्मान्.

३।२३।०।का.२,३ भगवद्भोगसृष्टौ हि पूर्वं मात्राः निरूपिताः, तद्ग्राहकाणि इन्द्रियाणि निरूप्यन्ते. भगवत्कृतभोगो हि न अल्पसत्त्वेन भुज्यते अतः तस्याः योग्यतायै पतिसेवा.

३।२३।१ पतिसेवाम् आह. सेवाप्रकारः.

३।२३।२ शमादयः.

३।२३।३ दोषाभावान् आह.

३।२३।४ महत्त्वं दैन्यसमानाधिकरणं दयाहेतुः.

३।२३।७ विद्या भक्तिः उपासना.

३।२३।९ प्रणयः स्नेहः.

३।२३।१० भगवत्त्वेनैव तं सेवितवती. पशव्यो हि कामः.

३।२३।११ रसश्च विभावानुभावेत्यादि.

३।२३।१३ भावनवकेन.

३।२३।२१ प्राङ्गणं कोष्ठाद् बहिः अङ्गणम्, अजिरम् अङ्गणम्.

३।२३।३४ स्वधर्मेण लौकिकधर्मेण वैदिकधर्मेण च भजनीयः कर्दमो भवति इति विशेषणत्रयम्.

३।२३।३९ अष्ट ये लोकपालाः तेषां ये विहारस्थानभूताः कुलाचलेन्द्रस्य मेरोः द्रोण्यः.

३।२३।४२ ''चरणं पवित्रं विततं पुराणम्''.

३।२३।४४ रामायां हि लज्जा भयं च न उत्पद्यते.

३।२३।४५ आश्रयधर्मादेव प्रकाशमानात् सूर्यादिगत्या कालाज्ञानम्. शय्या मोहिका.

३।२३।४७ नहि भावनामात्रेण तथा भवति इत्यादि.

३।२३।५६ त्रिविधकर्मणएव सफलत्वम्. कर्मणा धर्मो भवति, वैराग्यं भक्तिः वा.

३।२३।५७ विमुक्तिः कालाद् मुक्तिः.

३।२४।०।का.१ कपिलो हि हरिः बुद्धिः उपदेशो भजिः तथा.

३।२४।३ भगवदुक्तशास्त्रार्थकरणे भगवान् परितुष्यति इति. 'द्रविण'-पदेन च यज्ञाः भगवन्मखक्रियारूपाः. असिद्धवदेव साधनानि कर्तव्यानि इति अर्थः.

३।२४।५ कूटस्थम् अभजद् गुरुम्. उक्तेनैव प्रकारेण इति ज्ञातव्यम्.

३।२४।६ भगवान् आविर्भूतः बहुकालं तया भजने क्रियमाणे. अतो

मर्यादारक्षार्थं प्रथमं कर्दमे वीर्यः आविर्भूतः. नच एवं सति प्राकृतः आशङ्कनीयः इत्यादि.

३।२४।८ प्रेम्णा विकलाः.

३।२४।११ सभाजयन्.

३।२४।१७ साङ्ख्यसिद्धिहेतवः. अनुभवलक्षणम्. योगलक्षणम्.

३।२४।२३-२४ क्रिया इति नाम. क्रतोः दक्षिणायाः इत्यादि. अथर्वा वेदाभिमानी इत्यादि. ब्रह्मप्रतिपादकत्वात् तद्भार्या शान्तिः. यया यज्ञो वितन्यते इति. यथा ब्रह्मप्रतिपादकत्वं तथा यज्ञोपयोगित्वमपि.

३।२४।२६ आज्ञां भगवतो लब्ध्वा तस्यैव आज्ञानुसारतः, यदा सर्वं परित्यज्य विचरेत् स हि मुच्यते. त्रियुगो धर्मयज्ञात्मको भगवान्. यथा सृष्टौ क्रियात्मा वराहः. विष्णुम्. सैव हि परमा देवता इति वैदिकमार्गे देवतैव सर्वोत्तमा.

३।२४।२७ भगवदवतारो न स्वधर्मसाध्यः, तादृशे धर्माभावात्. किन्तु बहुकालं दुःखानुभवे दीनत्वे सति दयया प्रसादः. शास्त्रे तु देवतानां न दयया प्रसादः किन्तु कर्मणैव.

३।२४।२८ द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम्.

३।२४।२९ ननु पुरुषोत्तमः. नहि बाधितम् अर्थं वेदोपि इति. इतः पूर्वमेव एवं मर्यादा स्थिता. इदानीं भक्तिमार्गम् उत्पाद्य विषमः.

३।२४।३० यथा वेदाः प्रमाणं तथा भगवद्वाक्यम् इति.

३।२४।३१ यानि सर्ववेदप्रसिद्धानि आनन्दमयानि. भगवान् अरूपएव. यानि पश्चाद् भक्तानुग्रहेण कृतवान् तान्यपि अनुरूपाण्येव.

३।२४।३२ ऐहिकार्थमपि सेव्यः.

३।२४।३४ वेदाधिकारे ‘‘यज्ञः त्वम्’’ इत्यादि इति. पुराणपुरुषोत्तमं हृदि युञ्जन्. देहस्य प्रतिपत्तिः एषा.

३।२४।३५ लोके मया प्रोक्तमेव लोकस्य प्रमाणम्. मद्वाक्यमेव वेदश्च.

३।२४।३८ सर्वएव अनेन मार्गेण मुच्यन्ते इति. पश्चाद् भगवद्भजनं कर्तव्यं, स्वस्थकार्यत्वाद् भजनस्य. पलिताद्यभावश्च मृत्युजयबोधकः.

३।२४।३९ भयं द्वैतकार्यं, शोकश्च सङ्घातकार्यम्.

३।२४।४० एषा तु आधिदैविकी विद्या उक्ता, मात्रे पुनः आध्यात्मिकीं विद्याम्.

३।२४।४१ दक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिणीकृत्य.

३।२४।४३ वैदिको अयम् उपनिषत्प्रकारेण आवृत्तचक्षुः भूत्वा मनो ब्रह्मणि नियम्य इत्यादि. प्रेम्णैव तत्र मनः स्थिरं भवति इति.

३।२४।४४ अहङ्कारस्य वृत्तिद्वयम् अहं-मम इति.

३।२४।४५ मानसभजनक्रियया सह.

३।२४।४६ सर्वभूतेषु समवस्थितः.

३।२४।४८ चित्तं तदैव ब्रह्मरसस्पृष्टं लौकिकाद् निवर्तते इत्यादि. ब्रह्मभावः. ततो मुख्यभक्तिम्.

३।२५।०।का.३-६ भुङ्क्ते सर्वं यतो हरिः. आत्मा तस्य इन्द्रियं प्रोक्तम्. योगएव हरेः बुद्धिः. भक्तियोगो निरूप्यते. परमं साधनं भक्तिः. सन्तो भक्तेश्च साधकाः.

३।२५।३ स्वानां = भक्तानां छन्द = इच्छा, तदनुसारी.

३।२५।४ आन्वीक्षिकी आत्मविद्या, मननरूपा विद्या इति एके.

३।२५।५ महतां गृहे स्थितिः पित्रोः अर्थे.

३।२५।११ संसारतरोः कुठारम्. भक्तानां भगवदीयत्वेन भावाद्वैतादि-धर्मवत्त्वात्. बिभ्रति, नतु कदाचित् केवलं कुर्वन्ति.

३।२५।१२ आत्मवन्तः सकृष्णाः. स्वरूपदानौपयिकं साधनम्.

३।२५।१३ साङ्ख्ये परित्यागो नित्यः इति. अन्तरात्मा स्वयं चित्तम् इन्द्रियाणि तथा तनुः, वेदे साङ्ख्ये च योगे च शैवे वैष्णवएव च, मूलरूपाणि शास्त्राणां नियमार्थं निरूपणात्. आत्मशेषो ह्यहङ्कारः

स साङ्ख्ये विनिरूप्यते, चित्तस्य रूपभेदश्च. योगभेदाः. आध्यात्मिको मुख्यः.
३।२५।१५ चित्तस्वभावः आसक्तिः यः त्यक्तुं नैव शक्यते, स्नेहो रतिः इति प्रोक्तः संस्काराच्छास्त्रतश्च सः.
३।२५।१६ मलानि च मनसः कामलोभादीनि. तैः उपायैः यदा मलानि नश्यन्ति. सर्वत्र ब्रह्मभावनया तदा समं मनो भवति.
३।२५।१७ विविक्तात्मसाक्षात्कारः तदैव भवति.
३।२५।१८ ज्ञान-वैराग्ये भक्तेः अङ्गभूते. ते च फलोपकार्यङ्गे, नतु भक्तिजनके. वासनामात्रेण प्रकृतिः तिष्ठति इति.
३।२५।१९ भक्त्या सदृशः पन्थाः न. सिद्धान्तान्तरत्वाद् भगवन्मार्गेण सह विरोधः. ''मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ताः'' इति भगवन्मार्गः भक्तिविषयः.
३।२५।२० सङ्गो यदा विषयभेदेन भिद्यते तदा भक्तिं जनयति. सएव प्रसङ्गः साधुषु कृतः.
३।२५।२१ साधवः साधुभूषणाः. सन्तः षोडशधर्माः. सुहृत्-तितिक्षु-काम-क्रोध-लोभ-शान्तस्वरूपम्.
३।२५।२२ मदर्थे त्यक्तकर्माणः भक्तिस्वरूपं, भावरूपं, दार्ढ्यस्वरूपम्. भगवत्स्मरणे सेवायां च. रूपासक्तौ त्रयो गुणाः.
३।२५।२३ नाम्नि त्रयम् आह. भाववर्णनेन वा भक्तैः उज्ज्वलीकृताः.
३।२५।२४ सङ्गस्य हि कामजनकत्वम्.
३।२५।२५ विद्यायां वा अङ्गक्रमः. साधनसाधिका भक्तिः. प्रथमतः श्रुता हृदये रसम् उत्पादयन्ति, पुनः पुनः श्रुताः कर्णयोः.
३।२५।२६ फलरूपं प्राप्तया इतररसविस्मारिकया. भक्तेः अनुवृत्त्यर्थं साधनम् आह. अलौकिकभगवच्चरित्रस्मरणेन भक्तिः. योगयुक्तो भवति. यमादिरूपैव अचिन्तनदशायां प्राणायामादिरूपैः. पञ्चमी विद्या मोक्षे अन्तरङ्गा.
३।२५।२७ एवं ससाधनं शास्त्रार्थम् उक्त्वा. फलकीर्तनेन. विद्या

पञ्चपर्वा.

३।२५।२८ श्रद्धादिषु त्वद्योग्या भक्तिः का इति अर्थः.

३।२५।२९ भगवल्लक्षणलक्ष्ये आत्मनो योजनार्थं यो योगः बाणरूपः. ज्ञानसाधनं योगः.

३।२५।३१ इतः आरभ्य सिद्धान्तान्तरम्. प्रसिद्धान् साङ्ख्यज्ञानयोः कार्यान्. भक्त्या प्रसन्ने तु हरौ तं योगेनैव योजयेत्. तस्य लोके ‘साङ्ख्यम्’ इति प्रसिद्धिः.

३।२५।३२ भक्तिलक्षणम्. दैवानि इन्द्रियाणि आसुराणि च. सर्वा भगवतः सामग्री निर्गुणा. आसुरं संकल्पविकल्पात्मकम्. खण्डशो वृत्तिः इत्यादि. खण्डभक्तिरूपां वृत्तिम्. वृत्तिः तन्निष्ठता, नतु ग्रहणमात्रम्.

३।२५।३३ या अनिमित्ता सा भक्तिः भवति. साक्षाद् भगवन्तं विषयीकरोति. तस्य च ब्रह्मविदो जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सङ्गतस्य च व्यापाराः निरूपिताः. सद्योमुक्तावपि इत्यारभ्य सिद्धान्तः इत्यन्तम्.

३।२५।३४ भक्तानां साधनावस्थाम् आह. इयं हि फलरूपा भक्तिः ज्ञातव्या. मम पादसेवायाम्. पद्भ्यां सेवा इति अर्थः. इयं मनोवृत्तिः. कायिकीम् आह. वाचनिकीम् आह. सभाजयन्ते इत्यस्य अर्थः.

३।२५।३५ तेषां फलावस्थाम् आह. वृन्दावनादौ भगवत्साक्षात्कारः.

३।२५।३६ कामो हि विषयेत्यादि. भगवतो हि लीला सर्वपुरुषार्थदायिनी.

३।२५।३७ वैकुण्ठे सर्वमेव ऐश्वर्यादिकम् अश्नुवते.

३।२५।३८ तस्य कालस्य अष्टौ विषयाः.

३।२५।३९-४० उपासने तेषां भक्त्यभावाद् अहं तान् मृत्योः अतिपारये इति. साङ्ख्यसिद्धान्तत्वात् परित्यागो अत्र मुख्यः. मुख्ये सिद्धान्ते तु इत्यादि. त्याज्यान् गणयति. विसृज्य सर्वतश्च अन्यान्. भजने साधनं भक्तिः. अनन्यतास्वरूपं— परलोकार्थं भगवत्कृपार्थम् अन्यार्थं भक्तिव्यतिरेकेण भगवद्व्यतिरेकेण येषाम् अन्यद् नास्ति.

३।२५।४१ भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति इति कारिका.

३।२५।४२ ''भीषा उदेति सूर्यः'' इति. 'अशेम'पदेन तपनम्. अग्नीन्द्रयोः क्रिया मद्भयात्.

३।२५।४३ ज्ञान-वैराग्ये भक्तेः सहकारिणी. योगो अधिकारिविशेषणम्. भक्तिरेव करणम्.

३।२५।४४ सर्वं शास्त्रार्थं निरूप्य. परलोकार्थं यतताम् अस्मिन् लोके एतावानेव निश्रेयसोदयः. तत् चेत् स्थिरीभवति तदा कृतार्थता. तत्स्थिरीकरणार्थं भक्तिरेव. केनापि प्रकारेण भगवति स्थिरं मनः परमपुरुषार्थसाधकम् इति योगसिद्धान्तः. तत्र भक्तिरेव स्थिरीकरणे हेतुः इति स्वसिद्धान्तानुसारेणापि भक्तिः निरूपिता. भागवतानुसारेणापि तस्माद् भक्तिः सर्ववादिसम्मता इति सैव कर्तव्या.

३।२६।०।का.१ साङ्ख्यम् उच्यते.

३।२६।१ उत्तमभक्त्या हृदयप्रविलापनम् उक्त्वा अन्यासां च फलं निरूप्य सा सत्सङ्गादेव भवति इति. तत्त्वानां लक्षणं पृथक् पृथक्. तत्त्वादिपदार्थैः ज्ञातैः किं स्यात्.

३।२६।२ साक्षात्कारएव वा. एतदपि भक्तिवद् हृदयप्रविलापकम्. हृदयग्रन्थिभेदनम् इति. साङ्ख्येन सहितं ज्ञानं स्वतन्त्रं साधनम्.

३।२६।३ यागादिसाध्याः परलोकाः. अस्मत्प्रत्ययवेद्यः आत्मा सएव पुरुषः.

३।२६।४ प्रकृतिः आत्मव्यतिरिक्ता साङ्ख्यैकदेशिनो मते पुरुषवत् नित्या. भगवदीयसाङ्ख्ये तु भगवतः शक्तिः. साङ्ख्यशास्त्रं तु न भगवन्तं विषयीकरोति. अक्षराद् अर्वागेव तच्छास्त्रप्रवृत्तेः. पञ्चधा भगवान् अनादिः — पुरुषोत्तमः, अक्षरं, कालः, प्रकृति-पुरुषौ इति. पुरुषस्यैव प्रकृतिनियमनावस्थां परित्यज्य प्रकृत्यधीनावस्थया जीवत्वम्. ''काममयएव अयं पुरुषः'' इति श्रुतेः च.

३।२६।५ विचारास्फुरणं प्रकृतिः. मोहः स्वरूपविस्मृतिः.

३।२६।६ मोहानन्तरं पूर्णो जीवभावो जातः. क्रियाशक्तिः तदीया. पुरुषस्य तु ज्ञानशक्तिः. सा हि गुणैः कृत्वा कर्माणि करोति.

३।२६।७ आत्मनि कर्तृत्वाभिमानएव संसारमूलम्. सहि सच्चिदानन्द-रूपः, भगवदंशत्वाद् ऐश्वर्यादियुक्तश्च.

३।२६।८ यद्यपि कर्तृत्व-भोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यम्. भोक्तृत्वं पुरुषगतमेव. भोक्ता भोगदशायां प्रकृतिनियामकः.

३।२६।९ आकाशे क्वचिद् ग्रहादिः क्वचित् न इति.

३।२६।१० सच्चिदानन्दं ब्रह्म. क्रियाज्ञानानन्दाः.

३।२६।१२ पञ्च महाभूतानि. पञ्च तन्मात्राः. पदार्थान्तर्भावः.

३।२६।१३ दश इन्द्रियाणि.

३।२६।१४ चतुष्टयं मनो बुद्धिः इति.

३।२६।१५ चतुर्विंशतिभेदभिन्नः. सगुणस्य ब्रह्मणः एतावत्येव सङ्ख्या. प्रकृतेः प्रथमो भावः कालः.

३।२६।१६ कालं निरूप्य. पुरुषस्य धर्मः, सामर्थ्यविशेषो वा.

३।२६।१७ एतादृशस्य यतः चेष्टा स कालः. रूपपञ्चकमध्ये इति.

३।२६।१८ अन्तः पुरुषरूपेण वर्तते, बहिः कालरूपेण. उभयविधो भूत्वा समन्वेति. काल-पुरुषयोः विशेषः.

३।२६।१९ महत्तत्त्वं चित्तं, तस्य लक्षणानि. आनन्द-सतोः ऐक्ये हिरण्यरूपता.

३।२६।२० विश्वाधारत्वं तस्य लक्षणम्. तमो अपिबत्.

३।२६।२१ वासुदेवाख्यम्. सत्त्वस्य सत्त्वम्. सर्वेषु प्राणिषु चेतनारूपेण स्थितम्.

३।२६।२२ चित्तवृत्तिः. यथा अपां तत्तत्सम्बन्धे तत्तद्भावापत्तिः.

३।२६।२३ अहङ्कारस्य लक्षणानि. न वैनाशिकगन्धोपि.

३।२६।२४ सात्त्विक-राजस-तामसाहङ्काराः. ततो भूतेन्द्रिय-मनस्तन्मात्रोत्पत्तिः.

३।२६।२५ सङ्कर्षणोत्पत्तिः. सुखभेदाः वा. ''सहस्रसम्मितः स्वर्गो लोकः'' इति श्रुतिः. 'अनन्त'शब्दप्रकृतिः. पुरुषएव सङ्कर्षणः.

३।२६।२६ शान्त-घोर-विमूढत्वम् अहङ्कृतिवृत्तिः. दुर्बलत्वात् स्त्रीत्वम्.

३।२६।२७ मनसः उत्पत्तिः. मनसो दुष्टत्वम् अन्नमयत्वं च आशङ्क्य 'तत्त्व'पदप्रयोगः 'मनःतत्त्वम्' इति.

३।२६।२८ आधिदैविकम्. अनिरुद्धः पालकः. इन्द्रियनियामकत्वं तस्य लक्षणम्. भगवदुपासनैव कल्पयति. श्यामश्च गुणः शृङ्गारः. स्नेहेन सर्वकालेषु सर्वदोषाभानेन भगवत्सेवायाम् इत्यादि. दीर्घकालादर-नैरन्तर्याणां सर्वत्र भजनहेतुत्वेन निरूपणात्.

३।२६।२९ बुद्धेः उत्पत्तिम्. द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्. इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः. बुद्ध्यैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति, कुर्वन्ति च तारतम्यम् इत्यादि.

३।२६।३० संशय-विपर्यास-निश्चय-स्मृति-स्वाप-निरूपणम्. विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः. क्रिया-ज्ञानयोः भिन्नविषयत्वम्. अनेन अन्य-ख्यातिः. संस्कारेण शब्दाभिव्यक्तौ वाक्यप्रामाण्यात्. त्रीण्येव प्रमाणानि — इन्द्रियाणि शब्दो मनश्च इति, चक्षुः श्रोत्रं मनो वा. मनस्तु योगजधर्मसहितमेव प्रमाणम्. अतएव स्मृतिः अप्रमाणम्. सङ्घातात्मज्ञानं च अप्रमाणम्. स्मृतिः स्वतन्त्रा. बुद्धिः संस्कारजनिका. तत् सिद्धार्थवाक्ये तु इत्यादि. पदेभ्यः पदसमूहो भिन्नः इत्यादि.

३।२६।३१ इन्द्रियोत्पत्तिम्. ज्ञान-क्रियान्यतरकरणं इन्द्रियम्. प्राणस्तु क्रियाप्रधानः इति.

३।२६।३२ भूतसृष्टिः. श्रोत्रसमधिगम्यः शब्दः इत्यादि.

३।२६।३३ अर्थो हि शब्दम् आश्रित्य प्रतिष्ठति इत्यादि. यद् आधिदैविकं रूपं तद् शब्दनिष्ठं, आधिभौतिकं तु पृथिव्याद्याश्रितं, आध्यात्मिकं तु ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रितम्. सूक्ष्मरूपत्वं शब्दस्य लक्षणम्.

३।२६।३४ भूतानां बहिरन्तःस्वरूपत्वम् आकाशलक्षणम्. प्राणेन्द्रियात्म-

धिष्ण्यत्वम्.

३।२६।३५ स्पर्श-वाय्वोः उत्पत्त्यादिकम्.

३।२६।३६ स्पर्शस्य स्पर्शत्वम्. स्पर्शः चतुर्धा.

३।२६।३७ वायोः लक्षणम्. चालनं द्रव्य-शब्दयोः, नेतृत्वम्. सर्वेषाम् इन्द्रियाणाम् आत्मा च अयम्.

३।२६।३८ तेजसः उत्पत्तिम्.

३।२६।३९ रूपलक्षणं द्रव्याकृतित्वादिकम्.

३।२६।४० तेजसो लक्षणम्. तेजोव्यतिरेकेण न अन्यः पिबति. क्षुत्तुड्रूपं तेजएव.

३।२६।४१ जलस्य उत्पत्तिम्.

३।२६।४२ रसानां भेदकथनेनैव लक्षणम्. अनेकधा भिद्यते. अव्यक्तमधुरः एकएव रसः.

३।२६।४३ पिण्डन-तृप्त्यादि अष्टौ अम्भसो वृत्तयः.

३।२६।४४ पृथिव्याः उत्पत्तिः.

३।२६।४५ गन्धभेदान्. करम्भो मिश्रगन्धः व्यञ्जनादिषु.

३।२६।४६ पृथिवीं लक्षयति. ब्रह्मणः भावनं प्रतिमा.

३।२६।४७ श्रोत्रादिलक्षणानि.

३।२६।४९ पञ्चापि गुणाः अन्तिमकार्ये पृथिव्यामेव. वीणादिशब्दो वाङ्निमित्तकः. चित्राणि रूपाणि वरप्राप्तानि.

३।२६।५० ब्रह्माण्डोत्पत्तिम्. भगवान्. आत्म-काल-कर्म-स्वमावानां तदर्थं कालादिभिः सह प्रवेशः.

३।२६।५१ ब्रह्माण्डम् उत्पन्नम्.

३।२६।५२ विशेषः इति अस्य नाम. सर्वतः पञ्चाशत्कोटियोजन-विस्तृतम्. पूर्वस्माद् दशगुणवृद्धैः तोयादिभिः सर्वतः परिवृतम् अन्तः प्रधानेन च आवृतम्.

३।२६।५३ रक्षसां बाधाभावार्थं सलिलेशयत्वम्. यथा प्रतिमादौ भगवान्

तिष्ठति तथैव अयं स्थितः.

३।२६।५४ मुखं वाणी वह्निः इति. नासापुटे घ्राणम् इन्द्रियम्. प्राणः आसन्यः न इन्द्रियदेवता.

३।२६।५५ प्राणाद् वायुः इन्द्रियदेवतारूपः. भगवत्कृतसृष्टौ अश्विनी-कुमारौ इत्यादि. अक्षिणी गोलके. चक्षुः सूर्यः.

३।२६।५६-५७ त्वक्लोम इन्द्रियम्, ओषधयो देवता. शिश्नं गोलकं, रेतः इन्द्रियम्, आपो देवता. गुदम्, अपानः इन्द्रियम्, मृत्युः देवः.

३।२६।५८ हस्तौ, बलम् इन्द्रियम्, इन्द्रो देवता. पादौ, गतिः इन्द्रियं, विष्णुः देवः.

३।२६।५९-६१ नाड्यो गोलकं, आमृतलोहितम् इन्द्रियं, नद्यो देवता. उदरं गोलकं, क्षुत्-पिपासे इन्द्रियं, समुद्रो देवता. हृदयं चतुर्णां गोलकं, मनः इन्द्रियं, चन्द्रमा देवता. बुद्धिः इन्द्रियं, गिरां पतिः देवः. अहङ्कारः इन्द्रियं, रुद्रो देवता. चित्तम् इन्द्रियं, चैत्यो देवता.

३।२६।६३-६९ मन्त्राधिष्ठातृरूपेष्वपि मर्यादा एषा. पुरुषोत्तमस्तु सर्वं करोति. स चेत् सेवितुं शक्यते प्राप्यते वा.

३।२६।७१ अन्तरङ्गएव सेवको महाराजम् उत्थापयितुं शक्नोति.

३।२६।७२ तं जीवं तस्मिन् सङ्घाते चिन्तयेत्. बुद्धिः करणं योगसिद्धा. तस्य सहायभूतं भक्त्यादित्रयम्. उत्तरत्र ब्रह्मभावो भावयितुं सुकरः.

३।२७।०।का.१ ब्रह्मरूपेण तज्ज्ञानम्.

३।२७।५ चित्तम् आसक्तिं त्यजति. तत्र हेतुद्वयं— भक्तियोगो, विरक्तिः च. भगवति स्नेहः. उभाभ्यां चित्तं वशे भवेत्.

३।२७।६ उभयोः साधनानि. यमादिसाधनैः आत्मानं जानाति तदा भगवति स्नेहः. यमाः अहिंसादयः. नियमाः स्नानादयः.

३।२७।७ सर्वप्राणिषु वैराभावेन. अष्टाङ्गब्रह्मचर्येण. मौनेन वृथालाप-परिवर्जनेन. वर्णाश्रमधर्मेण.

३।२७।८ यदृच्छया उपस्थितान्नादिना वा सन्तोषः.

३।२७।९ ज्ञानेन साङ्ख्यजनितेन.

३।२७।११ ''अयम् अहम्'' इति साक्षात् प्रतिपद्यते.

३।२७।१४-१६ आत्मासम्भावनां दूरीकृत्य. सुषुप्तौ केवलः आत्मा सङ्घातव्यतिरिक्तो भासते. सुषुप्तौ अवभासप्रकारः.

३।२७।२१ यैः कृत्वा प्रकृतिः तिरोभावं प्राप्नोति तानि साधनानि आह. अनिमित्तनिमित्तक-स्वधर्मः. एतानि ज्ञानोत्तरं पुनः कर्तव्यानि. भक्तिश्च तीव्रा स्नेहपूर्विका सेवा, स्नेहपूर्वकं श्रवणादिकं वा. चकाराद् गुरुभक्त्या. चिरकालं भगवद्गुणश्रवणेन हृदये आपूरिता.

३।२७।२२ साङ्ख्यानुभवेन यद् जनितं ज्ञानं तत् पुनरावर्तनीयं वैराग्येण, तपसा युक्तेन योगेन अष्टाङ्गेन, आत्माविर्भावसमर्थेन समाधिना.

३।२७।२७ भगवत्प्राप्तिलक्षणं मोक्षम् आह चतुर्भिः. साधनं च फलं चैव फलत्वं वापि तस्य च, प्रतिबन्धनिवृत्त्यैव तत्प्राप्तिः बाधनाशतः, एतच्चतुष्टयं प्राह चतुर्भिः न अन्यथा फलं, तादृशस्यापि हि भवेद् इति ज्ञानोत्तरक्रिया.

३।२७।२८ भगवानेव परमपुरुषार्थः इति ज्ञाने महान् प्रसादो भवति.

३।२७।३० आगतास्वपि सिद्धिषु चित्तं चेद् न युज्यते अथ तदनन्तरमेव भगवत्प्राप्तिः भवति. अतएव अत्र भ्रमो न कर्तव्यः.

३।२८।०।का.१-३ चित्तं चेद् भगवत्स्पृष्टं भक्तिज्ञानविरक्तिभिः, तदा शुद्धं स्वसम्बन्धिपुरुषं गमयेत् फलम्. स्वाध्याय इव.

३।२८।१ योगं फलपर्यन्तम्.योगाः बहुविधाः. वेदोक्तो वा.

३।२८।२ पञ्चविंशतिसाधनानि. स्वधर्माणाम् इत्यादि. यावद् देहो अयम् इत्यादि. यदा पुनः आत्मानं जीवं मन्यते सङ्घातव्यतिरिक्तं तदा दास्यं स्वधर्मः अन्ये वर्णाश्रम- इत्यादि.

३।२८।३ मोक्षधर्माः अहिंसादयः.

३।२८।४　पुरुषार्चनम्.

३।२८।६　वैकुण्ठलीलाभिध्यानम्. एतानि स्वसिद्धान्ते प्रोक्तानि साधनानि.

३।२८।७　सर्वैः पथिभिः इत्यादि. आत्मनि योजयेत्.

३।२८।१३　पुरुषोत्तमस्य एतद् रूपम्.

३।२८।१८　एवं विंशतिधर्मात्मा ध्येयः. एकविंशो हि पुरुषः. स्वयं भगवान् एकविंशः. तत्र कर्तव्यम् आह ध्यायेद् देवम् इति.

३।२८।१९　सर्वतो विलोकनार्थम् उत्थितं, कार्यकरणार्थं चलति, पूजां गृह्णन् उपविशति, कृतकार्यश्च शेते. चेष्टापि भगवानिव प्रेक्षणीया. तेन भगवतो बालैः गोभिः गोपैः गोपिकाभिः अन्यैश्च नानाविधाश्च क्रीडा अपि ध्येयाः.

३।२८।२२　भगवतः चरणे गङ्गा भक्तिरसश्च इति. चिरध्यानेन मनसोपि आधिदैविकत्वम्.

३।२८।२३　अल्पे हृदये कथम् एषा भावना भविष्यति इति.

३।२८।२४　गरुडो हि कालात्मा इत्यादि. कर्मणां कालोपाधिकत्वम्. सोमेन इत्यादि. अग्नि-वेदाभ्यां कर्म साध्यते.

३।२८।२५　शयानएव भगवान् ध्येयः. तुन्दिलो भगवान्. भगवद्धर्माः शुकादिभिः परिसेव्यमानाः सर्वेषां रागहेतवो भवन्ति.

३।२८।२६　भगवतस्तु आनन्दमयत्वेन. आन्तरः सर्ववेदोद्गमहेतुः.

३।२८।२९-३०　नवविधा भक्तिः च निरूप्यते. मुखं हि आनन्दरूपस्य भगवतो भक्तिरसात्मकम्. दास्यं प्रत्यक्षं परोक्षम् इत्यादिना दास्यप्रपञ्चः. मनोमयं सख्यं ; नहि ईश्वरेण वस्तुतः सख्यं भवति.

३।२८।३१　वितता भावना तदुपयोगिपदार्थानां विचारार्थम्.

३।२८।३३　सिद्धे भगवति मुख्ये सख्यात्मनिवेदने आह. पूर्णा भगवति नवधा भक्तिः.

३।२८।३५　उपाधिरूपे अन्तःकरणे गते अत्रैव शरीरे जीवः

आत्मानं = भगवन्तम् अव्यवधानं व्यवधायकधर्मरहितं एकं, नतु सजातीयम्.

३।२८।३६ चरमां मनसो वृत्तिम्. एवम् अन्तःस्थितिः सर्वा निरूपिता.

३।२८।३७ बाह्यां निरूपयति. ब्रह्मभावम्.

३।२८।३८ अधिरूढसमाधिः.

३।२८।३९ देहादिव्यतिरिक्तः आत्मा.

३।२८।४० दृष्टान्तः.

३।२८।४१ दार्ष्टान्तिकः.

३।२८।४२ पृथगात्मज्ञानानन्तरम्.

३।२८।४३ ननु एकस्य कथं नानात्वप्रतीतिः ? कथं सुखदुःखाद्युपपत्तिः ?

३।२८।४४ शास्त्रार्थम् उपसंहरति. इदं हि शास्त्रं साङ्ख्यम्.

३।२९।०।का.१-७ वैराग्यम्. वैदिको ब्रह्मपर्यन्तः एकोनत्रिंशदध्याये कालभक्तिः ससाधना, माहात्म्यं चापि कालस्य.

३।२९।३ वैराग्यस्यापि भगवद्धर्मत्वेन भक्तिसाध्यत्वेऽपि अदोषः इति. देवतिर्यङ्मनुष्यादियोनिषु प्राप्त्युपायाः.

३।२९।५ चक्षुरपि प्रयच्छति, तमोपि दूरीकरोति, सुप्तमपि बोधयति. श्रमापनोदं च करोति, कर्मासक्तिं च त्याजयति, मिथ्याभिमानं च दूरीकरोति, आश्रयश्च भवति, शीघ्रं कृतार्थं च करोति.

३।२९।७ मार्गैः मतभेदैः पुरुषस्वभावभेदैः बहुविधो भाव्यते. स्वभावो जीवभेदनिमित्तः.

३।२९।८ तामसभावः तपो वा नतु श्रवणादिरूपः.

३।२९।९ राजसीं त्रिविधाम्.

३।२९।१० सात्त्विकभेदान्. यजेत् = वैदिकतान्त्रिकमार्गेण पूजां कुर्यात्.

३।२९।११ निर्गुणां भक्तिम्. लौकिक-वैदिकप्रतिबन्धान् दूरीकृत्य. प्रेम्णो ज्ञापकम्.

३।२९।१२ आत्यन्तिकभक्तिलक्षणम् अहैतुकी इति सार्धाभ्याम्. पुरुषोत्तमएव भक्तिः, नतु पुरुषेषु अवतारेषु वा. भक्तिश्च प्रेमपूर्विका सेवा. अनिमित्ता वा, अनेन सगुणा निवारिता. कालेन कर्मणा सेवायां व्यवधानं नास्ति, नतु निद्रा-भोजनादिना, तस्य सेवाहेतुत्वात्. लोकवेदप्रसिद्धा अस्ति.

३।२९।१३-१४ सैव आत्यन्तिकी या स्वतो रसभावं प्राप्ता. सैव न अन्यत्फलम् अङ्गीकारयति. दीयमानत्वं स्नेहात्. सैव आनन्दरूपा जाता इति समासाद् बोध्यते.

३।२९।१५ भक्तेः साधनानि. षोडशसाधनानि. धर्मत्रयम् आह— स्मार्तं, श्रौतं, तान्त्रिकम्. श्रौते रुचिः न भवति इति स्मार्तः. तादृशपशुसद्भावे अल्पहिंसा भवति इति. क्रियायोगो अयम् आध्यात्मिकं दोषं दूरीकरोति.

३।२९।१६ स्मार्त-श्रौताभ्यां परिसंशुद्धः तान्त्रिके अभिनिविष्टः पञ्चाङ्गं भगवद्भजनं करोति. दर्शन-चरणस्पर्शन-पूजा-स्तुत्यभिवन्दनैः भगवद्भावना कर्तव्या— भगवानेव एवं जातः, एवम् अवस्थः इति वा. इन्द्रियशुद्धिम् आह.

३।२९।१७ अहिंसादयो यमाः, स्नानादयो नियमाः.

३।२९।२० एकं साधनम्. निरन्तरं सेव्यमानो योगः एकएव सर्वसाधकः.

३।२९।२२ द्वादशानुसारेण वा पुरुषो नारायणः इज्यः.

३।२९।२३ ''यं द्विष्येत् तं ध्यायेद्'' इति श्रुतेः इति. यज्ञार्थं द्वेषो, नतु द्वेषार्थं यज्ञः.

३।२९।२५ सा अर्चा धर्मरूपा. सन्ध्यावन्दनवद् भगवत्पूजापि नित्या ब्राह्मणादीनाम्. अतः स्वकर्मकृत् शालिग्रामादौ मां पूजयेत्. एवं कृमि-कीटादावपि चेद् बुद्धिः तदा कर्मनिवृत्तिः अर्चानिवृत्तिश्च इति.

३।२९।२९ ज्ञानेन्द्रियेषु निकृष्टः स्पर्शः इत्यादि.

३।२९।३२ ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत्.

३।२९।३३ मय्यर्पितात्मनो अकर्तुः समदर्शनाद् अन्यं परम् उत्कृष्टम्. भक्तावपि आत्मसमर्पणं, ज्ञानं साङ्ख्यं ब्रह्मज्ञानं च.
३।२९।३५ भक्तियोगो अष्टाङ्गयोगश्च. ययोः एकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत्. न समुच्चयः शास्त्रार्थः.
३।२९।३६-३७ श्रुतौ हि प्रकारद्वयेन निरूपणम् इत्यादि. सप्रकारः आत्मा, निष्प्रकारं ब्रह्म इति. ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' इति. मतत्रयं वा इत्यादि. कर्म अदृष्टम्. कालः. कालस्य कालत्वम्.
३।२९।३८ यस्तु अधियज्ञः यज्ञाधिष्ठात्री देवता विष्णुः, ''यज्ञो वै विष्णुः'' इति श्रुतेः इत्यादि. अयम् 'अधियज्ञ'पदार्थः.
३।२९।४२ अग्निः ज्वलितो भवति. गिरिभिः सह यद्भीत्या भूरपि न मज्जति.

३।३०।०।का.३ गृहस्थस्य उभयोः महत् लोकयोः उच्यते दुःखम्.
३।३०।२ यद् अयं शोचति अतो धुनोति.
३।३०।३ महतः किम् एतत्कृत्यं? वैराग्यार्थम् एवं करोति.
३।३०।११ गुर्वर्थे देवतार्थे वा स्पृहां कुरुते = चोरयितुं विचारयति. पारलौकिकमहद्दुःखम्.
३।३०।१८ अष्टादशविद्यानाम्.
३।३०।३० इहैव कुटुम्बम् उदरं च त्यक्त्वा.
३।३०।३१ नरकादौ भक्तिः न.

३।३१।०।का.२ कृतिः प्रधानं, न ज्ञानम्.
३।३१।१ प्रथमतः उदरप्रवेशः पश्चाद् रेतःकणाश्रयः इत्यादि.
३।३१।११ प्रेम्णो जातत्वात्.
३।३१।१२ भक्ति-प्रपत्ती कर्तव्ये इति शास्त्रार्थबोधनात्. शरणागमनं पूर्वं जीवब्रह्मविभाजनम्. प्रत्युपकारासामर्थ्यम्.

३।३१।१३ भूतेन्द्रियाशयमयीम् अवलम्ब्य मायाम्.

३।३१।१४ प्रतिमागतो वा विष्णुः गन्धादिभिः पूज्यते. यथा अयम् इन्द्रियादिसम्बद्धः तथा आत्मसम्बद्धोपि.

३।३१।१५ एवं शरणागतिः नमनादिकं भगवद्भक्तकृपयैव.

३।३१।१६ ये केचन जीवभावं प्राप्ताः तेषां दास्यं परमो धर्मः. देहभावं परित्यज्य ब्रह्मभावात् पूर्वं जीवभावः. भजनेनैव भगवान् कृपयति इति.

३।३१।१९ सर्वभावेन सर्वत्र प्रतीतः.

३।३१।२१ उपसादितविष्णुपादः.

३।३१।२३ वायुना अवसृष्टः.

३।३१।२६ स्वेदजाः मशकाः.

३।३१।३२ असल्लक्षणम्.

३।३१।३३ द्वादशगुणाः मोक्षे अन्तरङ्गाः. सत्यादिलक्षणम्.

३।३१।३४ शास्त्रज्ञानरहिताः मूढाः.

३।३१।३७ नारायणः तथाभूतः सः इति एकादशे.

३।३१।४४ देहनिरोधो मरणम्. देहस्य आविर्भावः उत्पत्तिः.

३।३१।४६ दर्शनायोग्यता.

३।३१।४७ त्रयं त्यक्तव्यं — भयं, दैन्यं, सम्भ्रमश्च. उत्तालता सम्भ्रमः. ''अङ्गीकृता ग्लानिः न दोषाय''. दोषातिक्रमं सोढ्वा धीरो भूत्वा बाधकं सङ्गं त्यक्त्वा चरेत्.

३।३१।४८ बहिःस्थितिः उक्ता. अन्तःस्थितिम् आह. तस्या बुद्धेः योगो वैराग्यं च आह. चरेद् = उदासीनो भवेत्.

३।३२।०।का.२ त्रिविधस्यापि धर्मस्य द्वात्रिंशे फलम्.

३।३२।१ तामसधर्मस्य फलम्.

३।३२।२ सर्वत्र अग्निहोत्रादीन् देवेषु पितृषु यः कर्माणि करोति

स राजसः.

३।३२।३ चान्द्रमसं लोकं गत्वा पञ्चाग्निविद्यया इत्यादि.

३।३२।४ यदैव भगवान् शेते गृहमेधिनां लोकाः क्षयं यान्ति.

३।३२।५ धीराः. साधनचतुष्टयम् उक्तं— वैराग्यं न्यासो योगः साङ्ख्यं च.

३।३२।६ दोषत्रयाभावम्. चतुर्थाश्रमधर्माः च तत्र निरताः.

३।३२।७,८ सूर्यद्वारेण पुरुषं प्रकृतेः वरम्. ततोपि पुरुषोत्तमं यान्ति इत्यादि. परचिन्तकाः परः पुरुषोत्तमो भगवान् वा.

३।३२।९ तादृशधर्मयुक्तानां धर्मिप्राप्तिः, अन्येषां प्रकृतावेव लयः.

३।३२।११ भगवद्भजनम् अवश्यं कर्तव्यं भगवदानन्दार्थम्. मन्त्रप्रकारेण भजनं व्यावर्तयति. भगवन्माहात्म्यं श्रुत्वा इत्यादि. भावेन इति स्नेहपूर्वकं भक्त्या.

३।३२।१९ परधर्मत्वं ज्ञात्वा न भजन्ति इत्यादि. प्रतिकूलेन्द्रियदानात्.

३।३२।२० अग्निष्वात्तादयः पितरः. जन्मैव मोक्षः इति श्रुत्यर्थं वक्तुम्. ‘‘प्रजाम् अनु प्रजायन्ते तदु ते मर्त्यामृतम्’’ इति श्रुतेः.

३।३२।२२ परमेष्ठिनं सर्वभावेन भगवन्तं भजस्व. पुरुषोत्तमम्. भक्त्यैव.

३।३२।२३ ज्ञानमेव हरिः परः. वैराग्यस्यापि माहात्म्यम्.

३।३२।२४ विप्रियं प्रियम् इति रागकृतमेव इति उक्तम्.

३।३२।२६ किन्तु मायावादिनामिव मतं सेत्स्यति इत्यादि. ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म. ब्रह्मविचारः. भावाः तु पृथक्.

३।३२।२७ सर्वशास्त्राणां फलं वैराग्यम्.

३।३२।२८ लौकिकवैदिकव्यवहारो बोधएव. इति अन्यख्यातिः.

३।३२।२९ वस्तुतो अन्यधर्मत्वेन ज्ञानमेव तत्तच्छब्दवाच्यम्.

३।३२।३१ सप्तविधोपि सिद्धान्तः. सप्तविधं ज्ञानशास्त्रं भक्तिशास्त्रं च अपरं, तस्य च बहवो भेदाः उक्ताः. सहि क्रियाप्रधानः. यथा पुरुषस्य स्वरूपं गुणाः कर्माणि च. तत्र स्वरूपप्रतिपादकं शास्त्रं

षड्. अन्यानि गुणप्रतिपादकानि. क्रियाप्रतिपादकं च भक्तिशास्त्रम्. तेषां भिन्नान्येव सर्वेषां फलानि.

३।३२।३२ तत्र स्वरूपमुख्यभक्तिशास्त्रयोः एकं फलम्. भक्त्यापि प्राप्यते धर्मी मुख्येनापि ज्ञानेन.

३।३२।३३ ननु एको भगवान् ; कथम् अनेकानि शास्त्राणि ?

३।३२।३४ सर्वैः साधनैः एकएव प्राप्यः इति. क्रतुभिः दानैः तपोमीमांसासंन्यासैः.

३।३२।३५ योगेन भक्तियोगेन. वैराग्य-रागोपाधिभेदभिन्नेन धर्मेण.

३।३२।३७ साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः, तत्त्ववादिनः, रामानुजाश्च तमो-रज-सत्त्वैः भिन्नाः. अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः.

३।३३।०।का.१ एवम् अष्टभिः अध्यायैः मताष्टकम् उदीरितं, सर्वेषां तु फलं मुक्तिः अतः सा अत्र निरूप्यते.

३।३३।१ सर्वसिद्धान्तरहस्यं वचः इति.

३।३३।२ अन्तःसलिले सलिलमध्ये.

३।३३।३ प्रवाहेण अन्योन्यमेलनपरम्परया सृष्ट्यादौ करणेन. ब्रह्मादि-रूपेषु उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपं चिन्तमण्यादिवत् कर्तृत्वम्. अनीहः अतर्क्यसहस्रशक्तिः.

३।३३।४ यस्य उदरे एतद् आसीद् विश्वं युगान्ते वटपत्रः एकः शेते स्म. ''बीजं मां सर्वभूतानाम्'' इति गीता.

३।३३।५ शूकरादयः क्रियावताराः, तद्व्यतिरेकेण क्रिया न उपपद्यते इति. तथा एवम् अवतारव्यतिरेकेण ज्ञानमपि न सम्भवति इति. अस्य अवतारस्य प्रयोजनद्वयं— सद्रक्षा, अधर्मनाशः.

३।३३।६ रूपस्य आश्चर्यद्वयं प्रतिपाद्य नाम्नः आश्चर्यद्वयम्. स्मरणस्य तु इत्यादिना स्मरणाख्यानम्. पूर्वं महर्षित्वभावनां कृत्वा पश्चाद् रामस्मरणेन तस्मिन्नेव जन्मनि वाल्मीकिः जातः. सवनाय सोमातिषवयोग्यत्वाय.

३।३३।८ अन्तर्मुखे चित्ते सम्यग् विभाव्यो भवान्, ''कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद्'' इति श्रुतेः. वेदार्थरूपं वा. तवैव निःश्वसिताः वेदाः.

३।३३।९ अयं च प्रसादो न मर्यादाकृतः किन्तु पुष्टिकृतः इत्याह मातृवत्सलः इति.

३।३३।१० प्रसादमार्ग-माहात्म्ये. मार्गेण अनेन मातः ते सुसेव्येन उदितेन मे.

३।३३।११ माम् अभयम् इति स्वयं फलम्.

३।३३।१३ सः मार्गः सिद्धः. अनेन यमाः उक्ताः.

३।३३।१४ नियमान् आह. तपः साङ्गं च इति आह.

३।३३।१५ तस्याः वैराग्यम्.

३।३३।१६ शय्यादिवर्णनम्. आसनानि हैमानि. चकाराद् भाण्डान्यपि. नानाविधानि आभरणानि वस्त्राणि च. परिकराणि द्विविधानि— भाण्डमयानि, वस्त्रमयानि च.

३।३३।१८ उद्यानस्य उद्दीपनविभावत्वाय च इति.

३।३३।२० भगवत्त्वेन पुत्रत्वेन च स्नेहः स्थितः इति अविहितभक्ति-कृत्यार्थम्.

३।३३।२४ चिन्तनेन जातं क्रमम् आह. आदौ भक्तिप्रवाहः इत्याह.

३।३३।२५ सर्वत्र विद्यमानः सर्वतोमुखः.

३।३३।२७ नित्यारूढसमाधिः.

३।३३।३२ जलमेव हि घनीभूतं मृद् भवति. यथा वा सैन्धवः, योगीश्वरो वा. सोमो अमृतमयः. नवम्याः सोमकलायाः पाता यमः.

३।३३।३३ प्राग् उदीचीम्. एषा वै देव-मनुष्याणां शान्ता दिक्.

३।३३।३४ सिद्धादिभिः स्तूयमानः समुद्रेण दत्ते अर्हणनिकेतने यस्य.

३।३३।३७ सुपर्णः कालः. तत्स्थितः सर्वशास्त्रार्थाः.

तृतीयस्कन्धविवृतिः श्रीकृष्णचरणाम्बुजे ॥
निवेदिताऽतियत्नेन सर्वसिद्धान्तगुंफिता ॥१॥

(अप्रकाशितः. श्रीगट्टूलालाजी लाईब्रेरीतः प्राप्तः).

॥ द्वितीयं परिशिष्टम् ॥

आद्यसम्पादकोंकी प्रस्तावनाएँ

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीसुबोधिनी ।

श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणविरचिता ।

द्वितीयस्कन्धः ।

श्रीश्रीमदाचार्य्यचरणान्ववायसुधानिधितत्प्रधानपीठाधिष्ठितगोस्वामितिलकश्रीमद्गोवर्धनलालजी-

महाराजपादानामाज्ञया श्रीश्रीमदाचार्य्यचरणकुलकौस्तुभश्रीमद्गोकुलनाथ-

गोस्वामिचरणमहामहोदयानां प्रबन्धमहिम्ना च

तत्कृपाकटाक्षितेन

भट्टश्रीबलभद्रशर्म्म—

कविकाव्यरत्नाकरकविचूडामणिशुद्धाद्वैतभूषणकविरत्न-

महामहोपदेशकविद्यालंकारवेदान्तविद्यानिधिना

संशोधितः ।

मोहमय्यां

निर्णयसागरे सम्मुद्र्य

शुद्धाद्वैतसिद्धान्तकार्य्यालयात्

प्रकाशितः ।

संवत् १९७६, सन १९२०.

निर्मञ्छनं २ रूपकद्वयम् ।

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the 'Nirnaya-Sagar' press,
23, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Bhatt Balbhadra Sharma Shuddhadwaitasiddhanta
Karyalaya, Badamandir, Bhuleshwar, Bombay.

विज्ञप्तिः ।

व्यजिज्ञपमेतत्प्रथमस्कन्धे यत्प्रस्तावनादिपदवाच्यस्याऽऽवेदनस्य प्रकाशकसमयप्राप्तत्वेऽप्यावश्यकत्वेऽपि समस्तायाः **श्रीसुबोधिन्याः** प्रकाशनसौभाग्यलाभे तदुपहरिष्याम इति ।

विशेषस्तु— प्रबलतमेनोदरामयेन क्षणमप्यलब्धसौस्थ्येन चिरस्य विस्मृता इव सर्वेऽपि व्यापारा इति द्वितीयस्कन्धप्रकाशेऽपि महदेव विलम्बितं जनेनाऽनेन । अधुना तु विलम्बासहिष्णूनां साम्प्रदायिकानां विक्षोभमिव बुद्ध्वाऽऽमयाविना च तत्संशोधनादिसमस्तव्यापाराणामेकाकिनाऽशक्यानुष्ठानत्वे सकृत्स्वयं ग्रन्थं संशोध्य वर्णग्रथकैः कृतानां तत्प्रत्याम्नायानां शोधने, -कर्मण्यस्मिन् परिनिष्ठितान् पणशीकरोपाह्वाञ्छ्रीवासुदेवशास्त्रिमहाभागानवालम्बिषि ।

स्कन्धश्चायं चतुर्भिः पुस्तकैः शोधितः । तत्र कखगसञ्ज्ञं त्रयं श्रीमद्बालकृष्णशुद्धाद्वैतपुस्तकालयस्थम् । अन्यच्छ्रीवृन्दावनमुद्रितम् ।

प्रश्रितः —

भट्टश्रीबलभद्रशर्म्मा,

क० का० क० शु० क० भ० वि०

वेदान्तविद्यानिधिः ।

विजयते श्रीबालकृष्णः ।

श्रीमद्भागवतद्वितीयस्कन्ध-
श्रीसुबोधिनीप्रकाशः ।

दशदिगन्तविजयिभिः श्रीमद्गोस्वामिश्रीपीताम्बरात्मज-
श्रीदश्रीपुरुषोत्तमचरणैः प्रणीतः ।

सर्वप्रबन्धं विधाय प्रकाशकाः ।
विद्वद्रत्नगो.श्रीदश्रीव्रजरत्नलालजीमहाराजचरणाः ।

श्रीबालकृष्णशुद्धाद्वैत	संशोधकोयं
महासभा-मन्त्री	श्रीमद्वल्लभपादपद्मपरागलिप्सुः
सुरत.	चीमनलालशास्त्री.
मोटा मंदिर	''साहित्यभूषण'' 'शुद्धाद्वैतरत्ने'ति

न्यो. २-८-०

सोयं ग्रन्थः मुंबईगुजरातीमुद्रणालये तथा गोविन्दजीडाह्याभाइनायकस्य सुरत-अनाविलबन्ध्वाख्य-मुद्रणालये (बुरानपुरीभागळ, भाजीवाळीपोलेत्यत्र) संमुद्र्य सुरतनगरे बडामंदिरतः चीमनलालहरिशङ्करशास्त्रिणा प्रकाशितः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

प्रास्ताविकम् ।

अथ खलु भगवान् बादरायणः वेदगीतासूत्रोद्धृतसकलसन्देहहरणक्षमं चतुर्थं प्रस्थानं श्रीमद्भागवतं महापुराणमाविश्चकार. लीलाक्षीराब्धिशायिनो भगवतः स्वरूपेप्सूनां भागवतानामर्थे भागवतादृते नान्यज्जागर्ति साधनम् । सर्गविसर्गादिदशविधलीलानां भगवत्त्वं सुविस्तरेणास्मिन्नेव द्वितीयस्कन्धे तद्विवरणे तट्टीकायाञ्च प्रतिपादनात् निरोधमुक्त्याश्रयफलमनेनैव कल्पतरुणा सम्भवति इति सर्वमतसमञ्जसम् । परं अनेकेषां तद्धार्दलिप्सूनां टीकाकृतां मध्ये कस्मै वाचा प्रसादो वितरितः ? इति तन्मर्मज्ञैर्विदितचरम् । यत् ''उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्'' इत्यत्र यथा जाया स्वतनुं पत्ये एव प्रकटयति एवं वागपि कस्मैचिदेव स्वार्थं प्रकटयतीति श्रावणात् वह्नावेव पतित्वं वाच इति वागधीशाचार्यवर्येष्वेव वाचः पक्षपातः सिद्धो वैश्वानरावतारादित्यलं सूर्यप्रदर्शनप्रौढ्या । तदपि गूढार्थप्रकटनकार्यलिङ्गानुमेयं वागधीशत्वं त्वध्यक्षसिद्ध-मेवैतत् । यत् तल्लीलावलोकनपटुभिः श्रीवल्लभप्रभुभिस्तत्तद्दशविधलीलानां अवान्तरलीलानाञ्च स्वारस्यं भगवतस्तत्तत्स्वरूपेषु विन्यासपूर्वकं यथा समुपदिष्टम्, तद्वदवगन्तुं विवरितुं च नान्ये प्राभवन् इति । सर्वमपि कार्यजातं श्रीमद्गोपीजनवल्लभाज्ञयैव श्रीवल्लभा आचरन्ति स्म इति वारं वारं महानुभावैरनुभूतम् । एवमेव सुबोधिनीविवरणप्रसङ्गे वृत्तम् । व्यासस्य विष्णोः प्रियं भागवतार्थं विवेचितुं भगवदाज्ञयैव मानुषतनुं विधाय प्रवृत्ताः, पश्चाल्लीलासाक्षिकस्वरूपस्य विप्रयोगमसहिष्णुर्भगवान् अतिगूढार्थोद्घाटनरूपाया वृद्धेस्त्यागगर्भितामाज्ञां कृतवान् । अत एव द्वादशस्कन्धेषु प्रथमद्वितीयतृतीय-दशमस्कन्धानाम् एकादशस्य चतुर्णामध्यायानां पञ्चमाध्यायस्य कतिपयश्लोकानां च विवरणेन भागवतं समलङ्कृत्य अन्यदजहुः । एतावदेव युक्तम् उत्पश्यामः । श्रोतव्य इति विधिगर्भितावश्यकतायाः सार्थक्यार्थं सप्तधा भागवतस्यार्थो ज्ञातव्य इत्यतः ''अर्थत्रयं तु वक्ष्यामि निबन्धेऽस्ति चतुष्टयम्'' इति प्रतिज्ञाय शास्त्रस्कन्धप्रकरणाध्यायानां चतुष्टयं निबन्धे, भागवते च वाक्यपदाक्षरीयाणाम-र्थानां त्रयं सोपपत्तिकमुपदिष्टम् । तावता कृपाभाजनभक्तानां कृतार्थता भवत्येव ।

द्वितीयस्कन्धविवरणस्य चतस्रष्टीकाश्चत्वारो गोस्वामिचरणा रचयामासुः, श्रीपुरुषोत्तमाः श्रीचाचागोपीशाः श्रीवल्लभाः श्रीगोकुलोत्सवाश्चेति श्रुतम् । तासु श्रीपुरुषोत्तमचरणानां विवरणावरणरूपाऽज्ञानतिमिरतिरोधायिका प्रकाशाभिधाना टीका प्रथमं प्रकाश्यते । तत्रेयं स्कन्धपरम्परा सिद्ध्यति । अधिकारिणां साधनानि, (प्रथमस्कन्धे) । साधनयुक्तानां श्रवणम्, (द्वितीयस्कन्धे) । तत्रादौ सर्गलीला (तृतीयस्कन्धे) । सृष्टानां धर्मादिपुरुषार्थसाधनम् (चतुर्थस्कन्धे) । सिद्धपुरुषार्थानां तत्तन्मर्यादया संस्थापनम् (पञ्चमस्कन्धे) । ततस्तन्मध्ये केषाञ्चिदनुग्रहः (षष्ठस्कन्धे) । पुष्टौ प्राप्तस्य वैषम्यदोषस्य निवृत्त्यर्थं वासनाः (सप्तमस्कन्धे) । ततो वासनानिवृत्त्यर्थं सद्धर्माः (अष्टमस्कन्धे) । ततो निवृत्तदोषाणां भक्तिः (नवमस्कन्धे) । ततो भक्तानामासक्तिः (दशमस्कन्धे) । आसक्तानां स्वरूपेण व्यवस्थितिः (एकादशस्कन्धे) । तथा व्यवस्थितानां भगवदाश्रयः (द्वादशस्कन्धे) इति कार्यकारणरूपां सङ्गतिं बोधयितुं पुराविदां वर्तन्ते वचनानि । अत एव द्वितीयस्कन्धे ''श्रोतुर्वक्तुश्च लक्ष्माद्ये द्वितीये त्वङ्गनिर्णयः'' इति वाक्यात् श्रोतुर्वक्तुश्चाङ्गानि निर्णेतव्यानीति सिद्धम् । ''अधिकारी साधनानि'' इत्यनेन प्रतिपाद्यमानानि द्वितीयोक्तसाधनानि दशधा विभज्यन्ते । तत्प्राप्तकालं मत्वा इहैव तन्यते ।

(द्वितीयस्कन्धे)   साधनम् ।

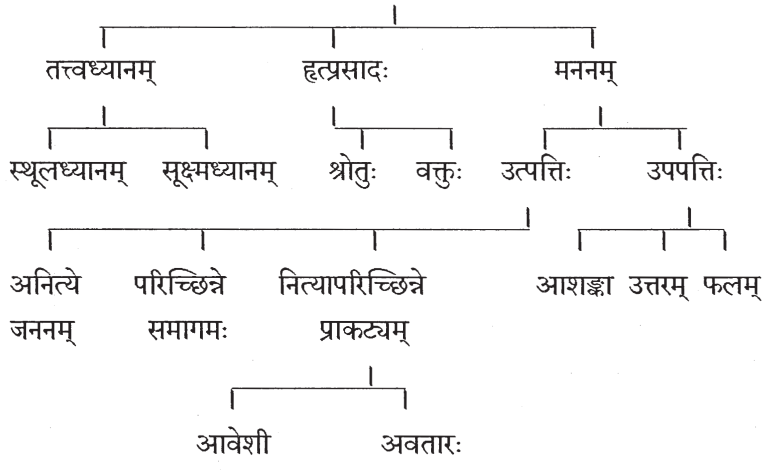

प्रथमस्कन्धप्रकाशं गोस्वामिश्रीविद्वद्रत्नव्रजरत्नलालजीमहाराजचरणैर्मोहमय्यां भगवदीयश्रीयुततेलीवालाकृतसंशोधनेन मुद्रयित्वा प्रथमविवरणार्थावगतौ सौकर्यं वितरितम् । एवं द्वितीयप्रकाशस्तैस्तेलीवालाकोविदैरारब्धोपि भगवदिच्छाभावात् ''एकफोर्म''-मात्रं संशोध्य ते नित्यलीलामविशन् । तत एतेषां सुहृद्भिरेवं श्रीयुतमग्नलालशास्त्रिभिश्चाग्रिमकार्यार्थं सूचितोहं श्रीमद्व्रजरत्नलालजीमहाराजचरणानां निर्देशेन प्रबन्धबलेन तदर्पितसौकर्येण च मोहमय्यामेव मणिलालस्य ''गुजराती''-मुद्रणालये तं प्रारब्धवान् । परं अष्टमाध्यायपर्यन्तं सम्पन्ने मुद्रणे ऋणानपाकरणात् मुद्रणयन्त्रादिकं राजपुरुषैरवरुद्धम् । तेन सहाष्टमाध्यायपर्यन्तो मुद्रितप्रकाशोपि निरुद्धोऽधिकारिभिः । कार्यारम्भे पञ्चशतमुद्रा याः प्रदत्ताः, तास्ववशिष्टास्तास्तासामपि निर्णयो नाद्यावधि उद्घोषितः । तथापि मुद्रितविभागपत्राणि तु परमभगवदीयश्रीयुतवाडिलाल''वकीलमहाशयै''र्महायासेन राजद्वारात् मुञ्चयित्वात्र प्रापितानि इति महानुपकारस्तेषाम् । ततो मया राजनगरे 'उत्कृष्ट'मुद्रणालये नवमाध्यायस्य प्रारम्भो विहितः । तत्रापि सौराष्ट्रादिदेशान्तरप्रयाणवशात् विलम्बायितमेव । विषादयित्र्या चिरकालतया जातनिर्वेदोप्यहं कथङ्कारं मनः समाधाय कार्यं कर्तव्यमेवेति निश्चित्य अत्रैव अनाविलबन्ध्वाख्ये नूतनसीसकाक्षराणि आनीयाङ्कितौ उपान्त्यान्त्याध्यायौ । एवं अनेकप्रत्यूहाहतोपि श्रीबालकृष्णप्रभुचरणकृपया विघ्नार्णवं उत्तीर्य प्रकटीकृतोसौ प्रकाशः निगमरसभरितभागवतरसिकानां सुबोधिन्यर्थबुभुत्सावतां करकमलेषु समर्प्यते ।

अस्मिन् श्रीसुबोधिनीप्रकाशे प्रहस्तवादप्रस्थानरत्नाकरभाष्यप्रकाशादीनां नृसिंहोत्तरतापनीयव्याख्यान-प्रतिबिम्बवाद-प्रपञ्चभेदवाद- ममोत्तमविवरणटिप्पण्यन्धकारवादादीनाञ्च नाम्नामुल्लेखात् सर्वेभ्योनन्तरमस्य निर्माणं श्रीपुरुषोत्तमचरणैः कृतं स्यादित्यनुमीयते । श्रीपुरुषोत्तमचरणा अपि ह्यैतिह्यानुरूपमाज्ञापयन्ति स्म । ''एतेन सुबोधिनीतः पूर्वं निबन्धमूलं कृतमिति ज्ञायते, निबन्धटीका तु सुबोधिन्यादिसर्वग्रन्थकरणोत्तरं'', ''त्रयं वच्मि यथामति'' इत्यस्य व्याख्याने ''मीमांसाद्वयभाष्यं भागवतटीका च परिगृहीतेति चकाराज्ज्ञायत'' इति नवमाध्यायविवरणप्रकाशे आदिक्षन् ।

अस्य मुद्रणव्ययार्थं श्रीमद्गोस्वामिविद्याविलासिभिः श्रीव्रजरत्नलालजी-

महाराजचरणैश्चि.द्वितीयसूनूनां श्रीमधुसूदनमहोदयानामुपनयनप्रस्तावप्रसङ्गे वागधीशवाङ्मयसेवानुरूपं द्वितीयप्रकाशस्य प्रकाशनं कारयितव्यमिति सङ्कल्पितमासीत् । अतः पञ्चशतमुद्राणां वितरणं श्रीमद्भिः कृतम् । पाटणस्थेन उजमसीभाइनाम्ना श्रेष्ठिना सार्धद्विशतञ्च समर्पितम् । अपरञ्च श्रीयुतानां ''ईश्वरलाल मग्नलाल शाह'' गुर्जरमुख्याध्यापकप्रभुदासभाइ भगवदीयरतिलालेतिसुहृदां संवादनकर्मणि साहाय्यमविस्मृतमेव । तेषां आयासः स्मरणपथो नापगच्छति ।

अपरञ्च संशोधनकर्मणि शुद्धपुस्तकानामलाभे महन्निर्व्यथनमुपजायते इति तद्वाचका जानन्त्येव । तथापि यावद्बुद्धिबलोदयं सूक्ष्मेक्षिकया चतुर्भिर्ग्रन्थैः संवाद्यैव (प्रेसकॉपी) पत्राणि संशुध्य मुद्रणे योजितानि । नवमाध्यायतस्तु कतिपयश्लोकानन्तरमेव यावदन्तं अतीव शुद्धं कङ्करवल्लीतः श्रीद्वारकाधीशपुस्तकालयादधिगतं तेन साकं संवाद्य ततस्तत्प्रत्यर्पितम् । अपरं पण्डितप्रकाण्डैर्बालशास्त्रिभिः नूत्नं पुस्तकं प्रदत्तं प्रायोऽशुद्धं तदासीत् । तृतीयं काशीतः परमभगवदीयगृहादेकं शुद्धं पूर्वमहमानीतवान् । एतेनैव शङ्काग्रस्तं पदं समाहितम् । परं द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्याः एकं केनापि वाचितं प्राचीनतमं शुद्धतरं मन्निकटे विराजते, तस्मिन् कतिपयस्थलेषु प्रकाशटीकायाः पद्यानि उट्टङ्कितानि, तैः पद्यैः साकमादृतप्रकाशवाक्यानां संवादने भूयान् पाठभेदः आयात्येव अत एव न तानि पद्यानि निवेशितानि ।

एवं श्रीमदाचार्यचरणकृपया द्वितीयस्कन्धप्रकाशस्य प्रकाशनं विधाय तेषामेव चरणकमलेषु समर्प्यते, तत् सुबोधिनीसुबोधाय उपयोक्ष्यन्ते लीलास्वादनपटुभिः सुधीभिः इति अलं पल्लवितेन ।

सुरत बडामंदिर — निगमरसभरितभागवतरसिकवशंवदः
चीमनशास्त्री
कार्तिकशुक्ला १५ सं. १९८८ — साहित्यभूषण-शुद्धाद्वैतरत्नेति

॥ तृतीयं परिशिष्टम् ॥

॥ सूचयः ॥

॥ *श्रीमदाचार्यवाङ्मुक्तिकानि* ॥

१. बुद्धिश्चायुश्च दोषाणामभावः कारणं यतः । यस्य नैते भविष्यन्ति तस्य नास्त्यधिकारिता ॥

२. भगवान् दशविधलीलायुक्तः श्रोतव्यः.

३. त्रयाणां (श्रवण-कीर्तन-स्मरणानां) देहपातपर्यन्तम् आवृत्तानामेव अभयसाधकत्वम्. उत्तरावधिः देहपातः एव, पूर्वावधिः संसारभयज्ञानम्.

४. महाफलत्वात् स्मरणस्य सर्वदा भगवान् स्मर्तव्यः.

५. तस्माद् "यः कश्चन भगवत्स्वरूपात्मको रसो निरतिशयत्वेऽपि सातिशयः स्वाभिव्यक्त्या भोक्तव्यः" इति येषाम् इच्छा तैः लीला श्रोतव्या.

६. यथा साकाङ्क्षस्य अधिकारिणो रसाभिव्यक्तिः तथा जीवनेयत्तापरिज्ञानरहितस्य अनधिकारिणो न अभिव्यक्तिः.

७. सर्वावयवे मनसः स्थापनं धारणा, एकावयवे मनोधारणं ध्यानम् इति भेदः.

८. ब्रह्मभावः कश्चिद् धर्मः यस्मिन् विद्यमाने 'ब्राह्मण'शब्दवाच्यो भवति पुरुषः ब्राह्मण्यापरनाम. ब्राह्मण्यं काचिद् देवता ; सा यस्मिन्नेव देहे अभिव्यक्ता भवति ते 'ब्राह्मणाः' इति उच्यन्ते. अतएव शापादिना शूद्रत्वं चाण्डालत्वम्, अनुग्रहेण ब्रह्मत्वम् इति. सा च उपनयनेन देहे समायाति तदा बहूनि वाक्यानि संगच्छन्ते. एवं क्षत्रम्. अतएव परशुरामे उभयनिवेशः.

९. स्वस्य हि परिमितः प्रयत्नः. स भगवत्सेवार्थं स्थापितो न अन्यत्र विनियोगम् अर्हति.

१०. सेवकस्य अधिकारिविशेषणभूत-धर्मद्वयम् आह 'तं निवृत्तो नियतार्थः' इति. एकम् अन्यनिवृत्त्यर्थम्, एकं च भगवति दार्ढ्यार्थम्. इमौ च धर्मौ आवश्यकौ, अन्यथा सर्वप्रकारेण सेवितोऽपि न पुरुषार्थो भवति. सर्वतो निवृत्तः, अन्यथा ब्रह्मास्त्रन्यायो भवेत्. नियतो भगवति एव अर्थः पुरुषार्थो यस्य, भगवान् वा, अन्यथा संशयात्मा विनश्यति.

११. यथा भगवद्भजने भगवदीयाः षड्गुणाः स्वस्मिन् संक्रमन्ते तथा देहादिभजने

तद्गताः षड्दोषाः संक्रमन्ते— उत्पत्तिः, नाशो, दुःखं, कर्माणि, परितापो, हीनत्वं च.

१२. सर्वाणि एव साधनानि साधनद्वये प्रविशन्ति— भगवद्भक्त..सङ्गसाधकत्वेन, भगवति रतिसाधकत्वेन च. एतावान् अर्थः चेत् सिद्धः तदा न अन्यकामना कर्तव्या... हरिकथासु रतिः तयोः साधिका— कथारतिषु सक्तस्य कथका अपि मिलन्ति, प्रेमापि भवति.

१३. वर्षमध्ये एकोऽपि क्षणः उत्तमश्लोकवार्तया स्वार्थं भगवदर्थं वा नीतः चेत् स्वकार्यं वार्तयैव कृतम् इति शिष्टमपि सैव हरिष्यति इति स्वयं (सूर्यः सर्वायुर्हारकः) न हरति.

१४. यस्य हि गृहे भगवदागमनं सम्भावितं तत्र हि मार्जन-निषेचनाद्यलङ्कारा भवन्ति. यत्र तु सम्भावनैव नास्ति चाण्डालगृहवत् तत्र विक्रिया न उत्पद्यते... यदा विकारो अन्तःकरणे भवेत् तदा द्वयं ज्ञापकं भवेत्— नेत्रजलं रोमाञ्चश्च. विकारो हि भगवदीयत्वेन परिणामः. तदा तदीयानां वैष्णवत्वम्. तत्र रोम्णां वृक्षत्वाद् उन्नतिः वैष्णवत्वाद् युक्ता, रसस्य अन्तःपूरणाद् वा. नेत्रं च कमलं भवति सजलम्, अन्यथा स्वस्थानच्युतं केवलं शुष्कम्.

१५. गुरु-वेदादिभिः एव तज्ज्ञानम् (भगवज्ज्ञानम्).

१६. भगवतो अवतारस्य सतां दुःखदूरीकरणमेव प्रयोजनम्.

१७. भगवानेव प्रसादं प्रार्थनीयो, न अन्यः न अन्यतोऽपि.

१८. पतिः प्रार्थनीयः इति अविवादं, क्रुध्यतु मा वा. तद् येषां पतिः तैः प्रार्थनीयः... प्रथमं भगवान् लक्ष्मीपतिः ; ततो लक्ष्म्यंशैः स्त्रीभिः प्रार्थितो न क्रुध्यति. अनेन स्नेहमार्गानुवर्तिभिः अन्यैः अपि प्रार्थितो न क्रुध्यति.

१९. अनृतं नाम अन्यथा ज्ञात्वा अन्यथा वचनं, नतु अज्ञानात्.

२०. भगवतो ज्ञानरूपस्य वशवर्तिनी काचिच्छक्तिः माया इति. सा जगत्कर्तुः मायातो भिन्ना. एतस्या व्यामोहः एव फलं, तस्यास्तु जगतः करणत्वं कर्तृत्वं वा भगवदाज्ञया.

२१. सा (माया) हि भगवतो भार्या स्वस्य भगवता सह निरन्तर-रमणार्थम् अन्येषां बुद्धिं मोहयति. तस्याः तथात्वं भगवान् जानाति अतो विलज्जमाना ईक्षापथेऽपि स्थातुं विलज्जते. अतएव ये तत्सन्मुखाः तान् न व्यामोहयति ;

पृष्ठतः प्रवृत्तान् एव व्यामोहयति.

२२. स (भगवान्) हि सर्वं करोति कूटस्थ एव, न विक्रियते. यथा कामधेनुः कल्पवृक्षः चिन्तामणिः वा, योगी वा यथा मनसा सृजति. आत्मसृष्टेः न वैषम्यादि.

२३. यथा ऊर्णनाभिः सृष्ट्यर्थम् एकाम् ऊर्णाम् उद्वमते तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रिगुणान् उद्वमते... सद्रूपेण निर्गतं 'सत्त्वम्' इति उच्यते. केवलचिद्रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानत्वाद् सदानन्दाभावात् च 'रजः' इति उच्यते. आनन्दांशात् च 'तमः'. ते भगवद्रूपाः एव भगवता सृष्टाः. नच भगवति ते पूर्वं स्थिताः. तथा सति भगवदात्मकाः ते न भवेयुः. यथा कार्पासे न हि सूत्रं, तदेव हि पश्चात् स्वावयवैः पौर्वापर्यम् आपद्यमानं सूत्रताम् आपद्यते. अतएव भगवान् निर्गुणः.

२४. तेषामपि ग्रहणं मायया. एषा हि माया जगत्कर्त्री, नतु व्यामोहिका... सा हि तच्छक्तिः सर्वरूप-भगवत्सम्बन्धात् सर्वप्रतिकृतिरूपा. सा जगत्करणे करणरूपा, अतः करणांशस्य तदीयत्वात् करणरूपेणैव निर्गता गुणा इति माययैव गृहीताः. ते मायावशे तिष्ठन्ति तत्पुत्रा इव.

२५. सर्वेषामेव पावित्र्यं भगवत्त्वगिन्द्रिये वर्तते. लोके हि जलात् शुद्धिः भवति, तद् अत्र भगवतः प्रस्वेदरूपम्.

२६. विरुद्धोभयधर्माश्रयत्वाद् भगवतो महिमा. नहि विरुद्धधर्माभ्यां स्वाश्रयभेदः कर्तुं शक्यते, एकस्मिन्नेव आश्रये उभयोः जातत्वात्. किन्तु धर्माणां परस्परविरोधो लोकवत् कार्यं कर्तुम् असमर्थः स्वाश्रयस्य महिमानं बोधयति. सर्वत्र समर्थः तत्र चेद् असमर्थः तदा तस्मिन् कश्चित् महिमा वर्तते येन प्रतिबद्धः स्वकार्यं कर्तुं न शक्नोति इति सिद्धम्. तस्माद् एष एव महिमा यद् विरुद्धधर्माश्रयत्वम्.

२७. चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयं, ततः प्रेमसंवलितं चित्तं सर्वत्र विद्यमानं भगवन्तं विषयीकरिष्यति. यथा रसनेन्द्रियसहिता जिह्वा द्रव्येषु विद्यमानान् रसान् स्वयमेव गृह्णाति, नतु तद्रसज्ञानं पूर्वम् अपेक्षते, तथा भक्त्याविष्टं चित्तं स्वयमेव भगवन्तं गृह्णाति. प्रतिनियतेन्द्रियवद् भगवद्व्यक्तिः.

२८. "भगवज्ज्ञाने प्रथमं वेदाः प्रमाणं, साधनं तपः, प्रमाणाभिज्ञानं मनन-निदिध्यासनरूपम्, अन्तरङ्गं साधनं योगः, तत्फलं चित्तैकाग्र्यं, तस्मिन्

जाते उत्तमाधिकारिणो भगवत्साक्षात्कारो भवति'' इति न मन्तव्यम्... तस्माद् भक्त्यैव वशो भवति ज्ञातश्च, न अन्यथा इति निश्चयः.

२९. अतः चरणनमनमेव कर्तव्यं, तेनैव अर्थसिद्धिः. नतु भगवान् भगवद्गुणाः वा इदमित्थतया ज्ञातुं शक्याः.

३०. यद्यपि (भगवान्) सर्वप्रमाणातीतः तथापि सर्वत्र प्रसिद्धः. तत्र च नमनमेव कर्तव्यं न अन्यद् इति. नमनं च ''यादृशोऽसि हरे कृष्ण तादृशाय नमो नम'' इति.

३१. कामक्रोधकृताः पदार्थाः न भगवन्मुखं प्रविशन्ति, न प्रसादहेतवो भवन्ति.

३२. यज्ञोपयोगिवेदाः हयग्रीवेण उद्धृताः, सर्वोपयोगिनस्तु मत्स्येन इति विशेषः.

३३. कौस्तुभं यद् भगवान् कण्ठे बिभर्ति तद् दैत्यानां वधार्थे भक्तजनोद्धारार्थे. सर्वे हि भगवदीया जीवाः कौस्तुभरूपम्... अतो भगवान् तान् चेद् हृदये न स्थापयेत् तदा मृत्युसाधनैः कर्मभिः मृत्युग्रस्ता एव भवेयुः. अतो मृत्युगजनिवारको नृसिंहः प्रह्लादरक्षकः तत्प्रतिपक्ष-हिरण्यकशिपुघाती.

३४. अनन्तगुणं हि पात्रे दत्तं भवति.

३५. देवेषु सत्यं दैत्येषु च अनृतं प्रतिष्ठितम्.

३६. ब्रह्मस्वरूपज्ञानं ब्रह्ममीमांसायां निरूपितं— निर्धर्मकः सर्वधर्मादिरूपेण स्वयमेव आविर्भवति इति.

३७. भगवद्भक्ताः भगवत्पराः कर्म वा योगं वा ज्ञानानि वा न मन्यन्ते एव इति तदर्थं भगवता एतानि उक्तानि. अतः परं भगवदुक्तानि इति परमश्रद्धया तेषु प्रवर्तन्ते, मार्गगताश्च भवन्ति, कृतार्थाश्च. अन्यथा उत्पथा उन्मादाश्च भवेयुः, भक्तेः मादकत्वात्. एतदर्थं भगवान् भक्तिसाधकानि उक्तवान्.

३८. भगवान् पूर्णः एव रघुनाथः अवतीर्णः.

३९. ईक्षणं पुष्टिः ; भगवदीक्षिता एव हि पुष्टा भवन्ति.

४०. यत्र हि कार्यं तत्र साधनम् अवश्यं भावि. यत्र पुनः साधनव्यतिरेकेणैव साध्यम् उत्पद्यते तत् परब्रह्मस्वरूपम् इत्येव अवगन्तव्यं, सर्वभवनसमर्थरूपत्वात् तस्य.

४१. उलूकस्य भार्या उलूकिका, उलूकदुहिता वा, उलूकरूपैव वा. सा

हि दिवा भीतरूपा भवति, सन्मार्गविमुखा प्रतिपक्षा च. अनेन प्रमाणबलं तस्या मुक्तौ निवारितम्. तस्याः जीवानां हरणं स्वस्मिन् लयप्रापणम्. हृतं हि स्वस्मिन् आनीयते. "इहैव समवनीयन्ते प्राणाः" इति मुक्तिश्च एषा. तस्मात् प्रमेयबलेन सा मुक्ता इति मन्तव्यम्. प्रमेयं च शुद्धं परब्रह्म न केनापि अंशेन न्यूनं ; तथा सति तादृशस्य मुक्तिदानसमर्थत्वं न सम्भवति. अतः साधनव्यतिरेकेणैव साध्यकरणात् मुक्तिदानात् च साक्षात्पुरुषोत्तमः कृष्णः.

४२. समर्थावलम्बने एव मर्यादा त्यक्तव्या.

४३. एकस्या भगवन्मूर्तेः स्वरूपप्रतिपादको वेदराशिः शाखा.

४४. देवप्रार्थनया दैत्यमोहनार्थं बुद्धावतारः.

४५. कल्क्यवतारे हेतुत्रयं— भक्त्यभावः, धर्माभावः, आभासधर्माभावो वेदाभावो वा. अनेन सत्ययुगे त्रयं प्रवर्तयिष्यति इति ज्ञापितम्.

४६. इयत्ता-परिमाणवन्तो हि गुणाः गणयितुं शक्यन्ते विवेचयितुं वा. भगवतस्तु एकोऽपि गुणः इयत्तारहितः.

४७. तस्य परायणास्तु क्षणमात्रमपि अन्यचित्ता न भवन्ति, अन्यथा अद्भुतकर्मत्वाद् भगवान् अन्यत्र गच्छेत्.

४८. अंशतो ज्ञाने सर्वे एव अधिकारिणः, सर्वथा ज्ञाने न कोऽपि. भगवद्भक्तसङ्गाभावे तु न किञ्चिद् जानन्ति.

४९. इयं (माया) चरणदासी. ज्ञानरूपत्वात् च भगवतः इयं मोहिका. अतएव तस्याः जनव्यामोहकत्वं भगवान् जानाति इति ये वा अभिमुखाः चकाराद् अनुचराश्च ज्ञानिनो भक्ताश्च तत्र सर्वत्रैव विलज्जमाना. विशेषतो लज्जा अंशतोऽपि कार्याकरणं द्योतयति.

५०. यदा यस्मिन् यस्य मनो भवति कामात् प्रेरणया वा तदा तं शृणोति कीर्तयति च. श्रद्धा च तत्र उत्पद्यते. अतः श्रवणादिनिर्वाहकं मनोनिवेशनम्. श्रद्धा हि श्रवणकीर्तनयोः अङ्गं, दीर्घकालादर-नैरन्तर्येण क्रियमाणस्य वै श्रवणादेः फलसाधकत्वात्.

५१. सदानन्दरूपो भगवान् स्वयमेव पुरुषार्थरूपो न ज्ञानादिसाधनम् अपेक्षते.

५२. विषयात्मकं तु भागवतम् अनेकधा, विमर्शात्मकं तु द्वेधा. तत्र उत्पत्तिप्रकारेण निरूपितं ब्रह्मणा नारदाय उक्तम्, उपपत्तिप्रकारेण तु ब्रह्मणे भगवता प्रोक्तम्.

५३. हरेः अनु पश्चाद् व्रतं येषां ; यथा हरिः तथा ते. अनशनात्मकं शरणागतपालनात्मकं व्रतं येषाम्. यथा भगवान् उद्गच्छति सर्वोद्धारार्थं तथा तेऽपि लोकेभ्यो भक्त्युपदेशार्थं स्वावेशेन भक्तिजननार्थं च आविर्भवन्ति.

५४. अयमेव अस्मिन् शास्त्रे मुख्यः सिद्धान्तः— यो भगवत्कर्तव्यं करोति महता प्रयत्नेन स मुख्यः, यस्तु भगवत्सेवां करोति स मध्यमः, यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सः अधमः इति.

५५. सर्वासां शक्तीनां मध्ये इच्छाशक्तिः उत्कृष्टा, सर्वमूलत्वात्. अन्यास्तु तत्साध्याः. अतः तस्याः एव अयम् अनुभावो मम लोकस्य वैकुण्ठस्य अवलोकनम्.

५६. स्वामी हि सेवकेभ्यः प्रयच्छति एव, अनन्यगतिकत्वात् तेषाम्.

५७. भगवतो हि ज्ञानं गदितमपि कृपाव्यतिरेकेण न प्राप्यते.

५८. सर्वत्र जगति भगवान् दशविधलीलायुक्तो दशधा ज्ञातव्यः.

५९. सेवको हि स्वामी यत् करोति तदनुगुणं सर्वं करोति... विनीतस्यैव हि सेवा फलपर्यवसायिनी भवति.

६०. व्यवहारस्तु केवले ईश्वरे अयुक्तो अशक्यश्च.

६१. यस्तु पुरुषोत्तमं ध्यायति स हि तस्य दशविधां लीलां ज्ञातुं शक्नोति.

६२. अशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः सर्गः. पुरुषाद् ब्रह्मादीनाम् उत्पत्तिः विसर्गः. उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम्. स्थितानाम् अभिवृद्धिः पोषणम्. पुष्टानाम् आचारः ऊतिः. तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम्. तत्रापि विष्णुभक्तिः ईशानुकथा. भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः. निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः. मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेण अवस्थानम् आश्रयः.

६३. यावद्दूरं गुणसम्बन्धः स त्याज्यः, भगवदाश्रये व्यभिचारापत्तेः. अनन्याश्रयभङ्गश्च.

६४. यथा उत्पादने माया करणं, पालने च अवताराः, तथा संहारे कालः करणम्.

(सौजन्य – सुबोधरत्नाकर).

* * *

। श्रीसुबोधिनीकारिकार्धसूचिः ।

कारिकार्ध	पृष्ठ
अग्रे च तां प्रवक्ष्यामः	२
अतोऽत्र वस्तुनिर्धारे	३
अतोऽध्याये चतुर्थे तु	१६७
अतः आत्मप्रदः कृष्णः	३३३
अतः साधननिर्धारः	९२
अथवा दार्ढ्यतासिद्ध्यै	२२१
अथवा दातृदेयत्वं	३३३
अदृष्टं साधनं वाच्यं	१३९
अधिकारी प्रमाणं च	२००
अनित्ये जननं नित्ये	२७४
अन्यत् कथाप्रसङ्गेन	१७५
अन्यथा क्रियमाणस्तु	१३९
अन्यथा प्रतिभानं यद्	५६५
अमूर्तरूपं साधर्म्यं	२७६
अष्टमे सन्दिहानस्य	४४५
असाधनैरपि ह्येतैः	२०५
आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं	५१०
आत्मनो जगतश्चापि	२२२
आत्मनोऽपि हरेरत्र	३२२
आत्ममायामृते राजन्	४८९
आध्यात्मिकादिभेदेन	६०७
आन्तरं भिन्नमार्गेण	९२
आरोग्ये धर्मसिद्धिः स्याद्	३७८
आक्षेपसिद्धान्तफलैः	४४४
इत्याक्षेपसमाधाने	६०७
इत्युक्त्वा नारदाजाभ्यां	२२०
इन्द्रियाणामदुष्टत्वे	१३९
उक्तैव वासुदेवस्य	१९
उत्पत्तिस्थितिलयेषु	१७१
उत्पत्तिः स्थानसम्बन्धरूपा	२७४
उत्पत्त्या चोपपत्त्या च	२१९
उत्पत्त्या पञ्चमाध्यायः	२२०
उद्देशेनाऽस्य निपुणं	१३८
उपपत्त्या तयोरेव	६०७
उपपत्त्या विमर्शस्तु	४४४
उपादानं निमित्तञ्च	६२८
उपासनायां सर्वस्य	३२३
उभयोर्वैदिकत्वेन	५६२
उभावेकीकृतौ लोके	६२२
एकत्र मानमेये हि	३
एकीभूते प्रवेशेन	२२१
एकेन व्यासनमनं	१७५
एताः क्रियाश्चतस्रो हि	३३३
एतेऽप्यापाततः प्रोक्ताः	२००
एवमात्मातिरिक्तानां	३२२
एवं निर्धारभजनं	४४४
कथायाः श्रवणे श्रद्धा	१६८
कायादिभिः करोत्येव	२०१
कार्यस्य वस्त्वभेदोऽपि	२७५
कंसादेः कालतो ज्ञानात्	३९२
क्रियते स्कन्धएवात्र	२०
क्रियाविद्यापरत्वे तु	५६३
चिदंशस्यापरे पञ्च	५२२
ज्ञात्वाऽथ नमनं देवे	१६७
तत्र तु प्रथमेऽध्याये	४
तथैव भगवद्रूपं	५६४
तदुच्यते मुख्ययोर्हि	१६७

तद्भानं तस्य कर्ता च ५६५
तस्मात् साधनसंयुक्तः १४०
तस्मिन् निर्धारिते पश्चात् १
तेन सिद्धो वस्त्वभेदः २७६
तेषां कर्तव्यनिर्धारो १
ते हि पाषण्डिनो ज्ञेयाः ४१६
तां नाऽध्यगाच्छद् दृशमत्र सम्मतां ५११
त्रिविधे द्वे ततस्तत्र ४
दशधा ज्ञायते रूपं ६०७
दुष्टोऽप्याश्रीयते पक्षो ५६४
द्वयोर्निर्धारशेषत्वं २२२
द्वयं सिद्धं विराड्ब्रह्मरूपयोः ४४४
द्वितीयस्कन्धविवृतिः ६६५
द्वितीयस्य द्विरूपत्वं २२२
द्विविधस्तत्त्वनिर्देशो ९२
न घटेताऽर्थसम्बन्धः ४८९
नमनादेव भगवान् १७५
नवमे तूत्तरं प्राह ४८८
नान्यथेत्यस्य सन्देहनाशनाय ४८८
नारायणपराः वेदाः २७५
नित्यापरिच्छिन्नतनौ २७४
निर्धारणेऽङ्गत्रितयं २
निवेदिताऽतियत्नेन ६६५
पञ्चभिः प्रार्थनावाक्यैः १७४
परस्परं विरुद्धास्ते ५६२
पश्चात् फलस्य निर्धारः ९२
पारम्पर्यकथा चास्य ४८८
पुरुषः क्रमतः शक्तित्रयं २२०
पूर्वरूपपरित्यागो ६२२
पूर्वाध्याये क्रियाङ्गानि १६५
पौरुषेण च सूक्तेन २७५
प्रकटः परमानन्दो ३८९
प्रत्यक्षादृष्टविषये ५६१
प्रथमस्योत्तरं पश्चात् २२३
प्रमाणेन प्रमेयेण २
प्रश्नत्रयं नारदेन २२२
प्रश्नाच्चतुष्टयं पूर्वं १६८
प्रश्नेऽप्युत्तरशेषत्वात् १६६
प्रार्थितः कामनां दद्यात् १७५
फलसाधननिर्धारो ९२
फलोपकार्यङ्गमेतद् ४
बहिःस्थितो वा तस्येच्छावशतो ६३२
बहुरूप इवाऽऽभाति ५०७
बाह्यो निरूपितस्तत्र ९२
बुद्धिश्चायुश्च दोषाणां १०
ब्रह्मणे दर्शयन् रूपं ५१०
भूमिर्माता तथा चान्ये ३९२
भोक्ता चेति समस्तार्थे ६२८
मर्दनक्लेशहानिः स्याद् ३८९
मानमेयविनिर्धारः ९२
माहात्म्यादि तदङ्गं च ३२४
मुख्यस्य च फलं त्वत्र ३२३
यज्ञः साङ्ख्यञ्च योगश्च ३३७
यत्किञ्चिद् दूषणं त्वत्र ५६५
यथा सर्वाविरोधः स्यात् ५६४
यर्हि वाव महिम्नि स्वे ५०८
यस्य नैते भविष्यन्ति १०
योगस्तपश्च वंशश्च ३३३
रममाणो गुणेष्वस्याः ५०७
रमेत गतसन्देहः ५०८
राज्ञो निरूप्यते प्रश्नाः ४४५
रूपं गन्धश्च शब्दश्च ५२२

वस्तुनः तत्त्वनिर्धारो ४
विचारकाणां बुद्धिस्तु ५६२
विमर्शोपि द्विधा पूर्वम् ४
विमर्शः षड्भिरध्यायैः २१९
विमर्षणाधिकारो हि १६७
विराजोऽन्तर्मुखत्वाद्धि २२२
विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि ५६५
वेदमार्गविरोधेन ४१६
व्यवसायात्मिका बुद्धिः १६८
शक्तितात्पर्यनिर्धारः २०
श्रद्धा चैव विमर्शश्च २
श्रद्धापि तदभिप्रायात् १४०
श्रद्धापि द्विविधा लोके ३
श्रोतव्यविषयत्वेन १९
श्रोतव्यविषयत्वेन १३८
सत्त्वस्यैते पञ्च गुणाः ५२२
सन्देहवारकं पूर्वकथनस्य ४८८
सप्तमे क्रियते येन ३२३
सम्प्रार्थने हि सुमहान् २०१
सर्वरूपसमर्थत्वं ५६५
सर्वशास्त्रार्थनिर्धारः १७४
सर्वोपि विषयस्तत्र ६३२
साधनं द्विविधं प्रोक्तं १६५
साधनं श्रोतृवक्त्रोश्च १६६
साध्यं सम्पद्यते पूर्णम् १४०
सामान्यमुत्तरं यद्धि १६७
सामान्येन तदेवाऽत्र २७५
सूक्ष्मध्यानं पूर्वमुक्तं ३२२
स्कन्धे तु प्रथमे १
स्त्रीभिश्च याज्ञिकैर्लोकैः २०५
स्थूललिङ्गविभेदो वा २२३
स्थूलस्याऽमूर्तरूपस्य २७५
स्थूलान्तर्यामिभेदेन २१९
स्थूलोऽपि द्विविधस्तत्र २२०
स्वरूपगुणभेदेन ३२३
स्वरूपतो ज्ञानतश्च १६६

। मूलश्लोकार्धसूचिः ।

श्लोकार्ध	पृष्ठ
अ-औ	
अकामः सर्वकामो वा	१५२
अजः सृजति भूतानि	४५४
अतप्यत स्माऽखिललोकतापनं	५१५
अतः कविर्नामसु यावदर्थः	९७
अतः परं सूक्ष्मतमं	६५४
अत्र प्रमाणं भगवान्	४६४
अत्र सर्गो विसर्गश्च	६०७
अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षतः	३३२
अथाऽभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं	१६४
अथो अनन्तस्य मुखानलेन	१२७
अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्	११२
अधिदैवम् अथाऽध्यात्मं	६२९
अधीतवान् द्वापरादौ	४३
अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं	५३१
अनन्तवीर्यश्वसितं मातरिश्वा	६८
अनादिमध्यनिधनं	६५४
अनु प्राणन्ति यं प्राणाः	६३१
अन्तकाले तु पुरुषः	५२
अन्ते त्वधर्महरमन्यु-	४२०
अन्तर्महार्णव उपागतं	३२५
अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय	५९८
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो	२९३
अन्तःशरीर आकाशात्	६३०
अन्तःसरस्युरुबलेन पदे गृहीतो	३५६
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं	१४१
अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूत-	३१९
अन्ये च विविधाः जीवाः	२८५
अन्ये च शाल्व-कपि-	४१२
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां	५९०
अपश्यतामात्मतत्त्वं	७
अपानन्तमपानन्ति	६३१
अपां वीर्यस्य सर्गस्य	२८२
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं	५२
अमुनी भगवद्रूपे	६५४
अमृतं क्षेममभयं	२९१
अम्भः शिखाधृतव्रतो विबुधा-	३६७
अयजन् व्यक्तमव्यक्तं	३०१
अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः	६६१
अवतारानुचरितं	४६०
अवतारानुचरितं	६१९
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो	५४९
अविज्ञाय परं मत्तः	२३४
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च	६८
अव्यक्तं रससिन्धूनां	२८३
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजाः नखानि	६८
अश्विनोरोषधीनां च	२७९
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये	१२५
अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया	३८२
अहमेवाऽऽसमेवाग्रे	५५४
अहं भवान् भवश्चैव	२८५
अहं भवो यज्ञः इमे प्रजेशाः	३१९
अह्न्यापृतं निशि शयानं	४०३
आकूतिसूनुरमरानथ	३२८
आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन्	६२
आत्मजायासुतागार-	१६९
आत्मनो बन्धमोक्षौ च	४६०
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्	६२६

आत्मन् भावयसे तानि २२९
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं २५६
आत्मप्रसाद उभयत्र १५३
आत्मवित्सम्मतः पुंसां ७
आत्मशक्तिमवष्टभ्य २२९
आत्माऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं ३१०
आत्मानमङ्ग शिरसा हरये ३६७
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो ११६
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् १७२
आदाय तत्र विजहार ह ३५२
आदित्सोरन्नपानानां ६४९
आदौ सनात् स्वतपसः ३३५
आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य ३१८
आधिपत्यकामः सर्वेषां १४१
आनुपूर्व्येण तत्सर्वं ४८७
आपीयतां कर्णकषायशोषान् ३२०
आभासश्च निरोधश्च ६२१
आयुर्हरति वै पुंसां १५६
आयुश्च वेदमनुशास्ति ३७९
आयुःकामोऽश्विनौ देवौ १४१
आविर्हितस्त्वनुयुगं सहि ४१५
आशु सम्पद्यते योगः ५६
आसिसृक्षोः पुरः पुर्या ६४९
आसीद् यदुदरात् पद्मं ४५४
आस्थाय योगं निपुणं समाहितः ३०६
आहेदमादिपुरुषाऽखिललोकनाथ ३५६
इति तेऽभिहितं तात ३०३
इति सम्भृतसम्भारः २९९
इत्थम्भावेन कथितो ६५८
इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो १२१
इत्यभिव्याहृतो राजा १५४
इत्युपामन्त्रितो राज्ञा १७४
इदं च देवयजनं २९७
इदं भागवतं नाम ४३
इदं भागवतं नाम ४४१
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु १४१
इन्द्रादयो बाहवः आहुरुस्राः ६८
इयानसावीश्वरविग्रहस्य ७८
इष्टापूर्तस्य कामानां ४६०
इक्ष्वाकुरैल-मुचुकुन्द- ४३१
इक्ष्वाकुवंशे अवतीर्य गुरोः ३८२
ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान् ६८
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं ११२
उच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ३९६
उत्सिसृक्षोर्धातुमलं ६४८
उदपद्यत तेजो वै २६३
उदरं विदितं पुंसो २८३
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्- ४०८
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकं ३८०
उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये ११२
उन्नेष्यति व्रजमितोऽवसिता- ३९८
उन्मथ्नताममृतलब्धये ३५३
उन्मूलनं त्वितरथाऽर्जुनयोः ३९३
उपकल्पय तत्सर्वं ५०
उपधार्य मतिं कृष्णे १६८
उपस्थ आसीत् कामानां ६४६
उभे अपि न गृह्णन्ति ६५४
उरुगायगुणोदाराः १५६
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ६४
ऊचे ययाऽऽत्मशमलं ३३०
ऊरौ निपात्य विददार ३५४
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः २७२

ऋचो यजूंषि सामानि	२९७	कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं	६५९
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत	५६७	कर्मणो जन्म महतः	२५७
ऋषे विदन्ति मुनयः	३१५	कर्माणि चात्ममहिमोप-	३८९
एकमेकतराभावात्	६२४	कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ	६८
एको नानात्वमन्विच्छन्	६२९	कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्तां	१११
एकैकशोऽङ्गानि धियाऽनुभावयेत्	११२	कस्माद् भजन्ति कवयो	१०५
एकः सृजसि भूतानि	२२९	कामकामो भजेत् सोमं	१४२
एतच्छुश्रूषतां विद्वन्	१५५	कामं दहन्ति कृतिनो ननु	३४२
एतदेवाऽऽत्मभूः राजन्	२१७	कामः कथं नु पुनरस्य	३४२
एतद् निर्विद्यमानानां	४८	काम्बोजमत्स्यकुरु-	४१२
एतद् भगवतो रूपं	६५३	कार्यकारणकर्तृत्वे	२५२
एतद् वेदितुमिच्छामि	४४६	कालकर्मस्वभावस्थो	२७०
एतन्मतं ममातिष्ठ	५९७	कालस्याऽनुगतिर्या तु	४५६
एतन्मे पृच्छतः सर्वं	२३१	कालाद् गुणव्यतिकरः	२५७
एतावदेव जिज्ञास्यं	५९०	कालेन नाऽतिदीर्घेण	४४८
एतावानेव यजतां	१५२	कालेन मीलितदृशां	४१५
एतावान् साङ्ख्ययोगाभ्यां	३७	कालं कर्म स्वभावं च	२५६
एतां गतिं भागवतीं गतो यः	१३२	किन्नराप्सरसो यक्षान्	६५६
एते सृती ते नृपदेव गीते	१३३	किमन्यत् पृष्टवान् भूयो	१५४
एवमेतन्निगदितं	१४१	किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा	१९८
एवं पुरा धारणयाऽऽत्मयोनिः	९३	किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं	५२७
एवं विराजं प्रतपन्	२८६	किं प्रमत्तस्य बहुभिः	४९
एवं स्वचित्ते स्वतएव सिद्धे	१०९	कुत्र कौषारवेस्तस्य	६६२
ओजः सहो बलं जज्ञे	६३०	कुशलाकुशलाः मिश्राः	६५६
क-घ		कूष्माण्डोन्मादवेतालान्	६५६
कट्यादिभिरधः सप्त	२७१	कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्र-	३५४
कथयस्व महाभाग	४४६	कृष्णानुभावश्रवणे	१६९
कथाः हरिकथोदर्काः	१५५	कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं	४४६
करामलकवद् विश्वं	२२८	केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे	११२
कर्णौ च निरभिद्येतां	६३५	केशश्मश्रुनखान्यस्य	२८१
कर्णौ दिशां च तीर्थानां	२८०	कैवल्यसम्मतपथः	१५३

को निर्वृतो हरिकथासु १५३
क्रीडन् वने निशि निशाकर- ४०८
क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ५४४
क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीं ३२५
क्लेशव्ययाय कलया ३८९
खगान् मृगान् पशून् वृक्षान् ६५६
खट्वाङ्गो नाम राजर्षिः ५०
गतयो मतयश्चैव २९७
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभिः १९९
गतिं जिगीषतः पादौ ६४४
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः ६९
गन्धर्वविद्याधरचारणेशाः ३१९
गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः २८५
गायन् गुणान् दशशतानन ४२५
गुणात्मकानीन्द्रियाणि ६५२
गुणानां गुणिनां चैव ४५९
गृहात् प्रव्रजितो धीरः ५२
गृहीतचेता राजर्षे ४४
गृहीतमायोरुगुणः ३०२
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनां १७५
गृह्णीत यद्यदुपबन्धममुष्य ३९९
गोपान् बिलेषु पिहितान् ४०३
गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय ४०५
ग्रहर्क्षकेतवस्ताराः २८५
ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त ३५६
ग्रीवया जनलोकश्च २७२
घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं १३२

च-ज

चक्रायुधः पतगराज- ३५६
चक्रेण नक्रवदनं परिपाट्य ३५६
चक्रं च दिक्ष्ववहितं दशसु ३७६
चचार तीर्थानि भुवः ६६२
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख- ११२
चस्कम्भ यः स्वरंहसा ४२२
चिरं भृतेन तपसा ५३७
चीराणि किं पथि न सन्ति १०५
छन्दांस्यनन्तस्य यशो गृणन्ति ६८
छन्दोमयो मखमयो ३५१
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण ५२
जज्ञे च कर्दमगृहे ३३०
जन्मलाभः परः पुंसां ३७
जले वै तस्य सुचिरं ६३३
जह्युः स्वराडिव निपान- ४३४
जातो रुचेरजनयत् सुयमान् ३२८
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्य- ३८९
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं २७२
जिघृक्षतस्त्वङ् निर्भिन्ना ६३६
जितासनो जितश्वासो ५७
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत् ११२
जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव १६१
जीवच्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं १६१
ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः ३५९
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले १३१
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः २६६
ज्ञानं च भागवतमात्म- ३७१
ज्ञानं परमगुह्यं मे ५५०
ज्ञानं यदाऽऽप्रतिनिवृत्त- १५३

त-न

तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोल- ३९६
ततश्च मनवः काले ३०१
ततस्ते भ्रातरः इमे ३०१
ततो नानारसो जज्ञे ६३१

ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी १२१
ततो मनश्चन्द्र इति ६४९
ततो विशेषं प्रतिपद्य पार्थिवः १३१
ततः कालाग्निः रुद्रात्मा ६५८
ततः पायुस्ततो मित्रः ६४८
तत्कट्यां चाऽतलं क्लृप्तं २७२
तत्कर्म दिव्यमिव यन्निशि ३९८
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं ४६४
तत्त्वानां परिसङ्ख्यानं ४६०
तत्र चान्तर्बहिर्वायुः ६३६
तत्र वायुर्गन्धवहो ६३३
तत्राऽपानस्ततो मृत्युः ६४९
तत्राप्येकैकशो राजन् ६५७
तत्रैकावयवं ध्यायेद् ५४
तथा गुणांस्तु प्रकृतेः १७३
तथा तद्विषयां धेहि ५४४
तथापि नाथमानस्य ५४४
तथा ससर्जेदममोघदृष्टिः ९३
तथैव तत्त्वविज्ञानं ५५२
तदध्यवस्यत् कूटस्थो १३५
तदश्मसारं हृदयं बतेदं १६३
तदहं तेऽभिधास्यामि ४६
तदा संहत्य चाऽन्योन्यं २६९
तद्गात्रं वस्तुसाराणां २८०
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो ५३३
तद्द्रव्यम् अत्यगाद् विश्वं २९४
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यं ६८
तद्विजानीहि यज्ज्ञानं २२४
तद् विद्यादात्मनो मायां ५६७
तद् विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णोः १२७
तद् वोऽभिधास्ये शृणुत ६६५
तद् वै पदं भगवतः ४३३
तपस्विनो दानपराः यशस्विनो १९१
तपो मे हृदयं साक्षाद् ५४२
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः ६४
तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया ३३५
तमेव पुरुषं यज्ञं २९९
तमो विशीर्यते मह्यं १७१
तमःप्रधानात् त्वभवद् २५८
तयोस्तु बलवानिन्द्रः ६४४
तरवः किं न जीवन्ति १५७
तवाप्येतर्हि कौरव्य ५०
तस्मा अदाद् ध्रुवगतिं ३४४
तस्मा इदं भागवतं ६०४
तस्मात् सर्वात्मना राजन् १३६
तस्मादण्डं विराट् जज्ञे २९४
तस्माद् भारत सर्वात्मा १०
तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत १२१
तस्मिन् विधूय कपिलस्य ३३०
तस्मै नमो भगवते २३५
तस्मै स्वलोकं भगवान् ५१६
तस्य मात्रा गुणः शब्दो २५९
तस्यर्ते यः क्षणो नीतः १५६
तस्यापि द्रष्टुरीशस्य २४८
तातप्यमान-मकरोरग- ३८४
तामसादपि भूतादेः २५९
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं ११५
तावानसावपि प्रोक्तः ४५४
तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु ६२६
तिर्यग्जनाअपि किमु ४३२
तिष्ठन् वनं सदयितानुज ३८२
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल- ३५६

तीव्रेण भक्तियोगेन	१५२	दशमस्य विशुद्ध्यर्थं	६१३
तुभ्यं च नारद भृशं	३७१	दावाग्निना शुचिवने	३९८
तुष्टं निशम्य पितरं	६०३	दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्वि-	२६५
तेजसस्तु विकुर्वाणाद्	२६५	दिवा चार्थेहया राजन्	९
ते दुस्तरामतितरन्त्यथ	४२७	दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो	३४४
तेन खेदयसे नस्त्वं	२३०	दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो	५१५
तेन नारायणो नाम	६२६	दुग्धा वसूनि वसुधा	३४७
तेनाऽऽत्मनाऽऽत्मानमुपैति शान्तं	१३२	दुर्विभाव्यमिवाऽऽभाति	१७३
तेनेदमावृतं विश्वं	२८६	दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात्	३७६
ते वै विदन्त्यतिरन्ति	४३२	दूरे सुहृन्मथितरोषसुशोण-	३८४
तेषां प्रमत्तो निधनं	९	दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा	१३५
तेषु यज्ञस्य पशवः	२९७	दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो	३३८
तैजसात्तु विकुर्वाणाद्	२६६	देवतानुक्रमः कल्पः	२९७
तोकेन जीवहरणं यद्	३९३	देवदेव नमस्तेऽस्तु	२२४
तं दंष्ट्रयाऽद्रिमिव वज्रधरो	३२५	देवद्विषां निगमवर्त्मनि	४१६
तं नारदः प्रियतमो	६०१	देवर्षिः परिपप्रच्छ	६०३
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत	१०९	देवव्रतो बलिरमूर्तरयो	४३१
तं प्रीयमाणं समवस्थितं तदा	५३४	देवीं मायां तु श्रीकामः	१४१
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत	८९	देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया	४०५
त्रात्वार्थितो जगति पुत्रपदं	३४७	देव्यस्त्वनङ्गपृतना	३३८
त्रितयं तत्र यो वेद	६२४	देशे च काले च मनो न	११६
त्रिःसप्तकृत्व उरुधार-	३८०	देहापत्यकलत्रादि-	९
त्रैमासिकस्य च पदा	३९३	देहे स्वधातुविगमे	४३९
त्रैविष्टपोरुभयहा स नृसिंहरूपं	३५४	दैत्येन्द्रमाशु गदयाऽभिपतन्तं	३५४
त्वक्चर्ममांसरुधिर-	६५१	द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत् पतङ्गः	६८
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च	२८०	द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिः	२५८
त्वयाऽहं तोषितः सम्यक्	५३७	द्रव्यं कर्म च कालश्च	२३७
दत्तो मयाऽहमिति यद्	३३२	द्रव्यं कर्म च कालश्च	६२८
ददर्श तत्राऽखिलसात्वतां पतिः	५२७	द्रव्यं विकारो गुणः इन्द्रियाणि	३१८
ददृशे येन तद्रूपं	४५६	द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये	६५६
दन्तैर्विडम्बित-ककुब्जय-	३८६	द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेः	६४

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव	३७८	नाड्यो नदनदीनां च	२८३
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि	४०५	नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो	६९
धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट	३३८	नाऽनृतं तव तच्चापि	२३४
धर्मस्य मम तुभ्यं च	२८३	नाऽन्तं विदाम्यहममी मुनयो	४२५
धर्मार्थमुत्तमश्लोकं	१४२	नान्यद् भगवतः किञ्चिद्	३०३
धुनोति शमलं कृष्णः	४४९	नाभेरसावृषभ आस	३४९
धौतात्मा पुरुषः	४४९	नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्माद्	१२१
ध्यायते परमं ब्रह्म	६०४	नामधेयानि मन्त्राश्च	२९७
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि	६८	नामरूपक्रिया धत्ते	६५५
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति	१२६	नामरूपगुणैर्भाव्यं	२३०
न खादन्ति न मेहन्ति	१५७	नाम्ना नृणां पुरुरुजां	३७८
नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां	३०७	नारदः प्राह मुनये	६०४
नद्यः समुद्राश्च तयोः	६४९	नारायणपराः योगाः	२४०
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्	५३३	नारायणपराः लोकाः	२४०
नन्दं च मोक्ष्यति भयाद्	४०३	नारायणपराः वेदाः	२४०
नभसोऽथ विकुर्वाणाद्	२६१	नारायणपरं ज्ञानं	२४०
न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते	३०५	नारायणे भगवति	३०२
नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति	१२७	नारायणो नर इति	३३८
नमस्तस्मै भगवते	२१६	नार्थो बलेरयमुरुक्रम-	३६७
न मेऽसवः परायान्ति	४६५	नाऽविदं यज्ञसम्भारान्	२९६
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे	३०५	नासत्यदस्रौ परमस्य नासे	६८
नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां	१८०	नासिके निरभिद्येतां	६३३
नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे	१७५	नाऽस्य कर्माणि जन्मादौ	६५९
न यत्कर्णपथोपेतो	१५९	नाऽहं न यूयं यदृतां गतिं विदुः	३०८
न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः	११९	नाऽहं वेद परं त्वस्मात्	२३०
न यत्र माया किमुताऽपरे	५१८	निदिध्यासोरात्ममायां	६४९
न यत्र शोको न जरा न मृत्युः	१३०	निद्रया ह्रियते नक्तं	९
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च	११९	निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्त-	३५३
न यं विदन्ति तत्त्वेन	३०९	निप्लुष्टपौरुषभगं निरये	३४७
न विक्रियेताऽथ यदा विकारो	१६३	नियच्छेद् विषयेभ्योऽक्षान्	५४
न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था	१३३	निरभिद्यत शिश्नो वै	६४६

निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा १८०
निरोधोऽस्यानुशयनं ६२०
निर्भिन्ने अक्षिणी तस्य ६३५
निर्माय शेते यदमूषु २१३
निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं १२७
निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो ५१४
नूनं भगवतो ब्रह्मन् १७३
नृणां यन्म्रियमाणानां १४१
नृणां साधारणो धर्मः ४६०
नेत्थम्भावेन हि परं ६५८
नेत्रे पिधाप्य सबलो ३९८
नेहमानः प्रजासर्गं ५४४
नैर्गुण्यस्थाः रमन्ते स्म ४१
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः १०५
नैषां ममाऽहमिति श्रीः ४२७

प-म

पतिर्गतिश्चाऽन्धकवृष्णिसात्वतां २०४
पत्नी मनोः स च ४३१
पदं तत् परमं विष्णोः ५५
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं ६४४
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या २१६
पप्रच्छ चेममेवार्थं १६९
परान्वयाच्छब्दवांश्च २६१
परान्वयाद् रसस्पर्श- २६५
पराभूतेरधर्मस्य २८३
परावरे यथा रूपे ५४४
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये ४४
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान् ९७
परिमाणं च कालस्य ६६१
परे चेहाऽनुतिष्ठन्ति ४६४
परं पदं वैष्णवम् आमनन्ति १२०
पशवः पितरः सिद्धाः २८५
पश्चादहं यदेतच्च ५५४
पश्यतस्तस्य तद्रूपं ५९८
पश्यन् जनं पतितं वैतरण्यां १११
पातालमेतस्य हि पादमूलं ६४
पातालं पादतलतः २७२
पादास्त्रयो बहिश्चाऽऽसन् २९३
पादेषु सर्वभूतानि २९१
पादौ नृणां तौ द्रुभजन्मभाजौ १६१
पायुर्यमस्य मित्रस्य २८२
पार्थार्ष्टिषेण-विदुर- ४३१
पाषण्डिनो द्विजजनाः ४१८
पितरो विबुधाः दैत्याः ३०१
पिपासतो जक्षतश्च ६३१
पिबतोऽच्युतपीयूषं ४६५
पिबन्ति ये भगवतः आत्मनः १३७
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं १३७
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म २७२
पुरुषाराधनविधिः ४६०
पुरुषावयवैरेते २९७
पुरुषावयवैर्लोकाः ४५६
पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य ६२६
पुष्णाति स्थापयन्नित्यं ६५७
पुंसामीशकथाः प्रोक्ताः ६१९
पुंसां पुनः पारमहंस्ये आश्रमे १७६
पुंसः शिश्नः उपस्थस्तु २८२
पूर्भिर्मयेन विहिताभिः ४१६
पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार ३५३
प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती २११
प्रजापतीन् मनून् देवान् ६५६
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो १४१

प्रत्यादिष्टं मया तत्र	५४२	ब्रह्मन् श्रेयःपरिश्रामः	५४०
प्रमाणमण्डकोशस्य	४६०	ब्रह्मवर्चसकामस्तु	१४१
प्रवर्तते यत्र रजस्तमश्च	५१८	ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो	४८४
प्रवालवैडूर्यमृणालवर्चसः	५२१	ब्रह्माननः क्षत्रभुजो महात्मा	६९
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि	५८५	ब्रह्मेति यद् विदुरजस्रसुखं	४३३
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण	४४९	ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य	६६२
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं	११२	भगवच्छिक्षितमहं	५४४
प्राक्कल्पसम्प्लवविनिष्टं	३३५	भगवत्यचलो भावो	१५२
प्राचीनबर्हि ऋभुरङ्ग	४३१	भगवन् सर्वभूतानां	५४४
प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृड्	६३१	भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन	१३५
प्राधान्यतो यान् ऋषे आमनन्ति	३२०	भगवान् सर्वभूतेषु	१३५
प्रायेण मुनयो राजन्	४१	भवान् कल्पविकल्पेषु	५९७
प्राह भागवतं नाम	४८५	भारः परं पट्टकिरीटजुष्टं	१६१
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगैः	५२५	भावस्वभावविहितस्य	४३९
प्रोक्तं भगवता प्राह	६०४	भावेन साधुपरितुष्ट उवाच	३७१
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं	२५२	भुङ्क्ते गुणान् षोडशः	२१३
बन्धुत्यागनिमित्तं च	६६२	भूतभव्यभवच्छब्दः	४५६
बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा	५३४	भूतमात्रेन्द्रियधियां	६१७
बर्हायिते ते नयने नराणां	१६१	भूतैर्महद्भिर्यः इमाः पुरो विभुः	२१३
बालक्रीडनकैः क्रीडन्	१५५	भूपातालककुब्व्योम-	४५९
बालानजीवयदनुग्रह-	३९५	भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः	३८९
बालोऽपि सन्नुपगतः	३४३	भूम्यप्तेजोमयाः सप्त	६५१
बाहवो लोकपालानां	२८१	भूय एव विवित्सामि	१७१
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः	१७३	भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदे सतां	१७६
बिभर्मि तपसा विश्वं	५४३	भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां	२७२
बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये	१६१	भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां	२७३
बोध्यमानस्य ऋषिभिः	६३५	भूलोकपालाः भुवर्लोकपालाः	३१९
ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन्	४४५	भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं	५२७
ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं	४८५	भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते	५२३
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्	६१७	मत्स्यो युगान्तसमये	३५२
ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्ति-	३८०	मनीषितानुभावोऽयं	५४१

मनो निर्विषयं युक्त्वा ५४
मनो यच्छेज्जितश्वासो ५२
मनः कर्मभिराक्षिप्तं ५४
मनः सर्वविकारात्मा ६५२
मनः स्वबुद्ध्याऽमलया नियम्य ११६
मन्वन्तराणि सद्धर्म ६१७
मन्वन्तरेशानुकथा ६०७
मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो ३७६
मल्लेभकंसयवनाः ४१२
महतस्तु विकुर्वाणाद् २५८
महतां चाऽनुचरितं ४६०
महातलं तु गुल्फाभ्यां २७२
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ ६४
महाभागवतो राजन् ६०२
महिमैष ततो ब्रह्मन् २८८
महीतलं तज्जघनं महीपतेः ६४
मह्यादिभिश्चाऽऽवरणैः ६५३
मातृरक्षःपिशाचांश्च ६५६
मान्धात्रलर्क-शतधन्वनु- ४३१
माया परैत्यभिमुखे च ४३३
मायाबलस्य पुरुषस्य ४२५
मायाविभूतयः इमाः ४२०
मायां वर्णयतोऽमुष्य ४४३
मायां विविदिषुर्विष्णोः ६०२
मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद् ३८४
मुक्तसर्वपरिक्लेशः ४४९
मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं ६२०
मुक्त्वाऽऽत्ममायां मायेशः ४५६
मुखतस्तालु निर्भिन्नं ६३१
मुहूर्तात् सर्वमुत्सृज्य ५०
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु २७२

य-व

यच्चित्ततोऽदः कृपयाऽनिदंविदां १३०
यच्छेद् धारणया धीरो ५५
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि ३९९
यज्ञे च भागममृतायुरवाप ३७९
यज्ञं भजेद् यशस्कामः १४१
यत् किञ्च लोके भगवन्महस्वद् ३१९
यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं १८३
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहाः ३३२
यत्पारमहंस्यमृषयः पदं ३४९
यत्र सन्धार्यमाणायां ५६
यत्रेदं दृश्यते विश्वं ५८
यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय ३२५
यत्संस्थं यत्परं यच्च २२५
यथा गोपायति विभुः १७१
यथाऽऽत्मतन्त्रो भगवान् ४६०
यथाऽऽत्ममायायोगेन ५४४
यथा पुरस्ताद् व्याख्यास्ये ६६१
यथा महान्ति भूतानि ५८५
यथाऽर्कोऽग्निर्यथा सोमो २३४
यथा सन्धार्यते ब्रह्मन् ५६
यथाऽऽसीत् तदुपाख्यास्ये ६०५
यथा हरौ भगवति ४४२
यथेदं सृजते विश्वं १७१
यथैकं पौरुषं वीर्यं ६२९
यदङ्घ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया २०६
यदनुग्रहतः सन्ति ६२८
यदधातुमतो ब्रह्मन् ४५३
यदविद्या च विद्या च २९३
यदहं चोदितः सौम्य २३३
यदा तदेवाऽसत्तर्कैः ३१५

यदात्मनि निरालोकं	६३५	यस्यावतारकर्माणि	३०९
यदायतननिर्माणे	२६९	यस्येहाऽवयवैर्लोकान्	२७१
यदाऽस्य नाभ्यान्नलिनाद्	२९६	याच्ञामृते पथि चरन्	३५९
यदाह भगवान् सूतः	६६२	यादृशी वा हरेद् आशु	५६
यदाह वैयासकिरात्मविद्या-	१६४	यावत्यः कर्मगतयो	४५६
यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं	१२५	यावत्सखा सख्युरिवेश ते कृतः	५४९
यदुताऽहं त्वया पृष्टो	६०५	यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्	११५
यदुपश्रुत्य रहसि	५४१	यावानयं वै पुरुषः	४५४
यदृच्छया हेतुना वा	४५३	यावानहं यथाभावो	५५२
यदैतेऽसंहताः भावाः	२६९	यावान् कल्पो विकल्पो वा	४५६
यदैवैकतरोऽन्याभ्यां	६५७	यास्यन्त्यदर्शनमलं	४१२
यद्यत् परीक्षिद् ऋषभः	४८७	युक्तं भगैः स्वैरितत्र चाऽध्रुवैः	५३१
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षाः	४३२	युगानि युगमानं च	४६०
यद् रिङ्गताऽन्तरगतेन	३९३	यूयं भवश्च भगवान्	४३१
यद्रूपं यदधिष्ठानं	२२५	ये च प्रलम्बखरदर्दुर-	४१२
यद्वा सभगवांस्तस्मै	६६२	येन स्वरोचिषा विश्वं	२३४
यद्वासुदेवशरणाः विदुः	३७१	येऽन्येऽपि पापाः यदपाश्रयाश्रयाः	१९८
यद्विज्ञानो यदाधारो	२२९	येऽन्ये विभीषण-हनूमद्	४३१
यद्वेनमुत्पथगतं द्विजवाक्य-	३४७	ये वा ऋषीणामृषभाः पितॄणां	३१९
यद्वै व्रजे व्रजपशून्	३९५	ये वा मृधे समितिशालिनः	४१२
यन्मायया दुर्जयया	२३५	ये वै पुरा ब्रह्मणः आह पृष्टः	१३३
यन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं	३०८	येषां स एव भगवान्	४२६
यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः	४१८	योगर्द्धिमापुरुभयीं	३३२
यश्चानुशायिनां सर्गः	४६०	योगिनां नृप निर्णीतं	४८
यस्तत्रोभयविच्छेदः	६२३	योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तः	१२६
यस्मा अदाद् उदधिरूढभया-	३८४	योगेश्वरैश्वर्यगतिं	४६०
यस्मात् त्रिसाम्यसदनाद्	४२२	योऽऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः	६२३
यस्मिन् कर्मसमावायो	४५९	यो वै चचार समदृग्	३४९
यस्मिन् विरुध्य दशकन्धरः	३८२	यो वै प्रतिश्रुतमृते न	३६७
यस्मै यस्मै यथा प्राह	४४५	यो ह्यात्ममायाविभवं स्म पर्यगात्	३०७
यस्य श्रद्दधतामाशु	४६	यां यां शक्तिमुपाश्रित्य	१७२

यः पार्थिवान्यपि कविः	४२२	वस्तून्योषधयः स्नेहाः	२९७
रघ्वम्बरीष-सगराः	४३१	वक्षःस्थल-स्पर्शभग्न-	३८६
रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं	५५	वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं	२७८
रक्षाकामः पुण्यजनान्	१४२	वाचो बभूवुरुशतीः	३५१
राज्यकामो मनून् देवान्	१४२	वायोरपि विकुर्वाणात्	२६३
राज्ये चाऽविकले नित्य-	१६९	वासुदेवात् परो ब्रह्मन्	२३७
राज्ञा परीक्षिता पृष्टो	६६५	वासुदेवे भगवति	१३३
रासोत्सुकः कलपदायत-	४०८	वासुदेवे भगवति	१७०
रुद्धाः गुहाः किमजितो	१०५	विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च	२८१
रूपवत् स्पर्शवच्चाऽम्भो	२६५	विचक्षणाः यच्चरणोपसादनात्	१८६
रूपाणां तेजसां चक्षुः	२८०	विचिकित्सितमेतन्मे	१७४
रूपाभिकामो गन्धर्वान्	१४१	विजानीहि यथैवेदं	२३१
रोषं दहन्तम् उत ते न	३४२	विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति	६८
लसन् महारत्नहिरण्मयाङ्गदं	११२	विज्ञानस्य च तत्त्वस्य	२८३
लोकत्रयस्य महतीमहरद्	३२८	वितन्वताऽजस्य सतीं	२११
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं	१८३	विद्ध सपत्न्युदितपत्रिभिः	३४३
लोकान् घ्नतां मतिविमोहं	४१६	विद्याकामस्तु गिरिशं	१४१
लोकान् विचक्रम इमान्	३५९	विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः	५२३
लोके विकुण्ठमुपनेष्यति	४०३	विधिः साधारणो यत्र	६६१
लोकैरमुष्याऽवयवाः	४५६	विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्	१२७
लोमान्युद्भिज्जजातीनां	२८१	विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमाः	१८६
वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं	२०६	विभूषितं मेखलयाऽङ्गुलीयकैः	११२
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं	६८	विमोहिताः विकत्थन्ते	२३७
वरीयानेष ते प्रश्नः	७	विलज्जमानया यस्य	२३७
वरं मुहूर्तं विदितं	४९	विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन्	५४४
वरं वरय भद्रं ते	५४०	विवक्षोर्मुखतो भूम्नो	६३३
वर्णयन्ति महात्मानः	६१३	विशुद्धं केवलं ज्ञानं	३११
वर्षपूगसहस्रान्ते	२७०	विशेषस्तस्य देहोऽयं	५८
वर्षो महीध्रमनघैककरे	४०५	विशेषस्तु विकुर्वाणाद्	२६५
वसुकामो वसून् रुद्रान्	१४१	विश्वान् देवान् राज्यकामः	१४१
वस्तुनो मृदुकाठिन्यं	६३६	विश्वं पुरुषरूपेण	३०२

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमो ४२२
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदाः १२०
विसृज्य वा यथा मायां ४६०
विस्रंसितानुरुभये सलिले ३५२
विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतो ३८६
वीर्यं हिरण्मयं देवो ६२९
वेदगर्भोऽभ्यधात् साक्षात् २१७
वेदद्रुमं विटपशो ४१५
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन ५४४
वेदाहमङ्ग परमस्य हि ४३९
वेदोपवेदधर्माणां ४६०
वेषं विधाय बहु भाष्यत ४१६
वैकारिकस्तैजसश्च २५८
वैकारिकान्मनो जज्ञे २६५
वैयासकिश्च भगवान् १५६
वैयासकेरिति वचः १६८
वैराजः पुरुषो योऽसौ ६२
वैश्वानरं याति विहायसा गतः १२७
व्यपेतसंक्लेश-विमोहसाध्वसं ५१६
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं ४१२
व्योमेव तत्र पुरुषो ४३९
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधरएव लोभो ६८

श-क्ष

शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् ४३३
शश्वत् प्रशान्तमभयं ४३३
शाब्दस्य हि ब्रह्मणः एषः पन्थाः ९७
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः १७४
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां १६१
शास्ता भविष्यति कलेः ४१८
शुचौ विविक्तः आसीनो ५२
शुद्धं समं सदसतः ४३३
शुल्बं सुतस्य न तु ३९९
शुश्रूषमाणः शीलेन ६०१
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं ४४३
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं ४४८
शेषोऽधुनापि समवस्यति ४२५
श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः ५२१
श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिः २०४
श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः ५२५
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धरं ११२
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः १६१
श्रीह्रीर्विभूत्यात्मवदद्भुतार्णं ३१९
श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनं ३५६
श्रेणीनां राजर्षीणां च ४६०
श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र ७
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च १०
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च १३६
श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं १३२
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा २६६
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः १५९
स आदिदेवो जगतां परो गुरुः ५११
स आश्रयः परं ब्रह्म ६२१
स उपामन्त्रितो राज्ञा ४८४
स एव पुरुषस्तस्माद् २७०
स एवेदं जगद्धाता ६५७
स एष आत्माऽऽत्मवतां १९९
स एष आद्यः पुरुषः ३१०
स एष भगवांल्लिङ्गैः २५४
सङ्ग्रहोऽयं विभूतीनां ४४१
स चाऽपि यत्र पुरुषो ४५६
स चिन्तयन् द्व्यक्षरं ५१२
सत्त्वं रजस्तमः इति २५२

सत्त्वं रजस्तमः इति ६५६
सत्यञ्जलौ किं पुरुधाऽन्नपात्र्या १०५
सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं ३७६
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं ३११
सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः १०५
सत्रे ममास भगवान् ३५१
सदसत्त्वमुपादाय २६९
सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति ३८६
सध्र्यङ् नियम्य यतयो ४३४
सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे ७८
सन्नियच्छति कालेन ६५८
सप्तोक्षबल्वलविदूरथ- ४१२
स भवानचरद् घोरं २३०
स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं १३२
समासेन हरेर्नाऽन्यद् ४४१
समीचीनं वचो ब्रह्मन् १७१
स मे हृषीकेशः हरिः २११
सम्प्रदिश्यैवमजनो ५९८
सम्प्लवः सर्वभूतानां ४६०
सम्प्राप्य गत्या सह तेन याति १३२
सम्यक् कारुणिकस्येदं २३३
सम्यग्जगाद मुनयो यद् ३३५
स वाच्यवाचकतया ६५५
सरहस्यं तदङ्गं च ५५०
सरित्समुद्रद्वीपानां ४५९
सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये ४२०
सर्वकामवरस्यापि २८१
सर्वभूतमयो विश्वं ५९८
सर्वमेतच्च भगवन् ४६४
सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि ४२६
सर्वात्मन्यखिलाधारः ४४२
सर्वासूनां च वायोश्च २७९
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन् ५२१
सर्वं पुरुष एवेदं २८५
सर्वं ह्येतद् भवान् वेद २२८
स वै भागवतो राजा १५५
स श्रेयसामपि विभुः ४३९
स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः ८१
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः २७०
सारस्वतोद्धव-पराशर- ४३१
साक्षात् स यज्ञपुरुषः ३५१
सिद्धचारणगन्धर्व- ६५६
सिद्धेऽन्यथाऽर्थे न यतेत तत्तत् ९७
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः ५२७
सुरासुरनगाः नागाः २८५
सृजामि तन्नियुक्तोऽहं ३०२
सृजामि तपसैवेदं ५४३
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहं २४८
सृती विचक्रमे विष्वङ् २९३
सोऽमृतस्याऽभयस्येशो २८८
सोऽयं तेऽभिहितस्तात ४४१
सोऽयं यदन्तरमलं निविशन् ३४२
सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि २१३
सोऽहङ्कारः इति प्रोक्तो २५८
सोहं समाम्नायमयस्तपोमयः ३०६
सौभर्युतङ्क-शिबि-देवल- ४३१
संवीक्ष्य शङ्कितमना ३९९
संस्थां विज्ञाय संन्यस्य १७०
स्तोकायुषां स्वनिगमो ४१५
स्त्रीभिः समं नवभिः ३३०
स्त्रीशूद्रहूणशबराः ४३२
स्थानेऽथ धर्ममख- ४२०

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः ६१७
स्थितिसर्गनिरोधेषु २५२
स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठदृष्टिः १२१
स्थिरं सुखञ्चाऽऽसनमास्थितो ११६
स्थूले भगवतो रूपे ५७
स्निग्धामलैः कुञ्चितनीलकुन्तलैः ११२
स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशं ५१२
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य ५१४
स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो २८६
स्वपार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं १२१
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना २७३
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलाऽऽस्यतः २११
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् २५४
स्वस्थः प्रशान्तकरणः ३४९
स्वायम्भुवेन मनुना हरिः ३२८
स्वाहा स्वधा वषडिति ४१८
हेरेरद्भुतवीर्यस्य कथाः ४४६
हर्तुर्हरिष्यति शिरो ४०८
हव्यकव्यामृतान्नानां २७८
हस्ते प्रगृह्य भगवान् ३५६
हस्तौ रुरुहतुस्तस्य ६४४
हासो जनोन्मादकरी च माया ६८
हिंसायाः निर्ऋतेर्मृत्योः २८२
हृदा स्वर्लोक उरसा २७२
हृषीकेशमनुस्मृत्य १७४
क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं ३८०
क्षीरोदधावमर-दानवयूथपानां ३५३
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं १९१
क्षोणीमयो निखिलजीव- ३५२
क्ष्मां वामनेन जगृहे ३५९

॥ उपन्यस्तवाक्यानां सूचिः ॥

पृष्ठ वाक्य ग्रन्थ

४१. ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म ... स याति परमां गतिं
– भगवद्गीता ८।१३.

५३. ॐकारश्चाथ शब्दश्च – नारदपुराण ५१।१०.

११७. ॐतत्सद् इति निर्देशो ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः
– भगवद्गीता १७।२३.

५६५. अकर्ता अभोक्ता – अध्यात्मोपनिषद् ६९.

५६१. अगन्धम् अरसम् – सुबालोपनिषद् ३.

२४४. अग्नये जुष्टं निर्वपामि – तैत्ति.संहिता १।१।४।२.

१२७. अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः – भगवद्गीता ८।२४.

५३८. अग्निहोत्रं जुहोति ... सिञ्चति प्रजनने – तैत्ति.संहिता १।५।९।१.

२४२. अग्ने यशस्विन् यशसे – ....

३५४. अज्ञश्च अश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति – भगवद्गीता ४।४०.

४९७. अञ्चु गतिपूजनयोः, अचु इत्येके
– पाणिनिधातुपाठ भ्वादिगण १८८, ८८७.

१२४. अणुपन्थावितत: पुराणो ... इतो विमुक्ताः
– बृहदा.उपनिषद् ४।४।८.

५५२. अणोः अणीयान् महतो महीयान् – श्वेताश्व.उपनिषद् ३।२०.

७३. अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिःकृता – याज्ञवल्क्यस्मृति १।१।३८.

५६४. अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति
– द्रष्ट. तैत्ति.संहिता ६।६।११, पूर्वमीमांसा-शाबरभाष्य १०।५।३४.

१७३. अतिवादांस्तितिक्षेत – भागवतपुराण १२।६।३४.

२८९. अतो ज्यायांश्च पुरुषः – ऋक्संहिता १०।९०।३.

११३, २८६. अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलं – ऋक्संहिता १०।९०।१.

१५७. अथ च यावद् नभोमण्डलं ... समामनन्ति
– भागवतपुराण ५।२२।७.

३४. अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते ... देवानां पशुः
– बृहदा.उपनिषद् १।४।१०.

५२०. अथवा शून्यवद् गाढं – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।७५.

२६७. अथ ह एनम् आसन्यं प्राणमूचुः – बृहदा.उपनिषद् १।३।७.

३५०. अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषम्
– भागवतपुराण ५।३।३.

१२३. अथ अकामयमानः ... प्राणा उत्क्रामन्ति ... ब्रह्माप्येति
– बृहदा.उपनिषद् ४।४।६.

४००. अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य – भागवतपुराण १०।८।४०.

२८८. अद्यते अत्ति च भूतानि – तैत्ति.उपनिषद् २।२.
६७. अधस्ताद् भूमेः उपरिष्टाच्च जलाशयाद् – भागवतपुराण ५।२६।५.
४२८. अध्वां विधान्याम् – तैत्ति.संहिता ३।३।७।४.
३०३. अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः
– भगवद्गीता ११।४०.
१७९. अनुर्लक्षणे कर्मप्रवचनीयः – पाणिनिसूत्र १।४।८३-८४.
६०३. अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेण – भागवतपुराण ५।९।३.
७६. अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् – भगवद्गीता ११।१६.
२८, ४०. अन्ते या मतिः सा गतिः – लौकिकन्यायसाहस्री १६६.
६४०. अन्नमयं हि सौम्य मनः – छान्दो.उपनिषद् ६।५।४.
६४८. अन्नमशितं त्रेधा भवति ... तत् पुरीषम् – छान्दो.उपनिषद् ६।५।१.
१६०. अन्नेन प्राणाः ... अन्नात् प्राणा भवन्ति ... आनन्दो ब्रह्मयोनिः
– महानारायणोपनिषद् २३।१.
५९०. अन्यद् एव तद् विदिताद् अथो अविदिताद् – केनोपनिषद् १।३.
३१४. अन्यो असौ अन्यो अहम् अस्मि – बृहदा.उपनिषद् १।४।१०.
१९९. अपपरी वर्जने – पाणिनिसूत्र १।४।८८.
४९१. अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता – भागवतपुराण १०।८४।३०.
४०. अपवर्गमात्यन्तिकं ... परिसमाप्तसर्वार्था – भागवतपुराण ५।६।१०.
७०. अपश्यत् पुरुषं पूर्णम् – भागवतपुराण १।७।४.
१९५. अपात्रेभ्यश्च दीयते ... तत् तामसमुदाहृतं – भगवद्गीता १७।२२.
३८. अपूर्वं सर्वतो भद्रं ... शुभमुत्पादितं पुरा
– महाभारत १२।२८४।९३-९५.
१९४. अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः ... सात्त्विकं परिचक्षते
– भगवद्गीता १७।१७.
११७. अभयमभयं भूतेभ्यः – बोधायनगृह्यसूत्र ४।१६।४.
६४७. अभयं क्षेमम् अमृतम् – भागवतपुराण ५।२०।३.
४९६. अभिध्योपदेशात् – ब्रह्मसूत्र १।४।२४.
१९४. अभिसन्धाय तु फलं – भगवद्गीता १७।१२.
५०२. अमोहाय गुणा विष्णोराकारश्चिच्छरीरता ... चोच्यते
– ब्रह्माण्डपुराण ...., द्रष्ट. महाभारततात्पर्यनिर्णय १।५०-५१.
३३, ९७, ९८, १०४. अम्भसि अपारे ... य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ... तस्यैवं विदुषः – तैत्ति.आरण्यक १०।१।१, महाना.उपनिषद् १।१-१९।१.
३१४, ३१७, ५०४. अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः – बृहदा.उपनिषद् ४।४।५.
१२७, १९६. अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्
– याज्ञवल्क्यस्मृति १।१।८.
११०. अर्थो अभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु – अमरकोश ३।३।८६.

१९५. अर्हानर्हापरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः – महाभारत १२।२७।३०.
२५२. अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः – ब्रह्मसूत्र १।४।२२.
४९१. अविद्यया बन्धः – भागवतपुराण ४।२९।७८.
३१३, ३१४. अविनाशी वा अरे अयमात्मा ... अनुच्छित्तिधर्मा
– बृहदा.उपनिषद् ४।५।१४.
५५७. अव्यक्तादीनि भूतानि – भगवद्गीता २।२८.
५९३. अव्यक्तमक्षरे लीयते ... परे देवे एकीभवति – सुबालोपनिषद् २.
५४१. अव्यक्तो अक्षर इत्युक्तः – भगवद्गीता ८।२१.
४४०, ४६३. अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः
– छान्दो.उपनिषद् ८।१२।१.
२४. अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत तमध्यापयीत
– याज्ञवल्क्यस्मृति बालक्रीडा १।२।२४.
६४७. अष्टाशीतिसहस्राणि – भागवतपुराण ८।१।२२.
६१७. अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादशाऽऽदित्याः
– बृहदा.उपनिषद् ३।९।२.
३१३, ४३६. असङ्गो ह्ययं पुरुषः – बृहदा.उपनिषद् ४।३।१५.
३१८. असतोऽधि मनो सृज्यत मनः प्रजापतिम् असृजत
– तैत्ति.ब्राह्मण २।२।९।१०.
५५४. असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत
– तैत्ति.उपनिषद् २।७।१.
५३०. असौ आदित्य एकविंशः – शतपथब्राह्मण १३।१।७।३.
३२७. असुरा वा उत्तरतः पृथिवीं पर्याचिकीर्षन् – तैत्ति.संहिता ६।५।२।२.
५१८, ५६५, ५८४. अस्थूलम्
– बृहदा.उपनिषद् ३।८।८, सुबालोपनिषद् ३.
१८८, २३१, ४२०, ५४२. अस्य ज्ञानमयं तपः – मुण्डकोपनिषद् १।१।९.
१२४. अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते ... एषोऽणिमा
– छान्दो.उपनिषद् ६।८।६.
२४६. अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति
– बृहदा.उपनिषद् ४।३।३२.
११८, १२३, ३१४, ६२५. अहमात्मा गुडाकेश – भगवद्गीता १०।२०.
३४७. अहो बत अनात्म्यं मे मन्दभाग्यस्य पश्यतः
– भागवतपुराण ४।९।३१.
५१. अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः – विष्णुपुराण १।२२।८७.
६०, १३१. आकाशशरीरं ब्रह्म – तैत्ति.उपनिषद् १।६।२.
२१. आकाशस्तल्लिङ्गात् – ब्रह्मसूत्र १।१।२१.
६२७. आण्डकोशो बहिरयं ... परमाणुवत् – भागवतपुराण ३।११।३९-४०.

५०२. आत्मकृतेः परिणामात् – ब्रह्मसूत्र १।४।२६.
८३. आत्मज्योतिरेव अयम् ... तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने ... अत्रायं स्वयञ्ज्योतिर्भवति – बृहदा.उपनिषद् ४।३।६-११.
४४२. आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति – बृहदा.उपनिषद् २।४।५.
१२, ४४. आत्मलाभान्न परं विद्यते – आपस्तम्बधर्मसूत्र १।८।२२।२.
५३२. आत्मानमपि यच्छति – भागवतपुराण १०।७७।११.
१४, ३१. आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयमस्मीति ... अनुसञ्ज्वरेद्
– बृहदा.उपनिषद् ४।४।१२.
१२, ३७. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः – बृहदा.उपनिषद् २।४।५.
४९४, ५०२, ५५५. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चनमिषद्
– एत.उपनिषद् १।१.
५१. आत्मैव इदं सर्वम् – छान्दो.उपनिषद् ७।२५।२.
६७. आदित्यानां ध्रुवापवर्गाणां ... तावदुन्नहनायाम
– भागवतपुराण ५।२०।३७.
४७६. आदित्यो वा अस्माँल्लोकादमुं लोकमैत् ... अबिभेद्
– तैत्ति.संहिता १।५।९।४.
५१९. आनन्दांशतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र हि – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।९९.
५५८, ५५९. आनीदवातं स्वधया तदेकं ... तमो वा इदम् अग्रे ... विषमत्वं प्रयाति – मैत्रायण्युपनिषद् ५।१-२.
३०२, ३३९. आपो नारा इति प्रोक्ता – मनुस्मृति १।१०.
५५७. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् – तैत्ति.संहिता ७।१।५।१.
१३१, १३२. आ ब्रह्मभुवनाल्लोका ... मामुपेत्य तु कौन्तेय
– भगवद्गीता ८।१६.
३९९. आमन्ति चैनमस्मिन् – ब्रह्मसूत्र १।२।३२.
४३०. आरुह्य ये द्रुमभुजान् – भागवतपुराण १०।१८।१४.
२८. आवृत्तिरसकृदुपदेशाद् – ब्रह्मसूत्र ४।१।१.
५५८. आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थः – भागवतपुराण ११।२४।२.
२४६. इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं – छान्दो.उपनिषद् ७।१।२.
१४८. इत्थं विचिन्त्य परमः स तु ... प्रवदन्ति मायाम्
– महाभारततात्पर्यनिर्णय १।६.
७६. इदम् आर्षं प्रमाणं च – महाभारत ३।१८०।३३.
१४४. इदं द्यावापृथिवी सत्यमस्तु पितर्मातः – ऋक्संहिता १।१८५।११.
५६९, ५८४, ५८८. इदं सर्वं यदयमात्मा – बृहदा.उपनिषद् २।४।६.
१४७. इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष ... दधि कुरुत – तैत्ति.संहिता २।५।३।२-४.
८६, ८८. इन्द्रियाणि स्वयोनिषु – भागवतपुराण ११।२४।२४.
५६९. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते – बृहदा.उपनिषद् २।५।१९.

१२३, ३९४. इहैव/अत्रैव समवनीयन्ते/समवलीयन्ते प्राणाः
— बृहदा.उपनिषद् ४।४।६, ३।२।११, नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् ५.
५८३. इक्षेत विभ्रमम् इदम् — भागवतपुराण ११।१३।३४.
१५१, ३०८. ईश्वराद् ज्ञानम् अन्विच्छेद् — ब्रह्मपुराण १३९।११.
५३७. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् — ऋक्संहिता १०।७१।४.
२८९. उत अमृतत्वस्य ईशानः — ऋक्संहिता १०।९०।२.
१२४. उत्क्रान्ति-गत्यागतीनाम् — ब्रह्मसूत्र २।३।१९.
५३०. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः ... यो लोकत्रयमाविश्य
— भगवद्गीता १५।१७.
२२. उत्पत्तिं प्रलयश्चैव ... स वाच्यो भगवान् — विष्णुपुराण ६।५।७८.
१९८. उदासीनोऽरिवद् वर्ज्य — भागवतपुराण १०।२१।५.
२३, ५६३. उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति — तैत्ति.ब्राह्मण ३।८।१६।४.
२४२. उद्भिदा यजेत — ताण्ड्यमहाब्राह्मण १९।७।३.
८२. उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते — भागवतपुराण ३।२२।१२.
२४. उपनीयः तु यः शिष्यं ... तमाचार्यं प्रचक्षते — मनुस्मृति २।१४०.
२९८. उपवक्ता — तैत्ति.आरण्यक ३।३.
११७. उपविष्टं दर्भमय्यां वृष्याम् — भागवतपुराण ४।६।३७.
४८५. उपामन्त्रयन्त राज्येन पितरो यमम् — तैत्ति.संहिता २।६।६।५.
४९२. उभयलिङ्गाधिकरण — ब्रह्मसूत्र ३।२।११.
३०४, ६६०. उभयव्यपदेशाद् — ब्रह्मसूत्र ३।२।२७.
६९. उम्रावेतं द्यूर्षाहौ ... वरुणस्य पाशः
— तैत्ति.संहिता १।२।८।२, शतपथब्राह्मण ३।३।४।१२.
३६१. ऊर्ध्वं वै पुरुषस्य नाभ्यै मेध्यम् ... च व्यावर्तयति
— तैत्ति.संहिता ६।१।३।४.
१४४. ऊर्वशी मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तरां — भागवतपुराण ९।१४।४५.
५३८. ऋतवो वै प्रजाकामाः प्रजां ... प्रजावन्तः स्याम
— तैत्ति.संहिता ७।२।६।१.
६२४. ऋतं पिबन्तौ — कठोपनिषद् १।३।१.
५६३. एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन — अध्यात्मोपनिषद् ६३.
२९४, ५०३. एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव ... तथेतरः
— भागवतपुराण ११।११।४.
७४. एकाशीतिः ... ब्राह्मणाः बभूवुः — भागवतपुराण ५।७।१३.
५५५. एके मुख्यान्यकेवला — अमरकोश ३।३।१६.
५५४. एको नारायणः आसीद् न ब्रह्मा न च शङ्करः
— द्रष्ट. महाभारततात्पर्यनिर्णय १।६३.
५५४. एको ह नारायणः आसीद् न ब्रह्मा न ईशान — महोपनिषद् १.

६०८. एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् – भागवतपुराण १।३।५.
५२०. एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि – बृहदा.उपनिषद् ३।८।९.
२४१. एतस्यैव महतो भूतस्य निःश्वसितं यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः
– बृहदा.उपनिषद् २।४।१०.
११६. एतान्यपि तु कर्माणि – भगवद्गीता १८।६.
३१. एतावदरे खलु अमृतत्वम् – बृहदा.उपनिषद् ४।५।१५.
१४२. एते देवाः कला विष्णोः – भागवतपुराण ३।५।३७.
१४४. एते वै गन्धर्वाप्सरसो यद् राष्ट्रभृतः – तैत्ति.संहिता ३।४।८।४.
२१६. एष ह्येव आनन्दयाति – तैत्ति.उपनिषद् २।७।१.
१६. ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः ... सङ्ग्रामं जित्वा
– तैत्ति.संहिता २।२।१।१-३. द्रष्ट. पातं.महाभा. १।४।२८ बालमनोरमा च.
३३५. ओजः सहो बलयुतं ... गदां दधद् – भागवतपुराण १२।११।१४.
५०३. अंशो नाना व्यपदेशाद् – ब्रह्मसूत्र २।३।४३.
३५५. कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थम् – भागवतपुराण ३।२८।२६.
६२६. कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ – नारदपुराण १।५१।१०.
१४२. कत्येव देवाः ... आददाना यन्ति – बृहदा.उपनिषद् ३।९।१-५.
१७९. कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रं सश्चसि दाशुषे – वाजसनेयिसंहिता ८।२.
६६१. कदाचित् सर्वम् आत्मैव भवति इह जनार्दनः
– तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।३७.
६४८. कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो ... क्रमशो मलाः
– श्रीभावप्रकाश पूर्वखण्ड गर्भप्रकरण २०९.
४९. कर्तृकर्मणोः कृति – पाणिनिसूत्र २।३।६५.
१८५. कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते – भागवतपुराण ६।१।११.
१९१. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः – भगवद्गीता ३।२०.
४२. कर्म प्रवृत्तं च ... ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति – भागवतपुराण ४।४।२०.
१९३. कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम् – भगवद्गीता १७।६.
१२८. कल्को स्त्री शमलैनसोः दम्भेऽपि – अमरकोश ३।३।१४.
१०७. काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः
– अमरकोश १।६।१२.
४३१. कायम् – भागवतपुराण ३।२।४९.
१०३. कारीर्या वृष्टिकामो यजेत – आपस्तम्बश्रौतसूत्र १९।२५।१६.
८४. कात्स्र्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वाद् – ब्रह्मसूत्र ३।२।३.
१९६. कार्यमित्येव – भगवद्गीता १८।९.
३५८. कालात्मकः सोऽथ सुपर्णः – महाभारततात्पर्यनिर्णय ३।१३.
७०. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् – भगवद्गीता ११।३२.

२२६. कालः स्वभावो नियतिः ... सुखदुःखहेतोः
— श्वेताश्व.उपनिषद् १।२.
१८०. किमासनं ते गरुडासनाय — गरुडपुराण ३।७।३६.
६४७. कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो ... न च पुनरावर्तते
— छान्दो.उपनिषद् ८।१५।१.
५५६. कुतस्तु खलु सौम्य ... असतः सद् जायेत
— छान्दो.उपनिषद् ६।२।१.
७३. कृती कुशल — अमरकोश ३।१।४.
५२०. कृते शुक्लश्चतुर्बाहुः — भागवतपुराण ११।५।२१.
३६. कृत्याश्च — पाणिनिसूत्र ३।३।१७१.
३४४. कृत्रिमं च ध्रुवस्थानं श्वेतद्वीपं तथैव च
— तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।१३३.
५५९. किं तदानीं तस्मै सहोवाच न सन्नासन् न सदसद्
— सुबालोपनिषद् १।१.
२९५. किं तदासीत् तस्मै स होवाच ... तदण्डं समभवत् ... पुरुषो दिव्यः सहस्रशीर्षा — सुबालोपनिषद् १.
३४. किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः — भगवद्गीता ९।३३.
१४७. को नु राजन् इन्द्रियवान् — भागवतपुराण ११।२।२.
१९५, ३६६. क्रीडार्थमात्मन इदं ... ईश कुर्युः — भागवतपुराण ८।२२।२०.
३४, १९०. क्लेशो अधिकतरः तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसां
— भगवद्गीता १२।५.
४५९. गतः स कालो यत्रासन् देवाः सेवानुवर्तिनः — ....
७३. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च — पाणिनिसूत्र ५।१।१२४.
४६९. गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः — भागवतपुराण ५।११।८.
३९०. गुणेन तमसाच्छन्नो विष्णुः ... पालकः प्रभुः
— सूतसंहिता १।८।३१.
२६२. गुणैश्च आशयसम्भवैः — भागवतपुराण ११।२५।३६.
६१, ८१, १२४, ३२७. गौण-मुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः
— परिभाषेन्दुशेखर परिभाषा १५.
१४४. गौरी पद्मा शची मेधा ... वैधृतिः धृतिः — नारदपुराण १।५१।९७.
३७७. चक्रञ्चानीकम् अस्त्रियाम् — अमरकोश २।८।७८.
२९८. चतुर्होतृभ्यो यज्ञो निर्मितः — तैत्ति.ब्राह्मण २।३।५।५.
५३. चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि ... मनुष्याः वदन्ति
— तैत्ति.ब्राह्मण २।८।८।५-६.
७६. चातुर्वर्ण्ये प्रमाणं च ... सत्यं च — महाभारत ३।१८०।२३.
१९०. चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वाद् — ब्रह्मसूत्र ४।४।६.

२४२. चित्रया यजेत – तैत्ति.संहिता २।४।६।१.
६१७. चुक्षोभ अन्योन्यम् आसाद्य – भागवतपुराण ३।६।५.
४३०. चेतस्तत्प्रवणं सेवा – सिद्धान्तमुक्तावली २.
३५५. चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे – भागवतपुराण ३।२८।२८.
५८३. छायाप्रत्याह्वयाभासा – भागवतपुराण ११।२८।५.
३३१. छायायाः कर्दमो जज्ञे – भागवतपुराण ३।१२।२७.
५०१. जगद्व्यापारवर्ज्यम् – ब्रह्मसूत्र ४।४।१७.
३५९, ३६७. जघने आत्ममुख्यान् – भागवतपुराण ८।२०।२४.
५००. जन्म तु आत्मतया पुंसः सर्वभावेन ... मनोरथौ
– भागवतपुराण ११।२२।३९.
७५. जन्मना जायते शूद्रः ... ब्राह्मणः स्मृतः – ....
६१४. जन्माद्यस्य यतः – ब्रह्मसूत्र १।१।२.
४५१. जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः – पाण्डवगीता ४१.
२३६. जय जय जहि अजाम् अजित – भागवतपुराण १०।८४।१४.
६०६. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः – भगवद्गीता २।२७.
४१५. जातः कंसवधार्थाय – जन्माष्टमीव्रतोद्यापनप्रयोगे अर्घ्यमन्त्रः.
४९०. जीव प्राणधारणे – पाणिनिधातुपाठ भ्वादिगण ५६३.
५०८, ५८२. जीवेशौ आभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति ... तस्माद् आत्मनएव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपि
– नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् ९.
३९४. जीवो जीवं विहाय मां – भागवतपुराण ११।२५।३५.
५०२. जीवोत्पादनसमय एव ... तथा भवन्ति – विद्वन्मण्डन.
१६७. ज्ञात्वा आरम्भः उपक्रमः – अमरकोश २।७।१३.
२९. ज्ञानादेव तु कैवल्यम् – द्रष्ट. गरुडपुराण २।४९।८७.
६०. ज्योतिषां ज्योतिः – मुण्डकोपनिषद् २।२।९.
१४९, १५०. त इमं/अमुं लोकम् अयजन्/अजयन् ... ते अन्तरिक्षम् अयजन्/अजयन् – तैत्ति.संहिता ७।१।५।३.
५६९, ५७०. त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानाः ... अपिधानम्
– छान्दो.उपनिषद् ८।३।१.
३४४. ततो गन्तासि मत्स्थानं ... नावर्तते गतः – भागवतपुराण ४।९।२५.
६१७. ततोऽभवन् महत्तत्त्वम् अव्यक्तात् कालचोदितात्
– भागवतपुराण ३।५।२७.
३३. ततोऽभूत् त्रिवृद् ॐकारो योऽव्यक्तप्रभवः ... सनातनम्
– भागवतपुराण १२।६।३९-४१.
३२, १८१. तत्त्वमसि – छान्दो.उपनिषद् ६।८।७.

४१. तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्य व्योम्नि ... चिन्तयेद्
— भागवतपुराण ११।१४।४३-४४.
५८९. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद् ... तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवद्
— तैत्ति.उपनिषद् २।६.
१८१. तदधीनवचने सातिः — पाणिनिसूत्र ५।४।५४.
३०४, ५०२, ५७१. तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः — ब्रह्मसूत्र २।१।१४.
५०२. तदात्मानं स्वयमकुरुत — तैत्ति.उपनिषद् २।७.
३९१. तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषा — भागवतपुराण १०।३।३७.
५७२. तदिदमप्येतर्हि य एवं वेद — बृहदा.उपनिषद् १।४।१०.
५६१. तदेजति तन्नैजति — ईशावास्योपनिषद् ५.
६६०. तदेतदक्षयं नित्यं ... विकल्पवद् — विष्णुपुराण १।२२।६०.
३३, ४३७. तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् — महाना.उपनिषद् १।६.
४१३. तदेव रूपं दुरवापम् आप — भागवतपुराण १०।४४।३९.
८९. तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय — बृहदा.उपनिषद् २।१।१७.
१७५, २५१, ४९१, ४९५, ५६७, ६५०. तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय
— छान्दो.उपनिषद् ६।२।३.
२०. तद् अस्य अस्ति अस्मिन् इति मतुप् — पाणिनिसूत्र ५।२।९४.
२०. तद् अस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच् — पाणिनिसूत्र ५।२।३६.
४८५. तद् एनम् अधीनोत तद् दध्नो दधित्वम् — तैत्ति.संहिता २।५।३।४.
४५०. तद्धाम परमं मम — भगवद्गीता ८।२१, १५।६.
११८. तद् यथाहि निर्ल्वयनी वल्मीके ... शरीरं शेते
— बृहदा.उपनिषद् ४।४।७.
१९६. तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो — भागवतपुराण १।५।११.
३५९. तद् वामनं रूपम् ... गुणत्रयात्मकम् — भागवतपुराण ८।२०।२१.
३३, ५२५. तद्विष्णोः परमं पदम् — ऋक्संहिता १।२२।२०.
१९१. तपसा देवा देवताम् अग्र आयन् ... प्रणुदाम् आरातीः
— तैत्ति.ब्राह्मण ३।१२।३।१.
५३९. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म — तैत्ति.उपनिषद् ३।५.
१९१. तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं ... परमं वदन्ति — महाना.उपनिषद् २२।१.
३३९. तपो न अनशनात् परम् — महाना.उपनिषद् २१।१.
१२८. तपो न कल्को अध्ययनं न कल्कः — महाभारत १।१।२७५.

५०३. तमक्रतुं पश्यति वीतशोको ... ईशम्

— महाना.उपनिषद् ८।३, श्वेताश्व.उपनिषद् ३।२०.

१२४. तमुत्क्रामन्तं प्राणो अनूत्क्रामति ... सर्वे प्राणाः अनूत्क्रामन्ति

— बृहदा.उपनिषद् ४।४।२.

१८, ४४७, ४४८, ६५३. तमेतम् अग्निः इति अध्वर्यवः उपासते ... तं यथा यथा उपासते तदेव भवति ... तद्धैतान् भूत्वा अवति ... सर्वं हैनम् एतद् भूत्वा अवति

— मुद्गलोपनिषद् ३, शतपथब्राह्मण १०।५।२।२०.

६५९. तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वम्

— मुण्डकोपनिषद् २।२।१०, कठोपनिषद् २।२।१५.

१३६. तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः — महाभारत १२।३४९।७०.

३६०. तमो वा इदमग्रे आसीद् ... तस्यापि रसः सत्त्वम्

— मैत्रायण्युपनिषद् ५।२.

५५८, ५५९. तमो वा इदम् अग्रे आसीत् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयाति

— ऋक्संहिता १०।१२९।३.

३९१. तयोः एको बलदेवो बभूव — महाभारत १।१९७।३७.

१२, ३१५. तरति शोकम् आत्मविद् — छान्दो.उपनिषद् ७।१।३.

३६३. तस्मात् त्वत्तो महीम् ... पदा मम — भागवतपुराण ८।१९।१६.

२७९. तस्मादन्नं ददत् सर्वाण्येतानि ददाति — महाना.उपनिषद् २३।१.

३८-३९. तस्माद् वक्ष्यामि भो विप्राः ... प्राप्नोति द्विजोत्तमाः

— ब्रह्मपुराण २२९।८-१३.

२६३. तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाश ... वायोरग्निः

— तैत्ति.उपनिषद् २।१.

२९४. तस्माद् विराड् अजायते — ऋक्संहिता १०।९०।५.

२७९. तस्माल्लोमशा अन्तरतः प्राणाः — तैत्ति.संहिता ६।२।११।३.

१७८. तस्य पुत्राः दायम् उपयन्ति ... द्विषन्तः पापकृत्याम्

— जैमि.ब्राह्मण १।५०.

५५. तस्याः शिखायाः मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः

— महाना.उपनिषद् ११।१३.

२९१. तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः — पातञ्जलमहाभाष्य ४।१।४८.

३९०. ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ — भागवतपुराण ४।१।५९.

३२९. तासां मे पौरुषी प्रिया – भागवतपुराण ११।७।२२.
५३. तीर्थे हि ते तां प्रावेशयन् – तैत्ति.संहिता ६।१।१।२.
९५, ९६. तुष्टे तु तत्र किम् अलभ्यम् – भागवतपुराण ७।६।२५.
२३. तृणारणिमणिन्याय – लौकिकन्यायसाहस्री ४३४.
१४३. तेजोमयी वाग् – छान्दो.उपनिषद् ६।६।५.
३३. ते प्राप्नुवन्ति मामेव – भगवद्गीता १२।४.
८२. ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मणः आनन्दः
– तैत्ति.उपनिषद् २।८.
३८. तेष्वेव योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिम् – मत्स्यपुराण २८९।१७.
६०. तोयात्मने नमः – कूर्मपुराण १।१०।६८.
४०७. तैः अयं साध्यतां मखः – भागवतपुराण १०।२४।२५.
३०६. तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि – बृहदा.उपनिषद् ३।९।२६.
२८. तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् – भागवतपुराण १।२।३.
१६१. तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमस्सु हन्त – भागवतपुराण ३।१५।२३.
५१९. त्रयं वच्मि यथामति – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।५.
२९२, २९३. त्रिपादूर्ध्वम् ... साशनानशने अभि – ऋक्संहिता १०।९०।४.
५२६. त्रेधा उरुगाय – ऋक्संहिता १।१५४।१.
६४२. त्वचम् अस्य विनिर्भिन्नां ... प्रतिपद्यते – भागवतपुराण ३।६।१८.
५८३. त्वय्युद्धवाऽऽश्रयति – भागवतपुराण ११।१९।७.
११०. दधि मधुरं ... तस्य तदेव हि मधुरं – सुभाषितहारावली १४४१.
२३. दण्डचक्रादिन्याय – लौकिकन्यायसाहस्री ४३५.
३७१. दर्शनं याति चेतसि – भागवतपुराण १।६।३३.
४६१. दशोत्तरैः – भागवतपुराण ३।२६।५२.
४५०. दहं विपाप्मं ... तदुपासितव्यम्
– तैत्ति.आरण्यक १०।१०।३, महाना.उपनिषद् १०।७.
१९५. दातव्यमिति यद् दानम् – भगवद्गीता १७।२०.
१९४. दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा ... दानं परमं वदन्ति
– महाना.उपनिषद् २७।१.
५८. दिह उपचये – पाणिनिधातुपाठ भ्वादिगण १०४०.
१९५. दीयमानं रुदति अन्नम् – व्याससमृति ४।५१.
२२. दृढं प्रलब्धो भगवान् अपां पतिः – भागवतपुराण ३।१७।२९.

३७६. देवापिः शन्तनोः भ्राता ... पृथयिष्यतः

– भागवतपुराण १२।२।३७-३८.

१५१. देवा वै सत्रमासतर्द्धिपरिमितं यशस्कामा – तैत्ति.संहिता २।३।३।१.

६०५. देवोऽसुरो मनुष्यो वा – भागवतपुराण ७।७।५०.

२०८. देहदेहिविभागोऽयम् अविवेककृतः ... कल्पितः

– भागवतपुराण ६।१५।८.

४६२. देहं तु तन्न चरमः स्थितमुत्थितं वा – भागवतपुराण ३।२८।३७.

६४१. देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा – भागवतपुराण ११।२३।५०.

१०६, ४२९. देहः किमन्नदातु ... वा – भागवतपुराण १०।१०।११.

२३६. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया – भगवद्गीता ७।१४.

३९७. दैवोपहतचेतसः – भागवतपुराण १०।१२।४९.

३५०. दो अवखण्डने – पाणिनिधातुपाठ दिवादिगण १३.

२४, ४२. दोषबुद्ध्योभयातीतः निषेधाद् ... यथार्भकः

– भागवतपुराण ११।७।११.

१०. दौष्यन्तिः अत्यगाद् मायाम् – भागवतपुराण ९।२०।२७.

४५८. द्वादशार्धपलोन्मानम् – भागवतपुराण ३।११।९.

६२४. द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ

– मुण्डकोपनिषद् ३।१।१, श्वेताश्व.उपनिषद् ४।६.

५८८. द्वे अस्य बीजे शतमूलः – भागवतपुराण ११।१२।२२.

३८०. धन्वन्तरिर्दैर्घ्यतमस् – भागवतपुराण ९।१७।४.

१०२. धन्वन्निव प्रपा असि – ऋक्संहिता १०।४।१.

३३५. धर्मज्ञानादिभिः युक्तं सत्त्वं परम् इह उच्यते

– भागवतपुराण १२।११।१३.

३३४. धर्मदासो ज्येष्ठपुत्रो भार्या ... नैव देयमिति स्थितिः – ....

१९७. धर्मः स्खलति कीर्तनात् – आध्यात्मिकरामायण २।९।४.

४१०. धारयन्ति अतिकृच्छ्रेण – भागवतपुराण १०।४३।६.

३७४. ध्यायमानः – मुण्डकोपनिषद् ३।१।८.

४९१. न अग्नेः हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्

– भागवतपुराण ११।२३।५६.

६४७. न अपुत्रस्य हि लोको अस्ति – स्कन्दपुराण २।७।२२।८२.

३७२. न उद्धवो अण्वपि मन्न्यूनः – भागवतपुराण ३।४।३१.

३६८. न किंकरो न अयम् ऋणी च राजन् – भागवतपुराण ११।५।४१.

२७४. न जायते म्रियते वा कदाचिद् – भगवद्गीता २।२०.

२३५. न तत्र सूर्यो भाति ... तस्य भासा सर्वमिदं विभाति
– मुण्डकोपनिषद् २।२।१०.

१२५. न तस्मात् प्राणाः उत्क्रमन्ति ... ब्रह्मविदः उत्क्रम्य स्वर्गलोकम् अपि यन्ति – बृहदा.उपनिषद् ४।४।६-८.

४६२. न देहं बुबुधे गतम् – भागवतपुराण ६।१०।१२.

६७. न ध्रुवोपरि तद्गतिः – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।६.

६००. न ... पतिश्च स स्याद् – भागवतपुराण ५।५।१८.

१६. न पश्यो मृत्युं पश्यति ... सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति
– छान्दो.उपनिषद् ७।२५।२ , ७।२६।२.

३७९. न बर्हिः अनुप्रहरेद् – आपस्तम्बश्रौतसूत्र ६।१४।४.

६८. नमःस्वस्तिस्वाहा- – पाणिनिसूत्र २।३।१६.

१९६. न यद्वचश्चित्रपदं – भागवतपुराण १।५।१०.

३४५. न वत्स नृपतेः धिष्ण्यम् – भागवतपुराण ४।८।११.

१४. न वा अरे – बृहदा.उपनिषद् २।४।५.

५६१. न सन्दृशे तिष्ठति ... कश्चन एनम् – कठोपनिषद् २।३।९.

६१०. न सूरयो हि – भागवतपुराण ५।११।१.

३३०. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्
– भगवद्गीता ३।५.

३५. न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता अपितु विधेयं स्तोतुम्
– लौकिकन्यायसाहस्री १३८.

१४२. नक्षत्राणामहं शशी – भगवद्गीता १०।२१.

६५०, ६५१. नाडीः नद्यो लोहितेन ... यत् ... कामसम्भवः
– भागवतपुराण ३।२६।२७.

५४५. नाथृ याच्ञायाम् – पाणिनिधातुपाठ भ्वादिगण ७.

५०३. नाम-रूपे व्याकरवाणि – छान्दो.उपनिषद् ६।३।२.

३१, ३२, १३५, २०१, ५०३, ५५२. नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यः ... यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः
– कठोपनिषद् १।२।२३, मुण्डकोपनिषद् ३।२।३.

५५६. नाऽसतो विद्यते भावः – भगवद्गीता २।१६.

५५६, ५५७, ५५८. नाऽसदासीन्नो सदासीत् तदानीम् ... नासीद् रजः ... नो व्योमापरो यद् ... किमावरीवः कुह कस्य शर्मन् ... अम्भः किमासीद् ... न मृत्युरासीद् ... आनीदवातं ... किञ्चनास ... तमः आसीद् ... योस्याध्यक्षः परमे व्योमन् – ऋक्संहिता १०।१२९।१-७.

३१. नाहं वेदैर्न तपसा – भगवद्गीता ११।५३.

२१६. निगमकल्पतरोर्गलितं फलं – भागवतपुराण १।१।३.

२७४, ४४०. नित्यः सर्वगतः स्थाणुः – भगवद्गीता २।२४.

२०९. नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे – पातञ्जलमहाभाष्य १।१।१.

४९०, ४९१. नित्यो नित्यानां ... चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् – श्वेताश्व.उपनिषद् ६।१३, कठोपनिषद् २।२।१३.

३४६. निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम – भागवतपुराण ४।८।८२.

४६. निवृत्ततर्षैः उपगीयमानाद् – भागवतपुराण १०।१।४.

५८०. नीलरूपमेव तमः – द्रष्ट. न्यायकन्दली उद्देशप्रकरण.

३६८. नूनं बताऽयं भगवान् अर्थेषु न निष्णातो योसाविन्द्रः
– भागवतपुराण ५।२४।२४.

३६६. नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् यावदर्थपरिग्रहः – भागवतपुराण ८।१९।१७.

४८५. पञ्चदशाहानि माशीः – छान्दो.उपनिषद् ६।७।१.

५८. परस्य दृश्यते धर्मो ... उपलक्ष्यते – भागवतपुराण ३।२६।४९.

८५, ३७४, ५४१, ५८४. पराञ्चि खानि ... अमृतत्वम् इच्छन्
– कठोपनिषद् २।१।१.

४३७. परात्परं यन्महतो महान्तम् – महाना.उपनिषद् १।४.

४९२, ६०२. परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते ... च
– श्वेताश्व.उपनिषद् ६।८.

५८९. परेण विशता स्वस्मिन् मात्रया – भागवतपुराण ३।६।५.

३२७. पशूनां वा एष मन्युः यद् वराहः – तैत्ति.ब्राह्मण १।७।९।४.

३३०. पश्यन् शृण्वन् ... पद्मपत्रमिव अम्भसा – भगवद्गीता ५।८-१०.

२९१, २९२, ५०३. पादोऽस्य विश्वा/सर्वा ... दिवि
– ऋक्संहिता १०।९०।३.

५२. पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीयः – .... (न्याय).

४३. पितैव उपनयेत् पुत्रं ... सहोदरः – निर्णयसिन्धौ उपनयने अधिकारिनिरूपणम् इत्यत्र प्रयोगरत्नतः उद्धृतम्.

५३. पीवोन्नारयिवृधः सुमेधाः – तैत्ति.ब्राह्मण २।८।१।१.
१४६, १७०, ४४२. पुनश्च भूयाद् भगवति अनन्ते रतिः
– भागवतपुराण १।१९।१६.
३४७. पुन्नाम्नो नरकाद् ... त्रायते सुतः – रामायण २।१०७।१२.
५२, २८४, २८६, २९६. पुरुष एव इदं सर्वं – ऋक्संहिता १०।९०।२.
५०२. पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोपश्यद्
– शतपथब्राह्मण १४।४।२।१.
३१४. पुरुषेश्वरयोः अत्र न वैलक्षण्यम् अण्वपि
– भागवतपुराण ११।२२।११.
५२. पुरुषो ह वै नारायणो अकामयत – नारायणाथर्वशिरोपनिषद् १.
१८०, ५३०. पुरुषः स परः पार्थ ... इदं ततम् – भगवद्गीता ८।२२.
९७. पुरोडाशं ... चतुर्धा करोति – तैत्ति.ब्राह्मण ३।३।८।६-७.
४९७. पूर्णमदः पूर्णमिदं ... अवशिष्यते – ईशावास्योपदिषद् १९.
४९२, ५१७, ५६०, ५७१, ६६०. पूर्ववद् वा – ब्रह्मसूत्र ३।२।२९.
४०. पूर्वात् परबलीयस्त्वम् – भामती (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यटीका) १।१।१.
२९८. पृथिवी होता – तैत्ति.आरण्यक ३।२.
३०४, ५६६, ५९३. पृथिव्यप्सु प्रलीयते ... अक्षरं तमसि विलीयते ... तम एकीभवति परस्मिन् ... इति वेदानुशासनम् – सुबालोपनिषद् २.
४३७. प्रकाशवच्च अवैयर्थ्याद् – ब्रह्मसूत्र ३।२।१५.
४९६. प्रकाशाश्रयवद् वा – ब्रह्मसूत्र ३।२।२८.
५५८. प्रकृतिं पुरुषं च – भगवद्गीता १३।१९.
४२१, ५७१. प्रकृतिर्ह्यस्योपादानम् आधारः ... अहम्
– भागवतपुराण ११।२४।१९.
५१९. प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माभवत् पुराण.. उदीर्यते
– तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।९८.
५३८. प्रजापतिः अकामयत प्रजाः सृजेयेति – तैत्ति.ब्राह्मण २।२।१।१.
६४७. प्रजामनु प्रजायन्ते तदु ते मर्त्यामृतम् – तैत्ति.ब्राह्मण १।५।५।६.
१५१. प्रतिकूले गृहं त्यजेद् – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।२३१.
१४५. प्रतिसिञ्चन् विचिक्रीडे यक्षीभिः यक्षराडिव
– भागवतपुराण १०।८७।९.

५१७, ५१९, ६११. प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ ... पादत्वम् अस्य हि
— तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।१०२.
३६. प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य न विध्यर्थस्य कर्हिचित्
— तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।१७७.
३९५. प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतम् — भागवतपुराण १०।७।७.
९८. प्राजापत्यां निरूप्य इष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः
— भागवतपुराण १।१५।३९.
३२, १८९. प्राणन्नेव प्राणो भवति — बृहदा.उपनिषद् १।४।७.
१९६. प्राणायामैः दहेद् ... किल्बिषान् — भागवतपुराण ३।२८।११.
२६. प्रिया बत अरे नः सति — बृहदा.उपनिषद् २।४।४.
३५. प्रैषानुवाद- — पाणिनिसूत्र ३।३।१६३.
१५, १०३, १९३. फलमतः उपपत्तेः — ब्रह्मसूत्र ३।२।३८.
३८९. बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः
— भागवतपुराण १०।१७।४८.
३७९. बर्हिरनुप्रहरतीति वाचि स्वाहा — भारद्वाजश्रौतसूत्र ३।१२।३.
२९८. बर्हिराज्याधिकरण — जैमिनिपूर्वमीमांसासूत्र १।४।८।१०.
२४२. बर्हिः देवसदनं दामि — मैत्रा.संहिता १।१।२.
३९, ४७१. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यन्ते
— भगवद्गीता ७।१९.
३७१. बहूनि सन्ति नामानि — भागवतपुराण १०।८।१५.
५८१. बी गतौ — पाणिनिधातुपाठ अदादिगण १०७३.
४२. बुधो बालकवत् क्रीडेत् ... नैगमंश्चरेद् — भागवतपुराण ११।१८।२९.
७५. ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत ... मरुद्भ्यो वैश्यं ... मरुतो वै देवानां विशः — तैत्ति.संहिता २।२।५।७.
२३८. ब्रह्म दाशा ब्रह्म कितवा — अथर्वपिप्पलादसंहिता ८।९।११.
६८. ब्रह्मलोकम् अकर्मकम् — ....
७५. ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् ... शूद्रेण शूद्रः
— बृहदा.उपनिषद् १।४।११-१५.
१६. ब्रह्मविदाप्नोति परम् — तैत्ति.उपनिषद् २।१.
५३२. ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति — मुण्डकोपनिषद् ३।२।९.
३२. ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति — बृहदा.उपनिषद् ४।४।६.

५१. ब्रह्मैव इदं सर्वम् – बृहदा.उपनिषद् २।५।१.

४२. ब्राह्मणो न हन्तव्यः – कश्यपस्मृति १२.

७६. ब्राह्मणः को भवेद् राजन् ... भुजगोत्तम
– महाभारत ३।१८०।२०-३७.

७३. ब्राह्मोऽजातौ – पाणिनिसूत्र ६।४।७१.

३७५. भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्
– भागवतपुराण ११।२७।५३.

३७४. भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुनः – भगवद्गीता ११।५४.

२५, २९, ३०. भक्त्या माम् अभिजानाति – भगवद्गीता १८।५५.

१३५. भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति – महाभारततात्पर्यनिर्णय १।११६.

५३२. भगवानिति शब्दोऽयं ... वर्तेते वासुदेवे सनातनः
– वराह / नरसिंहपुराण ? द्रष्ट. पद्मपुराण ६।२२६।६८.

२२. भगवान् इन्द्रः प्रतिघातम् अचीकरत् – भागवतपुराण ४।१९।१०.

२२. भगश्चासौ वांश्च भगवान् – अथर्वशिर ? ....

४६१. भवद्भिः अंशैः यदुषु उपजन्यताम् – भागवतपुराण १०।१।२२.

३८१. भवाय नाशाय – भागवतपुराण ५।१।१३.

३९४. भागो जीवः स विज्ञेयः – श्वेताश्व.उपनिषद् ५।९.

२६०. भा दीप्तौ – पाणिनिधातुपाठ अदादिगण १०७६.

६४२. भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्
– श्लोकवार्तिक १।१।४।११८.

३१५. भिद्यते हृदयग्रन्थिः – मुण्डकोपनिषद् २।२।८.

६३. भूतैः यदा पञ्चभिः आत्मसृष्टैः ... आदिदेवः
– भागवतपुराण ११।४।३.

५४०. भूयस्त्वं तप आतिष्ठ – भागवतपुराण ३।९।३०.

५२४. भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च – ब्रह्मसूत्र ४।४।२१.

१०६. मग्नश्चेत् पातालं विशेद् – .... (न्याय ?).

५९७. मत्स्थानि सर्वभूतानि – भगवद्गीता ९।४.

३७७. मनवो मनुपुत्राश्च ... सर्वे पुरुषशासनाः – भागवतपुराण ८।१४।२.

५८४. मनसा वचसा दृष्ट्या ... अन्यद् – भागवतपुराण ११।१३।२४.

३०६. मनसैव अनुद्रष्टव्यः – बृहदा.उपनिषद् ४।४।१९.

४८१. मनोमयी मणिमयी – भागवतपुराण ११।२७।१२.

३५८. मन्ये धनाभिजनरूप- – भागवतपुराण ७।९।९.

६१२, ६२१. ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं – भागवतपुराण ६।११।२७.

५०३. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः – भगवद्गीता १५।७.

६४८. मलायत्तं बलं पुंसाम्

– श्रीभावप्रकाश मध्योत्तरखण्ड अधिकार ११।३९.

५९२. महेन्द्र-गुग्गुलूलूक-व्याल-ग्राहेषु कौशिकः – कोश ....

७४. मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मोञ्जीबन्धनाद्

– याज्ञवल्क्यस्मृति १।२।३९.

३४८. मातृबुद्धिः परस्त्रीषु – द्रष्ट. गरुडपुराण १।१११।१२.

१७९. मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रम् – महाना.उपनिषद् २३।१.

३. मानाधीना मेयसिद्धिः – द्रष्ट. चित्सुखी.

५०३. मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते – भगवद्गीता ७।१४.

५०४. मायया ह्यन्यदिव – नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् ९.

५७८. माया च तमोरूपानुभूतेः – नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् ९.

५८८. मायामयं वेद स वेद वेदम् – भागवतपुराण ११।१२।२३.

३६५. मायेत्यसुराः – मुद्गलोपनिषद् ३.

५६९. मायां तु प्रकृतिं विद्याद् – श्वेताश्व.उपनिषद् ४।१०.

१९४. मूढग्राहेण आत्मनो यद् – भगवद्गीता १७।१९.

४११. मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः – पाणिनिधातुपाठ भ्वादिगण २१२.

४३७. मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।१०१.

४७२. मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम्

– भागवतपुराण १२।५।१०.

५००. मृत्युः अत्यन्तविस्मृतिः – भागवतपुराण ११।२२।३८.

३१४, ५६३. मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति

– कठोपनिषद् २।१।१०.

१६०. मोघम् अन्नं विन्दते अप्रचेताः

– ऋक्संहिता १०।११७।६, तैत्ति.ब्राह्मण २।८।८।३.

१६. मैत्रावरुणीं द्विरूपाम् आलभेत अन्नकामः ... वृष्टिकामः ... प्रजाकामः – तैत्ति.संहिता २।१।७।३-५.

१०१, १८८. मां विधत्ते अभिधत्ते मां – भागवतपुराण ११।२१।४३.

५५, ६२. य आत्मनि तिष्ठन् ... यस्य आत्मा शरीरं
– शतपथब्राह्मण १४।६।७।३०.

२९७. यएव अस्मि स सन् यज – तैत्ति.ब्राह्मण ३।७।५।५.

५, ७, ८, ८०. यच्छ्रोतव्यमथो जाप्यम् ... यद् वा विपर्ययम्
– भागवतपुराण १।१९।३८.

४७८. यजेत स्वर्गकामः – आपस्तम्बश्रौतसूत्र १०।२।१.

४७९. यज्ञवास्त्वभ्यवायन् ते ... कूर्मभूतं सर्पन्तम्
– तैत्ति.संहिता २।६।३।२-३.

२०४. यज्ञे यज्ञे यत् कामयते – ....

१००, १८८, १९७, २९६, ३६५. यज्ञो वै विष्णुः
– तैत्ति.संहिता १।७।४।४.

६१४. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते – तैत्ति.उपनिषद् ३।१.

४१३. यतः एतद् विमुच्यते – भागवतपुराण १०।२६।१६.

१९२, १९४, १९५, १९६. यत्करोषि यदश्नासि ... ददासि यत् यत्तपस्यसि ... मदर्पणं – भगवद्गीता ९।२७.

४८०. यत्तत् सत्त्वगुणं स्वच्छं ... यदाहुः वासुदेवाख्यम् ... चित्तं तन्महदात्मकम् – भागवतपुराण ३।२६।२१.

१५८. यत् त्रिरुपांशु .. तस्मात् त्रयः ... मर्कटः – तैत्ति.संहिता ६।४।५।७.

५०४. यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् – बृहदा.उपनिषद् ३।४।१,२.

६३२. यत्र उदेति सा प्राची – द्रष्ट. अथर्ववेदसंहिता सायणभाष्य १७।१।१६.

४९०, ५०३. यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गा ... आत्मानो व्युच्चरन्ति
– बृहदा.उपनिषद् २।१।२०.

५५५. यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन ... एकविज्ञानेन सर्वमिदं
– छान्दो.उपनिषद् ६।१।४.

५७९. यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां ... बुद्धेः – भागवतपुराण ११।२८।३४.

५८३. यथा हिरण्यं स्वकृतं ... तद्वद् – भागवतपुराण ११।२८।१९.

१८४. यदन्नम् अद्मि ... यद्देवानां चक्षुष्यागो अस्ति ... यद्देवानां ... यन्मया मनसा वाचा ... यथातथम् – तैत्ति.आरण्यक २।६।२.

९७. यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् – जाबालोपनिषद् ४.

५५९. यदा तमः तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन् शिव एव केवल
– श्वेताश्व.उपनिषद् ४।१८.

२३५. यदादित्यगतं तेजः – भगवद्गीता १५।१२.
४१४. यदाप्नोति यदादत्ते ... आत्मा निरुच्यते – लिङ्गपुराण १।७०।९६.
११८. यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा ... ब्रह्म समश्नुते
– कठोपनिषद् २।३।१४.
५५२. यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं – महानारायणोपनिषद् १।५.
२१०. यदेवाप्रतिरूपं पश्यति – बृहदा.उपनिषद् १।३।४.
१७. यद् अष्टाकपालो भवति ... इन्द्रियावी पशुमान् भवति
– तैत्ति.संहिता २।२।५।३-४.
६६५. यद् आह भगवान् शुकः – भागवतपुराण १।४।२.
३४४, यद् ध्रुवगतिः विष्णोः पदम् अथ अभ्यगाद्
– भागवतपुराण ४।१२।३५.
१४९. यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः – भागवतपुराण ११।११।४१.
३१. यद् वै तन्न पश्यति – बृहदा.उपनिषद् ४।३।२३.
३१. यद् वै तन्न शृणोति शृण्वन् वै ... यद् शृणुयाद्
– बृहदा.उपनिषद् ४।३।२७.
९३. यन्न योगेन – भागवतपुराण ११।१२।९.
४२४, ६४१. यन्न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासवः
– भागवतपुराण ६।१६।२३.
६००. यस्मिन् जात एताम् इष्टिं निर्वपति – तैत्ति.संहिता २।२।५।३.
६१५, ६४१. यस्य कालेन नोद्याया ... अत्यन्तविस्मृतिः
– गरुडपुराण २।२।३५.
२६. यस्य देवे परा भक्तिः ... प्रकाशन्ते महात्मनः
– श्वेताश्व.उपनिषद् ६।२३.
३०३. यस्य पृथिवी शरीरं ... यं पृथिवी न वेद – सुबालोपनिषद् ७।१.
२४४. यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्याद् – ऐत.ब्राह्मण ११।८।१.
३१०. यादृशोऽसि हरे कृष्ण तादृशाय नमो नमः – सुबोधिनी ३।६।४०.
२९२. यान्ति ऊष्मणा महर्लोकाद् – भागवतपुराण ३।११।२९.
९७. यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः प्रजाकामः
– वाराहश्रौतसूत्र १।१।१।८६.
६६२. यावतः कृतवान् प्रश्नान् .... उपरराम ह – भागवतपुराण १।१३।२.
५०६. यावदधिकारं ... तु आधिकारिकम् – ब्रह्मसूत्र २।३।३२.

५२४. युवा स्याद् – तैत्ति.उपनिषद् २।८।१.

१८८. ये गत्यर्थका ते ज्ञानार्थाः – ....

४९२, ५५५. येन अश्रुतं श्रुतं भवति – छान्दो.उपनिषद् ६।१।३.

७३. येन विप्लावितं ब्रह्म वृषल्यां जायतात्मना – भागवतपुराण ६।२।२६.

४०३. येनैव त्रिविधाः भक्ताः – सुबोधिनी १०।५।०।का.१०.

३६९, ४७१, ५३७. ये यथा मां प्रपद्यन्ते – भगवद्गीता ४।११.

३३७. ये ये हताश्चक्रधरेण राजन् – ....

५६३, ५८६. योऽन्यथा सन्तमात्मानम् ... आत्मापहारिणा – महाभारत १।६८।२६.

४८६. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं – श्वेताश्व.उपनिषद् ६।१८.

५३२. यो यच्छ्रद्धः स एव सः – भगवद्गीता १७।३.

६४१. यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः – भगवद्गीता १५।१७.

२६७. यो वायुः स प्राणः – तैत्ति.ब्राह्मण २।२।२।४ सायणभाष्य.

३५७. योऽसौ ग्राहः सः वै सद्यः ... सत्तमः – भागवतपुराण ८।४।३.

१५६. योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् ... मा पशूनाम् – तैत्ति.आरण्यक १।१४।१.

५६०. योऽस्मात् परस्मात् परः – भागवतपुराण ८।३।३.

४३. यं प्रव्रजन्तं – भागवतपुराण १।२।२.

४०. यं यं वापि स्मरन् भावम् – भगवद्गीता ८।६.

५५. रजः सत्त्वं तमश्चैव – भगवद्गीता १४।१०.

४३. रमन्ते योगिनो यस्मिन् ... परं ब्रह्माभिधीयते – रामपूर्वतापिन्युपनिषद् १।६.

११३. रविमध्ये स्थितः सोम – मैत्रायण्युपनिषद् ६।३८.

५८५. रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः – भगवद्गीता ७।८.

१५०. रूपमिति गन्धर्वा – शतपथब्राह्मण १०।५।२।२०.

१०७. लक्षणां नैव वक्ष्यामि – सुबोधिनी १।१।०।का.६.

५६६. लीङ् श्लेषणे – पाणिनिधातुपाठ दिवादिगण ३३२७.

३९६. लृटः सद् वा – पाणिनिसूत्र ३।३।१४.

५६७. लोके व्यवायामिषमद्यसेवा – भागवतपुराण ११।५।११.

७१. वनस्पत्योषधि-लता-त्वक्सारा-वीरुधो द्रुमाः – भागवतपुराण ३।१०।१९.

१९८. वरं हुतवहज्वाला-पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ... वैशसम् – ......
३४२. वष्टिभागुरिरल्लोपम् – सिद्धान्तकौमुदी अव्ययप्रकरण ६११.
११७. वसुरण्वो विभूरसि – महाना.उपनिषद् २४।८.
१६, २१, १४६, ४४२. वाक्यान्वयाद् – ब्रह्मसूत्र १।४।१९.
५६९. वाचारम्भणं विकारो नामधेयं – छान्दो.उपनिषद् ६।४।१.
५६३. वाचं धेनुम् उपासीत – बृहदा.उपनिषद् ५।८।१.
२४२. वायव्यं श्वेतम् आलभेत – तैत्ति.संहिता २।१।१।३.
६०. वायुरात्मा – ....
१०३, २४२. वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता – तैत्ति.संहिता २।१।१।१.
१९७. वासिष्ठो ह साप्तहव्यो देवभागं ... अपराभावायेति
– तैत्ति.संहिता ६।६।२।२-३.
६२९. वासुदेवकलानन्तः – भागवतपुराण १०।१।२४.
३९३. वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते
– भागवतपुराण १०।१०।२२.
५५४. वासुदेवो वा इदमग्र आसीद् न ब्रह्मा न च शङ्करः
– द्रष्ट. महाभारततात्पर्यनिर्णय १।६३.
६६२. विदुरस्तीर्थयात्रायां – भागवतपुराण १।१३।१.
३९५. विबुध्यतां बालकमारिकाग्रहम् – भागवतपुराण १०।६।८.
९७. विरक्तो न्यासम् आस्थितः ... युयोज परमात्मनि
– भागवतपुराण ९।६।५३.
४१. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः – पातञ्जलयोगसूत्र १।१८.
७५. विवाहस्तु समन्त्रकः – याज्ञवल्क्यस्मृति १।२।१३.
६०८. विशुद्धं सत्त्वम् ऊर्जितं – भागवतपुराण १।३।३.
५८८. विश्वं वै बाह्यं तन्मात्रं – भागवतपुराण ३।१०।१२.
१४८. विष्णोः देहानुरूपां वै करोति एषा आत्मनः तनुम्
– विष्णुपुराण १।९।१४५.
२२, ५२५. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् – ऋक्संहिता १।१५४।१.
६३, ११३. विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि ... प्रथमं महतो ... द्वितीयं ... तृतीयं ... विमुच्यते – सात्वततन्त्र .... .
४९९. वृद्धिः विपरिणामश्च ... उदीरितौ – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।१४३-४.
६१९. वेञ् तन्तुसन्ताने – पाणिनिधातुपाठ काशिकावृत्ति ६।१।४०.

७५. वेदाक्षरविचारेण ... शूद्रः चाण्डालतां व्रजेत् – पराशरस्मृति १।६७.
५३१. वेदाः यथा मूर्तिधराः त्रिपृष्ठे – भागवतपुराण १।१९।२३.
१६, ३३, १०१. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः – भगवद्गीता १५।१५.
२१८. वेदो नारायणः साक्षाद् – भागवतपुराण ६।१।४०.
३७३. वैराग्यं साङ्ख्य-योगौ च ... केशवे – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।४५.
३९९. वैश्वानरः साधारणशब्दः विशेषाद् – ब्रह्मसूत्र १।२।२४.
४००, ४०२. वैष्णवीं व्यतनोत् मायां – भागवतपुराण १०।८।४३.
१३. व्रीहिभिः जुहोति – ....
१५७. शतायुर्वै पुरुषः – शतपथब्राह्मण १३।२।१।६.
६१३-४. शतं शुक्राणि ... सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति
– तैत्ति.आरण्यक ३।११।१.
२०३. शब्दात् प्रत्यक्षं बलीयः – .... (न्याय?)
४७४. शयानो बहुचिन्तया – भागवतपुराण ३।२०।४७.
१०४. शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः ... आत्मन्येवात्मानं पश्येत्
– बृहदा.उपनिषद् ४।४।२३.
७२, ४३०. शुकाश्च हरितीकृता मयूराश्चित्रिता येन
– नारदपञ्चरात्र १।३।१५.
४७६. शुक्रमासं नयन्ति अमी – भागवतपुराण १२।११।३५.
३९. शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो ... याति परां गतिम् ... ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः – भगवद्गीता ६।४१-४६.
७३. शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो ... ब्राह्मण्यादेव हीयते
– मनुस्मृति ३।१७.
१०३. श्येनेन अभिचरन् यजेत – आपस्तम्बश्रौतसूत्र २२।४।१३.
२५. श्वेतम् आलभेत – तैत्ति.संहिता २।१।१।१.
१८३. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः ... आत्मनिवेदनं – भागवतपुराण ७।५।२३.
४५१. श्रुतोऽनुपठितो ध्यात ... विश्वद्रुहोपि हि – भागवतपुराण ११।२।१२.
४५२. श्रेयः श्रुतिं भक्तिम् – भागवतपुराण १०।१४=प्र.३।४.
३३६. षणु दाने – पाणिनिधातुपाठ तनादिगण १४८९.
५६०. स आत्मानं स्वयमकुरुत – बृहदा.उपनिषद् १।४।३.
२०९. स एकधा भवति त्रिधा च नवधा – छान्दो.उपनिषद् ७।२६।२.

२८८. स एव वासुदेवोऽयं साक्षात्पुरुष ... ब्रह्मपुरःसरम्
– नृसिंहपुराण ....

२१४. स एष एव इन्द्रो ... अश्नीयाद् ... तौ हृदयस्य ... परमो ह्येष आनन्दः – शतपथब्राह्मण १०।५।२।९-११.

३३९. स एष जीवो विवरप्रसूतिः – भागवतपुराण ११।१२।१७.

३०३. स एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा ... नारायणः
– सुबालोपनिषद् ७।१.

५८२. स किन्नरान् किम्पुरुषान् ... विलोकयन् – भागवतपुराण ३।२०।४५.

७७. सक्थि क्लीबे पुमान् ऊरुः – अमरकोश २।६।७३.

३४२. सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधो अभिजायते
– भगवद्गीता २।६२.

३५९. स जघनाद् असुरान् असृजत – तैत्ति.ब्राह्मण २।२।९।५.

२६७. सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम् – भगवद्गीता १४।१७.

१९५. सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य – तैत्ति.ब्राह्मण २।८।८।३.

३६९. स त्वै विष्णुक्रमान् यजेत ... प्रत्यवरोहेद् – तैत्ति.संहिता १।७।६।२.

२३९, ४९३, ५०२, ५५४. सदेव सौम्य इदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयं
– छान्दो.उपनिषद् ६।२।१.

१७. सन्नियोगशिष्टानाम् अन्यतरापाये ... अपायः
– लौकिकन्यायसाहस्री ४४४.

१७. सन्नियोगशिष्टानां सह वा ... निवृत्तिः – परिभाषापाठसूत्र ८८.

२८१. सप्तभिर्धार्यते मही – स्कन्दपुराण ४।१।२।९०.

५६९. स भूतं स च भव्यं ... ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च ... उपयाहि विद्वान् – महाना.उपनिषद् २४।१.

२०. सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना ... व्यवस्थिताः
– वाक्यपदी जातिसमुद्देश ३।३३.

५७०. स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेव ... महीयते
– छान्दो.उपनिषद् ८।२।१.

२९९. सर्गादौ कल्पितो देवैः यज्ञभुग् ... तेनैव कल्पिताः – .....

५६१. सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः – छान्दो.उपनिषद् ३।१४।४.

५६५. सर्वतः पाणिपादं तद् – भगवद्गीता १३।१३.

१६. सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाद् – ब्रह्मसूत्र १।२।१.

५६३. सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषाद् – ब्रह्मसूत्र ३।३।१.
१४४. सर्वा देवता आपः – महाना.उपनिषद् १४।१.
६२१. सर्वासाम् अपां समुद्रः एकायनम् – बृहदा.उपनिषद् २।४।११.
५०३. सर्वे जीवाः सर्वमयाः तथापि अल्पाः – नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् ९.
४६८. सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप – पद्मपुराण ३।२९।४१.
४९५. सर्वे निमेषा जज्ञिरे
– तैत्ति.आरण्यक १०।१।२, महाना.उपनिषद् १।८.
५०२. सर्वे मुक्तिभेदाः च तथा भवन्ति – विद्वन्मण्डन.
१६, ३३, १०१, ५६३, ६१३. सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति
– कठोपनिषद् १।२।१५.
१०७. सर्वेषाम् अध्वनां पादौ एकायनम् – बृहदा.उपनिषद् २।४।११.
६३२. सर्वेषां द्वीपवर्षाणां मेरुः उत्तरतः स्थितः – देवीभागवत ८।१५।२६.
३१. सर्वेषां वेदानां हृदयमेकायनम् – बृहदा.उपनिषद् २।४।११.
५६९. सर्वैः सर्वमिदं जगत् – महाना.उपनिषद् २३।१.
५५३, ५६१, ५६७, ५६९, ५८८, ६१४, ६६०. सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत – छान्दो.उपनिषद् ३।१४।१.
४५१. सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति – बृहदा.उपनिषद् ४।३।३२.
६७. सलिलं वा इदमन्तरासीद् ... तारकाणां तारकात्वं
– तैत्ति.ब्राह्मण १।५।२।५.
५६५. स विश्वकृत् विश्वविदात्मयोनिः – श्वेताश्व.उपनिषद् ६।१६.
१७५, २१५. स वै नैव रेमे ... पत्नीश्चाभवताम्
– बृहदा.उपनिषद् १।४।३.
२४३. सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा – भगवद्गीता ३।१०.
२७१. सहस्रशीर्षा पुरुषः – ऋक्संहिता १०।९०।१.
३७-३८. साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं ... विश्वमिदं पुराणम्
– महाभारत १२।३५९।१-७३.
१४९. सा अदितिः अब्रवीद् वरं वृणा अथ मया विगृह्णीध्वम्
– तैत्ति.संहिता ६।४।७।२.
६२९. सात्त्विकेषु तु कल्पेषु – सुबोधिनी १०।१।२४।का.१.
३६. साधनानि स्वरूपं च सर्वस्याह श्रुतिः फलं
– तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।१८०.

६२५. सापेक्षम् असमर्थं भवति – पातञ्जलमहाभाष्य २।२।८.

३४. सा मुख्येतरापेक्षितत्वाद् ... प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धेः – शाण्डिल्यभक्तिसूत्र २।१ – २।१६.

२५३. सा वा एतस्य सन्द्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका – भागवतपुराण ३।५।२५.

१९३. सुखं दुःखं ... मत्त एव पृथग्विधाः – भगवद्गीता १०।५.

६६. सुपां सुलुक् – पाणिनिसूत्र ७।१।३९.

९९-१००. सुवर्गाय वा एतानि लोकाय हूयन्ते ... द्वाभ्यां गार्हपत्ये जुहोति ... आग्नीध्रे जुहोति ... आहवनीये जुहोति ... सौरीभ्यामृग्भ्यां गार्हपत्ये जुहोति ... लोकं समारोहयति – तैत्ति.संहिता ६।३।२।१, ६।६।६।१.

४०२. सुविस्मिता – भागवतपुराण १०।७।३९.

४६१. सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः – भागवतपुराण ५।२०।४३.

११३. सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं – भागवतपुराण ३।८।३१.

४७५, ६३२. सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः – भागवतपुराण ५।२०।४५.

४३०. सेवौपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिषु – सेवाफलविवृति १.

५०४, ५८८. सैषाविद्या जगत्सर्वम् – नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् ९.

४९५, ४९६, ५७०. सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय – तैत्ति.उपनिषद् २।६.

३३. सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदं – कठोपनिषद् १।३।९.

५८९. सोऽनुप्रविष्टो भगवान् चेष्टारूपेण तं गणं – भागवतपुराण ३।६।३.

३२६, ४५४. सोऽपश्यत् पुष्करपर्णं तिष्ठत् ... तत् पुष्करपर्णे अप्रथयद् ... पृथिव्यै पृथिवित्वम् – तैत्ति.ब्राह्मण १।१।३।६-७.

३३३. सोमो अभूद् ब्रह्मणो अंशेन ... अंशः – भागवतपुराण ४।१।३३.

६६५. सोऽहं वः श्रावयिष्यामि – भागवतपुराण १।३।४४.

२०५. सौवीरराजमहिर्षी भोजां नाम हरद् बलाद् – द्रष्ट.महाभारत ७।१०।३३.

१११. संशयात्मा विनश्यति – भगवद्गीता ४।४०.

२७२. स्तन शब्दे – पाणिनिधातुपाठ चुरादिगण १८८३.

४१६. स्त्रियां क्तिन् – पाणिनिसूत्र ३।३।९४.

५७०. स्यान्माया शाम्बरी क्रिया दम्भो बुद्धिश्च – अनेकार्थकोश २/३७९-३८०

३२७. स्रुकतुण्ड आसीद् – भागवतपुराण ३।१३।३६.
१७. स्वकृतसेतुपरीप्सया – भागवतपुराण १०।५५।३७.
११५. स्वप्नजनेक्षितृन्याय – भागवतपुराण २।१।३९.
५०९. स्वम् अपीतो भवति ... आचक्षते – छान्दो.उपनिषद् ६।८।१.
६४६. स्वर्गकामो ... यजेत – आपस्तम्बश्रौतसूत्र १०।२।१.
११६. स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः – भागवतपुराण ११।१९।४२.
५४३, ५६५. स्वव्यापारे हि कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके
– द्रष्ट. न्यायकुसुमाञ्जलि ५।९.
२३, २४. स्वाध्यायोऽध्येतव्यः – तैत्ति.आरण्यक २।१५.
५०९. स्वाप्ययसम्पत्त्योः अन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि – ब्रह्मसूत्र ४।४।१६.
१२४. हन्तास्यैव सर्वे रूपं ... आख्यायन्ते प्राणा इति
– बृहदा.उपनिषद् १।५।२१.
५२०. हरेर्निवासात्मगुणैः रमाक्रीडमभून्नृप – भागवतपुराण १०।५।१८.
६४१. ह्रीर्धीः सर्वे मन एव – बृहदा.उपनिषद् १।५।३.
५१८. क्षयन्तमस्य रजसः पराक् – तैत्ति.संहिता ३।२।१२।५.
६५०. क्षुत्तृड्भ्याम् उदरं सिन्धुः – भागवतपुराण ३।२६।२८.
१६७. क्षौमे वाससि उपनह्य ... प्रक्रमयति – आपस्तम्बश्रौतसूत्र १९।१।१.

''ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितं सरहस्यं तदंगं च गृहाण गदितं मया. यावान् अहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मक: तथैव तत्त्वविज्ञानम् अस्तु ते मदनुग्रहात् :

[१]अहमेव आसमेव अग्रे न अन्यत् सदसत्परं पश्चाद् अहम् यद् एतत् च यो अवशिष्येत सो अस्मि अहम् .

[२]ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि, तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तम:.

[३]यथा महान्ति भूतानि भूतेषु उच्चावचेषु अनुप्रविष्टानि अप्रविष्टानि तथा तेषु न तेषु अहम्.

[४]एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुना आत्मनो अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा.